॥ओ३म्॥

सत्यार्थभास्करः

महर्षि दयानन्द विरचित

सत्यार्थप्रकाश का विस्तृत भाष्य

(द्वितीय भाग)

भाष्यकारः

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

कुपात्रो को दान न देवे सुपात्रो को देवे.

PhonePe

ACCEPTED HERE

Scan & Pay Using PhonePe App

आपके दान की हमे अत्यंत आवश्यकता हे.

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की
सेवा।

(पू

प्रकाशक-
रामलाल कपूर ट्रस्ट
रेवली, सोनीपत- ३९ (हरियाणा)
(०१३०) ३२९०२७६, २१००२८५
Web- www.rlktrust.org
E-mail- rlktrust@yahoo.in

ए.

शा
क

प्राप्ति-स्थान-
१. रामलाल कपूर एण्ड संस
२५९६, नई सड़क, दिल्ली।
२. विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द,
४४०८ नई सड़क दिल्ली- ६

द्वितीय संस्करण- ५००
वि० सं० २०६७ (सन् २०१०)

मूल्य-[illegible].००

क
पो
सं
पं

मुद्रक-
राधा प्रिंटिंग प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

प्रकाशकीय वक्तव्य

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी वसीयत के द्वारा अन्तिम इच्छा प्रकट की थी कि उनके ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्या की जाय। ११० वर्ष बाद नवोनिष्ठ मूर्धन्य विद्वान् स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" मन्त्र द्वारा व्रत धारण किया तथा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्या करने में समर्पित हो गये। फलस्वरूप ऋषि के प्रस्थानत्रयी में प्रथम 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या—"भूमिकाभास्कर" के रूप में दो खण्डों में सम्पूर्ण की। आर्य जगत् के सभी प्रकाण्ड विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा स्वाध्यायशील सभी आर्य पुरुषों ने इसका हार्दिक स्वागत किया।

इसी श्रृङ्खला में स्वामीजी महाराज ने महर्षि दयानन्द के अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की विस्तृत व्याख्या २००० पृष्ठों के दो खण्डों में "सत्यार्थभास्कर" के रूप में की है। अब तक जितने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश पर लिखे गये, वे केवल विरोधियों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का उत्तर देकर, उनका मुँह बन्द करने के लिये लिखे गये थे। शास्त्रीय पद्धति में जिसे भाष्य कहा जाता है—जिसमें एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द में घुसकर उसपर विचार किया जाता है, अब तक एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

एक बार सार्वदेशिक सभा ने एक-एक समुल्लास के लिए एक-एक विद्वान् को नियुक्त करके इस कार्य को सम्पन्न कराने का प्रयास किया। पर वह भी असफल रहा। ऐसी विषम स्थिति में स्वामी विद्यानन्दजी ने अहर्निश घोर तप करके यह अनुपम-कालजयी ग्रन्थ लिखा है। वस्तुतः यह स्वामीजी महाराज की वर्षों की निष्ठा एवं साधना का परिणाम है। इसमें ऋषि दयानन्द के एक-एक शब्द के भीतर प्रवेश कर उनकी सम्पुष्टि में प्रमाण-पुरःसर युक्तियों की झड़ी लगा दी है।

चारों वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, अष्टाध्यायी, महाभाष्य, षड्दर्शन, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृतिग्रन्थ आदि वेद-वेदाङ्ग साहित्य के प्रमाण इस सत्यार्थभास्कर में मिलेंगे। पाश्चात्य विद्वानों तथा समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं के उद्धरण भी पदे-पदे प्रमाणों के रूप में मिलेंगे।

न जाने कितना अगाध ज्ञान स्वामीजी ने इस विशाल ग्रन्थ में भर दिया है। मानो वेद-वेदाङ्ग के समग्र साहित्य का यह सर्वतोमुखी ज्ञान भण्डार (ऐन्साइक्लोपीडिया=Encyclopaedia) बन गया हो। यह सब कठिन कार्य वृद्धावस्था में किस अस्वस्थ दशा में स्वामीजी ने पूर्ण किया, यह उनके अपने शब्दों में मिलता है। १८-८-९२ के पत्र में वे लिखते हैं—'एक वर्ष दो मास तक आधी आँख से दो आँखों का काम लेता रहा।' पुनः २४-७-९३ के पत्र में लिखते हैं, "परसों मुझे एनजाइना का पुनः झटका लगा—इस बार कुछ जोर का……अब यह उतार-चढ़ाव तो चलते ही रहेंगे और इन्हीं के रहते काम करते रहना पड़ेगा।"

धन्य है स्वामीजी का यह दृढ़ मनोबल और धन्य है उनकी ऋषिभक्ति। एक ही आँख कुछ काम करती है, हृदय के एनजाइना रोग के झटके आते रहते हैं, फिर भी अब प्रस्थानत्रयी के तीसरे ग्रन्थ 'संस्कारविधि' पर भी महाभाष्य लिख रहे हैं। किन शब्दों में आपका गुणगान करें, आपका आभार प्रकट करें। आपने इन अद्वितीय अनुपम ग्रन्थों के प्रकाशन का शुभ अवसर हमें प्रदान किया। प्रभुदेव आपको 'भूयश्च शरदः शतात्' का प्रसाद प्रदान करें, हमारी यही प्रार्थना है—

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः"

अमृतस्वरूप भगवान् ने इस पवित्र मन्त्र द्वारा कहा है कि—ऐ विश्व के अमृत पुत्रो ! सुनो ! मैंने तुम्हारे लिए इस संसार में सुखरूप दिव्यधाम बनाये हैं। आओ उनको प्राप्त कर मोक्षसुख के भागी बनो।

इन दिव्यधामों को प्राप्त करने के लिए सत्यार्थभास्कर की घर-घर में कथा हो, जिसके श्रवण, मनन तथा धारण से मानवमात्र अपने जीवन को सफल करें। इसी में हम इस प्रकाशन के प्रयास की सफलता की कामना करते हैं।

—देवेन्द्र कुमार कपूर

ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान्, गम्भीर चिन्तक, यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिककाल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन शैली का अपना वैशिष्ट्य है। वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र तथा प्राचीन इतिहास में आपने तीन दर्जन से अधिक मौलिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। इक्कीस हजार रुपये के वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के शंकर पुरस्कार तथा इलाहाबाद के गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार से सम्मानित स्वामीजी के विविध ग्रन्थ अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक, काशी पण्डित सभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी, वेद-वेदान्ताचार्य पं० उदयवीर शास्त्री, श्री वियोगी हरि, मनीषिप्रवर महात्मा नारायण स्वामी, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, डॉ० कर्णसिंह, डॉ० बलराम जाखड़ (पूर्व लोकसभा अध्यक्ष), श्रीकृष्णचन्द्र पन्त, (पूर्व केन्द्रीय शिक्षामन्त्री), स्वामी सत्यप्रकाश आदि उच्चकोटि के अनेक विद्वानों तथा इतिहास के क्षेत्र में पद्मभूषण डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर तथा वराड़कर जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने स्वामीजी की विद्वत्ता तथा कृतियों की प्रशंसा की है।

पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने लगभग ५० वर्ष तक शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। बीस वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट-ग्रेजुएट कॉलिजों के प्रिंसिपल और कुछ समय तक गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य रहे। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष में भारत के राष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय की सीनेट का प्रतिष्ठित सदस्य मनोनीत करके सम्मानित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा तथा दिल्ली की अनेक धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं से स्वामीजी का निकट सम्बन्ध रहा है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

विषय-सूची

प्रस्तावना

भारतीय विचारधारा के अनुसार वेद मानव को सृष्टि के आदि में प्रदत्त ईश्वरीय ज्ञान है। वैदिक धर्म का अर्थ है वेदों पर आधारित अथवा वेदों से निकला हुआ धर्म। जो वेदों को सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत नहीं मानते, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि जगतीतल पर जितने भी अतिप्राचीन ग्रन्थ हैं, उनमें वेद सबसे पुराने हैं। इस कारण भी लोग उन्हें अनादि मानते हैं। इसीसे वेद पूज्य माने जाते हैं। यदि इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो भी वे हमारी प्राचीनतम भावनाओं के प्राचीनतम आधार हैं। ताम्रपट, शिलालेख, सिक्के, प्राणियों के अवशेष (Fossils) आदि की अपेक्षा वेद सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। इन वेदों में जो ज्ञान बीजरूप में था, वही शाखा-प्रशाखाओं के रूप में प्रसृत होता गया। कालान्तर में वही विकृत होकर अनेक मत-मतान्तरों के रूप में संसार-भर में फैल गया।

यह सर्ववादिसम्मत है कि महाभारत से पूर्व वेद के अतिरिक्त अन्य कोई मत नहीं था। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि महाभारत के बाद कुकुरमुत्तों की तरह फैले इन नवीन मतों का, जो वैदिककाल की सी अवस्था लाने में बाधक हैं, निराकरण किया जाय। इससे मत-मतान्तर के विवाद से होनेवाले अनिष्ट का अवरोध करने में सहायता मिलेगी।

यही नहीं कि काल की दृष्टि से ये मत नवीन हैं, बल्कि सत्य की दष्टि से भी ये अग्राह्य हैं और संसार के कल्याण की दृष्टि से सर्वथा अवांछनीय हैं। संसार का कल्याण चाहनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए उनका खण्डन करना आवश्यक था। इस कठिन कार्य को करने का साहस दयानन्द जैसा विद्वान्, सत्यनिष्ठ, निष्पक्ष एवं निर्भीक महामानव ही कर सकता था।

खण्डन और मण्डन एक ही क्रिया के दो अंग हैं। एक विनाशक है तो दूसरा विधायक। घास-फूंस काटकर फेंकना विनाशक है तो बीज बोना विधायक। इससे खण्डन और मण्डन एक दूसरे के पूरक हैं। किसान या माली खेत या बगीचे में उत्पन्न खरपतवार के नाम से बदनाम व्यर्थ के या हानिकारक घास-पात को निकाल फेंकता है और उपयोगी पौधों को खाद-पानी देकर पुष्ट करता है। इसी प्रकार समाज के हितचिन्तक महापुरुष समाज में व्याप्त दोषों, अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर कर समाज के विकास में सहायक विचारों का प्रचार व प्रसार करते हैं। शरीर को हानि पहुँचानेवाले अंग को काटकर फेंक देना और उसके स्थान पर स्वस्थ अंग का प्रत्यारोपण करना शरीरशास्त्र की दृष्टि से खण्डन-मण्डन ही तो है। समाज को स्वस्थ तथा पुष्ट बनाने के लिए मिथ्या विश्वासों को दूर करना आवश्यक था। दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में खण्डनात्मक समुल्लासों का यही प्रयोजन है।

निर्माण में बाधक चट्टानों, जंगलों, कुँओं, तालाबों आदि को नष्ट करके धरती को समतल किए बिना उसपर निर्माण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार समाज में व्याप्त दोषों को दूर किये बिना समाज-सुधार के कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। अध्यात्म के प्रसंग में इन्हीं को वैराग्य तथा अभ्यास का नाम दिया गया है। ईश्वर-प्राप्ति में बाधक वासनाओं को उखाड़ फेंकना 'वैराग्य' है और मन में सद्विचारों को सुदृढ़ करना 'अभ्यास' है। इस प्रकार 'वैराग्य' और 'अभ्यास' एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों के समुच्चय अर्थात् पारस्परिक सहयोग के बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती।

सदसत्-प्रवृत्तियों का संघर्ष मानव मन में सदा से चला आता है। सद्गुणरूपी दैवी-सेना तथा दुर्गुणरूपी आसुरी-सेना दोनों आमने-सामने खड़ी रहती हैं। दोनों ने अपनी-अपनी व्यूह-रचना व्यवस्थित कर रखी है। 'भद्रमासुव' से पहले 'दुरितानि परासुव' कहा है। जब तक 'दुरित' दूर होकर जगह खाली नहीं करेंगे तब तक 'भद्र' को स्थान कैसे मिलेगा? गीता में भी 'परित्राणाय साधूनाम्' के साथ ही 'विनाशाय च दुष्कृताम्' भी कहा गया है। मण्डन के साथ-साथ खण्डन के मूल में यही सिद्धान्त है। दुष्टता का दमन किए बिना सज्जनों की रक्षा नहीं हो सकती। राक्षसों का संहार हुए बिना ऋषियों का यज्ञ-सम्पादन सम्भव नहीं—'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्त्तते'। इसलिए वेद कहता है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥—यजुर्वेद २०।२५

समाज में ब्राह्मण मण्डन का प्रतीक है तो क्षत्रिय खण्डन का। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

समस्त दुःखों या पापों का मूल, अज्ञान या अविद्या है। ज्ञान, विद्या तथा सत्य पर्यायवाची हैं। इसी प्रकार अज्ञान, अविद्या और असत्य एकार्थवाची हैं। दवाई की जगह जहर की शीशी चाहे जानकर पी जाय चाहे अनजाने, दोनों का परिणाम एक ही है—मृत्यु। सुकरात ने अपने मुकदमे के दौरान कहा था—"अज्ञान के बिना पाप हो ही नहीं सकता। जिसे तुम पाप कहते हो वह अज्ञान ही है।" जिसके बिना कोई पाप नहीं हो सकता वह स्वयं महापाप है। कानून का अज्ञान बहाना नहीं हो सकती (Ignorance of law is no excuse)। ईश्वरीय कानून का अज्ञान सबसे बड़ा अपराध है। इसलिए समाज का परिष्कार करनेवाले महापुरुषों ने सदा अज्ञान—असत्य को मिटाकर ज्ञान-सत्य का प्रचार-प्रसार करना ही अपने जीवन का उद्देश्य बनाया।

मत-मतान्तरों की आलोचना से ग्रन्थकार का तात्पर्य था कि धर्म को तर्कसंगत, युक्ति-युक्त एवं सहेतुक बनाया जाय। उसमें अन्धविश्वास एवं आडम्बर के लिए कोई स्थान न हो। 'बाबावाक्यं' को प्रमाण न मानकर, सत्यासत्य की स्वयं परीक्षा करके सत्य को ग्रहण किया जाय और असत्य का परित्याग किया जाय। भगवान् मनु का वचन है—'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'—जो मनुष्य तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है, वही धर्म के तत्त्व को जानता है, अन्य नहीं। पूर्वकाल में ऋषियों के रहने पर मनुष्य देवजनों (श्रेष्ठ विद्वानों) के पास गये और जिज्ञासा की—'को न ऋषिर्भविष्यति?' अब कौन हमारा ऋषि होगा? (निरुक्त १३-१२) देवजनों ने उन्हें तर्क नाम का ऋषि दिया। मनु के आदेश के अनुसार सत्यासत्य की परख के लिए धर्म पर तर्क की कैंची चलाना आवश्यक है। तर्करूपी कैंची से जो कट जाये, समझो वह तीन कौड़ी का है -धर्म हो नहीं है। दयानन्द ने वही किया। सत्यासत्य की तर्क द्वारा परख करके असत्य का खण्डन और सत्य का मण्डन किया।

अधिक समझदार लोगों को यह कहते सुना जाता है कि समालोचना तक तो ठीक है, पर खण्डन-मण्डन करना उचित नहीं है। यह कहते समय उनके मन में 'समालोचना' अंग्रेजी के Criticism का तथा खण्डन अंग्रेजी के Condemnation का भाव लिए रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे समालोचना और खण्डन के निहितार्थों को नहीं समझते। समालोचना शब्द 'सम्+आ' उपसर्गपूर्वक 'लुच्' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है किसी वस्तु को सब प्रकार से विधिपूर्वक देखने की व्यवस्था। ध्यानपूर्वक देखने में हम उस वस्तु के रूप-रंग, गुण-कर्म-स्वभाव एवं गुण-दोष के आधार पर उससे सम्भावित हानि-लाभ का विवेचन करते हैं। तभी हमें उस वस्तु का पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान होता है। दयानन्द के खण्डन की प्रक्रिया समालोचना से भिन्न नहीं है।

भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डन सदा से होता आया है। समन्वयवाद के नाम पर यह कहना कि 'अपनी-अपनी जगह सब ठीक है' आधुनिकता या भलमनसाहत की पहचान बन गया है। किन्तु इस 'रामाय स्वस्तिः रावणाय स्वस्तिः' की उपलब्धि तो शून्य है। आत्म-प्रवंचन या भ्रमजाल से बढ़कर कुछ नहीं। कुछ करने की भावनावाले खण्डन में प्रवृत्त हुए बिना नहीं रह सकते। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का उद्घोष करनेवाले आदि शंकराचार्य, सारा जीवन जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि नास्तिक मतों का खण्डन और वेदमत का मण्डन करने में ही लगे रहे। सिद्धान्तभेद के कारण मण्डन मिश्र जैसे वैदिकमतावलम्बी को भी ललकारने में संकोच नहीं किया। समन्वयवाद का आदर्श माने जानेवाले कबीर ने सभी को खरी-खोटी सुनाई। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को लताड़ते हुए उन्होंने कहा—

अरे इन दोउन रांह न पाई।
हिन्दू अपनी करैं बड़ाई, गगरि छुअन न देई।
वेश्या के पाइन तर सोवैं, ये देखो हिन्दुआई॥
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घर में करैं सगाई॥

यही नहीं, उन्होंने मन्दिर-मस्जिद दोनों का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन करते हुए मूर्तिपूजा की धज्जियाँ उड़ाने में कसर नहीं रखी—

काँकर पाथर जोड़ि कै, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय॥
पाथर पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते ये चाकी भली, पीस खाय संसार॥
दिन में रोजा रहत है, रात हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय॥
जो तू बाह्मन बाह्मनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहि आया।
जो तू तुरक तुरकनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया॥

क्या यह हिन्दुओं और मुसलमानों की मान्यताओं की खिल्ली उड़ाते हुए खण्डन-निन्दा करना नहीं है।

उसी काल के सिखों के आदि गुरु नानकदेव कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक सौम्य प्रकृति के पुरुष थे। परन्तु दूसरे मतों का खण्डन करने में पीछे नहीं रहे। हिन्दूमात्र द्वारा सर्वोपरि पूज्य वेदों की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा है—

वेद केतब इफगिरा भाई (१।१ तिलंग कबीरजी)। तिलंग—जाल ग्रन्थ पण्डित मैल न चुकई जो वेद पढ़े जुगचार (सोरठ की बारे १३)।

नाभि कमल ते ब्रह्मा उपजै वेद पढ़ै मुख कण्ठ सवार।
ताको अन्त न जाई लखणा आवत जावत रहै गँवार॥ (गूजरी १।२)
सनन्द सनन्दन अन्त न पाया। वेद पढ़े पढ़ जनम गँवाया॥ (आसा १।१० कबीरजी)
माला लक्कड़ ठाकुर पाथर सगले तीरथ पानी।
जब लग घट में ज्ञान न उपजै चारों वेद कहानी॥ (१।१ तिलंग कबीरजी)

बीसवीं शताब्दी के समाज-सुधारकों में सर्वोपरि माने जानेवाले **ब्राह्मसमाज के संस्थापक** राजा राममोहन राय के ग्रन्थों में से कुछ उद्धरण (हिन्दी में अनूदित करके) यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. जो मूर्तिपूजा हमारे देशवासियों में आजकल प्रचलित है और जिसको विद्वान् ब्राह्मण सदाचार का साधन बतलाने में बड़ा उत्साह दिखलाते हैं, न केवल सभी शास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, किन्तु इससे दुराचार बढ़ता है और सामाजिक सुख की हानि होती है। क्योंकि जो हिन्दू मूर्तिपूजा करता है, वह इस काम के लिए एक स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग मूर्त्ति का जोड़ा इष्टदेवों के प्रतिनिधि स्वरूप तैयार करता है। इनकी आकृति कभी-कभी तो बड़ी घृणित होती है। उसको बचपन से सिखाया जाता है कि इनका और इसी प्रकार के अन्य देवताओं का इतिहास स्मरण किया करे। यद्यपि जो काम उनसे सम्बन्धित किये जाते हैं, वह उनके निरन्तर व्यभिचार, इन्द्रियविलास, झूठ, कृतघ्नता, विश्वासविरोधी और मित्रद्रोह के ही सूचक होते हैं। (Monotheistical System of the Vedas, Centinary Works, p. 123)

२. इन मूर्तियों के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी कथाएँ भी प्रचलित हैं, जिनकी व्याख्या करना शिष्टता के विरुद्ध है। (English works of Raja Ram Mohan Roy p. 123)

३. जब कोई स्त्री विधवा हो जाती है तो ब्राह्मण लोग उसके दुःख के समय पहले तो उससे कहलवा लेते हैं कि मैं सती हो जाऊँगी और ज्योंही उसके मुँह से ये शब्द निकले, ये लोग उसके सम्बन्धियों से कहकर उसको अपने पति की चिता से बाँध देते हैं। यह भयानक प्रथा शास्त्रों के विरुद्ध है। (वही पृ० १३३)

४. जब ईसाइयों ने तन्त्रों और पुराणों के आधार पर ईश्वर के अवतार लेने की आलोचना की तो राजा राममोहन राय ने लिखा—

"तुम लोग हिन्दुओं के अवतारों पर आक्षेप करते हो। परन्तु क्या तुम ईसा को, जो मनुष्य के रूप में है और पवित्र आत्मा को, जो पक्षी के रूप में है, ईश्वर नहीं मानते ? क्या तुम नहीं मानते कि ईसामसीह खुदा ही था ? क्या उसमें मानवीय भाव नहीं था ? क्या वह क्रोध नहीं करता था ? क्या उसको दुःखों का अनुभव नहीं होता था ? क्या वह बहुत समय तक सम्बन्धियों के साथ नहीं रहा ? क्या पक्षीरूपी उस पवित्र आत्मा ने स्त्री के प्रसंग से ईसा को पैदा नहीं किया था ? क्या उसकी मृत्यु नहीं हुई थी ? यदि ईसाई लोग इन बातों को मानते हैं तो वे पुराणों की बातों पर कैसे आक्षेप कर सकते हैं ? पुराणों में जो बात वेदविरुद्ध है, उसे हिन्दू नहीं मानते। परन्तु ईसाइयों का तो बाइबल ही वेद है। इसलिए सबसे अधिक दोषी ईसाई ही ठहरते हैं।"

इसके उपरान्त राजा राममोहन राय ने ईसाइयों से निम्नलिखित प्रश्न किए—

१. तुम ईसा को ईश्वर भी मानते हो और ईश्वर का बेटा भी। बेटा बाप कैसे हो सकता है ?

२. वे कभी-कभी कहते हैं कि ईसा मनुष्य का बेटा था। फिर भी कहते हैं कि कोई मनुष्य उसका बाप नहीं था।

३. वे कहते हैं कि ईश्वर एक है। फिर भी कहते हैं कि बाप ईश्वर है, बेटा ईश्वर है और पवित्र आत्मा ईश्वर है।

४. वे कहते हैं कि ईश्वर की पूजा करनी चाहिए। फिर भी वे शरीरधारी ईसा की पूजा करते हैं।

यह सब राममोहन राय ने उस लेख के उत्तर में लिखा था जो श्रीरामपुर स्थित मिशन प्रेस से

प्रकाशित होनेवाले 'समाचार दर्पण' के १४ जुलाई, १८२१ के अंक में छपा था। इस लेख में किसी ईसाई द्वारा हिन्दूधर्म और शास्त्रों पर कई प्रकार के आक्षेप किए गये थे।

राजा राममोहन राय की गिनती कट्टरपन्थियों में न होकर बुद्धिजीवियों में की जाती है। फिर भी, क्या उन्होंने दयानन्द की भाँति ईसाइयों का खण्डन नहीं किया ?

स्वामी विवेकानन्द का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें भी समन्वयवादी प्रवृत्ति का महापुरुष माना जाता है। परन्तु उनके ग्रन्थों को पढ़ने से पता चलता है कि खण्डन करने में वे अपनी मिसाल आप ही थे। उदाहरणार्थ—

मुसलमानों के विषय में वे लिखते हैं—

१. इस्लाम मुसलमानों को इजाजत देता है कि वे इस्लाम को न माननेवालों को मार डालें। कुरान में स्पष्ट लिखा है कि काफिरों को मार डालो, यदि वे मुसलमान बनने से इनकार करें। उन्हें अवश्य जला डालना चाहिए या मौत के घाट उतार देना चाहिए। (Complete Works of Swami Vivekananda Vol. II, p. 365).

२. मुसलमान कसाइयों की तरह लोगों की गर्दन काटते हुए भारत में आये और मारधाड़ करते हुए देश पर अधिकार कर बैठे। (Vol. V, p. 310)

३. एक दिन ईसाइयों की सभा को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने कहा—

"तुम हमारे देश के लोगों को प्रशिक्षण देते हो, कपड़ा देते हो, पैसे देते हो। पर किसलिये ? इसलिए कि यहाँ आकर तुम हमारे पूर्वजों को, हमारे धर्म को कोसो और गालियाँ दो। तुम एक मन्दिर के पास से गुजरते हो, यह कहते हुए—ओ मूर्तिपूजको! तुम सब नरक में जाओगे। परन्तु हिन्दू भोला है, इसलिए हँस देता है यह कहते हुए कि मूर्खों को बकने दो। परन्तु तुम्हारे मिशनरियों को ध्यान रखना चाहिए कि यदि सारा भारत उठ खड़ा हुआ और हिन्द महासागर के तल में जमी सारी कीचड़ पाश्चात्य देशों के ऊपर फेंकने लगा तो जितना तुम हमारे साथ कर रहे हो, उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं होगा।" (Biography p. 129-127).

४. ईसाई सार्वजनिक भ्रातृभाव की बातें करते हैं, किन्तु जो ईसाई नहीं हैं उनके लिए नरक का द्वार खुला बताते हैं। इस प्रकार ईसाइयों का यह विश्वास कि कोई भी व्यक्ति तब तक अच्छा या भला नहीं बन सकता जब तक वह ईसाई न बन जाय, उनकी सार्वजनिक उदारता का पर्दाफाश कर देता है। (धर्मरहस्य, पृ० ३४)।

५. जैन और बौद्ध आदि के फेर में पड़कर हम लोग तामसिक लोगों का अनुसरण कर रहे हैं। बुद्ध ने हमारा सर्वनाश किया और ईसा ने ग्रीस और रोम का सर्वनाश किया (प्राच्य और पाश्चात्य पृ० १३, १५)। जहाँ कहीं भी बुद्ध पहुँचे वहीं उन्होंने हिन्दुओं द्वारा पवित्र मानी जानेवाली सभी वस्तुओं को मिट्टी में मिलाने का यत्न किया। (हिन्दूधर्म, पृ० ३८)।

६. पिछले सौ वर्षों में समाज सुधार के लिए जो आन्दोलन हुए, उनसे देश का कोई हित नहीं हुआ। केवल निन्दा और विद्वेषपूर्ण साहित्य की रचना से क्या लाभ हुआ ? (भारत में विवेकानन्द, पृ० १२६-१२७)।

७. बाल-विवाह से जाति अधिक पवित्र बनती है। बाल-विवाह ने हिन्दू जाति को सतीत्व धर्म से विभूषित किया है। बाल-विवाह की भावना को ग्रहण करने से ही यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है। (भारत में विवेकानन्द, पृ० ४३०)।

८. अगर भला चाहते हो तो घण्टा-सण्टा गंगा में बहाकर साक्षात् भगवान् की नरदेहधारी प्रत्येक मनुष्य की पूजा करो···करोड़ों रुपये खर्च कर बनाये गये काशी और वृन्दावन के श्रीठाकुर के दरवाजे खुलते और बन्द होते रहते हैं। अब ठाकुरजी कपड़े बदलते हैं और अब ठाकुरजी भोग पाते हैं और अब ठाकुरजी निपूतों के बाप-दादा के श्राद्ध में पिण्डा निगलते हैं। और इधर जीते-जागते ठाकुर अन्न बिना, विद्या बिना मर रहे हैं। (पत्रावली-भाग, २ पृ० १९९)।

देर-सवेर सभी को खण्डन का आश्रय लेना पड़ता है। जब सामान्य औषधोपचार से काम नहीं चलता तो आपरेशन के लिए सर्जन को चाकू चलाना पड़ता है। इस बात पर विचार करते समय स्वामी विवेकानन्द का निम्न वक्तव्य द्रष्टव्य है—

"संसार को समय-समय पर कठोर समालोचना की भी आवश्यकता होती है।" (हिन्दू धर्म, पृ० ५६)। "प्रत्येक कलुषित असत्य के प्रति मैं मधुर और अनुकूल नहीं बन सकता।" (पत्रावली, भाग २, पृ० ७१)। "मैं मधुर बनने का भरसक प्रयत्न करता हूँ। परन्तु जब अन्तरस्थ सत्य से समझौता करने का अवसर आता है, तब मैं रुक जाता हूँ।" (वही, पृ० ७०)। "हमारे बहुतेरे कुसंस्कार हैं, हमारी देह पर बहुत-से काले धब्बे और हानिकारक घाव हैं—उन्हें चीर-फाड़ करके एकदम निकाल देना होगा। नहीं, समझौता नहीं, लीपा-पोती नहीं, गले-सड़े मुर्दों को फूलों से न ढको।" (विवेकानन्द चरित, पृ० ३७६)। "यदि हम देखें कि परम्पराप्राप्त आचार-नियम समाज के विकास व परिपुष्टि के मार्ग में बाधा डाल रहे हैं, यदि वे हमारे विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में रोड़े सदृश हैं, तो हम जितनी जल्दी उनका त्याग कर दें, उतना अच्छा है।" (विवेकानन्द चरित, पृ० १९८)। "पुरातन पौराणिक घटनाओं को रूपक मानकर चिरस्थायी करने की चेष्टा करने और इस प्रकार उन्हें महत्त्व देने से कुसंस्कार की उत्पत्ति होती है और यह सचमुच दुर्बलता है। असत्य के साथ कभी भी और किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहिए। सत्य का उपदेश दो और किसी प्रकार से भी असत्य के पक्ष में युक्ति देने की चेष्टा मत करो।" (देववाणी, पृ० १६१)। "उन पाखण्डी पुरोहितों को, जो सदा उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं, निकाल बाहर करो, क्योंकि उनका कभी सुधार नहीं होगा (पत्रावली, भाग १, पृ० ६५)। पौरोहित्य की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चकराती हुई एकदम एटलांटिक सागर में जा गिरें।" (वही, पृ० १५४)।

इससे स्पष्ट है कि खण्डन-मण्डन का चोली-दामन का सम्बन्ध है। पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों का विवेचन किये बिना यथार्थ एवं पूर्णज्ञान होना सम्भव नहीं। दयानन्द ने सदा से चली आ रही परम्परा का ही अनुसरण किया है। इसमें किसी प्रकार असामंजस्य अथवा अनौचित्य नहीं है।

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में ग्रन्थकार द्वारा सिख गुरुओं की आलोचना को लेकर क्षोभ होता है। उन्होंने गुरु नानक तथा गुरु गोविन्दसिंह के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ के विषय में कुछ नहीं लिखा। गुरु नानक के विषय में स्वामी जी के कथन का आपत्तिजनक अंश इस प्रकार है—"विद्या कुछ भी नहीं थी···वेदादि शास्त्र और संस्कृत कुछ भी नही जानते थे। मान प्रतिष्ठा के लिए कुछ दम्भ भी किया होगा।" परन्तु जहाँ उन्होंने यह सब लिखा है, वहाँ यह प्रशंसात्मक शब्द भी लिखे हैं—"नानकजी का आशय अच्छा था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को (मुसलमान होने से) बचाया।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि स्वामीजी के मन में गुरु नानक के प्रति दुर्भावना न होकर प्रशंसा के भाव थे। उनका (नानकजी का) संस्कृत से और वेदशास्त्र से अनभिज्ञ होना तो निर्विवाद है। परन्तु इसके लिए भी उन्होंने गुरु नानक को नहीं, तत्कालीन परिस्थितियों को जिम्मेदार ठहराया है। उन्होंने लिखा है—"उस समय पंजाब संस्कृत विद्या से रहित और मुसलमानों से पीड़ित था।" गुरु नानक सम्बन्धी गपोड़ों के विषय में स्वामीजी ने लिखा है—"इसमें उनके चेलों का दोष है, नानकजी का नहीं।" गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित

भक्ति-भावना के विषय में उन्होंने लिखा है—"नानकजी ने कुछ भक्ति विशेष ईश्वर की लिखी थी, उसे करते जाते तो अच्छा था।" इस प्रकार भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में गुरु नानक की प्रशंसा करते हुए उसके परित्याग के लिए उनके अनुयायियों को दोषी ठहराया है। दशम गुरु गोविन्दसिंह के विषय में स्वामीजी ने लिखा है—"गुरु गोविन्दसिंह शूरवीर हुए। पंच ककार की रीति उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से की। इन सब (अर्थात् सिख गुरुओं) ने भोजन का बखेड़ा बहुत-सा हटाया। जैसे इसको हटाया, वैसे विषयासक्ति, दुरभिमान को भी हटाकर वेदमति की उन्नति करें तो बहुत अच्छी बात है।" कितनी सराहना की है। ग्रन्थकार वेदादिशास्त्रों के प्रकाण्डविद्वान् थे। वेद ही उनके सम्पूर्ण चिन्तन का आधार था। वे वेदों को सब सत्य विद्याओं का मूल मानते थे और उन्हीं के अपनाये जाने में वे न केवल इस देश का अपितु मनुष्यमात्र का कल्याण मानते थे। इसलिए उन्होंने वेदविरोधी सभी मतों और उनके प्रवर्त्तकों की आलोचना की। 'इसमें उन्होंने कहीं भी पक्षपात न करके वर्त्तमान में लोक में प्रसिद्ध सर्वधर्मसमभाव' का आदर्श स्थापित किया। पंजाब में एक समय ऐसा था जब उच्चवर्ग के हिन्दू दलित व पिछड़े वर्ग के लोगों को अछूत मानते थे। हिन्दुओं में ही नहीं, अपने को हिन्दुओं से अलग माननेवाले सिखों में भी मजहबी, गुलाबदासी, रैदासी, कबीरपन्थी आदि को (बहुत कुछ मुसलमानों व ईसाइयों की तरह) अछूत समझा जाता था। उस समय ऐसे लोगों को सामाजिक प्रतिष्ठा तथा धार्मिक विश्वास दिलाने के लिए भी आन्दोलन करना पड़ा। उच्चवर्ग (सवर्णों) की भावनाओं की तुष्टि के लिए शुद्धि-संस्कार और दलितों के सन्तोष के लिए बड़े स्तर पर सहभोज आदि की व्यवस्था की जाती थी। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को अपने पिताश्री के साथ कई बार सामूहिक शुद्धि-संस्कारों और सहभोजों में सम्मिलित होने का अवसर मिला। इस प्रकार शुद्ध होकर समाज में प्रतिष्ठित होनेवाले लोग स्वाभाविक रूप से अपने को आर्यसमाजी मानने और महाशयजी, आर्यजी आदि नामों से पुकारे जाने लगे। इससे आतंकित नाभा के काहनसिंह तथा अन्यों ने हिन्दुओं और सिखों में भेद डालने के लिए 'हम हिन्दू नहीं हैं' का आन्दोलन चलाया।

कहीं-कहीं मैंने ग्रन्थकार के विचारों से अपनी असहमति भी व्यक्त की है जो 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए' ग्रन्थकार की इस भावना के अनुरूप है। ऋषि दयानन्द के जीवनचरित्, उनके ग्रन्थों, पत्र और विज्ञापनों से उनकी दीर्घ दृष्टि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसा ही एक प्रसंग हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। बम्बई आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व की एक घटना 'मुम्बई आर्यसमाजनो इतिहास' में पृष्ठ ८ पर उल्लिखित है। घटना इस प्रकार है—

एक दिन स्वामीजी के निवासस्थान पर उनके प्रति सम्मान रखनेवाले बम्बई के सम्भ्रान्त गृहस्थों ने जाकर धार्मिक चर्चा करते-करते बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की स्वामीजी से प्रार्थना की। इसपर उन्होंने सबको उद्देश्य करके स्पष्ट बता दिया कि—

"भाई हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं। मैं तो वेद के अधीन हूँ और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं, कई-कई बात में किसी-किसी में कुछ-कुछ भेद है, सो विचार करने से आप ही छूट जायेगा।......मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ, इसके बदले जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता रहूँ।......आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज कर लो। इसमें मेरी कोई मनाई नहीं। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न कर सकोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जायेगा। इतना लक्ष में रखना कि मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी भी गलती पाई जाय, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके, इसको भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एकमत हो जायगा।"

(ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, सं० ३, भाग २, पृष्ठ ८)

मैंने ऋषि के आदेशानुसार ही कार्य किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं ऋषि से अधिक विद्वान् या बुद्धिमान हूँ। मैं तो उस नन्हें बालक के समान हूँ, जो पिता के कन्धे पर खड़ा है। पिता की अपेक्षा बालक निश्चय ही छोटा है। पर पिता के कन्धे पर खड़ा होने के कारण उसे अनायास ही पिता की अपेक्षा अधिक दूर का दिखाई देता है। ऋषि के मत की आलोचना मेरी अनधिकार चेष्टा समझी जायेगी। परन्तु उनके कन्धे पर बैठकर जो मुझे दीखा है, मैंने वही बताने का प्रयास किया है। मुझे जो कुछ दीखा है, वह सर्वथा निर्दोष है, इसका मैं दावा नहीं कर सकता। इस कारण हुए दोष के लिए सुधीजन मुझे क्षमा करें। प्रत्येक मानवीय प्रयोग में अपूर्णता रहती है। विकास क्रम में यह बात अनिवार्य है। दोषों का परिमार्जन करते हुए आगे बढ़ते जाना विद्वानों का काम है।

विदुषामनुचरः
—विद्यानन्द सरस्वती

डी-१४/१६, माडल टाउन, दिल्ली-११०००९
'लेखराम तृतीया'
फाल्गुन सुदी ३, संवत् २०४९ विक्रमी
तदनुसार २४ फरवरी, सन् १९९३

सत्यार्थभास्कर:

उत्तरार्द्धः

अनुभूमिका

यह सिद्ध बात है[1] कि पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था। क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत[2] युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से अविद्याऽन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया।

मनुष्य में एक शक्ति कार्य करती है, जिसकी सहायता से वह सत्यासत्य का निर्धारण करता है। इस शक्ति को 'ऊह' शक्ति कहते हैं। 'ऊह' से उद्भूत धर्म 'तर्क' कहाता है। यह तर्कना-शक्ति मनुष्य को पशु से भिन्न करती है। भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डन हमेशा चलता रहा है। यदि कोई सिद्धान्त दोषयुक्त जान पड़े तो पहला काम है तटस्थ भाव से उसका विवेचन करना, और जब उसके दोषों का ज्ञान हो जाय तो उसका प्रत्याख्यान करना। अर्थात् सिद्धान्त का विवेचन करके उसके गुण-दोषों का परिशीलन करने के पश्चात् ही उसके निराकरण में प्रवृत्त होना उचित है। इस सारी प्रक्रिया का नाम खण्डन है। यह 'परमत' है, इसलिए हेय है—यह मानकर द्वेषबुद्धि से उसका प्रत्याख्यान करना खण्डन नहीं कहाता। पूर्वाग्रहयुक्त खण्डन निश्चय ही हेय है, किन्तु सत्यासत्य के निर्धारण के लिए आलोचना को अनुचित नहीं कहा जा सकता।

स्वामी दयानन्द द्वारा की गई आर्यधर्मेतर मतों की समीक्षा का प्रयोजन सत्यासत्य का निर्णय करके लोगों का मार्गदर्शन करना था। परमतालोचन के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखा है—"जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबल व कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति के लिए प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है। इन मतों के थोड़े-थोड़े दोष प्रकाशित किए हैं जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ हो सकें।"

सत्यासत्य का निर्णय कर समाज में नीर-क्षीर-विवेक-बुद्धि पैदा करना समाज-सुधारक का कर्त्तव्य है। ग्रन्थकार ने पूर्वार्द्ध में मण्डनात्मक युक्तियों तथा प्रमाणों से वेदमत का स्थापन किया है और उत्तरार्द्ध में युक्तियों तथा प्रमाणों से वेदमत से भिन्न तथा उसके विरोधी मतों का प्रत्याख्यान किया है। इस प्रकार पहले दस मण्डल मण्डनात्मक तथा पिछले चार खण्डनात्मक हैं। यह नामकरण प्रधानता के

---

१. अर्थात् भारतीय इतिहास से।

२. कौरव-पाण्डवों के युद्ध का मूल नाम 'भारत' है। 'भरता योद्धारोऽस्य संग्रामस्य = भारतः संग्रामः'। द्र०—अष्टा० ४।२।५६।। इस युद्ध की महत्ता के कारण यह 'महाभारत' नाम से लोक में प्रसिद्ध है।

उन सब मतों में चार मत, अर्थात् जो वेदविरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी, सब मतों के मूल हैं। वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं हैं। इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्याऽसत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है।

जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या, और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है, उसको सबके आगे निवेदन कर देना मैंने उत्तम समझा है। क्योंकि विज्ञान गुप्त[1] हुए का पुनर्मिलना सहज नहीं है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्याऽसत्य मत सबको विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत का छोड़ना सहज होगा।

इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तररूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनका संक्षेप से गुण-दोष इस ११वें समुल्लास में दिखाया जाता है। इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें, तो विरोध

आधार पर है, क्योंकि स्वमत-स्थापक पूर्वार्द्ध में भी यत्र-तत्र खण्डन और परमतोन्मूलक उत्तरार्द्ध में भी यत्र-तत्र मण्डन हुआ है।

वेद ने भद्र की प्राप्ति की कामना (भद्रमासुव) से पहले बुराइयों को दूर करने (दुरितानि परासुव) का निर्देश किया है। सायण ने 'दुरितानि' का अर्थ किया है--'पापानि' (ऋग्भाष्य २।२७।५)। 'इण् गतौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'इत' बनता है। 'दुः' उपसर्ग लगने पर 'दुरित' बना। इस प्रकार धातु और प्रत्यय के आधार पर मार्ग में आनेवाली बाधाओं की संज्ञा 'दुरित' है। सायण ने 'दुरितम्' का अर्थ किया है 'अज्ञानात् निष्पन्नम्' (ऋग्भाष्य १।२३।२२)। स्वामी दयानन्द ने अर्थ किया है—'दुष्टस्वभावानुष्ठानजनितं पापम्' (वही)। अन्यत्र (वही २।२७।५) उन्होंने 'दुरितानि' का अर्थ 'दुःखानि पापानि' किया है। आप्टे ने इसका अर्थ किया है—'Difficult' (कठिन), 'Sinful' (पाप) तथा 'A bad course' (बुरा रास्ता)। मार्ग में किसी प्रकार की बाधा न हो तो यात्रा सुगम होती है और यात्री अपने गन्तव्य पर जल्दी और आसानी से पहुँच जाता है। यदि रास्ता ऊबड़-खाबड़ हो, जगह-जगह झाड़-झंखाड़ हों, काँटे बिछे हों, नदी-नालों के पुल टूट गये हों--तो ये सब दुरित हैं। इन्हें हटाये बिना मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता।

किसी सुन्दर उद्यान के निर्माण के लिए सुन्दर पौधों का आरोपण जितना आवश्यक है, जंगली घास-फूंस और कटीली झाड़ियों का उच्छेदन भी उतना ही आवश्यक है। एक चतुर किसान बीज डालने से पहले ही नहीं, फ़सल उगने के पश्चात् भी समय-समय पर खेत की नलाई करके खरपतवार को निकालकर बाहर फेंक देता है। औषधोपचार से पहले आवश्यकतानुसार विरेचन द्वारा रोगी के पेट को साफ किया जाता है। भवन-निर्माण की प्रक्रिया में ऊँचे-नीचे टीलों को तोड़कर समतल तो करना पड़ता ही है, दीवारों को ऊपर की ओर उठाने के लिए उन्हें सुदृढ़ आधार प्रदान करने की दृष्टि से भूमि को खोदकर गहरा भी करना पड़ता है। शरीर को स्वस्थ व बलिष्ठ बनाने के निमित्त पौष्टिक पदार्थ देने से पहले उसके भीतर के रोग को निकालना पड़ता है। इसी क्रम में कभी-कभी ऑपरेशन के द्वारा फेफड़े और गुर्दे को निकालना और विशेष अवस्था में हाथ-पैर को काटना भी आवश्यक हो जाता है। ये सब खण्डन के ही रूप हैं।

१. सम्भवतः इसका अर्थ है—'लुप्त हुए विज्ञान का'।

भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्याऽसत्य का निर्णय करने-कराने का [ही] है।

इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्त्तना अति उचित है। मनुष्यजन्म का होना सत्याऽसत्य के निर्णय करने-कराने के लिए है, न कि वादविवाद, विरोध करने-कराने के लिए। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं।

खण्डन-मण्डन के निहितार्थ को न समझनेवाले और समन्वयवाद के उद्घोष से भ्रमित होनेवाले लोग तनिक दयानन्द के समय की धार्मिक प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे तो विवश होकर उन्हें खण्डन-कुठार की उपयोगिता को स्वीकार करना पड़ेगा। यह वह समय था जब मौलवियों और पादरियों के आक्षेपों का उत्तर न देने में असमर्थ नीलकण्ठ शास्त्री जैसे उद्भट विद्वानों, मधुसूदनदत्त जैसे प्रतिभाशाली कवियों तथा व्योमेशचन्द्र बनर्जी और लालबिहारी दे जैसे नेताओं को ईसामसीह की शरण लेनी पड़ी थी। जितने भी समाज-सुधारक हुए, सभी को खण्डन का सहारा लेना पड़ा। उदाहरण के लिए हम यहाँ प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक सुधारकों में से केवल एक-एक की थोड़ी-सी झलक प्रस्तुत कर रहे हैं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उद्घोष करनेवाले आदिजगद्गुरु शंकराचार्य बौद्धमत का खण्डन करते हुए लिखते हैं—**"सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलपित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः।"** (ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।३२) अर्थात्—बुद्ध ने अपने को प्रलाप (बकवास) करनेवाला सिद्ध किया और 'मिथ्या से प्रजा विमोहित हो जाय' शब्दों से अपना प्रजाद्वेषीरूप प्रकट किया। अतः अपना कल्याण चाहनेवालों को बुद्धदेव का आदर नहीं करना चाहिए।

वाममार्गी, जैन, बौद्ध, कापालिक आदि के खण्डन में भी उन्होंने जिस कठोर भाषा का प्रयोग किया है, उसका अनुमान माधवाचार्यप्रणीत 'शंकरदिग्विजय' के इस श्लोक से लग जाता है—

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम्।
मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्व्यधात्,
सर्वज्ञो न यतोऽस्य सम्भवति सम्मानग्रहग्रस्तता॥

"समीप से वेद का श्रवण करनेवाले शूद्र के कानों को सीसे और लाख से भर दे। शूद्र तो चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए। यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए। यदि वेद को याद करे तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ।" (शा० भा० १।३।३८)

कुमारिलभट्ट ने बुद्धोपदेश को 'कुत्ते की खाल में पड़े दूध के समान गन्दा व उपेक्षणीय बताया है' (तन्त्रवार्त्तिक)।

ग्रन्थकार पर जो लोग यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने सब मतों का खण्डन करके परस्पर द्वेष को बढ़ाया है, ये वे लोग हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास का अध्ययन नहीं किया। शंकराचार्य जी ने तो अपने समय में जैन, बौद्ध, पाशुपत आदि मतों का खण्डन किया ही, जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि ने सब वैदिक दर्शनों के खण्डन में 'आप्त परीक्षा' नाम से एक बृहद् ग्रन्थ लिखा। बौद्ध विद्वान् सुबन्धु ने अपने

जब तक इस मनुष्य-जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा, तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है।

ग्रन्थों में वैदिक तथा जैन दर्शनों का खण्डन किया। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार बुद्धि की गति को आर्यों ने कभी नहीं रोका। सत्यासत्य के निर्णयार्थ तर्क से परीक्षण करना आर्य जाति की परम्परागत विशेषता रही है।

क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के धनी कबीर ने हिन्दू और मुसलमान मतों की मौलिक एकता का निरूपण करते हुए भी उनके दोषों की तीखी आलोचना करने में संकोच नहीं किया। कबीर ने देखा कि लोग नाना प्रकार के अन्धविश्वासों में फँसे हुए हैं। उन्होंने लोगों को उनसे मुक्त करने का यत्न किया। हिन्दुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, मूर्तिपूजा और मुसलमानों के रोज़ा, नमाज़, हज और ताज़ियेदारी का उन्होंने ज़ोरदार खण्डन किया। कर्मकाण्ड की उन्होंने भरपेट निन्दा की। धार्मिक सुधार और सामाजिक सुधार का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए धर्मसुधारक को समाजसुधारक बनना पड़ता है। कबीर ने भी समाजसुधार के लिए बड़ी कठोर वाणी का प्रयोग किया। हिन्दुओं की जात-पात, छुआछूत, खान-पान आदि के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा-ताऊ की लड़की से ब्याह, मुसलमानी कराने आदि का उन्होंने चुभती भाषा में विरोध किया और इनके लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों की जी भरकर धूल उड़ाई। जन्म ही से कोई द्विज और शूद्र या मुसलमान नहीं होता, इस बात को कबीर ने इन शब्दों में कहा—

जे तू बाह्मन बाह्मनी जाया, आन बाट काहे नहिं आया।
जे तू तुरक तुरकनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया॥

मुसलमानों की अज़ान की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने कहा—

कांकर पाथर जोड़के, मसजिद लई बनाय।
तापर मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

उधर मूर्तिपूजा के लिए हिन्दुओं पर व्यंग्य किया—

पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूं पहार।
ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार॥

स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं कि "रामकृष्ण परमहंस कभी किसी धर्म को समालोचना की दृष्टि से नहीं देखते थे" (स्वामी विवेकानन्द से वार्तालाप, पृष्ठ १२)। ऐसा इसलिए था कि एक तो उनके कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं थे (देखें हमारी 'स्वामी विवेकानन्द के विचार') और दूसरे यह कि व्यक्तिगत साधना में लीन आत्मकेन्द्रित साधक थे। समाज या देश के हिताहित से उनका कुछ लेना-देना नहीं था। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि भी पहले एकांगी थी। वे कहते थे—"समाज पर अग्निमय वाणों की वर्षा कर, प्रत्येक आचार-व्यवहार की कड़ी आलोचना के द्वारा किसी प्रकार सुधार सम्भव नहीं" (विवेकानन्द-चरित, पृष्ठ १३३)।

परन्तु व्यवहार-जगत् में आने के बाद वही विवेकानन्द कहने लगे—"संसार को समय-समय पर कठोर आलोचना की आवश्यकता होती है" (हिन्दू धर्म, पृ० ५६)। "प्रत्येक असत्य के प्रति मैं मधुर और अनुकूल नहीं बन सकता हूँ" (पत्रावली २, ७१)। "मैं मधुर बनने का भरसक प्रयत्न करता हूँ, परन्तु जब अन्तरस्थ सत्य से समझौता करने का अवसर आता है तब मैं रुक जाता हूँ।" (पत्रावली

यह निश्चय है कि इन मत वाले विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्यमत हो जाएँ। इसके होने की युक्ति इस ग्रन्थ की पूर्त्ति[1] में लिखेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करें।

अलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वरशिरोमणिषु ॥

२, ७०)। "हमारे बहुतेरे कुसंस्कार हैं, हमारे देह पर बहुत-से काले हानिकारक धब्बे हैं, उन्हें काट और चीर-फाड़कर फेंक देने में ही कल्याण है।······नहीं, समझौता नहीं, लीपा-पोती नहीं, सड़े-गले मुर्दों को फूलों से न ढको" (विवेकानन्दचरित, पृष्ठ ३७६)। "यदि हम देखें कि परम्परा से प्राप्त आचार-विचार समाज के विकास व परिपुष्टि के मार्ग में बाधक हैं, यदि वे हमारी विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में रोड़े हैं, तो जितना शीघ्र हो सके, उनका त्याग कर दें" (विवेकानन्दचरित, पृष्ठ १६८)। "उन पाखण्डी पुरोहितों को, जो सदैव उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं, निकाल बाहर करो, क्योंकि उनका कभी सुधार नहीं होगा" (पत्रावली १, ६५)। "पौरोहित्य की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चकराती हुई एकदम अटलांटिक महासागर में जा गिरें" (वही, पृष्ठ १५४)। कभी-कभी विवेकानन्द के तेजस्वी और ओजस्वी रूप का दर्शन होता है। विदेशी इतिहासकारों को फटकारते हुए उनसे स्वामी जी ने पूछा—"वेद के किस सूक्त में लिखा है कि आर्य लोग दूसरे देशों से भारत आये? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला कि उन लोगों ने यहाँ की जंगली जातियों को मार-काटकर इस देश पर अधिकार किया? बेकार इस अहमक़पन की क्या ज़रूरत है?" (प्राच्य और पाश्चात्य, पृष्ठ १०२)।

गीता के अनुसार श्रीकृष्ण के जीवन के दो लक्ष्य थे—"**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**" मधुसूदन ने अपने गीताभाष्य में इसकी व्याख्या में लिखा है—"**साधूनां पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां परित्राणाय सर्वतो रक्षणाय तथा दुष्कृतां पापकारिणां वेदमार्गविरोधिनां विनाशाय।**" जिस प्रकार द्वापर में श्रीकृष्ण ने वेदमार्ग के विरोधियों का खण्डन (विनाश) करके वेदमार्ग के अनुयायियों की रक्षा की, उसी प्रकार कलियुग में दयानन्द ने वेदविरोधी मतों का खण्डन (विनाश) करके वेदमत की रक्षा की। वस्तुतः खण्डन और मण्डन एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

सारसंक्षेप में कहा जा सकता है—"सर्वतन्त्र-सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य, सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिए उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन जिसको अन्यथा जाने वा माने, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्य-मानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता।" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश की रचना अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने तथा अमन्तव्यों की विवेचना व समीक्षा के लिए की थी, जिससे अर्थों—सिद्धान्तों का प्रकाश यथार्थरूप में हो सके और जिसके अनुसार अनुष्ठान करने पर प्रत्येक मानव अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए अनायास प्रयत्नशील हो सके। इस भावना से उन्होंने प्रथम दस समुल्लासों में अपने मन्तव्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और अन्तिम चार समुल्लासों में अमन्तव्य मतों व विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की। ऐसी समीक्षा सच्चे

---

१. अर्थात् 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' नामक अन्तिम प्रकरण में।

सिद्धान्तों पर लपेटे हुए मलिन आवरणों को हटाकर उन्हें सामने प्रकाश में लाकर खड़ा कर देती है। ऐसी विवेचना की उपादेयता का सदा से लोककर्त्ता आचार्यों ने अभिनन्दन किया है।

सत्यार्थप्रकाश के इस (उत्तरार्द्ध) समीक्षा-भाग के पहले एवं ग्रन्थक्रम के अनुसार ग्यारहवें समुल्लास में उन विचारों व मतों का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिनमें मूलभूत वैदिक सिद्धान्तों को विकृत कर दिया गया है, पर जिन्हें आज मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में माना जा रहा है। मूलभूत सिद्धान्तों में यह विकार सहस्रों (महाभारत-काल से न्यून-से-न्यून एक सहस्र) वर्षों से धीरे-धीरे होता रहा, और अनजाने में उसका इतना सात्म्य हो गया कि वास्तविकता को सर्वथा भुला दिया गया अथवा समाज की दृष्टि से ओझल कर दिया गया। ग्रन्थकार ने अपनी क्रान्त दृष्टि से काल की सीमा को भेदकर यथार्थता का अवलोकन किया और लोक-कल्याण की भावना से उसे जनमानस तक पहुँचाने के लिए 'सत्यार्थ-प्रकाश' के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार एकादश समुल्लास में उन सभी मतों का विवेचन है, जो हिन्दू मत या पौराणिक मत के नाम से जाने जाते हैं। इन्हीं के बीच उन विचारों की भी समीक्षा है, जिन्हें आचार्य शंकर ने दार्शनिक रूप देकर उनकी दृढ़ता को उपस्थापित किया और प्रचारित किया।

अथैकादशसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽर्य्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डने विधास्यामः

अब आर्य[1] लोगों के कि जो आर्यावर्त्त देश में बसनेवाले हैं, उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे।

[भारत भूमि स्वर्णभूमि है]

यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम 'सुवर्णभूमि' है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसीलिए सृष्टि की आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। इसलिए हम सृष्टि-विषय में कह आये हैं कि 'आर्य' नाम उत्तम पुरुषों का है, और आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम 'दस्यु' है।

आर्यावर्त—यह हम पहले (समुल्लास ८) स्पष्ट कर चुके हैं कि आदिकाल में मनुष्यों की सृष्टि हिमालय पर हुई थी। कालान्तर में वहीं से सारे संसार में मानव-जाति का विस्तार हुआ। इसी कारण सभी देशों में बसनेवाले लोगों को किसी-न-किसी रूप में हिमालय की स्मृति बनी हुई है। चरकसंहिता (चिकित्सास्थान ४।३) के प्रमाण से सिद्ध है कि भारतीय लोग भी हिमालय से ही भारत में आये थे। वही आर्यों का मूल अभिजन था। वहीं से आर्यजन बढ़ते-बढ़ते हिमालय की निम्न मध्यम पर्वतश्रेणियों के दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेश में आ गये। जिस रास्ते से वे यहाँ आये, उसका नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा और जिस भू-खण्ड में आकर बसे, उसे उन्होंने आर्यावर्त्त के नाम से अभिहित किया। प्राचीन काल से ही कभी आर्यावर्त्त के अवान्तर प्रदेश ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि देश, भारत, भारतवर्ष आदि नामों से प्रसिद्ध हुए (देखें—मनु० २।१७-२२; पातंजल-व्याकरण-महाभाष्य २।४।१० व ६।३।१०६)। इस प्रकार मूलतः गुणवाचक 'आर्य' शब्द वर्गविशेष के लोगों के लिए और 'आर्यावर्त्त' उन लोगों के बसने के स्थान के लिए रूढ़ हो गया। प्रस्तुत सन्दर्भ में आर्यावर्त्त शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। मनुस्मृति (२।२) में आर्यावर्त्त की सीमाओं का निर्देश इस प्रकार किया है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिरोरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

अर्थात् पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र-पर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं। सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में इस श्लोक का निर्देश कर आर्यावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

---

१. यतः आर्य श्रेष्ठ वेदानुकूल वर्तनेवालों में मतमतान्तरों की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, अतः यहाँ 'आर्य' शब्द आर्यावर्त-निवासी के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी को ग्रन्थकार ने वाक्य के उत्तरार्ध से स्पष्ट किया है। देश के नाम पर भी देशवासियों का नाम होता है, जैसे ईरान के ईरानी, मिश्र के मिश्री, फ्रांस के फ्रांसीसी। इसी प्रकार आर्यावर्त में रहनेवाले यहाँ 'आर्य' कहे गये हैं।

[भारत ही पारसमणि है]

जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि 'पारसमणि' पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूंठी है, परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

[आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्त्ती राज्य]

सृष्टि से लेके पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय-पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे। क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहाँ के राज्य और राजशासन में सब भूगोल के राजा और प्रजा चलते थे। क्योंकि यह मनुस्मृति, जो सृष्टि की आदि में हुई है,[1] उसका प्रमाण है—

"हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने प्रदेश हैं, उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देश देवों अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया।" आजकल विन्ध्याचल उत्तर और दक्षिण भारत को पृथक् करनेवाला पर्वत माना जाता है। वास्तव में यह वर्त्तमान में पूर्वी और पश्चिमी घाटों के नाम से प्रसिद्ध पर्वतमाला का नाम है। तभी ग्रन्थकार ने 'रामेश्वरपर्यन्त' शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें वाल्मीकि-रामायण की यह साक्षी है—

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान्। दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः॥

—कि० कां० ६०।७

अर्थात्—प्रसन्न पक्षियों के झुण्डों से भरपूर और कन्दराओं से परिपूर्ण दक्षिण समुद्र के तट पर यह निश्चित ही विन्ध्याचल है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में विन्ध्याचल उस पर्वतमाला का नाम था, जिसे आज पूर्वी और पश्चिमी घाट कहते हैं।

वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (अध्याय ४) में लिखा है—

भारतवर्षे मध्यात् प्रागादि विभाजिताः देशाः।
अथ दक्षिणेन लङ्काकालाजिनसौरिकीर्णकालीकटाः॥

अर्थात्—भारतवर्ष के मध्य से पूर्वादि देशों का विभाग है और दक्षिण में लङ्का, कालाजिन, सौरिकीर्ण तथा कालीकट देश है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में भारतवर्ष के विषय में लिखा है—

सहस्रयोजनो बदरिकासेत्वन्तः। द्वारिकादिपुरुषोत्तमसालग्रामान्तः सप्तशतयोजनः। तत्रापि रैवतविन्ध्यसह्यकुमारमलयश्रीपर्वतपरियात्राः सप्तकुलाचलाः। गंगा-सरस्वती-कालिन्दी-गोदावरी-कावेरी-ताम्रपर्णी-कृतमालाः कुलनद्यश्च ॥७६।२२॥

---

१. यह भारतीय इतिहास से सिद्ध तत्त्व है। मनु के पश्चात् मनु के शिष्यों भृगु तथा नारद आदि ने मानव-धर्मशास्त्र का पुनः प्रवचन किया। इसीलिये वर्तमान मनुस्मृति के अन्त में 'इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायाम्' पाठ मिलता है। भृगुप्रोक्त पाठ का भी उत्तरकाल में पुनः न्यूनातिन्यून दो बार प्रवचन हुआ। यह इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से विदित होता है। पर इन प्रवक्ताओं के नाम अज्ञात हैं। इस स्मृति में उत्तरकाल में कुछ प्रक्षेप भी हुए। नारद ने मनुस्मृति के केवल राजधर्म का प्रवचन किया था। यह नारदप्रोक्त मनुस्मृति भी इस समय उपलब्ध है। पाश्चात्य तथा तदनुयायी आधुनिक कतिपय भारतीय विद्वान् मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर मनुस्मृति को विक्रम की ३-४ शती का बना हुआ मानते हैं। यह भारतीय वाङ्मय वा इतिहास से विरुद्ध है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥—मनु० २।२०

इसी आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।

और महाराजा युधिष्ठिरजी के राजसूययज्ञ और महाभारत-युद्धपर्यन्त यहाँ के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो, चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का बिडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँखवाले, यवन जिसको यूनान कह आये, और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत-युद्ध में सब आज्ञानुसार आये थे। जब रघुगण राजा थे, तब रावण भी यहाँ के अधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया, तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था।[1]

[आर्यों की अवनति के कारण]

स्वायंभुव राजा से लेकर पाण्डव-पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये, क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी-अन्यायकारी-अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है, तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या-द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है।[2] इससे देश में विद्या-सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसेकि मद्यमांस-सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं।

अर्थात्—बदरिका से लेकर सेतुबन्ध (रामेश्वर) तक हज़ार योजन है। द्वारिका से लेकर पुरुषोत्तमसालग्राम (पुरी) तक सात सौ योजन है। उसमें रैवतक, विन्ध्य, सह्य, कुमार, मलय, श्रीपर्वत तथा पारयात्र ये सात कुलपर्वत हैं; और गंगा, सरस्वती, कालिन्दी, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णी तथा कृतमाला—ये सात नदियाँ हैं।

इसपर विचार करने से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त की सीमा कहाँ तक है। इस प्रकार आर्यावर्त्त और भारत अभिन्न हैं, एक हैं।

आर्यावर्त्त की महिमा—ग्रन्थकार ने यहाँ प्रौढोक्ति के द्वारा प्रजा के मन में देशभक्ति के भावों को उद्वेलित करने का प्रयास किया है। पढ़ते ही हृदय स्वाभिमान से, जातीय गौरव से प्रफुल्लित हो उठता है। सन् १९११ की जनसंख्या के अध्यक्ष (Census Commissioner) ब्लण्ट ने लिखा था—

"The Arya Samajic doctrine has a patriotic side. The Arya doctrine and Arya education alike sing the glories of ancient India and by so doing arouse a feeling of national pride in its disciples who are made to feel that their country's history is not a tale of humiliation. Patriotism and politics are not synonymous, but the arousing of an interest in national affairs is the natural result of arousing national pride."

—Census Report of 1911, Vol. XV, Part I, Chap. IV, Page 135

---

१. इक्ष्वाकु-वंश में रघु, अज, दशरथ और राम अनुक्रम से हुए। रावण बहुत दीर्घजीवी था। अतः वह रघु से लेकर राम के काल तक जीवित रहा।

२. 'लोभात् परिग्रहम्, परिग्रहाद् गौरवम्, गौरवाद् आलस्यम्, आलस्यात् तेजोऽन्तर्दधे'। पाराशरीय ज्योतिष संहिता, भट्ट उत्पल कृत बृहत्संहिता-टीका में उद्धृत वचन। तुलना करो—आयुर्वेदीय चरक संहिता विमान० अ० ३।

और जब युद्ध-विभाग में युद्धविद्याकौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करनेवाला भूगोल में दूसरा न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं, तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से ऐसा कोई समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविन्दसिंह जी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।

[पुराकाल के चक्रवर्ती कतिपय आर्य राजा]

'अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्त्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्वबद्ध्रयश्वाश्वपतिशशबिन्दुहरिश्चन्द्राऽम्बरीषननक्तुशर्यातिययात्यनरण्याक्षसेनादयः। अथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः॥'—मैत्र्युपनि० १।४

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारतपर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं। जैसे यहाँ सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, बद्ध्रयश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, शर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत सार्वभौम=सब भूमि में प्रसिद्ध चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम लिखे हैं, वैसे स्वायम्भुवादि चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं। इसको मिथ्या करना अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।

अर्थात्—आर्यसमाज के सिद्धान्तों में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा है। आर्य सिद्धान्त और आर्य शिक्षा दोनों समान रूप से भारत के प्राचीन गौरव के गीत गाते हैं और ऐसा करके अपने अनुयायियों में राष्ट्रिय गौरव की भावना को जाग्रत् करते हैं। इस शिक्षा के कारण वे समझते हैं कि हमारे देश का इतिहास पराभव की कहानी नहीं है। देशभक्ति और राजनीति पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु राष्ट्रिय गतिविधियों में प्रवृत्ति का होना राष्ट्रिय भावना के जाग्रत् होने का स्वाभाविक परिणाम है।

मिस्टर ब्लण्ट ने आगे लिखा है—

"Dayanand was not merely a religious reformer, he was a great patriot. It would be fair to say that with him religious reform was a mere means to national reform."

अर्थात्—दयानन्द केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे, वे बहुत बड़े देशभक्त भी थे। यह कहना ठीक ही होगा कि उन्होंने धार्मिक सुधार को राजनैतिक या राष्ट्रिय सुधार के रूप में अपनाया था।

मिस्टर ब्लण्ट ने बहुत पते की बात कही है, इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थकार ने मत-मतान्तरों, पाखण्डों तथा अन्धविश्वासों एवं परस्पर विरोधी विचारों का खण्डन इसलिए भी किया कि इनके रहते "परस्पर एकमत, एकता, मेल-मिलाप या सद्भाव न रहकर ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई-झगड़ा ही होगा।" उन्होंने बड़े दुःख के साथ लिखा कि—"यदि ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त्त की दुर्दशा न होती।" मूर्त्तिपूजा के प्रसंग में उन्होंने लिखा है—"मूर्त्ति के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मानकर बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य, स्वातन्त्र्य और उनका सुख दूसरों के अधीन हो जाता है।" ब्रह्मसमाज की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—"इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है... अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर रहा, उसके स्थान में भरपेट निन्दा करते हैं।"

इससे पहले सन् १९०१ में जनसंख्या के अध्यक्ष बर्न ने लिखा था—

Dayanand feared Islam and Christianity because he considered that the adoption and adoptation of any foreign creed would endanger the national feelings he wished to foster.

अर्थात् - दयानन्द को आशंका थी कि इस्लाम और ईसाइयत जैसे विदेशी मतों को अपनाने से देशवासियों की राष्ट्रिय भावनाओं को, जिन्हें वे जाग्रत् करना चाहते थे, हानि पहुँचेगी।

वैदिक धर्म में राष्ट्रिय भावना और सार्वजनिक हित की कल्पना प्रमुख होने के कारण मातृभूमि के प्रति अत्यन्त आदर का भाव होना स्वाभाविक है। अथर्ववेद का भूमिसूक्त (१२।१) इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अपने विषय का यह अनूठा गीत है। संसार के किसी भी साहित्य अथवा भाषा में वैसा सुन्दर गीत शायद ही मिले। उसकी एक झलक विष्णुपुराण के इस श्लोक में मिलती है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

विदेशियों द्वारा प्रशंसा—ग्रन्थकाररचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को पढ़ने के बाद मैक्समूलर ने भारतीय प्रशासनिक सेवा (Indian Civil Service—I.C.S.) में नियुक्त युवकों को इंग्लैण्ड से भेजे जाते समय भारत का परिचय देते हुए कहा था—"आप अपने अध्ययन के लिए चाहे जो भी भाषा अपनाएँ—भाषा, धर्म, दर्शन, क़ानून, परम्पराएँ, प्रारम्भिक कला या विज्ञान—हर विषय का अध्ययन करने के लिए भारत ही सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र है। आप पसन्द करें या न करें, परन्तु वास्तविकता यही है कि मानवता के इतिहास की बहुमूल्य एवं निर्देशक सामग्री भारतभूमि में संचित है, केवल भारतभूमि में।"

—हम भारत से क्या सीखें

"We have all come from the East—all that we value most has come to us from the East and by going to the Eask everybody ought to feel that he is going to his 'old home' full of memories, if only we can read them." (Ibid)

अर्थात्—यह निश्चित है कि हम सब पूर्व से ही आए हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन में जो भी कुछ मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है, वह सब हमें पूर्व से ही मिला है। ऐसी स्थिति में जब भी हम पूर्व की ओर जाएँ, तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को सँजोए हुए हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।

फ्रांस के महान् सन्त एवं विचारक क्रूज़े (Cruiser) ने बलपूर्वक लिखा है—

"If there is a country which can rightly claim the honour of being the cradle of human race or at least the scene of primitive civilisation, the successive developments of which carried in all parts of the ancient world, and even beyond, the blessings of knowledge which is the second life of man, that country assuredly is India."—J. Beatie : Civilisation and Progress

अर्थात्—यदि कोई देश वास्तव में मनुष्य-जाति का पालक होने अथवा उस आदिसभ्यता का, जिसने विकसित होकर संसार के कोने-कोने में ज्ञान का प्रसार किया, स्रोत होने का दावा कर सकता है, तो निश्चय ही वह देश भारत है।

क्रूज़े की इस भारत-स्तुति का कारण स्पष्ट करते हुए विलियम दुराँ (William Durant) ने कहा है—

"India was the Motherland of our race and Sanskrit the Mother of European languages, she was the Mother of our philosophy, Mother through the Arabs, of our Maths, Mother, through the Buddha, of the ideals embodied, in Christianity, Mother through the

[पूर्वकाल में आग्नेयादि अस्त्रों की विद्यमानता]

प्रश्न—जो आग्नेयास्त्र आदि विद्या लिखी हैं, वे सत्य हैं वा नहीं ? और तोप तथा बन्दूक तो उस समय में थी वा नहीं ?

उत्तर—यह बात सच्ची है, ये शस्त्र भी थे। क्योंकि पदार्थविद्या से इन सब बातों का सम्भव है।

प्रश्न—क्या ये देवताओं के मन्त्रों से सिद्ध होते थे ?

उत्तर—नहीं। ये सब बातें जिनसे अस्त्र-शस्त्रों को सिद्ध करते थे, वे 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सिद्ध करते और चलाते थे। और जो 'मन्त्र' अर्थात् शब्दमय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। और जो कोई कहे कि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होता है, तो वह मन्त्र के जप करनेवाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवे। मारने जाय शत्रु को और मर रहे आप। इसलिए 'मन्त्र' नाम है विचार का। जैसा 'राजमन्त्री' अर्थात् राजकर्मों का विचार करनेवाला कहाता है, वैसा 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सब सृष्टि के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात् क्रिया करने से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रियाकौशल उत्पन्न होते हैं।

जैसे कोई एक लोहे का बाण व गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने से वायु में धुआँ फैलने, और सूर्य की किरण वा वायु के स्पर्श होने से अग्नि जल उठे, इसी का नाम 'आग्नेयास्त्र' है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे, तो उसी पर 'वारुणास्त्र' छोड़ दे। अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की सेना पर 'आग्नेयास्त्र' छोड़कर नष्ट करना चाहा, वैसे ही अपनी सेना की रक्षार्थ सेनापति 'वारुणास्त्र' से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से होता है, जिसका धुआँ वायु के स्पर्श होते ही बद्दल होके झट वर्षने लग जावे और अग्नि को बुझा देवे। ऐसे ही 'नागफास' अर्थात् जो शत्रु पर छोड़ने से उसके अङ्गों को जकड़के बाँध लेता है। वैसे ही एक 'मोहनास्त्र' अर्थात् जिसमें नशे की चीज डालने से जिसके धुएँ के लगने से सब शत्रु की सेना निद्रास्थ अर्थात् मूर्च्छित हो जाय। इसी प्रकार सब शस्त्रास्त्र होते थे। और एक तार से वा शीसे से, अथवा किसी और पदार्थ से विद्युत् उत्पन्न करके शत्रुओं का नाश करते थे, उसको भी 'आग्नेयास्त्र' तथा 'पाशुपतास्त्र' कहते हैं।

---

village community, of self-government and democracy. Mother India is in many ways the mother of us all."

अर्थात्—"भारत मनुष्यजाति की मातृभूमि और संस्कृत यूरोपियन भाषाओं की जननी है। वह हमारे दर्शन की जननी है, अरबों के माध्यम से हमारे गणित की जननी, बुद्ध के माध्यम से ईसाइयत में निहित आदर्शों की जननी, ग्राम-पंचायत के माध्यम से स्वायत्त शासन व लोकतन्त्र की जननी है।"

इस प्रकार जिस देश को विश्वभर का आदिदेश होने का गौरव प्राप्त है, उसका आर्यों का आदिदेश होना तो स्वतःसिद्ध है।

शस्त्रास्त्रविद्या—जिन आचार्यों ने यन्त्र-विद्या पर संस्कृत में ग्रन्थ लिखे, उनमें प्रमुख हैं— नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि, ढुण्डिनाथ, विश्वनाथ, गौतम, लल्ल, विश्वम्भर, अगस्त्य, बुडिल, गोभिल, शाकटायन, अत्रि, कर्पादि, गालव, अग्निमित्र, वाताप, साम्ब, बौधायन, भरद्वाज, सिद्धनाथ, ईश्वर, आश्वलायन, व्यास, पराशर, अंगिरा, विरूप, वसिष्ठ, जैमिनि, नारद, आपस्तम्ब, वाल्मीकि। इनमें से अधिक की रचनाएँ काल के गाल में समा गई हैं या विदेशों में चली गई हैं। यन्त्रविद्या का मूल वेद में है, इसमें बौधायन की साक्षी है—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधि भरद्वाजो महामुनिः। नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम्॥

'तोप और बन्दूक' ये नाम अन्य देशभाषा के हैं, संस्कृत और आर्य्यावर्तीय भाषा के नहीं। किन्तु जिसको विदेशी जन 'तोप' कहते हैं, संस्कृत और भाषा में उसका नाम 'शतघ्नी', और जिसको 'बन्दूक' कहते हैं उसको संस्कृत और आर्य्यभाषा में 'भुशुण्डी' कहते हैं'। जो संस्कृतविद्या को नहीं पढ़े, वे भ्रम में पड़कर कुछ का कुछ लिखते और कुछ का कुछ बकते हैं। उसका बुद्धिमान् लोग प्रमाण नहीं कर सकते।

रामायण के बालकाण्ड के २७वें सर्ग में महर्षि बाल्मीकि ने निम्नलिखित दिव्यास्त्रों तथा शस्त्रों की चर्चा की है--

दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, वज्रास्त्र, त्रिशूल, ब्रह्मशिर, ऐषिकास्त्र, ब्रह्मास्त्र, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, सूखी और गीली दो प्रकार की अशनि, पिनाक, नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र, शिखरास्त्र, वायव्यास्त्र, कंकाल, घोर मूसल, कपाल, किंकिणी, हयशिरस, क्रौंचास्त्र, मोहनास्त्र, मदन, तेजः प्रभु, मायामय, सोमास्त्र, त्वष्टास्त्र आदि। महर्षि विश्वामित्र ने भी राक्षसों का संहार कराने के लिए लक्ष्मण को अनेक प्रकार के दिव्यास्त्रों की शिक्षा दी थी।

महाभारत में भी गदा, मोहनास्त्र, ढाल, तलवार, तोमर, प्रास, शक्ति, सुरवाण, वायव्यास्त्र, पर्जन्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र, धनुषबाण, ब्रह्मशिर और सहस्रारचक्र आदि शस्त्रास्त्रों का उल्लेख मिलता है। अर्जुन ने तप करके इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे। विराट के युद्ध में अर्जुन ने अपने दिव्यास्त्रों द्वारा सभी कौरव महारथों को पराजित किया था। योगिराज श्रीकृष्ण का सुदर्शनचक्र, बलराम का हल नामक शस्त्र और अर्जुन का गाण्डीव धनुष् विशेष अस्त्र थे। अर्जुन के पास ऐसे दिव्यास्त्र होने का वर्णन है, जो क्षणभर में समूचे विश्व को भस्म करने में सक्षम थे।

वेद और वैदिक साहित्य में भी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों का वर्णन मिलता है, जैसे—भिन्दीपाल, द्रुघण, नलिका, पाशु, दन्त कण्टक, वज्र, ईली, परशु, गोशीर्ष, लवित्र, आस्तर, कुन्त, स्थूण, मद्गर, सीर, पट्टिस, मौष्टिक, परिघ, मयूखी, कोदण्ड, क्षुरप्र, शूल, भाला, सल्ल, कुठार, सृणि, फणियष्टि, स्वस्तिक, टंक, वेत्र, कशा, कम्पण, कूट, नन्दनास्त्र, वर्षणास्त्र, शोषणास्त्र, प्रस्वापनास्त्र, विलापनास्त्र, संवर्त, संहारास्त्र, मानसास्त्र, नागास्त्र, गरुडास्त्र, शैल, हेति आदि।

उपर्युक्त अस्त्रों के उपसंहारक अस्त्रों का वर्णन भी समरांगणसूत्रधार तथा विमानशास्त्र जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इतना ही नहीं, इन शस्त्रास्त्रों के दुष्प्रभाव को रोकनेवाले अस्त्र भी होते थे, जैसे—

दृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, अवाङ्मुख, पराङ्मुख, दृढनाभ, लक्ष्य, अलक्ष्य, विमल, अनिल, सुनाभक, दशाक्ष, शतवस्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, धर्मनाभ, महानाभ, तुन्दनाभ, नाभक, ज्योतिष, नैराश्य, यौगन्धर, सनिद्रदैत्य, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, करवीर, धन, रति, कामरूप, जृम्भक, आवरण, मोह, कामरुचि, वरुण, सर्वदमन, सन्धान आदि।

दिल्ली विश्वविद्यालय के विज्ञान-विभाग के एक प्रोफेसर ने कुरुक्षेत्र के आसपास के आँचल में पाई गई रेडियो-धर्मिता के विश्लेषण द्वारा महाभारत-युद्ध में आणविक आयुधों के प्रयोग किए जाने की पुष्टि की है। व्यासमुनि ने अर्जुन को दिव्यास्त्रों के प्रयोग करने का निषेध कर रक्खा था। ऐसे अस्त्रों के

---

१. रामायण महाभारत आदि में ये नाम बहुधा प्रयुक्त हैं। शुक्रनीतिसार अ० ४, श्लोक २००, १६८ में 'शतघ्नी' तोप के लिए 'बृहन्नालिक' और 'भुशुण्डी' बन्दूक के लिए 'लघुनालिक' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। इसी प्रकरण में गोले, गोलियां और बारूद=अग्निचूर्ण बनाने का भी उल्लेख है। (द्र०—अ० ४। श्लोक २०१-२११)

[सब विद्या आर्य्यावर्त्त से ही अन्यत्र फैली]

और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्य्यावर्त्त देश से मिश्रवालों,[1] उनसे यूनानी, उनसे रूस, और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है। अब तक जितना प्रचार संस्कृतविद्या का आर्य्यावर्त्त देश में है, उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश

प्रयोग पर प्रतिबन्ध होने पर भी अश्वत्थामा ने एक बार प्रयोग कर दिया था। कुरुक्षेत्र के आँचल में पाया जानेवाला प्रभाव अद्यावधि माना जाता है।

गृहमन्त्रालय के वरिष्ठ अधिकारी टी० अनन्ताचारी ने पुणे में हुए भारतीय कम्प्यूटर सोसायटी के वार्षिक समारोह में अपराधी का पता लगाने के लिए कंस द्वारा कम्प्यूटर के प्रयोग का उल्लेख किया था।

गुरुकुल झज्झर के संग्रहालय में स्वामी ओमानन्दजी ने बड़े परिश्रम से इधर-उधर से खोजकर प्राचीनकाल के शस्त्रास्त्रों का भण्डार जमा किया है। इस विषय में रुचि रखनेवाले वहाँ जाकर बहुत कुछ जान सकते हैं। 'परोपकारी' (अप्रैल १९९१) में उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के विज्ञान-विभाग के प्रोफ़ेसर स्वदेशकुमार त्रिखा को अपने गुरुकुल में आमन्त्रित किया। वे उन्हें अपने शस्त्रास्त्र-प्रकोष्ठ में ले गये और वहाँ अणु-परीक्षण करनेवाले यन्त्र को रखवाया तो यन्त्र की सुई सरकने लगी। त्रिखाजी ने कहा कि यहाँ तो पर्याप्त सामग्री ऐसी प्रतीत होती है, जिसमें अणु का प्रभाव है। प्रो० त्रिखा ने कमरे से बाहर यन्त्र को स्थापित कर उसपर शक्ति नामक शस्त्र रखा, तो उस यन्त्र की सुई १२ पर पहुँच गई। स्वामीजी ने त्रिखाजी को बताया कि यह शस्त्र उन्हें कुरुक्षेत्र की सीमा में आनेवाले एक खण्डहर से मिला है। उस परीक्षण से सिद्ध हो गया कि वह शस्त्र महाभारतकालीन है और उसमें अभी तक अश्वत्थामा द्वारा प्रयुक्त परमाणु शस्त्र का प्रभाव विद्यमान है।

विद्या का आदिस्रोत आर्यावर्त्त—यह अब प्रायः निर्विवाद है कि संसार-भर में जितनी विद्या है, वह सर्वत्र भारत से प्रसारित है। पाश्चात्य विद्वानों में अत्यन्त प्रतिष्ठित मातृलिंग (Maeterlinck) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Secret Heart' में लिखा है—

"It is now hardly to be contested that the source (of knowledge) is to be found in India. Thence in all probablity the sacred teaching spread in to Egypt, found its way to ancient Persia and Chaldia, permitted the Hebrew race and crept in greece and the south of Europe, finally reaching China and even America."—Page 5

अर्थात्—अब इसपर विवाद की कोई गुंजायश नहीं कि (विद्या का) मूल स्थान भारतवर्ष में पाया जाता है। सम्भवतः वहाँ से यह शिक्षा मिश्र में फैली, मिश्र से प्राचीन ईरान तथा कालदिया (अरब देश) का मार्ग पकड़ा, यहूदी जाति को प्रभावित किया, फिर यूनान तथा यूरोप के दक्षिण भाग में प्रविष्ट हुई। अन्त में चीन और अमरीका में पहुँची।

जैकाल्यट संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने फ्रेंच भाषा में 'La Bible dans La Inde' (बाइबल इन इण्डिया) नामक ग्रन्थ लिखा। पं० भगवद्दत्तजी के अनुसार इसका प्रकाशन सन् १८६९ में हुआ था। 'भारत में बाइबल' नाम से हिन्दी में इसका अनुवाद पं० सन्तरामजी ने किया था। उसमें लिखा है—

---

१. यहूदियों का मूल उपदेष्टा मिश्र से सारी विद्या अन्यत्र ले गया। —म० द०

"India is the world's cradle; there it is that the common mother in sending forth her children even to the utmost west in testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws, her morals, her literature and her religion. Traversing Arabia, Persia, Egypt and even forcing their way to the cold and cloudy north, far from the sunny soil of their birth in vain, they may forget their point of departure, their skin may remain brown or become white from contact with snows of west, of the civilisations founded by them, splendid kingdoms may fall and leave no trace behind but some few ruins of sculptured columns, new people may rise from the ashes of the old, but time and ruin united fail to obliterate the ever legible stamp of origin."

अर्थात्--भारतवर्ष संसार का पालना है। वहीं से सबकी माता ने अपने बच्चों को सुदूरतम भेजा है और अपना उद्भव याद दिलाने के लिए अपनी भाषा, विधान, आचार, साहित्य और धर्म का दायभाग दिया है। वे अरब, फ़ारस, मिश्र घूम जायें, उनसे भी आगे अपनी सुखदाँ जन्मभूमि से दूर धुँधले उत्तर में पहुँच जायें, वे अपने आदि मूल को भूलने का व्यर्थ यत्न करें, उनकी चमड़ी गेहुँआ रहे या वर्फ के सम्पर्क से सफेद हो जाये, उनके द्वारा स्थापित राज्यों का नाश हो जाये और कालान्तर में थोड़े-से टूटे-फूटे विचित्र खम्भों के अतिरिक्त कुछ भी शेष न रहे, पुराने नगरों के खण्डहरों पर नये नगर बस जायें, किन्तु काल और विनाश मिलकर भी उनपर पड़ी मूल की स्पष्ट छाप को नहीं मिटा सकेंगे।

जैकालयट के अनुसार मिश्र, जूडिया, यूनान, रोम आदि सब देश अपने जातिभेद, अपनी मान्यताओं और अपने धार्मिक विचारों में भारत के ब्राह्मणों का ही अनुकरण करते थे और उसके ब्राह्मणों तथा याज्ञिकों को आज भी वैसे ही मानते हैं--जैसे कभी पहले वैदिक समाज की भाषा, धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र को मानते थे और जिस ईश्वरीय ज्ञान (Divine revelation) का विश्व में प्रचार करने के लिए वे वहाँ से निकले थे।

प्राचीन ब्राह्मणों के विषय में कैथोलिक पादरी इवाइन की सम्मति देखिए। इसपर पक्षपात का सन्देह नहीं कर सकते--

भारतवर्ष हमारा जन्मस्थान है। यहीं से हम सबकी साझे की माता (भारत माता) ने दूर तक पश्चिम में भेजकर हमारे उत्पत्ति-स्थान के अक्षय प्रमाण के रूप में अपनी भाषा, अपनी रीति, अपने सदाचार, अपने साहित्य और अपने धर्म का अधिकार हमको दिया है।

जैकालयट लिखते हैं--"एक बात मुझे सदा आश्चर्य में डालती है कि हमारे विचार को हमारे नीतिकारों और हमारे व्यवस्थापकों ने किन ग्रन्थों के अध्ययन से अपने को बनाया ? मिश्र के मेनी, मूसा, सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के अग्रगामी कौन थे ?" तब जैकालयट ने सिद्ध किया कि इन सबके ज्ञान का आधार था—वैदिक साहित्य।

अमेरिकन विदुषी श्रीमती ह्वीलर विल्लोक्स (Wheeler Willox) ने इस विषय में अपने उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त किए हैं—

"It (India) is the land of the great Vedas—the most remarkable works, containing not only religious ideas for a perfect life but also facts which science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships— all seem to have been known to the seers who found the Vedas."

अर्थात्--यह (भारत) उन महान् वेदों की भूमि है, जो अद्भुत ग्रन्थ हैं, जिनमें न केवल पूर्ण जीवन के लिए उपयोगी धार्मिक सिद्धान्त बताये गये हैं, अपितु उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया

में संस्कृतविद्या का बहुत प्रचार है, और जितना संस्कृत 'मोक्षमूलर'[1] साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहनेमात्र की है। क्योंकि **'यस्मिन् देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते'**[2] अर्थात् जिस देश में

है, जिन्हें विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रॉन, वायुयान आदि सभी कुछ वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होता है।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारायण भवानीराम पावगी ने अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ 'The Vedic Fathers of Geology' में 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (ऋ० १०।१२१।५), 'या ओषधी: पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा' (ऋ० १०।९७।१), 'स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणो-दपामप:' (ऋ० २।१७।५), 'य: पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् य: पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्' (ऋ० २।१२।२) इत्यादि मन्त्रों के आधार पर वेदों में भूगर्भविद्या का मूल बताते हुए लिखा है—

I may take this opportunity to remind the reader, without any fear of contradiction, that the Vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth that has still remained unexplored.

अर्थात् - मैं बिना किसी खण्डन के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूँ कि वेदों में ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं। वे उस साहित्यिक धन की अक्षय खान हैं, जो अभी तक अज्ञात पड़ा है।

जैकालयट ने मत-मतान्तरों के सृष्टि-उत्पत्तिविषयक मन्तव्यों का अनुशीलन करने के बाद लिखा--

Astonishing fact! The Hindu Revelation, the Veda, is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science.

—The Bible in India, Vol. II, Chap. I, by Loins Jacolliot.

डाक्टर वी० जी० रैले ने वेदों में जीवविज्ञान (Biology) का विस्तृत वर्णन पाकर अपने बहु-चर्चित ग्रन्थ 'The Vedic Gods' में लिखा—

Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rigveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without the thorough knowledge of which psychological and philosophical cannot be correctly made.

अर्थात्—हमारा आजकल का नाड़ी-संस्थान की रचना-सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगत्-विषयक वर्णनों से इतना मेल खाता है कि मन में प्रश्न उठता है कि क्या वेद वास्तव में धार्मिक ग्रन्थ हैं या वे नाड़ी-संस्थान और शरीर-विज्ञान के ग्रन्थ हैं, जिन्हें पूरी तरह जाने बिना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारों को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

श्री पन्यम् नारायण गौड़ ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'Introduction to the Massage of the

---

१. अर्थात् 'मैक्समूलर'। मैक्समूलर ने स्वसम्पादित ऋग्भाष्य के आरम्भ में अपने नाम का संस्कृतीकरण मोक्षमूलर के रूप में स्वयं किया है।

२. समुल्लास १३ समीक्ष्यांश ७७ की समीक्षा में 'यत्र देशे' पाठ है। इसका एक रूप 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' भी प्रचलित है।

कोई वृक्ष नहीं होता, उस देश में एरण्ड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोपदेश में संस्कृतविद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा-सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है। परन्तु आर्यावर्त्त देश की ओर देखें, तो उनकी बहुत न्यून गणना है। क्योंकि मैंने जर्मनी देश के निवासी एक 'प्रिन्सिपल' के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत-चिट्ठी का अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं।

[मोक्षमूलर के वेदज्ञान की परीक्षा]

और मोक्षमूलर साहब के संस्कृत-साहित्य[1] और थोड़ी-सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि 'मोक्षमूलर' साहब ने इधर-उधर आर्यावर्त्तीय लोगों की की-हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथा-तथा लिखा है। जैसाकि--

'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि' ॥—ऋ० १।६।१

इस मन्त्र के 'ब्रध्नं' पद का अर्थ 'घोड़ा' किया है। इससे तो जो 'सायणाचार्य्य' ने 'सूर्य' अर्थ किया है, सो अच्छा है[2]। परन्तु इसका ठीक अर्थ 'परमात्मा' है। सो मेरी बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'

20th Century' में इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों में भौतिकी तथा रसायनशास्त्र (Physics and Chemistry) के तत्त्व स्पष्टतया पाये जाते हैं। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही पुस्तक के नाम के साथ उसके विषय का निर्देश करते हुए लिखा है—

'Containing a new method for the interpretation of the Vedas and experimental data proving that the Vedas are treasuries of exact sciences.'

अर्थात्—इस पुस्तक में वेदों की क्रमबद्ध व्याख्या की नई पद्धति बताई गई है और इस बात को सिद्ध किया गया है कि वेद शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

जनवरी १९७७ में दिल्ली में सम्पन्न सर्जिकल कॉलिजों के अन्तर्राष्ट्रिय महासंघ (International Federation of Surgical Colleges) के अध्यक्ष प्रोफेसर विटोल्ड रुडोविस्की ने प्लास्टिक सर्जरी का मूल ऋग्वेद में बताते हुए पथरी, फूला, ट्यूमर, हर्निया और आँख, नाक, कान के ऑपरेशनों और उनमें काम में आनेवाले लगभग एक सौ औज़ारों का उल्लेख किया था।

जब वेद में (१) भौतिक तथा दार्शनिक व नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले सब अचल नियमों का, जिन्हें वेद में ऋत और सत्य के नाम से पुकारा गया है, सांगोपांग वर्णन है और चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय और मनुष्य के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन हुआ है; (२) वेदों का संसार के पुस्तकालयों में सबसे पुरानी पुस्तक (Oldest book in the Library of the world) होना सर्ववादी-सम्मत है; और (३) वेदों का प्रादुर्भाव भारत में होना सर्वमान्य है, तो संसार-भर में विद्या का भारत से प्रसारित होना स्वतः सिद्ध है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम् मन्त्र का ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया गया अर्थ इस प्रकार है—

भाष्यम्—(युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वांसः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा (चरन्तं) ज्ञातारं सर्वज्ञम् (अरुषं) अहिंसकं करुणामयं रुष हिंसायाम् (ब्रध्न) विद्यायोगाभ्यास-

---

१. यह संकेत सम्भवतः मैक्समूलर के 'हिस्ट्री ऑफ एनशेण्ट संस्कृत लिटरेचर' (='प्राचीन संस्कृत-साहित्य का इतिहास') ग्रन्थ की ओर है।

२. एकांश में=आधिदैविक प्रक्रिया मे।

प्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते । इति प्रथमोऽर्थः ।

अथ द्वितीयः—(परित०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः सर्वे पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते । इति द्वितीयोऽर्थः ।

अथ तृतीयः—य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो (युञ्जन्ति) युक्तं कुर्वन्ति, अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे (रोचन्ते) सदैव प्रकाशन्ते ।

अथ प्रमाणानि—

मनुष्यनामसु 'तस्थुषः पञ्चजनाः' इति पठितम् ।—निघण्टु अ० २, खं० ३

'महद् ब्रध्नम्' महन्नामसु पठितम् ।—नि० अ० ३, खं० ३

तथा 'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै' ।—शत० कां० १३, अ० २

'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ।'

—प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न० १, मं० ५

परमेश्वराद् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातो निघंटुप्रमाणं प्रथमेऽर्थे योजनीयम् । तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति । एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च । क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते । परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधात् एकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च ।

एवं सति भट्टमोक्षमूलरैर्ऋग्वेदस्येङ्गलैण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति । सायणाचार्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यगस्ति । परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायमर्थ आकाशाद्वा पातालाद्वा गृहीतः । अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ।

भावार्थ—(युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसीलिए जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना-रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं । वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सबका जाननेवाला, (अरुषं) हिंसादि दोषरहित, कृपा का समुद्र (ब्रध्नं) सब आनन्दों को बढ़ानेवाला, सब रीति से बड़ा है । इसीसे (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा सब अविद्या आदि दोषों के अन्धकार से छूटके (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करनेवाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं । इति प्रथमोऽर्थः ।

अब दूसरा अर्थ करते हैं—(परितस्थुषः) जो सूर्यलोक, अपनी किरणों से सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सबसे बड़ा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है और जिसके आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिसके प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग उसी से सब लोकों को आकर्षणयुक्त मानते हैं । इति द्वितीयोऽर्थः ।

(युञ्जन्ति) और इस मन्त्र का तीसरा अर्थ यह भी है—सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं । इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं ।

में देख लीजिए। उसमें इस मन्त्र का अर्थ यथार्थ किया है। इतने से जान लीजिए कि जर्मनी देश और मोक्षमूलर साहब में संस्कृतविद्या का कितना पाण्डित्य है।

[आर्यावर्त्त से ही अन्यत्र विद्या और मत फैले हैं]

यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावर्त्त देश ही से प्रचरित हुए हैं। देखो, कि एक जैकालियट साहब पैरिस अर्थात् फ्रांसदेश-निवासी अपनी 'द बायबल इन इण्डिया' में लिखते हैं कि –'सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त्त देश है, और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं।' और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि—'हे परमेश्वर! जैसी उन्नति आर्यावर्त्त देश की पूर्वकाल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिए।' लिखते हैं, उस ग्रन्थ में देख लो।

[दाराशिकोह की सम्मति]

तथा 'दाराशिकोह' बादशाह ने भी यही निश्चय किया था कि जैसी पूरी विद्या संस्कृत में है, वैसी किसी भाषा में नहीं। वे ऐसा उपनिषदों के भाषान्तर[1] में लिखते हैं कि—'मैंने अर्बी आदि बहुत-सी भाषा पढ़ीं, परन्तु मेरे मन का सन्देह छूटकर आनन्द न हुआ। जब संस्कृत देखा और सुना, तब निःसन्देह होकर मुझको बड़ा आनन्द हुआ है।'

इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं, सो देख लेना। इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जानके भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है, सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफ़ेसर मोक्षमूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना ही की है।

दाराशिकोह—संस्कृतेतर भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद का सूत्रपात करने का श्रेय दाराशिकोह को है। अपने कश्मीरवास के दिनों में १६४० में दाराशिकोह को उपनिषदों की जानकारी मिली। काशी से पण्डितों को बुलाकर उनकी सहायता से सन् १६५७ में उसने उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद पूरा कर लिया। उन दिनों पूर्वी देशों में फ़ारसी भाषा का अध्ययन बड़े व्यापक रूप में होता था। इतना ही नहीं, भारतीय साहित्य में रुचि रखनेवाले यूरोपियन विद्वान् भी फ़ारसी समझते थे। फिर भी यूरोप को उपनिषदों की जानकारी १७७५ में तब मिली, जब शुजाउद्दौला के दरबार में नियुक्त फ्रेंच राजदूत एम० जेंटिल (M. Gentil) ने उपनिषदों के फ़ारसी-अनुवाद की एक प्रति बर्नियर के द्वारा ज़िन्दावस्ता (Zend) की खोज करनेवाले फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पेरो (Anquetil Du Peru) के पास भेजी। जब उसकी एक प्रति और प्राप्त हो गई तो दोनों प्रतियों का मिलान करके १८०१ में उनका फ्रेंच तथा लेटिन में अनुवाद किया। फ्रेंच में अनुवाद पड़ा रह गया, किन्तु लेटिन का भाषान्तर १८०१-२ में 'Oupnekhat, id, est, Secretum tegendum' नाम से प्रकाशित हो गया (M. M. History of Sanskrit Literature, Ed. 2, page 325), परन्तु यह अनुवाद इतनी दुरूह शैली में किया गया था कि यत्न करने पर भी लोग उसे समझ नहीं सकते थे। इस भूलभुलैया से निकालने का श्रेय जर्मनी के दार्शनिक विद्वान् शोपनहार को जाता है। शोपनहार ने उसे ध्यान से पढ़ा और कहा कि मेरा अपना दर्शन उपनिषदों के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। इतना ही नहीं, उसने अपने ग्रन्थ 'Welt als Wille und Vorstellung' में लिखा है—

---

१. दाराशिकोह के उपनिषदों के भाषान्तर का फ़ारसी नाम है—'सिरे अकबर' अर्थात् 'बड़ा रहस्य'।—भ० द०

[प्राचीन ज्योतिष-यन्त्र]

देखो, काशी के 'मानमन्दिर' में 'शिशुमारचक्र' को कि जिसकी पूरी रक्षा भी नहीं रही है, तो भी कितना उत्तम है कि जिसमें अब तक भी खगोल का बहुत-सा वृत्तान्त विदित होता है। जो 'सवाई जयपुराधीश' उसकी संभाल और टूटे-फूटे को बनवाया करेंगे, तो बहुत अच्छा होगा।[1]

[महाभारत युद्ध का विपरीत प्रभाव]

परन्तु ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व-दशा में नहीं आया। क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे, तो नाश होने में क्या सन्देह?

'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' ॥ यह किसी कवि का वचन है।[2]

जब नाश होने का समय निकट आता है, तब उलटी बुद्धि होकर उलटे काम करते हैं। कोई उनको सूधा समझावे तो उलटा मानें, और उलटा समझावे उसको सूधा मानें।

जब बड़े-बड़े विद्वान् राजा-महाराजा, ऋषि-महर्षि लोग महाभारत-युद्ध में बहुत-से मारे गये और बहुत-से मर गये,[3] तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईर्ष्या-द्वेष, अभिमान आपस में करने लगे। जो बलवान् हुआ वह देश को दाबकर राजा बन बैठा। वैसे ही सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में खण्ड-बण्ड राज्य हो गया। पुनः द्वीप-द्वीपान्तर के राज्य की व्यवस्था कौन करे?

[विद्या के अभाव में नामधारी ब्राह्मणों की स्वार्थसाधना]

जब ब्राह्मण लोग विद्याहीन हुए तब क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अविद्वान् होने में तो कथा ही क्या कहनी? जो परम्परा से वेदादिशास्त्रों का अर्थसहित पढ़ने का प्रचार था, वह भी छूट गया[4]। केवल जीविकार्थ पाठमात्र ब्राह्मण लोग पढ़ते रहे। सो पाठमात्र भी क्षत्रिय आदि को न पढ़ाया। क्योंकि जब अविद्वान् हुए[5] गुरु बन गये, तब छल-कपट-अधर्म भी उनमें बढ़ता चला। ब्राह्मणों ने विचारा कि अपनी जीविका का प्रबन्ध बाँधना चाहिए। सम्मति करके यही निश्चय कर क्षत्रिय आदि को उपदेश करने लगे कि हम ही तुम्हारे पूज्यदेव हैं। बिना हमारी सेवा किये तुमको स्वर्ग वा मुक्ति न मिलेगी। किन्तु जो तुम हमारी सेवा न करोगे, तो घोर नरक में पड़ोगे।

---

१. जयपुराधीश सवाई मानसिंह ने वाराणसी, उज्जैन, देहली और जयपुर में ज्योतिश्शास्त्रोपयोगी 'मान-मन्दिर' बनवाये थे। देहली का मान-मन्दिर 'जन्तर-मन्तर' नाम से प्रसिद्ध है।

२. चाणक्यनीति १६।५

३. अर्थात् कालक्रम से नष्ट हो गये। शौनक आदि कतिपय दीर्घजीवी ऋषि भारत युद्ध के २०० वर्ष पर्यन्त जीवित रहे। उसके पश्चात् ऋषियों का सर्वथा उच्छेद हो गया। तत्पश्चात् लगभग ४०० वर्ष पर्यन्त ऋषिकल्प मुनियों का काल रहा। उनके विलुप्त होने पर अविद्या-अन्धकार का साम्राज्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। वेदविद्या सर्वथा लुप्त हो गई। अन्य शास्त्रों का कुछ पठन-पाठन-प्रवचन चलता रहा। परन्तु उत्तरोत्तर वह भी नष्ट हो गया और राजाओं के विषयासक्त हो जाने पर उनकी चापलूसी करनेवाले विद्वानों ने कुत्सित श्रृङ्गारमय काव्यग्रन्थों की रचना में ही परम पुरुषार्थ समझा। उनके पठन पाठन से देश की अत्यन्त हानि हुई।

४. सत्ययुग से लेकर महाभारत-काल तक वेदार्थ की अविच्छिन्न परम्परा वर्तमान थी। यूरोपीय लोगों का यह कहना कि 'यास्क के काल में भारतीय विद्वान् वेदार्थ में सन्देह करने लग पड़े थे', इतिहास-विरुद्ध है।—भ० द०

५. इस वाक्य के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक—जब क्षत्रियादि अविद्वान् हुए, तब वे अल्पशिक्षित ब्राह्मण गुरु बन गये। दूसरा—जब अविद्वान् होते हुए भी ब्राह्मण गुरु बन गये।

जो-जो पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम 'ब्राह्मण' और पूजनीय वेद और ऋषि-मुनियों के शास्त्र में लिखा था, उनको अपने मूर्ख, विषयी, कपटी, लम्पट, अधर्मियों पर घटा बैठे। भला वे आप्त विद्वानों के लक्षण इन मूर्खों में कब घट सकते हैं? परन्तु जब क्षत्रियादि यजमान संस्कृतविद्या से अत्यन्त रहित हुए, तब उनके सामने जो-जो गप्प मारी सो-सो बिचारों [बेचारों] ने सब मान ली। तब इन नाममात्र ब्राह्मणों की बन पड़ी। सबको अपने जाल में बाँधकर वशीभूत कर लिया और कहने [लगे] कि—

'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' अर्थात् जो कुछ ब्राह्मणों के मुख में से वचन निकलता है, वह जानो साक्षात् भगवान् के मुख से निकला।

"If the reader has also received the benefit of the Vedas, the access to which by means of the Upanishads is, in my eyes, the greatest privelege which this still young century (1818) may claim before all previous centuries...".

—The Sacred Books of the East : The Upanishads, Page 59

उपनिषदों के ऋषियों ने जो दिशा-निर्देश किया है, वह कहीं से पढ़-सुनकर नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार करके किया है। शोपनहार तो उपनिषदों के अध्ययन पर इतना मुग्ध हुआ कि उसने लिखा—

"In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. They are the product of the highest wisdom". (Augeburt der hochten weisheit—Loc. Cit. II, page 428). "It has been the solace of my life, it will remain the solace my of death." (Ibid, page 425). "It is destined sooner or later to become the faith of the people" (Ibid I, page 59)

अर्थात्--संसार में ऐसा कोई अध्ययन नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी तथा ऊँचा उठानेवाला हो। यह उच्चतम बुद्धि की उपज है। उसी से मुझे जीवन में शान्ति मिली है और उसी से मुझे मृत्यु के समीप भी शान्ति मिलेगी। एक-न-एक दिन उपनिषदों की शिक्षा ही मानवमात्र की शिक्षा का केन्द्र बनेगी।

इसके बाद सन् १८१६-१९ में राजा राममोहनराय ने, १८७४ में रोअर ने, तथा १८७९-८४ में मैक्समूलर ने उपनिषदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। जर्मन भाषा में १८८२ में एफ़० मिशल (F. Mischel) ने, १८८९ में ओ० बोहटलिंक ने तथा १८९७ में पाल ड्यूसन (Paul Duessen) ने उपनिषदों के अनुवाद किए। इसी प्रकार संसार की अनेक प्रमुख भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद हुए और भारतीय मनीषा तथा उससे प्रेरित भारतीय अध्यात्मवाद का व्यापक प्रकाश सर्वत्र फैल गया।

ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः—संस्करण ४-१४ में यह वाक्य 'पाण्डवगीता' का बताया गया है। 'जनार्दन'—अर्द हिंसायाम् = जनो जन्म तमर्दयति जनार्दनः, अर्थात् जो जन्म (जन्म-मरण) के बन्धन को काटता है, वह परमेश्वर। अर्द गतौ याचने च = सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते (मधुसूदन-गीताभाष्य ३।१) अर्थात् सब मनुष्य जिससे याचना करते हैं, वह जनार्दन अर्थात् परमेश्वर। इस प्रकार जनार्दन शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेनेवाले प्रायः अपने वचन (ब्रह्मवाक्य) को परमेश्वर के वचन के समकक्ष बताने के लिए इस वाक्य का प्रयोग किया करते हैं। ब्रह्म नाम वेद का भी है। भागवत पुराण के अनुसार भी 'वेदो नारायणः साक्षात्' (६।१।४०) वेद ब्रह्म का पर्यायवाची है। स्वयं ग्रन्थकार ने अगली पंक्तियों में 'ब्रह्मद्रोही' का अर्थ 'वेद से द्रोह करनेवाला' किया है। ब्रह्म अर्थात् वेद (ज्ञान) से द्वेष (विरोध) करने वाले का नाश अवश्यम्भावी है।

सब ब्राह्मणों के लिए—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥— मनु० १।१०० (प्रक्षिप्त)

जब क्षत्रियादि वर्ण आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे, अर्थात् भीतर विद्या की आँख फूटी हुई और जिनके पास धन पुष्कल है, ऐसे-ऐसे चेले मिले, फिर इन व्यर्थ ब्राह्मण नामवालों को विषयानन्द का उपवन मिल गया। यह भी उन लोगों ने प्रसिद्ध किया कि जो कुछ पृथिवी में उत्तम पदार्थ हैं, वे सब ब्राह्मणों के लिए हैं। अर्थात् जो गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मणादि वर्ण-व्यवस्था थी, उसको नष्ट कर जन्म पर रक्खी, और मृतकपर्यन्त का भी दान यजमानों से लेने लगे।

जैसी अपनी इच्छा हुई वैसा करते चले। यहाँ तक किया कि 'हम भूदेव हैं', हमारी सेवा के बिना देवलोक किसी को नहीं मिल सकता। इनसे पूछना चाहिए कि तुम किस लोक में पधारोगे? तुम्हारे काम तो घोर नरक भोगने के हैं, कृमि-कीट-पतङ्गादि बनोगे। तब तो बड़े क्रोधित होकर कहते हैं—"हम शाप देंगे, तो तुम्हारा नाश हो जायेगा। क्योंकि लिखा है—'ब्रह्मद्रोही विनश्यति' कि जो ब्राह्मणों से द्रोह करता है, उसका नाश हो जाता है।" हाँ, यह बात तो सच्ची है कि जो कोई पूर्ण वेद और परमात्मा को जाननेवाले धर्मात्मा, सब जगत् के उपकारक पुरुषों से द्वेष करेगा, वह अवश्य नष्ट होगा। परन्तु जो ब्राह्मण नहीं हों उनका न ब्राह्मण नाम, और न उनकी सेवा करनी योग्य है।

[नाममात्र के ब्राह्मण पोप हैं]

प्रश्न—तो हम कौन हैं?

उत्तर—तुम पोप हो।

प्रश्न—पोप किसको कहते हैं?

अर्थात्—जगत् में जो कुछ है वह सब ब्राह्मण का है। ब्रह्मोत्पत्तिरूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सबको ग्रहण करने योग्य है।

हम भूदेव हैं—शास्त्रज्ञान में कोरे होते हुए भी समाज में अपने-आपको प्रतिष्ठित एवं सुरक्षित रखने के लिए जन्मजात स्वार्थी ब्राह्मणों ने इस प्रकार के वाक्य प्रचारित कर रक्खे हैं—'ब्रह्मद्रोही विनश्यति' —जो ब्राह्मणों से द्रोह करता है, वह नष्ट हो जाता है। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिए। उसे दण्डित भी नहीं करना चाहिए। 'यस्य विप्रः प्रसीदति तस्य विष्णुः प्रसीदति। तस्माद् ब्राह्मणशुश्रूषुः परं ब्रह्माधिगच्छति' (भविष्यपुराण, मध्यस्थ पर्व, अ० ५) अर्थात् जिसपर ब्राह्मण प्रसन्न होता है, उसपर स्वयं विष्णु प्रसन्न होता है, इसलिए ब्राह्मण की सेवा करनेवाला परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। पद्मपुराण (पातालखण्ड ८४) में लिखा है- 'न यज्ञैर्न तपोभिरन्यैर्न योगयुक्त्या न समर्चनेन। तथा विभुस्तुष्यति देवदेवो यथा महीदैवततोषणेन।' अर्थात्—परमात्मा न तो यज्ञों से, न तपों से, न योगसाधन से और न ही अर्चना से वैसा सन्तुष्ट होता है, जैसा ब्राह्मण को सन्तुष्ट करने से। इसी पुराण के स्वर्गखण्ड ६१ में लिखा है—'ब्राह्मणेषु पुराणेषु गंगायां गोषु विप्लवे। नारायणधिया पुंभिर्भक्तिः कार्या ह्यहैतुकी।' अर्थात्—ब्राह्मणों में, पुराणों में, गंगा में गौओं में तथा विप्लव में नारायणभावना से स्वार्थरहित भक्ति करनी चाहिए। ऐसे अनेक वचन यत्र-तत्र-सर्वत्र गढ़ रक्खे हैं।

पोप—मूलतः यह शब्द Papa या Father के लिए प्रयुक्त होता था। कालान्तर में इसके अर्थ का विस्तार होता गया—

1. The Bishop of Rome, as head of the Roman Catholic Church.
2. Applied to the spiritual head of a non-Christian religion.
3. One who assumes, or is considered to have, a position of authority like that of the Pope.

उत्तर—इसकी सूचना रूमन् भाषा में तो बड़ा और पिता का नाम पोप है। परन्तु छल-कपट से दूसरे को ठगकर अपना प्रयोजन साधनेवाले को 'पोप' कहते हैं।

[ब्राह्मण और साधु जन्म से नहीं, गुण-कर्म-स्वभाव से होते हैं]

प्रश्न—हम तो ब्राह्मण और साधु हैं, क्योंकि हमारा पिता ब्राह्मण और माता ब्राह्मणी, तथा हम अमुक साधु के चेले हैं।

उत्तर—यह सत्य है। परन्तु सुनो भाई! माँ-बाप ब्राह्मणी-ब्राह्मण होने और किसी साधु के शिष्य होने पर ब्राह्मण वा साधु नहीं हो सकते। किन्तु ब्राह्मण और साधु अपने उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से होते हैं, जोकि परोपकारी हों।

[रूम के पोपों का वर्णन]

सुना है कि जैसे रूम के 'पोप' अपने चेलों को कहते थे कि तुम अपने पाप हमारे सामने कहोगे तो हम क्षमा कर देंगे। विना हमारी सेवा और आज्ञा के कोई भी स्वर्ग में नहीं जा सकता। जो तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो हमारे पास जितने रुपये जमा करोगे, उतने ही की सामग्री तुमको स्वर्ग में मिलेगी। ऐसा सुनकर जब कोई 'आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे' स्वर्ग में जाने की इच्छा करके 'पोपजी' को यथेष्ट रुपया देता था, तब वह 'पोपजी' ईसा और मरियम की मूर्त्ति के सामने खड़ा होकर इस प्रकार की हुण्डी लिखकर देता था—

"हे खुदावन्द ईसामसी! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर लाख रुपये स्वर्ग में आने के लिए हमारे पास जमा कर दिये हैं। जब वह स्वर्ग में आवे, तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में पच्चीस सहस्र रुपयों में बाग-बगीचा और मकानात, पच्चीस सहस्र में सवारी-शिकारी और नौकर-चाकर, पच्चीस सहस्र रुपयों में खाना-पीना कपड़ा-लत्ता, और पच्चीस सहस्र रुपये इसके इष्ट-मित्र भाई-बन्धु आदि के जियाफत के वास्ते दिला देना।"

फिर उस हुण्डी के नीचे पोपजी अपनी सही करके हुण्डी उसके हाथ में देकर कह देते थे कि—"जब तू मरे, तब हुण्डी को कबर में अपने सिराने धर देने के लिए अपने कुटुम्ब को कह रखना। फिर जब तुझे ले-जाने के लिए फरिश्ते आवेंगे, तब तुझे और तेरी हुण्डी को स्वर्ग में ले-जाकर उसमें लिखे प्रमाणे सब चीजें तुमको दिला देंगे।"

अब देखिये, जानो स्वर्ग का ठेका पोपजी ने ले लिया हो! जब तक यूरोप देश में मूर्खता थी, तभी तक वहाँ पोपजी की लीला चलती थी। परन्तु अब विद्या के होने से पोपजी की झूठी लीला बहुत नहीं चलती, किन्तु निर्मूल भी नहीं हुई।

[आर्यावर्त्तीय छली-कपटी पोपों की लीला]

वैसे ही आर्यावर्त्त देश में भी जानो पोपजी ने लाखों अवतार लेकर लीला फैलाई हो, अर्थात् राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ने देना, अच्छे पुरुषों का सङ्ग न होने देना, रात-दिन बहकाने के सिवाय

१५८८ में Popedom शब्द बना और हमारे यहाँ के 'गुरुडम' शब्द की तरह मूल अर्थ के साथ-साथ व्यंगोक्ति (Irony) के रूप में प्रयुक्त होने लगा। हमारे यहाँ के ब्राह्मणों की तरह यूरोप के पोप और तदधीनस्थ पादरी आदि जनता की श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाते हुए मिथ्या विश्वासों के सहारे उसका शोषण करने लगे। यहाँ ग्रन्थकार ने इन्हीं अर्थों में ब्राह्मणों के लिए पोप शब्द का प्रयोग किया है, जो सर्वथा उपयुक्त एवं प्रासंगिक है। यूरोपियन पोपों के कारनामों का यहाँ यथार्थ चित्रण हुआ है।

दूसरा कुछ भी काम नहीं करना है। परन्तु यह बात ध्यान में रखना कि जो-जो छल-कपटादि कुत्सित व्यवहार करते हैं, वे-वे ही 'पोप' कहाते हैं। जो कोई उनमें भी धार्मिक विद्वान् परोपकारी हैं, वे सच्चे ब्राह्मण और साधु हैं। अब उन्हीं छली-कपटी स्वार्थी लोगों (=मनुष्यों को ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करनेवालों) ही का ग्रहण 'पोप' शब्द से करना, और ब्राह्मण तथा साधु नाम से उत्तम पुरुषों का स्वीकार करना योग्य है।

[उत्तम ब्राह्मणों द्वारा सस्वर वेदादिशास्त्रों की रक्षा]

देखो, जो कोई भी उत्तम ब्राह्मण वा साधु न होता, तो वेदादि सत्यशास्त्रों के पुस्तक स्वरसहित का पठनपाठन, जैन, मुसलमान, ईसाई आदि के जाल से बचाकर आर्यों को वेदादिसत्यशास्त्रों में प्रीति-युक्त, वर्णाश्रमों में रखना, ऐसा कौन कर सकता, सिवाय ब्राह्मण साधुओं के? **'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्'**—(मनु० २।२३९) विष से भी अमृत के ग्रहण करने के समान पोपलीला से बहकाने से भी आर्यों का जैन आदि मतों से बच रहना जानो विष में अमृत के समान गुण समझना चाहिए।

[स्वार्थी ब्राह्मणों की लीला]

जब यजमान विद्याहीन हुए, और आप कुछ पाठ-पूजा पढ़कर अभिमान में आके सब लोगों ने परस्पर सम्मति करके राजा आदि से कहा है कि—'ब्राह्मण और साधु अदण्डच हैं'। देखो, **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'**[1]; **'साधुर्न हन्तव्यः'** ऐसे-ऐसे वचन जोकि सच्चे ब्राह्मण और साधुओं के विषय में थे, सो पोपों ने अपने पर घटा लिये। और भी झूठे-झूठे वचन-युक्त ग्रन्थ रचकर उनमें ऋषि-मुनियों के नाम धरके उन्हीं के नाम से सुनाते रहे। उन प्रतिष्ठित ऋषि-महर्षियों के नाम से अपने पर से दण्ड की व्यवस्था उठवा दी। पुनः यथेष्टाचार करने लगे। अर्थात् ऐसे कड़े नियम चलाये कि उन पोपों की आज्ञा के विना सोना, उठना-बैठना, जाना-आना, खाना-पीना आदि भी नहीं कर सकते थे।

राजाओं को ऐसा निश्चय कराया कि पोपसंज्ञक कहनेमात्र के ब्राह्मण, साधु चाहे सो करें, उनको कभी दण्ड न देना, अर्थात् उनपर मन में भी दण्ड देने की इच्छा न करनी चाहिए। जब ऐसी मूर्खता हुई, तब जैसी पोपों की इच्छा हुई वैसा करने-कराने लगे। अर्थात् इस बिगाड़ के मूल महाभारत-युद्ध से पूर्व एक सहस्र वर्ष से प्रवृत्त हुए थे। क्योंकि उस समय में ऋषि-मुनि भी थे, तथापि कुछ-कुछ आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या-द्वेष के अङ्कुर उगे थे, वे बढ़ते-बढ़ते वृद्ध[2] हो गये।

विषादप्यमृतं ग्राह्यम्—यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥

अर्थ—विष से भी अमृत का ग्रहण कर लेना चाहिए और बालक से भी उत्तम बात ग्रहण कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार वैरी से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए तथा अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए।

पोपरूप ब्राह्मणों के दोषों की आलोचना करते हुए भी ग्रन्थकार ने उनकी इस बात के लिए प्रशंसा की है कि उन्होंने आर्यों को जैनादि नास्तिक मतों में जाने से बचाया। प्रस्तुत प्रसंग में विष से भी अमृत ग्रहण करने का यही तात्पर्य समझना चाहिए।

---

१. द्र०—महाभाष्य १।२।६४॥
२. वृद्ध हो गये=बढ़ गये।

[सच्चे उपदेशकों के बिना अन्धपरम्परा]

जब सच्चा उपदेश न रहा, तब आर्यावर्त्त में अविद्या फैलकर आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। क्योंकि—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथान्धपरम्परा॥—सांख्य सू० ३।७६, ८१

अर्थात् जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं, तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते, तब अन्ध-परम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्ध-परम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है।

[पोपों की कुत्सित आचरणों में प्रवृत्ति]

पुनः वे पोप लोग अपनी और अपने चरणों की पूजा कराने लगे, और कहने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। जब ये लोग इनके वश में हो गये, तब प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर गडरिये के समान झूंठे गुरु और चेले फँसे। विद्या-बल-बुद्धि-पराक्रम-शूरवीरतादि शुभ गुण सब नष्ट होते चले। पश्चात् जब विषयासक्त हुए, तो मांस-मद्य का सेवन गुप्त-गुप्त करने लगे।

[वाममार्ग का जन्म; पञ्च मकार की स्थापना]

पश्चात् उन्हीं में से एक ने 'वाममार्ग' खड़ा किया। **'शिव उवाच'; 'पार्वत्युवाच'; भैरव उवाच'** इत्यादि नाम लिखकर उनका तन्त्र नाम धरा। उनमें ऐसी-ऐसी विचित्र लीला की बातें लिखी हैं कि—

उपदेश्यो०—(उपदेश्य) उपदेश लेनेवाला और (उपदेष्टा) उपदेश देनेवाला, दोनों के ठीक होने पर ही उपदेश सफल होता है। उपदेष्टा का आसन उपदेश्य से ऊँचा होता है, इसलिए उसका उत्तरदायित्व अधिक होता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'—ब्राह्मण समाज का मुखिया होता है। जिस प्रकार मस्तिष्क के विकृत हो जाने पर समूचे शरीर के क्रियाकलाप बिगड़ जाते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण के पतित हो जाने पर समाज पतित हो जाता है। महाभारत-काल तक पहुँचते-पहुँचते आर्यावर्त्त की जो दुर्दशा हुई, उसका सूत्रपात बहुत पहले हो चुका था।

इतरथा०—अन्यथा अर्थात् विद्वान् और चरित्रवान् समाजसेवी ब्राह्मणों के न रहने और शास्त्र-ज्ञान से शून्य तथाकथित ब्राह्मणों का वर्चस्व बढ़ जाने पर समाज टूट जाता है और देश रसातल को चला जाता है। महाभारत के बाद यही सब हुआ।

वाममार्ग—वाममार्ग का अर्थ है—उल्टा रास्ता। किन्तु उसे वाममार्ग या वामाचार इसलिए भी कहा गया कि इसमें वामा अर्थात् स्त्री को समस्त गतिविधियों का केन्द्र माना जाता है। उसी को शक्ति का प्रतीक स्वीकार किया जाता है—आद्याशक्ति अर्थात् जगज्जननी। एक ओर उमा, पार्वती, काली, दुर्गा, चण्डी और दूसरी ओर लक्ष्मी और राधा को उसी शक्ति का प्रतिरूप समझा गया। इतना ही नहीं, स्त्रीमात्र को उस शक्ति का प्रतिरूप मानकर उसकी पूजा का विधान किया गया। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से स्त्रीमात्र में मातृ-बुद्धि करके मानव-मन में उदात्त भावनाओं की सृष्टि हो सकती थी, किन्तु उसके साथ पञ्चमकार की साधना को जोड़कर व्यवहार में उसे निम्न वृत्तियों को उभारने का साधन बना दिया गया।

तान्त्रिक मत को वाममार्ग का पर्यायवाची समझना चाहिए। जिन ग्रन्थों में महादेव शिष्य बनकर प्रश्न करते हैं और पार्वती गुरु बनकर उत्तर देती है, वे निगम कहलाते हैं और जिन ग्रन्थों में पार्वती शिष्य बनकर प्रश्न करती है और महादेव या भैरव गुरु बनकर प्रश्नों के उत्तर देते हैं, वे आगम

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च । एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥१॥[1]
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः । निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥२॥[2]
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले । पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥३॥[3]
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु ॥४॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव । एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥५॥[4]

अर्थात् देखो इन गवर्गण्ड पोपों की लीला, जोकि वेद-विरुद्ध महा अधर्म के काम हैं उन्हीं को श्रेष्ठ वाममार्गियों ने माना । मद्य, मांस, मीन अर्थात् मच्छी, मुद्रा (=पूरी, कचौरी और बड़े रोटी आदि चर्वण, योनि पात्राधार मुद्रा) और पाँचवाँ मैथुन अर्थात् पुरुष सब शिव और स्त्री सब पार्वती के समान मानकर—

'अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु संगमः' ॥

चाहे कोई पुरुष वा स्त्री हो, इस ऊटपटाँग वचन को पढ़के समागम करने में वे वाममार्गी दोष नहीं मानते । अर्थात् जिन नीच स्त्रियों को छूना नहीं,[5] उनको अतिपवित्र उन्होंने माना है । जैसे शास्त्रों में रजस्वला आदि स्त्रियों के स्पर्श का निषेध है, उनको वाममार्गियों ने अतिपवित्र माना है। सुनो इनका श्लोक खण्डवण्ड---

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ।
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता[6] ॥—इत्यादि ।

कहलाते हैं । शैवों के इन आगम और निगमों की संख्या सैकड़ों में है । यद्यपि तन्त्रों में शैवों के आगम और निगम दोनों शामिल किये जाते हैं, किन्तु विशेषरूप से शाक्तों के धर्मग्रन्थ ही तन्त्र शब्द से अभिहित किये जाते हैं । इस प्रकार शाक्त मत का अध्ययन करने से ही वाममार्ग का वास्तविक रूप सामने आ सकता है । इन मतों के अनुयायी अपने ग्रन्थ अन्य मतावलम्बी को तो दिखाते ही नहीं, किन्तु अपने मतावलम्बी को भी तब तक नहीं दिखाते जब तक वह इनके गुह्य समाज के दीक्षित चक्र में शामिल होकर अपनी निष्ठा को प्रमाणित नहीं कर देता । 'गुह्यसमाज' तन्त्र में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति उस ग्रन्थ को देख ले, तो देखनेवाला और दिखानेवाला दोनों नरक में जाते हैं ।

शाक्त मत का उत्कृष्ट रूप रामकृष्ण-मिशन के रूप में प्रस्फुरित हुआ और निकृष्ट रूप आज भी काली के मन्दिर में बकरों की बलि चढ़ाने की परम्परा में दृष्टिगोचर होता है । अद्वैत का उपासक रामकृष्ण-मिशन शाक्तमत की देन है, यह बात कदाचित् कुछ लोगों को अटपटी प्रतीत हो, परन्तु हम यहाँ इतिहासक्रम की दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं । रामकृष्ण-मिशन का अद्वैत यद्यपि इस समय शांकर वेदान्त से प्रभावित है, परन्तु रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत जगज्जननी के रूप में प्रतिष्ठित शाक्तों का शक्तितत्त्व ही है ।

पाँच मकार—वाममार्गी पाँच मकारों को सृष्टि का नियामक तत्त्व स्वीकार करके उनकी आराधना को चरम लक्ष्य मानते हैं । वे पाँच मकार हैं—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन । इनमें प्रथम तीन का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है । 'मुद्रा' शब्द अनेकार्थक है, किन्तु वाममार्ग के विधान में वह परिभाषित अर्थों में प्रयुक्त है । यह अर्थ अन्य किसी शास्त्र द्वारा समझ में नहीं आ सकता । वहाँ उसका अर्थ है—

१. कालीतन्त्रादि में । २. कुलार्णव तन्त्र ८।९६, वेदा० । ३. कुलार्णव तन्त्र ७।१००, वेदा० ।
४. ज्ञानसंकलनी तन्त्र । ५. 'छूना नहीं' अर्थात् छूना उचित नहीं । ६. रुद्रयामल तन्त्र ।

रजस्वला के साथ समागम करने से जानो पुष्कर का स्नान, चाण्डाली से समागम में काशी की यात्रा, चमारी से समागम करने से मानो प्रयागस्नान, धोबी की स्त्री के साथ समागम करने में मथुरायात्रा, और कंजरी के साथ लीला करने से मानो अयोध्या तीर्थ कर आये।

[पञ्च मकारों के दूसरे कल्पित नाम]

'मद्य' का नाम धरा 'तीर्थ'; 'मांस' का नाम 'शुद्धि' और 'पुष्प'; 'मच्छी' का नाम 'तृतीया' 'जलतुम्बिका'; 'मुद्रा' का नाम 'चतुर्थी; और 'मैथुन' का नाम 'पञ्चमी'। इसलिये ऐसे-ऐसे नाम धरे हैं कि जिससे दूसरा न समझ सके। अपने कौल 'आर्द्रवीर' शाम्भव और गण आदि नाम रक्खे। और जो वाममार्ग मत में नहीं हैं, उनका 'कण्टक' 'विमुख' 'शुष्कपशु' आदि नाम धरे हैं॥१॥

और कहते हैं कि जब भैरवीचक्र हो, तब उसमें ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल-पर्यन्त का नाम 'द्विज' हो जाता है; और जब भैरवीचक्र से अलग हों, तब सब अपने-अपने वर्णस्थ हो जाएँ॥२॥

भैरवीचक्र में वाममार्गी लोग भूमि वा पट्टे पर एक बिन्दु त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्त्तुलाकार बनाकर उसपर मद्य का घड़ा रखके उसकी पूजा करते हैं। फिर ऐसा मन्त्र पढ़ते हैं—**'ब्रह्मशापं विमोचय'** हे मद्य ! तू ब्रह्मा आदि के शाप से रहित हो।

एक गुप्त स्थान में कि जहाँ सिवाय वाममार्गी के दूसरे को नहीं आने देते, वहाँ स्त्री और पुरुष इकट्ठे होते हैं। वहाँ एक स्त्री को नङ्गी कर पूजते और स्त्री लोग किसी पुरुष को नङ्गा कर पूजती हैं। पुनः कोई किसी की स्त्री, कोई अपनी वा दूसरे की कन्या, कोई किसी की वा अपनी माता, भगिनी, पुत्रवधू आदि आती हैं। पश्चात् एक पात्र में मद्य भरके मांस और बड़े आदि एक थाली में धर रखते हैं। उस मद्य के प्याले को जोकि उनका आचार्य होता है, वह हाथ में लेकर बोलता है कि —**'भैरवोऽहम् शिवोऽहम्'** ='मैं भैरव व शिव हूँ' कहकर पी जाता है। फिर उसी जूँठे पात्र से सब पीते हैं।

और जब किसी की स्त्री व वेश्या को नङ्गी कर, अथवा किसी पुरुष को नङ्गा कर हाथ में तलवार देके उसका नाम देवी और पुरुष का नाम महादेव धरते हैं, उनके उपस्थ इन्द्रिय की पूजा करते हैं, तब उस देवी वा शिव को मद्य का प्याला पिलाकर, उसी जूंठे पात्र से सब लोग एक-एक प्याला पीते हैं, फिर उसी प्रकार क्रम से पी-पीके उन्मत्त होकर चाहे कोई किसी की बहन, कन्या वा माता क्यों न हो, जिसकी जिसके साथ इच्छा हो उसके साथ कुकर्म करते हैं। कभी-कभी बहुत नशा चढ़ने से जूते-लात, मुक्कामुक्की, केशाकेशी आपस में लड़ते हैं।

पात्राधार या स्त्रीन्द्रिय योनि अथवा वह योगिनी साधिका स्त्री, जिसके बिना तान्त्रिक साधक दीक्षित चक्र में प्रवेश नहीं पा सकता। किसी भी तान्त्रिक साधक के लिए गुरु के पास दीक्षार्थ जाते समय आवश्यक है कि वह अपने साथ एक साधिका को अवश्य ले-जाये—फिर वह चाहे उसकी पत्नी हो या कन्या हो या अन्य कोई स्त्री। वह स्त्री ही 'मुद्रा' है। वज्रयानी उसे वज्रकन्या या वज्रधारिणी कहते हैं। शिष्य और शिष्या के रूप में साधक और साधिका पहले गुरु को प्रसन्न करते हैं। जब गुरु प्रसन्न हो जाता है, तब वह उन दोनों का 'अभिषेक' करता है। अभिषेक यहाँ पारिभाषिक शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ वीर्य-सिंचन समझा जा सकता है। इस अभिषेक के बाद ही शिष्य और शिष्या दीक्षितचक्र में शामिल समझे जाते हैं।

दीक्षितचक्र में शामिल सब स्त्री-पुरुष 'अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु संगमः' की प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए ही उपस्थित होते हैं। प्रत्येक पुरुष भैरव माना जाता है और प्रत्येक स्त्री भैरवी। इस प्रकार वाममार्ग के विधान में 'मैथुन' का अर्थ है—भैरव और भैरवी का—शिव और पार्वती

किसी-किसी को वहीं वमन होता है। उनमें जो पहुँचा हुआ 'अघोरी' अर्थात् सबमें सिद्ध गिना जाता है, वह वमन हुई चीज को भी खा लेता है। अर्थात् इनके सबसे बड़े सिद्ध की ये बातें हैं कि—

'हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु।
विराजते कौलवचक्रवर्त्ती' ॥

—जो दीक्षित अर्थात् कलार के घर में जाके बोतल पर बोतल चढ़ावे, रंडियों के घर में जाके उनसे कुकर्म करके सोवे, जो ऐसे कर्म निर्लज्ज निःशङ्क होकर करे, वही वाममार्गियों में सर्वोपरि मुख्य चक्रवर्ती राजा के समान माना जाता है। अर्थात् जो बड़ा कुकर्मी वही उनमें बड़ा, और जो अच्छे काम करे और बुरे कामों से डरे वही छोटा। क्योंकि—

'पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः' ।—ज्ञानसंकलनी तन्त्र, श्लोक ४३

का—स्त्री और पुरुष का सम्भोग। इस मैथुन को जीवन के परमानन्द का स्रोत माना जाता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्राप्त आनन्द को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया था, किन्तु तान्त्रिकों ने उस काव्यत्व को न समझकर या भुलाकर, आध्यात्मिक अनुभूति को भी विशुद्ध भौतिक धरातल पर उतार लिया और अपने कामाचार को खुली छूट देने के लिए मैथुन को ही परमानन्द की संज्ञा दे डाली। इन पंच मकारों को कालीतन्त्र में 'एते पंच मकाराः स्युः मोक्षदा हि युगे युगे' कहकर प्रत्येक युग में मोक्षलाभ का परम साधन बताया गया।

वाममार्ग शैवों में भी घुस गया और बौद्धों में भी। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् नागार्जुन वाम-मार्गी बौद्ध था। केवल वैष्णव बचे रहे, किन्तु श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ रंगरलियों की कथाओं ने उनमें भी व्यभिचार-लीलाएँ फैला दीं। वाममार्गियों ने एक ऐसी साधना-पद्धति प्रस्तुत की, जिसे अपनाने में न संयम की आवश्यकता थी और न किसी प्रकार के धर्माचरण की। ऐसा सीधा और सरल मार्ग आकर्षण का केन्द्र क्यों न बनता? तभी तो महेन्द्रविक्रम वर्मा लिखित 'मत्तविलास' नामक संस्कृतप्रहसन में एक वाममार्गी कापालिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भगवान् पिनाकपाणि शिव को आशीर्वाद देते हुए कहता है—

पेयासुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं, ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म, दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥

अर्थात्—जिस मोक्षमार्ग में मदिरा-सेवन की आज्ञा हो, प्रियतमा भैरवी का मुख देखने की छूट हो और सहज सुन्दर विकृत वेषधारण करना भी ग्राह्य हो, ऐसे सहज-सुगम मोक्षमार्ग के द्रष्टा भगवान् शिव दीर्घायु हों। संस्कृत में 'प्रबोधचन्द्रोदय' की परम्परा के नाटकों में वाममार्ग का प्रायः ऐसा ही चित्रण किया गया है।

तान्त्रिकों की अपनी साधना-प्रणाली में भोग और मोक्ष का अद्भुत समन्वय है—

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां, भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

अर्थात्—जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं और जहाँ मोक्षसाधन है, वहाँ भोग की गुंजायश नहीं। परन्तु जो श्री सुन्दरी (शक्ति) के उपासक हैं, उनके लिए भोग और मोक्ष दोनों हस्तामलकवत् करतल-गत हैं।

भोग और मोक्ष के इस विचित्र समन्वय का उपहास करते हुए किसी ने कहा है—

कौलिका मुक्तिमिच्छन्ति स्पष्टमेतद् विडम्बनम्।

ऐसा तन्त्र में कहते हैं कि जो लोकलज्जा, शास्त्रलज्जा, कुललज्जा, देशलज्जा आदि पाशों में बँधा है वह 'जीव', और जो निर्लज्ज होकर बुरे काम करे वही 'सदाशिव' है।

'उड्डीस तन्त्र' आदि में एक प्रयोग लिखा है कि एक घर में चारों ओर आलय हों। उनमें मद्य के बोतल भरके धर देवे। इसके एक आलय से एक बोतल पीके दूसरे आलय पर जावे। उसमें से पी तीसरे, और तीसरे में से पीके चौथे आलय पर जावे। खड़ा-खड़ा तबतक मद्य पीवे कि जबतक लकड़ी के समान पृथिवी में न गिर पड़े। फिर जब नशा उतरे, तब उसी प्रकार पीकर गिर पड़े। पुनः तीसरी वार इसी प्रकार पीके उठे तो उसका पुनर्जन्म न हो। सच तो यह है कि ऐसे-ऐसे मनुष्यों का पुनः मनुष्य-जन्म होना ही कठिन है, किन्तु नीच योनि में पड़कर बहुकालपर्यन्त पड़ा रहेगा ॥३॥

वामियों के तन्त्र-ग्रन्थों में यह नियम है कि एक माता को छोड़के किसी स्त्री को भी न छोड़ना चाहिए, अर्थात् चाहे कन्या हो वा भगिनी आदि क्यों न हों, सबके साथ सङ्गम करना चाहिए। इन वाम-मार्गियों में 'दश महाविद्या' प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक 'मातङ्गी' विद्यावाला कहता है कि 'मातरमपि न त्यजेत्' अर्थात् माता को भी समागम किये विना न छोड़ना चाहिए। और स्त्री-पुरुष के समागम-समय में मन्त्र जपते हैं कि हमको सिद्धि प्राप्त हो जाये। ऐसे पागल, महामूर्ख मनुष्य भी संसार में बहुत न्यून होंगे ॥४॥

जो मनुष्य झूंठ चलाना चाहता है, वह सत्य की निन्दा अवश्य ही करता है। देखो, वाममार्गी क्या कहते हैं—'वेदशास्त्र और पुराण ये सब सामान्य वेश्याओं के समान हैं। और जो यह शांभवी वाममार्ग की मुद्रा है, वह गुप्त कुल[1] की स्त्री के तुल्य है' ॥५॥

[वेदों के नाम से भी वाममार्ग की लीला]

इसीलिए इन लोगों ने केवल वेदविरुद्ध मत खड़ा किया है। पश्चात् इन लोगों का मत बहुत चला। तब धूर्त्तता करके वेदों के नाम से भी वाममार्ग की थोड़ी-थोड़ी लीला चलाई। अर्थात्—

अर्थात्—कौलमार्गी भी मुक्ति चाहते हैं, इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी!

प्रसिद्ध उक्ति है—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'—सेवाधर्म इतना गहन है कि योगियों के लिए भी अगम्य है। परन्तु वाममार्गियों के अनुसार—

वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे चालिपात्रम्, अग्रे मुद्रा सरसबटकाः शूकरस्योष्णशुद्धिः।
पृष्ठे वीरा विविधविषया भोगभावैकभव्याः, कौलो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

अर्थात्—वाम पार्श्व में सम्भोग में निपुण भैरवी विराजमान है और दक्षिण पार्श्व में मधुपात्र रक्खा है। आगे मुद्रा (भुना हुआ या तला हुआ अन्न—जैसे मुरमुरे), सरस बड़े और सूअर का मधुर मांस रक्खा है, पीछे की ओर विविध विषयभोगों में निपुण वीर (कौलमार्ग के अनुयायी) विराजमान हैं। ऐसा अद्भुत कौल-मार्ग अत्यन्त गहन और योगियों के लिए भी अगम्य है।

आधुनिक भाषा में वाममार्ग को विशुद्ध शिश्नोदरवाद या यौनमार्ग कहा जा सकता है। परन्तु जैसाकि ऋग्वेद (७।२१।५) में लिखा है, "मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः"—(शिश्नदेवाः) उपस्थेन्द्रिय से क्रीडा = विहार करनेवाले कामीजन कभी सत्य को नहीं पा सकते, अर्थात् ब्रह्मचर्यरहित कामातुरों को धर्मज्ञान और सत्यविद्या कभी प्राप्त नहीं होती।

---

१. 'गुप्तकुल की स्त्री' अर्थात् पर्दे में रहनेवाली कुलीन स्त्री।

'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्'[1]; 'प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्'[2]; 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'[3] ।।१।।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।२।।—मनु० ५।५६

'सौत्रामणी' यज्ञ में मद्य पीवे । इसका अर्थ तो यह है कि 'सौत्रामणी' यज्ञ में सोमरस अर्थात् सोमवल्ली का रस पीये, 'प्रोक्षित' अर्थात् यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं । ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं । उनसे पूछना चाहिए कि जो वैदिकी हिंसा हिंसा न हो, तो तुझ और तेरे कुटुम्ब को मारके होम कर डालें, तो क्या चिन्ता है ? ।।१।।

मांस-भक्षण करने, मद्य पीने, परस्त्रीगमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकड़ापन है । क्योंकि विना प्राणियों को पीड़ा दिये मांस प्राप्त नहीं होता[4] । और विना अपराध के पीड़ा देना धर्म का काम नहीं । मद्यपान का तो सर्वथा निषेध ही है । क्योंकि अब तक वाममार्गियों के विना किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा, किन्तु सर्वत्र निषेध है । और विना विवाह के मैथुन में भी दोष है । इसको निर्दोष कहनेवाला सदोष है ।।२।।

महानिर्वाणतन्त्र, पञ्चमोल्लास में इसे और भी स्पष्ट करके कहा है—

मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च । शक्तिपूजाविधावाद्ये पञ्चतत्त्वं प्रकीर्तितम् ।।२२।।
पञ्चतत्त्वं विना पूजा अभिचाराय कल्पते । नेष्टसिद्धिर्भवेत्तस्य विघ्नस्तस्य पदे पदे ।।२३।।

अर्थात्—मद्यादि शक्तिपूजा में पञ्चतत्त्व हैं । पञ्चतत्त्व के विना शक्तिपूजा अभिचार हो जाती है, इष्ट की सिद्धि नहीं होती तथा पग-पग पर उसके विघ्न होता है । आजकल के कई तान्त्रिक जन लोगों की प्रतारणा के लिए कह दिया करते हैं कि ये विशेष पारिभाषिक शब्द हैं । उनके इस प्रतारणाकारक भ्रम के निरास के लिए नीचे के अवतरण देखिए—

मूलं गन्धं विदद्यात् पञ्चमीकरणमीरितम् । प्रणम्य कलशं रक्तपुष्पं दत्वा विशोधयेत् ।।१९३।।
ओ३म् एकमेव परं ब्रह्म स्थूलसूक्ष्ममयं ध्रुवम् । कचोद्भवां ब्रह्महत्या तेन ते नाशयाम्यहम् ।।१९४।।
सूर्यमण्डलमध्यस्थे वरुणालयसंभवो । अमाबीजमये देवि शुक्रशापाद् विमुच्यताम् ।।१९५।।
वेदानां प्रणवो बीजं ब्रह्मानन्दममं यदि । तेन सत्येन ते देवि ब्रह्महत्यां व्यपोहतु ।।१९६।।
ब्रह्मशापविशब्दान्ते मोचितायै पदं वदेत् । सुधादेव्यै नमः पश्चात् सप्त ब्रह्मशापनुत् ।।१९८।।

इन श्लोकों में मद्य के घड़े के शोधन का विधान है, और अन्त में **'ब्रह्महत्याशापविमोचितायै सुधादेव्यै नमः'** कहने का आदेश है । मांसशोधन—

विष्णोर्वक्षसि या देवी या देवी शंकरस्य च । मांसं मे पवित्रीकुरु तद्विष्णोः परमं पदम् ।।२०८।।

अर्थात्—जो देवी विष्णु की छाती में है, जो देवी शंकर की छाती में है, वह तू मेरे इस मांस को पवित्र कर और इसे विष्णु का परम पद बना ।। मीनशोधन—

इत्थं मीनं समादाय प्रोक्तमन्त्रेण संस्कृतम् । मन्त्रेणानेन मतिमांस्तं मीनमभिमन्त्रयेत् ।।२०९।।
ओं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम् उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।।२१०।।

मुद्राशोधन—**तथैव मुद्रामादाय शोधयेदमुना प्रिये !**

---

१. तुलना करो—'सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत्सौत्रामणी ।'—शत० १२।१।३।७
२. मनु० ५।२७ ।।
३. द्र०—'या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिन् चराचरे । अहिंसामेव तां विद्यात्० ।।—मनु० ५।४४
४. 'नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।—मनु० ५।४८

ओं तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥२११॥
ओं तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥२१२॥
अथवा—**सर्वतत्त्वानि मूलेनैव विशोधयेत्** ॥२१३॥ (महानिर्वाण, ५ उल्लास)

अर्थात्—इस प्रकार अगले मन्त्र से संस्कृत मीन=मछली लाकर इस और अगले मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे। वे मन्त्र ये हैं—

'**ओं त्र्यम्बकं यजामहे**···' इसी प्रकार '**ओं तद्विष्णोः परमं पदं**···' और '**तद्विप्रासो**···' मन्त्रों से घड़े का शोधन करे। अथवा मूल से सब तत्त्वों का संशोधन करे। और देखिए, तन्त्रों में मद्यों, मांसों आदि के जो भेद लिखे हैं, वे स्पष्ट इनको लोकप्रसिद्ध पदार्थ ही सिद्ध करते हैं, यथा—

मद्यान्येकादशैतानि भुक्तिमुक्तिकराणि च ॥३०॥ माध्वी मुक्तिकरी ज्ञेया सुरा स्याद् देवतार्चने।

अर्थात्—यह ग्यारह शराब भुक्ति तथा मुक्ति देनेवाली हैं, माध्वी को मुक्ति देनेवाली समझिये, तथा सुरा देवतापूजन में उपयुक्त होती है। यह वचन कुलार्णवतन्त्र के द्वितीय उल्लास का है। महानिर्वाणतन्त्र के षष्ठ उल्लास में जिन-जिन पदार्थों से मद्य=शराब बनती है उनका तथा उनके उत्तमादि भेदों का भी निरूपण है—

गौड़ी पैष्टी तथा माध्वी त्रिविधा चोत्तमा सुरा। सैव नानाविधा प्रोक्ता तालखर्जूरसंभवा ॥२॥
तथा देशविभेदेन नानाद्रव्यविभेदतः। बहुधेयं समाख्याता प्रशस्ता देवतार्चने ॥३॥

अर्थात्—गौड़ी=गुड़ से बननेवाली, पैष्टी अर्थात् पीठी से बननेवाली, एवं माध्वी=महुवे से बननेवाली, यह तीन प्रकार की सुरा अर्थात् शराब उत्तम है; वही ताड़, खजूर से बननेवाली नाना प्रकार की है तथा देशभेद और द्रव्यभेद से नाना प्रकार की वह देवतापूजन में प्रशस्त उत्तम कही गई है। कहिए, यह शराब है अथवा कुछ और? उसी के साथ मांस की भी कथा सुन लीजिए—

मांसं त्रिविधं प्रोक्तं जलभूचरखेचरम्। यस्मात्तस्मात् समानीतं येन तेन विघातितम्।
तत्सर्वं देवताप्रीत्यै भवेदेव न संशयः ॥५॥
बलिदानविधौ देवि विहितः पुरुषः पशुः। स्त्रीपशुर्न हन्तव्यस्तत्र शाम्भवशासनात् ॥७॥

अर्थात्—मांस जलचर (जल में होनेवाले पशुओं से उपलब्ध होनेवाला), भूचर (पृथिवीस्थ प्राणियों से प्राप्त होनेवाला) तथा खेचर (पक्षियों से प्राप्त होनेवाला) तीन प्रकार का होता है। जिसने जिससे मारा, वह उसका है, इसमें सन्देह नहीं है। हे देवि! बलिदान-विधान में नरपशु का विधान है, अतः शम्भु के आदेश से उसके निमित्त स्त्रीपशु नहीं मारना चाहिए। कहिए, यह लोकप्रसिद्ध प्राणिमांस है अथवा कुछ और? अब मीन को लीजिए—

उत्तमास्त्रिविधा मत्स्याः शालपाठीनरोहिताः। मध्यमाः कण्टकैर्हीना अधमा बहुकण्टकाः।
तेऽपि देव्यै प्रदातव्या यदि सुष्ठु विभर्जिताः ॥८॥

अर्थात्—मत्स्य=मछलियाँ तीन प्रकार की हैं—शाल, पाठीन तथा रोहित उत्तम हैं, काँटों से रहित मध्यम तथा बहुत काँटोंवाली अधम हैं। यदि भली प्रकार भुनी हुई हों तो वे भी देवी के अर्पण करनी चाहिएँ। क्यों? यह पारिभाषिक हैं अथवा जलाशयों से पकड़ी गई मछलियाँ हैं? रोहित अर्थात् रोहू तो बिहारियों की प्यारी मछली है। अब मुद्रा अर्थात् बड़ा की बात लीजिये—

मुद्रापि त्रिविधा प्रोक्ता उत्तमादिविभेदतः। चन्द्रबिम्बनिभं शुभ्रं शालितण्डुलसंभवम्।
यवगोधूमजं वापि घृतपक्वं मनोरमम् ॥१६॥
मुद्रेयमुत्तमा मध्यमा भृष्टधान्यादिसंभवा। भर्जितान्यबीजानि अधमा परिकीर्तिता ॥१०॥

अर्थात्—मुद्रा भी उत्तमादि भेदों से तीन प्रकार की है—चन्द्रबिम्ब के समान, स्वच्छ, शालि

[गवादि पशुओं को मारके होम कराना]

ऐसे-ऐसे वचन भी ऋषियों के ग्रन्थ में डालके, कितने ही ऋषि-मुनियों के नाम से ग्रन्थ बनाकर गोमेध, अश्वमेध नाम के यज्ञ भी कराने लगे थे, अर्थात् इन पशुओं को मारके होम करने से यजमान और पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ऐसी प्रसिद्धि का निश्चय तो यह है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्द हैं, उनका ठीक-ठीक अर्थ नहीं जाना है। क्योंकि जो जानते, तो ऐसा अनर्थ क्यों करते ?

[अश्वमेध गोमेध आदि का शुद्ध अर्थ]

प्रश्न—अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्दों का अर्थ क्या है ?

उत्तर—इनका अर्थ तो यह है कि—

'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'[1]; **'अन्नं हि गौः'**[2]; **'अग्निर्वा अश्वः'**[3]; **'आज्यं मेधः'**[4] ॥—शतपथब्राह्मणे

घोड़े-गाय आदि पशु तथा मनुष्य मारके होम करना कहीं नहीं लिखा। केवल वाममार्गियों के ग्रन्थों में ऐसा अनर्थ लिखा है। किन्तु यह भी बात वाममार्गियों ने चलाई। और जहाँ-जहाँ लेख है, वहाँ-वहाँ भी वाममार्गियों ने प्रक्षेप किया है। देखो, राजा न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का देनेहारा यजमान, और अग्नि में घी आदि का होम करना 'अश्वमेध'। अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना 'गोमेध'। जब मनुष्य मर जाय तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना 'नरमेध' कहाता है।

[पशुयाग से यजमान व पशु को स्वर्ग नहीं]

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी, तथा होम करके फिर पशु को जीता करते थे, यह बात सच्ची है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। जो स्वर्ग को जाते हों, तो ऐसी बात कहनेवाले को मारके होम कर स्वर्ग में पहुँचाना चाहिए। वा उसके प्रिय माता-पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार, होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचाते ? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते हैं ?

[मन्त्रों का अर्थ पशु-मारने-परक नहीं है]

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं, तब वेदों के मन्त्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होते, तो कहाँ से पढ़ते ?

उत्तर—मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उनका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मारके होम करना। जैसे 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ—'अग्नि में हवि पुष्टयादिकारक घृतादि उत्तम पदार्थों के होम करने से वायु, वृष्टिजल शुद्ध होकर जगत् को

के चावलों से बनी हुई अथवा घी में पकाई हुई गेहूँ और जौ की बनी उत्तम होती है। भुने अनाजों की मध्यम और भुने हुए बीजरहित पदार्थ अधम मुद्रा है। प्रकृत श्लोक पाठभेद से प्रायः सभी तन्त्रों में मिलता है। कुलार्णव (१०।५) में पाठ इस प्रकार है—

मद्यं मांसं च मत्स्यं च मुद्रा मैथुनमेव च। मकारपञ्चकं देवि देवताप्रीतिकारकम् ॥

महानिर्वाणनिर्णयोल्लास में यह इस प्रकार है—

---

१. शत० १३।१।६।३ ॥ २. शत० ४।३।१।२५ ॥ ३. शत० ३।६।२।५ ॥
४. मेधो वा आज्यम्। शत० १३।३।६।२ ॥

मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रामैथुनमेव च । एतानि पञ्चतत्त्वानि त्वया प्रोक्तानि शंकर ॥५६॥

महानिर्वाण० (८।१७६) में भी है । कुलार्णव (११।८५) में भी यह श्लोक पाठभेद से है, इसमें 'सामान्य' के स्थान में 'स्पष्टानि' पाठ है और 'मुद्रा' के स्थान में 'विद्या' शब्द है । यह पाठ ज्यों-का-त्यों हठयोगप्रदीपिका के चतुर्थ उपदेश का ३५वाँ है । इसीलिए ग्रन्थकार ने हठयोगप्रदीपिका की गणना वेदनिन्दक होने के कारण, निषिद्ध ग्रन्थों में की है ।

प्रत्येकतत्त्वस्वीकाराद् विधिना स्याच्छिवो नरः । न जाने पञ्चतत्त्वानां सेवनात् किं फलं भवेत् ॥

—महानिर्वाण० ११।१०९

अर्थात्—एक-एक तत्त्व को अपनाने से मनुष्य शिव बन जाता है, न जाने, पाँचों तत्त्वों के सेवन से क्या फल हो । मथुरा के दामोदर प्रसाद शर्मा ने, ग्रन्थ 'तीर्थ दर्पण पण्डा-अर्पण' के पृष्ठ २१ पर, यह श्लोक रुद्रयामलतन्त्र के नाम से इस प्रकार दिया है—वारांगना प्रयागश्च रजकी पुष्करस्तथा । चर्मकारी भवेत्काशी सर्वतीर्था रजस्वला । अर्थात् वेश्या प्रयाग, धोबिन पुष्कर, चमारी काशी तथा रजस्वला सब तीर्थ है । ऊपर से छुआछूत माननेवाले और भीतर से ऐसे आचरणवाले !!! धिक् !! कुलार्णवतन्त्र में इनको आठ कुल अर्थात् कुलाष्टक माना है—चाण्डाली चर्मकारीचमागधी पुक्कसी तथा । श्वपची खट्टकी चैव कैवर्ती वेशयोषितः ॥४२॥ कुलाष्टकमिदं प्रोक्तम् ॥४३॥ (सप्तमोल्लास) । अर्थात् चाण्डाली, चमारी, मागधी, पुक्कसी, श्वपची, खट्टकी, कैवर्ती तथा वेश्याएँ ये कुलाष्टक आठ कुल कहे गये हैं ॥

आमिषासवसौरभ्यहीनं यस्य मुखं भवेत् । प्रायश्चित्ती स वर्ज्यश्च पशुरेव न संशयः ॥५३॥ अनाचारः सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमुत्तमम् । असत्यमपि सत्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५४॥ अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च । अगम्यमपि गम्यं स्यात्कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५७॥ मातरं पितरं भार्यां भ्रातरं बान्धवं सुतम् । कुलनिन्दाकरं देवि हन्यादेवाविचारयन् ॥७५॥ (कुलार्णव ११ उ०) अर्थात् मांस तथा मदिरा के गन्ध से जिसका मुख रहित हो, वह प्रायश्चित्ती है, अत एव त्यागने योग्य है, निस्सन्देह वह पशु है ॥ हे कुलेश्वरि ! कालिकों के लिए अनाचार सदाचार, अकार्य उत्तम कार्य, असत्य सत्य होता है ॥ हे कुलेश्वरि ! कौलिकों के लिए अपेय पेय, अभक्ष्य भक्ष्य, अगम्य गम्य होता है । हे देवि ! कुल (वाममार्ग) की निन्दा करनेवाले माता, पिता, पत्नी, भाई, बन्धु तथा पुत्र को विचारे बिना मार दे ॥ क्रूरान् खलान् शत्रून् पापान् नास्तिकान् कुलदूषकान् । कुलशास्त्राणां निन्दकान् चक्राद् दूरतरं त्यजेत् (म० नि० ८।१९१) अर्थात् कुल=वाम-मार्ग के शास्त्रों की निन्दा करनेवाले क्रूर, खल, शत्रु, पापी, नास्तिक कुलदूषकों को चक्र से बहुत दूर रखे ॥ नात्र जातिविचारोस्ति नोच्छिष्टादिविवेचनम् । चक्रमध्य-गता वीरा मम रूपा न चान्यथा ॥ (म० नि० ८।१८) अर्थात् इस भैरवी चक्र में न जाति का विचार होता है और न ही उच्छिष्ट अर्थात् झूठन आदि का विवेचन । हे देवि ! चक्र के बीच में गये हुए वीर सभी मेरे रूप हैं न कि अन्य ॥ स्वाभीष्टचेष्टाचरणं प्रौढान्तः परिकीर्तितः । प्रौढान्तोल्लासाद् देवि मुदिते योगि-मण्डले ॥ योगिनीमण्डले चैव क्रमादानन्दमुच्यते ॥५६॥ तदारूढेषु वीरेषु कार्याकार्यं न विद्यते । इच्छैव शास्त्रसम्पत्तिरित्याज्ञैव परमेश्वरि ॥५७॥ तत्र यद्यत्कृतं कर्म शुभं यदि वाऽशुभम् । तत्सर्वं देवताप्रीत्यै जायते सुरसुन्दरि ॥५८॥ जल्पो जपफलं तन्द्रा समाधिरभिधीयते । विक्रिया पूजनं देवि उदितं भैरवी बलिः ॥५९॥ मुक्तिः स्याच्छक्तिसंयोगःस्तोत्रं तत्कालभाषितम् ॥६०॥ तदुल्लासे कृता नाना या चेष्टा सा च सत्क्रिया । कार्याकार्यविचारस्तु यः करोति स पातकी ॥६१॥ रोदनं भाषणं पातः समुत्थानं विजृम्भणम् । गमनं विक्रिया देवि योग इत्यभिधीयते ॥६४॥ चक्रेऽस्मिन् योगिनो वीरा योगिन्यो मदमन्थराः । समाचरन्ति देवेशि यथोल्लासं मनोगतम् ॥६५॥ मत्ता स्वपुरुषं मत्वा कान्तान्यप्यवलम्बते । तथैव पुरुष-

क्वापि प्रौढान्तोल्लाससंयुतः ।।६७।। मुखे आपूर्य मदिरां स्त्रियः पाययन्ति प्रियान् । उपदंशं मुखे क्षिप्त्वा निक्षिपन्ति प्रियानने ।।७०।। योगिनो मदमत्ताश्च पतन्ति प्रमदोरसि । मदाकुलाश्च योगिन्यः पतन्ति पुरुषोपरि ।।७१।। मनोरथसुखं पूर्णं कुर्वन्ति च परस्परम् । इत्यादिविविधां चेष्टां कुर्वन्ति कुलनायिके ।।७२।। न निन्देन्न हसेत्क्वापि चक्रमधुमदालसान् । एतच्चक्रगतां वार्त्तां बहिर्नैव प्रकाशयेत् ।।७७।। स्त्री वाऽथ पुरुषः षण्ढः चाण्डालो वापि द्विजोत्तमः । चक्रेऽस्मिन्नैव भेदोस्ति सर्वे शिवसमाः स्मृताः ।।६७।। बहुना च किमुक्तेन चक्रमध्ये कुलेश्वरि । मद्रूपाः पुरुषाः सर्वे त्वद्रूपाः प्रमदाः प्रिये ।।१०२।। (कुलार्णव तन्त्र ८ उ०)। अर्थात् अपने अभीष्ट व्यवहार को प्रौढान्त कहा जाता है। हे देवि ! प्रौढान्त की प्रसन्नता से योगिमण्डल तथा योगिनीमण्डल के प्रसन्न होने पर क्रम से आनन्द का वर्णन करते हैं। उस अवस्था में आरूढ़ हुए वीरों में कार्य, अकार्य कुछ नहीं रहता; हे परमेश्वरि ! इच्छा ही कार्यसम्पत्ति है. ऐसी आज्ञा है। उसमें जो-जो शुभ वा अशुभ कर्म किया जाता है, वह सब देवी की प्रसन्नता का साधन हो जाता है। वकवास जाप का फल देता है। तन्द्रा को समाधि कहते हैं। विकार को पूजा, भैरव बलि कहते हैं। स्त्री-संयोग का नाम मुक्ति है। उस समय की बोलचाल का नाम स्तोत्र है। उस उल्लास में की गई नाना चेष्टाएँ सत्कार हैं। जो कार्य अकार्य का विचार करता है, वह पातकी है। हे देवि ! रोना, बोलना, गिरना, उठना, जँभायी लेना, गमन और विकार ये योग कहलाते हैं। हे देवि ! इस चक्र में वीर योगी तथा मस्ती से आलसी हुई योगिनियाँ प्रसन्नतापूर्वक मन के अनुसार आचरण करते हैं।। मस्त हुई स्त्री दूसरे को अपना पुरुष मानकर आलम्बन करती है, वैसे ही प्रौढान्त अर्थात् स्वेच्छाचार उल्लास से सयुक्त पुरुष भी पराई स्त्री को अपनी मानकर सहारा लेता है। स्त्रियाँ मुख में शराव भरकर अपने प्रियों को पिलाती हैं। अपने मुख में कुल्ला भरकर प्रिय के मुख में फेंकती हैं। मदमस्त योगी स्त्रियों की छाती पर गिरते हैं और मद से व्याकुल योगिनियाँ पुरुषों के ऊपर गिरती हैं और एक-दूसरे के मनोरथ-सुख को पूर्ण करते हैं, हे कुलनायिके ! इत्यादि नाना चेष्टाएँ करते हैं। चक्र की शराब के मद से आलसियों की न निन्दा करे न उन पर हँसे। इस चक्र की बात को बाहर प्रकट न करे। स्त्री हो, नपुंसक हो वा पुरुष हो, चाण्डाल हो वा द्विज हो, इस चक्र में कोई भेद नहीं है, सभी शिवसम माने गये हैं।। हे कुलेश्वरि ! अधिक क्या कहें, चक्र में सभी पुरुष मेरा रूप हैं और स्त्रियाँ तेरा रूप हैं। अलिमांसाङ्गनासंगे यत्सुखं जायते प्रिये । तदेव मोक्षो विदुषामबुधानां तु पातकम् ।।५०।। सदा मांसासवोल्लासी सदाचरणचिन्तकः । सदा संशयहीनो यः कुलयोगी स उच्यते ।।५१।। पिबन्मद्यं पलं खादन् स्वेच्छाचारपरायणः । अहंतदनयोरैक्यं भावयन्निवसेत् सुखी।।५२।।क्वचिच्छिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः क्वचिद्भूतपिशाचवत् । नानावेषधरो योगी विचरेज्जगतीतले।।७४। (कुलार्णव ६ उ०) अर्थात्—हे प्रिये ! मद्य, मांस और स्त्री के संग से जो सुख होता है, वही विद्वानों का मोक्ष है और मूर्खों का पातक है। जो सदा मांस और मद्य के उल्लास में रहे, सदाचरण का चिन्तक हो और सदा संशयरहित रहे, वह कुलयोगी कहलाता है। शराब पीता हुआ, मांस खाता हुआ और स्वेच्छा-चार में तत्पर, सबकी एकता का विचार करता हुआ रहे। कहीं शिष्ट (सभ्य) कहीं भ्रष्ट, कहीं भूत-पिशाचों की तरह नानारूपधारी संसार में विचरे।

सुरावान् वा एव वर्हिषद् यज्ञो यत् सौत्रामणी। (शत० १२।६।३।७) अर्थात् जो सौत्रामणी है वह सुरावाला बर्हिषद् यज्ञ है। प्रोक्षणाख्यश्रौतसंस्कारसंस्कृतस्य पशोर्यागार्थस्याग्नीषोमीयादेर्हुतावशिष्टं मांसं प्रोक्षितं तद् भक्षयेत् (याज्ञवल्क्यस्मृतिमिताक्षराटीका)। अर्थात् प्रोक्षण नामक श्रौतसंस्कृतयाग-निमित्त अग्नीषोमीय पशु का, होम से बचा हुआ मांस प्रोक्षित है, उसे खाये। या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्यात् (मनु० ५।४४) अर्थात्—इस संसार में जो वेदविहित हिंसा निश्चित है, उसे अहिंसा ही समझे।

बिना पीड़े दिये मांस नहीं—मांसाहार के सम्बन्ध में मनु का कथन है—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥५।४८
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्त्ता चोपहर्ता च खादकश्चेतिघातकाः ॥५।५१

अर्थात्—प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस प्राप्त नहीं होता और जीवों की हत्या करना सुखकारक नहीं है, इसलिए मांस नहीं खाना चाहिए।

(मांस के प्रसंग में) पशु को मारने की आज्ञा देनेवाला, मांस को काटनेवाला, पशु को मारनेवाला, खरीदनेवाला और बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला, और खानेवाला—ये सभी पापी हैं। अन्यत्र (मनु० २।१५२) मनु कहते हैं—'वर्जयेन् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।' अर्थात्—मांस, मदिरा और सब प्रकार की हिंसा का परित्याग कर दे। इस प्रकार मांस और मदिरा का स्पष्ट निषेध करनेवाले मन्वादि ऋषि उनके सेवन को निर्दोष कैसे घोषित कर सकते थे? निश्चय ही इस प्रकार के सभी वचन स्वार्थी लोगों द्वारा प्रक्षिप्त हैं।

अश्वमेधादि—जब यज्ञों के नाम पर पशुहिंसा का प्रचलन हुआ तो अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि की कल्पना की गई और विभिन्न पशुयागों का ब्राह्मणों और सूत्रग्रन्थों में विस्तृत निरूपण किया जाने लगा। यज्ञों के निहितार्थ को न समझकर पशुओं को मार-मारकर यज्ञकुण्डों में उनकी आहुतियाँ दी जाने लगीं। धीरे-धीरे यज्ञों के नाम पर अनाचार इतना बढ़ा कि वैदिक मन्त्रों का बलात् विनियोग यज्ञों में और उनके माध्यम से पशुहिंसा में होने लगा। महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः । येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
सुरां मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् । धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते ॥

अर्थात्—पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न-पशु से ही यज्ञ करते थे। मद्य-मांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है, वेदों में यह कहीं नहीं है।

वेदों में तो यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषणरूप में अध्वर शब्द का प्रयोग दस-बीस नहीं सैकड़ों स्थानों पर पाया जाता है। निघण्टुपठित 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है। अध्वर में उसका निषेध है, अर्थात् 'नञ्पूर्वक ध्वृ' धातु से अध्वर शब्द निष्पन्न हुआ है। अध्वर शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य ने लिखा है—'अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' (निरुक्त १।८)

'मेधृ' धातु के 'मेधृ संगमे हिंसायां च' इस धातुपाठ के अनुसार शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा—ये तीन अर्थ हैं। परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या के विधान की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं, जिनमें स्पष्टतः पशुरक्षा का निर्देश किया है। यजुर्वेद के प्रारम्भ में (१।१) ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है—'पशून्पाहि' पशुमात्र की रक्षा करो। इसी मन्त्र में 'गौ' को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद (६।११) में पति-पत्नी को आदेश दिया है—'पशूंस्त्रायेथाम्' पशुओं की रक्षा करो। वहीं १४।८ में कहा है—'द्विपादव चतुष्पात् पाहि' अर्थात् दो पैरोंवाले (मनुष्यादि) तथा चार पैरोंवाले (पश्वादि) की रक्षा करो। यजुर्वेद में पशओं के मारे जाने पर प्रतिबन्ध लगाते हुए कहा है—मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। यजुः० १२।३२; इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् । १३।४७; गा मा हिंसीरदितिं विराजम् । १३।४३; घृतं दुहानामदितिं जनाय… मा हिंसीः १३।४६; अन्तकाय गोघातम् । ३०।१८; इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । १३।४८। ऋग्वेद (१।११४।१०) में गोवध को मनुष्यवध जैसा अपराध घोषित करते हुए

सुखकारक होते हैं', परन्तु इन सत्य अर्थों को वे मूढ़ नहीं समझते थे। क्योंकि जो स्वार्थबुद्धि होते हैं, वे केवल अपने स्वार्थ करने के दूसरा कुछ भी नहीं जानते-मानते।

मारनेवाले के लिए प्राणदण्ड का विधान किया गया है। अथर्ववेद (१।१६।४) में गौ, अश्व और पुरुष की हत्या करनेवालों को समानरूप से गोली से उड़ा देने का आदेश दिया है।

शतपथब्राह्मण में कहा है—'राष्ट्रं वा अश्वमेधः, वीर्यं वा अश्वः' (१३।१।१६)। प्रथम अर्थ के अनुसार राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए योजनाबद्ध प्रयास करने को अश्वमेध कहते हैं। इस सन्दर्भ में घोड़े को मारकर उसकी बलि देने अथवा रानी से सम्भोग करने विषयक महीधर का किया गया अश्लील और हिंसापरक अर्थ कैसे संगत हो सकता है? 'वीर्यं वा अश्वः' के अर्थ में अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है। तब अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के बलवीर्य की वृद्धि करना शास्त्रानुमोदित है। 'मेधृ' धातु के संगमनार्थ को लेकर मनुष्यों को उत्तम कार्यों के लिए संगठित करना नृमेध के अन्तर्गत है। मनुस्मृति (३।७०) में नृयज्ञ की व्याख्या 'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्' कहकर की गई है। यज्ञ में मनुष्य की बलि न देकर उत्तम विद्वानों की पूजा करना भी नृयज्ञ है। ग्रन्थकार पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वैदिक यज्ञों के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करके लोकोपकारक शुद्ध, सात्त्विक रूप प्रदान किया और निरीह प्राणियों की रक्षा की।

मन्त्रपाठ का प्रयोजन—मन्त्रपाठ इसलिए नहीं किया जाता कि उनमें अश्वमेधादि का विधान किया है। मन्त्रपाठ के प्रयोजन के विषय में ग्रन्थकार ने तृतीय समुल्लास में लिखा है—"मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने से लाभ विदित हो जाएँ और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें, वेद पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।" दाक्षिणात्य ब्राह्मणों ने अर्थज्ञान के बिना वेदों को कण्ठस्थ कर जिस प्रकार वेदों की रक्षा की है, उसके लिए कौन उनके प्रति नतमस्तक नहीं होगा? 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'—यदि उनके कण्ठ में वेद सुरक्षित न रहते तो आज कौन वेदों पर भाष्य करता और कौन उनपर प्रवचन करता? यदि मन्त्रपाठ की उपयोगिता न होती तो ब्राह्मणों ने अपने प्राण देकर भी उनकी रक्षा न की होती और 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयः' के अनुसार बिना किंचित् लाभ के वेदों के पठन-पाठन में सारा जीवन न लगाया होता।

यज्ञ के निमित्त गोवध—'होम करने से पशु स्वर्ग में जाता है' यह भ्रान्त धारणा जनसाधारण में ही, तथाकथित (पौराणिक) विद्वानों के भीतर अभी तक भी जड़ जमाये बैठी है। २२ जनवरी १९८१ को सरदार वल्लभभाई पटेल के जन्मस्थान करमसद में ठहरे हुए कांचीकामकोटिपीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती से हमने भेंट की। उन दिनों सरकार से गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए केन्द्रीय कानून बनाने की माँग की। हमने जगद्गुरु जी से अपनी ओर से एक इस प्रकार का वक्तव्य प्रसारित करने का अनुरोध किया जिससे इस माँग को मनवाने में सहायता मिले। शंकराचार्य जी का उत्तर था कि हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि 'हिन्दू शास्त्रों में गोमांस खाने का विधान नहीं है।' जब मैंने इसे स्पष्ट करने के लिए कहा तो वे बोले—"वेदादि शास्त्रों में यज्ञ के निमित्त गोवध का स्पष्ट विधान है। यज्ञ में आहुति देने के लिए गोवध का निषेध कहीं नहीं है, सर्वत्र उसका प्रतिपादन किया गया है। शास्त्रों में ऐसा गौ के हित में किया गया है, क्योंकि यज्ञ में आहुति देने के लिए मारी गई गौ को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। शास्त्रों में जहाँ कहीं गोवध का निषेध है वह मांस खाने के लिए गोहत्या न करने के उद्देश्य से है।"

[पोपों के अनाचार से बौद्ध-जैन मत का प्रादुर्भाव]

जब इन पोपों का ऐसा अनाचार देखा, और दूसरा मरे का तर्पण श्राद्धादि करने को देखकर एक महाभयङ्कर वेदादिशास्त्रों का निन्दक बौद्ध व जैनमत प्रचलित हुआ है। सुनते हैं कि एक इसी देश में गोरखपुर का राजा था। उससे पोपों ने यज्ञ कराया। उसकी प्रिय राणी का समागम घोड़े के साथ कराने से उसके मर जाने पर पश्चात् वैराग्यवान् होकर अपने पुत्र को राज्य दे साधु हो पोपों की पोल निकालने लगा।

बौद्ध व जैन मत का उदय—इस प्रकार वेदों के नाम पर प्रचलित यज्ञ, श्राद्ध, कर्मकाण्ड, पाखण्ड तथा वामाचार का विरोध करने तथा वर्णव्यवस्था के विकृत रूप, जाति-व्यवस्था के प्रतिकार हेतु वैदिक मान्यताओं के प्रबल विरोधी चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि लोकायत मतों का जन्म हुआ। वामाचार जैसे दूषित कृत्यों से त्रस्त जनसाधारण ने इस विचारधारा का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। जैन-बौद्ध मान्यताओं की व्यापक लोकप्रियता के कुछ स्पष्ट कारण थे। ये सम्प्रदाय ब्राह्मणों के धर्म और समाज पर उनके अनुचित वर्चस्व और प्रभुत्व का एकान्त विरोध करते थे। ब्राह्मणों की तानाशाही से पीड़ित निम्न वर्गों की उन्हें सहज सहानुभूति मिली। इन विचारधाराओं में ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, मोक्ष आदि परोक्ष तत्त्वों के सम्बन्ध में ऊहापोह न करके सामान्य नैतिक एवं सहज अनुष्ठेय नियमों व आदर्शों पर ही अधिक जोर दिया गया। संस्कृत के स्थान पर तात्कालिक लोकभाषा पालि को प्रचार का माध्यम बनाया। इस प्रकार पारलौकिक चिन्तन की क्लिष्ट कल्पनाओं तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता तथा अतिवादिताओं से बचकर जैन-बौद्ध धर्म के उन्नायकों ने मध्यम मार्ग को अपनाया जो सबके लिए सहज ग्राह्य और अधिक आकर्षक और उत्साहवर्धक सिद्ध हुआ।

अश्लील मूर्त्तियाँ—जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, खजुराहो आदि मन्दिरों की दीवारों पर जो कामोत्तेजक अश्लील मूर्त्तियाँ हैं, उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क कल्पित किए जाते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये सब मूर्त्तियाँ उसी युग की देन हैं जब वाममार्ग का बोलबाला था और अश्लीलता धर्म का आवश्यक अंग—साधना का माध्यम मानी जाती थी। वाममार्ग के उसी युग में मूर्त्तियों की षोडशोपचार पूजा, देवदासियों की प्रथा, अवतारवाद, राधा और कृष्ण की प्रेमलीला, अष्टधा भक्ति, नाम-संकीर्तन आदि की पौराणिक कल्पनाओं का विकास हुआ। आज भी उन्हें धर्म का अंग माना जाता है। वही पौराणिक धर्म का स्वरूप है।

आधुनिक भैरवी चक्र—आधुनिकता के नाम पर होटलों और क्लबों में आज जो कुछ हो रहा है, वह वाममार्ग का ही परिष्कृत रूप है। कैबरे डांसर, काल गर्ल, सोसायटी गर्ल, गर्ल फ्रेंड्स आदि भैरवियों के विभिन्न नाम-रूप हैं और वहाँ रात्रि बितानेवाले भैरव हैं। कुछ वर्ष पूर्व ब्रिटेन में और कुमारी कीलर के काण्ड ने एक बार तो ब्रिटिश शासन को हिलाकर रख दिया था। उस काण्ड का विवरण पढ़ने से वाममार्गियों के भैरवी चक्र की तस्वीर सामने आ जाती है। शहर से दूर लॉर्ड ऐस्टर की क़िलानुमा जागीर में निर्मल जल से भरा तालाब, उस तालाब में मछलियों की तरह तैरती हुई नग्न सुन्दरियाँ और उनके साथ तैरते हुए विभिन्न मन्त्री, लॉर्ड तथा अन्यान्य विशिष्ट पुरुष (जिनमें पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल अयूबखाँ का नाम विशेषत: चर्चित था) - फिर शानदार डिनर, शराब परोसती हुई नग्न युवतियाँ और युवक, फिर कीलर का नग्नावस्था में मद्य स्नान, फिर कीलर को कपड़े पहनाने के इच्छुक लोगों में से किसी एक का चुनाव, फिर जिस मद्य में कीलर ने स्नान किया था उसका प्रसाद की भाँति वितरण और अन्ततः सबका स्वैराचार—यह सब भैरवी-चक्र का आधुनिक संस्करण

इसी की शाखारूप चारवाक और आभाणक मत भी हुआ था। उन्होंने इस प्रकार के श्लोक बनाये है—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते ॥१॥
मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्। गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥२॥

जो पशु मारकर अग्नि में होम करने से पशु स्वर्ग को जाता है, तो यजमान अपने पिता आदि को मारके स्वर्ग में क्यों नहीं भेजते ॥१॥

जो मरे हुए मनुष्यों की तृप्ति के लिए श्राद्ध और तर्पण होता है, तो विदेश में जानेवाले मनुष्य को मार्ग का खर्च खाने-पीने के लिए बांधना व्यर्थ है ॥२॥

क्योंकि जब मृतक को श्राद्ध-तर्पण से अन्न-जल पहुँचता है, तो जीते हुए परदेश में रहनेवाले वा मार्ग में चलनेहारों को घर में रसोई बनी हुई का पत्तल परोस, लोटा भरके उसके नाम पर रखने से क्यों नही पहुँचता ? तो जीते हुए दूरदेश अथवा दश हाथ पर दूर बैठे हुए को दिया हुआ नहीं पहुँचता, तो मरे हुए के पास किसी प्रकार नहीं पहुँच सकता।

नहीं तो क्या है ? कुछ समय बाद इसी की पुनरावृत्ति की चर्चा पामेला बोर्डेस नामक एक भारतीय युवती को लेकर हुई थी। किंचित् स्थानीय भेद के साथ इस समय सारा मानव-समाज इन प्रवृत्तियों में लिप्त है।

पशुश्चेन्निहतः— हरिभट्टसूरिकृत सर्वदर्शनसंग्रह चार्वाक-प्रकरण तुलनीय—

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदिष्यते। स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ॥
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः। कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेन्नु प्रवासिनः ॥

—विष्णुपुराण ३।१८।२७-२८

बौद्धमत कभी इस देश में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि राजा-रंक सभी इसके अनुयायी बनने में गौरव अनुभव करने लगे। परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध मत का वह क्रान्तिकारी रूप लुप्त होने लगा। बुद्ध के प्रायः एक सहस्र वर्ष पश्चात् नाना सम्प्रदायों में विभक्त होकर बौद्धमत इतना जीर्ण-शीर्ण, व्यामिश्रित और अनाचार-प्रधान हो गया कि बुद्ध ने जिस आचार पर इतना अधिक बल दिया था, वह अतीत की बात होकर रह गया। हिन्दुओं में भी उस समय जो नाना सम्प्रदाय उभरे वे बौद्धों की उसी अनाचार-प्रधानता से प्रभावित थे।

आगे चलकर बौद्धमत अपरिवर्त्तनवादी हीनयान और परिवर्त्तनवादी महायान धाराओं में रूपान्तरित हो गया। हीनयान आडम्बर के विरुद्ध था और धर्म की शुद्धता का पक्षपाती था। इसके विपरीत महायान आडम्बर और समयानुसार परिवर्त्तन का पक्षपाती था। महायान में विपुल आडम्बर के साथ शोभायात्रा निकालना, बड़े-बड़े मन्दिर और विशाल विहार तथा चैत्य बनवाना अपेक्षित था। बौद्धों का महायान ही मन्दिर और मूर्त्ति प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म का पूर्वरूप है। बुद्ध की सबसे पहली मूर्त्ति कदाचित् यूनानियों के सम्पर्क से गान्धार देश के लोगों ने बनाई थी। आज भी बुद्ध की पुरानी मूर्त्तियाँ अफ़ग़ानिस्तान और ईरान में पाई जाती हैं। वहाँ के लोगों ने बुद्ध को अपनी भाषा में बुत कहा, यह 'बुत' शब्द मूर्ति का पर्यायवाची है। बौद्धों की देखादेखी पीछे हिन्दुओं ने भी अपने अवतारों की कल्पना करके उनकी मूर्त्तियाँ और मन्दिर बनवाने प्रारम्भ कर दिए। इस काल से पूर्व कहीं भी मन्दिर या मूर्त्ति का वर्णन नहीं मिलता। यह लगभग ईसवी सन् के आरम्भ की और कनिष्क के समय की बात है।

परन्तु कालान्तर में ये श्रमण-धर्म भी सर्वथा दोषमुक्त न रहे। तथाकथित ब्राह्मण-धर्म की भाँति नाना पाखण्डों का प्रवेश हो गया। वेदार्थ के तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण वेदों की निराधार

[बौद्ध-जैन मत की वृद्धि]

उनके ऐसे युक्तिसिद्ध उपदेशों को लोग मानने लगे, और उनका मत बढ़ने लगा। जब बहुत-से राजा भूमिये उनके मत में हुए, तब पोपजी भी उनकी ओर झुके। क्योंकि इनको जिधर गपफा अच्छा मिले वहाँ चले जाएँ। झट जैन बनने चले। जैन में भी और प्रकार की पोपलीला बहुत है, सो १२वें समुल्लास में लिखेंगे। बहुतों ने इनका मत स्वीकार किया। परन्तु कितनेक ही जो पर्वत, काशी, कन्नौज पश्चिम-दक्षिण देशवाले थे, उन्होंने जैनों का मत स्वीकार नहीं किया था।

[जैनियों द्वारा आर्यों का उत्पीड़न, और वेदादि का नाश]

वे जैनी वेद का अर्थ न जानकर बाहर की पोपलीला को भ्रान्ति से वेद पर आधृत मानकर वेदों की भी निन्दा करने लगे। उसके पठनपाठन, यज्ञोपवीतादि और ब्रह्मचर्यादि नियमों को भी नाश किया। जहाँ जितने पुस्तक वेदादि के पाये नष्ट किये। आर्यों पर बहुत-सी राजसत्ता भी चलाई, दुःख दिया। जब उनको भय-शङ्का न रही, तब अपने मतवाले गृहस्थ और साधुओं की प्रतिष्ठा, और वेद-मार्गियों का अपमान और पक्षपात से दण्ड भी देने लगे। और आप सुख-आराम और घमण्ड में आ फूलकर फिरने लगे।

आलोचना में प्रवृत्त होने लगे। वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोध करने, अनधिकारी व्यक्तियों को गृहस्थधर्म से विरत कर श्रमण-धर्म में दीक्षित करने आदि के कारण भारतीय समाज-व्यवस्था को आघात पहुँचा। वेदाध्ययन, यज्ञोपवीत, यज्ञ आदि की अत्यधिक निन्दा से चिरकाल से पोषित धार्मिक भावना को ठेस पहुँची। इन मतों में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के लिए स्थान नहीं था, इसलिए उसके स्थान पर तीर्थंकरों तथा बोधिसत्त्वों आदि को ईश्वर मानकर यत्र-तत्र उनकी प्रतिमाओं की पूजा होने लगी और जड़ संस्कार पनपने लगे। परिणामतः जिस देश में बौद्धमत ने जन्म लिया था उसी देश में वह नामशेष हो गया।

जिस समय देश में सर्वत्र जैन-बौद्ध आदि अवैदिक नास्तिक विचारों का बोलबाला था, श्रमण-सम्प्रदायों द्वारा उपदिष्ट मिथ्या वैराग्य के वशवर्ती होकर भारतवासी अकर्मण्य, निर्वीर्य तथा हीनसत्त्व हो रहे थे और वर्णाश्रम-मर्यादा के लुप्त हो जाने के कारण समाज में सर्वत्र अनाचार, दुराचार और अराजकता का साम्राज्य था, तब दक्षिण के केरल प्रदेशान्तर्गत कालड़ी ग्राम में शिवगुरु नाम के एक ब्राह्मण के यहाँ शंकराचार्य का जन्म हुआ। अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठाता, महान् दार्शनिक तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धारकर्त्ता शंकराचार्य का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"बाईस सौ वर्ष हुए कि·· सोचने लगे।" ग्रन्थकार ने जब यह पंक्ति लिखी थी उसे अब (सम्वत् २०४६ विक्रमी) लगभग एक सौ पन्द्रह वर्ष हो गये हैं। हम इसे स्थूलरूप से एक शताब्दी मान लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि विक्रम-सम्वत् के प्रारम्भ होने से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ। ग्रन्थकार का यह कथन कुछ आगे चलकर लिखी उनकी इस पंक्ति से पुष्ट होता है, "शंकराचार्य के तीन सौ वर्ष पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ।" यहाँ शंकर और विक्रमादित्य के काल का अन्तर स्पष्ट उल्लिखित है। ग्रन्थकार के अनुसार यह वही विक्रमादित्य है जिसका सम्वत् आजकल २०५० चल रहा है।

शंकराचार्य के जीवन तथा उनके धर्मप्रचार एवं शास्त्रार्थ आदि का विस्तृत विवरण माधवाचार्य-कृत 'शंकर-दिग्विजय' में उपलब्ध है। शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद तथा दादागुरु गौड़पादाचार्य थे। सर्वप्रथम गौड़पाद ने ही माण्डूक्योपनिषद् पर कारिकायें लिखकर अद्वैतवाद की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। शंकराचार्य ने उसी को नाना युक्तियों तथा तर्कों से पुष्ट किया। उन्होंने प्रस्थानत्रयी—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर विस्तृत भाष्य लिखे। शंकराचार्य की अद्भुत तर्कशक्ति ऐसी प्रबल थी कि वे अपने सिद्धान्तों की छाप, न केवल समकालीन, अपितु आनेवाले युग पर भी छोड़ने में सफल हो सके।

ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्यन्त अपने तीर्थंकरों की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ बनाकर पूजा करने लगे। अर्थात् पाषाणादि मूर्त्तिपूजा की जड़ जैनियों से प्रचलित हुई। परमेश्वर का मानना न्यून हुआ, पाषाणादि मूर्त्तिपूजा में लगे। ऐसा तीन सौ वर्ष पर्यन्त आर्यावर्त्त में जैनों का राज रहा। प्रायः वेदार्थ-ज्ञान से शून्य हो गये थे। इस बात को अनुमान से अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत हुए होंगे।

[शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव]

बाईस सौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड़देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि—अहह ! सत्य आस्तिक वेदमत का छूटना, और जैन नास्तिकमत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है। इनको किसी प्रकार हटाना चाहिए। शङ्कराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे; और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी। उन्होंने विचारा कि इनको किस प्रकार हटावें ? निश्चय हुआ कि उपदेश और शास्त्रार्थ करने से ये लोग हटेंगे।

[जैन मत के निराकरण का प्रयत्न]

ऐसा विचारकर उज्जैन नगरी में आये। वहाँ उस समय सुधन्वा राजा था, जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ जाकर वेद का उपदेश करने लगे और राजा से मिलकर कहा कि आप संस्कृत और जैनियों के भी ग्रन्थों को पढ़े हो, और जैन मत को मानते हो। इसलिए आपको मैं कहता हूँ कि जैनियों के पण्डितों के साथ मेरा शास्त्रार्थ कराइए, इस प्रतिज्ञा पर कि 'जो हारे सो जीतने-वाले का मत स्वीकार कर ले। और आप भी जीतनेवाले का मत स्वीकार कीजियेगा।'

शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती आचार्य बोधायन ने वेदान्त-सूत्रों पर विस्तृत व्याख्या लिखी थी। रामानुज ने भी उसी बोधायनवृत्ति के आधार पर अभेदवाद का खण्डन करते हुए अपना भाष्य लिखा था—"भगवद्-बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपु तन्मतानुसरेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते।" परन्तु शंकराचार्य ने अपने ही विचारों के अनुसार वेदान्त-सिद्धान्त की व्याख्या की तथा अपने से पूर्ववर्त्ती वेदान्तदर्शन की भेदवादी व्याख्याओं को निरस्त कर एक ब्रह्मवाद की स्थापना की।

शंकराचार्य का प्रादुर्भाव-काल—इस विषय में आधुनिक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विवेचन किया है, पर अभी तक कोई ऐसा निर्णय सामने नहीं आया, जिसमें इस विषय के प्राचीन अभिलेखों का परस्पर सामंजस्य प्रस्फुटित किया जा सके। आधुनिक विद्वानों ने जो विभिन्न विचार इस विषय में प्रस्तुत किये है, उनका भी प्राचीन लेखों में कुछ-न-कुछ आधार मिल जाता है, जिससे किसी भी जिज्ञासु के सन्देह की निवृत्ति के स्थान पर उसकी मात्रा और दृढ़ हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वान् शंकर का काल ईसा की आठवीं शताब्दी निश्चित करते हैं। इस काल की पुष्टि R. M. Umesh द्वारा लिखित 'Shankara's Date' में की गई है। इसके पोषक तथ्यों तथा तर्कों को यहाँ प्रस्तुत करना और उनकी समीक्षा करना प्रस्तुत ग्रन्थ के कलेवर को बढ़ाना होगा। परन्तु सत्यार्थ-प्रकाश के रचयिता द्वारा निर्धारित काल में और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निश्चित काल में ग्यारह-बारह सौ वर्ष का अन्तर है। इसलिए ग्रन्थकार के द्वारा निर्धारित काल का क्या आधार रहा होगा— इसपर विचार किया जाना आवश्यक है।

इस समय हमारे समक्ष इस विषय का विवेचन करनेवाले दो ग्रन्थ है—

१. The Age of Shankara by T. S. Narayana Sastry—यह ग्रन्थ हमें सन् १९८२ में स्वयं कांची कामकोटिपीठ के शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती ने भेंट किया था। इसके अनुसार आदिशंकर का जन्मकाल ईसापूर्व ५०९ में और निधन ईसापूर्व ४७६वें वर्ष में ठहरता है।

२—वेदान्तदर्शन का इतिहास—लेखक आचार्य उदयवीर शास्त्री।

यद्यपि सुधन्वा जैनमत में थे, तथापि संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ने से उनकी बुद्धि में कुछ विद्या का प्रकाश था। इससे उनके मन में अत्यन्त पशुता नहीं छाई थी। क्योंकि जो विद्वान् होता है वह सत्याऽसत्य की परीक्षा करके सत्य का ग्रहण और असत्य को छोड़ देता है। जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था, तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है ? जब शङ्कराचार्य की यह बात सुनी तो बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ कराके सत्याऽसत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे।

[जैन विद्वानों से शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ]

जैनियों के पण्डितों को दूर-दूर से बुलाकर सभा कराई। उसमें शङ्कराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था। अर्थात् शङ्कराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन और जैनियों का खण्डन, और जैनियों का पक्ष अपने मत का स्थापन और वेद का खण्डन था। शास्त्रार्थ कई दिनों तक हुआ। जैनियों का मत यह था कि—'सृष्टि का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं, यह जगत् और जीव अनादि हैं।

इन दोनों ग्रन्थों में उपस्थित प्रमाणों से सत्यार्थप्रकाश के रचयिता के मत की पुष्टि होती है। ऋषि दयानन्द ने संन्यास की दीक्षा उसी परम्परा में ली, जो शंकराचार्य तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा आज तक प्रवर्त्तित है। प्रत्येक संन्यासी दीक्षा के समय और अन्य विशिष्ट अवसरों पर उस गुरु-परम्परा का ऐसे ही स्मरण करता है, जैसे भारत में प्रत्येक शुभ अवसर पर संकल्प पढ़े जाने की प्रथा है। उसमें आद्य शंकराचार्य के काल का संकेत तथा पूर्ववर्त्ती गुरुओं की नामावली का उच्चारण किया जाता है। यह परम्परा इतनी अविच्छिन्न है कि इसमें किसी भ्रान्ति की आशंका नहीं हो सकती। प्रत्येक दण्डी संन्यासी के मुख से जिसने उस परम्परा में संन्यास की दीक्षा ली है, इसको सुना जा सकता है। ऋषि दयानन्द उस परम्परा से सर्वथा परिचित थे।

इसके अतिरिक्त आचार्य के मठों की वंश-परम्परा प्रायः मठों में सुरक्षित है। आद्य शंकराचार्य ने अपने विचारों के प्रचार-प्रसार और स्थैर्य बनाये रखने के लिए देश की चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। उस पीठ पर बैठनेवाला प्रत्येक व्यक्ति शंकराचार्य कहा जाता है। द्वारिका, शृङ्गेरी, गोवर्द्धन और ज्योतिर्मठ के गुरु-शिष्यों की परम्परा की सूची आद्यशंकराचार्य से लेकर आजतक मठों में अविच्छिन्न रूप में सुरक्षित है। उन सूचियों में प्रत्येक आचार्य के गद्दी पर बैठने के पूरे काल का निर्देश है। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि कौन आचार्य किस सम्वत् में गद्दी पर बैठा और कब ब्रह्मलीन हुआ। प्रारम्भ में युधिष्ठिर-संवत् का प्रयोग किया गया है। द्वारिकापीठ के आचार्यों की ऐसी एक सूची 'सरस्वती छापाखाना, स्टेशन रोड, भावनगर' से प्रकाशित हुई थी, जो आचार्य उदयवीर जी के पास सुरक्षित थी। उसे हम यहाँ अविकल रूप से प्रकाशित कर रहे हैं—

"युधिष्ठिरशके २६३१ वैशाखशुक्लपञ्चम्यां श्रीमच्छङ्करावतारः। २६३६ चैत्रशुक्लनवम्यामुपनयनम्। २६३९ कार्तिकशुक्लैकादश्यां चतुर्थाश्रमस्वीकारः। २६४० फाल्गुनशुक्लद्वितीयायां श्रीमद्गोविन्द भगवत्पादाचार्याणां सकाशादुपदेशः। ततः आरभ्य २६४६ ज्येष्ठवद्यामावास्यापर्यन्त बदर्याश्रमे षोडश-भाष्यप्रणयनं श्रीनारायणप्रतिष्ठा ज्योतिर्मठनिर्माणं च। २६४७ कार्तिकशुक्लाष्टम्यां श्रीमद्बादरायणाचार्यैः सह वाराणस्यां ब्रह्मविद्यारहस्यप्रचारः। सनन्दनाचार्याणां समाश्रयश्च। २६४७ मार्गशीर्षवद्यतृतीयायां श्रीमन्मण्डनमिश्रैः साकं वादारम्भः। २६४८ चैत्रशुक्लचतुर्थ्यां मण्डनपराजयः। २६४८ चैत्रशुक्लषष्ठ्यां सरस्वत्या सह कलाप्रसङ्गः। २६४८ चैत्रवद्याष्टम्यां अमरुकशरीरप्रवेशः, कार्तिकशुक्लत्रयोदश्यां निजदेहप्रवेशः। २६४८ कार्तिकवद्यप्रतिपदि भारतीपराजयः। २६४८ कार्तिकवद्यप्रतिपदि

वियन्मार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छन्त्यास्तस्याः चिन्तामणिमन्त्रेण द्वारवत्यामाकर्षणम् । २६४८ कार्तिकवद्य-पञ्चम्यांत त्र तस्याः स्थापनम् । २६४८ कार्तिकवद्यत्रयोदशीमारभ्य दशमीपर्यन्तं शारदामठनिर्माणं बौद्धादिपराजयः । रुद्रमालाकारेण भगवदालयनिर्माणम् । यादवेन्द्रप्रतिष्ठा । सिद्धेश्वरस्यालयप्रतिष्ठापनम्, भद्रकालीयन्त्रोद्धारश्च । २६४८ फाल्गुनशुक्लनवम्यां वैधव्यभिया पुनः कलाष्टकरूपेणाकाशमार्गमवलम्ब्य ब्रह्मलोकं गच्छन्त्यास्तस्यास्तेनैव मन्त्रेण शृङ्गपुर्यामाकर्षणम् । मठं निर्माय तत्र पुनस्तस्याः स्थापनं च ॥ २६४९ चैत्रशुक्लपक्षनवम्यां श्रीमन्मण्डनमिश्रस्योत्तमाश्रमग्रहणम्, सुरेश्वराचार्य इति योगपट्टश्च । २६४९ मार्गशीर्षशुक्लदशम्यां सुधन्वनो राज्ञः शिष्यत्वेन समाश्रयः । २६४९ माघशुक्लसप्तम्यां श्रीमत्सुरेश्वरा-चार्याणां शारदापीठाभिषेचनम् । २६५० वैशाखशुक्लतृतीयामारभ्य दिग्विजयमहोत्सवारम्भः । तदन्तराले हि २६५३ श्रावणशुक्लसप्तम्यां तथा आश्विनशुक्लैकादश्यां त्रोटकहस्तामलकयोः समाश्रयः । २६५४ पौषशुक्लपौर्णमास्यां हस्तामलकाचार्याणां शृङ्गपुरपीठाभिषेचनम् । तद्दिन एव त्रोटकाचार्याणां ज्योतिर्मठा-भिषेचनसङ्केतः । २६५५ वैशाखशुक्लदशम्यां दिग्विजयान्तराले पुरुषोत्तमक्षेत्रं प्रति गमनम् । तत्र दारुमयस्य जगदीशस्य प्रतिष्ठापनं तत्क्षेत्रमर्यादाप्रबन्धः । गोवर्धनमठस्थापनम्, पद्मपादाचार्याणां तत्पीठाभिषेचनं च । २६५५ भाद्रशुक्लपूर्णिमामारभ्य २६६२ पौषकृष्णामावास्यापर्यन्तमविच्छिन्न-दिग्विजयमहोत्साहो बौद्धादिद्वात्रिंशदुत्तरैकसहस्रमतानामुपमर्दनम् । सुधन्वप्रमुखान् हि राज्ञः प्रति सम्यक् प्रजापालनाद्याज्ञापनम् । अनादिवर्णाश्रमविहितवैदिकधर्ममर्यादाव्यवस्थापनम् । निखिलयोगमाहात्म्यप्रकट-नम् । अशेषजनरञ्जनम् । एवं भूलोकसमुद्धारः । ततः काश्मीरमण्डले शारदापीठवासः । तदनु २६६३ कार्तिकशुक्लपूर्णिमायामशेषजगदुद्धारका भगवन्तो महेश्वरापरावतारश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादाः ब्रह्मादिदेवतागणसंप्रार्थिताः सन्तो निजदेहेनैव विमानारूढश्रीशैलब्धं निजधजः सीसलिति ॥" अर्थात् २६३१ युधिष्ठिरसंवत् वैशाखशुक्ल पंचमी में श्रीमत्शङ्कर का अवतार=जन्म । २६३६ चैत्र शुक्ल नवमी में यज्ञोपवीत । २६३९ कार्तिक शुक्ल ११ में संन्यास । २६४० फाल्गुन शुक्ल २ को श्रीगोविन्द-भगवत्पाद से उपदेश । तब से लेकर २६४६ ज्येष्ठ वदि अमावास्या तक वदरिकाश्रम में सोलह भाष्यों की रचना, नारायण को स्थापना और ज्योतिर्मठ का निर्माण । २६४७ कार्तिक शुक्ल ८ में बनारस में श्रीबादरायणाचार्य के साथ ब्रह्मविद्या के रहस्य का विचार तथा सनन्दनाचार्य का सेवा में आना । २६४७ मार्गशीर्ष वदि ३ में श्रीमण्डनमिश्र के साथ शास्त्रार्थ आरम्भ । २६४८ चैत्र शुक्ल ४ में मण्डन-मिश्र का पराजय । चैत्र शुक्ल ६ में मण्डनमिश्र की धर्म्मपत्नी के साथ कामकलादि का विचार । चैत्र वदि ८ में अमरुक के शरीर में प्रवेश । कार्तिक शुक्ल १३ में पुनः निज देह में प्रवेश । २६४८ कार्तिक वदि १ को मण्डनमिश्र की धर्म्मपत्नी का पराजय । २६४८ कार्तिक वदि १ को आकाशमार्ग से ब्रह्मलोक को जाती हुई मण्डनपत्नी को चिन्तामणिमन्त्र द्वारा द्वारिका में खेंचना, और कार्तिक ५ में द्वारिका में उसकी स्थापना । कार्तिक वदि १३ से आरम्भ करके दशमीपर्यन्त शारदामठ का निर्माण और बौद्धादिक को हराना । रुद्रमाली ने भगवान् का मन्दिर बनाया । यादवेन्द्र (कृष्ण) की स्थापना, सिद्धेश्वर के मन्दिर की स्थापना, भद्रकालीयन्त्र का उद्धार=मरम्मत । फाल्गुन शुक्ल ९ में वैधव्यभय से पुनः कलाष्टक के बल से आकाशमार्ग में ब्रह्मलोक को जाती हुई मण्डनपत्नी को उसी मन्त्र से खींचकर शृङ्गेरी में मठ बनाकर उसकी स्थापना । २६४९ चैत्र शुक्ल ९ में मण्डनमिश्र का संन्यास और सुरेश्वराचार्य नाम । २६४९ मार्गशीर्ष शुक्ल १० में राजा सुधन्वा शिष्य बना । २६५० वैशाख शुक्ल तृतीया से दिग्विजय-महोत्सवारम्भ । इस बीच में २६५३ श्रावण शुक्ल ७ तथा आश्विन शुक्ल ११ में त्रोटक तथा हस्तामलक का सेवा में आना । २६५४ पौष शुक्ल पूर्णिमा में हस्तामलक आचार्य को शृङ्गेरीमठ की गद्दी पर बिठाना, उसी दिन त्रोटकाचार्य को ज्योतिर्मठ की गद्दी का सङ्केत । २६५५ वैशाख शुक्ल ५ में, दिग्विजय-

इन दोनों की उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता।' इससे विरुद्ध शङ्कराचार्य का मत था कि—'अनादि-सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्त्ता है। यह जगत् और जीव झूठा है। क्योंकि उस परमेश्वर ने अपनी माया से जगत् बनाया, वही धारण और प्रलय करता है। और यह जीव और प्रपञ्च स्वप्नवत् [मिथ्या] है। परमेश्वर आप ही सब रूप होकर लीला कर रहा है।'

[शास्त्रार्थ में जैनियों का पराजय]

बहुत दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। परन्तु अन्त में युक्ति और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शङ्कराचार्य का मत अखण्डित रहा। तब उन जैनियों के पण्डित और सुधन्वा राजा ने

प्रसंग से पुरुषोत्तम क्षेत्र (जगन्नाथपुरी) को जाना, वहाँ जगदीश (जगन्नाथ) की काष्ठ की मूर्त्ति की स्थापना, और पुरुषोत्तम क्षेत्र की मर्यादा का बाँधना, गोवर्धनमठ की स्थापना, पद्मपादाचार्य को उस मठ की गद्दी पर अभिषिक्त करना। २६५५ भाद्र शुक्ल पूर्णिमा से आरम्भ करके २६६२ पौष कृष्ण अमावास्या पर्यन्त लगातार दिग्विजय का महान् उत्साह, १०३२ बौद्ध आदि मतों का खण्डन। सुधन्वा आदि राजाओं को भली प्रकार प्रजापालन का उपदेश। अनादि वर्णाश्रम से विहित वैदिकधर्म का स्थापन। योग के सम्पूर्ण महत्त्व को प्रकट करना। उसके पश्चात् काश्मीर देश में शारदापीठ में निवास। इसके पश्चात् २६६३ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को कैलासवास। इसमें स्पष्ट ही शङ्कराचार्य का जन्म २६३१ युधिष्ठिर-संवत् लिखा है। युधिष्ठिर-संवत् कलियुग से ३८ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। इस समय ५०५६ वर्ष कलिसंवत् के बीत चुके हैं। इसमें ३८ वर्ष मिलाने से युधिष्ठिर-संवत् ५०६४ बनता है। इस गणना से शङ्करजन्म को २४६३ वर्ष होते हैं। कामकोटि पीठ की गुरुपरम्परा में शङ्कराचार्य का जन्म कलि-संवत् २५६३ में लिखा है। उसमें ३८ वर्ष मिलाने से २६३१ यु० सं० निकलता है। दोनों में मतभेद नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि शङ्कराचार्य का जन्म विक्रमसंवत् के आरम्भ से बहुत पूर्व हुआ था। राजा सुधन्वा का उल्लेख भी इसमें द्रष्टव्य है। और अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य—आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत 'वेदान्त दर्शन का इतिहास'।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार शंकराचार्य का प्रादुर्भाव-काल ठीक वही निश्चित होता है, जो सत्यार्थप्रकाश में निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त अन्य मठों की आचार्यसूची पर भी परीक्षा करना अपेक्षित था। पत्र-व्यवहार तथा और अवसर पाकर एक तीर्थयात्री महात्मा से जानने का यत्न आचार्य जी ने किया। इस प्रकार इस विषय की प्रचुर सामग्री उनके पास संकलित हो गई। यह भी पता चला कि हिमालय-स्थित ज्योतिर्मठ की आचार्य-परम्परा खण्डित है। अनेक शताब्दियों तक पीठ शून्य पड़ा रहा; उतने समय वहाँ कोई आचार्य नहीं हुआ। कालान्तर में टिहरी-गढ़वाल ने उसका जीर्णोद्धार करवाया। कतिपय आचार्यों की सूची उपलब्ध हुई है, पर वह पूर्ण नहीं है। जगन्नाथपुरी के गोवर्द्धन-पीठ की सूची प्राप्त हो गई, पर उसमें आचार्यों के कार्यकाल का निर्देश नही है। दक्षिण के शृंगेरी मठ की सूची प्राप्त नहीं हो सकी, पर पीठ में सुरक्षित इस विषय के अनुसार यह ज्ञान हुआ कि शंकराचार्य का जन्म २५६३ कलि-संवत् में तथा देहावसान २६२५ कलि-संवत् में हुआ। द्वारिकापीठ की वंशावली 'श्रीशारदापीठवंशानुमातृका' नाम से प्रकाशित हुई थी, जिसे हम ऊपर अविकल रूप में दे चुके हैं। सत्यार्थप्रकाश के लेखक दण्डी संन्यासी थे और साथ ही प्रौढ़ विद्वान् थे। उन्हें संन्यासियों की परम्परा का ज्ञान न हो, अथवा अशुद्ध ज्ञान हो, यह बात सोची भी नहीं जा सकती। संन्यासी लोग प्रतिदिन अपनी गुरुपरम्परा का पाठ करते हैं जिसका नाम 'पुष्पाञ्जलि' है।

वेदमत को स्वीकार कर लिया, जैनमत को छोड़ दिया। पुनः बड़ा हल्ला-गुल्ला हुआ, और सुधन्वा राजा ने अन्य अपने इष्ट-मित्र राजाओं को लिखकर शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ कराया। परन्तु जैन का पराजय-समय[1] होने से पराजित होते गये। पश्चात् शङ्कराचार्य के सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में घूमने का प्रबन्ध सुधन्वादि राजाओं ने कर दिया और उसकी रक्षा के लिए साथ में नौकर-चाकर भी रख दिये।

[वैदिक मत का पुनरुद्धार]

उसी समय से सबके यज्ञोपवीत होने लगे, और वेदों का पठन-पाठन भी चला। दस वर्ष के भीतर सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में घूमकर जैनियों का खण्डन और वेदों का मण्डन किया। परन्तु शङ्कराचार्य के समय में जितनी मूर्त्तियाँ भूमि में से जैनियों की निकलती हैं, वे शङ्कराचार्य के समय में टूटी थीं। और जो विना टूटी निकलती हैं, वे जैनियों ने भूमि में गाड़ दी थीं कि तोड़ी न जाएँ। वे अब तक कहीं-कहीं भूमि में से निकलती हैं।

शङ्कराचार्य के पूर्व शैवमत भी थोड़ा-सा प्रचरित था, उसका भी खण्डन किया। वाममार्ग का खण्डन किया।[2] उस समय इस देश में धन बहुत था, और स्वदेशभक्ति भी थी। जैनियों के मन्दिर शङ्कराचार्य और सुधन्वा राजा ने नहीं तुड़वाये थे, क्योंकि उनमें वेदादि की पाठशाला करने की इच्छा थी।

[जैनमतानुयायियों द्वारा शङ्कराचार्य को विष-प्रदान]

जब वेदमत का स्थापन हो चुका, और विद्या-प्रचार करने का विचार करते ही थे, उतने में दो जैन ऊपर से कथनमात्र वेदमत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपटमुनि थे। शङ्कराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शङ्कराचार्य को ऐसी विषयुक्त[3] वस्तु खिलाई कि उनकी क्षुधा मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में फोड़े-फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया।

कतिपय आधुनिक लेखकों ने कलि-संवत् और युधिष्ठिर-संवत् दोनों को एक समझकर दोनों मठों के उक्त लेख में भेद बताने का प्रयास किया है। वस्तुतः युधिष्ठिर-संवत् महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने ३६ वर्ष तक राज्य किया। तदनन्तर कलि-संवत् होनेवाला है, इस भावना से राज्य त्याग युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ तपस्या के लिए हिमालय चले गये। उसके अनन्तर कलि का आरम्भ हुआ और तभी से कलि-संवत् चालू हुआ। दोनों मठों के लेखों में युधिष्ठिर और कलि-संवत् में ३८ वर्ष का अन्तर है। यह युधिष्ठिर के राज्यकाल

---

१. समय का प्रभाव विचारणीय है। —भ० द०

२. द्रष्टव्य—शङ्कर-दिग्विजय, सर्ग १५, श्लोक ६५—
'शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवैर्।
अप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम्।
मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं···नो मानहतोर्व्यधात्।'
आश्चर्य का विषय है कि शङ्कराचार्य ने जिस शैवमत का खण्डन किया था, आज उनके अनुयायी उत्तराधिकारी शङ्कराचार्य शैवमत को ही मानते हैं।

३. अभिनिवेषित अभिनिवेश नामक दो नास्तिकों ने केदारनाथ में शङ्कराचार्य को विष दिया। द्र०—ऐतिहासिक निरीक्षण, भाग २, शङ्कराचार्य प्रकरण।

[शङ्कराचार्य के उत्तराधिकारी]

तब सब निरुत्साही हो गये, और जो विद्या का प्रचार होनेवाला था, वह भी न होने पाया। जो-जो उन्होंने 'शारीरक-भाष्यादि' बनाये थे, उनका प्रचार शङ्कराचार्य के शिष्य करने लगे। अर्थात् जो जैनियों के खण्डन के लिए 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म की एकता' कथन की थी, उसका उपदेश करने लगे। दक्षिण में शृङ्गेरी, पूर्व में भूगोवर्द्धन, उत्तर में जोशी और द्वारिका में शारदा मठ बाँधकर शङ्कराचार्य के शिष्य महन्त बन और श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे। क्योंकि शङ्कराचार्य के पश्चात् उनके शिष्यों की प्रतिष्ठा होने लगी।

[क्या ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या शङ्कर का स्वमत था ?]

अब इसमें विचारना चाहिए कि जो 'जीव-ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या' शङ्कराचार्य का निज मत था, तो वह अच्छा मत नहीं। जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।[1]

और राज्यत्याग एवं कलि-आगमन के अन्तराल को प्रकट करता है। कभी-कभी एक वर्ष का अन्तर संवत् के गत और चालू रूप में निर्देश करने पर भी हो जाता है। इस प्रकार दोनों लेखों के अनुसार आचार्य शंकर का काल एक ही है। गणना करने पर स्पष्ट होता है कि सत्यार्थप्रकाश में निर्दिष्ट शंकर का प्रादुर्भाव-काल मठों की सूची में निर्दिष्ट-काल के लगभग समीप है।

शंकराचार्य का मत—"अब इसमें विचारना चाहिए ... कुछ अच्छा है" इस लेख से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार इस बात को सहन करने के लिए सर्वात्मना तैयार नहीं था कि शंकर के नाम से जो सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, वे शंकर के सर्वथा निजी मत रहे होंगे। जैनमत व बौद्धमत के खण्डन की भावना से भी ऐसा मत स्वीकार करने की सम्भावना की जा सकती है। जहाँ अनेक अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्यों के लिए ग्रन्थकार ने ऐसे पदों का प्रयोग किया है, जो कठोर प्रतीत होते हैं, चाहे उनमें वास्तविकता ही अधिक हो, वहाँ शंकराचार्य के प्रति उनके विचार कोमल और आत्मीय भावना को ध्वनित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य के प्रति उनकी आदर-भावना काफ़ी प्रबल थी। प्रस्तुत प्रसंग में लिखे गये उनके प्रथम वाक्य में इसकी झलक स्पष्ट मिलती है। यहाँ शब्द हैं—"ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर।" इस पंक्ति में शंकर के द्वारा वर्णाश्रम-व्यवस्था के पालन और सर्वशास्त्रगत वैदुष्य को उन्होंने स्वीकार किया है। फिर आगे के सन्दर्भों में शंकराचार्य द्वारा 'वेदमत की स्थापना', 'वेदमत का प्रचार' आदि पदों का निर्देश किया है। शंकर के व्यक्तित्व के विषय में उक्त भावनाओं के पोषक कतिपय अन्य सन्दर्भ इस प्रकार हैं—

१. शंकराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी।

२. वहाँ उस समय सुधन्वा राजा था, जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ (उज्जैन नगरी में) जाकर वेदोपदेश करने लगे।

---

१. अर्थात् जैनियों के 'ईश्वर नहीं है' इस मत के खण्डन के लिये 'एक ईश्वर ही है अन्य कुछ नहीं' पक्ष को शङ्कराचार्य ने स्वीकार करके यदि जैनियों के मत का खण्डन किया हो, तो कुछ ठीक है। द्र०—न्यायदर्शन ४।२।५०—'तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।'

[नवीन वेदान्तियों के मत का विवेचन]

नवीन वेदान्तियों का मत ऐसा है—

प्रश्न—जगत् स्वप्नवत्, रज्जू में सर्प, सीप में चाँदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्वनगर इन्द्रजालवत् यह संसार झूंठा है। एक ब्रह्म ही सच्चा है।

सिद्धान्ती—झूठा तुम किसको कहते हो ?

नवीन—जो वस्तु न हो और प्रतीत होवे।

सिद्धान्ती—जो वस्तु ही नहीं, उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है ?

नवीन—अध्यारोप से।

[अध्यास और अध्यारोप का लक्षण ठीक नहीं]

सिद्धान्ती—'अध्यारोप' किसको कहते हो ?

नवीन—**'वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः'**[1]। **'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'**[2]। पदार्थ कुछ और हो, उसमें अवस्तु का आरोपण करना 'अध्यास'। अध्यारोप और उसका निराकरण करना 'अपवाद' कहाता है। इन दोनों से प्रपञ्च-रहित ब्रह्म में प्रपञ्चरूप जगत् विस्तार करते हैं।

सिद्धान्ती—तुम रज्जू को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रमजाल में पड़े हो। क्या सर्प वस्तु नहीं है ? जो कहो कि रज्जू में नहीं, तो देशान्तर में और उसका संस्कारमात्र हृदय में भी है ? फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा। वैसे ही स्थाणु में पुरुष, सीप में चाँदी आदि की व्यवस्था समझ लेना। और स्वप्न में भी जिनका भान होता है वे देशान्तर में हैं और उनके संस्कार आत्मा में भी हैं। इसलिए वह स्वप्न भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के समान नहीं।

नवीन—जो कभी न देखा न सुना, जैसा कि अपना शिर कटा है, और आप रोता है। जल की धारा ऊपर चली जाती है। जो कभी न हुआ था स्वप्न में देखा जाता है। वह सत्य क्योंकर हो सके ?

---

३. जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था, तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है। जब शंकराचार्य की यह बात सुनी तो बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ करके सत्यासत्य का निर्णय अवश्य करायेंगे।

४. उसमें शंकराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था।

५. शंकराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन······था।

६. जब वेदमत का स्थापन हो चुका और विद्या का प्रचार करने का विचार करते ही थे··· शरीर छूट गया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शंकराचार्य ने अपने जीवन में जो कार्य किया, ग्रन्थकार ने उसे जैनमत के प्रतिरोध में वेदमत की स्थापना और उसके प्रचार के रूप में स्वीकार किया है। इससे शंकर के निजी व्यक्तित्व और उनके प्रचारित सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि की वास्तविकता के साथ-साथ उनके प्रति ग्रन्थकार की आस्था का भी पता चलता है। परन्तु शंकर के वैदुष्य तथा कार्य के प्रति इस प्रकार की उदात्त भावनाओं के रहते हुए भी ग्रन्थकार ने उनके उन मन्तव्यों को सर्वथा अवैदिक माना, जो आज शांकर वेदान्त के नाम से प्रचलित हैं और इस कारण उनका प्रत्याख्यान करने में संकोच नहीं किया।

---

१. वेदान्तसार खण्ड ६॥ २. अनुभूतिप्रकाश १।१८॥

वास्तविक सत्ता एकमात्र ब्रह्म की—इस तथ्य को समस्त वैदिक परम्परा एवं आर्ष साहित्य में स्वीकार किया गया है कि विश्व का रचयिता ब्रह्म है। वेदों और अन्य शास्त्रों में उस एक तत्त्व का अनेक नामों से वर्णन हुआ है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० १।१६४।४६)। पर अनेक नाम और अनेक रूपों में वर्णन होने पर भी वह सत्ता एकमात्र है। ब्रह्म और परमेश्वर के रूप में वह दो नहीं मानी जा सकती। वह सत्ता चेतन है, आनन्दस्वरूप है। ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ऐसी एकमात्र सत्ता से किसी को इन्कार नहीं। पर उस एकमात्र सत्ता के स्वीकार का यह अभिप्राय नहीं, कि उससे अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। वस्तुतः सृष्टिरचना में निमित्त कारण के रूप में, साजात्य, वैजात्य तथा स्वगत-भेद से शून्य ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है अथवा ब्रह्म के सदृश अन्य कुछ नहीं है और जहाँ जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं, वहाँ ब्रह्म सदा से एक है—न दो हैं, न तीन, आदि-आदि।

शांकर वेदान्त के अनुसार जीव एवं जगत् आदि की प्रतीति अध्यारोप अथवा अध्यास के कारण होती है। ब्रह्म में जीव आदि का अध्यारोप होने से जीवादि का अस्तित्व भासता है, वास्तविक सत्ता इनकी कुछ नहीं है। शंकराचार्य ने अध्यास का लक्षण किया है—'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।' अन्यत्र (शा० भा० उपोद्घात) उनका कथन है—'अध्यासो नाम सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति—शुक्तिका हि रजतवदवभासते' अर्थात्—'अन्य में अन्य के धर्म की प्रतीति' इस लक्षण का व्यभिचार नहीं है—शुक्ति ही रजत के समान प्रतीत होती है। शंकर एक बार फिर लिखते हैं—'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचम्।' अर्थात् अन्य में अन्य की बुद्धि अध्यास है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं। इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं—रस्सी में साँप की, सीप में चाँदी की और बालू में जल की। परन्तु यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उससे भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं तो अन्य में अन्य का आभास या अन्य में अन्य की बुद्धि आदि कथन कैसे किया जा सकता है? 'कुछ' का 'कुछ' तब तक नहीं दीख सकता जब तक 'दो कुछ' न हों।

शंकराचार्य ने रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से जगत् की पहेली को सुलझाने का प्रयास किया। परन्तु सुलझने के स्थान पर यह समस्या और उलझकर रह गई। वस्तुतः अध्यास के स्वरूप को न समझकर ही इन दृष्टान्तों का दुरुपयोग हुआ है। अध्यास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति और परत्र। हमने कभी वास्तविक सर्प को प्रत्यक्ष देखा—यह हमारा 'पूर्वदृष्ट' है। हमारे भीतर उसका संस्कार रहा, जो समय पाकर 'स्मृतिरूप' होकर आ गया। वर्त्तमान में प्रस्तुत रस्सी 'परत्र' है, जिसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सर्प का आभास हुआ। रज्जु में सर्प का भ्रम तभी सम्भव है जब देखनेवाले ने, वहाँ न सही, कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी, वास्तविक सर्प देख रक्खा हो। अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, प्रत्यक्ष के बिना संस्कार और संस्कार के बिना स्मृति सम्भव नहीं। तब सर्प को 'अवस्तु' (जैसा शंकर कहते हैं) नहीं माना जा सकता। यदि कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी सर्प का सद्भाव न होता तो 'नासतो विद्यते भावः' इस न्याय के अनुसार कहाँ से आ जाता? तब न उसका संस्कार रहता और न उसकी स्मृति। फिर उसकी कहीं प्रतीति भी न होती।

भ्रम किसी को, किसी में, किसी का, किसी कारण होता है। जैसे देवदत्त को, रस्सी में, सर्प का, झुटपुटे के कारण भ्रम होता है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। तब अध्यास या अध्यारोप का स्वरूप होगा—ब्रह्म को ब्रह्म में, ब्रह्म का, अज्ञान के कारण भ्रम होना। परन्तु सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म इस हद तक अज्ञानी हो जाये कि अपने-आपको न पहचान पाये और कुछ-का-कुछ समझ बैठे, इस बात पर कौन विश्वास करेगा?

सिद्धान्ती—यह भी दृष्टान्त तुम्हारे पक्ष को सिद्ध नहीं करता। क्योंकि विना देखे-सुने संस्कार नहीं होता। संस्कार के विना स्मृति और स्मृति के विना स्वप्न में अनुभव नहीं होता। जब किसी से सुना वा देखा कि अमुक का लड़ाई में शिर कटा, और उसके भाई वा बाप आदि को प्रत्यक्ष रोते देखा। और फोहारे का जल ऊपर चढ़ते देखा वा सुना, उसका संस्कार उसी के आत्मा में होता है। जब यह जाग्रत् के पदार्थ से अलग होके देखता है, तब अपने आत्मा में उन्हीं पदार्थों को, जिनको देखा वा सुना होता, देखता है। जब अपने ही में देखता है, तब जानो अपना शिर कटा, आप रोता, और ऊपर जाती जल को धारा को देखता है।

यह भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के सदृश नहीं। किन्तु जैसे नक्शा निकालनेवाले पूर्वदृष्ट, श्रुत वा किये हुओं को आत्मा में से निकालकर कागज पर लिख देते हैं। अथवा प्रतिबिम्ब का उतारनेवाला बिम्ब को देख आत्मा में आकृति को धर बराबर लिख देता है। हाँ! इतना है कि कभी-कभी स्वप्न में स्मरणयुक्त प्रतीति, जैसाकि अपने अध्यापक को देखता है, और कभी-कभी बहुत काल पूर्व के देखे, सुने और किये अतीत ज्ञान को। अतीत ज्ञान को साक्षात्कार करता है, तब स्मरण नहीं रहता कि जो मैंने उस समय देखा-सुना वा किया था, उसी को देखता-सुनता वा करता हूँ। जैसा जाग्रत् में स्मरण करता है, वैसा स्वप्न में नियमपूर्वक नहीं होता। देखो, जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं आता। इसलिए

फिर, रज्जु में सदा सर्प की ही प्रतीति क्यों होती है? जैसे रज्जुरूप में सर्प अवस्तु है, वैसे घड़ा, घोड़ा और भैंस भी अवस्तु हैं। तब वहाँ उनकी प्रतीति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यही होगा कि रज्जु में कोई ऐसे समानधर्म हैं जो सर्प में पहले देखे गये हैं। वे ही यहाँ सर्प की प्रतीति कराने में सहायक हो रहे हैं, अन्य गाय, भैंस आदि की नहीं। सर्प और रज्जु दोनों वस्तुभूत हैं, अवस्तु कोई नहीं। फिर जीव और ब्रह्म के विषय में ऐसी समानता को निभानेवाला कौन है? अन्तःकरण दोनों के बीच में जोड़नेवाली कड़ी कहा जा सकता है। पर इस प्रकार कड़ी जोड़ना तो जीवात्मा के अस्तित्व को नकारने के स्थान पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता को ही सिद्ध करता है। फिर, अन्तःकरण से ब्रह्म का क्या लेना-देना? वह तो जीवात्मा का अपना साधन है। सत्य तो यह है कि ब्रह्म में जीव का अध्यास नहीं; कुछ अज्ञानियों ने जीव में ब्रह्म का अध्यास कर लिया है और अपने-आपको ब्रह्म कहते फिरते हैं। ब्रह्म और जीव दोनों अतिरिक्त तत्त्व हैं। समस्त शास्त्रों में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा युक्ति-प्रमाण पुरःसर किया गया वर्णन इनके भिन्न होने को सिद्ध करता है।

जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं—विना देखे-सुने या अनुभव किये स्वप्न में देखना-सुनना या अनुभव करना सम्भव नहीं, इसमें असन्दिग्ध प्रमाण यह है कि स्वप्न में ही नहीं, जाग्रत् अवस्था में भी जन्मान्ध लाल-पीले का, सुन्दर-असुन्दर का अथवा गधे-घोड़े का चिन्तन नहीं कर सकता। क्योंकि, उसे पहले कभी उनका अनुभव नहीं हुआ। इसी प्रकार जिसने जीवन में कभी हाथी या उसका चित्र नहीं देखा तथा कभी किसी को हाथी पर चढ़कर जाते नहीं देखा, उसे अपने हाथी पर सवार होने का स्वप्न नहीं आ सकता। इतना अवश्य है कि स्वप्न में जाग्रत् कुछ अस्तव्यस्त होकर प्रतिभासित हो उठता है। हमने जाग्रत् में हाथी को भी देखा है और उस पर सवार होकर जाते लोगों को भी देखा है। हाथी पर सवार होने की भावना हमारी भी थी, पर जाग्रत् में हमारी वह भावना पूरी न हो सकी। उसी भावनावश हमारी तीव्र वासना हमें दूसरों की जगह हाथी पर बिठा सकती है।

कभी-कभी स्वप्न में ऐसी अटपटी बातें भी देखने में आती हैं जो उस रूप में जाग्रत् में कभी नहीं घटी होतीं। यह सब पूर्वदृष्ट-श्रुत-कृत को उपादानरूप मानकर उसमें विभिन्न प्रकार से जोड़-तोड़

तुम्हारा अध्यास और अध्यारोप का लक्षण झूठा है। और जो वेदान्ती लोग 'विवर्त्तवाद' अर्थात् रज्जू में सर्पादि के भान होने का दृष्टान्त, ब्रह्म में जगत् के भान होने में देते हैं, वह भी ठीक नहीं।

करके सम्भव होता है। यह भी हो सकता है कि संस्कारों अथवा वासनारूप ज्ञान के आत्मा में जन्म-जन्मान्तर तक बने रहने के कारण इस प्रकार के पदार्थ व घटनाएँ इस जन्म की न होकर पूर्वजन्मों में अनुभूत हों। जन्म-जन्मान्तर के और इस जन्म के भी संस्कार चित्त में कहाँ-कहाँ दबे पड़े रहते हैं—इसका हमें सम्यक् ज्ञान नहीं होता। जब कोई संस्कार ऊपर आकर स्मृतिरूप में प्रकट हो जाता है, तभी हमें उसका पता चलता है।

संस्कार तथा स्मृति दोनों पहले अनुभव किये हुए पदार्थों के विषय में ही होते हैं और केवल जाग्रत् दशा में ही सम्भव हैं। जाग्रत् में जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है वे असत् नहीं होते। इसलिए उनके विषय में हमारे अनुभव को असत् का अनुभव नहीं कहा जा सकता। तब उस अनुभव के संस्कार और उसकी स्मृति कैसे मिथ्या हो सकती है? इस विवेचन के आधार पर डेकार्टे (Descarte) का स्वप्न-विषयक यह कथन हमें स्वीकार करना पड़ेगा—

"Nevertheless, we must admit that the things which we imagine in sleep are like pictures and paintings which can be formed after the likeness of things actually seen in the waking state."

अर्थात्—स्वप्नावस्था में हमारे प्रत्यय जाग्रत् में अनुभूत वास्तविक पदार्थों के चित्रों की प्रतिकृति होते हैं।

"Aristotle refers them (dreams) to the impressions left by the objects seen with the eyes of the body." (Encyclopedia Brittanica, Ed. 1911, Vol. 8, on Dreams.)

अर्थात्—अरस्तू के अनुसार इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ हम प्रत्यक्ष करते हैं, उसीके संस्कार शेष रह जाते हैं। इसी से स्वप्न होता है। "प्लेटो के मत में स्वप्न का सम्बन्ध जाग्रत्-सम्बन्धी व्यापारों से है।" (Plato Connects dreaming with the normal working operations of the mind—अद्वैतवाद, पृ० ७०)।

ये सभी विचार बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।१४) के इस वचन के व्याख्यानरूप है—"यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः।"

विवर्त्तवाद—जगत् का उपादानकारण माने जाने पर ब्रह्म विकारी सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों ने विवर्त्तवाद का उद्भावन किया, जिससे ब्रह्म को परिणामी या विकारी होने से बचाया जा सके। शंकराचार्य ने 'विवर्त्त' पद का प्रयोग तो किया था, किन्तु उनके समय में किसी ऐसी पारिभाषिकता का अस्तित्व न था। 'विवर्त्त' का धातुज (यौगिक) अर्थ है 'विपर्यास' या उलट जाना। कुछ-का-कुछ दिखाई देना विपर्याय या विवर्त्त कहलाता है। वेदान्त-परिभाषा के अनुसार—"परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः, विवर्त्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः"—१ अर्थात् तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः, अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्त्तः। जब कारण स्वयं कार्य-रूप में परिणत होकर कार्य को उत्पन्न करता है तो वह परिणामोपादान कहाता है। जब दूध दही का रूप धारण करता है अथवा मिट्टी से घड़ा आदि बनते हैं तब वह परिणाम अथवा परिवर्त्तन कहाता है। नामरूपात्मक परिवर्त्तन होने पर भी मिट्टी और घड़ा दोनों समानरूप से यथार्थ रहते हैं। तात्त्विक परिवर्त्तन आये बिना वस्तु का अन्यथा दिखाई देना विवर्त्त है। जैसे रस्सी में किसी प्रकार का परिवर्त्तन आये बिना उसका सांप बन जाना विवर्त्त है। परिणाम तथा विवर्त्त दोनों में अन्यथाभाव होता है—

नवीन—अधिष्ठान के विना अध्यस्त प्रतीत नहीं होता। जैसे रज्जू न हो तो सर्प का भी भान नहीं हो सकता। जैसे रज्जू में सर्प तीन काल में नहीं है, परन्तु अन्धकार और कुछ प्रकाश के मेल में अकस्मात् रज्जू को देखने से सर्प का भ्रम होकर भय से कंपता है। जब उसको दीप आदि से देख लेता है, उसी समय भ्रम और भय निवृत्त हो जाता है। वैसे ब्रह्म में जो जगत् की मिथ्या प्रतीति हुई है, वह ब्रह्म के साक्षात्कार होने में उसकी निवृत्ति और ब्रह्म की प्रतीति होती है, जैसीकि सर्प की निवृत्ति और रज्जू की प्रतीति होती है।

एक में ज्ञेय की अपेक्षा से और दूसरे में ज्ञाता की अपेक्षा से। परिणाम में वस्तु बदल जाती है, जैसे दूध दही बन जाता है। विवर्त्त में वस्तु बदलती नहीं, किन्तु द्रष्टा को अन्यथा प्रतीत होती है। जैसे रस्सी का साँप बन नहीं जाता, वह साँप दीखता-भर है। दूसरे शब्दों में, जहाँ वस्तु का अन्यथा हो जाना 'परिणाम' है, वहाँ किसी वस्तु का अन्यथा न होने पर भी वैसा समझा जाना 'विवर्त्त' है। इस प्रकार जैसे रस्सी में किसी प्रकार का परिवर्त्तन आये विना रस्सी का साँप बन जाता है, वेदान्त के अनुसार ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्त्तन आये विना वह जगद्रूप हो जाता है।

यह (विवर्त्तवाद) इसलिए खड़ा किया गया कि ब्रह्म को जगत् का, उपादान न होते हुए भी, बलात् उपादानकारण कहा जा सके। जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, अर्थात् विषम विकार है, प्रकारान्तर से यह कार्य के निमित्तकारण को ही उपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास था। पर जुलाहे को वस्त्र मानकर अपने शरीर को उससे ढाँपने के लिए कौन तैयार होगा या कुम्हार को घड़ा समझकर उसमें कौन पानी भरेगा ? विवर्त्त की दीवार भी उक्त मान्यता को सहारा न दे सकी।

जगत् मिथ्या नहीं—जगत् की कोई सत्ता नहीं, यह आभासमात्र है—इसे सिद्ध करने के लिए शंकर के दादागुरु गौड़पाद ने सूत्र बनाया—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा' जो आदि में नहीं था और अन्त में भी नहीं रहेगा, वह इस समय भी नहीं है। इसका अर्थ है कि मैं (भाष्यकार) ७८ वर्ष पूर्व संसार में नहीं था और एक दिन ऐसा भी आयेगा जब मैं नहीं रहूँगा, इसलिए मुझे यह मानना चाहिए कि मैं इस समय भी नहीं हूँ, अथवा क्योंकि मैं १५ अप्रैल को दिल्ली में नहीं था और १७ अप्रैल को दिल्ली से चला गया था, इसलिए मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं १६ अप्रैल को भी दिल्ली में नहीं था, यद्यपि मुझे लाखों लोगों ने रामलीला मैदान में भाषण देते देखा-सुना था।

जो यथावत् उपलब्ध है, उसका वर्त्तमान में अभाव नहीं हो सकता। यदि वर्त्तमान में है तो अतीत में भी था—न होता तो कहाँ से आ जाता ? 'नासतो विद्यते भावः' (गीता)—'कथमसतः सज्जायेत' (छान्दोग्य)—'नावस्तुनो सिद्धिः' (सांख्य)। और जो है, उसका नाश नहीं हो सकता, क्योंकि 'नाभावो विद्यते सतः' (गीता)। जो नाश होता दीखता है, वह अभावरूप नहीं है। 'नाशः कारणलयः' (सांख्य १।८६) नाश का अर्थ अपने मूल कारण में विलीन होना भर है, सामान्य अर्थों में नष्ट होकर अभावरूप होना नहीं। अद्वैत वेदान्त के आधारभूत वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में ब्रह्म का लक्षण करते हुए महर्षि वेदव्यास कहते हैं - 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२)—जिससे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। पहले सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१) के द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासा का यह समाधान कैसे उचित ठहराया जा सकता है कि ब्रह्म का परिचय यह कहकर दिया जाये कि वह ऐसे जगत् की उत्पत्ति-स्थिति का कारण है, जिसकी वास्तव में कोई सत्ता नहीं है—जिसकी रचना आदि मात्र प्रवंचना है अथवा मदारी का खेल है ? ब्रह्मसूत्र (४।४।१७) के भाष्य में शंकराचार्य ने मुक्तात्माओं की स्थिति का वर्णन करते हुए उनके सहयोग के बिना, ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति आदि का स्पष्ट उल्लेख किया

सिद्धान्ती—ब्रह्म में जगत् का भान किसको हुआ ?

नवीन—जीव को।

सिद्धान्ती—जीव कहाँ से हुआ ?

नवीन—अज्ञान से।

सिद्धान्ती—अज्ञान कहाँ से हुआ, और कहाँ रहता है ?

नवीन—अज्ञान अनादि और ब्रह्म में रहता है।

सिद्धान्ती—ब्रह्म में ब्रह्म का अज्ञान हुआ वा किसी अन्य का ? और वह अज्ञान किसको हुआ ?

नवीन—चिदाभास को।

सिद्धान्ती—चिदाभास का स्वरूप क्या है ?

नवीन—ब्रह्म, ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को आप ही भूल जाता है।

सिद्धान्ती—उसके भूलने में निमित्त क्या है ?

नवीन—अविद्या।

सिद्धान्ती—अविद्या सर्वव्यापी सर्वज्ञ का गुण है, वा अल्पज्ञ का ?

नवीन—अल्पज्ञ का।

सिद्धान्ती—तो तुम्हारे मत में विना एक अनन्त सर्वज्ञ चेतन के दूसरा कोई चेतन है वा नहीं ? और अल्पज्ञ कहाँ से आया ? हाँ, जो अल्पज्ञ चेतन ब्रह्म से भिन्न मानो तो ठीक है। जब एक ठिकाने ब्रह्म को अपने स्वरूप का अज्ञान हो, तो सर्वत्र अज्ञान फैल जाय। जैसे शरीर में फोड़े की पीड़ा सब शरीर के अवयवों को निकम्मा कर देती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी एक देश में अज्ञानी और क्लेशयुक्त हो, तो सब ब्रह्म भी अज्ञानी और पीड़ा के अनुभवयुक्त हो जाय।

है। इतना ही नहीं, शंकर की घोषणा है—'सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्' (शा० भा० १।२।६)। ऐसे ब्रह्म द्वारा निर्मित संसार मिथ्या कैसे हो सकता है ?

अद्वैतवादियों के मतानुसार यदि एकमात्र ब्रह्म से ही सृष्टि को उत्पत्ति मानी जाये, अर्थात् उसी सृष्टि का उपादान कारण भी माना जाये तो भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' (वैशे० २।१।३४) अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं, जो उसके कारण में हैं। अतः यदि 'ब्रह्म सत्यम्' है, अर्थात् यदि जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। अद्वैतवादियों के मतानुसार कारण का कार्य से अनन्यत्व है, अर्थात् कार्य का व्यतिरेक से अभाव है तो कार्य को मिथ्या नहीं माना जा सकता। कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप जगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या माना जायेगा तो स्वयं ब्रह्म ही मिथ्या हो जायेगा। उपनिषद् (छान्दोग्य ६।१।२।६) में इस सम्बन्ध में 'नखकृन्तन' निहन्ने का दृष्टान्त दिया है। यदि निहन्ना मिथ्या है अर्थात् उसका अभाव है तो उसके उपादान लोहे का अभाव स्वतः सिद्ध है। जब उँगली में अँगूठी नहीं होगी तो वहाँ सोना कहाँ होगा ? फिर सत्स्वरूप ब्रह्म असद्रूप जगत् का ऐन्द्रजालिक तमाशा क्यों और किसके लिए करेगा ? अद्वैतवाद में तो तमाशा देखनेवाले जीव की सत्ता का भी निषेध है।

ब्रह्म से अतिरिक्त जो कुछ है, आभासमात्र है, इसे प्रमाणित करने के लिए कतिपय उपनिषद्-वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं। उनमें एक वाक्य है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१)। शांकर मत को स्पष्ट करने के लिए प्रायः इस वाक्य के प्रथम अंश को प्रस्तुत किया जाता है। उसका अर्थ करते हैं—निश्चय ही यह जो कुछ—दृश्यादृश्य जगत् है, सब ब्रह्म है। यदि इस

नवीन—यह सब उपाधि का धर्म है, ब्रह्म का नहीं।

सिद्धान्ती—उपाधि जड़ है वा चेतन ? और सत्य है वा असत्य ?

नवीन—अनिर्वचनीय है। अर्थात् उसको जड़ वा चेतन, सत्य वा असत्य नहीं कह सकते।

सिद्धान्ती—यह तुम्हारा कहना **'वदतो व्याघात:'** के तुल्य है। क्योंकि कहते हो अविद्या है, जिसको जड़-चेतन सत्-असत् नहीं कह सकते। यह ऐसी बात है कि जैसे सोने में पीतल मिला हो, उसको सर्राफ के पास परीक्षा करावे कि यह सोना है वा पीतल ? तब यही कहोगे कि इसको हम न सोना न पीतल कह सकते हैं, किन्तु इसमें दोनों धातु मिली हैं।

वाक्य का वस्तुत: ऐसा ही अर्थ है, तो ब्रह्म की उपासना का उपदेश देने में प्रवृत्त हुआ उपनिषत्कार दृश्यादृश्य जगत् की उपासना में ही जिज्ञासु को प्रवृत्त कर रहा है—यह मानना होगा, क्योंकि जब यह जगत् ब्रह्म ही है तो जगत् की उपासना ही ब्रह्म की उपासना है; तब सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करके उनके भोग में सर्वात्मना समर्पित होना ब्रह्म की उपासना में लीन होना होगा। यह उपनिषद् की भावना का शीर्षासन करना होगा। फलत: इस वाक्य का इतना भाव प्रकट कर उसमें निहित अर्थ को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उपनिषद् के पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—'सर्वं खल्विदं तज्जलान् इति अवबुध्य शान्त: सन् ब्रह्म उपासीत'—यह सब जगत् (तज्ज) उसी से उत्पन्न होता, (तल्ल) उसी में लीन होता और (तदन्) उसी में प्राण धारण करता है, ऐसा (अवबुध्य) समझकर शान्तचित्त हो (ब्रह्म उपासीत) ब्रह्म की उपासना करे। वस्तुत: वाक्य में 'ब्रह्म' पद 'उपासीत' क्रिया का कर्म है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि हे उपासक जीव! इसी संसार को सब-कुछ समझकर इसमें फँसना नादानी है। इसका संचालन करनेवाली शक्ति की उपासना कर। इस वाक्य द्वारा जगत् को ब्रह्म या ब्रह्म को जगत् नहीं बताया गया। जगत् से वितृष्ण होकर जगत् के अधिष्ठाता ब्रह्म की उपासना के लिए प्रेरित किया गया है। यहाँ उपास्य के रूप में ब्रह्म, उपासक के रूप में जीव तथा उसके भोगापवर्ग के लिए उत्पन्न जगत् - तीनों का एक-साथ उल्लेख होने से यह सन्दर्भ स्पष्टत: द्वैतवाद या त्रिवाद का प्रतिपादक है।

प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतना का अनुभव होता है। यह चेतना अथवा चेतनतत्त्व 'जीवात्मा' है। यह चेतना क्योंकि प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् अनुभूत होती है और शरीर भी संख्यातीत हैं, इसलिए यह चेतनतत्त्व भी संख्या की दृष्टि से अनन्त है, ऐसा साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने स्वीकार किया है। इस विषय में आचार्य शंकर का कहना है कि चेतनतत्त्व तो केवल एक ब्रह्म है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई चेतनतत्त्व नहीं है। विभिन्न शरीरों में जो चेतन प्रतीत होता है और जिसे जीवात्मा कहा जाता है, वह 'अन्त:करण' उपाधि से उपहित ब्रह्म ही है। जब तक यह उपाधि रहती है, तब तक जीव नाम से इस चेतना का आभास होता है। अन्त:करण में परमात्मा के इस आभास को 'चिदाभास' कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान हो जाने पर यह उपाधि नष्ट हो जाती है, और चेतनतत्त्व अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है।

विचारणीय है कि जब एकमात्र ब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व है ही नहीं तो यह दूसरा (उपाधि) कहाँ से आ गया—और वह भी इतना शक्तिशाली कि उसने सर्वशक्तिमान् तथा सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को उपहित कर लिया ? इस उपाधि ने ब्रह्म को कब, क्यों और कैसे उपहित किया, शांकर मत इसका कोई समाधान नहीं कर पाया। अविद्योपाधि का यह सिद्धान्त अनेक दोषों का घर है।

सबसे पहला प्रश्न तो यह है कि अविद्या द्रव्य है या गुण। यदि द्रव्य है तो द्वैत सिद्ध हो गया।

यदि गुण है तो उसका अधिष्ठान कोई द्रव्य होना चाहिए, क्योंकि उनमें आश्रयाश्रित भाव होने से द्रव्य के बिना गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कोई चेतन तत्त्व है नहीं—जीव के स्वयं अविद्याकल्पित होने से। तब केवल ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है। अब प्रश्न उठता है—अज्ञानी होने पर ब्रह्म उपाधिग्रस्त हुआ या उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी, अर्थात् पहले अज्ञान हुआ या उपाधि? यदि ब्रह्म पहले अज्ञानी हो गया तो कहना होगा कि बिना उपाधि के ही अज्ञानी हो गया। यदि पहले उपाधिग्रस्त हुआ तो प्रश्न होगा कि जब उपाधिग्रस्त होने से पूर्व ब्रह्म पूर्णज्ञानी और सर्वशक्तिमान् था तो उपाधि के वश में कैसे आ गया? न उपाधि के वश में होता, न अज्ञानी होकर झंझटों में फँसता। यदि उपाधि चेतन है तो ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा चेतन-तत्त्व सिद्ध हो गया। यदि जड़ है तो आश्चर्य है कि सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म ने जड़ उपाधि के आगे हथियार डाल दिये!

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी? यदि यह माना जाये कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय उपाधि लग गई—तो पहले वह कहाँ थी? होगी तो कहीं-न-कहीं अवश्य। न होती तो कहाँ से आती? जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी? गुण होने से उसका अधिष्ठान कोई-न-कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतवादी ब्रह्म से अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य नहीं मानते। स्पष्टतः उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामतः जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी भी अनादि संज्ञा हुई और अनादि-अनन्त होने से वह नित्य हो गई। उपाधि के ब्रह्माश्रित और नित्य होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामतः अज्ञानी रहेगा। सदा अज्ञानी रहने से वह कभी मुक्त न होगा और अविद्या के कारण सदा जन्म-मरण के बन्धन में रहेगा। ऐसे ब्रह्म से तो जीव अच्छा जो कभी-न-कभी मुक्त होने की आशा कर सकता है।

शांकर मत में 'उपाधि ने ब्रह्म को उपहित कब किया' का उत्तर दिया जाता है कि वह अनादि है। शांकर मत में यह भी एक दुर्बल पहलू है। आचार्य और उनके अनुयायियों ने इसके समाधान के लिए छह अनादि पदार्थ माने हैं। उसके लिए इस सम्प्रदाय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

हम छह पदार्थ अनादि मानते हैं—१. जीव, २. ईश्वर, ३. विशुद्ध चेतन ब्रह्म, ४. जीव-ईश्वर का भेद, ५. अविद्या-अज्ञान-माया, और ६. अविद्या और शुद्ध चेतन ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध। इनमें शुद्ध ब्रह्म ही उस समय जीव कहा जाता है, जब वह कार्य (उत्पन्न अन्तःकरण) उपाधि से उपहित होता है, तथा उस समय ईश्वर कहा जाता है जब कारण (अविद्या-माया) उपाधि से उपहित होता है। जब ये उपाधियाँ नहीं रहतीं, तब शुद्ध चेतन ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है। छह अनादि पदार्थों में शुद्ध चेतन ब्रह्म अनादि-अनन्त है, शेष पाँच अनादि-सान्त हैं।

इस मान्यता में अनेक आपत्तियाँ हैं—

१. सबसे प्रथम ब्रह्म को जीव उस समय बताया गया, जब वह कार्य-उपाधि से उपहित होता है। कार्य का अर्थ है—उत्पन्न होने वाला तत्त्व। जो उत्पन्न होने वाला है, वह अनादि कैसे होगा? यदि वह अनादि नहीं, तो जीव अनादि कैसे होगा? कार्य भी हो और अनादि भी हो, यह परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। इस रूप में जीव की कल्पना सर्वथा असंगत है। इसलिए जीव और ब्रह्म को एक नहीं कहा जा सकता।

२. कारण-उपाधि अविद्या अथवा माया है। इस अविद्या या माया के स्वरूप का निर्वचन

शांकर मत में नहीं किया जा सका, इसलिए इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। पर फिर भी यह कारण-तत्त्व है। तथापि शांकर मत मे यह कहा जाता है कि अविद्या का ब्रह्म से भेद अथवा अभेद आदि का कथन नहीं किया जा सकता। पर है यह वस्तुतः दुराग्रहमात्र। जब अविद्या को अनिर्वचनीय मान लिया गया, तो निश्चित है कि वह ब्रह्म नहीं है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसी आधार पर उसका निर्वचन किया जाता है। अविद्या या माया शांकर मत में कभी निर्वचनीय नहीं। तब भेद स्पष्ट है। दोनों का अपना अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में शांकर मत की यह मान्यता भी असंगत हो जाती है कि एकमात्र सत्ता ब्रह्म की है, अन्य कोई सत्ता नहीं है।

कहा जा सकता है कि अविद्या या माया का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, यह परिवर्त्तनशील, अदलती-बदलती रहनेवाली है। जिस सत्ता की तीनों कालों में बाधा न हो, सदा अपने रूप में अवस्थित रहे, वही यथार्थ सत्ता है; वह केवल ब्रह्म है।

शांकर मत का यह कथन दोनों प्रकार से चिन्तनीय है। अविद्या अथवा माया का अस्तित्व भी त्रिकालाबाध्य है। अविद्या कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती। परिणाम अथवा परिवर्तन तो उसका स्वरूप ही है। वह तीनों कालों में कभी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती। दूसरे प्रकार से यह कथन इस रूप में असंगत है कि शांकर मत में ब्रह्म का परिणाम जगत् माना गया है। तब ब्रह्म भी अविद्या के समान परिणामी अथवा परिवर्तनशील क्यों न माना जायगा? ब्रह्म को उपादान मानकर मुंह से भले ही यह कहा जाता रहे कि उसमें किसी प्रकार का परिणाम नही होता, पर ये दोनों कथन परस्पर-विरोधी हैं कि वह उपादान भी है और अपरिणामी भी।

अविद्या क अनादि-सान्त माना गया। प्रथम तो जो अनादि है, वह अनन्त भी होगा ही। फिर जगत् का कारण होते हुए वह सान्त कैसे हो सकती है, यह बात शांकर मत में सर्वथा स्पष्ट नहीं है। कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है, ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित रहता है। यद्यपि इस कथन में—"ब्रह्म का ज्ञान किसको होता है? यदि ब्रह्म को, तो क्या ब्रह्म अभी तक अज्ञानी था? यदि था, तो सर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञानी कैसे हो गया? माया के सम्पर्क से कहा जाय, तो अचेतन माया सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म को कैसे अभिभूत कर लेती है?"---इत्यादि विकल्पों का कोई सन्तोष-जनक समाधान शांकर मत में नहीं है। फिर भी, यह मानकर आगे विचार करते हैं कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानी मुक्त हो जाता है और माया का अन्त, इसलिए अविद्या या माया को सान्त माना गया है। पर इस विषय में यह सोचने की बात है कि यह सृष्टिक्रम अनादिकाल से चला आता है, इस काल में अनेकानेक ज्ञानी मुक्त हुए होंगे, परन्तु अविद्या का पसारा उसी तरह चालू है। संसार-चक्र बराबर चला आ रहा है जो, शांकर मत में, अविद्या का कारण है। अनादिकाल से आज तक जैसे यह अपनी स्थिति में बराबर विद्यमान है, ऐसे ही अनन्तकाल तक चलता रह सकता है। तब अविद्या को सान्त कैसे कहा जा सकता है?

इस पर कहा जाता है कि अविद्या के दो भेद हैं—मूला अविद्या और तूला अविद्या। तूला अविद्या व्यक्तिगत है--प्रतिव्यक्ति नियत है, व्यक्ति का मोक्ष होने पर उसका नाश हो जाता है। मूला अविद्या समष्टिगत है--सर्वव्यापक है। इस मूला अविद्या के कारण संसार-चक्र चालू रहता है। क्योंकि संसार का क्रम सदा बना रहता है, इसलिए मूला अविद्या को अनादि-अनन्त मानना चाहिए। अगत्या ऐसा मानने पर ब्रह्म की भाँति अविद्या का भी अनादि-अनन्त अस्तित्व हो जाता है। वस्तुतः शांकर मत में जगत् के उपादानकारण प्रकृति को ही 'अविद्या' का नाम दिया गया है। इस प्रकार छह पदार्थों के अनादि होने का शांकरवाद अत्यन्त शिथिल होने से तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

यथार्थ सत्ता—कहा जा सकता है कि जो तत्त्व त्रिकालाबाध्य है, उसकी सत्ता यथार्थ है, सत्य है। तीनों कालों में जिसकी बाधा न हो, एकरूप रहे, वही सत्ता यथार्थ है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है। जगत् की बाधा होती है, यह परिणामी-परिवर्तनशीला है। ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर इसकी बाधा हो जाती है। साक्षात्कर्त्ता के लिए यह नहीं के बराबर है, अतः बाधित है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर जगत् यथार्थ सत्ता की परिभाषा में आता है। जगत् वस्तुतः कार्य-तत्त्व है, जो किसी मूल कारण से इस रूप में आया है। कार्यवस्तु अवश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील होती है। यह उसका स्वरूप है, अतः यह स्थिति या स्वरूप इसका कभी छूटता नहीं। एक वस्तु परिणामी है, दूसरी अपरिणामी। दोनों की अपनी स्थिति है, दोनों अपने स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं। तब उन दोनों की सत्ता को यथार्थ क्यों न माना जाय ? उनमें से एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए केवल परिणामी होने से जगत् को मिथ्या नहीं माना जा सकता।

जगत् कार्य है; अपने किसी मूल कारण से इस रूप में परिणत हुआ है—यह सर्ववादी-सम्मत है। कारण यद्यपि अनेक प्रकार के माने गये हैं, यहाँ केवल 'उपादान' कारण से तात्पर्य है। कहा जाता है कि जगत् और जगत् का कारण इसलिए मिथ्या हैं कि वे बाधित हो जाते हैं। आचार्य शंकर ने जगत् का उपादानकारण ब्रह्म को माना है। तो उसी नियम के अनुसार अब ब्रह्म को मिथ्या जानना चाहिए। ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानकर उसे परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है ? कहा जाता है कि यह सब माया या अविद्या का प्रभाव है। उसी के द्वारा ब्रह्म इस रूप में आभासित होता है। परन्तु जो वस्तु ब्रह्म को भी अन्यथा आभासित कर देती है, उसे मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? जो 'सत्य' को भी प्रभावित कर देती है, वह तो सत्य से भी सत्य होनी चाहिए। फलतः जगत् की यथार्थता को चुनौती देना सर्वथा अयथार्थ है। वस्तुतः जगत् की सत्ता ही ब्रह्म के अस्तित्व को प्रकट करती है। तभी तो ब्रह्म के जिज्ञासु ('अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—ब्रह्मसूत्र १।१।१) को उसका परिचय देते हुए सूत्रकार ने बताया—'यस्माद्यस्य यतः' १।१।२ अर्थात् जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, वही तो ब्रह्म है। ब्रह्म और उसकी सृष्टि—दोनों अपने रूप में यथार्थ हैं, यही सत्य है।

माया—कहा जाता है कि जगत् अनिर्वचनीय माया का परिणाम है, ब्रह्म का नहीं। ब्रह्म का तो यह विवर्त्त है, इसलिए जगत् के परिणामी होने से ब्रह्म पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शांकर विचार से माया को सत्-असत् अथवा सदसत् उभयरूप कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका इन विकल्पों में से किसी रूप में कथन या निर्वचन किया जाना अशक्य है। इसलिए उसका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है। तब प्रश्न उपस्थित होता है, उसकी स्थिति क्या है ? क्या वह कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ? यदि ऐसा माना जाय तो अद्वैत सिद्धान्त निरस्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जो शांकर मत को स्वीकार्य नहीं। इसलिए माया की, ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति के रूप में कल्पना की गई। अब यदि माया शक्ति को शक्तिमान् ब्रह्म से भिन्न माना जाय तो द्वैत की प्राप्ति हो जाती है। यदि उसे ब्रह्म का स्वरूप मानकर उससे अभिन्न माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म तो सच्चिदानन्दस्वरूप है और माया अनिर्वचनीय है। इन स्थितियों को एक नहीं माना जा सकता। शांकर मत के आचार्यों ने माया को अनिर्वचनीय कहकर अपनी जान बचा ली, क्योंकि जिस रूप में इसे उन्होंने प्रस्तुत किया है, उसका उपपादन किसी प्रकार सम्भव नहीं था। इसलिए अपने ही वाग्जाल में से अपने-आपको सुरक्षित बचाने के लिए उन्होंने यह सीधा रास्ता निकाल लिया कि उसे अनिर्वचनीय कह दिया, ऐसा कह देने से अब किसी को कुछ कहने-सुनने की गुंजायश ही

नवीन—देखो, जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश उपाधि अर्थात् घड़ा, घर और मेघ के होने से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, वास्तव में महदाकाश ही है। ऐसे ही माया-अविद्या,

---

नहीं रही। पर आश्चर्य की बात यह है कि ब्रह्म को तो उन्होंने आसानी से पहचान लिया, पर उसकी चेरी माया को आज तक न पहचान पाये।

एकमात्र तत्त्व विविध रूप में परिणत होता हो—ऐसा एक भी दृष्टान्त संसार में उपलब्ध नहीं है। ऐसा माननेवाले आचार्य भी अपनी बात पूरी तरह न निभा सके, प्रकृति नाम से उन्हें चिढ़ (Allergy) थी, क्योंकि यह उनके मत में बाधक बनती थी। परन्तु इसके बिना उनका काम भी नहीं चलता था। इसलिए उन्हें माया की कल्पना करनी पड़ी। केवल कथनमात्र में एकमात्र ब्रह्म को मानकर वे आचार्य 'प्रकृति' से ब्रह्म का पीछा न छुड़ा सके। वह उसके साथ लगी ही रहती है, पर पहचाने जाने पर भगाये जाने के डर से उसने अपना नाम बदलकर 'माया' रख लिया है। इसमें श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह वक्तव्य साक्षी है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं विश्वमिदं जगत्॥

—श्वेता० ४।१०

अर्थात् प्रकृति का ही दूसरा नाम माया है और उसका नियन्ता होने से ब्रह्म मायी या महेश्वर कहाता है। ब्रह्म के शरीररूप में कल्पित प्रकृति के अवयवों से यह जगत् व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि उस महेश्वर के द्वारा प्रकृति जगद्रूप में परिणत हुई है। इसी वक्तव्य का अनुमोदन (कथन की पुष्टि) करते हुए अगले सन्दर्भ में कहा है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। —श्वेता० ४।९

(मायी) प्रकृति का अधिष्ठाता ब्रह्म (अस्मात्) इस प्रकृति से समस्त विश्व की रचना करता है। उसका सजातीय दूसरा (जीवात्मा) है, जो इस प्रकृति (मायाजाल) में फँसा रहता है।

इस प्रकार उक्त दोनों सन्दर्भों में प्रकृति और ब्रह्म दोनों की सत्ता की स्पष्ट घोषणा करते हुए प्रसंगवश ब्रह्मेतर जीवात्मतत्त्व का भी संकेत कर दिया गया है। प्रकृति के समस्त गुण माया में हैं। वह विविधरूपा है, इसलिए जगत् उसका विकार व परिणाम है। ब्रह्म माया (प्रकृति) से जगत् का निर्माण करता है, इस रूप में माया उसकी शक्ति कही जा सकती है। इस स्थिति का अपलाप करने में आचार्य शंकर सफल नहीं हो सके। अनथक प्रयास करने पर भी वे माया नामधारी प्रकृति से ब्रह्म का पीछा न छुड़ा सके।

परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् माने जाने का इतना ही तात्पर्य है कि माया या प्रकृति से जगत्परिणति में निर्माता के रूप में उसे अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। अनन्त विश्व का निर्माण और उसका नियमित सञ्चालन उसकी सर्वशक्तिमत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

घटाकाशादि—पूर्वपक्ष—जैसे महदाकाश एक होने पर भी उपाधिभेद से घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही अन्तःकरणों के भेद से एक ही ब्रह्म पृथक्-पृथक् जीवों के रूप में भासता है। घटादि के भीतर के आकाश को उसकी उपाधियों (सीमाओं) के कारण घटाकाश आदि नाम दिये जाते हैं, किन्तु महदाकाश अपरिवर्तित रहता है। जब तक निरपेक्ष ब्रह्म उपाधियों से आवृत्त रहता है तब तक ब्रह्म का स्वरूप छिपा रहता है। जब ढकनेवाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध आकाश व्यापक आकाश में मिल जाता है। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश व्यापक आकाश (महदाकाश) का अवयव या विकार है, वैसे ही हम यह भी नहीं

कह सकते कि जीव ब्रह्म का अवयव या विकार है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। ब्रह्म का अनेक जीवों में विभक्त होना प्रतीतिमात्र है। जब घड़ा बनता या टूटता है तो न उसका आकाश बनता है, न बिगड़ता है। इसी प्रकार आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है। जिस प्रकार बच्चों को आकाश से मैला दिखाई देता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषों को परमात्मा बद्ध अथवा पाप से मलिन दिखाई देता है। "परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर मूर्खों के लिए शारीर अथवा जीव कहलाता है, जैसे कमण्डल आदि से परिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न दिखाई देता है, यद्यपि वास्तव में उसकी अपनी पृथक् सत्ता नहीं होती।" (स एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते।—शा० भा० १।२।६) इसके अतिरिक्त जब एक घड़े के भीतर का आकाश धूल और धुएँ से भरा हो तो आकाश के अन्य भागों पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार जब एक जीव को सुख या दुःख का अनुभव होता है तो अन्य उससे प्रभावित नहीं होते। जब घड़े आदि द्वारा बनाई गई परिधियाँ हटा दी जाती हैं तब सीमाबद्ध आकाश के भाग एक ही ब्रह्माण्डीय आकाश के अन्दर समा जाते हैं। "इसी प्रकार जीव तथा परमेश्वर का भेद मिथ्या ज्ञान के कारण है, वास्तविक नहीं" (एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः न वस्तुकृतः व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्—१।३।१)। जब देश, काल तथा कार्यकारण-सम्बन्ध की परिधियाँ हटा दी जाती हैं तो जीव निरपेक्ष ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

उत्तरपक्ष—घटाकाशादि के समान ब्रह्म अन्तःकरण का आकार धारण नहीं कर सकता। इस प्रकार के (घटाकाश के महदाकाश से) अनन्यत्व का दृष्टान्त परमेश्वर के सम्बन्ध में नहीं घटता। जैसे घट आदि के निमित्त से आकाश के भाग हो जाते हैं, वैसे ब्रह्म के नहीं हो सकते। उपनिषदों में जहाँ कहीं आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गई है, वहाँ विभुत्व के सम्बन्ध से दी गई है, न कि उपाधि के प्रसंग में। आकाश जड़ है। घटाकाशादि को स्वयं यह ज्ञान नहीं कि मैं उपाधि से तंग आ गया हूँ। केवल दूसरे लोग ऐसा समझ बैठते हैं। परन्तु ब्रह्म तो चेतन तथा सर्वज्ञ है। उसे स्वयं यह अनुभव क्यों नहीं होता कि मैं विभु हूँ और अन्तःकरण के कारण परिच्छिन्न हो गया हूँ? घड़े के भीतर की दीवारें अपने भीतर के किसी गुण को तिरोहित नहीं कर पातीं। फिर अन्तःकरण की उपाधि ब्रह्म के स्वाभाविक गुणों—सर्वज्ञता, पवित्रता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर सकती है? घड़े की दीवारें सत्य होने पर भी आकाश के गुणों को नहीं दबाने में असमर्थ हैं तो अन्तःकरण की मायावी उपाधियाँ ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे दबा सकती हैं? फिर, स्वयं आचार्य शंकर की घोषणा है—'न ह्युपाधियोगाद्प्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति' (शा० भा० ३।२।११) अर्थात् उपाधि लगने से कोई वस्तु अन्य वस्तु के स्वभाववाली नहीं बनती--वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता। गुण-गुणी अथवा धर्म-धर्मी का समवाय-सम्बन्ध होता है। यदि दो वस्तुओं का धर्म एवं स्वभाव एक-जैसा है तो वे दो नहीं हो सकतीं। यदि उपाधि लगने पर भी ब्रह्म के स्वभाव में अन्तर नहीं आता तो उपाधि का होना-न-होना बराबर है। यदि यह कहा जाए कि ब्रह्म तो सर्वथा शुद्ध रहता है, हम ही अपने अज्ञान के कारण उसे अशुद्ध समझते हैं, तो भी बात नहीं बनती। अद्वैत मत में हम स्वयं भी ब्रह्म ही हैं। तब ब्रह्म होते हुए हम अज्ञानी कैसे हो सकते हैं? यदि यह कहा जाए कि अविद्या के कारण हम ब्रह्म न रहकर जीव बन गये हैं तो इसका अभिप्राय है कि अविद्या की उपाधि से प्रभावित होकर हम जीव बन गये हैं। तब शंकर का यह कथन कि उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नहीं होता, मिथ्या सिद्ध होता है। फिर अद्वैतमतानुसार अविद्या नैसर्गिकी है (शा० भा० २।३।१५); यदि नैसर्गिकी है तो सदा बनी रहने-वाली अर्थात् नित्य है। ऐसा है तो सीधे तौर से नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म से भिन्न अविद्या

समष्टि-व्यष्टि और अन्तःकरणों की उपाधियों से ब्रह्म अज्ञानियों को पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है, वास्तव में एक ही है। देखो, अग्रिम प्रमाण में क्या कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥—कठ० ५।९

जैसे अग्नि लम्बे-चौड़े, गोल, छोटे-बड़े, सब आकृतिवाले पदार्थों में व्यापक होकर तदाकार दीखता और उनसे पृथक् है, वैसे सर्वव्यापक परमात्मा अन्तःकरणों में व्यापक होके अन्तःकरणाऽऽकार हो रहा है, परन्तु उनसे अलग है।

अथवा मिथ्या ज्ञान से युक्त अल्पज्ञ जीव की सत्ता स्वीकार करने में ही क्या आपत्ति है? जीव के अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से उसका उपाधियों से प्रभावित हो जाना तो समझ में आ सकता है, किन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की विवशता समझ में नहीं आती।

वस्तुतः आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में हम 'घड़ा' तो कहते हैं, पर 'घड़े का आकाश' कभी नहीं कहते। इसी प्रकार हम 'अन्तःकरण' और 'ब्रह्म' तो कहते हैं, किन्तु 'अन्तःकरण का ब्रह्म' कभी नहीं कहते। यदि घट, मठ, मेघ आदि की उपाधियों से आकाश के भिन्न-भिन्न भासित होने की भाँति अन्तःकरण-भेद से ब्रह्म का भिन्न-भिन्न होना माना जाय तो भी, जैसे घट आदि आकाश से और आकाश घट आदि से भिन्न है, वैसे ही अन्तःकरणों को ब्रह्म से और ब्रह्म को अन्तःकरणों से भिन्न मानना होगा। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध से दो स्वतन्त्र सत्ताएँ माननी होंगी। जो व्याप्य है, वही जीव कहाता है। इस प्रकार अन्तःकरणों में व्याप्त होते हुए भी ब्रह्म अन्तःकरणाऽकार न होकर उनसे भिन्न है।

बड़े से बड़ा ज्ञानी अथवा अद्वैतवादी भी अपने को बन्धन में जानता और उससे मुक्त होने का प्रयास करता है एवं दूसरों को भी तदर्थ प्रेरित करता है। प्रत्येक देहधारी अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा अविद्यादि क्लेशों से अभिभूत जीव के रूप में देखता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगानेवाला भी सामान्य मनुष्यों की भाँति व्यवहार करता है, क्योंकि उसे अपने जीव होने का पूर्ण विश्वास है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल अज्ञानी पुरुष ही परमात्मा को जीवात्मा के रूप में देखते हैं। घड़ा जड़ पदार्थ है, उसमें कोई कूड़ा-करकट भर सकता है। उसके दूषित आकाश का प्रभाव दूसरे घड़ों के आकाश पर नहीं पड़ेगा, परन्तु ब्रह्म तो 'चेतनश्चेतनानाम्' है, जबकि उसे विभक्त करनेवाले अन्तः-करण जड़ हैं। इसलिए उस ब्रह्म के एक भाग को सुखी या दुःखी करने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है? सच तो यह है कि जितने भी अन्तःकरणाऽकार ब्रह्म हैं, देहधारी होने के कारण सभी त्रिविध दुःखों से सन्तप्त हैं और उनसे अत्यन्तनिवृत्ति पाने के लिए अत्यन्तपुरुषार्थ कर रहे हैं। और ऐसा इसलिए है कि वे सब जीव हैं।

अग्निर्यथैकः—जब पानी क्यारी के भीतर रहता है तो वह क्यारी के आकारवाला दीखता है, किन्तु जब वह क्यारी के अन्दर-बाहर सर्वत्र आप्लावित रहता है तो वह आकारहीन हो जाता है। गोल वस्तु में प्रविष्ट होकर गोल और चौकोर वस्तु में प्रविष्ट होकर अग्नि चौकोर इसलिए दीख पड़ती है, क्योंकि वह उस वस्तु के भीतर रहती है। अन्दर-बाहर सर्वत्र रहने पर वह उस वस्तु के आकार या रूप को धारण नहीं कर सकती। इस प्रकार यदि परमात्मा गोले में अग्नि की भाँति अन्तर्यामी-रूप से जीवात्मा के भीतर ही रहता तो, सम्भव है, अग्नि का दृष्टान्त सटीक होता, अर्थात् भिन्न-भिन्न शरीरों या अन्तःकरणों में प्रविष्ट एक ब्रह्म भिन्न-भिन्न नाम-रूप धारण कर लेता, परन्तु परमात्मा के प्रत्येक

सिद्धान्ती—यह भी तुम्हारा कहना व्यर्थ है। क्योंकि जैसे घट, मठ, मेघों और आकाश को भिन्न मानते हो, वैसे कारण-कार्यरूप जगत् और जीव को ब्रह्म से और ब्रह्म को इनसे भिन्न मान लो।

[प्रतिबिम्ब साकार का पड़ता है, निराकार का नहीं]

नवीन—जैसा अग्नि सबमें प्रविष्ट होकर देखने में तदाकार दीखता है, इसी प्रकार परमात्मा जड़ और जीव में व्यापक होकर आकारवाला अर्थात् अज्ञानियों को आकारयुक्त दीखता है। वास्तव में ब्रह्म न जड़ और न जीव है। जैसे सहस्र जल के कूंडे धरे हों, उनमें सूर्य के सहस्र प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वस्तुतः सूर्य एक है। कूंडों के नष्ट होने से जल के चलने वा फैलने से सूर्य न नष्ट होता, न चलता और न फैलता है। इसी प्रकार अन्तःकरणों में ब्रह्म का आभास, जिसको 'चिदाभास' कहते हैं, पड़ा है। जब तक अन्तः-करण है, तभी तक जीव है। जब अन्तःकरण ज्ञान से नष्ट होता है, तब जीव ब्रह्मस्वरूप है। इस चिदाभास को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञानकर्त्ता भोक्ता सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, जन्म-मरण अपने में जब तक आरोपित करता है, तब तक संसार के बन्धनों से नहीं छूटता।

सिद्धान्ती—यह दृष्टान्त तुम्हारा व्यर्थ है, क्योंकि सूर्य आकारवाला, जल-कूंडे भी आकारवाले हैं। सूर्य जल-कूंडे से भिन्न और सूर्य से जल-कूंडे भिन्न हैं, तभी प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि निराकार होते तो उनका प्रतिबिम्ब कभी न होता। और जैसे परमेश्वर निराकार सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ वा पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता, और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकता। अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकभाव से देखने से व्याप्य-व्यापक मिले हुए और सदा पृथक् रहते हैं। जो एक हो तो अपने में व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध कभी नहीं घट सकता। सो बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण (३।७) में स्पष्ट लिखा है। और ब्रह्म का आभास भी नहीं पड़ सकता, क्योंकि विना आकार के आभास का होना असम्भव है।

पदार्थ के अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त होने से उसके पृथक्-पृथक् नाम-रूप की कल्पना सम्भव नहीं। (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'—यजुः० ४०।५)

कूण्डों में प्रतिबिम्ब—अध्यस्त से अधिष्ठान सदा भिन्न होता है। यदि दो पदार्थों में दूरी न हो अर्थात् एक-दूसरे से पृथक् न हों तो एक का दूसरे में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। अतएव जो पदार्थ जहाँ स्वयं विद्यमान हो, वहाँ उसका आभास नहीं पड़ता। 'ज्यों आँखन सब देखिये, आँख न देखी जाय'। आँख में दूरस्थ पदार्थों की छाया पड़ती है, किन्तु स्वयं अपनी नहीं, क्योंकि आँख वहाँ स्वयं विद्यमान है। यदि आँखों को या आँख में पड़े सुरमे को देखना हो तो देशान्तर अर्थात् जल में या दर्पण में देखा जा सकता है। सूर्य जलकूण्डों से भिन्न भी है और दूर भी। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा नहीं। अतः सूर्य का अपने से दूर देशान्तर में स्थित कूण्डों में आभास होता है।

यदि जीवात्मा प्रतिबिम्ब है तो ब्रह्म अर्थात् वह पदार्थ जिसका वे प्रतिबिम्ब हैं, प्रक्षेपक (Reflector) से बाहर होना चाहिए। परन्तु ब्रह्म तो सर्वव्यापक होने से प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर विद्यमान है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर-बाहर उसकी विद्यमानता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि न वह किसी पदार्थ से दूर है और न कोई पदार्थ उससे दूर है। ब्रह्म सबके अन्तःकरणों में है और सब अन्तःकरण ब्रह्म में हैं। इस प्रकार दूरी अथवा देशान्तर न होने से, जलकूण्डों में सूर्य की भाँति अथवा दर्पण में मुख की भाँति, उसका आभास सम्भव नहीं। जैसाकि ऊपर कहा है, प्रतिबिम्ब किसी एक वस्तु का दूसरी में पड़ता है। जीव और ब्रह्म को एक मानने पर प्रतिबिम्बित पदार्थ ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं रहता। तब अधिष्ठान के अभाव में प्रतिबिम्ब होगा कहाँ ?

[अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को जीव मानना ठीक नहीं]

जो अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को जीव मानते हो, सो तुम्हारी बात बालक के समान है। अन्तःकरण चलायमान खण्ड-खण्ड, और ब्रह्म अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् न मानोगे, तो इसका उत्तर दीजिये कि—'जहाँ-जहाँ अन्तःकरण चला जाएगा वहाँ-वहाँ के ब्रह्म को अज्ञानी, और जिस-जिस देश को छोड़ेगा वहाँ-वहाँ के ब्रह्म को ज्ञानी कर देवेगा वा नहीं?' जैसे छाता प्रकाश के बीच में जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ के प्रकाश को आवरणयुक्त, और जहाँ-जहाँ से हटता है वहाँ-वहाँ के प्रकाश को आवरण-रहित कर देता है, वैसे ही अन्तःकरण ब्रह्म को क्षण-क्षण में ज्ञानी, अज्ञानी, बद्ध और मुक्त करता जाएगा।

जीव ब्रह्मस्वरूप नहीं—अन्वय-व्यतिरेक=विधायक और निषेधात्मक प्रतिज्ञा; सम्मति और वैपरीत्य अर्थात् भिन्नता। जीवात्मा से भिन्न, किन्तु अन्तर्यामी-रूप से उसमें स्थित परमात्मा का वर्णन अनेकत्र उपलब्ध है। इसका विस्तृत विवरण बृहदारण्यकोपनिषद् के 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' में हुआ है। वहाँ (३।७।२२) लिखा है—यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्याम्यमृतः। अर्थात्—जो विज्ञान में स्थित है, विज्ञान से भिन्न है, विज्ञान जिसको नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीरतुल्य है, जो अन्दर रहता हुआ विज्ञान का नियन्त्रण करता है, वह अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है, उपास्य है। यहाँ विज्ञान से भिन्न अन्तर्यामी उपास्य का स्पष्ट निर्देश है। इस सन्दर्भ में विज्ञान' पद का प्रयोग जीवात्मा के लिए हुआ है। माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण (१४।६।७।३०) में 'विज्ञान' पद का प्रयोग न होकर स्पष्ट 'आत्मा' पद का प्रयोग हुआ है—"य आत्मनि तिष्ठन्......।" जीवात्मा ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्मसदृश न कभी था, न है और न कभी होगा, इसमें सबसे बड़ी साक्षी स्वयं आचार्य शंकर की है। ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (४।४।१७) के भाष्य में उन्होंने लिखा है—

"जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः। तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे एतेषामनेकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित् संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।"

अर्थात्—"जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य मुक्तात्माओं को प्राप्त हो सकता है। जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है। इसमें उसी का अधिकार है। जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्माओं का सहयोग या सान्निध्य सर्वथा अनपेक्षित है। यह भी सम्भव है कि उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में परस्पर विरोध खड़ा हो जाये।" इस लेख से इतनी बातें स्पष्ट हैं—

१. जीवात्मा का अस्तित्व तथा ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत नहीं है। यदि ऐसा होता तो अविद्या का नाश हो जाने के कारण मुक्त (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते) हो जाने पर उसका अस्तित्व मिट जाना चाहिए था। परन्तु शंकर उसकी सत्ता का मोक्षदशा में भी बना रहना स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

२. जीवात्मा अन्तःकरण में पड़नेवाला परमात्मा का प्रतिबिम्ब भी नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो मोक्षलाभ होने पर अन्तःकरण के न रहने से भी जीवात्मा का अस्तित्व न बना रहता।

अखण्ड ब्रह्म के एक देश में आवरण का प्रभाव सर्वदेश में होने से सब ब्रह्म अज्ञानी हो जाएगा; क्योंकि वह चेतन है। और मथुरा में जिस अन्तःकरणस्थ ब्रह्म ने जो वस्तु देखी, उसका स्मरण उसी अन्तःकरणस्थ से काशी में नहीं हो सकता। क्योंकि **'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति न्यायात्'** और के देखे का स्मरण और को नहीं होता। जिस चिदाभास ने मथुरा में देखा, वह चिदाभास काशी में नहीं रहता। क्योंकि जो मथुरास्थ अन्तःकरण का प्रकाशक है, वह काशीस्थ ब्रह्म नहीं होता।

---

३. समुद्र में नदियों की भाँति (सरित्सागरवत्) मोक्षावस्था में ब्रह्म में आत्माओं का लय नहीं होता। यदि ऐसा होता तो उस अवस्था में उनको 'अनेक' कैसे कहा जा सकता था।

४. जीवों को ब्रह्म का अंश अथवा अग्नि की चिंगारियों के सदृश भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु के अंशों अथवा अग्नि की चिंगारियों में परस्पर भेद या विरोध नहीं होता, जबकि शंकर मोक्षावस्था में भी जीवात्माओं में 'अनैकमत्य' तथा 'विरोध' का होना मानते हैं।

५. शंकर के मत में मुक्त पुरुष सब प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त कर लेने पर भी सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य नहीं कर सकता। यदि जीव ब्रह्म में विलीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता तो उसे सृष्टि निर्माण आदि कार्य में असमर्थ क्यों बताया जाता? जो पहले भी ब्रह्म था और उपाधि के कारण कुछ कसर हो गई थी तो उपाधि से छूट कर मोक्षावस्था में ब्रह्मलीन हो जाने से पूरी हो गई, तब उसमें कोई अयोग्यता क्यों रह जाए? स्पष्ट है कि किसी भी अवस्था में जीव न ब्रह्म बन सकता है, न ब्रह्म-जैसा।

६. अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी (अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जानेवाले राजकुमार की तरह) जीवात्मा न केवल 'ब्रह्म न भवति' अपितु 'साम्यमपि नौपैति'। तब भी ब्रह्म को प्राप्त अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकारों से वंचित रहता है। ब्रह्मलोक में रहते हुए भी उसे द्वितीय श्रेणी के नागरिक का जीवन बिताना पड़ता है। वह विशेषाधिकार सम्पन्न ब्रह्म की बराबरी का दावा कैसे कर सकता है?

७. जगत् के उत्पत्त्यादि कार्य में मुक्तात्माओं का सहयोग ही नहीं, उनका सान्निध्य भी परमात्मा को सहन नहीं, क्योंकि उनके मतभेदों के कारण उसे अपने उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा व्यवस्था आदि कार्यों में बाधा पड़ने की आशंका है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि परमेश्वर में मुक्तात्माओं को समझा-बुझाकर उनके मतभेदों को दूर करने अथवा उनके मतभेदों के रहते अपना काम करते रहने की भी शक्ति नहीं है।

८. परमेश्वर के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की प्रवत्ति तथा मतभेद बने रहने से उनका व्यवहार लोकवत् प्रतीत होता है, जो मुक्तावस्था में भी उनके अविद्या से मुक्त होने में सन्देह पैदा करता है।

रामानुज ने भी शंकर का अनुमोदन करते हुए कहा है—"एते च जगत्पतित्व-जगद्धिरण-सर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थायामपि न कथञ्चिद् भवन्ति।" अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा सर्वेश्वरत्वादि गुण जीवात्मा को मुक्तावस्था में भी प्राप्त नहीं होते।

अनादि काल में जब कोई आत्मा मुक्त हुआ है, उससे पहले संसार चालू रहा है। इसलिये संसार की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्मा को निमित्त या प्रयोजक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः मुक्तात्मा कभी परब्रह्म के कार्य का अधिकारी या स्थानापन्न नहीं हो सकता। जीवात्मा को मुक्तावस्था में प्राप्त

ऐश्वर्यसम्बन्धी शास्त्र-वचनों का तात्पर्य उसके अधिकार की सीमा में अवस्थित ऐश्वर्य को प्रकट करना है। अब वह बिना किसी बाधा के अपने सामर्थ्य से सब भावनाओं की अनुभूति में पूर्ण क्षमता रखता है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह परब्रह्म के सदृश हो गया है।

अन्तःकरणोपाधि के कारण चिदाभास के रूप में ब्रह्म तथा जीव का अभेद मानने पर क्षण-क्षण में ब्रह्म के ज्ञानी और अज्ञानी होते रहने से बन्ध और मोक्ष भी क्षणभंगुर तथा एकदेशी हुआ करेंगे। इसके अतिरिक्त एक ही ब्रह्म में बन्ध और मोक्ष युगपत् (किसी भाग में बन्ध और किसी में मोक्ष) होते रहेंगे, जो सर्वथा असम्भव है। अभेद की स्थिति में प्रत्येक जीव के ब्रह्म होने से किसी एक जीव द्वारा किए गये कर्म और उनके फलोपभोग की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि अभेदरूप से वे सब एक ब्रह्म हैं। जिस आभास अर्थात् अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेश में कोई कर्म किया, उसके स्थानान्तरित हो जाने से भोगकाल में उसी के द्वारा भोगे जाने की व्यवस्था सम्भव न होगी। इस प्रकार करनेवाला अन्य और भोगनेवाला अन्य होगा। जो कर्म करे वही उसका फल भोगे—यह जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने पर ही सम्भव है।

अनुभव होने के अनन्तर प्रमाता को उस विषय का जो स्मरण होता है, उसे 'अनुस्मृति' कहते हैं। इसी प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञान' नाम से अभिहित किया जाता है। यदि अन्तःकरण की उपाधि के कारण ब्रह्म की स्थिति बदलती रहे और इस कारण प्रत्येक भाव क्षणिक हो तो प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पहले देखे-सुने का ज्ञान किसी को न होगा, क्योंकि अन्य के देखे-सुने का अन्य को स्मरण होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। ऐसा सम्भव हो तो सब के देखे-सुने का सबको स्मरण होना चाहिए, जो सर्वथा असिद्ध है।

देवदत्त का पाँच वर्ष के अन्तराल के पश्चात् घर लौटने पर यह कहना कि 'मैं अपने घर अपने पारिवारिक जनों के बीच लौट आया हूँ' सिद्ध करता है कि न प्रमाता देवदत्त क्षणिक है और न प्रमेय 'घर' या 'पारिवारिक जन।' यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्र तथा नित्य सत्ता को स्वीकार किया जाय। (न क्षणिकत्वं-प्रत्यभिज्ञाबाधात्-सांख्य १।३४-३५)। डा० राधाकृष्णन् की मान्यता है कि "ज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञान अथवा अनुभव तथा स्मरण का आश्रय एक ही व्यक्ति होना चाहिए। इसलिए अपने अनुभव का स्मरण करनेवाला प्रमाता क्षणिक नहीं हो सकता। यद यह कहा जाय कि दोनों अवस्थाओं में प्रमाता के एक होने का विश्वास दो या अधिक अनुभवों में सादृश्य के कारण है तो इससे भी सादृश्य को अनुभव करने में समर्थ किसी नित्य सत्ता के अनुभव की सिद्धि होती है।"[1]

रामानुज ने 'अनुस्मृति' को 'प्रत्यभिज्ञान' कहा है (अनुस्मरणं पूर्वभूतवस्तुविषयं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः—श्रीभाष्य २।२।२५)। यदि प्रत्येक भाव क्षणिक हो तो रामानुज के मत में, प्रत्यभिज्ञा की ही नहीं, अनुमान की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके लिए सामान्य प्रस्थापना के निश्चय तथा स्मरण की पूर्वकल्पना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, वस्तुओं के क्षणिक होने की प्रस्थापना को सिद्ध करना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि ज्यों ही प्रमाता अपने पक्ष की स्थापना करेगा,

---

1. The moments of Cognition and recognition, perception and remembrance should belong to the same person and cannot be regarded as momentary. If it be said that belief in one and other same experiencing subject arises from the similarity of two or more cognitions of the self, the recognition of similarity implies a person who is permanent enough to discern the similarity of different cognitions— Radhakrishnan : Brahmasutra 2.2.25.

जो ब्रह्म ही जीव है किन्तु पृथक् नहीं, तो जीव को सर्वज्ञ होना चाहिए। यदि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पृथक् है, तो 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् पूर्व दृष्ट-श्रुत का ज्ञान किसी को नहीं हो सकेगा। जो कहो कि ब्रह्म एक है इसलिये स्मरण होता है, तो एक ठिकाने अज्ञान वा दुःख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान वा दुःख हो जाना चाहिए। और ऐसे-ऐसे दृष्टान्तों से नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म को तुमने अशुद्ध, अज्ञानी और बद्ध आदि दोषयुक्त कर दिया है, और अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर दिया है।

नवीन—निराकार का भी आभास होता है। जैसाकि दर्पण वा जलादि में आकाश का आभास पड़ता है। वह नीला वा किसी अन्य प्रकार गम्भीर गहरा दीखता है। वैसा ब्रह्म का भी सब अन्तःकरणों में आभास पड़ता है।

सिद्धान्ती—जब आकाश में रूप ही नहीं है, तो उसको आँख से कोई भी नहीं देख सकता। जो पदार्थ दीखता ही नहीं, वह दर्पण और जलादि में कैसे दीखेगा? गहरा वा छिदरा साकार वस्तु दीखता है, निराकार नहीं।

नवीन—तो फिर जो यह ऊपर नीला-सा दीखता है, वही आदर्श वा जल में भान होता है, वह क्या पदार्थ है?

सिद्धान्ती—वह पृथिवी से उड़कर [ऊपर गये हुए] जल, पृथिवी और अग्नि के त्रसरेणु हैं। जहाँ से वर्षा होती है, वहाँ जल न हो तो वर्षा कहाँ से होवे? इसलिए जो दूर-दूर तम्बू के समान दीखता है, वह जल का चक्र है। जैसे कुहिर दूर से घनाकार दीखता है, और निकट से छिदरा, और डेरे के समान भी दीखता है, वैसा आकाश में जल दीखता है।

त्यों ही वह नहीं रहेगा और उसका स्थान दूसरा प्रमाता ले लेगा जो उसके अधूरे कार्य को उससे अनभिज्ञ होने के कारण नहीं कर सकेगा।[1]

यदि जीवात्मा को नित्य न मानकर क्षणिक माना जाएगा तो लोक-व्यवहार असम्भव हो जायेगा। प्रत्येक पदार्थ किसी कार्य की सिद्धि के लिए होता है। पदार्थ के द्वारा किसी प्रयोजन के सम्पन्न होने में ही उसकी सार्थकता है। यही उसके स्थायित्व का प्रमाण है। क्षणिकवाद में यह कदापि सम्भव नहीं। प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले घड़े या वस्त्र से पानी भरने या तन ढाँपने का काम नहीं लिया जा सकता। जो पदार्थ अगले क्षण भी टिकनेवाला नहीं, उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि कैसे सम्भव है? इसलिए प्रमाता जीवात्मा और (प्रमेय के रूप में) पदार्थ का क्षणिक होना न तर्कसंगत है, न व्यवहार्य है।

आकाश नीला नहीं—'अन्तःकरणेषु प्रतिविम्बं जीवचैतन्यम्' (वेदान्तपरिभाषा—१) का प्रत्याख्यान करते हुए जब हम यह कहते हैं कि आकृतिविहीन वस्तु का प्रतिबिम्ब नही पड़ता, इसलिए निराकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, तो नवीन वेदान्ती का उत्तर है कि स्वच्छ जल में निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि निराकार ब्रह्म का

---

1. Ramanuja points out that not only recognition but inference which presupposes the ascertainment and remembrance of general propositions of would become inexplicable. He would not even be able to prove the assertion that things are momentary; for the subject perishes the very moment, he states the proposition to be proved and another subject will be unable to complete what has begun by another and about which he himself does not know anything—Radhakrishnan : Brahmasutra, p. 382.

नवीन—क्या हमारे रज्जू, सर्प और स्वप्नादि के दृष्टान्त मिथ्या हैं ?

सिद्धान्ती—नहीं, तुम्हारी समझ मिथ्या है, सो हमने पूर्व लिख दिया। भला यह तो कहो कि प्रथम अज्ञान किसको होता है ?

नवीन—ब्रह्म को।

सिद्धान्ती—ब्रह्म अल्पज्ञ है वा सर्वज्ञ ?

नवीन—न सर्वज्ञ और न अल्पज्ञ, क्योंकि सर्वज्ञता और अल्पज्ञता उपाधि-सहित में होती है।

सिद्धान्ती—उपाधि से सहित कौन है ?

नवीन—ब्रह्म।

सिद्धान्ती—तो ब्रह्म ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हुआ। तो तुमने सर्वज्ञ और अल्पज्ञ का निषेध क्यों किया था ? जो कहो कि उपाधि कल्पित अर्थात् मिथ्या है, तो कल्पक अर्थात् कल्पना करनेवाला कौन है ?

प्रतिबिम्ब नहीं होता ? इसलिए इस आधार पर अन्तःकरण में निराकार ब्रह्म के प्रतिबिम्ब होने में कोई बाधा नहीं।

परन्तु आकाश में रूप-स्पर्शादि नहीं है, इसलिए वह नेत्रादि इन्द्रियों का विषय नहीं है। वस्तुतः 'आकाश' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है। दार्शनिक अर्थ में आकाश एक द्रव्य है जो निराकार एवं सर्वव्यापी है। साधारण बोलचाल में जिसे आकाश कहा जाता है, वह वास्तव में आकाश न होकर दूर तक फैले पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणुओं का संघातमात्र है। जल में उसी की छाया पड़ती है। नीला-नीला मेहराव सा दीखनेवाला दार्शनिक आकाश नहीं है। आकाश तो निराकार व्यापक तत्त्व है। न वह किसी को दीख सकता है और न उसका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इसलिए बोलचाल के आकाश को दार्शनिक आकाश का पर्याय मानकर उससे एक प्रतिपत्ति की स्थापना करना सर्वथा असंगत है।

आकाश के नीला दीखने की व्याख्या हमारे समय में सबसे पहले टिण्डाल (Tyndal) ने की। उसने बताया कि जब सूर्य के प्रकाश की किरणें (तरंगें) वायु में स्थित सूक्ष्म परमाणुओं से टकराती हैं, तो प्रकाश का ध्रुवीकरण हो जाता है। उसी को बोलचाल में आकाश का नाम दिया जाता है और जल में अथवा दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है। (The Book of Popular Science, Vol. VIII, p. 25).

अज्ञान किसको ?—ज्ञान के अभाव अथवा मिथ्या ज्ञान का नाम अज्ञान है। जड़ होने से प्रकृति सर्वथा अज्ञ है। स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से ब्रह्म में अज्ञान नहीं हो सकता। भ्रम न प्रकाश में हो सकता है जब सब कुछ स्पष्ट दीखता है और न अन्धकार में जब बिल्कुल दिखाई नहीं देता। भ्रम को उत्पन्न करने के लिए प्रकाश तथा अन्धकार का मेल अर्थात् झुटपुटा चाहिए जब दिखाई तो पड़ता है, पर स्पष्ट नहीं। इसका तात्पर्य है कि भ्रम न तो सर्वज्ञ (ब्रह्म) को हो सकता है और न सर्वथा अज्ञ (प्रकृति) को। केवल अल्पज्ञ जीव ही उसका शिकार हो सकता है, क्योंकि वह ईश्वर के समान चेतन तो है, पर सर्वज्ञ नहीं। जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता।

ब्रह्म मिथ्याकल्पक नहीं—यदि नामरूपात्मक जगत् अविद्याकल्पित है तो प्रश्न उठता है कि इसकी कल्पना करनेवाला कौन है ? अविद्या स्वयं कल्पना नहीं कर सकती, क्योंकि वह कोई तत्त्व नहीं है। द्रव्य मानने पर द्वैत सिद्ध होगा। वेदान्तदर्शन (२।१।१५) के अपने श्रीभाष्य में इस विषय का

नवीन—जीव ब्रह्म है वा अन्य ?

सिद्धान्ती—अन्य है। क्योंकि जो ब्रह्म-स्वरूप है, तो जिसने मिथ्या कल्पना की वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जिसकी कल्पना मिथ्या है, वह सच्चा कब हो सकता है ?

नवीन—हम सत्य और असत्य को झूंठ मानते हैं, और वाणी से बोलना भी मिथ्या है।

सिद्धान्ती—जब तुम झूंठ कहने और माननेवाले हो, तो झूंठे क्यों नहीं ?

नवीन—रहो। झूंठ और सच हमारे ही में कल्पित हैं, और हम दोनों के साक्षी अधिष्ठान हैं।

सिद्धान्ती—जब तुम सत्य और झूंठ के आधार हुए, तो साहूकार और चोर के सदृश तुम्हीं हुए। इसमे तुम प्रामाणिक भी नहीं रहे। क्योंकि प्रामाणिक वह होता है, जो सर्वदा सत्य माने, सत्य बोले, सत्य करे; झूंठ न माने, झूंठ न बोले और झूंठ कदाचित् न करे। जब तुम अपनी बात को आप ही झूंठ करते हो, तो तुम अपने-आप मिथ्यावादी हो।

नवीन—अनादि माया जोकि ब्रह्म के आश्रय और ब्रह्म ही का आवरण करती है, उसको मानते हो वा नहीं ?

विवेचन करते हुए रामानुज ने लिखा है—कल्पक कौन है ? निश्चय ही वह अविद्या नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। जीव भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अपना प्रादुर्भाव अध्यास के परिणामस्वरूप होता है। यदि ब्रह्म को कल्पक माना जायगा तो वह स्वयं अज्ञानी हो जायेगा। (कल्पकः क इति निरूपणीयम्। न तावदविद्या अचेतनत्वात्। नापि जीवः, आत्माश्रयदोषप्रसंगात्। ब्रह्मैव कल्पकमिति चेद ब्रह्माज्ञानायतनम्।)

'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन', चिदाभास आदि किसी भी नाम से अभिहित किया जाए, ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरी चेतन सत्ता न होने से ब्रह्म ही अपने ऊपर एक ऐसी वस्तु आरोपित करने का दोषी होगा, जिसके मिथ्या होने का (सर्वज्ञ होने के कारण) उसे पहले से ज्ञान है। ऐसा करने से वह जान-बूझकर झूठ बोलने का अपराधी सिद्ध होगा। किन्तु सत्यस्वरूप एवं सत्यसंकल्प परमात्मा ऐसा कभी नहीं कर सकता। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार 'बन्धो विपर्ययात्' (सांख्य ३।२४) विपर्यय अर्थात् मिथ्या-ज्ञान बन्धन का हेतु है। 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्'—जिस वस्तु की यथार्थरूप में स्थिति न हो, ऐसे मिथ्या-ज्ञान का नाम 'विपर्यय' है। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की मिथ्या कल्पना करके नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म स्वयं बन्धन में पड़ जाएगा। जब स्वयं ईश्वर ही बन्धन में आ गया तो और किसी की मुक्ति का तो प्रश्न ही नहीं।

गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। कल्पना गुण है किसी का और वह ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई नहीं है। गुणी ब्रह्म नित्य है तो उसका गुण कल्पना भी नित्य होगी। इस प्रकार कल्पित होने पर भी जगत् नित्य सिद्ध होगा।

मायावाद—मायावाद के प्रवर्त्तक अथवा सबसे महान् प्रचारक स्वामी शङ्कराचार्य एक ओर तो माया को अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) मानते हैं और दूसरी ओर उसकी चर्चा करते नहीं अघाते, यहाँ तक कि अपने अद्वैतवाद का सारा महल उसी की नींव पर खड़ा करते हैं। स्वयं स्पष्ट न होते हुए भी उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते हैं। डा० प्रभुदत्त शास्त्री कृत 'Doctrine of Maya' के अनुसार विभिन्न रूपों में 'माया' शब्द ऋग्वेद में ७० बार और अथर्ववेद में २७ बार आया है। यास्क, सायण और दयानन्द सभी इस विषय में एक मत हैं कि वेद में इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञानविशेष' के अर्थ में हुआ है। उव्वट ने यजुर्वेद में इसका अर्थ 'प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा' किया है।

निघण्टु (३-९) में भी इसका अर्थ 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञान' किया गया है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'वेद' में जगत् के मिथ्या होने का कहीं उल्लेख नहीं है। वहाँ माया शब्द "शक्ति" का वाचक है। रामानुजाचार्य कहते हैं 'माया शब्दो ह्याश्चर्यवाची' अर्थात् 'माया' शब्द आश्चर्यवाची होने से स्वप्न की सृष्टि आश्चर्यमयी है। वेदान्तदर्शन में केवल एक स्थान (३-२-३) पर 'माया' शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकरस्वामी ने 'मायैव सन्ध्ये सृष्टिः' कहकर यहाँ माया शब्द का प्रयोग 'काल्पनिक' के अर्थ में किया है। दोनों अर्थों में कोई विसंगति नहीं है। यहाँ स्वप्न का प्रसङ्ग है। इससे पहले एक सूत्र में पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए कहा गया था—'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (३-२-१) निश्चय ही सन्ध्य में सृष्टि कही जाती है। जाग्रत् और सुषुप्ति की सन्धि होने से 'स्वप्न' की 'सन्ध्य' संज्ञा है। इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया 'मायामात्रं तु कात्स्न्येंनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' अर्थात् स्वप्न में देखे जाने से वह विपरीत ज्ञान मात्र अथवा काल्पनिक सृष्टि है। कल्पना आश्चर्यमयी ही होती है। किन्तु जैसा हम इससे पूर्व अपने सूत्र २८ के अन्तर्गत स्पष्ट कर आये हैं, स्वप्न में जो कुछ देखा सुना जाता है वह वहाँ उस समय स्वप्नद्रष्टा के भीतर भले ही न हो परन्तु बाहर भी उसका अस्तित्व कहीं भी और कभी भी न रहा हो, ऐसा नहीं हो सकता। प्रस्तुत सूत्रान्तर्गत स्वप्न की सृष्टि को मायामात्र इसलिये बताया गया है कि वहाँ अर्थ की अभिव्यञ्जना पूर्णरूप से (कात्स्न्येंन) नहीं हो पाती। 'कात्स्न्यं' अथवा पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है किसी उचित देश और काल में उचित निमित्तों से न होना। स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों में यही होता है कि वे उचित देश और काल में न देखे जाकर अन्यत्र देखे जाते हैं। इसी कारण वे मिथ्या होते हैं। उनका अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता। जब मायावी ऐन्द्रजालिक किसी वस्तु का प्रदर्शन करता है तब भी उसका कोई-न-कोई आधार या निमित्त अवश्य रहता है। वह आधार या निमित्त अभावमात्र नहीं हो सकता। जब वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है तो उसी के सदृश रस्सी, लकड़ी या अन्य किसी लचीली वस्तु को निमित्त बनाकर प्रदर्शन करता है। दर्शकों को सर्प का आभास होता है। वस्तुतः वह सर्प नहीं होता। अन्य वस्तु में सर्पत्व का यह मिथ्याज्ञान भी उन्हीं को होता है जिनको पहले से वास्तविक सर्प का ज्ञान होता है और वह भी सर्पसदृश वस्तु को देखकर ही। इस प्रकार प्रदर्शित वस्तु का उभार अभाव से न होकर किसी वस्तु-तत्त्व से होता है। इसलिये वस्तुमात्र का अभाव में पर्यवसान नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐन्द्रजालिक प्रदर्शन में भी इन तीन का होना अनिवार्य है—मिथ्याज्ञान करानेवाला, मिथ्याज्ञान का आश्रय दर्शक तथा मिथ्याज्ञान के आधार और आधेय पदार्थ। ऐन्द्रजालिक दर्शकों को तो मिथ्याज्ञान कराता है परन्तु वह स्वयं मिथ्या ज्ञान से अभिभूत कभी नहीं होता। इसी का नाम माया है। अल्पज्ञ जीव को भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म त्रिकाल में माया अर्थात् मिथ्याज्ञान से अभिभूत नहीं हो सकता। न वह अभाव से भाव की उत्पत्ति कर सकता है और न ऐन्द्रजालिकों या मदारियों की भाँति किसी को भ्रान्ति में डालने का काम कर सकता है। 'रसो वै सः' वह आनन्दस्वरूप है। अतः उसे अपना मनोरंजन करने के लिये भी इस प्रकार के खेल तमाशे करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि अद्वैतवादियों में प्रचलित अर्थों में 'माया' पद का ग्रहण किया जाये तो एक साथ अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। माया द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है तो द्वैतवाद सिद्ध हो गया। यदि गुण है तो किसका ? अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य नहीं। अनिवार्यतः ब्रह्म को ही माया का अधिष्ठान मानना पड़ेगा। तब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और माया का यह समवाय सम्बन्ध है या संयोग सम्बन्ध ? यदि समवाय सम्बन्ध है तो वह अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य होगा। तब, यदि माया की उपाधि से ही जगत् का आविर्भाव माना जाये तो भी ब्रह्म और उसकी माया के

सिद्धान्ती—नहीं मानते। क्योंकि तुम माया का अर्थ ऐसा करते हो कि जो वस्तु न हो और भासे है। तो इस बात को वह मानेगा जिसके हृदय की आँख फूट गई हो। क्योंकि जो वस्तु नहीं, उसका भासमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसा बन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता। और यह 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः' (छां० ६।८।४) इत्यादि छान्दोग्य आदि उपनिषदों के वचनों से विरुद्ध कहते हो।

नित्य होने से यह जगत् भी नित्य अथवा त्रिकाल में सत्य हो गया। ब्रह्म भी सदा के लिये मायोपाधि से ग्रस्त होकर दूषित हो गया और इस प्रकार उसका शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव भी जाता रहा। यदि संयोग सम्बन्ध माना जाये तो प्रश्न उठता है—क्यों और कब से ? यदि ब्रह्म पहले शुद्ध था और कालान्तर में कभी माया के वशीभूत हो गया तो प्रश्न होगा कि यह माया पहले कहाँ और किसके आश्रित थी ? कहीं-न-कहीं तो अवश्य होगी। न होती तो कहाँ से आती, क्योंकि 'नावस्तुनो सिद्धिः'—अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब थी तो गुण होने से किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित होगी। द्रव्य ब्रह्म के सिवा दूसरा था नहीं। घूम फिर कर हम फिर वहीं आ गये। माया ब्रह्म के आश्रित अथवा उसका गुण हो गई। ब्रह्म अनादि है तो उसकी माया भी अनादि हो गई। एक और प्रश्न उपस्थित होता है—माया चेतन है या जड़ ? चेतन है तो अद्वैत-वाद को चुनौती देनेवाला दूसरा चेतन तत्त्व हो गया। यदि जड़ है तो सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म के जड़ माया के वशीभूत हो जाने की बात समझ में नहीं आती।

अविद्या की भाँति माया के आवरण (परदे) को भी अज्ञान का कारण माना जाता है। उसी के कारण कुछ-का-कुछ दिखाई देता है और ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। परन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।१०) के अन्तर्गत 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' इस वचन से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि माया पद प्रकृतिवाचक है।

माया का आवरण—अवरोध सदा दो पदार्थों के बीच सम्भव है। आवरण के दोनों ओर कुछ-न-कुछ का होना अनिवार्य है। अतएव जब तक ब्रह्म के दो भाग न किये जाएँ अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कम-से-कम एक अन्य तत्त्व (जीव) की सत्ता न मानी जाए तब तक तीसरे आवरण का प्रश्न ही नहीं उठता। सूर्यग्रहण के लिए तीन पदार्थों का होना आवश्यक है—सूर्य जिसे ग्रहण लगता है, पृथिवी (पृथिवीस्थ प्राणी) जिसे ग्रहण की प्रतीति होती है और चन्द्रमा जिसके बीच में आ जाने से ग्रहण लगता है। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में सूर्यग्रहण की प्रतीति नहीं हो सकती। मोक्ष के सन्दर्भ में जब हम यथार्थ सत्ता ब्रह्म के दर्शन में बाधक माया के आवरण की बात करते हैं तो हम तत्त्वत्रय की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं—यथार्थ सत्ता के रूप में ब्रह्म की, द्रष्टा के रूप में जीव की तथा आवरण के रूप में प्रकृति की। जब जीव प्रकृति से पराङ्मुख होकर परमात्मा की ओर प्रवृत्त होता है, तब उसे मोक्षलाभ होता है। इस प्रकार अविद्या अथवा माया के आवरण का सिद्धान्त अद्वैतवाद के विरुद्ध द्वैतवाद को सिद्ध करता है।

सन्मूलाः सोम्येमाः—छान्दोग्य उपनिषद् में यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—**"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठिताः"** (६।८।४)। अर्थात् हे सोम्य ! ये सब प्रजाएँ सत्कारण, सत् आश्रयवाली और सत् में प्रतिष्ठित हैं। यहाँ जो कुछ है, वह अपने स्वरूप में सत् है, मिथ्या कुछ नहीं। सब उपनिषदों में शीर्षस्थान में बैठा यह सन्दर्भ है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

नवीन—क्या तुम वसिष्ठ, शङ्कराचार्य आदि और निश्चलदास पर्य्यन्त जो तुमसे अधिक पण्डित हुए हैं, उन्होंने लिखा है उसको खण्डन करते हो? हमको तो वसिष्ठ, शङ्कराचार्य और निश्चलदास आदि अधिक विद्वान् दीखते हैं।

सिद्धान्ती—तुम विद्वान् हो अविद्वान्?

नवीन—हम भी कुछ विद्वान् हैं।

सिद्धान्ती—अच्छा तो वसिष्ठ, शङ्कराचार्य और निश्चलदास के पक्ष का हमारे सामने स्थापन करो, हम खण्डन करते हैं; जिसका पक्ष सिद्ध हो वही बड़ा है। जो उनकी और तुम्हारी बात अखण्डनीय होती, तो तुम उनकी युक्तियाँ लेकर हमारी बात को खण्डन क्यों न कर सकते? तब तुम्हारी और उनकी बात माननीय होवे।

[जैनियों के खण्डन के लिए नया मत स्वीकार किया]

अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदि ने तो जैनियों के मत के खण्डन करने ही के लिए यह मत स्वीकार किया हो। क्योंकि देशकाल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए बहुत-से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं। और जो इन बातों को, अर्थात् जीव ईश्वर की एकता, जगत्-मिथ्या आदि व्यवहार सच्चा ही मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, उसी का विस्तृत वर्णन उपनिषदों में प्रस्तुत हुआ है। फलतः यह सब उपनिषदों का सार है। इस सन्दर्भ का भी सार पहले दो शब्दों में है—'अदस्' और 'इदम्'। शेष भाग उसी का व्याख्यान है। 'अदस्' परोक्ष है, 'इदम्' प्रत्यक्ष है। 'अदस्' चेतन है, 'इदम्' अचेतन, जड़ है। 'अदस्' परोक्ष चेतन परब्रह्म परमात्मा है, 'इदम्' प्रत्यक्ष, अचेतन (जड़) अगणित लोक-लोकान्तरों के रूप में बिखरा पड़ा विश्व है। सन्दर्भ में बताया है—'पूर्णम् अदः', 'पूर्णम् इदम्'; 'अदस्' पूर्ण है, 'इदम्' पूर्ण है। अपने-अपने रूप में अवस्थित दोनों पूर्ण हैं, किसी में कोई न्यूनता नहीं। न्यूनता हो तो इधर-उधर से कुछ लेकर पूरा करे। इसलिए न 'अदस्' 'इदम्' से कुछ लेता है; न 'इदम्' 'अदस्' से। इसी कारण न 'अदस्' कभी 'इदम्' होता है और न 'इदम्' कभी 'अदस्'।

'अदस्' सर्वव्यापी है, कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ उसका अस्तित्व न हो, इसलिए उससे बाहर का तो प्रश्न ही नहीं उठता। 'बाहर' का विरोधी पद 'अन्दर' या 'भीतर' है। तब यही कहा जा सकता है कि 'अदस्' से अतिरिक्त जो 'इदम्' है, वह (इदम्) उसी (अदस्) के अन्दर है। अन्दर होते हुए भी 'इदम्' 'अदस्' का स्वरूप नहीं है। स्थानतः एक जगह रहते हुए भी स्वरूप से 'इदम्' 'अदस्' से पृथक् है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के अगले वाक्य में कहा—'पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते'—'अदस्' पूर्ण से 'इदम्' पूर्ण उदक्त है, पृथक् है। तात्पर्य है, स्थानतः 'अदस्' पूर्ण के अन्तर्गत भी 'इदम्' पूर्णस्वरूपेण उससे पृथक् है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के उत्तरार्द्ध में पुष्ट किया—

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

'अदस्' पूर्ण के सम्बन्धी या साथी 'इदम्' पूर्ण को पृथक् लेकर 'अदस्' पूर्ण ही बना रहता है, क्योंकि 'अदस्' पूर्ण के स्वरूप से कोई अंश 'इदम्' पूर्ण ने नहीं लिया। 'अदस्' से 'इदम्' को पृथक् उठाने से न 'अदस्' का कोई अंश न्यून हुआ और न 'इदम्' का बढ़ा। यदि ऐसा रहा होता तो सन्दर्भ का प्रथम वाक्य 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' सर्वथा अर्थहीन व असत्य हो जाता। इस प्रकार सन्दर्भ का शेष समस्त भाग उसी अर्थ की वास्तविकता को सम्पुष्ट व पुष्ट करता है। पूर्ण 'अदस्' और पूर्ण 'इदम्' के द्वैत को कौन झुठला सकता है?

[निश्चलदास का पाण्डित्य]

और निश्चलदास का पाण्डित्य देखो ऐसा है---**'जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात्'**। उन्होंने 'वृत्तिप्रभाकर' में जीव-ब्रह्म की एकता के लिए अनुमान लिखा है कि 'चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है।' यह बहुत कम-समझ पुरुष की बात के सदृश बात है। क्योंकि साधर्म्यमात्र से एक-दूसरे के साथ एकता नहीं होती, वैधर्म्य भेदक होता है। जैसे कोई कहे कि **'पृथिवी जलाऽभिन्ना जडत्वात्'** जड़ के होने से पृथिवी जल से अभिन्न है। जैसे यह वाक्य सङ्गत कभी नहीं हो सकता, वैसे निश्चलदास जी का भी अनुमान व्यर्थ है। क्योंकि जो अल्प, अल्पज्ञता और भ्रान्तिमत्त्वादि धर्म जीव में ब्रह्म से, और सर्वगत सर्वज्ञता और निर्भ्रान्तित्वादि वैधर्म्य ब्रह्म में जीव से विरुद्ध हैं, इससे ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं।

जैसे गन्धवत्त्व कठिनत्व आदि भूमि के धर्म, रसवत्व द्रवत्वादि जल के धर्म से विरुद्ध होने से पृथिवी और जल एक नहीं, वैसे जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य-युक्त होने से जीव और ब्रह्म एक न कभी थे, न हैं और न कभी होंगे। इतने ही से निश्चलदासादि को समझ लीजिए कि उनमें कितना पाण्डित्य था। और जिसने 'योगवासिष्ठ' बनाया है, वह कोई आधुनिक वेदान्ती था, न वाल्मीकि, वसिष्ठ और रामचन्द्र का बनाया वा कहा-सुना है। क्योंकि वे सब वेदानुयायी थे, वेद से विरुद्ध न बना सकते और न कह-सुन सकते थे।

[शारीरक सूत्रों में भी जीव ब्रह्म की एकता नहीं]

प्रश्न---क्या व्यासजी ने जो शारीरक सूत्र बनाये हैं, उनमें भी जीव ब्रह्म की एकता नहीं दीखती है? देखो---

सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

जीवो ब्रह्माभिन्नश्चेतनत्वात्---किसी एक धर्म के समान होने अर्थात् थोड़ी-सी समानता पाये जाने से पदार्थों में तादात्म्य नहीं हो जाता। अनेक प्रकार के हीरे और मणियाँ, कोयला और पत्थर सब पृथिवी में पाये जाते हैं। इन सब में पार्थिव धर्म समान हैं, फिर भी वे समान नहीं हैं। मनुष्य और चींटी दोनों पैरों से चलते और मुँह से खाते हैं, फिर भी मनुष्य को चींटी और चींटी को मनुष्य नहीं माना जा सकता। चीनी और नमक का रंग समान होने पर भी चीनी की मिठास और नमक का खारापन चीनी का काम नमक से लेने में बाधक होगा। इसी प्रकार दोनों में चैतन्य गुण समान होने पर भी परमेश्वर के अनन्त ज्ञान, बल, क्रिया, आनन्द तथा निर्भ्रान्तित्त्व जीव से और जीव के अल्प-ज्ञान, अल्प-बल, भ्रान्तित्त्व आदि गुण परमेश्वर से भिन्न हैं। ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, जबकि जीव शुद्ध, चेतन तथा अपरिणामी होते हुए भी कभी बद्ध, कभी मुक्त रहता है। दोनों के चेतन (ज्ञ) होने पर भी एक के साथ 'अल्प' और दूसरे के साथ 'सर्व' सदा लगा रहेगा। जीवात्मा कितना भी प्रयत्न करे, वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्ति तथा जगत्स्रष्टा नहीं बन सकता। इसलिए चैतन्य तथा अन्य कुछ गुणों में समान होने पर भी परमात्मा और जीवात्मा एक नहीं हो सकते।

योगवासिष्ठ---यदि योगवासिष्ठ महर्षि वाल्मीकि आदि की रचना होती तो शंकराचार्य उसका प्रमाण अवश्य देते। यह तो शंकराचार्य से बहुत पीछे का बना है।

सम्पद्याऽऽविर्भावः---नवीन वेदान्ती इस सूत्र की व्याख्या में यह प्रमाण प्रस्तुत किया करते हैं---**'एवमेवायं सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स यथा**

[निश्चलदास का पाण्डित्य]

और निश्चलदास का पाण्डित्य देखो ऐसा है---**'जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात्'**। उन्होंने 'वृत्तिप्रभाकर' में जीव-ब्रह्म की एकता के लिए अनुमान लिखा है कि 'चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है।' यह बहुत कम-समझ पुरुष की बात के सदृश बात है। क्योंकि साधर्म्यमात्र से एक-दूसरे के साथ एकता नहीं होती, वैधर्म्य भेदक होता है। जैसे कोई कहे कि **'पृथिवी जलाऽभिन्ना जडत्वात्'** जड़ के होने से पृथिवी जल से अभिन्न है। जैसे यह वाक्य सङ्गत कभी नहीं हो सकता, वैसे निश्चलदास जी का भी अनुमान व्यर्थ है। क्योंकि जो अल्प, अल्पज्ञता और भ्रान्तिमत्त्वादि धर्म जीव में ब्रह्म से, और सर्वगत सर्वज्ञता और निर्भ्रान्तित्वादि वैधर्म्य ब्रह्म में जीव से विरुद्ध हैं, इससे ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं।

जैसे गन्धवत्त्व कठिनत्व आदि भूमि के धर्म, रसवत्व द्रवत्वादि जल के धर्म से विरुद्ध होने से पृथिवी और जल एक नहीं, वैसे जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य-युक्त होने से जीव और ब्रह्म एक न कभी थे, न हैं और न कभी होंगे। इतने ही से निश्चलदासादि को समझ लीजिए कि उनमें कितना पाण्डित्य था। और जिसने 'योगवासिष्ठ' बनाया है, वह कोई आधुनिक वेदान्ती था, न वाल्मीकि, वसिष्ठ और रामचन्द्र का बनाया वा कहा-सुना है। क्योंकि वे सब वेदानुयायी थे, वेद से विरुद्ध न बना सकते और न कह-सुन सकते थे।

[शारीरक सूत्रों में भी जीव ब्रह्म की एकता नहीं]

प्रश्न---क्या व्यासजी ने जो शारीरक सूत्र बनाये हैं, उनमें भी जीव ब्रह्म की एकता नहीं दीखती है? देखो---

सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

जीवो ब्रह्माभिन्नश्चेतनत्वात्---किसी एक धर्म के समान होने अर्थात् थोड़ी-सी समानता पाये जाने से पदार्थों में तादात्म्य नहीं हो जाता। अनेक प्रकार के हीरे और मणियाँ, कोयला और पत्थर सब पृथिवी में पाये जाते हैं। इन सब में पार्थिव धर्म समान हैं, फिर भी वे समान नहीं हैं। मनुष्य और चींटी दोनों पैरों से चलते और मुँह से खाते हैं, फिर भी मनुष्य को चींटी और चींटी को मनुष्य नहीं माना जा सकता। चीनी और नमक का रंग समान होने पर भी चीनी की मिठास और नमक का खारापन चीनी का काम नमक से लेने में बाधक होगा। इसी प्रकार दोनों में चैतन्य गुण समान होने पर भी परमेश्वर के अनन्त ज्ञान, बल, क्रिया, आनन्द तथा निर्भ्रान्तित्त्व जीव से और जीव के अल्प-ज्ञान, अल्प-बल, भ्रान्तित्त्व आदि गुण परमेश्वर से भिन्न हैं। ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, जबकि जीव शु चेतन तथा अपरिणामी होते हुए भी कभी बद्ध, कभी मुक्त रहता है। दोनों के चेतन (ज्ञ) होने पर भ एक के साथ 'अल्प' और दूसरे के साथ 'सर्व' सदा लगा रहेगा। जीवात्मा कितना भी प्रयत्न करे, वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्ति तथा जगत्स्रष्टा नहीं बन सकता। इसलिए चैतन्य तथा अन्य कुछ गुणों में समान होने पर भी परमात्मा और जीवात्मा एक नहीं हो सकते।

योगवासिष्ठ---यदि योगवासिष्ठ महर्षि वाल्मीकि आदि की रचना होती तो शंकराचार्य उसका प्रमाण अवश्य देते। यह तो शंकराचार्य से बहुत पीछे का बना है।

सम्पद्याऽऽविर्भावः---नवीन वेदान्ती इस सूत्र की व्याख्या में यह प्रमाण प्रस्तुत किया करते हैं---**'एवमेवायं सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स यथा**

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥२॥
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥३॥
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥४॥
अत एव चानन्याधिपतिः ॥५॥--वेदान्त ४।४।१, ५, ६, ७, ९

अर्थात् जीव अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त होकर प्रकट होता है, जोकि पूर्व ब्रह्मस्वरूप था। क्योंकि 'स्व' शब्द से अपने ब्रह्मस्वरूप का ग्रहण होता है ॥१॥

'अयमात्माऽपहतपाप्मा' (छां० ८।७।१) इत्यादि उपन्यास ऐश्वर्य-प्राप्ति पर्यन्त हेतुओं से ब्रह्म-स्वरूप से जीव स्थित होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ॥२॥

और औडुलोमि आचार्य्य तदात्मकस्वरूप-निरूपणादि बृहदारण्यक के हेतुरूप के वचनों से चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव मुक्ति में स्थित रहता है[1] ॥३॥

व्यासजी इन्हीं पूर्वोक्त उपन्यासादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप हेतुओं से जीव का ब्रह्मस्वरूप होने में अविरोध मानते हैं ॥४॥

योगी ऐश्वर्य-सहित अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होकर अन्य अधिपति से रहित अर्थात् स्वयं आप अपना और सबका अधिपतिरूप ब्रह्मस्वरूप से मुक्ति में स्थित रहता है ॥५॥

उत्तर—इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार का नहीं। किन्तु इनका यथार्थ अर्थ यह है। सुनिये—

सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो प्रज्ञानघनः।" (बृहद्० ४।५।१३)। किन्तु यह तो उनके पक्ष के विपरीत जाता है। इस सन्दर्भ का सीधा-सादा अर्थ करने से तो स्पष्टतः भेद की सिद्धि हो रही है। **अर्थ—इस** शरीर से निकलकर यह आत्मा (सम्प्रसादः) परम ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। जैसे नमक ढेले का अन्दर-बाहर कुछ नहीं होता, सम्पूर्ण ही रसघन होता है, ऐसे ही यह आत्मा (अच्छेद्य-अभेद्य होने के कारण) अन्तर-बाहर से शून्य और (ब्रह्मसान्निध्य के कारण) सम्पूर्ण ही अज्ञान-घन होता है। अणु आत्मा में चैतन्य स्वरूप दिखाने के लिए यह वचन है। मुक्ति में प्रकृति का संसर्ग न रहने से उससे होनेवाले भ्रमादि नहीं हो सकते, अतः उस अवधि में जीवात्मा प्रज्ञानघन ही होता है।

सम्पद्याऽऽविर्भावः आदि सूत्रों का तात्पर्य—

१. इस सूत्र का आधारभूत सन्दर्भ छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार है—**"एवमेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"** (८।१२।३) अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। 'स्वेन रूपेण निष्पद्यते' शब्दों से स्पष्ट है कि मोक्षावस्था में भी जीवात्मा का अस्तित्त्व बराबर बना रहता है, उसके स्वरूप का नाश नहीं होता।

२. **"अयमात्मा अपहतपाप्मा आत्मानमनुविद्य सर्वान् लोकान् सर्वान् च कामान् विजानाति"** (छा० ८।७।१)। पापरहित होकर जीवात्मा परमात्मा को जानकर (पाकर) समस्त कामनाओं और सम्पूर्ण लोकों को प्राप्त कर लेता है। अन्यत्र (छा० ७।२५।२) कहा है—'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो

---

१. इस पूरे सूत्रार्थ का भाव यह है कि ब्रह्म के सम्बन्ध में 'अपहतपाप्मा०' आदि कहा है। वह औडुलोमि आचार्य के मत से 'एवं वा अरेऽयमात्मानमन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः' इस बृहदारण्यक उपनिषद् (४।५।१३) के वचन से चैतन्य-मात्र स्वरूप से जीव मुक्ति में स्थित रहता है।

जबतक जीव अपने स्वकीय शुद्धस्वरूप को प्राप्त, सब मलों से रहित होकर पवित्र नहीं होता, तबतक योग से ऐश्वर्य को प्राप्त होकर अपने अन्तर्यामी ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्द में स्थित नहीं हो सकता ॥१॥

इसी प्रकार जब पापादि-रहित ऐश्वर्ययुक्त योगी होता है, तभी ब्रह्म के साथ मुक्ति के आनन्द को भोग सकता है। ऐसा 'जैमिनि' आचार्य का मत है ॥२॥

जब अविद्यादि दोषों से छूट शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव स्थिर होता है, तभी 'तदात्मकत्व' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है। ऐसा 'औडुलोमि' आचार्य का मत है ॥३॥

जब ब्रह्म के साथ ऐश्वर्य और शुद्ध विज्ञान को प्राप्त करके जीते ही जीवन्मुक्त होता है, तब अपने निर्मल पूर्व स्वरूप को प्राप्त होकर आनन्दित होता है, ऐसा व्यासमुनिजी का मत है ॥४॥

जब योगी का सत्य सङ्कल्प होता है, तब स्वयं परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति-सुख को पाता है। वहाँ स्वाधीन-स्वतन्त्र रहता है। जैसा संसार में एक प्रधान दूसरा अप्रधान होता है, वैसा मुक्ति में नहीं। किन्तु सब मुक्त जीव एक-से रहते हैं ॥५॥

[जीव से ब्रह्म पृथक् है]

जो ऐसा न हो तो—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१॥

भवति' अर्थात् मुक्तात्मा का सब लोकों में इच्छानुसार संचरण हो जाता है, इतने अंश में उसे ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। 'संचरण करना' यह प्रमाणित करता है कि आत्मा तब भी सर्वव्यापक ब्रह्म से भिन्न है। ब्रह्म की भाँति सर्वत्र प्राप्त=व्याप्त हो जाता तो संचरण का प्रश्न ही न रहता।

३. संसारी दशा में आत्मा प्रकृति-सम्पर्क से देह आदि इन्द्रिय द्वारा सम्बद्ध रहता है। मोक्ष में वह सम्पर्क नहीं रहता, इसलिए मोक्ष में आत्मा चेतनमात्र स्वरूप से अवस्थित रहता है, यह सिद्ध है। उस अवस्था में अन्य विजातीय सम्पर्क उसके साथ कुछ नहीं रहता।

४. प्रकृति सम्पर्क से अलग होकर चेतनमात्र आत्मा मोक्ष में रहता है, आचार्य औडुलोमि का यह मत शास्त्रानुकूल है। तथा आचार्य जैमिनि ने जो यह कहा कि वह ब्रह्म के आनन्दरूप का अनुभव करने के कारण ब्राह्मरूप से मोक्ष में अवस्थित माना जाना चाहिए, यह विचार भी शास्त्रानुकूल है। क्योंकि आत्मा के लिए मोक्ष का यही स्वरूप शास्त्रकारों ने माना है। इसलिए ब्रह्मसूत्रकार आचार्य बादरायण का कहना है कि इन दोनों विचारों में कोई विरोध नहीं है।

५. मोक्षावस्था में आत्मा प्रकृति के वश में नहीं रहता, प्रत्युत प्रकृति पर वशी हो जाता है और परब्रह्म परमात्मा की सर्वव्यापकता व सर्वशक्तिमत्ता का साक्षात्कार करता हुआ आत्मा में आनन्द का अनुभव करता हुआ 'स्वराट्'—आप ही अपना राजा हो जाता है। सभी मुक्त जीव एक-से रहते हैं, कोई एक-दूसरे के अधीन नहीं रहता।

नेतरोऽनुपपत्तेः—इतर (जीव) आनन्दमय सिद्ध नहीं होता।

यदि ब्रह्म और जीव एक होते तो दोनों समानरूप से आनन्दमय होते उपनिषद् म यह न कहा जाता कि जीवात्मा मृत्यु के अनन्तर आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त करता है (अस्माल्लोकात्प्रेत्य··· एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति—तै० उ० २।८)। वस्तुतः जहाँ परमात्मा स्वतः आनन्दमय है, वहाँ जीवात्मा उस आनन्दमय परमात्मा को पाकर आनन्दमय होता है (रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी

भवति—तै० उ० २।७)। उपनिषद् में ब्रह्म को जगत्स्रष्टा कहा गया है—'स इदं सर्वमसृजत (तै० २।६)। इस प्रकरण में यदि 'आनन्दमय' पद जीवात्मा का निर्देशक माना जाए तो उसके सृष्टिकर्त्ता होने का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति जीव सृष्टिकर्त्ता कदापि नहीं हो सकता। इस सूत्र के भाष्य में शंकर ने भी इस भाव की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं। यहाँ 'इतर' का अर्थ ईश्वर से भिन्न संसारी जीव है। जीव के लिए आनन्दमय पद का प्रयोग क्यों नहीं किया जा सकता ? इसलिए कि उसकी सिद्धि नहीं होती" (इतश्चानन्दमयः पर एव आत्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात् ? अनुपपत्तेः—शा० भा० १।१।१६)। इस प्रकार यहाँ शंकर ने स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म के भेद को स्वीकार किया है।

भेदव्यपदेशाच्च—भेद का कथन होने से भी जीव तथा ब्रह्म भिन्न हैं।

ब्रह्म के साथ जीव का तादात्म्य सम्भव नहीं, क्योंकि उपनिषदों में दोनों को एक-दूसरे से भिन्न बताया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—"इस विज्ञानमय से भिन्न और उसके भीतर एक आत्मा आनन्दमय है" (तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः—तै० २।५)। यहाँ 'आनन्दमय' से परमात्मा अभिप्रेत है। बृहद्० उपनिषद् (४।३।७) के जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद में जनक ने पूछा—"वह आत्मा कौन-सा है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"जो यह हृदयगत (मस्तिष्कगत ब्रह्मरन्ध्र) के भीतर प्राणवृत्तिक इन्द्रियों के बीच घिरा हुआ विज्ञानमय ज्योतिः पुरुष है, वह चेतन आत्मा है।" (कतम आत्मेति ? कोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः) यहाँ स्पष्ट ही जीवात्मा के लिए विज्ञानमय पद का प्रयोग हुआ है। अन्यत्र (मुण्डक० ३।२।७) भी कहा है—'विज्ञानमयश्च आत्मा'—विज्ञानमय आत्मा है। जीवात्मा के लिए केवल 'विज्ञानमय' पद का प्रयोग भी अनेकत्र (तै० २।५; बृहद्० ३।७।२२) हुआ है। यहाँ विज्ञानमय-जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म से भिन्न बताया है। शंकर ने इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—"यहाँ भी आनन्दमय जीव नहीं, क्योंकि तै० उ० के आनन्दमय अधिकरण (२।७) में कहा है—'ब्रह्म रसमय (आनन्दमय) है। इस रस को पीकर जीवात्मा आनन्दमय होता है। जीवात्मा आनन्द का लब्धा है, ब्रह्म लब्धव्य है। पानेवाला स्वयं अपना प्राप्तव्य नहीं हो सकता। यहाँ स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का भेद बताया है।' इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० २।७) न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति। इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति" (शा० भा० १।१।१७)।

आचार्य शंकर ने जीवात्मा और परमात्मा के इस भेद को अविद्याकृत माना है—वास्तविक रूप में अर्थात् परमार्थ में उन्हें अभिन्न बताया है। परन्तु जीवात्मा तथा परमात्मा में इस भेद को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। यदि सूत्रकार को यह अभिप्रेत होता तो यहाँ इस हेतु का निर्देश करने की क्या आवश्यकता थी ? मोक्षावस्था तभी प्राप्त होती है, जब अविद्या नहीं रहती। उस अवस्था में भेदव्यपदेश अविद्याकृत नहीं रहता। परन्तु छान्दोग्य (८।३।४) में स्पष्ट कहा है कि उस अवस्था में भी जीव की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है (परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते)। अन्यत्र बृहद्० में कहा है—"जन्म लेने के बाद पुरुष शरीर ग्रहण करते ही पाप से जुड़ जाता है और मरने के बाद शरीर छोड़ने पर पाप से छूट जाता है" (स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति—बृहद्० ४।३।८)। यह कथन जीवात्मा के सम्बन्ध में ही

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥३॥—वेदान्त १।२।२२
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥४॥
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥५॥

किया जा सकता है। परमेश्वर तो सदा पापरहित है।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ— विशेषण और भेदपूर्वक कथन से भी दूसरे दोनों—जीवात्मा तथा प्रकृति ब्रह्म नहीं हैं। 'अक्षर' पद से ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों का ग्रहण होता है। किन्तु मुण्डकोपनिषद् (१।१।६) में निर्दिष्ट अदृश्य आदि तथा २।१।२ में निर्दिष्ट दिव्य, अमूर्त्त, अज, अप्राण, अमना, शुभ्र आदि विशेषण न जीवात्मा के हो सकते हैं और न प्रकृति के। अतः प्रकृति तथा जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करनेवाले हेतुओं से ब्रह्म निश्चय ही प्रकृति और जीवों से भिन्न है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति—शास्त्र इस आनन्दमय ब्रह्म में जीव का योग बताता है। योग अथवा सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों का होता है। जीव व प्रकृति के लिए आनन्दमय शब्द नहीं है। जीव व ब्रह्म का योग होने के उपदेश में उपनिषद् का यह वचन प्रमाण है—"निश्चय ही जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय, अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, निराधार ब्रह्म में भयरहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तब वह अभयरूप मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु जब अज्ञान के कारण जीवात्मा परमात्मा से दूर रहकर उससे भिन्न पदार्थों में चित्त लगाता है, तब उसे भय होता है" (**यदा ह्येष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-ऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां** विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति। **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं** कुरुते। अथ तस्य भयं भवति—तै० २।७)। ब्रह्म में जीवात्मा के योग का उल्लेख यजुर्वेद में भी उपलब्ध होता है। वहाँ लिखा है कि "समस्त भूत, लोक-लोकान्तर, दिशा-प्रदिशाओं की यथार्थता को जानकर परमात्मा की प्रथम वाणी वेद के अनुसार आचरण करता हुआ आत्मज्ञानी अपने आपसे परमात्मा में प्रवेश करता है—उसे प्राप्त कर लेता है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥—यजु:० ३२।११"

इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकर लिखते हैं—"इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योग शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः तद्भावापत्तिः मुक्तिरित्यर्थः।"—शा० भा० १।१।१९

अर्थात्—यहाँ भी आनन्दमय न प्रधान (प्रकृति) के लिए है, न जीव के लिए, क्योंकि कहा है कि ज्ञानी होने पर जीव का ब्रह्म से योग होता है। आत्मा से योग का अर्थ है मुक्ति। यहाँ मुक्ति में अर्थात् परमार्थ में जीवात्मा का परमात्मा से योग कथन किया है, परमात्मा में विलय नहीं। जैसाकि पहले स्पष्ट हो चुका है, योग सदा दो भिन्न वस्तुओं में होता है। इससे स्पष्ट है कि परमार्थ में भी जीव की सत्ता बनी रहती है। यहाँ परमात्मा को आनन्दमय बताते हुए जीव तथा प्रधान (प्रकृति) के लिए उसका निषेध किया है और इस तरह प्रकारान्तर से, ईश्वर जीव तथा प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्—अन्दर उसके धर्मों का उपदेश होने से। 'अन्तः' पद के प्रसंग में अन्दर कहा गया उपास्यदेव ब्रह्म है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म की विशेषताओं का उपदेश किया गया है। ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किये गये हैं—"य आत्मनि तिष्ठन्……यस्यात्मा शरीरम्" जीव के भीतर रहने विषयक इस प्रकार के वचन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भेद में ही घटित होता है,

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥६॥—वेदान्त १।२।१६-२१
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥७॥—वेदान्त १।२।११
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥८॥—वेदान्त १।२।३

अद्वैत में नहीं। इसलिए आत्मा के भीतर परमात्मा के व्याप्त होने का कथन किये जाने से दोनों का एक-दूसरे से भिन्न होना सिद्ध है।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः—भेद कथन से भी ब्रह्म (जीव व प्रकृति से) भिन्न है। बृहद्० (३।७) में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहा है—'पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, तारक, आकाश, तम, तेज, प्राण, वाणी, चक्षु, मन, त्वचा और विज्ञान (आत्मा) जिसके शरीर हैं और जो इन सबके भीतर रहता हुआ भी सबसे भिन्न है और सबका नियन्त्रण करता है, वही ब्रह्म है। भेद का इतना स्पष्ट वर्णन होते हुए ब्रह्म को जगद्रूप कैसे माना जा सकता है? इस भेद-व्यपदेश से ब्रह्म जीव से और जीव ब्रह्म से निश्चय ही अन्य है।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्—यह सूत्र कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली के प्रारम्भिक सन्दर्भ की ओर संकेत करता है। वहाँ लिखा है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता ॥—कठ० ३।१

गुहा—हृदय प्रदेश में दो आत्मा प्रविष्ट हैं। निश्चित रूप से उनका दर्शन वहाँ होता है। द्विवचनान्त 'आत्मा' पद से जीवात्मा और परमात्मा अभिप्रेत हैं। शास्त्रों में अनेकत्र जीव तथा ब्रह्म के गुहा=हृदय देश में रहने का उल्लेख हुआ है (कठ० २।१२; २।२०; छां० ८।३३; श्वेत० ३।२०; मु० २।१।१०, ३।१।७; तै० २।१; यजु:० ३२।८; अथर्व० १०।८।४३)। 'स वा एष आत्मा हृदि' (छां० ८।३।३), 'हृद्यन्तज्योंतिः पुरुषः' (बृहद्० ४।३।७) इत्यादि प्रमाणों से जीवात्मा का तथा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८।६१) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का हृदयदेश में विद्यमान होना प्रसिद्ध है। दर्शन की क्रिया तभी सम्भव है जब द्रष्टा और दृश्य एकत्र हों। ब्रह्म सर्वदेशी है, किन्तु जीव एकदेशी है। केवल हृदयदेश ही एकमात्र ऐसा स्थान है जहाँ दोनों विद्यमान हैं। इसलिए ब्रह्म के सर्वत्र विद्यमान होने पर भी उसका साक्षात्कार हृदयदेशरूपी गुहा से अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं। इस सूत्र में द्विवचनान्त 'आत्मा' पद से ब्रह्म तथा जीव का द्वैत अथवा परस्पर भेद स्पष्ट है। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः—ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीव में उपपन्न नहीं होते, इसलिए शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।

सूत्र में 'शारीर' पद जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह ठीक है कि व्युत्पत्त्यर्थ में शरीर में रहनेवाले की 'शारीर' संज्ञा है। शरीर में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वास है, परन्तु जहाँ जीवात्मा केवल शरीर में रहता है और शरीर के साथ उसका संबन्ध जन्म-मरण व्यवहार तथा सुख-दुख आदि का प्रयोजक है, वहाँ परमात्मा सर्वव्यापक, एवं सर्वान्तिर्यामी होने से सर्वत्र विद्यमान रहता है और शरीर एवं अन्य वस्तुओं में रहने पर भी जन्म-मरण अथवा प्रादुर्भाव- तिरोभाव से प्रभावित नहीं होता। शरीर द्वारा जो जन्म-मरण के बन्धन में आता है, वास्तव में वही शारीर है, और वह जीवात्मा है। इसलिए यहाँ 'शारीर' पद से जीवात्मा ही अभिप्रेत है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म के शरीरांगों का जो वर्णन मिलता है, वह मात्र औपचारिक—आलंकारिक है।

अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१९॥
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

—वेदान्त १।२।१८,२०, व्यासमुनिकृतवेदान्तसूत्राणि

शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में उक्त मान्यता की पुष्टि करते हुए लिखा—"पहले सूत्र में विवक्षित गुणों की उपपत्ति बताई। इस सूत्र में कहा है कि वे गुण जीव में नहीं पाये जाते। यदि कोई कहे कि शरीर में तो ब्रह्म भी विद्यमान है, तो यह ठीक है। परन्तु ब्रह्म 'शरीर में है' किन्तु 'शरीर में ही है' ऐसा नहीं। वह पृथिवी से भी बड़ा है, अन्तरिक्ष से भी बड़ा है—आकाशवत् सर्वव्यापक है, नित्य है। जीव केवल शरीर में है, शरीर उसके मोक्ष का अधिष्ठान है, उसकी वृत्तियाँ अन्यत्र नहीं हैं" (पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति। 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य इति च व्यापितश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्।'—शा० भा० १।२।३)। इस प्रकार यहाँ युक्तिपूर्वक बड़े स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट किया है। यदि अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीव बना होता तो उपर्युक्त कथन न बन पाता। उपाधि के कारण वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता। यदि 'शारीर' पद ब्रह्मवाचक होता तो भी उसके गुण यथावत् उपलब्ध होने चाहिए थे। परन्तु सूत्र में उसका निषेध किया है। अतः 'शारीर' पद से जीवात्मा ही अभिप्रेत है, जो गुण-कर्म-स्वभाव में अन्यथा होने से ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है।

अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्—अधिदेवादि में जिस अन्तर्यामी आत्मा का कथन है, वह ब्रह्म है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म के धर्मों का कथन किया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (३।७।३-१४) द्वारा पृथिवी से तेजस् तक अधिदैवत में नियन्ता अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म का वर्णन है। इसके अनन्तर (ऋ० ३।७।१५) अधिभूत में इसी प्रकार का वर्णन है। तदनन्तर (ऋ० ३।७।१६-२३) अध्यात्म में उक्त प्रकार ब्रह्म का वर्णन है। अधिदैवत में पृथिवी से लेकर अध्यात्म में रेतस् तक ब्रह्म के वर्णन का प्रकार समान है। उपनिषद् के इस प्रसंग को लक्ष्य कर सूत्रकार ने कहा—अधिदैवत आदि में जो अन्तर्यामी का वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म का वर्णन है। क्योंकि यह वर्णन उसी के धर्मों का निर्देश करता है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि समस्त ब्रह्माण्ड; प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि पिण्ड तथा उसके अधिष्ठाता विज्ञान—आत्मा (जीवात्मा) में एवं आकाश—अन्धकार आदि सब अवस्थाओं में व्याप्त रहता हुआ जो आत्मा इन सबका नियन्त्रण करता है, वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई होना सम्भव नहीं। सबका नियन्त्रण करना केवल ब्रह्म का धर्म है, इसलिए यहाँ 'अन्तर्यामी' ब्रह्म अभिमत हो सकता है।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते—जीवात्मा अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों शाखावाले (काण्व तथा माध्यन्दिन) इसको ब्रह्म से भिन्न करके पढ़ते हैं।

देही जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं हो सकता। काण्व शाखा के शतपथब्राह्मण तथा उसी के चतुर्दश काण्ड पर आधारित बृहदारण्यकोपनिषद् (३।७।२२) में कहा है—

"यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

यहाँ 'विज्ञान' पद का प्रयोग शारीर जीवात्मा के लिए हुआ है। स्पष्ट ही यहाँ अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) से जीवात्मा को भिन्न बताया है और दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्थिर किया है। माध्यन्दिन शाखीय शतपथब्राह्मण (१४।६।७) के इस प्रसंग में 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करके

अर्थ—ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है। क्योंकि इस अल्प-अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्यवाले जीव में सृष्टिकर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव ब्रह्म नहीं ॥१॥

'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० उप० ब्रह्मावल्ली ७) यह उपनिषद् का वचन है। जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता, तो 'रस' अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है, यह प्राप्तिविषय ब्रह्म और प्राप्त होनेवाले जीव का निरूपण नहीं घट सकता। इसलिए जीव और ब्रह्म एक नहीं ॥२॥

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥—मुण्डकोप० २।१।२

दिव्य शुद्ध, मूर्तिमत्त्वरहित, सबमें पूर्ण, बाहर-भीतर निरन्तर व्यापक, अज=जन्म-मरण-शरीर-धारणादि रहित, श्वास-प्रश्वास शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि परमात्मा के विशेषण, और 'अक्षर' नाशरहित प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव, उससे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है। प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादनरूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है ॥३॥

कहा है—"य आत्मनि तिष्ठन्···" अर्थात् जो आत्मा में स्थित हुआ आत्मा से भिन्न है। इस प्रकार दोनों शाखावालों के उक्त प्रकार—भेदसहित कहने से शारीर जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं है।

शंकराचार्य ने पहले तो स्पष्ट कह दिया—'तस्माच्छारीरादन्यः ईश्वरोऽन्तर्यामीति'—इसलिए शारीर जीवात्मा से अन्तर्यामी ब्रह्म भिन्न है। परन्तु अद्वैतवाद का ध्यान आते ही कहने लगे कि शारीर जीवात्मा और परमात्मा में यह भेद अविद्योपाधि के कारण है, वास्तविक नहीं। भीतर तो एक ही आत्मा है, अविद्योपाधि के कारण व्यवहार में एक ही को दो मान लिया जाता है। परन्तु सूत्र में तो इस बात का संकेत तक नहीं है। वस्तुतः किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण उससे पृथक् नहीं हो सकते। स्वयं शंकर ने स्वीकार किया है—'न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति' (शा० भा० ३।२।११)। इसलिए अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग करके ब्रह्म जीवरूप नहीं हो सकता। रामानुज ने बृहद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण के आधार पर जीव-ब्रह्म में भेद का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"अतो अन्तर्यामी प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम्"—इसलिए निर्दोष एवं अन्तर्यामी परमात्मा का जीवात्मा से भिन्न होना स्वतः सिद्ध है।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः—इस मन्त्र में प्रकृति उपादान से जगत् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि "ब्रह्म अपने प्रकाशमय स्वरूप में सदा अवस्थित रहता है (दिव्यः), अन्दर-बाहर समस्त विश्व में व्याप्त है (बाह्याभ्यन्तरः), जो कभी जन्म नहीं लेता (अजः), देहादि के बन्धन में नहीं आता—इस कारण प्राण तथा मन एवं इन्द्रियरहित है (अप्राण—अमना) तथा सर्वात्मना शुद्ध एवं क्लेश, कर्मविपाक आदि से सर्वथा अछूता है।" दिव्य, अमूर्त्त आदि विशेषणों द्वारा जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, वह इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, क्लेश आदि से अभिभूत जीवात्मा कैसे हो सकता है? वेदान्तदर्शन (१।२।२२) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र को उद्धृत करके कहते हैं—"इस मन्त्र में दिए हुए 'दिव्य' आदि विशेषण जीवात्मा के नहीं हो सकते।" यहाँ तक तो सब ठीक कहा। परन्तु तभी उन्हें अपने अद्वैतवाद का स्मरण हो आया और तत्काल कह डाला कि "जीवात्मा अविद्या के कारण अपने आपको नामरूपवाला समझता है।" शंकर की यह अपनी कल्पना है, क्योंकि न मन्त्र में इस बात का कोई संकेत है और न पूर्वापर प्रसंग में।

इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग, वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है ॥४॥

इस ब्रह्म के अन्तर्यामि आदि धर्म कथन किये हैं। और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद में संघटित होता है ॥५॥

इस मन्त्र का अन्तिम भाग है—'अक्षरात्परतः परः' इसका शब्दार्थ है—'अक्षर' से 'पर' और उस 'पर' से 'पर'। यहाँ 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है। 'अक्षर' का प्रकृतिवाचक होना इससे पहले सन्दर्भ (२।१।१) से स्पष्ट है। वहाँ 'सरूपाः' शब्द ध्यान देने योग्य है। उस सन्दर्भ में 'अक्षर' का अर्थ 'ब्रह्म' करने पर उसके कार्यजगत् की ब्रह्म के साथ समानरूपता माननी होगी, जो यथार्थ के विपरीत होगा। कार्यजगत् के साथ प्रकृति की समानरूपता स्पष्ट है। 'अक्षरात्परतः परः' का तात्पर्य है—अक्षर प्रकृति से पर जीवात्मा और उससे भी पर ब्रह्म है, जिसका वर्णन यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार इस मन्त्र में यहाँ प्रकृति, प्रकृति से पर एवं भिन्न जीवात्मा और उससे भी पर=उत्कृष्ट तथा भिन्न परमात्मा —तीनों का स्पष्ट उल्लेख है।

निष्कर्ष—वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसकी होगी, जो उसे नहीं जानता, किन्तु प्रयत्न करने पर जान सकता है। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को जानने की इच्छा करे—यह अपने आप में कितना उपहासास्पद है। जिज्ञासु (जानने की इच्छा करनेवाला) और जिज्ञास्य (जिसे जानने की इच्छा है) एक नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाला ब्रह्म से भिन्न कोई है। प्रकृति के जड़—अचेतन होने से उसके जिज्ञासु होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे ब्रह्म से अतिरिक्त चेतन, किन्तु अल्पज्ञ जीव ही ब्रह्म को जानने की इच्छा कर सकता है। 'सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति'—अपने अस्तित्व के विषय में किसी को शंका नहीं होती। कोई यह नहीं सोचता कि 'मैं नहीं हूँ'। अतः जब यह कहा जाता है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः' तो यहाँ जीवात्मा को द्रष्टा और परमात्मा को द्रष्टव्य मानकर ही दो भिन्न सत्ताओं का कथन किया जाता है। जिस ब्रह्म को जीवात्मा जानना चाहता है, उसका परिचय देने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः—ब्रह्म वह है जिससे इस जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म दो प्रकार का है, अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नामरूप विकार की उपाधिवाला और दूसरा सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त (द्विरूपं ब्रह्मावगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्—शा० भा० १।१।११)। एक परब्रह्म है जो सर्वथा निर्गुण है, निष्क्रिय है। वह सत्तामात्र है। दूसरा अपर ब्रह्म है जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। यह दूसरे प्रकार का ब्रह्म ईश्वर कहाता है। परब्रह्म की अपेक्षा वह घटिया स्तर का ब्रह्म है। जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा की गई है, उसका परिचय सूत्रकार यह कहकर देते हैं कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है। शांकरमत के अनुसार परब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है। इसलिए वह न सृष्टि को उत्पन्न करता, न पालन करता और न विलय करता है। ऐसे समस्त कार्यों को करने का दायित्व अपर ब्रह्म पर है जो माया की उपाधि से ग्रस्त है।

आचार्य शंकर का विश्वास है कि उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नहीं होता (न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति—शा० भा० ३।२।११)। फिर भी वह ब्रह्म को उपाधि से ग्रस्त होने के कारण विकारी मानते हैं। इस प्रकार एक ओर वह ब्रह्म में कर्तृत्व

जैसे परमात्मा जीव से भिन्न-स्वरूप है, वैसे इन्द्रिय अन्तःकरण पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु सूर्यादि तथा दिव्य गुणों के योग से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है ॥६॥

'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' (कठो० १।३।१) इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है ॥७॥

'शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीव में नहीं घटते ॥८॥

नहीं मानते (कर्तृत्वानुपपत्तेः—शा० भा० १।१।४), तो दूसरी ओर वह उसी ब्रह्म को सृष्टिकर्त्ता कहते हैं। वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है कि वेदान्तशास्त्र में सर्वज्ञ, शर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण बताया है (तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलय-कारणं वेदान्तशास्त्रादवगम्यते—शा० भा १।१।४)। आगे चलकर एक बार फिर उन्होंने लिखा है कि सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करनेवाला है (सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्—शा० भा० १।२।६)। इस प्रकार ब्रह्म का सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कारण होना सर्वथा प्रमाणित है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन में अथवा अन्य दर्शनों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जिससे दो प्रकार का ब्रह्म होने का संकेत मिलता हो। जयतीर्थ ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्म के दो रूप अप्रामाणिक होने से असिद्ध हैं (न्यायसुधा, पृष्ठ १२४)। वास्तव में ब्रह्म एक ही है और वह वही है जिसका लक्षण सूत्रकार ने दूसरे, तीसरे और चौथे सूत्रों में किया है। ईश्वर तो अन्य अनेक नामों की तरह ब्रह्म का ही अपर नाम है। यह कोई घटिया स्तर का ब्रह्म नहीं है। मृगतृष्णिका के जल से प्यास नहीं बुझ सकती और न रज्जु में प्रतीत होनेवाला साँप काट सकता है। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य न निष्क्रिय परब्रह्म कर सकता है और न अध्यस्त या उपाधिग्रस्त विकारी ब्रह्म। जिसका यह स्वभावसिद्ध कार्य है, वही इसे कर सकता है।

मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने तथा भविष्य में मोक्षलाभ के निमित्त अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए इस लोक में आता है। इस लोक की सृष्टि भी इन्हीं दो प्रयोजनों के लिए की गई है (भोगापवर्गार्थं दृश्यम्—योग २।१८)। इन प्रयोजनों की सिद्धि में साधनभूत जगत् की रचना जिस ब्रह्म ने की है, हमारे लिए तो वही उपयोगी है। इसलिए हम तो उसी को जानना चाहेंगे। इस पर शंकर कहते हैं कि उसे जानकर क्या करोगे? वह तो माया की उपाधि से अध्यस्त अपर ब्रह्म है। पर हमने तो ब्रह्म की जिज्ञासा इसलिए की थी, क्योंकि हमने पढ़ा था—'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (यजु: ३१।१८)—उसको जानकर मनुष्य मोक्षलाभ करता है। वह परब्रह्म है। जल के प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर संकेत करके दौड़ा देना कहाँ का न्याय है। मोक्षलाभ के अभिलाषी जिज्ञासुओं को ब्रह्मसूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यतः' इन शब्दों में उसका परिचय देकर अपर ब्रह्म की ओर निर्देश करके उनके साथ धोखा किया है। यह तो स्वयं सांसारिक गतिविधियों में प्रवृत्त निम्नस्तरीय अध्यस्त ब्रह्म निकला, मोक्षदाता वास्तविक ब्रह्म नहीं। परन्तु धोखा देनेवाले वास्तव में भाष्यकार शंकर हैं, सूत्रकार बादरायण (वेद-व्यास) नहीं। वेदान्तसूत्रों में ऐसा कहीं नहीं कहा गया।

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ने जिस सृष्टि की रचना की है, वह यथार्थ है। यदि जगन्मात्र भ्रान्ति है तो इसका अर्थ होगा कि जगत् की रचनामात्र भ्रान्ति है, उसे धारण करना भ्रान्ति को बनाये रखना है और उसकी प्रलय भ्रान्ति का अन्त है। इस प्रकार ब्रह्म मात्र भ्रान्ति की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण ठहरेगा। एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यदि

अधिदेव=सब दिव्य मन आदि इन्द्रियादि पदार्थों, अधिभूत=पृथिव्यादि भूत, अध्यात्म=सब जीवों में परमात्मा अन्तर्यामी रूप से स्थित है। क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात हैं।।९।।

शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है।।१०।।

इत्यादि शारीरक सूत्रों से भी स्वरूप से ब्रह्म और जीव का भेद सिद्ध है।

शंकराचार्य की भाँति बादरायण जगत् को मिथ्या मानते तो वह ब्रह्म को असत् अथवा भ्रान्ति का जनक कहकर बदनाम न करते। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के लिए यह कोई शोभा की बात नहीं कि स्वयं उपाधि-ग्रस्त होकर मिथ्या जगत् को उत्पन्न करे और अविद्यायुक्त शास्त्र की रचना करे (शास्त्रयोनित्वात्—वे० सूत्र १।१।३; अविद्यावत् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च—शा० भा० १।१।१)। फिर जब ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं थी तो उसने इस भ्रमरूप जगत् का निर्माण क्यों और किसके लिए किया ? वह स्वयं अपने को भ्रमित करने के लिए भ्रमजाल रचेगा, इस पर कौन विश्वास करेगा ?

सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य एक बार नहीं, पर्याय से अनेक बार होता है। हर सृष्टि के बाद प्रलय और हर प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम अनादि काल से चला आया है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। यदि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म अविद्योपाधि से अभिभूत होकर बार-बार सृष्टि का निर्माण करता है तो इसका यह अर्थ होगा कि वह बार-बार अपनी भूल को दुहराता रहता है। सर्वज्ञ एवं त्रिकालाबाधितज्ञानसम्पन्न ब्रह्म ऐसा नहीं कर सकता।

स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्—ग्रन्थकार आचार्य शंकर के व्यक्तित्व, वैदुष्य तथा नास्तिक मतों के विरुद्ध उनके वैदिक धर्म प्रचारक अभियान से प्रभावित थे। वे इस बात से प्रसन्न थे कि नास्तिकों के युक्ति और प्रमाणों से शंकराचार्य का मत अखण्डित तथा शंकराचार्य के दिये प्रमाणों तथा युक्तियों से नास्तिकों का मत खण्डित रहा। फिर भी वे यह लिखने से नहीं चूके कि शंकराचार्य का मत 'कुछ अच्छा' था, 'पूरी तरह अच्छा' नहीं। 'कुछ अच्छा' इसलिए कि नास्तिकों के सर्वथा वेदविरोधी मत की तुलना में अद्वैत मत का एक अंशमात्र वेदविरोध अल्पविरोध है। पूर्ण विरोध से अल्प विरोध अवश्य कुछ अच्छा है, किन्तु सर्वथा अच्छा नहीं। भले ही शंकराचार्य ने जैनियों को जीतने के लिए अद्वैत मत को खड़ा किया हो तो भी उसमें छल का दोष होने के साथ-साथ अपने आत्मा के ज्ञान का विरोध अवश्य था। तथापि यह स्वीकार करना पड़ता है कि उन्हीं के वैदुष्य तथा पुरुषार्थ का यह फल है कि नास्तिकों के विरुद्ध घोर संग्राम में वेदमत अपराजित रहा।

दार्शनिक क्षेत्र में शंकर का विरोध करना वस्तुतः बड़े साहस का कार्य था और यह साहस दयानन्द जैसा अपूर्व मेधासम्पन्न, निर्मल आर्ष प्रज्ञा का धनी शास्त्रार्थ-समर का अजेय योद्धा ही कर सकता था। शंकराचार्य ने न केवल जैन, बौद्ध आदि अवैदिक मतों का खण्डन किया; अपितु रूढ़ अर्थों में वैदिक धर्म के अंगभूत शैव, शाक्त, वैष्णव, पाशुपत, क्षपणक, कापालिक आदि मतों का भी प्रतिवाद किया। उनके निधन के पश्चात् आर्यावर्त्त में वैदिक तथा जैन-बौद्ध पण्डितों का परस्पर वाद-विवाद पर्याप्त समय तक चलता रहा। बौद्धों में वसुबन्ध, दिङ्नाग, ईश्वरसेन और धर्मकीर्त्ति आदि ने वेदान्त, न्याय, मीमांसा आदि वैदिक दार्शनिक मन्तव्यों के खण्डन से बड़े तर्कपूर्ण ग्रन्थ लिखे। दूसरी ओर उद्योतकर, कुमारिल, उदयन और वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों ने जैन, बौद्ध आदि के दार्शनिक दृष्टिकोण की समीक्षा की।

[उपक्रम और उपसंहार की कल्पना झूठी है]

वैसे ही वेदान्तियों का 'उपक्रम' और 'उपसंहार' भी नहीं घट सकता। क्योंकि 'उपक्रम' अर्थात् आरम्भ ब्रह्म से और 'उपसंहार' अर्थात् प्रलय भी ब्रह्म ही में करते हैं। जब दूसरा कोई वस्तु नहीं मानते तो उत्पत्ति और प्रलय भी ब्रह्म के धर्म हो जाते हैं। और उत्पत्ति विनाशरहित ब्रह्म का प्रतिपादन वेदादि सत्यशास्त्रों में किया है, वह नवीन वेदान्तियों पर कोप करेगा, क्योंकि निर्विकार अपरिणामि शुद्ध सनातन निर्भ्रान्तित्वादि विशेषणयुक्त ब्रह्म में विकार उत्पत्ति और अज्ञान आदि का सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। तथा उपसंहार=प्रलय के होने पर भी ब्रह्म कारणात्मक जड़ और जीव बराबर बने रहते हैं। इसलिए उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों की कल्पना झूंठी है। ऐसी अन्य बहुत-सी अशुद्ध बातें हैं कि जो शास्त्र और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध हैं।

[विक्रमादित्य और भर्तृहरि]

इसके पश्चात् कुछ जैनियों और कुछ शङ्कराचार्य के अनुयायी लोगों के उपदेश के संस्कार आर्यावर्त्त में फैले थे, और आपस में खण्डन-मण्डन भी चलता था। शङ्कराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ। जिसने सब राजाओं के मध्य प्रवृत्त हुई लड़ाई को मिटाकर शान्ति स्थापन की। तत्पश्चात् भर्तृहरि राजा काव्यादि शास्त्र और अन्य विषयों में कुछ-कुछ विद्वान् हुआ। उसने वैराग्यवान् होकर राज्य को छोड़ दिया।

शंकराचार्य के प्रस्थानत्रयी के भाष्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे मूलतः द्वैतवादी थे और वेदानुयायी होने के कारण उनका दर्शन वेदानुमोदित तत्त्वत्रय—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति—के अनादित्व पर आधारित था। अद्वैतमत को उन्होंने त्रिकालाबाधित सिद्धान्त के रूप में न अपनाकर जैन-बौद्ध मत के प्रत्याख्यान के निमित्त नीति के विचार से, मानो आपद्धर्म के रूप में, स्वीकार किया था। पर दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं को एक साथ लेकर चलना सम्भव नहीं था। इसी दुविधा के कारण शंकराचार्य का वेदान्तदर्शन का भाष्य वदतो व्याघात से भरा है।

शंकराचार्य बहुत दीर्घजीवी नहीं हुए। परन्तु उनके योग्य शिष्यों ने उनके सिद्धान्तों का प्रचार करने में अपनी प्रतिभा का भरपूर प्रयोग किया। उसका यह परिणाम हुआ कि आज संसार में आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित अथवा प्रचारित अद्वैत वेदान्त को ही भारतीय दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित माना जाता है।

वाममार्गियों के पश्चात्—बुद्ध के एक सहस्र वर्ष पश्चात् बौद्ध मत नाना सम्प्रदायों में विभक्त होकर इतना जीर्ण-शीर्ण व्यामिश्रित और अनाचारप्रधान हो गया कि बुद्ध ने जिस आचार पर इतना अधिक बल दिया था, वह अब उसमें ढूंढने से भी नहीं मिलता था। हिन्दुओं (आर्यों) में भी उस समय जो नाना सम्प्रदाय उभरे, वे बौद्धों की उसी अनाचार-भावना से प्रभावित थे। परवर्त्ती बौद्ध धर्म और विभिन्न तान्त्रिक मतों में इतनी अधिक समानता है कि उनमें भेदक रेखा खींचना कठिन है। जिस देश ने बौद्ध धर्म को जन्म दिया, उसी देश में वह नामशेष हो गया—इतिहास की इस विडम्बना का कारण यही था कि जब हिन्दू तान्त्रिक मतों में तथा बौद्ध सम्प्रदायों में कोई भेद न रहा तो बौद्धों की विशेषता जाती रही। वास्तव में दोनों समान रूप से अनाचार के समुद्र में डूब गये। वर्त्तमान में तथाकथित विशाल हिन्दू समाज उसी का स्मारक रूप है।

[राजा भोज और कवि कालिदास]

विक्रमादित्य के पाँच सौ वर्ष के पश्चात् राजा भोज हुआ[1]। उसने थोड़ा-सा व्याकरण और काव्यालंकारादि का इतना प्रचार किया, कि जिसके राज्य में कालिदास बकरी चरानेवाला भी 'रघुवंश' काव्य का कर्त्ता हुआ[2]। राजा भोज के पास जो कोई अच्छा श्लोक बनाकर ले जाता था, उसको बहुत-सा धन देते थे और प्रतिष्ठा होती थी[3]। उसके पश्चात् राजाओं और श्रीमानों ने पढ़ना ही छोड़ दिया।

यद्यपि शङ्कराचार्य के पूर्व वाममार्गियों के पश्चात् शैव आदि सम्प्रदायस्थ मतवादी भी हुए थे, परन्तु उनका बहुत बल नहीं हुआ था। महाराजा विक्रमादित्य से लेके शैवों का बल बढ़ता आया। शैवों में पाशुपतादि बहुत-सी शाखा हुई थीं, जैसी वाममार्गियों में दश महाविद्यादि की शाखा हैं।

[शाङ्कर मतानुयायियों का शैव मत में प्रवेश]

लोगों ने शङ्कराचार्य को शिव का अवतार ठहराया। उनके अनुयायी संन्यासी भी शैवमत में प्रवृत्त हो गये, और वाममार्गियों को भी मिलाते रहे। वाममार्गी देवी, जो शिवजी की पत्नी है, उसके

महाभारत में धार्मिक ग्रन्थों के रूप में तन्त्रग्रन्थों का उल्लेख नहीं मिलता, पुराणों में उनकी चर्चा अवश्य है। इससे भी उनका महाभारतोत्तरकालीन तथा पुराणों का समकालीन होना सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, बुद्ध के लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् भी पुराणों या तन्त्रग्रन्थों का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता।

तान्त्रिक मतों का उदय—तान्त्रिक मत को वाममार्ग का पर्याय समझना चाहिए। विशेष तौर से शाक्तों के धर्मग्रन्थ ही तन्त्र शब्द से अभिहित किये जाते हैं। इन्हीं के अध्ययन से वाममार्ग का असली स्वरूप सामने आता है। संख्या में अधिक होने पर भी इनमें से अधिकतर अप्रकाशित हैं। बहुत-से तो नेपाल और तिब्बत में ही प्राप्य रहे हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने काफी संख्या में मूल या अनूदित रूप में लाने में सफलता प्राप्त की थी। वे भी अभी तक अप्रकाशित हैं और पटना म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इन मतों के अनुयायी अपने मन्दिर पर्वत-शिखरों पर या सघन वनों में बनाते हैं, ताकि उनकी गुह्य साधना निर्विघ्न चलती रहे। कहीं-कहीं ये मन्दिर भूगर्भ या गुफाओं के भीतर भी मिलते हैं। इस प्रकार के अनाचार को देखकर कुपित होनेवाले जनसामान्य के रोष से बचने के लिए ये अपने साधना-केन्द्र ऐसे स्थानों पर बनाते हैं, जहाँ रात में तो पहुँचने का साहस कोई न कर सके। कुछ तन्त्रों में तन्त्रसंख्या ६४ बताई जाती है, किन्तु हस्तलिखित रूप में उपलब्ध तन्त्रों की संख्या इससे कहीं अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि तन्त्रों की मूल भूमि बंगाल रही है। वहीं से असम, नेफ़ा, नेपाल में और फिर वहाँ से चीन और तिब्बत में बौद्ध धर्म के माध्यम से उनका प्रचार हुआ है। सामान्यतः तन्त्रों की रचना शिव-पार्वती के संवाद के रूप में हुई है। शाक्त मत की प्रवृत्तियाँ बंगाल में आज भी देखी जा सकती हैं। वहाँ प्रचलित दुर्गा-पूजा उसी का एक रूप है।

शैव मत समीक्षा—मध्यकालीन भारतीय मत-मतान्तरों में शैव और वैष्णव सम्प्रदाय सर्वाधिक

---

१. 'भोज' नाम के कई राजा हुए हैं। परन्तु यहाँ जिस भोज राजा की ओर संकेत है, वह विक्रम से लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् हुआ था।

२. यह किंवदन्ती है। कालिदास नाम के न्यूनातिन्यून तीन कवि हुए हैं। रघुवंश का रचयिता हरिषेण उपनाम कालीदास समुद्रगुप्त का मन्त्री था (द्र०—कृष्णचरित, गोंडल से प्रकाशित)। भोजकालीन कालिदास इससे भिन्न था।

३. द्रष्टव्य 'भोजप्रबन्ध' ग्रन्थ।

उपासक, और शैव महादेव के उपासक हुए। ये दोनों रुद्राक्ष और भस्म अद्यावधि धारण करते हैं। परन्तु जितने वाममार्गी वेदविरोधी हैं, वैसे शैव नहीं हैं।

[रुद्राक्ष-धारण का तथाकथित महत्त्व]

धिक् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् ॥१॥
रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशती द्वे,
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलगतान् द्वादशान् द्वादशैव।
बाह्वोरिन्दोः कलाभिः पृथगिति गदितमेकमेवं शिखायाम्,
वक्षस्यष्टाऽधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः ॥२॥[1]

इत्यादि बहुत प्रकार के श्लोक इन लोगों ने बनाये। और कहने लगे कि जिसके कपाल में भस्म और कण्ठ में रुद्राक्ष नहीं है, उसको धिक्कार है। **'तं त्यजेदन्त्यजं यथा'**[2] उसको चाण्डाल के तुल्य त्याग करना चाहिए ॥१॥

प्रसिद्ध है। 'शिवु कल्याणे' धातु से निष्पन्न शिव परमेश्वर के ही नामों में से एक है। वेदों में अनेकत्र इस नाम का प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद का १६वाँ अध्याय रुद्राध्याय कहलाता है। इस अध्याय में जिस 'रुद्र' का वर्णन है, उसी को पौराणिकों ने 'शिव' नाम से अभिहित किया है। यजुर्वेद में उसके लिए सहस्राक्ष, नीलग्रीव आदि नामों का भी प्रयोग हुआ है। इसी रुद्राध्याय के ४१वें मन्त्र में एक साथ शम्भु, शंकर, शिव आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का विनियोग संध्योपासन के अन्त में नमस्कार मन्त्र के रूप में किया है।

परन्तु जिस शिव के नाम पर शैव सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ, वह वेदों का शिव न होकर पुराणों का शिव है, जो सर्वव्यापी न होकर कैलाश पर्वत पर रहता है, जिसके परिवार में पार्वती नाम की पत्नी के अतिरिक्त गणेश और कार्त्तिकेय नाम के दो पुत्र हैं। सबकी अपनी-अपनी सवारी है। पुराणों में उससे सम्बन्धित अनेक विचित्र कथाएँ हैं। उस शिव की पूजा मन्दिरों (शिवालयों) में स्थापित शिवलिंगों के माध्यम से होती है। ग्रन्थकार को मूर्त्तिपूजा से वितृष्ण करने का निमित्त इसी शिवलिंग की पूजा बनी। शिवलिंग के उपासक ही शैव कहलाते हैं। शिव पुराण और लिंग पुराण आदि के रचना के बाद से शैव सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार को बल मिला। ग्रन्थकार का जन्म शैव परिवार में हुआ था, इसलिए उसकी पूजा-पद्धति आदि को उन्होंने अधिक निकट से देखा था।

रुद्राक्ष-संख्या—पुराणों और तन्त्रों में रुद्राक्ष-संख्या में भेद है। यहाँ के पाठ का संवादी पाठ मैसूर के महाराजाधिराज मुम्मद्रिकृष्णराज ओडियर संकलित श्रीतत्त्वनिधि नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ३२४ पर दिया है—"शिखायामेकमेव स्यात् करयोर्द्वादशैव तु। द्वात्रिंशत् कंठदेशे तु चत्वारिंशच्च मस्तके। एकैकं कर्णयोः षट्षड् वक्षस्यष्टोत्तरं शतम्। एकमेवोपवीते तु धारयेद् भावयञ्छिवम्।" इस पाठ में यज्ञोपवीत में भी एक रुद्राक्ष धारण करने का विधान है। **तं त्यजेत्**—'विभूतिर्यस्य नो भाले नाङ्गे रुद्राक्षधारणम्। नास्ये शिवमयी वाणी तं त्यजेदधर्मं यथा' (शि० पु० नि० २३।१३)। अर्थात् जिसके माथे पर भस्म नहीं है, जिसके शरीर पर रुद्राक्ष धारण नहीं हुआ, जिसके मुख में शिवमयी वाणी नहीं है, उसे अधर्म के समान त्याग दे। 'त्यजेदन्त्यजं यथा' की अपेक्षा 'त्यजेदधर्मं यथा' अधिक कठोर है।

---

१. रुद्राक्ष जाबाल उपनिषद् १।१५, १६ में भिन्न-भिन्न अङ्ग में भिन्न-भिन्न संख्या में रुद्राक्ष धारण का निर्देश है।
२. तुलना—'तं त्यजेदधमं यथा।' भविष्यपुराण विश्वेश्वर संहिता १, अ० २३, श्लोक १३।

जो कण्ठ में ३२, शिर में ४०, छः-छः कानों में, बारह-बारह करों में, सोलह-सोलह भुजाओं में, १ शिखा में, और हृदय में १०८ रुद्राक्ष धारण करता है, वह साक्षात् महादेव के सदृश है ॥२॥

ऐसा ही 'शाक्त' भी मानते हैं।

भस्मधारण—भस्म धारण की नाना विधियाँ शैव-शाक्त ग्रन्थों में लिखी हैं। शूद्रों के लिए ब्राह्मण के रसोईघर की भस्म धारण करने का विधान है—'शूद्राणां श्रोत्रियागारं पचनाग्नि समुद्भवम्' (देवीभागवत शिरोव्रतविधि, श्लोक ५)। विभूतिधारण से साधक शिवतुल्य हो जाता है। भस्म धारण का यह विधान स्मृतिप्रोक्त बताया गया है—

विभूतिधारणविधिः स्मृतिप्रोक्तो मयेरितः। यदीयावरणेनैव शिवतुल्यो न संशयः॥

वस्तुतः मध्यकाल में शैव-वैष्णव विवाद पराकाष्ठा की सीमा पार कर गया था। सम्प्रदायों के पक्षपात और अभिनिवेश में ग्रस्त मताग्रही लोग अपने-अपने मत-पन्थों में स्वीकृत बाह्य कर्मकाण्ड, पूजा-उपासना की बाह्य विधियों पर ही जोर देते थे। उन्हें केवल अपने सम्प्रदाय की बातों के प्रति आसक्ति, विश्वास या श्रद्धा प्रकट करने मात्र से सन्तोष नहीं होता था, अन्य विरोधी सम्प्रदायों के क्रिया-कलापों, पूजा-पद्धतियों और विश्वासों का उपहास करने में भी उन्हें आनन्द अनुभव होता था। परिणाम यह हुआ कि सारा धार्मिक जगत् साम्प्रदायिक कलह और परस्पर की निन्दा-स्तुति का अखाड़ा बनकर रह गया। शैव मतानुयायी भस्म मलने और रुद्राक्ष धारण करने में ही पुण्य मानते थे—रुद्राक्ष धारण का तो बड़ा आडम्बरपूर्ण वर्णन देवीभागवत में मिलता है—

रुद्राक्षधारणं साक्षाच्छिवज्ञानस्य साधनम् ॥२०॥ (रुद्राक्ष माहात्म्य)
रुद्राक्षधारिणः पादौ प्रक्षाल्याद्भिः पिबेन्नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥२८॥

रुद्राक्षधारी के चरणों को धोकर पीनेवाला सब पापों से मुक्त होकर शिवलोक को प्राप्त होता है।

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च।
गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभते शीघ्रं वक्त्रैकादशधारणात् ॥५४-५५

सहस्र अश्वमेध, सौ वाजपेय यज्ञ अथवा एक लाख गौओं के दान का जो फल होता है, एकादश-मुखी रुद्राक्ष धारण करने से वह सहज ही हो जाता है।

यही सब देवीभागवत में लिखा है—

सर्वं तरति पाप्मानं जाबालश्रुतिराह हि। पशवोऽपि रुद्राक्षधारणाद्यान्ति रुद्रताम् ॥

पापी मनुष्य भी रुद्राक्ष धारण करने से तर जाते हैं। रुद्राक्षधारी पशु भी शिवत्व को प्राप्त होते हैं। देवी भागवत में रुद्राक्ष-प्रकरण के ये श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

किमत्र बहुनोक्तेन वर्णनेन पुनः पुनः।
रुद्राक्षधारणं नित्यं तस्मादेतत् प्रशस्यते ॥
स्नाने दाने जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने।
प्रायश्चित्ते तथा श्राद्धे दीक्षाकाले विशेषतः ॥
अरुद्राक्षधरो भूत्वा यत्किंचित्कर्म वैदिकम्।
कुर्वन्विप्रस्तु मोहेन नरके पतति ध्रुवम् ॥

[भग-लिङ्ग की पूजा]

पश्चात् इन वाममार्गियों और शैवों ने सम्मति करके भग-लिङ्ग का स्थापन किया, जिसको 'जलाधारी' और 'लिङ्ग' कहते हैं। और उसकी पूजा करने लगे। उन निर्लज्जों को तनिक भी लज्जा न आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं? किसी कवि ने कहा है कि '**स्वार्थी दोषं न पश्यति**'[1] स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ सिद्धि करने में दुष्ट कामों को भी श्रेष्ठ मान दोष को नहीं देखते हैं। उसी पाषाणादि मूर्त्ति और भग-लिङ्ग की पूजा में सारे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि सिद्धियाँ मानने लगे।

[यवनों तथा जैनों की निन्दा]

जब राजा भोज के पश्चात् जैनी लोग अपने मन्दिरों में मूर्त्तिस्थापन करने और दर्शन-पर्शन[2] को आने-जाने लगे, तब तो इन पोपों के चेले भी जैन-मन्दिर में जाने-आने लगे। और उधर पश्चिम में कुछ दूसरों के मत[3] और यवन लोग भी आर्यावर्त्त में आने-जाने लगे। तब पोपों ने यह श्लोक बनाया—

अधिक क्या कहें, नित्य रुद्राक्ष धारण अत्यन्त प्रशस्त कर्म है। विशेषरूप से स्नान, दान, जप, होम, वैश्वदेव यज्ञ, देवपूजन, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, दीक्षा आदि कर्म रुद्राक्ष धारण किये विना किये जायें तो इन कर्मों का कर्त्ता ब्राह्मण नरकगामी होता है।

पुराणकर्त्ता अपने आराध्य देव की स्तुति से सन्तुष्ट नहीं होते, इतर देवताओं की निन्दा करना भी आवश्यक समझते हैं। शैव सम्प्रदाय में शिव को तो सर्वोपरि माना ही जाता है, साथ में अन्य सभी देवताओं को हेय बताकर तिरस्कृत भी किया जाता है। साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखे गये इन ग्रन्थों में तो अन्य देवताओं के यजन-पूजन, यहाँ तक कि दर्शनमात्र से भी पाप लगना बताया जाता है। उदाहरणार्थ—

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः।
स नृपः सहदेशेन रौरवं नरकं व्रजेत्॥
शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च।
स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते॥
विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते।
शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम्।
तस्माद्वै विष्णुनामानि न वक्तव्यं कदाचन॥

अर्थ—जिस राजा के राज्य में शिव को छोड़कर अन्य राजा की स्तुति की जाती है, वह राजा अपने देशसहित रौरव नरक में जाता है॥ शिव को छोड़कर अन्य देवताओं की भक्ति करना ऐसा ही है, जैसे कोई नारी अपने पति को त्यागकर अन्य जार पुरुष में आसक्त हो॥ विष्णु के दर्शन मात्र से शिवद्रोह का पाप लगता है और शिवद्रोही को दारुण नरक की प्राप्ति होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिए विष्णु का नाम कभी नहीं लेना चाहिए॥

शैवमत में शिव की लिंगाकृति में पूजा की जाती है। स्पष्ट ही शिव-मन्दिरों में स्थापित शिवलिंग पुरुष = शिव के शिश्न का प्रतीक है और जिस जलाधारी पर उसे स्थित किया जाता है, वह

---

१. तुलना—'अर्थी दोषं न पश्यति।' चाणक्यनीति ६।८।
२. अर्थात् दर्शन-स्पर्शन।
३. सम्भवतः यहाँ अन्य मतों का भारत में प्रवेश अभिप्रेत है। अथवा यहाँ 'मत के' पाठ होना चाहिए।

न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।।[1]

नारी=पार्वती की योनि का प्रतीक है। ऋषि दयानन्द की आलोचना से आहत पौराणिक विद्वान् मूर्खों द्वारा प्रवर्त्तित मध्यकालीन मूढ़ एवं घृणित आचार-विचारों तथा अन्ध-विश्वाओं की नूतन व आपाततः वैज्ञानिक प्रतीत होनेवाली व्याख्या करके येन-केन-प्रकारेण उनका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किन्तु जब उन्हें समग्रता में विचार करते हुए प्रत्युत्तर में अकाट्य तर्कों का सामना करना पड़ता है तो औंधे मुँह गिर पड़ते हैं। पौराणिक पण्डितों का प्रायः इस बात पर आग्रह रहता है कि शिवलिंग को पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक न माना जाये। परन्तु शिवपुराण के अन्तर्गत जब इस सारे प्रसंग को पढ़ा जाता है, तब निश्चित रूप से वह पुरुष की मूत्रेन्द्रिय का प्रतीक ही सिद्ध होता है।

लोक में शिवलिंग की पूजा क्यों प्रचलित हुई, पुराणों में इसके विचित्र, किन्तु परस्पर विरोधी, अनेक कारण बताये जाते हैं। भविष्यपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव तीनों देवताओं ने मिलकर अनसूया के सतीत्व को भंग करने की कुचेष्टा की तो सती नारी ने उन्हें शाप देते हुए कहा—

महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः ।
चरणो वासुदेवस्य पूजनीयो नरैस्सदा ।।

अर्थात् मेरे शाप से महादेव की उपस्थेन्द्रिय, ब्रह्मा का सिर तथा विष्णु का चरण संसार में पूजे जायेंगे।

पद्मपुराण में शिवलिंग-पूजा का कारण भृगु का शाप बताया गया है। शिव को शाप देते हुए भृगु ने कहा था—

नारीसंगममत्तोऽसौ यस्मान्माभवमन्यते ।
योनिलिङ्गस्वरूपं वै रूपं तस्मात्तस्य भविष्यति ।।

नारी-संग में मत्त इस शिव ने मेरा अपमान किया है, अतः ये दोनों (शिव-पार्वती) योनि-लिंग रूप धारण करेंगे। भृगु को शाप देकर ही सन्तोष नहीं हुआ, उसने शिव के अनुयायियों को लिंग और अस्थि धारण करने, पाखण्डी होने और वेदबाह्य होने का भी शाप दिया। इस कथा के अन्तर्गत दारुवन की आनुषंगिक कथा को पढ़ने के वाद कौन कह सकता है कि शैव सम्प्रदाय में पूजे जानेवाले शिवलिंग पुरुषेन्द्रिय नहीं हैं। हिन्दुओं में प्रचलित इस शिश्नपूजा ने उन्हें सभ्य समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं छोड़ा। विदेशी लेखकों तथा परमतावलम्वी प्रचारकों ने हमारी संस्कृति की जमकर खिल्ली उड़ाई।

यह एक विडम्बना है कि शंकराचार्य ने जिस पुराणप्रतिपादित शैवमत का खण्डन किया, उसी के अनुयायियों ने शंकराचार्य को साक्षात् शिव का अवतार घोषित किया और वाममार्गियों के समान शैवमत को अपना लिया। आज भी शंकराचार्य के नाम पर स्थापित पीठों पर आसीन आचार्य अपने को शैव कहलाने में गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

न वदेद्यावनीं भाषाम्—इसी काल के आसपास भारत में मुसलमानों का आना-जाना शुरु हुआ। वे अपने साथ अपनी फारसी मिश्रित भाषा भी लाये। कालान्तर में वे यहाँ स्थायीरूप से रहने लग गये और यहाँ की जनता से घुल-मिल गये। परस्पर व्यवहार में तथा राजकाज मे फ़ारसी आदि भाषाओं का और उनके साथ उनके धर्म, संस्कृति, साहित्य और परम्पराओं का प्रभाव बढ़ने लगा।

---

१. 'गजैरापीड्यमानोऽपि' पाठान्तर से भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३, खं० ३, अ० २८, श्लोक ५३।

चाहे कितना ही दुःख प्राप्त हो, और प्राण कण्ठगत अर्थात् मृत्यु का समय भी क्यों न आया हो, तो भी यावनी अर्थात् म्लेच्छभाषा मुख से न बोलनी। और उन्मत्त हस्ती मारने को क्यों न दौड़ा आता हो, और जैन के मन्दिर में जाने से प्राण बचता हो, तो भी जैन-मन्दिर में प्रवेश न करे। किन्तु जैन-मन्दिर में प्रवेश कर बचने से हाथी के सामने जाकर मर जाना अच्छा है।

ऐसे-ऐसे अपने चेलों को उपदेश करने लगे। जब उनसे कोई प्रमाण पूछता था कि तुम्हारे मत में किसी माननीय ग्रन्थ का भी प्रमाण है? तो कहते थे कि हाँ है। जब वे पूछते थे कि दिखलाओ, तब मार्कण्डेय पुराणादि के वचन पढ़ते और सुनाते थे। जैसाकि दुर्गापाठ में देवी का वर्णन लिखा है।

[मार्कण्डेय और शिवपुराण की रचना पर दण्ड]

राजा 'भोज' के राज्य में 'व्यास' जी के नाम से मार्कण्डेय और शिवपुराण किसी ने बनाकर खड़ा किया था। उसका समाचार राजा भोज को विदित होने से उन पण्डितों को हस्तछेदनादि दण्ड

जैन-बौद्ध मत पहले से ही पौराणिक मत को चुनौती देते आ रहे थे। इस सबके परिणामस्वरूप यहाँ के पुरोहित वर्ग का एकाधिपत्य शिथिल हो रहा था। इस दोहरे आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए उन्होंने न 'वदेद्यावनीं भाषां...' के एक तीर से दो शिकार किये—म्लेच्छ भाषा के प्रयोग पर रोक लगाकर मुसलमानों से अपने को बचाने का यत्न किया और जैन-मन्दिरों से पराङ्मुख करके अपने मन्दिरों की ओर आकर्षित किया।

'न वदेद्यावनीं भाषाम्' के प्रसंग में ग्रन्थकार ने अपने विचारों को प्रथम संस्करण में इसी समुल्लास के अन्तर्गत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा कोई देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु कुछ गुण ही होता है। 'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः' यह व्याकरण महाभाष्य का वचन है कि अपशब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को अवश्य पढ़ना चाहिए। क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का ज्ञान होता है। और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है, क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़के देश-भाषा सब होती है। इससे इनके ज्ञानों से परस्पर संस्कृत और भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है। इसी हेतु महाभाष्य में लिखा कि अपशब्द-ज्ञानपूर्वक शब्दज्ञान में धर्म होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ का संस्कृत शब्द जानेगा और उसके भाषा शब्द को न जानेगा तो उसके यथावत् पदार्थ का बोध और व्यवहार का अर्थ भी न चल सकेगा। जितने देशों की भाषा जानै उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है। महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर और विदुर आदिक अरबी आदिक देशभाषा को जानते थे। सोई जब युधिष्ठिरादिक लाक्षागृह की ओर चले तब विदुर जी ने युधिष्ठिर जी को अरबी भाषा में समझाया और युधिष्ठिरजी ने अरबी भाषा से प्रत्युत्तर दिया। यथावत् उसको समझ लिया। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ में देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर के राजा तथा प्रजास्थ आये थे। उनका परस्पर देशभाषाओं में व्यवहार होता था। तथा द्वीप-द्वीपान्तर में यहाँ के लोग जाते थे और वे इस देश में आते थे। फिर जो देश-देशान्तर की भाषा न जानते तो उनका व्यवहार कैसे सिद्ध होता? इससे क्या आया कि देश-देशान्तर की भाषा पढ़ने और जानने में कुछ दोष नहीं किन्तु बड़ा उपकार ही होता है।"—पृष्ठ ३२७-३२८

पुराणों की अर्वाचीनता— वस्तुतः पुराणों का रचनाकाल वही है जब देश में शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों का एकच्छत्र शासन था। गुप्तवंशी राजा वैष्णवमतावलम्बी थे। उनके पूर्ववर्ती राजा

दिया। और उनसे कहा कि जो काव्यादि ग्रन्थ बनावे, तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियों के नाम से नहीं। यह बात राजा 'भोज' के बनाये 'संजीवनी'[1] नामक इतिहास में लिखी है, कि जो ग्वालियर राज्य के 'भिण्ड' नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है। जिसको लखुना के रावसाहेब और उनके गुमाश्ते 'रामदयाल चौबे' जी ने अपनी आँख से देखा है।

शैव-मतानुयायी थे। उसी काल में अपने-अपने सम्प्रदायों का महत्त्व निरूपित करने के लिए व्यास के नाम से भिन्न-भिन्न शैव तथा वैष्णव पुराणों की रचना की गई।

शिवपुराण और मार्कण्डेयपुराण की रचना राजा भोज के शासनकाल में व्यास के नाम से हुई। जब राजा को पता चला कि स्वार्थी लोग व्यास आदि ऋषियों के नाम से पुराणों की रचना कर रहे हैं तो उसने ऐसे लोगों को दण्डित किया और आदेश दिया कि जो कोई नवीन ग्रन्थ बनाये, वह अपने नाम से बनाये, प्राचीन ऋषि मुनियों के नाम से नहीं। राजा भोज के इस आदेश का उल्लेख ग्रन्थकार ने संजीवनी नामक एक इतिहास-ग्रन्थ के आधार पर किया है। सन् १८७५ में पूना में दिये गये प्रवचनों में भी उन्होंने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया था— "ग्वालियर के भिण्ड नामी नगर में तिवाड़ी लोग रहते हैं। उनके पास संजीवनी नामक पुस्तक है। उसमें महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है कि व्यास ने पहले चार हजार चार सौ श्लोक बनाये, फिर उसके बाद व्यास के शिष्यों ने चार हजार के दस हजार कर दिये। इसके बाद फिर भरती होती चली गई। जिस समय जैनमत उन्नति पर था, उस समय केवल ब्रह्मवैवर्त्त और वायुपुराण आदि दो-तीन पुराण मालूम थे। आजकल कहने को तो केवल १८ ही पुराण हैं, किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वास्तव में कितने पुराण हैं।"

वस्तुतः पुराणों का रचनाकाल अधिक प्राचीन नहीं है और न ये एक ही व्यक्ति द्वारा लिखे गये हैं। इन्हें व्यासकृत कहना तो साहसमात्र है। ग्रन्थकार ने पुराणों के व्यासकृत न होने के विषय में तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा—"जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यास होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरकसूत्र, योगशास्त्रभाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है कि व्यासजी बड़े सत्यवादी, धार्मिक योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते। और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यासजी के गुणों का लेश भी नहीं था और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्याससदृश विद्वानों का काम नहीं।"

उक्त कथन का अभिप्राय यही है कि व्यास के द्वारा रचित वेदान्तदर्शन आदि ग्रन्थों को देखते हुए यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इतनी योग्यता रखनेवाला उच्चकोटि का दार्शनिक विद्वान् पुराणों जैसे, साधारण ही नह, घटिया स्तर के ग्रन्थों की रचना करे। किसी भी लेखक द्वारा रचित ग्रन्थों के विषय, शैली, भाषा, अभिव्यंजना विषयक समानताओं का पाया जाना आवश्यक है। परन्तु पुराणों के विषय-प्रतिपादन और शैलीगत विरोधों को देखते हुए उन्हें एक व्यक्ति की रचना कदापि नहीं माना जा सकता।

---

१. इस ग्रन्थ का निर्देश 'पूना-प्रवचन' (व्याख्यान १३) में मिलता है। 'सत्यार्थप्रकाश' सं० १, संवत् १९३२ के पृष्ठ ३१६ पर यह लिखा है—"'सो वह संजीवनी' ग्रन्थ बटेश्वर के पास होलीपुरा एक गाँव है। उसमें चौबे लोग रहते हैं। वे जानते हैं जिसके पास वह ग्रन्थ है। परन्तु लिखने वा देखने को वह पण्डित किसी को नहीं देता''' उस ग्रन्थ को प्रसिद्ध नहीं करता।"

ग्रन्थकार के परवर्त्ती अनेक विद्वान् भी पुराणों के रचनाकाल के सम्बन्ध में यही सम्मति रखते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अन्यतम बंगाली साहित्यकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा— "वर्त्तमान अष्टादश पुराण एक मनुष्य के बनाए या एक समय विभक्त या संगृहीत हुए हैं, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। ये पृथक्-पृथक् समय में संगृहीत हुए हैं।" अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने निम्न प्रमाण दिये हैं—

१. एक लेखक की लेखन-शैली एक सी होती है, परन्तु पुराणों की शैली में भिन्नता है।

२. एक व्यक्ति एक ही विषय के अनेक ग्रन्थ नहीं लिखता, जो अनेक ग्रन्थ लिखता है, वह एक ही विषय को बारंबार वर्णन करने के लिए नहीं लिखता।

३. एक ही लेखक की रचना में पारस्परिक विरोध की सम्भावना नहीं रहती। ये सब दोष पुराणों में न्यूनाधिक सर्वत्र मिलते हैं। अतः वे एक व्यक्ति की रचना नहीं है। (श्रीकृष्णचरित, पृष्ठ ८६)

डा० सम्पूर्णानन्द का कहना है—"यह मानना कि सारे पुराण एक ही व्यक्ति—व्यास की रचना हैं, व्यासजी का उपहास करना है। उनको ऐसी भौंडी बातों के लिए, जो श्रुति, तर्क और इतिहास के विरुद्ध हैं, उत्तरदायी बताना अन्याय है। पुराणों का अन्तःसाक्ष्य बतलाता है कि वे न तो एक समय में बने हैं और न एक व्यक्ति उनका रचयिता है।"

जब पुराणों का व्यासकृत न होना निश्चित है तो उनका महाभारत-युद्ध से परवर्ती होना तो स्वतः सिद्ध है। भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तो अत्यधिक नवीन ग्रन्थ हैं। पुराणों की अर्वाचीनता तथा उनकी विकासशीलता को सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पुराणों में बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि अवैदिक मतों का उल्लेख, रामानुजीय चन्द्रांकित वैष्णव मत का संकेत, जगन्नाथ मन्दिर का वर्णन आदि उनकी अर्वाचीनता के साक्षी हैं। विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचनभाष्य में उद्धृत पद्मपुराण का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। मयैव कथिता देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥

भविष्यपुराण नाम से जो पुराण उपलब्ध है, उसमें तो मुसलमानी आक्रमण और उनके शासन-काल की घटनाओं, १८५७ की राज्यक्रान्ति तथा विक्टोरिया के शासन तक का उल्लेख मिलता है। १३वीं शताब्दी में निर्मित कोणार्क मन्दिर का उल्लेख भी पुराणों में दिखाई देता है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के हिन्दी-अनुवादक पं० रामनारायण शास्त्री लिखते हैं—"विभिन्न स्थानों से प्रकाशित पुराणों की प्रतियों में जो महान् पाठभेद तथा न्यूनाधिक प्रसंग पाये जाते हैं, उन्हें देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि पुराणों में समय-समय पर कुछ प्रसंग खण्डित हुए या छूट गये हैं, साथ ही कुछ जोड़े और घटाये भी गए हैं।" पुराणों के प्रसिद्ध समर्थक व प्रचारक पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र पुराणों में मिलनेवाले गोल-माल का दायित्व बौद्धों पर डालते हुए लिखते हैं—"बौद्धों ने हमारे धर्मग्रन्थों को इतना नष्ट-भ्रष्ट किया था कि उनके पीछे वे अपना असली स्वरूप प्राप्त न कर सके"। जब पुराणों की यह स्थिति है तो उनका प्रामाण्य कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

अठारह पुराणों की गणना में कौन-कौन से पुराण आते हैं, इस पर भी पुराणों में परस्पर सहमति नहीं है। मार्कण्डेय के अनुसार नृसिंहपुराण अठारह के अन्तर्गत है, किन्तु लिंगपुराण बहिष्कृत है। ब्रह्मपुराण के अनुसार लिंगपुराण स्वीकृत है, पर नृसिंहपुराण इस गणना में नहीं आता। इसी प्रकार भागवतपुराण के स्वरूप को लेकर वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों में बड़ा विवाद है। शाक्त लोग देवीभागवत को महापुराण की संज्ञा देते हैं, जबकि वैष्णवों के अनुसार श्रीमद्भागवत को महापुराण

[महाभारत में प्रक्षेप का उल्लेख]

उसमें स्पष्ट लिखा है कि 'व्यासजी' ने चार सहस्र चार सौ, और उसके शिष्यों ने पाँच सहस्र छः सौ श्लोकयुक्त, अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण 'भारत' बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस, और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त 'महाभारत' का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला, तो 'महाभारत' का पुस्तक एक ऊँट का बोझा हो जाएगा'।

स्वीकार किया गया है। इस विवाद को विभिन्न साम्प्रदायिक ग्रन्थों में आक्रोशपूर्वक प्रस्तुत किया है। भागवत के पुराण होने के विषय में बड़े झगड़े हुए हैं और आज भी हैं। शाक्त कहते हैं कि यह पुराण ही नहीं है, देवीभागवत ही असली भागवतपुराण है। ये लोग 'भगवत इदं भागवतम्' न कहकर 'भगवत्या इदं भागवतम्' इस प्रकार अर्थ करते हैं। इसी से श्रीधरस्वामी भागवत के पहले श्लोक की टीका में लिखते हैं—'भागवतं नामान्यदित्यपि न शंकनीयम्'। इससे प्रतीत होता है कि श्रीधरस्वामी से बहुत पहले से यह झगड़ा है कि असली पुराण का नाम 'देवीभागवत' है, 'भागवत' नहीं। उस समय दोनों मतवालों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में जो पुस्तकें लिखीं, उनके नामों से उनके स्तर का पता चलता है। एक का नाम है—'दुर्जनमुखचपेटिका'। इसके उत्तर में जो पुस्तकें लिखी गईं, उनके नाम हैं—'दुर्जनमुखमहाचपेटिका' तथा 'दुर्जनमुखपादुका'।—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायकृत श्रीकृष्णचरित्र का पं० जगन्नाथ चतुर्वेदीकृत हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ७७।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पुराण न तो व्यासकृत हैं और न ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय। इन ग्रन्थों की रचना उस मध्यकाल में हुई जब शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय अपना संकीर्णरूप विकसित कर चुके थे और सभी एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने में प्रवृत्त थे। उपलब्ध पुराणों के ऋषिप्रोक्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

महाभारत—महाभारत के सम्बन्ध में ग्रन्थ के उपक्रम में लिखा है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक् परीक्षितस्य च। कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः॥
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै। श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
ततोऽप्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः। अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तं सर्वपर्वणाम्॥
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्॥

इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के जय, भारत और महाभारत नाम जहाँ उसके क्रमिक विकास को व्यक्त करते हैं, वहाँ उसके वर्त्तमान रूप के किसी एक व्यक्ति की रचना न होने को भी प्रमाणित करते हैं। महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने क्रमशः व्यास, वैशम्पायन तथा

---

१. यह बात 'संजीवनी' ग्रन्थानुसार लिखी गई है। लगभग दो सहस्र वर्ष तक पुराने शिलालेखों वा ग्रन्थों में 'महाभारत' के लिए 'शतसहस्रीसंहितायाम्' (=१ लक्ष श्लोक) का निर्देश मिलता है। द्र०—'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १।

अष्टाध्यायी ६।२।३८ में व्यासमुनि-प्रोक्त 'भारत' ग्रन्थ और वैशंपायन तथा सूत उग्रश्रवाः प्रोक्त प्रवर्धित 'महाभारत' ग्रन्थवाची 'महाभारत' शब्द के पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान पाणिनि ने किया है।

और ऋषि-मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रन्थ बनावेंगे, तो आर्यावर्त्तीय लोग भ्रमजाल में पड़के वैदिकधर्मविहीन होके भ्रष्ट हो जाएँगे। इससे विदित होता है कि राजा भोज को कुछ-कुछ वेदों का संस्कार था।

सौति को उनका लेखक स्वीकार किया है। इस प्रकार वर्त्तमान में उपलब्ध महाभारत की अन्तः साक्षी के अनुसार भी व्यासकृत महाभारत में २४ सहस्र से अधिक श्लोक नहीं थे। 'जय' नाम से मूल महाभारत के लेखक व्यास पाण्डवों के समकालीन थे तथा वैशम्पायन ने अर्जुन के पौत्र जनमेजय को महाभारत की कथा सुनाई थी। सौति उग्रश्रवा ने कई सौ वर्ष पश्चात् नैमिषारण्य में ऋषियों को महाभारत की कथा सुनाई थी (चि० वि० वैद्य—महाभारत मीमांसा—सरस्वती सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित संक्षिप्त संस्करण) अध्याय १। एक लाख श्लोकों के वर्त्तमान में प्रचलित महाभारत के तीन की नहीं, तीन सौ लेखकों की रचना होने में भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कालान्तर में प्रक्षेपों के कारण किसी ग्रन्थ का मूल कलेवर किस प्रकार बृहदाकार धारण कर लेता है—महाभारत के निरन्तर बढ़ते आकार को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 'जय' नाम से लिखे ग्रन्थ में महाभारत की घटना से पूर्व की और परवर्ती कथा-कहानियों के विस्तार के लिए कोई अवसर नहीं था। प्रकृत विषय के विवरण को प्रस्तुत करने के लिए (ग्रन्थकार के अनुमान के अनुसार) ४-५ हजार श्लोक काफी रहे होंगे। गीता अपने वर्त्तमान रूप में महाभारत का ही एक भाग है। उसमें भी सात सौ के लगभग श्लोक हैं।

गीता के उपदेश का आरम्भ तब हुआ जब अर्जुन युद्धक्षेत्र में 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (गीता १-९) 'मैं नहीं लड़ूँगा' कहकर बैठ गया और समाप्ति तब हुई जब अर्जुन 'करिष्ये वचनं तव' कहकर लड़ने के लिए तैयार हो गया। इस प्रकार गीता के उपदेश का एकमात्र उद्देश्य अर्जुन को लड़ने के लिए तैयार करना था। लोकमान्य तिलक ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'गीता-रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' में लिखा है—"श्रीकृष्ण ने बार-बार 'तस्मात्' (इसलिए) पद का उपयोग करके अर्जुन को उपदेश दिया कि 'तस्माद्युद्धचस्व भारत'—इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर (गीता २।१८); 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'—इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध का निश्चय करके उठ (२।३७); 'मामनुस्मर युद्धच च'—इसलिए मेरा स्मरण कर और लड़ (८।७); 'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्'—इसलिए तू उठ और शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त कर (११।३३)।" किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में सबसे अधिक तीन बातें सहायक होती हैं—उपक्रम (आरम्भ) उपसंहार (अन्त) और अभ्यास (किसी बात का बार-बार कहा जाना)। इन तीनों साधनों से निश्चय होता है कि गीता के उपदेश का एकमात्र उद्देश्य युद्ध से विरत अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना था। उसके लिए उसकी युद्ध सम्बन्धी शंकाओं का समाधान अपेक्षित था। यह दूसरे अध्याय के आरम्भ के ५-७ श्लोकों के द्वारा हो गया। तब युद्ध चालू हो जाने पर दोनों सेनाओं के बीच में खड़े अर्जुन को यह उपदेश देने का अवसर कहाँ था—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१७।१०

अर्थात्—एक प्रहर बीता हुआ (ठण्डा), नीरस, सड़ा, बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामस (तमोगुणी) लोगों को प्यारा होता है।

गीता का अधिकांश ऐसी बातों से भरा है, जिनका युद्धक्षेत्र में कहे जाने का तनिक भी औचित्य नहीं बनता। निश्चय ही ये सब बातें समय-समय पर अवकाश-प्राप्त लोगों की मिलाई हुई हैं। यही स्थिति समूचे महाभारत की है। वेदान्तदर्शन का रचयिता तथा योगदर्शन का भाष्यकार ऐसी अनर्गल बातें कदापि नहीं लिखेगा।

महाभारत में प्रक्षेप होने का एक प्रमाण गरुड़पुराण में इस प्रकार दिया है—

दैत्या सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कलौ युगे षट् सहस्रयाम्।
निष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥

—गरुड़पुराण (ब्रह्मकाण्ड १।६६) वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० २१६

अर्थात्—दैत्य लोग कलियुग में ब्राह्मणकुलों में जन्म लेकर, जिस भारत में ६ हजार श्लोक थे, उसमें से कई श्लोकों को निकालकर नये गढ़े हुए श्लोकों को उसमें मिला देते हैं। गरुड़पुराण के इस उद्धरण से इतनी बातें सिद्ध होती हैं—

१. गरुड़पुराण की रचना तब हुई जब महाभारत में मिलावट होने लगी थी, अर्थात् महाभारत की रचना के काफी समय बाद। और तब तक इस ग्रन्थ का नाम भारत था, महाभारत नहीं बना था।

२. महाभारत के काफी समय बाद बनने से गरुड़पुराण व्यासजी की रचना नहीं है।

३. महाभारत में मिलावट करनेवाले ब्राह्मणकुलों में जन्म लेनेवाले दैत्य लोग अर्थात् दुष्टजन थे।

लगभग इसी प्रकार की सम्मति द्वैतवादी आचार्य मध्व ने अपने 'महाभारत-तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ में दी है—

"क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति क्वचिदन्तरितानि कुर्युः। क्वचिच्च व्यत्यासं प्रमादात्। क्वचिदन्यथा। अनुत्सन्नाः प्रायशः सर्वे कोट्यंशोऽपि न वर्त्तते।"

अर्थात्—धूर्त लोग कहीं ग्रन्थों में प्रक्षेप कर देते हैं, कहीं प्रमादवश पाठ बदल देते हैं और जानबूझकर ऐसे परिवर्त्तन कर देते हैं। इस प्रकार जो ग्रन्थ नष्ट नहीं हुए हैं, वे भी अस्त-व्यस्त हो गये हैं। अब उनका करोड़वाँ हिस्सा भी अपने शुद्ध रूप में अवशिष्ट नहीं बचा है।—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय (कुम्भकोणम्)।

महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने आदिपर्व की समाप्ति पर लिखा है—"आदिपर्वणि सप्तविंशत्यधिकद्विशताध्यायाः व्यासेन प्रतिज्ञाताः। किन्तु पूर्वतनलेखकप्रमादेन चतुस्त्रिंशदधिक-द्विशताध्याया दृश्यन्ते। एवं सति बहुपुस्तकपाठसाम्यस्य विद्यमानत्वात् कुत्रकुत्राध्यायाधिक्यं जातं तन्निश्चयो न भवति। श्लोकसंख्यायामपि वैषम्यं तत्प्रमादो नैवेति बोध्यम्।" अर्थात् आदिपर्व में व्यास ने २२७ अध्याय लिखने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु २३४ अध्याय मिलते हैं। श्लोकों की संख्या में भी न्यूनाधिक्य है। वे अध्याय और श्लोक कहाँ और कैसे बढ़े, यह निश्चय नहीं होता।

—महाभारत नीलकण्ठी टीका

नीचे दिये आदिपर्व अध्याय २ के भारत-सूचीपत्ररूप श्लोकों को पढ़ने और तदनुसारी यहाँ दी गई तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि भोज के समय से अब तक भी लोग श्लोक बना-बनाकर मिलाते रहे हैं और निकालते भी रहे हैं। तद्यथा—

१. आदिपर्व

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा। सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा॥१३१॥

२. सभापर्व

अध्यायास्सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया॥१४२॥

३. वनपर्व

अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यायाः परिकीर्त्तिते॥२०४॥
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्त्तिताः॥

४. विराट्पर्व

अत्रापि परिसंख्याता अध्याया: परमर्षिणा ।
सप्तषष्टिरथोपूर्णा: श्लोकानामपि मे शृणु ॥२१६॥

५. उद्योगपर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥२४२॥

६. भीष्मपर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशाऽपरे ॥२५२॥

७. द्रोणपर्व

अत्राध्यायशतं प्रोक्तन्तथाध्यायाश्च सप्तति: ॥२६७॥

८. कर्णपर्व

एकोनसप्तति: प्रोक्ता अध्याया: कर्णपर्वणि ॥२७६॥

९. शल्यपर्व

एकोनषष्टिरध्याया: पर्वण्यत्र प्रकीर्त्तिता: ॥२८७॥

१०. सौप्तिकपर्व

अष्टादशास्मिन्नध्याया: पर्वण्युक्ता महात्मना ॥३०८॥

११. स्त्रीपर्व

सप्तविंशतिरध्याया: पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्त्तिता: ॥३२१॥

१२. शान्तिपर्व

अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ।
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधना: ॥३२७॥

१३. अनुशासनपर्व

अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥३३५॥

१४. अश्वमेधपर्व

अध्यायानां शतं चैव त्रयोध्यायाश्च कीर्त्तिता: ॥३४१॥

१५. आश्रमवासिपर्व

द्विचत्वारिंशदध्याया: पर्वैतदभिसंख्यया ॥३५०॥

१६. मौसलपर्व

अष्टाध्याया: समाख्याता: श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६१॥

१७. महाप्रस्थानपर्व

अत्राध्यायास्त्रय: प्रोक्ता: श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६७॥

१८. स्वर्गारोहणपर्व

अध्याया: पञ्च संख्याता: पर्वण्यस्मिन् महात्मना ॥३७७॥

नाम पर्व	किस श्लोकानुसार	कितने अध्याय होने चाहिएं	कलकत्ते की पुस्तक में कितने हैं		
१ आदि पर्व	१३१	२२७	२३६	९	बढ़े
२ सभा	१४२	७८	८०	२	,,
३ वन	२०४	२६९	३१४	४५	,,
४ विराट्	२१६	६७	७२	५	,,
५ उद्योग	२४२	१८६	१९७	११	,,
६ भीष्म	२५२	११७	१२४	७	,,
७ द्रोण	२६७	१७०	२०४	३४	,,
८ कर्ण	२७६	६९	९६	२१	,,
९ शल्य	२८७	५९	६५	६	,,
१० सौप्तिक	३०८	१८	१८		
११ स्त्री	३२१	२७	२७		
१२ शान्ति	३२७	३३९	३६५	२६	बढ़े
१३ अनुशासन	३३५	१४६	१६८	२२	,,
१४ अश्वमेध	३४१	१०३	९२	११	घटे
१५ आश्रमवासी	३५०	४२	३९	३	,,
१६ मौसल	३६१	८	८	८	
१७ महाप्रास्थानिक	३६७	३	२	१	घटा
१८ स्वर्गारोहण	३७७	५	६	१	बढ़ा

देखिये वर्त्तमान प्रतापचन्द्रराय के छपाये कलकत्ते के महाभारत में ही १९० अध्याय भारत-लिखित सूचीपत्र से अधिक हैं और १५ अध्याय न्यून हैं। तब न जाने क्या-क्या मिलाया गया और क्या-क्या उत्तम विषय निकाल दिया गया और मुम्बई के छापे में तो और भी अधिक श्लोक हैं और सूचीपत्र बनने से पहले न जाने कितने मिलाये और कितने घटाये गये हैं क्योंकि सूचीपत्र भी स्वयं व्यासजी ने नहीं बनाया, प्रत्युत सूतजी के पश्चात् बना है ॥

कुछ लोगों का कहना है कि—१. जैनियों से पौराणिकों ने मूर्त्तिपूजा नहीं ली किन्तु पौराणिकों से जैनी लोगों ने ली। २. मुसलमानों के दीबायचे देखकर स्वामीजी ने वेदभाष्य-भूमिका रची। ३. तर्कसंग्रह देखकर सत्यार्थप्रकाश में सूत्रावली बनाई। ४. देवीभागवतादि में जो भिन्न-भिन्न देवों से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी है सो सब देवता भिन्न-भिन्न नहीं किन्तु परमेश्वर ही के नाम हैं ॥

प्रत्युत्तर—१. जैनियों से पुराणों ने अवतार न लिये होते तो १० मुख्य अवतारों में बौद्ध जैनों के अवतार बुद्ध देव को नवां अवतार क्यों माना जाता? २. क्या सायणाचार्य्य ने भी ऋग्वेदभाष्य का उपोद्घात (दीबायचा) मुसलमानों से लिया था? ३. तर्कसंग्रह के समान सत्यार्थप्रकाश में कहीं कोई सूत्रावली संस्कृत में स्वामीजी की बनाई नहीं है। ४ देवीभागवतादि सब पुराणों में अविरोधभाव से एक ही परमेश्वर के अनेक नामों की व्याख्या होती तो लिङ्गपुराण छपा लखनऊ सन् १८९७ अध्याय ९६ में शिवजी ने शरभ पक्षी का रूप धारण करके नृसिंहजी को मार डालना क्यों लिखा है? नृसिंहजी तो पुराणानुसार अवतार थे! और शिव भी, जैसाकि—

श्री भगवानुवाच—

अकाले भयमुत्पन्नं देवानामपि भैरव। ज्वलितः स नृसिंहाग्निः शमयैनं दुरासदम् ॥१२॥
सान्त्वयन् बोधयादौ तं तेन किं नोपशाम्यति। ततो मत्परमं भावं भैरवं सम्प्रदर्शय ॥१३॥
सूक्ष्मं सूक्ष्मेन संहृत्य स्थूलं स्थूलेन तेजसा। वक्त्रमानय कृत्तं च वीरभद्र ! ममाज्ञया ॥१४॥
इत्यादिष्टो गणाध्यक्षः प्रशान्तवपुरास्थितः। जगाम रंहसा तत्र यत्रास्ते नरकेशरी ॥१५॥
ततस्तं बोधयामास वीरभद्रो हरोहरिम्। उवाच वाक्यमीशानः पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६॥

महादेवजी बोले कि—

हे वीरभद्र ! इस समय देवताओं को बड़ा भय हो रहा है। इस कारण उस नृसिंह रूप अग्नि को शीघ्र ही जाय शान्त करो। पहले तो मीठे वचनों से उनको समझाओ, जो न शान्त हों तो भैरवरूप दिखाओ। सूक्ष्म को सूक्ष्म और स्थूल को स्थूल तेज से संहार कर "हमारी आज्ञा से नृसिंह का[1] मुण्ड और चर्म हमारे लिए लाओ।" यह शिवजी की आज्ञा पाय शान्ति से वीरभद्र जी नृसिंह के समीप गये और उनको अपने औरस पुत्र की भाँति समझाने लगे कि—

वीरभद्र उवाच—

जगत्सुखाय भगवन्नवतीर्णोसि माधव। स्थित्यर्थे च नियुक्तोसि परेण परमेष्ठिना ॥१७॥
बिभर्षि कूर्मरूपेण वाराहेणोद्धृता मही। अनेन हरिरूपेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥१६॥
अत्यन्तघोरं भगवन् नरसिंह वपुस्तव। उपसंहर विश्वात्मंस्त्वमेव मम सन्निधौ ॥२४॥

हे नृसिंह जी ! आपने जगत् के सुख के लिए अवतार लिया है और परमेश्वर ने भी जगत् की रक्षा का ही अधिकार आपको दे रखा है ॥१७॥ मत्स्य रूप धरके आपने इस जगत् की रक्षा की, कूर्म और वाराह रूप से पृथिवी को धारण किया, इस नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु का संहार किया, वामन रूप धर राजा बलि को बाँधा। अब तुम हमारे कहने से इस अति घोर रूप का संहार करो, जगत् को बहुत त्रास हो रहा है ॥२४॥

सूत उवाच—

इत्युक्तो वीरभद्रेण नृसिंहः शान्तया गिरा।
ततोऽधिकं महाघोरं कोपं प्राज्वालयद्धरिः ॥२५॥

सूतजी बोले—

हे मुनीश्वरों ! इस भाँति वीरभद्र जी ने बहुत शान्तवचनों से नृसिंहजी को समझाया परन्तु वे न माने और इनके वचन सुन बड़ा क्रोध कर बोले कि—

नृसिंह उवाच—

आगतोऽसि यतस्तत्र गच्छ त्वं मा हितं वद। इदानीं संहरिष्यामि जगदेतच्चराचरम् ॥२६॥
मन्नाभिपङ्कजाज्जातः पुरा ब्रह्मा चतुर्मुखः। तल्ललाटसमुत्पन्नो भगवान् वृषभध्वजः ॥३१॥
कालोऽस्म्यहं कालविनाशहेतुर्लोकान्समाहर्त्तुमहं प्रवृत्तः।
मृत्योर्मृत्युं विद्धि मां वीरभद्र जीवन्त्येते मत्प्रसादेन देवाः ॥३५॥

वीरभद्र ! जहाँ से तू आया है वहाँ ही चला जा। इस चराचर जगत् का अभी मैं संहार करता

---

१. आप लोग कहते हैं कि शिव विष्णु एक है, परन्तु शिव नृसिंह का सिर कटवाता और खाल खिंचवाता है।

हैं ॥२६॥ चतुर्मुख[1] ब्रह्मा मेरे नाभिकमल से उत्पन्न हुआ और ब्रह्मा के ललाट से शिव की उत्पत्ति हुई है ॥३१॥ इस जगत् का नाश करने के अर्थ मुझे साक्षात् काल ही जान, मृत्यु का भी मृत्यु मैं हूँ, हे वीरभद्र, ! सब देवता मेरी कृपा से जीते हैं ॥३५॥

सूत उवाच—

साहंकारमिदं श्रुत्वा हरेरमितविक्रमः । विहस्योवाच सावज्ञं ततो विस्फुरिताधरः ॥३६॥

सूतजी बोले कि हे मुनीश्वरो ! यह नृसिंह जी का अभिमानयुक्त वचन सुन कुछ कोप कर हंसके वीरभद्र कहने लगे—

वीरभद्र उवाच—

किं न जानासि विश्वेशं संहर्त्तारं पिनाकिनम् । असद्वादो विवादश्च विनाशस्त्वयि केवलः ॥३७॥
तवान्योन्याऽवताराणि कानि शेषाणि साम्प्रतम् । कृतानि येन केनापि कथाशेषो भविष्यसि ॥३८॥
दोषं त्वं पश्य एतत् त्वमवस्थामीदृशीं गतः । तेन संहारदक्षेण क्षणात्संक्षयमेष्यसि ॥३९॥
प्रकृतिस्त्वं पुमान् रुद्रस्त्वयि वीर्यं समाहितम् । त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवक्त्रः पितामहः ॥४०॥
न त्वं स्रष्टा न संहर्त्ता न स्वतन्त्रो हि कुत्रचित् । कुलालचक्रवच्छक्त्या प्रेरितोसि पिनाकिना ॥४५॥
अद्यापि तव निक्षिप्तं कपालं कूर्मरूपिणः । हरहारलतामध्ये मुग्ध ! कस्मान्न बुध्यसे ॥४६॥
विस्मृतं किं तदंशेन दंष्ट्रोत्पातेन पीडितः । वाराहविग्रहस्तेद्य साक्रोशं तारकारिणा ॥४७॥
दग्धोसि यस्य शूलाग्रे विष्वक्सेनच्छलोद्भवान् । दक्षयज्ञे शिरश्छिन्नं मया ते यज्ञरूपिणः ॥४८॥
निर्जितस्त्वं दधीचेन सङ्ग्रामे समरुद्गणः । कण्डूयमाने शिरसि कथं तद्विस्मृतं त्वया ॥५०॥
चक्रं विक्रमतो यस्य चक्रपाणे तव प्रियम् । कुतः प्राप्तं कृतं केन त्वया तदपि विस्मृतम् ॥५१॥
ते मया सकला लोका गृहीतास्त्वं पयोनिधौ । निद्रापरवशः शेते स कथं सात्विको भवान् ॥५२॥
शास्ताऽशेषस्य जगतो न त्वं नैव चतुर्मुखः । इत्थं सर्वं समालोक्य संहरात्मानमात्मना ॥५८॥
नोचेदिदानीं क्रोधस्य महाभैरवरूपिणः । वज्राशनिरिव स्थाणोस्त्वैवं मृत्युः पतिष्यति ॥५९॥

वीरभद्र बोले कि—

हे नृसिंह ! जगत् के संहार करनेहारे श्री शिवजी को क्या तुम नहीं जानते, यह तुम्हारा "अस्त-व्यस्त बोलना केवल तुम्हारे नाश का हेतु है।" पहिले जो-जो अवतार तुमने लिये वे अब कहाँ हैं। इसलिए तुम भी कथाशेष हो जाओगे अर्थात् न रहोगे। इस क्रूरता के कारण बहुत शीघ्र तुम्हारा संहार किया जायेगा। तुम प्रकृति हो और शिवजी पुरुष हैं, उन्होंने तुममें वीर्य का निषेक किया, तब तुम्हारे नाभिकमल से पञ्चमुख[2] ब्रह्मा उत्पन्न हुए। हे नृसिंहजी ! जो शिव को तुम अपना पौत्र समझते हो तो न तो तुम संहार करनेहारे न पालन करनेहारे हो, "केवल अज्ञान से" अपने स्वरूप को भूल रहे हो, कुम्हार के चाक की भाँति शिवजी की शक्ति से घूमते-फिरते हो। हे मूढ ! "तेरे कूर्म अवतार का कपाल अब तक शिवजी ने" हार में पिरो रक्खा है और वाराह अवतार की डाढ़ रुद्र ने उखाड़ी और तुझे अति पीड़ा दी, तेरे विष्वक्सेन रूप को शिव ने अपने त्रिशूल के भय से दग्ध किया। दक्ष के यज्ञ में तेरे यज्ञरूप का शिर मैंने काटा। तेरे पुत्र ब्रह्मा का पाँचवाँ मस्तक अब तक कटा ही पड़ा है, शिवभक्त दधीचि ने तेरा पराजय किया। परन्तु ये सब बातें भूल गया और फिर "तेरे शिर में खुजली चली"। यह सुदर्शनचक्र, जिसके बल से तू पराक्रमी हो

१. धन्य है पुराणों को, कहीं ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति किसी प्रकार, कहीं किसी प्रकार।
२. धन्य ! ब्रह्मा के चार मुख से पाँच मुख भी वर्णन कर दिये।

रहा है, कहाँ से पाया और किसने बनाया, यह भी भूल गया। प्रलय के समय सब लोगों का संहार मैंने किया, तू तो निद्रावश हो समुद्र में जा सोया। इसीसे जान ले कि जैसा तू सात्त्विक है। न तू शास्ता है और न ब्रह्मा। यह सब मन में विचारकर इस क्रूर रूप का संहार कर, नहीं तो महाभैरवरूप शिव के क्रोध का वज्र अब तेरे मस्तक पर गिरेगा।

सूत उवाच—

इत्युक्तो वीरभद्रेण नृसिंहः क्रोधविह्वलः। ननाद तनुवेगेन तं ग्रहीतुं प्रचक्रमे ॥६०॥
अत्रान्तरे महाघोरं विपक्षभयकारणम्। गगनव्यापि दुर्धर्षं शैवतेजःसमुद्भवम् ॥६१॥
सहस्रबाहुर्जटिलश्चन्द्रार्धकृतशेखरः। समृगार्धशरीरेण पक्षाभ्यां चञ्चुना द्विजाः ॥६६॥
स्पृष्टदंष्ट्रोऽधरोष्ठश्च हुङ्कारेण युतो हरः। हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टबलविक्रमः ॥६९॥
बिभ्रद्धौर्म्यं सहस्रांशोरधः खद्योतविभ्रमम्। अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादेभ्युदारयन् ॥७०॥
पादावाबध्य पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम्। भिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम् ॥७१॥
ततो जगाम गगनं देवैः सह महर्षिभिः। सहसैव भयाद्विष्णुं विहगश्च यथोरगम् ॥७२॥
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य संगृह्य निपात्य च निपात्य च। उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षाघातविमोहितम् ॥७३॥
नीयमानः परवशो दीनवक्त्रः कृताञ्जलिः। तुष्टाव परमेशानं हरिस्तं ललिताक्षरैः ॥७५॥

नृसिंह उवाच

नमो रुद्राय शर्वाय महाग्रासाय विष्णवे। नम उग्राय भीमाय नमः क्रोधाय मन्यवे ॥७६॥

सूत उवाच

नाम्नामष्टशतेनैवं स्तुत्वामृतमयेन तु। पुनस्तु प्रार्थयामास नृसिंहः शरभेश्वरम् ॥९५॥
यदा यदा ममाज्ञानमत्यहङ्कारदूषितम्। तदा तदापनेतव्यं त्वयैव परमेश्वर ॥९६॥
एवं विज्ञापयन् प्रीतिं शङ्करं नरकेशरी। नन्वशक्तो भवान् विष्णो जीवितान्तं पराजितः ॥९७॥
तद्वक्त्रशेषमात्रान्तं कृत्वा सर्वस्य विग्रहम्। शुक्तिशिष्टं तदा भङ्क्त्वा वीरभद्रः क्षणात्ततः ॥९८॥

देवा ऊचुः—

अथ ब्रह्मादयः सर्वे वीरभद्र त्वया दृशा। जीविताः स्मो वयं देवाः पर्जन्येनेव पादपाः ॥९९॥
एतावदुक्त्वा भगवान् वीरभद्रो महाबलः। पश्यतां सर्वभूतानां तत्रैवान्तरधीयत ॥११४॥
नृसिंहकृत्तिवसनस्तदाप्रभृति शङ्करः। वक्त्रं तन्मुण्डमालायां नायकत्वेन कल्पितम् ॥११५॥

इति श्रीलिङ्गपुराणान्तर्गते षण्णवतितमेऽध्याये
नृसिंहवधाख्यं प्रकरणं समाप्तम्

सूतजी बोले कि—

हे मुनीश्वरो ! इतना सुनते ही नृसिंहजी क्रोध की अग्नि से जल उठे और बड़ा घोर शब्द करके वीरभद्रजी को पकड़ना चाहा। इसी अवसर में महाघोर शत्रुओं को भय देनेहारा शिवतेज से उत्पन्न अतिदुर्धर्ष आकाश तक व्याप्त बड़ा भयङ्कर रूप वीरभद्र का हो गया। सहस्र भुजा धारे और मस्तक पर चन्द्र से शोभित था। जिस रूप का आधा शरीर मृग का और आधा पक्षी का। बड़े-बड़े पंख, तीखी चोंच, वज्र के तुल्य नख, बड़ी-बड़ी और अतितीक्ष्ण डाढ, नीलकण्ठ, चार पाद, प्रलयाग्नि के समान देदीप्यमान देह अतिकुपित और बड़े क्रूर तीन नेत्र और प्रलय के मेघों के समान जिस का गम्भीर शब्द था। उस अतिदारुण हुङ्कार शब्द को करते हुये रुद्ररूप को देखते ही नृसिंह जी का सब बल, पराक्रम नष्ट हो गया और जैसे सूर्य के आगे खद्योत हो जाय, ऐसे निस्तेज हो गये। शरभरूप शिव भी अपने पुच्छ से नृसिंह के

पाँव लपेट हाथों से हाथ पकड़ छाती में चोंच के प्रहार देते हुए जैसे सर्प को गरुड़ ले उड़े, ऐसे ही भयभीत नृसिंहजी को अपने पक्षों के घात से मोहित कर आकाश को ले उड़े और आकाश में जाय फिर नृसिंहजी को भूमि पर गिराया और फिर उठाया। इस भाँति बहुत बार उठाय-उठाय पटका और जब नृसिंह जी बहुत व्याकुल हो गये, तब लेकर उड़ चले। सब देवता स्तुति करते हुए उनके पीछे चले। नृसिंहजी परवश और दीनमुख हुए-हुए आकाश में अपने को उठा ले जाते शिवजी को देख हाथ जोड़ स्तुति करने लगे। सूतजी बोले कि हे मुनीश्वरो! एक सौ आठ नामों से परमेश्वर की स्तुति कर नृसिंहजी शुद्ध अन्तःकरण से प्रार्थना करने लगे कि महाराज! जब-जब मुझे अहङ्कार से अज्ञान हो तब-तब आप शासन करें। वीरभद्र भगवान् उनकी प्रार्थना सुन प्रसन्न भये और कहा कि हे विष्णो! अब तू अशक्त हुआ और तेरा प्राणों तक पराजय हुआ। इतना कह नृसिंहजी का चर्म वीरभद्रजी ने उतार लिया और शरीर के शुक्ल-वर्ण अस्थि निकल आये और सिर भी काट लिया। यह सब चरित्र देख ब्रह्मा आदि देवता स्तुति करने लगे। पुनः सब देवताओं के देखते ही वीरभद्र भगवान् अन्तर्ध्यान हो गये। उसी दिन से नृसिंहजी का चर्म शिवजी ने ओढ़ा और उनका मुण्ड अपनी मुण्डमाला का मध्यमणि बनाया।

यह लिङ्गपुराण के ९६ अध्याय में नृसिंहवध समाप्त हुआ।

कृष्ण चरित्र की समालोचना के प्रसंग में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने महाभारत में प्रक्षेपांश को सिद्ध करने के लिए निम्न हेतु दिये हैं —

१. आदिपर्व के द्वितीय अध्याय का नाम पर्वसंग्रहाध्याय है। इसमें महाभारत के लगभग सभी विषयों का उल्लेख है। छोटी-से-छोटी घटना भी नहीं छूटी है। अब जो बड़ा प्रकरण महाभारत में आये और जिसका उल्लेख पर्वसंग्रहाध्याय में न हो, उसे अवश्य क्षेपक समझना चाहिए। उदाहरण के लिए अश्वमेधिक पर्व के अनुगीता और ब्राह्मणगीता प्रकरण।

२. अनुक्रमणिकाध्याय में महाभारत को एक लाख श्लोकों का बताया गया है और किस पर्व में कितने श्लोक हैं, यह पर्वसंग्रहाध्याय में लिखा है। इसके अनुसार समस्त अठारह पर्वों में ८६८३६ श्लोक होने चाहिए। एक लाख की संख्या पूरी करने के लिए पर्वसंग्रहकार ने लिखा है कि इसमें हरिवंश के १०००० श्लोक और मिलाये जाएँ। इसे जोड़ने पर ९६८३६ श्लोक हुए। परन्तु प्रचलित महाभारत की श्लोक संख्या १०७३९० है। इससे सिद्ध हुआ कि लगभग ११ सहस्र श्लोक महाभारत में बढ़ाये गये हैं।

३. अनुक्रमणिका अध्याय में लिखा है कि व्यासजी ने १५० श्लोकों की अनुक्रमणिका बनाई थी, किन्तु उपलब्ध महाभारत में अनुक्रमणिकाध्याय में २७२ श्लोक मिलते हैं। अतः १२२ श्लोक तो इसी अध्याय में बढ़ा दिये गये हैं।

४. महाभारत के वर्त्तमान उपलब्ध वक्ता-श्रोता परम्परा का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि वर्तमान में प्राप्त महाभारत व्यास की ही कृति नहीं है। उसमें वैशम्पायन, सूत और एक अज्ञातनामा लेखक (जिसने नैमिषारण्य प्रसंग के प्रारम्भिक श्लोक लिखे हैं) के न जाने कितने श्लोक हैं।

५. अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि उपाख्यान भाग को छोड़कर व्यास ने २४००० श्लोकों का महाभारत (जय) बनाया और उसे उन्होंने अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। शुकदेव से वैशम्पायन ने महाभारत पढ़ा और वही २४००० श्लोकों वाला महाभारत जनमेजय को सुनाया। वही मूल महाभारत (२४ हजार श्लोकयुक्त) क्षेपकों के कारण आज एक लाख श्लोकोंवाला हो गया।

[भोज के समय में यन्त्र-कलायुक्त यान और पंखा]

इनके[1] 'भोजप्रबन्ध' में लिखा है कि—

घट्यैकया क्रोशदशंकमश्वः सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं, विना मनुष्येण चलत्यजस्रम् ॥

राजा भोज के राज्य में और समीप ऐसे-ऐसे शिल्पी लोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार का एक यान यन्त्रकलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोश, और एक घण्टे में साढ़े सत्ताईस कोश जाता था। वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था। और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि बिना मनुष्य के चलाये कलायन्त्र के बल से नित्य चला करता, और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों पदार्थ आजतक बने रहते तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।

घट्यैकया—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है (सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति; सर्वज्ञानमयो हि सः —मनु०)—वेदार्थ का उपबृंहण करने के लिए परवर्ती ऋषियों ने उपवेदादि की रचना करके वेद में बीजरूप में निहित विद्याओं का विस्तार किया। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'नौविमानादिविषय' के अन्तर्गत इस विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है। यह निश्चित है कि ग्रन्थकार के समय तक आधुनिक विज्ञान हवाई जहाज का आविष्कार नहीं कर पाया था। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन उन्होंने सन् १८७६ (सम्वत् १९३३) में किया था। इससे पूर्व पूना नगर में १३ जुलाई १८७५ को दिये गये अपने भाषण में उन्होंने कहा था—"पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्याएँ भारतखण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं, जैसे विमानविद्या, अस्त्रविद्या आदि। जो लोग लड़ाइयाँ लड़ते थे, उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी विमानविद्या का एक पुस्तक देखा है।" यह कौन-सा पुस्तक था, इस पर कहीं से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। रामायण-महाभारत में और अन्य संस्कृत-ग्रन्थों में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के 'समराङ्गणसूत्रधार' ग्रन्थ (११वीं शती) में विमान बनाने का संक्षेप में वर्णन मिलता है। कुछ वर्ष हुए, स्वामी ब्रह्ममुनिजी की खोज से एक प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भारद्वाज-कृत 'बृहद् विमानशास्त्र' प्रकाश में आया है।

आधुनिक काल में हवाई जहाज़ की प्रथम उड़ान ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के लिखे जाने के २७ वर्ष बाद १७ दिसम्बर सन् १९०३ को अमरीका के आरविल राइट नामक व्यक्ति ने की थी। वह भी मात्र १२ सेकेण्ड की उड़ान थी। फिर उसी दिन उसके भाई विल्वर राइट ने ५९ सेकेण्ड की उड़ान ली थी। पहला सफल हेलीकाप्टर अमरीका में आइगर सिकोरस्की नामक वैज्ञानिक ने सन् १९३७ में बनाया। आजकल के समान सुविधाजनक हवाई यात्रा तो उसके भी बहुत समय बाद सम्भव हो सकी। अतः ग्रन्थकार ने विमानविद्या के प्रसंग में जो कुछ कहा या लिखा है, वह विशुद्धरूप से वेदों के आधार पर ही कहा या लिखा है।

ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—"वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः' (१।२५।७)। अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष, भू और समुद्र में आने-जानेवाले यानों की विद्या का उपदेश किया है, उसको सिद्ध करने के लिए जो पूर्ण विद्या, शिक्षा और हस्तक्रियाओं के कला-कौशल में कुशल मनुष्य इच्छा करता है, वही उसको बनाने में समर्थ है।"

---

१. अर्थात् इनके सम्बन्ध में लिखे 'भोज-प्रबन्ध' में।

[जैनियों के अनुकरण पर अवतार-पुराणादि की कल्पना]

जब पोपजी अपने चेलों को जैनियों से रोकने लगे, तो भी मन्दिरों में जाने से न रुक सके। और जैनियों की कथा में भी लोग जाने लगे। जैनियों के पोप इन पुराणियों के पोपों के चेलों को बहकाने लगे। तब पुराणियों ने विचारा कि इसका कोई उपाय करना चाहिए, नहीं तो अपने चेले जैनी हो जाएँगे। पश्चात् पोपों ने यही सम्मति की कि जैनियों के सदृश अपने भी अवतार, मन्दिर-मूर्त्ति और कथा के पुस्तक बनावें। इन लोगों ने जैनियों के चौबीस तीर्थङ्करों के सदृश चौबीस अवतार, मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनाई। और जैसे जैनियों के 'आदि' और 'उत्तर' पुराणादि हैं, वैसे अठारह पुराण बनाने लगे।

[वैष्णव मत का आरम्भ]

राजा भोज के डेढ़ सौ वर्ष के पश्चात् वैष्णव मत का आरम्भ हुआ। एक 'शठकोप' नामक कञ्जरवर्ण में उत्पन्न हुआ था। उससे थोड़ा-सा चला। उसके पश्चात् 'मुनिवाहन' भङ्गी कुलोत्पन्न,

---

भागवत में शाल्व राजा के एक ऐसे विमान का वर्णन मिलता है, जो आवश्यकतानुसार अकेला ही जल, स्थल, आकाश और पर्वत पर भी चल सकता था—

स लब्ध्वा कामगं यानं तपोधामं दुरासदम्। ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्। क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिशृङ्गे जले क्वचित्॥

'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा ने विमानों से सम्बन्ध रखनेवाली एक प्राचीन पुस्तक का उल्लेख किया है। भरद्वाज ऋषि की बनाई हुई इस पुस्तक का नाम है—'अंशुबोधिनी'। इस पुस्तक में अनेक विद्याओं का वर्णन है। प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक अधिकरण है। इन अधिकरणों में एक विमान अधिकरण भी है। इस अधिकरण में आये 'शक्त्युद्गमोद्यष्टौ' सूत्र पर बौद्धायन ऋषि की वृत्ति इस प्रकार है—

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानश्शिखोद्गमः। अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखा। इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्त्रतः।

यहाँ विमान की रचना और उनकी आकाशसंचारी गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं—'शक्त्युद्गम' बिजली से चलनेवाला, 'भूतवाह' अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, 'धूमयान' वाष्प से चलनेवाला, 'शिखोद्गम' पंचशिखी के तेल से चलनेवाला, 'अंशुवाह' सूर्यकिरणों से चलनेवाला, 'मणिवाह' सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त आदि मणियों से चलनेवाला और 'मरुत्सखा' केवल वायु से चलनेवाला। राजा भोज का 'युक्ति-कल्पतरु' ग्रन्थ भी द्रष्टव्य है।

वाल्मीकि रामायण में उल्लिखित पुष्पकविमान से कौन परिचित नहीं—

ब्रह्मणाऽथ कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणः। विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्॥

—सुन्दरकाण्ड सर्ग ९

(विमान विषय में अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य-हमारा 'भूमिकाभास्कर' भाग २ पृष्ठ ५३९—५६३)।

इतनी ज्ञानसम्पदा के स्वामी होते हुए भी उसके नष्ट हो जाने के कारण देश के स्वाभिमान को आघात पहुँचने की पीड़ा से ग्रन्थकार का मन खिन्न था।

वैष्णवमत—पुराणों की रचना के साथ विष्णु के अवतारों की कल्पना की गई। राम और कृष्ण जैसे ऐतिहासिक पुरुषों को विष्णु के प्रमुख अवतार तथा मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह आदि को अवान्तर अवतार घोषित किया गया। इन अवतारों के साथ अनेक कथाएँ और उपाख्यान जोड़कर

और तीसरा 'यावनाचार्य' यवनकुलोत्पन्न आचार्य हुआ। तत्पश्चात् ब्राह्मणकुलज चौथा 'रामानुज' हुआ। उसने अपना मत फैलाया।

[विविध पुराणों की रचना]

शैवों ने शिवपुराणादि, शाक्तों ने देवीभागवतादि, वैष्णवों ने विष्णुपुराणादि बनाये। उनमें अपना नाम इसलिये नहीं धरा कि हमारे नाम से बनेंगे, तो कोई प्रमाण न करेगा। इसलिये व्यासादि ऋषि-मुनियों के नाम धरके पुराण बनाये। नाम भी इनका वास्तव में नवीन रखना चाहिए था, परन्तु जैसे कोई दरिद्र अपने बेटे का नाम महाराजाधिराज, और आधुनिक पदार्थ का नाम सनातन रख दे, तो क्या आश्चर्य है ?

अब इनके आपस के जैसे झगड़े हैं, वैसे ही पुराणों में भी धरे हैं। देखो, देवीभागवत में 'श्री' नामा एक देवी स्त्री, जो श्रीपुर की स्वामिनी लिखी है, उसीने सब जगत् को बनाया। और ब्रह्मा-विष्णु-महादेव को भी उसी ने रचा। जब उस देवी की इच्छा हुई, तब उसने अपना हाथ घिसा। उससे हाथ में एक छाला हुआ। उसमें से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। उससे देवी ने कहा कि तू मुझसे विवाह कर। ब्रह्मा ने कहा कि तू मेरी माता लगती है। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। ऐसा सुनकर माता को क्रोध चढ़ा, और लड़के को भस्म कर दिया।

और फिर हाथ घिसके उसी प्रकार दूसका लड़का उत्पन्न किया। उसका नाम विष्णु रक्खा। उससे भी उसी प्रकार कहा। उसने न माना, तो उसको भी भस्म कर दिया। पुनः उसी प्रकार तीसरे लड़के को उत्पन्न किया। उसका नाम महादेव रक्खा, और उससे कहा कि तू मुझसे विवाह कर। महादेव बोला कि मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। तू दूसरा स्त्री का शरीर धारण कर। वैसा ही देवी ने किया। तब महादेव बोला कि यह दो ठिकाने राख-सी क्या पड़ी है ? देवी ने कहा कि ये दोनों तेरे भाई हैं। इन्होंने मेरी आज्ञा न मानी, इसलिए भस्म कर दिये। महादेव ने कहा कि मैं अकेला क्या करूँगा ? इनको जिला दे, और दो स्त्री और उत्पन्न कर। तीनों का विवाह तीनों से होगा। ऐसा ही देवी ने किया। फिर तीनों का तीनों के साथ विवाह हुआ।

वैष्णव मत को व्यापक रूप प्रदान किया गया। इस मत के आद्याचार्यों में शठकोपाचार्य, मुनिवाहन, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य प्रमुख हैं। वैष्णवमत को दर्शन के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय रामानुज को है। रामानुज के अतिरिक्त मध्व, निम्बार्क, तथा वल्लभ ने भी वैष्णवमत के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। पद्मपुराण में इन चारों वैष्णवाचार्यों के सम्बन्ध में लिखा है—

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः। अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्रीमाध्वरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः। चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदायप्रवर्त्तकाः॥

जो सम्प्रदायविहीन होते हैं, उनके मन्त्र निष्फल हो जाते हैं। अतः कलियुग में चार सम्प्रदाय होंगे और श्री (रामानुज), मध्व, रुद्र (वल्लभ) तथा सनकादि (निम्बार्क) ये चार कलियुग में धरती को पवित्र करनेवाले सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक होंगे। रामानुज का काल ग्यारहवीं शताब्दी होने से स्पष्ट है कि पद्मपुराण आदि की रचना हुए अधिक से अधिक सात-आठ सौ वर्ष हुए हैं। ऐसी स्थिति में उनके महाभारतकालीन व्यास की रचना होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

रामानुज ने विष्णु और लक्ष्मी को आराध्य के रूप में स्वीकार किया। उत्तर भारत में रामानन्द ने वैष्णवभक्ति का प्रचार किया। उन्होंने विष्णु के स्थान पर राम को और लक्ष्मी के स्थान

[समीक्षा]

वाह रे ! माता से विवाह न किया, और बहिन से कर लिया। क्या इसको उचित समझना चाहिए ? पश्चात् इन्द्रादि को उत्पन्न किया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र इनको पालकी के उठानेवाले कहार बनाया। इत्यादि गपोड़े लम्बे-चौड़े मनमाने लिखे हैं। कोई उनसे पूछे कि उस देवी का शरीर और उस श्रीपुर का बनानेवाला और देवी के माता-पिता कौन थे ? जो कहो कि देवी अनादि है, तो जो संयोग-जन्य वस्तु है वह अनादि कभी नहीं हो सकता। जो माता-पुत्र के विवाह करने में डरे, तो भाई-बहिन के विवाह में कौन-सी अच्छी बात निकलती है ?

जैसी इस देवीभागवत में महादेव, विष्णु और ब्रह्मादि की क्षुद्रता और देवी की बड़ाई लिखी है, इसी प्रकार शिवपुराण में देवी आदि की बहुत क्षुद्रता लिखी है। अर्थात् ये सब महादेव के दास और महादेव सबका ईश्वर है।

['भस्म' और 'रुद्राक्ष' धारण करने की आलोचना]

जो 'रुद्राक्ष' अर्थात् एक वृक्ष के फल की गोठली और राख धारण करने से मुक्ति मानते हैं, तो राख में लोटनेहारे गदहा आदि पशु, और घुंघुंची आदि के धारण करनेवाले भील कंजर आदि मुक्ति को जावें। और सुअर, कुत्ते, गधा आदि पशु राख में लोटनेवालों की मुक्ति क्यों नहीं होती ?

पर सीता को उपास्य स्वीकार किया। परमेश्वर का स्थान जब मनुष्यों को दे दिया गया तो झगड़े तो होने ही थे। विष्णु बदनाम होने लगे। देवीभागवत में लिखा गया—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन कामम्, मीनो बभूव कमठः खलु सूकरस्तु।
पश्चान्नृसिंह इति यश्छलकुद्धरायां, तान् सेवतां जननी मृत्युभयं न किं स्यात् ॥

अर्थ—जिस विष्णु के शापवश मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतार होते हैं, जो नृसिंह अवतार लेकर संसार को छलता है, ऐसे विष्णु की सेवा करने से क्या संसार में मृत्यु का भय नहीं होगा ?

शिवपुराण में विष्णु के दस अवतारों को काम के वशीभूत होकर हृदय से लगाये रहनेवाले सामान्य पुरुष बताकर निन्दा की गई है—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की हरिर्दश ॥
योगेन्द्राणां प्रधानश्च संसारभयनाशनः। लक्ष्मीमुरसि संधत्ते मन्मथेन वशीकृतः ॥

शठकोप आदि का परिचयात्मक विवरण हम यहाँ स्वामी वेदानन्दजी के शब्दों में दे रहे हैं—
१. तमाहुः कारिजं सन्तः शठकोपं परांकुशम्। वकुलाभरणाख्यं च तमेव कारुनन्दनम् ॥ (दिव्यसूरिचरित ४र्थ सर्ग) अर्थात् उस कारिपुत्र को सज्जन शठकोप, परांकुश, बकुलाभरण और उसी को कारिनन्दन भी कहते हैं। २. पुण्ये महिसारपुरे विधाय विक्रीय शूर्पं विचचार योगी। (दिव्यसूरिचरित, २ सर्ग, ५२ श्लोक; प्रपन्नामृत, पृ० ७६।१८)। अर्थात् पवित्र महिसारपुर में योगी (शठकोप) सूप बनाकर बेचकर विचरण करता था। ३. रामानुज सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य शठकोप जाति के कंजर थे, यह उन्हीं के ग्रन्थों में, दिव्यसूरिप्रभादीपिका के ४र्थ सर्ग में लिखा है—विक्रीय शूर्पं विचचार योगी (सनातनधर्ममार्तण्ड, पृ० १८७, ज्येष्ठ शुक्ला १९३५ वि० में शाहजहाँपुर धर्म सभा द्वारा प्रकाशित)। ४. चक्रांकित—इस मत का मूल पुरुष कंजर जाति का शठकोप नामक पुरुष था, जो सूप बनाकर निर्वाह करता था। (पं० शिवशंकर मिश्रकृत भारत का धार्मिक इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३३२)। ५. इसी श्रीसम्प्रदाय में एक स्वामी शठकोपजी हुए हैं। आप जाति के शूद्र थे···कारि आपके पिता और नाथनायिका आपकी माता थी।

प्रश्न—'कालाग्निरुद्रोपनिषद्' में भस्म लगाने का विधान लिखा है[1], वह क्या झूंठा है ? और 'त्र्यायुषं जमदग्ने०' यजुर्वेदवचन[2], इत्यादि वेदमन्त्रों से भी भस्म-धारण का विधान है। और पुराणों में रुद्र की आँख के अश्रुपात से जो वृक्ष हुआ, उसी का नाम 'रुद्राक्ष'[3] है। इसीलिये उसके धारण में पुण्य लिखा है। एक भी रुद्राक्ष धारण करे, तो सब पापों से छूट स्वर्ग को जाय[4]। यमराज और नरक का डर न रहे।

उत्तर—कालाग्निरुद्रोपनिषद् किसी 'रखोड़िय' मनुष्य अर्थात् राख धारण करनेवाले ने बनाई है। क्योंकि 'यास्य प्रथमा रेखा सा भूर्लोक:'[5] इत्यादि वचन उसमें अनर्थक हैं। जो प्रतिदिन हाथ से बनाई रेखा है, वह भूलोक वा इसका वाचक कैसे हो सकती है ?

और जो 'त्र्यायुषं जमदग्ने' इत्यादि मन्त्र हैं, वे भस्म वा त्रिपुण्ड्रधारण के वाची नहीं। किन्तु 'चक्षुर्वै जमदग्नि:' शतपथ[6]। हे परमेश्वर ! मेरे नेत्र की ज्योति 'त्र्यायुषम्'—तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष

(पं० गंगाप्रसाद शास्त्रीकृत 'अछूतोद्धार निर्णय' पृ० ७७)। मुनिवाहन—१. एक आचार्य मुनिवाहन हुए हैं, जो चाण्डालकुल में उत्पन्न हुए सुने जाते हैं। (वही) २. अयोनिसंभवो जातो वेदान्ती मुनिवाहन:। पश्चात् पञ्चमवर्णे तु ववृधे बालभावित: (भक्तिसार पृ० ९६-९७)। ३. तिरुवल्लुकार का दूसरा नाम मुनिवाहन था। ईसवी सन् १०० में दक्षिण भारत के एक चाण्डाल के घर में जन्म हुआ था। (कल्याण मासिक, गोरखपुर, अगस्त सन् १९२३ ई०)। ४. नम्मलवार या मुनिवाहन अस्पृश्य जाति के थे। (आचार्य क्षितिमोहन सेनकृत भारतवर्ष में जातिभेद, कलकत्ता, सन् १९४०, पृ० २०३)।

कालाग्निरुद्रोपनिषत्—इस उपनिषद् में लिखा है—"अथ कालाग्निरुद्रोपनिषद:—भस्मत्रिपुण्ड्र-धारणे विनियोग:" अर्थात् इस उपनिषद् का भस्म और त्रिपुण्ड्रधारण में विनियोग है। किन्तु यह उपनिषद् बहुत पीछे की है। रुद्राक्षजाबालोपनिषद् में कालाग्नि रुद्र का कथन है—"त्रिपुरवधार्थमहं निमीलिताक्षोऽभवम्। तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाता:।" अर्थात्—त्रिपुरवध के लिए मैंने नेत्र बन्द किए। उन नेत्रों से जल की बूँदें पृथिवी पर गिरीं, वे रुद्राक्ष हो गये। इसके आगे फिर लिखा है—"दिव्यवर्षसहस्राणि चक्षुरुन्मीलितं मया। भूमावक्षिपुटाभ्यां तु पतिता जलबिन्दव:" ॥२॥ "तत्राश्रुबिन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षका:" ॥३॥ अर्थात् हज़ार दिव्यवर्ष तक मैंने नेत्र खोले रक्खे। आँखों के पुटों से भूमि पर जलविन्दु गिरे। वहाँ वे आँसुओं की बूँदें महारुद्राक्ष के वृक्ष बन गये। **धारण में पुण्य**—'भक्तानां धारणात्पापं दिवारात्रिकृतं हरेत्। लक्षं तु दर्शनात्पुण्यं कोटिस्तद्धारणाद् भवेत्।' (रुद्राक्षजाबाल, ४) अर्थात् उनका धारण भक्तों के दिन-रात के पापों को हर लेता है। उनके देखने से लाख तथा धारण करने से करोड़ पुण्य होता है। **पापों से मुक्ति**—'रुद्राक्षधारणात् सद्य: सर्वपापै: प्रमुच्यते' (रुद्राक्ष० ८) अर्थात् रुद्राक्ष के धारण करने से सब पापों से तुरन्त छूट जाता है।

त्र्यायुषं जमदग्ने—'चक्षुर्वै जमदग्नि:' शतपथ के इस प्रमाण से इस मन्त्र का प्रतिपाद्य तीन सौ

---

१. भस्मत्रिपुण्ड्रधारणे विनियोग:। २. अ० ३, मन्त्र ६२।

३. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्—'त्रिपुरवधार्थमहं निमीलिताक्षोऽभवम्। तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाता:'। १।१। तथा इसी ग्रन्थ का उत्तरार्ध 'कालाग्निरुद्र का उपदेश'।

४. द्र०—'रुद्राक्षस्य धारणात् सद्य: सर्वपापै: प्रमुच्यते'। रुद्राक्षजाबालो० २।१९।

५. द्र०—'यास्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चकारो रजो भूर्लोक': इत्यादि। कालाग्निरुद्रोप०।

६. शतपथ ८।१।२।३।

पर्यन्त रहै। और मैं भी ऐसे धर्म के काम करूँ कि जिससे दृष्टि-नाश न हो।

भला यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात है कि आँख के अश्रुपात से भी वृक्ष उत्पन्न हो सकता है? क्या परमेश्वर के सृष्टिक्रम को कोई अन्यथा कर सकता है? जैसा जिस वृक्ष का बीज परमात्मा ने रचा है, उसीसे वह वृक्ष उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। इससे जितना रुद्राक्ष भस्म तुलसी कमलाक्ष घास चन्दन आदि को कण्ठ में धारण करना है, वह सब जङ्गली पशुवत् मनुष्य का काम है।

ऐसे वाममार्गी और शैव बहुत मिथ्याचारी विरोधी और कर्त्तव्य कर्म के त्यागी होते हैं। उनमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष है, वह इन बातों का विश्वास न करके अच्छे कर्म करता है। जो रुद्राक्ष भस्म धारण से यमराज के दूत डरते हैं, तो पुलिस के सिपाही भी डरते होंगे? जब रुद्राक्ष भस्म धारण करनेवालों से कुत्ता, सिंह, सर्प, बिच्छू, मक्खी और मच्छर आदि भी नहीं डरते, तो न्यायाधीश[1] के गण क्यों डरेंगे?

[वैष्णव मत पर विचार]

प्रश्न—वाममार्गी और शैव तो अच्छे नहीं, परन्तु वैष्णव तो अच्छे हैं?

उत्तर—यह भी वेदविरोधी होने से उनसे भी अधिक बुरे हैं।

वर्ष तक 'नेत्र की ज्योति' अर्थात् देखते हुए तीन सौ वर्ष तक जीवित रहना है। इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ वही है, जो यहाँ ग्रन्थकार ने लिखा है। अश्रुओं से वृक्ष पैदा होने की बात पर कौन विश्वास कर सकता है? प्रकृति के नियमों को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। अश्रु किसी वृक्ष का उपादान नहीं हो सकते, नियत बीज से ही नियत वृक्ष की उत्पत्ति होती है। महाभारत के (और पौराणिकों के अनुसार पुराणों के भी) रचयिता महर्षि वेदव्यास की स्पष्ट घोषणा है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
अवश्यमेव भोक्तव्यं कालेनोपादितं च यत्। शुभं वाप्यशुभं वापि दैवं कोऽतिक्रमेत्पुनः॥

जन्म-जन्मान्तर के ही नहीं, कल्प-कल्पान्तर में किए हुए कर्मों से भी भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रपेदिरे। तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

कर्मफल-व्यवस्था के इतने कठोर नियमों का उल्लंघन रुद्राक्ष के पहनने से कदापि सम्भव नहीं।

वैष्णव मत का मूल वेद में?—वैष्णव आचार्यों ने अपना दार्शनिक आधार प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और वेदान्तदर्शन) में खोजने का प्रयास किया और इस निमित्त उन्होंने अपने-अपने मत की दृष्टि से उन पर भाष्य लिखे। परन्तु उन्हें अपने सम्प्रदायों के आधारभूत तत्त्व पुराणों में ही मिले। तथापि आर्य (हिन्दू) समाज में वेदों के प्रामाण्य के कारण उन्होंने अपने सम्प्रदाय को वेदमूलक सिद्ध करने का यत्न किया और इसके लिए वेदों में यत्र-तत्र आये रुद्र, शिव, विष्णु, गणेश, गणपति आदि नामपदों की उँगली पकड़ कर पहुँचा पकड़ने का यत्न करने लगे। इन शब्दों के रूढ़ अर्थ के सहारे उन्हे किंचित् सफलता भी मिली। परन्तु सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ग्रन्थकार ने धातु-प्रत्यय के आधार पर व्युत्पत्त्यर्थ प्रस्तुत करके उन्हें सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर का वाचक सिद्ध करके उक्त सम्प्रदायों की जड़ों को हिला दिया। रुद्र तथा शिव का उल्लेख यजुर्वेद के अन्तर्गत 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' तथा 'नमः शम्भवाय च' आदि मन्त्रों में है अवश्य, परन्तु वहाँ उनसे दुष्टों को रुलानेवाले (यो रोदयत्यन्यायकारिणो

---

१. अर्थात् यमराज के।

[क्या शैव आदि मत वेदमूलक हैं ?]

प्रश्न—**'नमस्ते रुद्र मन्यवे'**;[१] **'शिवाय च शिवतराय च'**; **'वैष्णवमसि'**;[२] **'वामनाय च'**[३]; **'गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे'**;[४] **'भगवती हि भूयाः'**;[५] **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**[६] इत्यादि वेद-प्रमाणों से शैवादि मत सिद्ध होते हैं। पुनः क्यों खण्डन करते हो ?

उत्तर—इन वचनों से शैवादि सम्प्रदाय सिद्ध नहीं होते। क्योंकि **'रुद्र'**=परमेश्वर प्राणादि वायु जीव अग्नि आदि का नाम है। जो क्रोधकर्त्ता 'रुद्र' अर्थात् दुष्टों को रुलानेवाले परमात्मा को नमस्कार करना, प्राण और जठराग्नि को अन्न देना। **'नम इति अन्ननाम'** निघ० २।७। जो मङ्गलकारी, सब संसार का अत्यन्त कल्याण करनेवाला है, उस परमात्मा को नमस्कार करना चाहिए। **'शिवस्य परमेश्वरस्यायं भक्तः शैवः'**। **'विष्णोः परमात्मनोऽयं भक्तो वैष्णवः'**। **'गणपतेः सकलजगत्स्वामिनोऽयं सेवको गाणपतः'**। **'भगवत्या वाण्या अयं सेवकः भागवतः'**। **'सूर्यस्य चराचरात्मनोऽयं सेवकः सौरः'**। ये सब रुद्र शिव विष्णु गणपति सूर्यादि परमेश्वर के, और **'भगवती'**=सत्यभाषणयुक्त वाणी का नाम है। इसमें विना समझे ऐसा झगड़ा मचाया है। जैसे—

[एक वैरागी के दो चेलों का दृष्टान्त]

एक किसी वैरागी के दो चेले थे। वे प्रतिदिन गुरु के पग दावा करते थे। एक ने दाहिने पग और दूसरे ने बायें पग की सेवा करनी बाँट ली थी। एक दिन ऐसा हुआ कि एक चेला कहीं बजार हाट

जनान् स रुद्रः) तथा कल्याणस्वरूप और मंगलकर्त्ता (शिवु कल्याणे) परमेश्वर का बोध होता है। इन्हें बलात् अपने सम्प्रदाय-विशेष के उपास्य के रूप में प्रस्तुत करना अनुचित है। इसी प्रकार "विष्णो रराट-मसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा" (यजुर्वेद ५।२१) इस मन्त्र में आये 'वैष्णव' शब्द से इस नामवाले सम्प्रदायविशेष का ग्रहण करना अनर्थ होगा। ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—"यदिदं विविधं जगदस्ति तद् विष्णो रराट-मस्यस्ति, विष्णोः सकाशादुत्पद्य वर्त्तते इति यावत्...सर्वं जगद् वैष्णवमस्यस्ति" अर्थात् यह अनेक प्रकार का जगत् विष्णु—व्यापक परमेश्वर (विष्लृ व्याप्तौ) से उत्पन्न होकर प्रकाशित होता है...सब जगत् (वैष्णवम्) यज्ञ का साधन है। यहाँ भाष्यकार ने विष्णु को यज्ञ और ईश्वर का पर्याय (यज्ञो वै विष्णुः—शतपथ) मानते हुए 'वैष्णव' पद का यज्ञ के साधन अर्थ में प्रयोग किया है।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में पठित "नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च" इस मन्त्र में 'वामनाय' के प्रयोग को देखकर वैष्णवों को विष्णु के वामन अवतार के वेदोक्त होने का भ्रम हो सकता है, जबकि मन्त्र में इस शब्द का प्रयोग प्रशंसित ज्ञानी के अर्थ में हुआ है, न कि दानव राजा बलि को छल से पाताल में भेजनेवाले विष्णु के तथाकथित अवतार वामन के लिए। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के १९वें मन्त्र (गणानां त्वा गणपतिं हवा-महे...) में प्रयुक्त 'गणपति' शब्द शिव और पार्वती के पुत्र लम्बोदर पौराणिक देवता 'गणेश' के लिए न होकर गणों के बीच गणों के पालनेवाले ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। गणपति शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ करते हुए इसी ग्रन्थ के प्रथम समुल्लास में लिखा है—"ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते

---

१. यजुः० १६।१।   २. यजुः० ५।२१।   ३. यजुः० १६।३०।
४. यजुः० २३।१९।   ५. अथर्व० ६।१०।२०।   ६. यजुः० १३।४६।

को चला गया। और दूसरा अपने सेव्य पग की सेवा कर रहा था। इतने में गुरुजी ने करवट फेरा, तो उसके पग पर दूसरे गुरुभाई का सेव्य पग पड़ा। उसने ले डण्डा पग पर धर मारा। गुरु ने कहा कि—'अरे दुष्ट! तूने यह क्या किया?' चेला बोला कि—'मेरे सेव्य पग के ऊपर यह पग क्यों आ चढ़ा?' इतने में दूसरा चेला जोकि बजार हाट को गया था, आ पहुँचा। वह भी अपने सेव्य पग की सेवा करने लगा। देखा तो पग सूजा पड़ा है। बोला कि—'गुरुजी! यह मेरे सेव्य पग में क्या हुआ?' गुरु ने सब वृत्तान्त सुना दिया। वह भी मूर्ख न बोला न चाला। चुपचाप डण्डा उठाके बड़े बल से गुरु के दूसरे पग में मारा, तो गुरु ने उच्चस्वर से पुकार मचाई। तब तो दोनों चेले डण्डा लेके पिल पड़े, और गुरु के पगों को पीटने लगे।

तब तो बड़ा कोलाहल मचा, और लोग सुनकर आये। कहने लगे कि—'साधुजी! क्या हुआ?' उनमें से किसी बुद्धिमान् पुरुष ने साधु को छुड़ाके पश्चात् उन मूर्ख चेलों को उपदेश किया कि—'देखो, ये दोनों पग तुम्हारे गुरु के हैं। उन दोनों की सेवा करने से उसी को सुख पहुँचता, और दुःख देने से भी उसी एक को दुःख होता है।'

संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा" अर्थात् "जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम गणेश वा गणपति है।"

कुछ समय पूर्व देश के प्रसिद्ध विद्वान् एवं शिक्षाशास्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने 'गणेश' नामक एक पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र को उद्धृत किया था। इस मन्त्र पर महीधर और उवटकृत अर्थ देकर उन्होंने लिखा—"इस अर्थ को देखकर आश्चर्य होता है, परन्तु दूसरा अर्थ सम्भव नहीं।" इस और इससे अगले मन्त्रों के द्वारा किए जानेवाले कृत्य को 'विचित्र, बेहूदा और अत्यन्त अश्लील' मानते हुए और 'उससे प्राप्त होनेवाले पुण्य में सन्देह करते हुए' भी उन्होंने लिखा—"भाष्यकारों ने जो अर्थ किया है, वह कपोलकल्पित नहीं है।" उनके इस कथन से स्पष्ट है कि सम्पूर्णानन्दजी जैसे मनीषी भी वाममार्गी महीधर के भाष्य से इतने अभिभूत थे कि उनके भाष्य को ठीक मानकर वेदों को अश्लीलता का पिटारा मानते थे। इस विषय में हमने उन्हें एक पत्र लिखा, जिसमें महीधरादि के भाष्यों में दोष दिखाते हुए उक्त मन्त्र का युक्ति तथा प्रमाण-समन्वित अर्थ भी लिखकर भेजा। मेरे उस पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा—

"जहाँ तक 'गणानां त्वा' वाले मन्त्र का सम्बन्ध है, सम्भव है, उसका वही अर्थ है जो आपने लिखा है। परन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिककाल में भी मद्य-मांस आदि का व्यवहार होता था, पशुबलि भी होती थी।" परन्तु जब मुझे उन प्रथाओं और मान्यताओं का खण्डन करना होता है, जो आज सनातन-धर्मावलम्बी जनता में प्रचलित हैं, तो मैं सदा एक काम करता हूँ। लोगों के सामने उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ, जिनको वह प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को आधार बनाता हूँ, जिन्हें वह स्वीकार करते हैं। यही क्रम 'ब्राह्मण! सावधान' में बरता गया है और उसी का अवलम्बन 'गणेश' में किया गया है। मेरे तर्क का रूप यह है—

मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, आप लोग महीधर और उवट के भाष्य को प्रमाणित मानते हैं। उन दोनों ने इस मन्त्र को अश्वदैवत माना है और अश्वमेध की एक विशेष क्रिया में इसका विनियोग बताया है। अतः आपके माने हुए आचार्यों के ही अनुसार यह मन्त्र गणेशदैवत नहीं हो सकता, क्योंकि आप भी गणेश को और अश्व को पर्यायवाची नहीं मानते। अतः आपके माने हुए प्रमाणों के अनुसार ही श्रुति गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती।"

लखनऊ, १५ फ़रवरी, १९५१ सम्पूर्णानन्द

[दाष्टन्ति]

जैसे एक गुरु की सेवा में चेलाओं ने लीला की, इसी प्रकार जो एक अखण्ड सच्चिदानन्दानन्त-स्वरूप परमात्मा के विष्णु-रुद्रादि अनेक नाम हैं। इन नामों का अर्थ जैसाकि प्रथम समुल्लास में प्रकाश कर आये हैं, उस सत्यार्थ को न जानकर शैव शाक्त वैष्णवादि सम्प्रदायी लोग परस्पर एक-दूसरे नाम की निन्दा करते हैं। मन्दमति तनिक भी अपनी बुद्धि को फैलाकर नहीं विचारते हैं कि ये सब विष्णु रुद्र शिव आदि नाम एक अद्वितीय सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के अनेक गुण-कर्म-स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं। भला क्या ऐसे लोगों पर ईश्वर का कोप न होता होगा?

[चक्राङ्कितों के पञ्च संस्कार]

अब देखिये **चक्राङ्कित वैष्णवों** की अद्भुत माया—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रस्तथैव च।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तहेतवः ॥१॥[1]
'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते'—ऋ० ९।८३।१ **इति श्रुतेः ॥**

अर्थात् **'तापः'**=शङ्ख चक्र गदा और पद्म के चिह्नों को अग्नि में तपाके भुजा के मूल में दाग देकर पश्चात् दुग्धयुक्त पात्र में बुझाते हैं, और कोई उस दूध को पी भी लेते हैं॥

इस प्रकार गणपति शब्द का पुराण-प्रतिपादित महादेव-पुत्र गणेशपरक अर्थ वेद के मध्यकालीन भाष्यकार सायण, महीधर, उवट आदि ने भी नहीं किया। अतः इन मन्त्रों अथवा मन्त्रांशों के आधार पर विष्णु, शिव, रुद्र, सूर्य, देवी, गणपति आदि विभिन्न पुराणवर्णित देवताओं की कल्पना करना तथा उनको उपास्य के रूप में प्रतिष्ठित कर उनके नाम पर पौराणिक सम्प्रदायों को शास्त्रसम्मत कहना सर्वथा असंगत है।

चक्रांकित—वैष्णवों के अवान्तर सम्प्रदायों का दक्षिण में विशेष प्रचार हुआ। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का प्रत्याख्यान करते हुए विशिष्टाद्वैत के नाम से किंचिद् भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या करने के लिए उन्होंने वेदान्तदर्शन पर श्रीभाष्य लिखा। जहाँ तक पूजा उपासना का सम्बन्ध है, रामानुज ने विष्णु और उसकी आद्या शक्ति लक्ष्मी की उपासना का प्रचलन किया। रामानुज के अतिरिक्त मध्व, निम्बार्क और विष्णु स्वामी ने भी विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना की। रामानुज सम्प्रदाय को श्रीसम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। बहुविध कर्मकाण्ड तथा बाह्याचारों ने चक्रांकित वैष्णव मत को जन्म दिया।

तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रस्तथैव च।
अमी हि पंच संस्काराः परमैकान्तहेतवः॥

आजकल यह पाठ मिलता है—'पुण्ड्र मुद्रा तथा माला नाम मन्त्रश्च पञ्चमः।' रामपटल, पृष्ठ ७ पर भी यही पाठ है।

पद्मपुराण के अनुसार जो गले में तुलसीदल की माला पहनते हैं, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं तथा शंख चक्र आदि के चिह्नों को धारण करते हैं, ऐसे वैष्णव इस ब्रह्माण्ड को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं—

---

१. द्र०—रामानुजपटलपद्धति, पृष्ठ ७। वहाँ कुछ पाठभेद है।

[समीक्षा]

अब देखिये प्रत्यक्ष ही मनुष्य के मांस का भी स्वाद उसमें आता होगा ? ऐसे-ऐसे कर्मों से परमेश्वर को प्राप्त होने की आशा करते हैं। और कहते हैं कि बिना शङ्ख-चक्रादि से शरीर तपाये जीव परमेश्वर को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह 'आमः'=अर्थात् कच्चा है।

और जैसे राज्य के चपरास आदि चिह्नों के होने से राजपुरुष जान उससे सब लोग डरते हैं, वैसे ही विष्णु के शङ्ख चक्रादि आयुधों के चिह्न देखकर यमराज और उनके गण डरते हैं। और कहते हैं कि—

दोहा—**बाना बड़ा दयाल का, तिलक छाप और माल।**
यम डरपै कालू कहे, भय माने भूपाल ॥[1]

अर्थात् भगवान् का बाना तिलक छाप और माला धारण करना बड़ा है। जिससे यमराज और राजा भी डरता है ॥

[**'तापः पुण्ड्रं' वचन के शेष अंश की व्याख्या**]

'पुण्ड्रम्'=त्रिशूल के सदृश ललाट में चित्र निकालना। **'नाम'**=नारायणदास विष्णुदास, अर्थात् दास-शब्दान्त नाम रखना। **'माला'** कमलगट्टे की माला रखना। और पाँचवाँ **'मन्त्र'** जैसे—

'ओं नमो नारायणाय' ॥ [१]

यह इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिए मन्त्र बना रक्खा है। तथा—

'श्रीमन्नारायणचरणं शरणं प्रपद्ये' ॥१॥[२][2]

'श्रीमते नारायणाय नमः' ॥२॥[३][2]

'श्रीमते रामानुजाय नमः' ॥३॥[४][2]

इत्यादि मन्त्र धनाढ्य और माननीयों के लिए बना रक्खे हैं।

देखिये, यह भी एक दुकान ठहरी !! जैसा मुख वैसा तिलक !! इन पाँच संस्कारों को चक्राङ्कित मुक्ति के हेतु मानते हैं[3] ॥

इन मन्त्रों का अर्थ—मैं नारायण को नमस्कार करता हूँ ॥१॥

और मैं लक्ष्मीयुक्त नारायण के चरणारविन्द के शरण को प्राप्त होता हूँ ॥२॥

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाश्रमालाः । ये द्वादशांगहरिनामरतोर्ध्वपुण्ड्राः ॥
ये कृष्णभक्तिसुदृढा धृतशंखचक्राः । ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥

बाना बड़ा दयाल का—प्रियदासकृत टीका सहित भक्तमाल के पृष्ठ २७९ पर पाठ इस प्रकार है—'बानो बड़ो दयालु को तिलक छाप अरु माल। जम डरपै कालू कहै भय मानै भूपाल'। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित ५वें संस्करण में भी यही पाठ है। अर्थ में कोई भेद नहीं है।

पंच संस्कारों से मुक्ति—तापसंस्कारमात्रेण परां सिद्धिमवाप्नुयात्—बृहत्-हारीत स्मृति २।२२

---

१. द्र०—भक्तमाल, निष्ठा ६।

२. यह कोष्ठान्तर्गत २, ३, ४ क्रमिक संख्या हमने दी है। क्योंकि आगे मन्त्रार्थ में पूर्व मन्त्र की संख्या को मिलाकर क्रमिक संख्या का निर्देश किया है।

३. तापसंस्कारमात्रेण परां सिद्धिमवाप्नुयात्। बृहद्हारीत स्मृति २।२२ ॥

और श्रीयुत नारायण को नमस्कार करता हूँ। अर्थात् जो शोभायुक्त नारायण है, उसको मेरा नमस्कार होवे ॥३॥

और श्रीयुत रामानुज को मेरा नमस्कार होवे ॥४॥

[**'ताप' सम्बन्धी पूरा मन्त्र और उसका शुद्ध अर्थ**]

जैसे वाममार्गी पाँच मकार मानते हैं, वैसे चक्राङ्कित **पाँच संस्कार** मानते हैं। और अपने शङ्ख चक्र से दाग देने के लिए जो वेदमन्त्र का प्रमाण रक्खा है, उसका इस प्रकार पाठ और अर्थ है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥१॥
तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे ॥२॥—ऋ० म० ९। सू० ८३। मं० १, २

हे ब्रह्माण्ड और वेदों के पालन करनेवाले प्रभु! सर्वसामर्थ्ययुक्त सर्वशक्तिमान् आपने अपनी व्याप्ति से संसार के सब अवयवों को व्याप्त कर रक्खा है। उस आपका जो व्यापक पवित्र स्वरूप है, उसको ब्रह्मचर्य सत्यभाषण शम दम योगाभ्यास जितेन्द्रिय सत्सङ्गादि तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरणयुक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं, वे ही इस तप का आचरण करते हुए, उस तेरे शुद्धस्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं ॥१॥

जो प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की सृष्टि में विस्तृत पवित्राचरणरूप तप करते हैं, वे ही परमात्मा को प्राप्त होने में योग्य होते हैं ॥२॥

[**'अतप्ततनूः' का वास्तविक अर्थ**]

अब विचार कीजिए कि रामानुजीयादि लोग इस मन्त्र से 'चक्राङ्कित' होना सिद्ध क्योंकर करते हैं? भला कहिये, वे विद्वान् थे वा अविद्वान्? जो कहो कि विद्वान् थे, तो ऐसा असम्भावित अर्थ इस मन्त्र का क्यों करते? क्योंकि इस मन्त्र में **'अतप्ततनूः'** शब्द है, किन्तु **'अतप्तभुजैकदेशः'** नहीं। पुनः 'अतप्ततनूः' यह नख-शिखाग्रपर्यन्त[1] समुदाय अर्थवाला है।

इस प्रमाण करके अग्नि ही से तपाना चक्राङ्कित लोग स्वीकार करें, तो अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंकके सब शरीर को जलावें, तो भी इस मन्त्र के अर्थ से विरुद्ध है। क्योंकि इस मन्त्र में सत्य-भाषणादि पवित्र कर्म करना **'तप'** लिया है।

'ऋतं तपः सत्यं[2] तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः'। तैत्तिरीय०[3] ॥ इत्यादि **'तप'** कहाता है। अर्थात् **'ऋतं तपः'**—यथार्थ शुद्धभाव, सत्य मानना सत्य बोलना सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरणों में जाने से रोकना। अर्थात् शरीर इन्द्रिय और मन से शुभ कर्मों का आचरण करना वेदादिसत्यविद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम **'तप'** है। धातु को तपाके चमड़ी को जलाना 'तप' नहीं कहाता।

[**चक्राङ्कित मत के प्रवर्तक**]

देखो, चक्राङ्कि लोग अपने को बड़े वैष्णव[4] मानते हैं। परन्तु अपनी परम्परा और कुकर्म की

१. 'पैर के नखाग्र से शिखा-पर्यन्त'।
२. इसके आगे तै० आ० में 'तपः श्रुतं तपः शान्तं' पाठ अधिक है। यहाँ इसका भावार्थ भी नहीं है।
३. तै० आ० १०।८। वहाँ 'स्वाध्यायस्तपः' पाठ नहीं है।
४. अर्थात् पवित्र अथवा निरामिषभोजी।

ओर ध्यान नहीं देते कि प्रथम इनका मूलपुरुष **'शठकोप'** हुआ। कि जो चक्राङ्कितों ही के ग्रन्थों, और **'भक्तमाल'** ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया है, उसमें लिखा है—**'विक्रीय शूर्पं विचार योगी'**[1]। इत्यादि वचन चक्राङ्कितों के ग्रन्थों में लिखे हैं।

'शठकोप' योगी सूप को बना बेचकर विचरता था, अर्थात् कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था। जब उसने ब्राह्मणों से पढ़ना वा सुनना चाहा होगा, तब ब्राह्मणों ने तिरस्कार किया होगा। उसने ब्राह्मणों के विरुद्ध सम्प्रदाय तिलक चक्राङ्कित आदि शास्त्रविरुद्ध मनमानी बातें चलाई होंगी। उसका चेला **'मुनिवाहन'** जो कि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ था। उसका चेला **'यावनाचार्य'** जोकि यवन-कुलोत्पन्न था, जिसका नाम बदलके कोई-कोई 'यामुनाचार्य' भी कहते हैं। उनके पश्चात् **'रामानुज'** ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर चक्राङ्कित हुआ।

[रामानुज द्वारा शङ्कराचार्य का विरोध]

उसके पूर्व कुछ भाषा के ग्रन्थ बनाये थे। रामानुज ने कुछ संस्कृत पढ़के संस्कृत में श्लोकबद्ध ग्रन्थ, और शारीरक सूत्र और उपनिषदों की टीका शङ्कराचार्य की टीका से विरुद्ध बनाई। और शङ्कराचार्य की बहुत-सी निन्दा की। जैसा **शङ्कराचार्य का मत है** कि—'अद्वैत अर्थात् जीव ब्रह्म एक ही हैं, दूसरी कोई वस्तु वास्तविक नहीं। जगत् प्रपञ्च सब मिथ्या मायारूप अनित्य है'। इससे विरुद्ध **रामानुज का—'जीव ब्रह्म और माया तीनों नित्य हैं'** है।

[रामानुज के मत की आलोचना]

यहाँ शङ्कराचार्य का मत ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और कारणवस्तु का न मानना अच्छा नहीं। और रामानुज का इस अंश में, जोकि विशिष्टाद्वैत जीव और मायासहित परमेश्वर एक है, यह तीन का

विक्रीय शूर्पम्—शठकोपाचार्य को आधुनिक वैष्णव मत का संस्थापक माना गया है। भक्त-मालादि के अनुसार शठकोप का जन्म ऐसे कुल में हुआ था, जिसमें छाज (सूप) आदि बनाकर बेचने का व्यवसाय होता था—

विचक्षणो विश्वमोहहेतोः कुलोचितचरकलानुषक्तः।
पुण्यम्महोशरमथो विधाय विक्रीय शूर्पं विचचार योगी॥

शठकोप का शिष्य मुनिवाहन चाण्डालकुलोत्पन्न बताया जाता है। मुनिवाहन का शिष्य यामुनाचार्य था। यामुन के शिष्य रामानुज ब्राह्मण-कुल में पैदा होकर चक्रांकित हुए। प्रचलित परम्परा-नुसार उन्होंने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा। रामानुज द्वारा प्रवर्त्तित विशिष्टाद्वैत मत में भी प्रकारान्तर से जीव और जगत् को ब्रह्म से अभिन्न ही माना गया है। जीव को ब्रह्म का अंश मानकर उसे कर्म करने में पराधीन बताया है। इससे भी अधिक ग्रन्थकार ने कण्ठी, तिलक, छाप, माला और मूर्त्तिपूजा आदि पाखण्डों को प्रश्रय देने के कारण वैष्णव मत तथा उसके प्रवर्त्तकों को दोषी ठहराया है। द्वारिका नगरी की मिट्टी से जो अपने ललाट पर ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक लगाता है, उसे विशेष पुण्य प्राप्त होता है—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवाम्। करे समादाय ललाटपट्टे।
करोति नित्यं त्वथ चार्द्धपुण्ड्रम्। क्रियाफलं कोटिगुणं सदा भवेत्॥

---

१. दिव्यसूरिचरित, सर्ग २, श्लोक ५२॥

मानना और अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है। और सर्वथा ईश्वर के आधीन परतन्त्र जीव को मानना, कण्ठी तिलक माला मूर्त्ति-पूजनादि पाखण्ड मत चलाने आदि बुरी बातें चक्राङ्कित आदि में हैं। जैसे चक्राङ्कित आदि वेदविरोधी हैं, वैसे शङ्कराचार्य के मत के नहीं।

[मूर्त्तिपूजा का आरम्भ]

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा कहाँ से चली ?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहाँ से चलाई ?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

प्रश्न—जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्त्ति देखके अपने जीव का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है।

उत्तर—जीव चेतन और मूर्त्ति जड़ है। क्या मूर्त्ति के सदृश जीव भी जड़ हो जाएगा? यह मूर्त्तिपूजा केवल पाखण्ड मत है, जैनियों ने चलाई है। इसलिए इनका खण्डन बारहवें समुल्लास में करेंगे।

आर्षग्रन्थों में ईश्वरप्राप्ति के लिए कहीं भी शरीर को किसी भी रूप में उत्पीड़ित करने का विधान नहीं है। 'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति'—जल से शरीर शुद्ध होता है। अग्नि से जलाकर शरीर को पवित्र करने का उल्लेख कहीं नहीं है, न पंचाग्नि तप को कहीं तप बताया है। उपनिषदादि में मन, वचन और कर्म में सत्याचरण, इन्द्रियदमन आदि को ही तप कहा है। शरीर को गर्म लोहे के चिह्नों से तपाने जैसे बाह्याचरणों का प्रचार करके चक्रांकित वैष्णव सम्प्रदाय ने देश और समाज का अहित ही किया है।

मूर्तिपूजा—वेदादि शास्त्रों में ईश्वर की स्थानापन्न मूर्त्ति, प्रतीक या प्रतिमा की पूजा या उपासना का विधान नहीं है। वेदमन्त्रों, उपनिषद्वचनों या योगसूत्रों में ब्रह्म की पूजा-उपासना के निमित्त जिन साधनों का उल्लेख हुआ है, उनमें स्थूल कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नहीं है। तब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि कालान्तर में विविध देवी-देवताओं की नाना आकृतियों की कल्पना, तदनुसार उनकी मूर्त्तियाँ तथा व्यापक रूप में मन्दिर आदि का यह विराट् सम्भार किस प्रकार उत्पन्न हुआ। सम्पूर्ण देश में और कालान्तर में विदेशों तक में देवालयों का विस्तार तथा विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डों, व्रतोत्सवों तथा स्थूल पूजा-पद्धतियों का आडम्बर किस प्रकार अस्तित्व में आ गया ?

ग्रन्थकार ने इस सब के लिए जैन धर्म को उत्तरदायी ठहराया है। जैन धर्म में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर लिए कोई स्थान नहीं है। उसकी मान्यता के अनुसार जीवात्मा ही अपने गुणों और दैवी वृत्तियों का विकास करके सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था की 'केवली' संज्ञा है। केवल ज्ञान या केवली अवस्था को प्राप्त जैन साधक तीर्थंकर का पद पाकर सर्वज्ञ हो गये माने जाते हैं। कालान्तर में इन वीतराग, निष्काम तथा सांसारिक वासनाओं के प्रति तटस्थता का भाव रखनेवाले जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा-अर्चना एवं ध्यान को मोक्षमार्ग का साधक मान लिया गया। विशाल भवनों के रूप में निर्मित मन्दिरों तथा उनमें स्थापित भव्य मूर्तियों की ओर जनसाधारण आकर्षित होने लगे। 'गतानुगतिको लोकः'—जैनों की देखा-देखी तथाकथित ब्राह्मणधर्मी पौराणिकों ने भी राम, कृष्ण आदि विष्णु के अवतारों, शिव, पार्वती, गणेश, हनुमान् आदि की मूर्त्तियाँ बनाकर उनके मन्दिर बनाने

[वैष्णवादि और जैनियों की मूर्त्तियों में भेद]

प्रश्न—वैष्णव[1] आदि ने मूर्त्तियों में जैनियों का अनुकरण नहीं किया है। क्योंकि जैनियों की मूर्त्तियों के सदृश वैष्णवादि की मूर्त्तियां नहीं हैं।

उत्तर—हाँ, यह ठीक है। जो जैनियों के तुल्य बनाते, तो जैनमत में मिल जाते। इसलिए जैनों की मूर्त्तियों से विरुद्ध बनाईं। क्योंकि जैनों से विरोध करना इनका काम, और इनसे विरोध करना मुख्य उनका[2] काम था। जैसे जैनों ने मूर्त्तियाँ नङ्गी ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं, उनसे विरुद्ध वैष्णवादि ने यथेष्ट शृङ्गारित स्त्री के सहित रङ्ग-राग-भोग-विषयासक्ति-सहिताकार खड़ी और बैठी हुई बनाई हैं। जैनी लोग बहुत से शङ्ख घण्टा घड़ियाल आदि बाजे नहीं बजाते। ये लोग बड़ा कोलाहल करते हैं।

तब तो ऐसी लीला के रचने से वैष्णवादि सम्प्रदायी पोपों के चेले जैनियों के जाल से बचके इनकी लीला में आ फँसे। और बहुत से व्यासादि महर्षियों के नाम से मनमानी असम्भव गाथायुक्त ग्रन्थ बनाये। उनका नाम **'पुराण'** रखकर कथा भी सुनाने लगे।

[वैष्णवों द्वारा छल कपट से भी मूर्त्तियों की स्थापना]

और फिर ऐसी-ऐसी विचित्र माया रचने लगे कि पाषाण की मूर्त्तियाँ बनाकर गुप्त कहीं पहाड़ वा जङ्गलादि में धर आये, वा भूमि में गाड़ दीं। पश्चात् अपने चेलों में प्रसिद्ध किया कि मुझको रात्रि को स्वप्न में महादेव पार्वती राधा कृष्ण सीता राम वा लक्ष्मीनारायण और भैरव हनुमान् आदि ने कहा है कि हम अमुक-अमुक ठिकाने हैं। हमको वहाँ से ला, मन्दिर में स्थापन कर। और तू ही हमारा पुजारी होवे, तो हम मनोवाञ्छित फल देवें।

आरम्भ कर दिये। इस प्रकार जैन, बौद्ध आदि वेदबाह्य मतों तथा ब्राह्मणधर्मी पौराणिकों में मानो मन्दिर बनाने, मूर्तिपूजा करने और जटिल कर्मकाण्ड रचने की होड़-सी लग गई। अपनी-अपनी ओर ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अपनी-अपनी दूकान को सजाने और बढ़ाने लगे। जैन-बौद्ध मूर्तियाँ वीतराग तीर्थंकरों तथा ध्यानावस्थित बुद्ध की थीं। पुराणमतावलम्बी लोगों ने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित राग-भोग विषयासक्त विष्णु-लक्ष्मी और उनके अवतार सीताराम तथा राधाकृष्ण आदि की मूर्तियाँ बनाईं। मूर्तिपूजा तथा तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि परमात्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप को भूलकर इन पाखण्डों में फँस गये।

मूर्तिपूजा के प्रसंग में १२वें समुल्लास के अन्तर्गत 'मूर्तिपूजा का पाखण्ड जैनियों से चला' शीर्षक भी द्रष्टव्य है।

बुद्ध का प्रादुर्भाव काल ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। वर्त्तमान जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं में कहीं भी मूर्तिपूजा का संकेत नहीं है। भारत में मूर्तिपूजा बौद्धकाल से पूर्व किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी, इसका सबसे बड़ा ऐतिहासिक प्रमाण चीन के दो प्रसिद्ध यात्री फ़ाहियान तथा ह्यूनसांग के यात्रा विवरण है। फ़ाहियान

---

१. स० प्र० के सभी संस्करणों में यहाँ 'शाक्त' अपपाठ है। अगले उपसंहार वाक्य में 'वैष्णवादि' का निर्देश होने से यहाँ उपक्रम में भी 'वैष्णव आदि' ही चाहिए।

२. अर्थात् जैनियों का।

जब **'आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे'** लोगों ने पोपजी की लीला सुनी, तब तो सच ही मान ली। और उनसे पूछा कि ऐसी मूर्त्ति कहाँ पर है ? तब तो पोपजी बोले कि अमुक पहाड़ वा जङ्गल में है। चलो मेरे साथ दिखला दूं। तब तो वे अन्धे उस धूर्त्त के साथ चलके वहाँ पहुँचकर देखा। आश्चर्य होकर उस पोप के पग में गिरकर कहा कि—'आपके ऊपर इस देवता की बड़ी कृपा है। अब आप इसे ले चलिए, और हम मन्दिर बनवा देवेंगे। उसमें इस देवता की स्थापना कर आप ही पूजा करना। और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन-पर्सन करके मनोवांछित फल पावेंगे। इसी प्रकार जब एक ने लीला रची, तब तो उसको देख सब पोप लोगों ने अपनी जीविकार्थ छल-कपट से मूर्त्तियाँ स्थापन कीं।

[मूर्त्ति के देखने से परमात्मा का स्मरण नहीं]

प्रश्न—परमेश्वर निराकार है, वह ध्यान में नहीं आ सकता। इसलिए अवश्य मूर्त्ति होनी

ने इस देश की यात्रा सन् ४०० ईसवी के आसपास की थी। उसका कहना है कि उस समय काबुल तक बौद्ध धर्म का पूर्ण विस्तार हो चुका था और वहाँ ५०० बौद्ध विहार थे। मथुरा में उसने तीन हज़ार बौद्ध भिक्षुओं को देखा था। राजपूताना (वर्त्तमान राजस्थान) के समस्त राजा बौद्धधर्मावलम्बी थे। उसने वहाँ सर्वत्र ऐसे विहार देखे, जिन पर लाखों रुपये व्यय किए गये थे। वह सब स्थानों में घूमता हुआ पटना पहुँचा, जहाँ बौद्धों के संघों में प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति देखी। इस विवरण के अनुसार फ़ाहियान की यात्रा के काल में बौद्धों में भी सर्वत्र मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। फ़ाहियान ने हिन्दुओं के देवी-देवताओं की मूर्तियों और उनके मन्दिरों के अस्तित्व का कोई संकेत अपने यात्रा-विवरण में नहीं किया है। इस प्रकार फ़ाहियान का यात्राकाल निर्विवाद रूप से मूर्तिकाल का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है।

फ़ाहियान के लगभग दो सौ वर्ष के पश्चात् सन् ६४० ईसवी में दूसरा चीनी यात्री ह्यूनसांग बलख़ और बुख़ारा होता हुआ भारतवर्ष में आया। काबुल और चमन में, जहाँ दो सौ वर्ष पूर्व फ़ाहियान ने बौद्ध धर्म का पूर्ण उत्कर्ष देखा था, वहाँ ह्यूनसांग ने संघारामों को उजाड़ पाया और दस हिन्दू-मन्दिरों को देखा। तक्षशिला और कश्मीर में उसने जैनियों को महावीर स्वामी की मूर्ति की पूजा करते पाया। उसने गंगा की प्रशंसा सुनी, जो पापों का नाश करनेवाली के रूप में प्रसिद्धि पा रही थी। हरिद्वार में उसने एक देवमन्दिर भी देखा, जिसमें बड़े चमत्कार किए जाते थे। हर की पौड़ी उस समय बन चुकी थी और उसमें स्नान करने का माहात्म्य प्रसिद्ध हो रहा था। कन्नौज में उसने बौद्ध और हिन्दुओं को समान अवस्था में पाया। वहाँ उसकी भेंट बौद्ध राजा शिलादित्य से हुई, जिसने गंगा के पूर्वीय तट पर १०० फ़ीट ऊँचे स्तम्भ पर बुद्ध की सोने की मानवाकार मूर्ति स्थापित की थी। पाटलिपुत्र उस समय उजाड़ हो चुका था। वैशाली में बौद्ध संघारामों को खण्डहरों के रूप में देखा। वहाँ बहुत से देवमन्दिर बन चुके थे। उस काल को हम बौद्ध और पौराणिक धर्म के संघर्ष का समय कह सकते हैं। बौद्धों का अनुसरण करते हुए हिन्दुओं में मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया था और सैकड़ों मन्दिर बन चुके थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि सबसे पहले मूर्तिपूजा जैन धर्म से प्रारम्भ हुई, बौद्धों ने उसे जैनियों से और हिन्दुओं ने जैन एवं बौद्धों से ग्रहण किया। हमारा तात्पर्य तो इतना स्पष्ट करना है कि हिन्दुओं में वर्त्तमान में प्रचलित मूर्तिपूजा बौद्ध-जैन काल की देन है। प्राचीन वैदिक (आर्य) धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

मूर्ति के द्वारा परमेश्वर का स्मरण—किसी चित्र अथवा कलाकृति को देखकर उस कलाकृति

चाहिए। भला जो कुछ भी नहीं करें, तो मूर्त्ति के सम्मुख जा, हाथ जोड़ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम लेते हैं, इसमें क्या हानि है ?

उत्तर—जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तब उसकी मूर्त्ति ही नहीं बन सकती। और जो मूर्त्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे, तो परमेश्वर के बनाये पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ, जिसमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी रचनायुक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर-रचित महामूर्त्तियाँ, कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं, उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता ?

जो तुम कहते हो कि मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है, वह तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है। और जब वह मूर्त्ति सामने न होगी, तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मनुष्य एकान्त पाकर चोरी-चारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है। क्योंकि वह जानता है कि इस समय यहाँ मुझे कोई नहीं देखता। इसलिए वह अनर्थ करे बिना नहीं चूकता। इत्यादि अनेक दोष पाषाणादि मूर्त्तिपूजा करने से सिद्ध होते हैं।

[परमात्मा को सर्वव्यापक मानने से पाप से बचाव]

अब देखिये, जो पाषाणादि मूर्त्तियों को न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी न्यायकारी

के सौष्ठव तथा उसके निर्माता का ध्यान आता है, जिसने अपनी कृति के माध्यम से सृष्टि में उपलब्ध किसी एक पदार्थ का सादृश्य उपस्थित किया है। यदि कलाकार द्वारा निर्मित एक मूर्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण हो सकता है तो स्वयं उसके बनाये ब्रह्माण्ड और रचना-कौशल को देखकर उसका स्मरण क्यों नहीं होना चाहिए ? क्या ऐसी अद्भुत रचनायुक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वररचित महा-मूर्तियाँ कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं, परमेश्वर का स्मरण नहीं करा सकतीं ? यह कहना कि मूर्ति को देखने से उसमें व्याप्त परमेश्वर की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। व्याप्य को देखकर व्यापक का ज्ञान चर्म-चक्षुओं से नहीं हो सकता। हृदयान्तर्ज्योति परमेश्वर को देखने के लिए ज्ञान-चक्षुओं की आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है जब हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हों। मूर्तिपूजा से हमारी समस्त वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं, इसलिए उसके द्वारा ईश्वर का बोध कभी नहीं हो सकता।

साकार में मन के स्थिर होने की धारणा सर्वथा मिथ्या है। ध्यान का लक्षण करते हुए सांख्य-दर्शन में कहा है—'ध्यानं निर्विषयं मनः' (सां० ६।२५)। विषयों में अनुराग होने से मन उसी तरह चंचल बना रहता है। जब तक मन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध में लीन है, तब तक वह ध्यान की स्थिति में नहीं आ सकता। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः' (गीता २।६०)। प्रबल इन्द्रियाँ मन को अपने विषयों की ओर बलात् खींच ले जाती हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त न भी हों, पर मन की गति उस समय भी उनके स्मरण में संलग्न रहती है। मूर्ति के साकार होने से उसके सामने जाने पर मन उसी के एक-एक अवयव में घूमता रहेगा। नैवेद्य, पुष्प, धूप, वस्त्र आदि से युक्त होने से मूर्ति में रस, गन्ध, रूप आदि विषय पूरे दल-बल के साथ उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में वह मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है ? साकार पदार्थ में मन स्थिर हो सकता तो सबका मन स्थिर होता, क्योंकि समस्त संसार ही साकार है। वस्तुतः ज्यों-ज्यों मनुष्य सांसारिक पदार्थों में लिप्त या अनुरक्त होता है, त्यों-त्यों उसके मन की चंचलता बढ़ती जाती है। केवल निरवयव परमात्मा में लगने पर ही मन स्थिर हो पाता है।

मन्दिरस्थ मूर्ति को परमेश्वर मान लेने से दुष्कर्मों में प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। मनुष्य

परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है, वह पुरुष सर्वत्र सर्वदा परमेश्वर को सबके बुरे-भले कर्मों का द्रष्टा जानकर एक क्षणमात्र भी परमात्मा से अपने को पृथक् न जानके कुकर्म करना तो कहाँ रहा, किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है कि जो मैं मन वचन और कर्म से कुछ भी बुरा काम करूँगा, तो इस अन्तर्यामी के न्याय से विना दण्ड पाये कदापि न बचूंगा।

[नाम-स्मरण की उत्तम रीति]

और नाम-स्मरणमात्र से कुछ भी फल नहीं होता। जैसाकि मिशरी-मिशरी कहने से मुंह मीठा और नीम-नीम कहने से कड़ वा नहीं होता। किन्तु जीभ से चाखने ही से मीठा वा कड़ुवापन जाना जाता है।

प्रश्न—क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है? जो सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा माहात्म्य लिखा है।

उत्तर—नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं। जिस प्रकार तुम नामस्मरण करते हो, वह रीति झूठी है।

का स्वभाव है कि वह किसी का भय होने या दण्ड दिए जाने से भयभीत होने से दुष्कर्मों से बचता है। सिपाही की उपस्थिति में कौन चोरी करेगा? ईश्वर को एकत्र स्थित जानकर अन्यत्र सर्वत्र निःशंक होकर बुरे काम करने में प्रवृत्त होने में वह संकोच नहीं करेगा। किन्तु जो उसे सर्वव्यापक (तदन्तरस्य सर्वस्य-तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—यजु० ४०।५) जानता और मानता है, वह कहीं भी और कभी भी दुष्कर्म करना तो दूर, वैसा करने की सोच भी नहीं सकता और सर्वव्यापक वही हो सकता है जो निराकार हो। देहधारी मनुष्यों का शासन-क्षेत्र सीमित होता है। देहधारी कितना भी महान् व शक्तिशाली क्यों न हो, उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं-न-कहीं अवश्य होगी। इसलिए देहधारी परमेश्वर न सर्वान्तर्यामी हो सकता है, न सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और न सर्वशक्तिमान्। ऐसा परमेश्वर जीवों को अनुशासित या नियन्त्रित नहीं कर सकता।

नामस्मरण— **यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।**
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥—गीता १६।२३

शास्त्रसम्मत नामस्मरण का विधान योगदर्शन के दो सूत्रों में उपलब्ध है—

१. **तस्य वाचकः प्रणवः** (योगसूत्र १।२७)—वेद-वैदिक साहित्य में ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा गया है (द्रष्टव्य—प्रथम समुल्लास)। इनमें से अनेक नाम ऐसे हैं, जो बिना किसी बाधा के अन्य तत्त्वों के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि वे सब नाम अपने प्रवृत्ति निमित्त के अनुसार परमेश्वर की किसी एक विशेषता को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत परमात्मा का 'ओ३म्' नाम उसके पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करता तथा केवल उसी के स्वरूप को व्यक्त करता है। इसी कारण परमात्मा का यह मुख्य नाम माना जाता है। इसे योगशास्त्र में 'महामन्त्र' समझना चाहिए और इसी नाम से परमेश्वर का स्मरण या जप करना चाहिए।

२. **तज्जपस्तदर्थभावनम्**—ओ३म् का जप करते समय उसके अर्थ (द्रष्टव्य—प्रथम समुल्लास) का भावन—चिन्तन अवश्य करना चाहिए। यही ईश्वरप्रणिधान है। उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने 'न्यायकारी' नाम की व्याख्या कर दी है। सभी नामों का इसी प्रकार चिन्तन करते हुए जप करने से लाभ होगा। अर्थचिन्तन के विना नामस्मरण मात्र पाखण्ड है। मुण्डकोपनिषद् में बताया है—

प्रश्न--हमारी कैसी रीति है ?

उत्तर—वेदविरुद्ध।

प्रश्न--भला अब आप हमको वेदोक्त नामस्मरण की रीति बतलाइये।

उत्तर--नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिए—जैसे **'न्यायकारी'** ईश्वर का एक नाम है। इस नाम से जो इसका अर्थ है कि जैसे पक्षपातरहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है, वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना। इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

[अवतारों की कल्पना युक्ति तथा वेदविरुद्ध है]

प्रश्न—हम भी जानते हैं कि परमेश्वर निराकार है। परन्तु उसने शिव विष्णु गणेश सूर्य और देवी आदि के शरीर धारण कर राम-कृष्णादि अवतार लिए, इससे उसकी मूर्त्ति बनती है। क्या यह भी बात झूठी है ?

उत्तर--हाँ-हाँ झूंठी। क्योंकि **'अज एकपात्'** (ऋ० ७।३५।१) **'अकायम्'** (यजु:० ४०।८) इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म-मरण और शरीर-धारणरहित वेदों में कहा है। तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक अनन्त और सुख-दु:ख दृश्यादि गुणरहित है, वह एक छोटे से वीर्य गर्भाशय और शरीर में क्योंकर आ सकता है ? आता-जाता वह है कि जो एक-देशीय हो। और जो अचल अदृश्य, जिसके विना एक परमाणु भी खाली नहीं है, उसका अवतार कहना जानो वन्ध्या के पुत्र का विवाह कर उसके पौत्र के दर्शन करने की बात कहना है।

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥—२।२।४

ओ३म् नाम के धनुष पर आत्मारूपी बाण को चढ़ाकर, आलस्य और प्रमाद को त्याग कर तन्मय हो ब्रह्म को लक्ष्य कर वेधे। तब, जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे ही आत्मा ब्रह्ममय हो जायेगा।

इसीलिए तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—'ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्।' अर्थात् ओ३म् ही ब्रह्म है, ओ३म् ही सब कुछ है।

मूर्तिपूजा-अवतारवाद--मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का घनिष्ठ एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। पौराणिक हिन्दू जिन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित करते हैं, उन्हें वे मानवरूप धारण कर पृथिवी पर अवतरित होनेवाले भगवान् मानते हैं। अत: प्रश्नकर्त्ता ने जब यह तर्क उपस्थित किया कि निराकार ईश्वर ही समय पड़ने पर तथा आवश्यकता होने पर धर्म की रक्षा एवं अधर्म का नाश करने के लिए मानवरूप धारण कर जन्म लेता है, तब ऐसे शरीरधारी अवतारों की प्रतिमाओं की पूजा में क्या दोष है ? मूलत: ईश्वर निराकार है। इसलिए यदि ईश्वर ने समय-समय पर मानवरूप धारण न किया होता तो उनकी मूर्ति कैसे बन सकती थी ?

ईश्वर के अवतार लेने की बात कहते समय प्रश्नकर्त्ता के सामने गीता के ये श्लोक रहे होंगे—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

परन्तु देवीभागवत पुराण में विष्णु के अवतार लेने का कारण कुछ और ही लिखा है—

शपामि त्वां दुराचारं किमन्यत् प्रकरोमि ते ।
विधुरोऽहं कृतः पाप त्वयाऽहं शापकारणात् ॥—देवी ४।१२।५
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छापसंभवाः ।
प्रायो गर्भभवं दुःखं भुंक्ष्व पापाज्जनार्दन ॥८॥

इस प्रकार—'शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन कामं मीनो बभूव कमठः खलु सूकरस्तु ।' भृगु के शाप के कारण विष्णु को मत्स्यादि के रूप में अवतार लेने पड़े । इस पर विष्णु दुःखी होकर कहते हैं—

यदीच्छा पुरुषो भूत्वा विचरामि महार्णवे । कच्छपः कौलः सिंहश्च वामनाश्च युगे युगे ॥
न कस्यापि प्रियो लोके तिर्यग् योनिषु संभवः । नाभवं स्वेच्छया वाम वराहादिषु योनिषु ॥

यदि मैं स्वतन्त्र होता तो कच्छ, मच्छ, वराह, सिंह और वामन आदि क्यों बनता । संसार में किसी को भी वराहादि योनियों में जाना प्रिय नहीं । पुनः मैं इन योनियों में क्यों जन्म लेता । अपने को सर्वथा असहाय तथा दुःखी अनुभव करते हुए भगवान् विष्णु कहते हैं—

विहाय लक्ष्म्या सह संविहारं को याति मत्स्यादिषु हीनयोनिषु ।
शय्यां च त्यक्त्वा गरुडासनस्य करोति युद्धं विपुलं स्वतन्त्रः ॥५८॥

यदि मैं स्वतन्त्र होता तो लक्ष्मी के साथ विहार को छोड़कर मछली आदि की इन योनियों में क्यों जाता ?

उधर राम के रूप में अवतार धारण करने पर वाल्मीकि रामायण में भगवान् कहते हैं—

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत् कृतानि ।
तेषां मयाद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥—अ० स० १०।४

निश्चय ही मैंने पूर्वजन्म में बड़े पाप किए थे, जिनका मुझे यह फल मिल रहा है कि एक के बाद एक दुःख भोगना पड़ रहा है ।

बुद्ध के रूप में भगवान् के अवतार लेने का क्या प्रयोजन था, इस विषय में भागवत पुराण में लिखा है—

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृष्टपूर्त्तिः ।
लोकांधतामतिविमोहमतिप्रलोभं वेशं विधाय बहुभाष्यत औपधर्म्यम् ॥—२।७।३७

बौद्धरूपस्त्वयं जातः कलौ प्राप्ते भयानके ।
वेदधर्मपरान् विप्रान् मोहयामास वीर्यवान् ।
निर्वेदा कर्मरहितास्त्रवर्णा तामसान्तरे ॥

भगवान् ने बुद्ध का अवतार लेकर, सबको विरुद्ध उपदेश देकर नास्तिक बनाया तथा वेदमार्ग का नाश किया ।

उपर्युक्त उद्धरणों से इतनी बातें स्पष्ट होती हैं—

१. भगवान् अपनी इच्छा से अवतार नहीं लेते, उनसे अधिक शक्तिशाली कोई सत्ता है, जो उन्हें अवतार लेने को बाध्य करती है ।

२. भगवान् लोक-कल्याण के लिए अवतार धारण नहीं करते, बल्कि पूर्वजन्म में किए गये अपने पापों का फल भोगने के लिए जन्म लेते हैं ।

पौराणिकों के मत में जिन वेदव्यास ने महाभारत (गीता) की रचना की थी, उन्होंने पुराणों की रचना की थी। परन्तु गीता में अवतार धारण करने का प्रयोजन धर्म की रक्षा करना बताया, जबकि पुराणों में धर्म और धार्मिक लोगों का नाश तथा कर्मफल भोग बताया। यह परस्पर विरोध क्यों ?

वस्तुतः ईश्वर को किसी भी रूप में जन्म धारण करने की कल्पना ही युक्तिविरुद्ध तथा अशास्त्रीय है।

अवतार नहीं ले सकता—यजुर्वेद (३४।५३) में ईश्वर को 'अज' (कभी जन्म न लेनेवाला) कहा है। यजुर्वेद (४०।८) में ही उसे 'अकायमव्रणमस्नाविरम्' बताते हुए 'स्वयंभू' नाम से पुकारा गया है। शंकराचार्य सहित सभी प्राचीन आचार्यों ने 'अकायम्' का अर्थ 'लिंगशरीरवर्जितम्' किया है। 'लिंग' शरीर 'सप्तदशैकं लिंगम्' (सांख्य ३।६) अठारह घटक (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र, मन, बुद्धि और अहंकार) अवयवोंवाला होता है। इस प्रकार 'अकाय' कह देने से ईश्वर के सूक्ष्म शरीर का निषेध हो जाता है। इन्हीं आचार्यों के अनुसार 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कह देने से उसके स्थूल शरीर का निषेध हो जाता है। 'स्वयम्भूः' का अर्थ भी महीधर ने 'स्वयं जन्म न लेनेवाला' न करके 'नित्य' (स्वयम्भूः स नित्यः ईश्वरः) किया है। ऋग्वेद (४।१।११) में ईश्वर को 'अपादशीर्षा' (सिर-पैर से रहित) और १।१५२।३ में 'अपादेति पद्वतीनाम्' अर्थात् 'पैरवालों में बिना पैर वाला' बताया है। इस प्रकार वेद में ईश्वर के अवतार लेने का स्पष्ट निषेध होने से ईश्वर का शरीरधारी के रूप में अवतार नहीं माना जा सकता।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (२।१) में कहा है—

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥

वह परमात्मा अजर, अमर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, विभु और नित्य है। ब्रह्मवादी कहते हैं कि वह जन्म नहीं लेता।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (२।१।२) में ईश्वर के अजन्मा होने का वर्णन करते हुए कहा गया है—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥

अर्थात्—वह परमेश्वर अमूर्त्त, अन्तर्बहिः, व्यापक, अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध तथा अत्यन्त सूक्ष्म है।

जो शरीर ग्रहण करता है वह कभी-न-कभी उसका परित्याग अवश्य करता है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च'—जो पैदा हुआ है वह मरेगा अवश्य और जो मरेगा वह जन्म भी अवश्य लेगा। यदि जीवात्माओं की तरह ईश्वर भी कभी शरीर ग्रहण करेगा और कभी परित्याग, तो वह भी जीवात्मा की भाँति जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँसकर मोक्ष का अभिलाषी होगा। इससे वह प्रकृति व जीवात्म-पुरुषों का अधिष्ठाता परब्रह्म न रहकर अन्तवाला हो जायेगा, किन्तु ईश्वर तो नित्य ही नहीं, निर्विकार भी है। इसलिए वह अवतार नहीं ले सकता।

'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—प्रभु ने सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के साधनरूप में की है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गीता)। इसी के निमित्त जीवात्मा बार-बार देह धारण करता है। 'भोगायतनं शरीरम्'—कर्मफल भोगने के लिए ही शरीर होता है। वस्तुतः 'कर्मैव हि देहारम्भस्य कारणम्' देह का कारण कर्म है। किन्तु परमेश्वर तो क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित है (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—१।२४)। इसलिए उसके शरीर धारण

[मूर्त्ति में ईश्वर की भावना करना उसका अपमान है]

प्रश्न—जब परमेश्वर व्यापक है, तो मूर्त्ति में भी है। पुनः चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं ? देखो—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये। भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥'

परमेश्वर देव न काष्ठ न पाषाण न मृत्तिका से बनाये पदार्थों में है, किन्तु परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है। जहाँ भाव करें, वहाँ ही परमेश्वर सिद्ध होता है।

करने की कल्पना नहीं की जा सकती। आंशिक साधर्म्यमात्र से जीवात्मा के समान उसका शरीर धारण करना नहीं बन सकता। इसमें ईश्वर के वैधर्म्य गुण बाधक हैं।

गौतम मुनि ने अपने न्यायदर्शन में अपवर्ग की प्राप्ति के सन्दर्भ में कहा है--'दुःखजन्मप्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (१।१।१) अर्थात् मिथ्याज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म तथा जन्म से दुःख होता है। इस प्रकार जन्म के मूल में मिथ्या ज्ञान है। क्योंकि परमेश्वर में मिथ्या ज्ञान का अभाव है, इसलिए उसके जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थापत्ति से माना जायेगा कि मिथ्याज्ञानी परमेश्वर नहीं हो सकता।

देवीभागवत में राम के विषय में एक स्थान पर लिखा है—

सर्वज्ञत्वं गतं कुत्र प्रभोः शक्तिः कुतो गता।
यद्धेममृगविज्ञानं न ज्ञातं हरिणा किल ॥३९॥
राजन् मायाबलं पश्य रामो हि काममोहितः।
रामो विरहसन्तप्तः रुरोद भृशमातुरः ॥४०॥
योऽपृच्छत् पादपान् मूढः क्व गता जनकात्मजा ॥४२॥

राम की सर्वज्ञता कहाँ गई तथा उसकी प्रभु शक्ति कहाँ चली गई। उसको इतना भी पता नहीं चला कि यह मारीच है या हिरण। माया कितनी बलवान् है, जो राम विरह में रोता रहा और जिस राम ने वृक्षों से पूछा कि मेरी सीता कहाँ गई।

इस प्रकार पुराण स्वयं राम को परमात्मा स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसका सारा व्यवहार सामान्यजनों की तरह है। जब राम भगवान् ही नहीं थे तो राम की मूर्त्ति भगवान् की मूर्त्ति कैसे हो सकती है ?

भावना—पौराणिक दर्शन में मूर्त्तिपूजा शब्द के तीन अर्थ होते हैं—मूर्त्ति की पूजा; मूर्त्ति से पूजा तथा मूर्त्ति में पूजा। ग्रन्थकार के तर्कों से तंग आकर पौराणिकों ने प्रथम अर्थ को तिलांजलि दे दी है। अब उनका बल तीसरे अर्थ पर है, और इसका आधार है यह लोकोक्ति—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' ग्रन्थकार के समकालीन पौराणिक विद्वान् पं० अम्बिकादत्त व्यास अपनी पुस्तक 'मूर्त्तिपूजा' में पृष्ठ ७ पर लिखते हैं --"हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते, किन्तु मिट्टी पत्थर के आश्रय से उसी सच्चिदानन्द परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं।"

'भावना' वही कहाती है जो यथार्थज्ञान के अविरुद्ध हो। 'यथार्थदर्शनं हि ज्ञानम्' (गीता) अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही जानना और मानना भावना है। वामन शिवराम आप्टे के

---

१. द्र०—गरुड़पुराण, प्रेत खण्ड, अ० ३०।१३॥ यहाँ द्वितीय चरण का पाठ 'न शिलायां कदाचन' है। चाणक्यनीति ८।११ में—'न देवो विद्यते काष्ठे' पाठभेद से है।

उत्तर—जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है, तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना अन्यत्र न करना, यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्त्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ाके एक छोटी-सी झोंपड़ी का स्वामी मानना। देखो यह[1] कितना बड़ा अपमान है ? वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो।

जब व्यापक मानते हो, तो वाटिका में से पुष्प-पत्र तोड़के क्यों चढ़ाते ? चन्दन घिसके क्यों लगाते ? धूप को जलाके क्यों देते ? घण्टा घरियाल झाँज पखाजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ? तुम्हारे हाथों में है, क्यों जोड़ते ? शिर में है, क्यों शिर नमाते ? अन्न-जलादि में है, क्यों नैवेद्य धरते ? जल में है, स्नान क्यों कराते ? क्योंकि उन सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है।

और तुम व्यापक की पूजा करते हो वा व्याप्य[2] की ? जो व्यापक की करते हो तो पाषाण लकड़ी आदि पर चन्दन पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो ? और जो व्याप्य की करते हो, तो हम परमेश्वर की पूजा करते हैं, ऐसा झूठ क्यों बोलते हो ? हम पाषाणादि के पुजारी हैं, ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते ?

अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न स्मृति का कारण भावना होती है, इसलिए जो प्रत्यक्ष के विपरीत है, उसे भावना नहीं कह सकते। शंकराचार्य के शब्दों में 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या'—जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसे वैसा मानना 'अविद्या' या 'विपर्यय ज्ञान' है, जो बन्धन का कारण है—'बन्धो विपर्ययात्' (सांख्य ३।२४)। अग्नि में जल की, जल में अग्नि की; रोटी में पत्थर की और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्याज्ञान अर्थात् अन्य में अन्यबुद्धि प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से भ्रमरूप 'अभावना' होगी। इसी प्रकार सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म को किसी एक वस्तु में सीमित कर उसी में उसकी भावना करना ऐसा है जैसा किसी चक्रवर्ती राजा को सत्ताच्युत करके किसी झोंपड़ी में बन्द कर देना। क्या किसी वकील में डाक्टर की भावना करके कोई उससे अपनी चिकित्सा कराने के लिए तैयार होगा ? सृष्टि के कण-कण में ईश्वर को व्याप्त जानना ही सच्ची भावना है। ऐसा न मानने से भावना अभावना में और अभावना भावना में बदल जायेगी।

लोक में प्रचलित मान्यता है कि श्रद्धापूर्वक भावना करने से फल अवश्य मिलता है—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'। यदि यह सत्य हो, तो बालू में शक्कर की भावना करने से मुँह मीठा हो जाये। इसी प्रकार चूने के पानी को मथने से मक्खन, धूल से आटा, पत्थर से सोना-चाँदी, समुद्रफेन से मोती, कंकड़ों से बादाम आदि की प्राप्ति हो जाये। दरिद्र अपने चक्रवर्ती राजा होने, विद्यार्थी अध्यापक होने, संसद सदस्य अपने मन्त्री होने की भावना करके घर बैठे सब-कुछ पा जायें। परन्तु ऐसा होता नहीं, भावनामात्र से किसी के वास्तविक स्वरूप को नहीं बदला जा सकता। शंकराचार्य ने ठीक लिखा है—'न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति' अर्थात् उपाधि के योग से भी अन्य प्रकार की वस्तु अन्य प्रकार के स्वभाववाली नहीं हो सकती। यदि यह सम्भव होता तो भूल से विष को दवाई समझकर पी जानेवाले रोगी को मरना नहीं चाहिए था। मरुस्थल में श्रद्धापूर्वक बालू को जल समझनेवाला हिरन दौड़-दौड़कर जान गँवाने को विवश न होता। अन्य में अन्य की भावना करके यदि सिद्धि हो सकती तो हम अपने शरीर में रेल की भावना करके बैठे-बिठाये जहाँ चाहते, वहाँ पहुँच जाते। अन्धा देखने लगता और बहरा सुनने लगता। 'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'—

---

१. 'देखो यह' पद समर्थदान ने जोड़े।

२. अर्थात् जिसमें परमात्मा व्यापक है, उस मूर्तिमय पाषाणादि की।

[भावना का वास्तविक अभिप्राय]

अब कहिये **'भाव'** सच्चा है वा झूँठा ? जो कहो सच्चा है, तो तुम्हारे भाव के आधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जाएगा। और तुम मृत्तिका में सुवर्ण-रजतादि, पाषाण में हीरा-पन्ना आदि, समुद्रफेन में मोती, जल में घृत-दुग्ध-दधि आदि, और धूलि में मैदा-शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसे क्यों नहीं बनाते हो ? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते, वह क्यों होता ? और सुख की भावना सदैव करते हो, वह क्यों नहीं प्राप्त होता ? अन्धा पुरुष नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता ? मरने की भावना नहीं करते, क्यों मर जाते हो ? इसलिए तुम्हारी भावना सच्ची नहीं। क्योंकि जैसे में वैसी करने का नाम **'भावना'** कहते हैं। जैसे अग्नि में अग्नि जल में जल जानना। और जल में अग्नि अग्नि में जल समझना **'अभावना'** है। क्योंकि जैसे को वैसा जानना **'ज्ञान'**, और अन्यथा जानना **'अज्ञान'** है। इसलिए तुम अभावना को भावना और भावना को अभावना कहते हो।

[मन्त्रों से देवता का आवाहन-विसर्जन नहीं होता]

प्रश्न—अजी ! जबतक वेदमन्त्रों से आवाहन नहीं करते, तब तक देवता नहीं आता। और आवाहन करने से झट आता, और विसर्जन करने से चला जाता है।

कोई दुःखी होना नहीं चाहता, सभी सुख की कामना करते हैं—इसलिए संसार में कभी कोई दुःखी न होता। परन्तु भावनामात्र से ऐसा 'न भूतो न भविष्यति'—न कभी हुआ और न होगा। इसी प्रकार पत्थर में ईश्वर की भावना करने पर भी पत्थर, पत्थर ही रहेगा। न उसमें चेतनता आ सकती है और न उससे कभी हमारी इच्छा पूरी हो सकती है।

गीता में कहा है—

यो यो यां यां तनुर्भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥—७।२१

इस श्लोक का भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—"यो यो यां यां देवतातनुं श्रद्धयार्चितु-मिच्छति"="जो पुरुष जिस-जिस देवता की मूर्त्ति का श्रद्धा से पूजन करता है।" यहाँ तो शंकराचार्य ने भी देवता की मूर्त्तिपूजन के ही अर्थ किए हैं, मूर्त्ति में देवतापूजन के नहीं। जब स्वामी शंकराचार्य जैसे अद्वैतमतावलम्बी मूर्त्तिपूजा का अर्थ 'मूर्त्ति की पूजा' ही मानते थे तो आजकल के साधारणजन मूर्त्ति अधिकरण में पूजा या मूर्त्तिकरण से पूजा, मूर्त्ति में पूजा या मूर्त्ति से पूजा इत्यादि शुष्क तर्क बढ़ाकर पौराणिक धर्म से क्यों विरोध करते हैं ?

प्राणप्रतिष्ठा—जड़ पाषाण से निर्मित मूर्त्ति में भगवान् तब आते हैं जब भगवान् का आह्वान करके उसमें प्राणप्रतिष्ठा कर दी जाती है। यह कहना अपने को और सबको धोखा देना है। आना-जाना वहाँ होता है जहाँ कोई न हो। जैसे आकाश अनन्त और सर्वव्यापक होने से कहीं नहीं आता जाता, वैसे ही अनन्त और सर्वव्यापी एवं सर्वान्तिर्यामी होने से परमात्मा का आना-जाना उपपन्न नहीं होता। जो कण-कण में व्यापक होने से सदा से मूर्त्ति के अन्दर भी विद्यमान है और बाहर भी, उसके बुलाये जाने पर आने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने पर भी प्राण आदि के कारण होनेवाला कोई लक्षण मूर्त्ति में दिखाई नहीं पड़ता—न वह साँस लेती है, न बोलती है और न खाती-पीती है। यदि मन्त्रबल से इच्छानुसार परमेश्वर का आह्वान कर मूर्त्ति में प्रविष्ट किया जा सकता है तो अपने प्रियजनों के मरने पर उनके शरीरों में उनके जीवात्मा को बलाकर प्राणसंचार किया जाना सम्भव क्यों

उत्तर—जो मन्त्र को पढ़कर आवाहन करने से देवता आ जाता है, तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती ? और विसर्जन करने से चली[1] क्यों नहीं जाती ? और वह देवता कहाँ से आता, और कहाँ जाता है ? सुनो भाई[2] ! पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है। जो तुम मन्त्रबल से परमेश्वर को बुला लेते हो, तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते ? और शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सकते ? सुनो भाई भोले-भाले लोगो ! ये पोपजी तुमको ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजा, और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

[आवाहन के कल्पनिक तान्त्रिक मन्त्र]

प्रश्न—**प्राणा इहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥**
आत्मेहागच्छतु सुखं चिरं तिष्ठतु स्वाहा ॥
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥[3]

इत्यादि वेदमन्त्र हैं। क्यों कहते हो नहीं हैं ?

उत्तर—अरे भाई ! बुद्धि को थोड़ी-सी तो अपने काम में लाओ। ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों की वेदविरुद्ध तन्त्रग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियाँ हैं, वेदवचन नहीं।

नहीं। जिन मन्त्रों में सर्वशक्तिमान् परमात्मा को बुलाने की शक्ति है, उनसे अल्पशक्ति जीवात्मा को बुलाने में क्या बाधा हो सकती है। इसी प्रकार जिन मन्त्रों से जब चाहें परमेश्वर का विसर्जन किया जा सकता है, उन्हीं मन्त्रों को पढ़वाकर हम अपने किसी शत्रु के प्राणों का विसर्जन क्यों नहीं करा सकते। सत्य तो यह है कि ईश्वरीय नियमों को अन्यथा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। जो पदार्थ जड़ बनाये गये हैं, वे कभी चेतन नहीं हो सकते।

प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ में पौराणिक पण्डित अथर्ववेद का एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—"एहि अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनूः" (अथर्व० २।१३।४) अर्थात् हे ईश्वर ! आओ, इस पत्थर में ठहरो और यह पत्थर तुम्हारा शरीर रहे। परन्तु पण्डितजी ने मन्त्र का अगला भाग नहीं देखा, जिसमें कहा है—"कृण्वन्तो विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्" अर्थात् सब देवता तुम्हारी आयु सौ वर्ष की करें। पौराणिकों के अर्थ से ऐसा प्रतीत होता है जैसे भगवान् के जन्म लेने पर जातकर्म संस्कार की समाप्ति पर उनकी दीर्घायु के लिए आशीर्वाद दिया जा रहा हो। मूर्त्तिपूजा को वेदसम्मत सिद्ध करने के लिए इस मन्त्र का प्राणप्रतिष्ठा में बलात् विनियोग किया गया है। वास्तव में यह मन्त्र समावर्त्तन अर्थात् ब्रह्मचारी के अपनी शिक्षा की समाप्ति पर घर लौटने के समय का है। इसमें ब्रह्मचारी से कहा गया है—"हे ब्रह्मचारी ! तू इस पाषाण पर पैर रख। तेरा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ और बलिष्ठ हो। भगवान् तुम्हें सौ वर्ष की अर्थात् दीर्घायु प्रदान करे।"

---

१. सं० ५ से ३३ तक 'चला''''जाता' अपपाठ है। यहाँ विसर्जन से देवता का चला जाना अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि ऐसा तो पौराणिक मानते ही हैं। यहाँ देवता के आगमन से मूर्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती ? प्रश्न के साथ मूर्ति का चेतन होना मानने पर प्रश्न है कि विसर्जन से वह मन्दिर छोड़कर चली क्यों नहीं जाती ?

२. 'अन्धो !' हस्तलेख का पाठ। 'सुनो भाई' पाठ समर्थदान ने बनाया।

३. द्र०—प्रतिष्ठामयूख आदि ग्रन्थ।

[तन्त्र-ग्रन्थ सब मिथ्या हैं]

प्रश्न—क्या तन्त्र झूँठा है ?

उत्तर—हाँ, सर्वथा झूँठा है। जैसे आवाहन प्राणप्रतिष्ठादि पाषाणादि-मूर्त्ति-विषयक वेदों में एक मन्त्र भी नहीं, वैसे **'स्नानं समर्पयामि'** इत्यादि वचन भी नहीं। अर्थात् इतना भी नहीं है कि— **'पाषाणादिमूर्त्ति रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभिरर्चयेत्'** अर्थात् पाषाण की मूर्त्ति बना मन्दिरों में स्थापन कर चन्दन-अक्षतादि से पूजे, ऐसा लेशमात्र भी नहीं।

[परमेश्वर के स्थान में अन्य की पूजा का निषेध]

प्रश्न—जो वेदों में विधि नहीं, तो खण्डन भी नहीं है। और जो खण्डन है, तो **'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'** मूर्त्ति के होने ही से खण्डन हो सकता है।

सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र का समावर्त्तन संस्कार में विनियोग करके इसका भाष्य इस प्रकार किया है—"हे माणवक ! एहि आगच्छ, अश्मानमातिष्ठ, दक्षिणेन पादेन आक्रम। ते तव तनूः शरीरम् अश्मा भवतु। अश्मवद् रोगादिविनिमुक्तं दृढं भवतु। विश्वे देवाश्च ते तव शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु"। अर्थात् हे ब्रह्मचारिन् ! तुम यहाँ आओ और अपना दक्षिण पैर इस पत्थर पर रक्खो, तुम्हारा शरीर नीरोग और इस पत्थर की तरह दृढ़ हो।

अप्राप्त का निषेध—निषेध प्राप्त और अप्राप्त दोनों का होता है। जैसे—कोई बैठा है तो उसे उठा देना 'प्राप्त' का निषेध है। वैसे ही, किसी बालक को यह कहना कि 'झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, गाली मत दो आदि' 'अप्राप्त' का निषेध है। इससे यह समझ लेना कि जिसे झूठ बोलने, चोरी न करने या गाली न देने से रोका जा रहा है, वह पहले इन दोषों में प्रवृत्त है, ठीक नहीं होगा। जो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त है, वह परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त होने से उसका निषेध किया जा सकता है। अप्राप्त के निषेध का तात्पर्य भी प्राप्त के नियम में होता है। जैसे—'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७) यहाँ अन्तरिक्ष तथा द्यु में अग्निचयन का निषेध है। इसका 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' अग्नि रखकर ही चयन करना चाहिए, में तात्पर्य है। इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों में जो अप्राप्त का निषेध है, उसका 'ईश्वर ही उपासनीय है' में तात्पर्य समझना चाहिए। इतिहास के आधार पर सिद्ध है कि जैनियों व बौद्धों से पूर्व कहीं भी मूर्त्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। तब मूर्त्तिपूजा का विधान न होते हुए भी उसका खण्डन स्पष्ट ही अप्राप्त का निषेध है—यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

मूर्त्तिपूजा के सन्दर्भ में वेदान्तसूत्रकार महर्षि वेदव्यास की घोषणा है—**'न प्रतीके न हि सः'** (४।१।४)—(न) नहीं (प्रतीके) प्रतीक में (न) नहीं (हि) क्योंकि (सः) वह। किसी भौतिक प्रतीक में ब्रह्मभावना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वह प्रतीक परमात्मा नहीं है।

किसी भौतिक तत्त्व को आधार मानकर उसमें ब्रह्मभावना या उपासना करना व्यर्थ है। क्योंकि वह प्रतीकरूप भौतिकतत्त्व ब्रह्म नहीं है। ब्रह्मचेतन आनन्दस्वरूप है, जबकि उपासना का आधार-तत्त्व प्रतीक जड़ पदार्थ है। दोनों में प्रकाश और अन्धकार के समान भेद है। ब्रह्मप्राप्ति के लिए जड़ पदार्थ की पूजा करना नितान्त निष्प्रयोजन है। इसलिए उपास्य रूप में चेतन ब्रह्म का ही निदिध्यासन होना चाहिए, जड़ तत्त्व का नहीं।

उत्तर—विधि तो नहीं, परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानने का विधान, और मूर्त्ति का सर्वथा निषेध किया है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि उपनिषदों में ऐसे सन्दर्भ हैं, जहाँ मन आदि को ब्रह्म मानकर उनकी उपासना करने का निर्देश है। इसका क्या अभिप्राय समझें। मन आदि तो जड़पदार्थ हैं। सूत्रकार ने समाधान किया—**ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्** (४।१।५)—(ब्रह्मदृष्टिः) ब्रह्म का दर्शन (उत्कर्षात्) उत्कर्ष से। इससे ब्रह्म के उत्कर्ष को प्रकट किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में सन्दर्भ है—'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्, अथातिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (३।१८।१) मन ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है। अन्यत्र कहा—'आकाशो ब्रह्मेत्यादेशः'—आदित्य ब्रह्म है, यह आदेश है। इन वाक्यों में जड़ पदार्थों को ब्रह्मभाव से उपास्य कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। मात्र ब्रह्म के उपास्य कहे जाने का उपनिषदों के इन वाक्यों से सामंजस्य कैसे होगा ? सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त है। ब्रह्माण्ड एक प्रकार से उसका शरीर है। मन, आकाश, आदित्य आदि उसी के अंश हैं। जड़ शरीर चेतन अधिष्ठाता के बिना सचेत नहीं रह सकता। वस्तुतः शरीररूप में उसका अवस्थित रहना चेतन अधिष्ठाता की महत्ता है, क्योंकि उसके बिना शरीर का अस्तित्व शरीररूप में नहीं रहता। आकाश आदि ब्रह्म हैं, इसका यही तात्पर्य है कि इन सबमें ब्रह्म व्याप्त है। उसी की व्याप्ति से इनका अस्तित्व है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ० २।२।१५; श्वेता० ६।१४)—सूर्य, चाँद, तारे, बिजलियाँ और अग्नि आदि कोई पदार्थ उसको प्रकाशित नहीं करते। उसी के अस्तित्व से इनकी सत्ता है, उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं। इस रूप में ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। उपनिषद् के उक्त वाक्यों का यही तात्पर्य है।

मन अथवा अन्तःकरण समस्त इन्द्रियों को साथ लेकर शरीर में जीवात्मा के लिए प्रत्येक कार्य को सम्पादन करने का प्रधान साधन है—'यस्मान्नऽऋते किं च न कर्म क्रियते' (यजुः० ३४।३) मन इन्द्रियों के साथ मिलकर आत्मा को विषयों की ओर आकृष्ट करता है; इन्द्रियों की अन्तर्वृत्तिदशा में वही मन जीवात्मा द्वारा अनुष्ठित ब्रह्मोपासना में पूर्ण सहयोगी होता है। शुद्ध मन का सहयोग ब्रह्म के उत्कर्ष का दर्शन कराता है। मन को ब्रह्म समझकर उपासना करने का यह तात्पर्य नहीं कि वहाँ मन की उपासना करनी है, प्रत्युत यही भाव है कि शुद्ध एकाग्र मन से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। शुद्ध आनन्दस्वरूप ब्रह्म के पास अशुद्ध मन से पहुँचना सम्भव नहीं। फलतः मन आदि प्रतीक में ब्रह्मभावना अथवा ब्रह्मरूप से उसकी उपासना करना अभिप्रेत नहीं। उक्त सन्दर्भों में ब्रह्म के उत्कर्ष—उसकी महिमा का दर्शन अभिप्रेत है। वही एक उपास्य तत्त्व है और इसमें उसका उत्कर्ष ही कारण है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'वेदविषयविचार' के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"कोई-कोई आर्यलोग कि वा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले मोक्षमूलर आदि कहते हैं कि प्राचीन आर्यलोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे, उनका यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिए एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य-लोग करते थे।" भगवद्गीता में लिखा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्त्तुमिहार्हसि॥

—अ० १६।२३-२४

[‘अपूर्वविधि’ में प्रमाण]

क्या अपूर्वविधि[1] नहीं होता ? सुनो यह है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽ उ सम्भूत्याᳬरताः ॥१॥
—यजुः० अ० ४० । मन्त्र ६

न तस्य प्रतिमाऽ अस्ति ॥२॥ —यजुः० अ० ३२ । मन्त्र ३

अर्थात्—जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के विधि-विधान की उपेक्षा करके अपनी इच्छानुसार चलता है, वह न सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख को और न उत्तम गति—मोक्ष को । इसलिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा समझकर शास्त्र द्वारा अनुमोदित कर्म ही करने चाहिएँ ।

मूर्तिपूजा के सन्दर्भ में यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का यह मन्त्र सर्वथा निर्णायक है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬरताः ॥ —यजुः० ४०।६

अर्थात्—जो ‘असम्भूति’ अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् तीन गुणोंवाली अनुत्पन्न, अव्यक्त, अनादि प्रकृति—कारण की उपासना करते हैं, वे गहरे अन्धकार—अज्ञान और दुःख में डूब जाते हैं और जो ‘सम्भूति’ अर्थात् कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार में डूब जाते हैं। वेदान्तदर्शन का आदेश है—“न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः”—प्रकृति के कार्य मूर्त्ति में कभी ध्यान नहीं करना चाहिए । (वेदान्त ४।३।१४) ।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥—२।१।२

दिव्यरूप (अलौकिक प्रकाशयुक्त) होते हुए भी परमात्मा (अमूर्त्तः) आकाररहित है । प्रकाश की विद्यमानता में अनेक दूषित व अदूषित पदार्थ पड़े रहते हैं, उनके दोषों से प्रकाश दूषित नहीं होता, क्योंकि उसका स्वरूप उनसे सर्वथा भिन्न है । इसी प्रकार ‘ज्योतिषां ज्योतिः’ परमेश्वर प्रकृति में व्याप्त होते हुए भी उसका रूपधारण नहीं करता । प्राकृतिक पदार्थ जड़ होने से सदा एकरूप नहीं रहते, परिणामी होने से वे दिव्य नहीं हो सकते । ऐसी दिव्य सत्ता प्रकृति के तत्त्वों से निर्मित मूर्त्ति का रूप धारण नहीं कर सकती । ब्रह्म के अमूर्त होने में एक अन्य पुष्ट प्रमाण यजुर्वेद का यह मन्त्र है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥—३२।३

इस मन्त्र में कितने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गई है—‘न तस्य प्रतिमा अस्ति’ अर्थात् उस (परमेश्वर) की मूर्त्ति नहीं होती । पौराणिकों के अनुसार यहाँ ‘नतस्य प्रतिमा अस्ति’ ऐसा पाठ होना

---

१. यहाँ अप्राप्त-निषेधरूपी अपूर्वविधि से तात्पर्य है । अप्राप्त का भी प्रतिषेध होता है, यह इसी प्रकरण में आगे कहेंगे । अप्राप्त-निषेध का तात्पर्य भी प्राप्त के नियम में होता है । यथा—‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि’ (तै० सं० ५।२।७) यहाँ अन्तरिक्ष तथा द्यु में अप्राप्त अग्निचयन का निषेध है । इसका ‘हिरण्यं निधाय चेतव्यम्’ हिरण्य रखकर ही अग्निचयन करना चाहिए, में तात्पर्य है। इसी प्रकार उत्तर प्रमाणों में जो अप्राप्त का निषेध है, उसका ‘ईश्वर ही उपासनीय है’ में तात्पर्य जानना चाहिए ।

चाहिए। तब इसका अर्थ होगा—नतस्य=झुके हुए वामनरूप भगवान् की मूर्त्ति होती है। बम्बई में मूर्तिपूजा पर हुए शास्त्रार्थ में जब पौराणिक पण्डित ने इस विषय में विवाद खड़ा किया तो ठीक पाठ 'न तस्य' है या 'नतस्य' है—'न तस्य' दो पद हैं या 'नतस्य' एक पद है—इसका निर्णय करने के लिए वेदपाठी दाक्षिणात्य पण्डितों को बुलाया गया। उन्होंने क्रमपाठ, पदपाठ, जटापाठ, घनपाठ, शिखापाठ आदि के द्वारा मन्त्र को जोड़-तोड़कर, पदों को आगे-पीछे से दोहरा-दोहराकर प्रमाणित कर दिया कि मूल पाठ 'न तस्य' ही है, 'नतस्य' नहीं। वेद के पुरुषसूक्त में परमात्मा के 'सहस्रशीर्षा' आदि विशेषण देकर उपलक्षण से सारे ब्रह्माण्ड को उसकी देह बताकर उसकी सर्वव्यापकता और विशालता का चित्रण किया गया है। इतने महिमामय विराट् पुरुष की मूर्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है ? जिसके रूप की कल्पना नहीं की जा सकती उसे कागज या पत्थर में कैसे उतारा जा सकता है ! इसलिए जगत् में व्याप्त उस निराकार परमेश्वर की 'प्रतिमा' परिमाण, उपमान वा मूर्ति नहीं हो सकती। यजुर्वेद (३२-३) का भाष्य करते हुए महीधर आदि ने भी स्पष्ट कह दिया है—'तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं किंचिद्वस्तु नास्ति'। 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमल्लोके'- -जिसके हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कान सारे ब्रह्माण्ड में फैले हों, प्रयत्न करके भी उसकी मूर्ति कौन बना सकता है ? कल्पना से बनाई गयी मूर्ति या तसवीर किसी पुरुष की तो बन सकती है किन्तु 'पुरुषविशेष' परमेश्वर की नहीं। जिसका मूर्त्तरूप किसी ने देखा नहीं, उसका चित्र कोई कैसे बनायेगा ? 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (यजु० ३१-३) का अभिधा से अर्थ करने पर ब्रह्म चार पैरोंवाला-चौपाया बन जाता है, यह अर्थ किसी को मान्य नहीं होगा। यहाँ भी प्रकारान्तर से ईश्वर की व्यापकता एवं विशालता का ही निर्देशन है। इस मन्त्र का महीधर का भाष्य द्रष्टव्य है—"अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपममृतं विनाशरहितं तद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-त्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मरूपापेक्ष-याल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः" अर्थात् ब्रह्म की इयत्ता सीमायें नहीं हैं। फिर भी ब्रह्म की तुलना में जगत् की तुच्छता दिखाने के लिए ही इस रूपक का सहारा लिया गया है।

इन्द्रियों का विषय न होने से भी ईश्वर की मूर्ति का होना सम्भव नहीं—

यदि ईश्वर की मूर्त्ति होती तो अन्य साकार पदार्थों की भाँति ईश्वर भी दिखाई-सुनाई पड़ता। किन्तु उसे तो अनेकत्र इन्द्रियातीत कहा गया है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति' (केन० १-३) न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी। 'यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यन्ति' (केन० १-४) जो आँख से दिखाई नहीं देता, जिससे आँख देखती है। 'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्' जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनते हैं—'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' उसी को तू ब्रह्म जान, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं। 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् (कठ० ६-९) इस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है और न इसे कोई आँखों से देख सकता है। 'यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रम-चक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्' (मु० १।१।६) जो परमात्मा न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसका कोई गोत्र नहीं, जिसके न कोई नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ और न पैर। 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः' (मु० ३-१-८)—वह ब्रह्म न आँख से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३-१५)—वह ब्रह्म न शब्द है, न स्पर्श न रूप और इसी प्रकार 'अरसं नित्यमगन्धवत्' वह न रसवाला है न गन्धवाला—अर्थात् वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। 'न तस्य

लिंगम्' (श्वेत० ६-९) उसका कोई चिह्न या प्रतीक नहीं है। 'नैनद्देवा आप्नुवन्' (यजु० ४०-४) इन्द्रियाँ उस परमेश्वर को नहीं पा सकतीं। इसी प्रकार महाभारत में भी कहा है—

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः। मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते॥
अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम्। अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत् निरिन्द्रियम्॥

—शान्तिपर्व २३९-१६-१७

परमात्मा न आँखों से देखने योग्य है, न शेष इन्द्रियों से। मन रूप प्रदीप से देखा जाता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित, अव्यय और निराकार रूप से शरीरों में व्याप्त है। उस निरिन्द्रिय को देखो।

देवी भागवत (स्कन्ध ३, अ० ७) में लिखा है—

निर्गुणस्य मुने रूपं न भवेद् दृष्टिगोचरम्। दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम्॥

निर्गुण का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि दृश्य तो नश्वर है। अरूप का दर्शन कैसे सम्भव है?

'न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते' (वि० पु० ६-६)—ब्रह्म को चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता।

यजुर्वेद (३२-२) का भाष्य करते हुए उव्वट और महीधर दोनों ने स्पष्ट घोषणा की—'न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः' अर्थात् ईश्वर प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है।

यदि परमेश्वर की मूर्ति बनाकर उसका दर्शन-पूजन सम्भव होता तो सभी शास्त्रों में बार-बार उसे इन्द्रियातीत कहने की आवश्यकता न पड़ती।

ईश्वर का मूर्त्तरूप सम्भव न होने से सर्वत्र मूर्त्तिपूजा का निषेध किया है—

फिर पूजा किसकी मूर्त्ति की करेंगे? क्योंकि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' (यजु० ३२-३) जिसका यश (सृष्टि के रचयिता तथा सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थों का अधिकरण होने से) प्रसिद्ध है, उसकी तो कोई प्रतिकृति अथवा मूर्त्ति हो नहीं सकती।

इस पर शंकराचार्य ने 'न तस्य प्रतिमास्ति' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यश इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः" (शा० भा०)='न तस्य प्रतिमास्ति' इस मन्त्र में परब्रह्म के यश का ही वर्णन है, न कि साकार का। मूर्त्तिपूजकों के लिए यह परम प्रमाण है कि 'न तस्य प्रतिमास्ति' में परब्रह्म की मूर्ति का निषेध किया गया है। यहाँ पर यदि कोई कहे कि शंकर ने दो ब्रह्म माने हैं, तो जब उनके प्रमाण को उद्धृत करते हो तो दो ब्रह्म स्वीकार क्यों नहीं करते? इस विषय में हमारा कहना है कि शंकर का काम दो प्रकार (पर व अपर) के ब्रह्म माने बिना नहीं चलता। क्योंकि मायावाद में जब तक ब्रह्म के दो रूप न माने जायें, तब तक अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती, हमारे लिए तो इस दृष्टान्त में विवक्षितांश यह है कि पौराणिकों के प्रामाणिक विद्वान् भी 'न तस्य प्रतिमास्ति' के अर्थ मूर्त्तिपूजा के निषेध में ही करते हैं।

केनोपनिषद् (खण्ड १, मन्त्र ४-८) में बड़े विस्तार से समझाया गया है कि आँखों आदि से दिखाई-सुनाई देनेवाले और मन से मनन में आनेवाले जिस तथाकथित ईश्वर की लोग उपासना करते हैं, उसे तुम ईश्वर न मानो।

महाभारत में मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है—

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्त्तावीश्वरबुद्धयः। क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्तिं न यान्ति ते॥

जो लोग मूर्खतावश मिट्टी, पत्थर, धातु या काष्ठ की बनी मूर्तियों को ईश्वर समझकर उनकी पूजा करते हैं, उन्हें कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

आदि जगद्गुरु शंकराचार्य ने मूर्त्तिपूजा की आलोचना करते हुए अपने ग्रन्थ 'परापूजा' में लिखा—

सर्वाधारो निराधारः सर्वव्यापक ईश्वरः।
प्राणादिप्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च॥
पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य आसनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यञ्च शुद्धस्याचमनं कुतः॥

परमेश्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है। प्राणों का प्रेरक होने से जीवन का हेतु है। ऐसे पूर्ण परमेश्वर का आह्वान कैसा? सर्वाधार को आसन कैसा? नित्य पवित्र और स्वच्छ के लिए पाद्य और अर्घ्य कैसा? और शुद्ध के लिये आचमन कैसा?

अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत्।

जो परमेश्वर संसार के भीतर-बाहर सर्वत्र परिपूर्ण है, उसका विसर्जन (पूजा के समय आह्वान) और तत्पश्चात् विदा करना कैसे हो सकता है?

नित्यं तृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः।

जो परमेश्वर नित्यतृप्त (भूख-प्यास से रहित) है, उसको नैवेद्य (भोग्य पदार्थ) देना उपहासास्पद है। वह तो निष्काम है।

स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधिः। प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य ह्याद्वितीयस्य का नतिः॥

जो परमेश्वर स्वयं प्रकाशमान है, दीप जलाकर उसकी आरती करना कैसे सम्भव है? वह अनन्त है तो उसकी प्रदक्षिणा (चारों ओर घूमना) कैसे हो सकता है?

इसलिए—

प्रतिमायां मनो येषां ते नरा मूढचेतसः।

जो व्यक्ति उपासना के नाम पर मूर्त्तियों में मन लगाते हैं, वे महामूर्ख हैं।

—'परापूजा' से उद्धृत

गणेशपूजन की आलोचना करते हुए 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है—

"कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः जगत् कारणं कल्पयितुमुचितम्, किञ्च रुद्रसुत इति लोके प्रसिद्धिरस्ति। तस्य ब्रह्मणत्वे कल्पिते पित्रादिकारणत्वं सुतस्यानुचितमेव। अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यात्"। (पृष्ठ ४८)

सगुण (साकार) गणेश जगत् का कारण कैसे हो सकता है? वह शिव (रुद्र) का पुत्र प्रसिद्ध है। उसे ब्रह्म मान लेने पर पिता का कारण पुत्र को मानना पड़ेगा। इसलिए परब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है—'वही सृष्टि से पूर्व विद्यमान था' इत्यादि उपनिषद् प्रमाण है।

गणेशपूजन में प्रायः 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (यजु० २३-१९) आदि मन्त्र का विनियोग किया जाता है। किन्तु उव्वट और महीधर ने भी इस मन्त्र को गणेश (गजमुख) देवत न मानकर अश्व-देवत माना है। पूर्वापर प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'परमात्मा' वा 'राष्ट्रपति' (गणराज्य का सर्वोच्च शासक गणपति) है। इसके आगे के कई मन्त्र 'राजप्रजे' देवत हैं।

शंकर स्वामी ने पुराणों के वचन उद्धृत करके भी मूर्त्तिपूजा पर कड़ा प्रहार किया है—

अधमा प्रतिमापूजा स्तोत्रजाप्यं च मध्यमा।
उत्तमा निगमा पूजा सोऽहं पूजा महात्मनः ॥१॥
तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठपाषाणमृन्मये।
प्रतिमायां मनो येषां ते नरा मूढचेतसः ॥२॥
पाषाणैरालये बद्ध्वा देवः पाषाण एव च।
ब्रूहि पण्डित देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥३॥
स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः।
शिलामृद्दारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता ॥४॥
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
निरालम्बस्योपवीतं रम्यस्याभरणं कुतः ॥५॥
निर्लेपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निवसनस्य च।
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दीपकम् ॥६॥
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः।
ताम्बूलं च विभोः कुत्र नित्यानंदस्य दक्षिणा ॥७॥
स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधिः।
प्रदक्षिणाऽह्यनन्तस्य अद्वितीयस्य का नतिः ॥८॥
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत्।
इयमेव परापूजा शम्भो सत्यपरायणः ॥९॥
देहो देवालयः प्रोक्तो ब्रह्मदेवः सनातनः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥१०॥

प्रतिमा पूजन अधम है, स्तोत्रों का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है, महात्माओं की पूजा 'सोऽहं' है ॥१॥

तीर्थ, पशुयज्ञ, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे हैं, वे मनुष्य मूढ़ अज्ञानी हैं ॥२॥

पत्थरों से एक स्थान में बाँधकर और देव को पाषाण बनाकर, अरे पण्डित, कह तो सही, वह देवता कहाँ पर रहता है ॥३॥

अपने घर में खीर छोड़कर, अरे दुर्मति, भिक्षा माँगता फिरता है ! पत्थर, लकड़ी और मिट्टी चित्रों में देवता-बुद्धि रखता है ॥४॥

अरे निर्मल का स्थान कैसा ? विश्वोदर के लिए वस्त्र कैसे ? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा ? रम्य के लिए आभूषण कैसे ? ॥५॥

निर्लेप के लिए गन्ध क्या, निर्वास के लिए पुष्प कैसे ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी और स्वप्रकाश के लिए दीपक कैसा ? ॥६॥

नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिए ताम्बूल कैसा ? नित्यानन्द के लिए दक्षिणा कैसी ? ॥७॥

प्रकाशस्वरूप को दीप क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा कैसी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ? ॥८॥

जो अन्दर-बाहर परिपूर्ण है उसका विसर्जन कहाँ ? परमात्मा की पूजाविधि यही है कि—॥९॥

इस शरीर को मन्दिर बनाओ, उसमें व्याप्त परमेश्वर को देवता समझो, अज्ञानरूप निर्माल्य को तजो और 'सोऽहं' भाव से पूजा करो ॥१०॥

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १०, अ० ८४, श्लोक १३) में कितना स्पष्ट लिखा—

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचिद् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

वात-पित्त-कफ से बने दुर्गन्धयुक्त शरीर में जो आत्मबुद्धि, स्त्री आदि में स्वबुद्धि, पृथ्वी से बनी मूर्त्तियों में पूज्यबुद्धि, व जलों में तीर्थ बुद्धि रखता है, वह गौओं का चारा ढोनेवाला गधा है।

निम्न वचन भागवत (१०।८४।११) और देवीभागवत (६।७।४२) में एक जैसा पाया जाता है—

'नाम्बुमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।'

पानी के तीर्थ नहीं होते और मिट्टी-पत्थर के भगवान् नहीं होते। शिवपुराण में भी एक स्थान पर (सं० ३६-२६) लिखा है—

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान्। योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात्॥

जल से पूर्ण तीर्थों और मिट्टी-पत्थर के देवताओं को योगिजन आत्मविश्वास के कारण नहीं मानते।

महामति चाणक्य ने (चाणक्यनीति, ४-१६) व्यवस्था दी है—

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्। प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र सर्वदर्शिनः॥

द्विजों की देवता अग्नि (अग्निहोत्र) है, मुनियों के हृदय में देवता है, अल्पबुद्धियों के लिये मूर्त्ति और समदर्शियों के लिये सर्वत्र देवता है ॥५३॥

किसी-किसी की मान्यता है कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी। ऐसा होना सम्भव नहीं है क्योंकि—

एक ही वस्तु में एक समय में दो विरोधी गुण नहीं रह सकते, सरदी-गरमी के समान।

जैसे एक ही समय में जलादि कोई पदार्थ ठण्डा और गरम नहीं हो सकता, वैसे ही परमात्मा साकार और निराकार दोनों नहीं हो सकता। वेदान्तदर्शन के सूत्र 'न स्थानतोऽपि परस्परोभयलिंगं सर्वत्र हि' (३।२।११) का भाष्य करते हुए शंकर स्वामी लिखते हैं—

"न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्॥"

स्वतः ही परब्रह्म साकार और निराकार दोनों प्रकार का नहीं हो सकता। एक ही वस्तु रूपादिवाली तथा साथ ही रूपरहित नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं। सब जगह ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों में उसे शब्द, स्पर्श एवं रूपरहित और अव्यय कहा है। किन्तु मुख्यतः निराकार रूप में वर्णन किये जाने से वह रूपरहित है।

जीवात्मा या परमात्मा का अपना कोई आकार नहीं है। पर जीवात्मा देह धारण करने से आकारवाला कहा जाता है। साधारणतया देह में हाथ, पैर, आँख, नाक आदि अंग होते हैं। परन्तु यह नितान्त अनिवार्य नहीं है। अनेक कृमि, कीट आदि शरीरी होते हुए भी अंग नहीं रखते। फिर भी वे देही या आकारवाले कहाते हैं। परन्तु परमात्मा का ऐसा कोई रूप या आकार नहीं होता। वह निर्विवाद-

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥२॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥३॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

—केनोपनि० खं० १, मं० ४-८

जो **'असंभूति'** अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति=कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःख-सागर में डूबते हैं। और **'संभूति'** जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव, और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं, वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःख-रूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं॥१॥

जो सब जगत् में व्यापक है, उस निराकार परमात्मा की **'प्रतिमा'** परिमाण सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है॥२॥

रूप से अशरीरी है। शास्त्र में मुख्यरूप से उसका वर्णन 'अकाय', 'अमूर्त्त' और अशरीरीरूप में ही किया गया है। जहाँ कहीं उसके देह या देहांगों का उल्लेख मिलता है, वह मात्र औपचारिक एवं आलंकारिक है। वहाँ लक्ष्यार्थ अभिप्रेत है, अभिधा से उसे अन्यथा नहीं समझ लेना चाहिए।

जहाँ-कहीं भी वेद में 'प्रतिमा' शब्द आता है, पौराणिक लोग उसके द्वारा मूर्त्तिपूजा की पुष्टि करने के लिए उसे ईश्वर की ओर घसीट ले जाने की चेष्टा करते हैं।

ऐसा ही एक मन्त्र यह है—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा॥

—यजु० १५।६५

पौराणिक इस मन्त्र का अर्थ करते हैं—"हे परमात्मन्! तुम (सहस्रस्य प्रमासि) यह जो असंख्यात जगत् है, उसकी प्रमा हो—'प्रमीयते यया सा प्रमा' (सहस्रस्य प्रतिमासि) असंख्यात जगत् की मूर्त्ति हो और (साहस्रोऽसि) तुम असंख्यात जगद्रूप हो। मैं (सहस्राय) सहस्र=अनन्त फल के लिए (त्वा) तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ।

इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ यह है—"हे विद्वन्! असंख्यात पदार्थयुक्त जगत् में तुम प्रमा=यथार्थ-ज्ञानी हो और उस जगत् को तुम दृष्टान्तादिकों से तुलना करनेवाले हो। उसमें से प्रत्येक पदार्थ की तुलना करनेवाले हो अर्थात् सदसद्-विवेचनरूपी तुला पर रखकर सत्यासत्य को तोल देते हो। इसलिए अनेक कार्यों के लिए परमात्मा ने तुम्हें बनाया है।

एक अन्य मन्त्र, जिसका मूर्त्तिपूजा में विनियोग किया जाता है, इस प्रकार है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

—ऋ० ७।५६।१२

आधुनिक पौराणिक विद्वान् 'त्र्यम्बक' के अर्थ इस प्रकार करते हैं—'यह तीन नेत्रोंवाले शिवजी का नाम है, त्रिनेत्र होने से ईश्वर साकार है। उसी की पूजा का विधान इस मन्त्र में किया गया है।'

सायणाचार्य इसके अर्थ करते हैं—"त्रयाणां ब्रह्माविष्णुरुद्राणाम् अम्बकं पितरं यजामहे"—अर्थात् हम ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों के पिता त्र्यम्बक की पूजा करते हैं। इस प्रकार तीन नेत्रों-वाले को त्र्यम्बक कहते हैं, यह बात तो सायणाचार्य ने ही काट दी। फिर 'त्र्यम्बक' शब्द के क्या अर्थ

जो वाणी की '**इदन्ता**' अर्थात् यह जल है लीजिए, वैसा विषय नहीं, और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर। और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं ॥१॥

जो मन से '**इयत्ता**' करके मनन में नहीं आता, जो मन को जानता है, उसी ब्रह्म को तू जान और उसी की उपासना कर। जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है, उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर ॥२॥

जो आँख से नहीं दीख पड़ता, और जिससे सब आँखें देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर। और जो उससे भिन्न सूर्य विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर ॥३॥

जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता, और जिससे श्रोत्र सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर। और उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर ॥४॥

जो प्राणों से चलायमान नहीं होता, जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है, उसी ब्रह्म को तू जान और उसी की उपासना कर। जो यह उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर ॥५॥

इत्यादि बहुत से निषेध हैं। निषेध प्राप्त और अप्राप्त का भी होता है। '**प्राप्त' का**—जैसे कोई कहीं बैठा हो, उसको वहाँ से उठा देना। '**अप्राप्त' का**—जैसे हे पुत्र! तू चोरी कभी मत करना, कुवे में मत गिरना, दुष्टों का सङ्ग मत करना, विद्याहीन मत रहना, इत्यादि अप्राप्त का भी निषेध होता है। जो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त, परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त का निषेध किया है। इसलिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा अत्यन्त निषिद्ध है।

[मूर्त्ति-पूजा में पाप है]

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा में पुण्य नहीं, तो पाप भी नहीं है?

उत्तर—कर्म दो ही प्रकार के होते हैं। एक **विहित**—जो कर्त्तव्यता से वेद में सत्यभाषणादि प्रतिपादित हैं। दूसरे **निषिद्ध**—जो अकर्त्तव्यता से मिथ्याभाषणादि वेद में निषिद्ध हैं। जैसे विहित का अनुष्ठान करना वह **धर्म**, उसका न करना **अधर्म** है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का करना **अधर्म**, और न करना **धर्म** है। जब वेदों से निषिद्ध मूर्त्तिपूजादि कर्मों को तुम करते हो, तो पापी क्यों नहीं?

बनते हैं? 'अम्ब गतौ' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय लगकर यह शब्द बनता है। 'अम्बति सर्वं चिदचिदात्मकं वस्तुजातमिति ब्रह्म'—जो सब वस्तुओं में प्राप्त हो उसे 'अम्बक' कहते हैं। तीनों कालों में सर्वरक्षक परमेश्वर की हम पूजा करते हैं। तीन नेत्रोंवाले साकार ब्रह्म का वाचक त्र्यम्बक सिद्ध नहीं होता। सायणाचार्य ने यह नहीं बताया कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों का पुत्र 'त्र्यम्बक' कौन है, जिसकी पूजा का इस मन्त्र में निर्देश किया गया है।

मूर्त्तिपूजा में पाप नहीं? स्कन्दपुराण का वचन है—

न यत्र साक्षाद्विधयो न निषेधाः श्रुतौ स्मृतौ। देशाचारकुलाचारैस्तत्र धर्मो निरूप्यते॥

अर्थात्—जहाँ श्रुति और स्मृति के आधार पर किसी विषय में साक्षात् विधि या निषेध का ज्ञान न हो, वहाँ देशाचार और कुलाचार के आधार पर ही धर्म का निरूपण किया जाता है। धर्माधर्म के ज्ञान के लिए विशेषरूप से मीमांसादर्शन की रचना की गई है। वहाँ अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए साधनरूप धर्म की जिज्ञासा की गई—'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसा० १।१।१) तो धर्म

[मूर्त्तिपूजा अधर्म है; वह सीढ़ी नहीं एक खाई है]

प्रश्न—देखो, वेद अनादि है। उस समय मूर्त्ति का क्या काम था ? क्योंकि पहले तो देवता प्रत्यक्ष थे। यह रीति तो पीछे से तन्त्र और पुराणों से चली है। जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून हो गया, तो परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सके। और मूर्त्ति का ध्यान तो कर सकते हैं। इस कारण अज्ञानियों के लिए मूर्त्तिपूजा है। क्योंकि सीढ़ी-सीढ़ी से चढ़े, तो भवन[1] पर पहुँच जाय। पहिली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे, तो नहीं जा सकता। इसलिए मूर्त्ति प्रथम सीढ़ी है।

इसको पूजते-पूजते जब ज्ञान होगा, और अन्त:करण पवित्र होगा, तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य के मारनेवाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर गोली वा गोला आदि मारता-मारता सूक्ष्म में भी निसाना मार सकता है, वैसे स्थूल मूर्त्ति की पूजा करता-करता पुन: सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियाँ गुड़ियों का खेल तबतक करती हैं कि जबतक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होतीं। इत्यादि प्रकार से मूर्त्तिपूजा करना दुष्ट काम नहीं।

उत्तर—जब वेदविहित **धर्म** और वेदविरुद्धाचरण में **अधर्म** है, तो पुन: तुम्हारे कहने से भी मूर्त्तिपूजा करना अधर्म ठहरा। जो-जो ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं, उन-उनका प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है। सुनो –

नास्तिको वेदनिन्दक: ॥१॥—मनु० २।११

का लक्षण करते हुए बताया गया—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:' (मीमांसा १।१।२) अर्थात् विधिप्रतिपाद्य अर्थ को धर्म कहते हैं। प्रवर्त्तक वचन का नाम चोदना है—जिसके श्रवण करने से प्रेरणा पाई जाये, उसे चोदना कहते हैं। चोदना, नोदना, वेदाज्ञा, उपदेश, विधि—ये सब समानार्थक हैं, जैसाकि इस सूत्र की व्याख्या में कुमारिलभट्ट ने कहा है कि 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिन:'—चोदना, उपदेश तथा विधि—ये एक ही अर्थ के वाचक हैं। भाव यह है कि धर्म वही होता है, जो विधिप्रतिपाद्य हो। विधि के लिए लोट्, लिङ् आदि लकारों का प्रयोग होता है।

ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त का मत है कि वेदानुकूल आचरण तथा वेदविरुद्ध कर्मों का सर्वथा परित्याग ही धर्म है—'प्रमाणं परमं श्रुति:'। जैमिनि के मत में 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।३।३)—वेद के विरुद्ध प्रमाण नहीं होता, अविरोध होने पर प्रामाण्य किया जा सकता है। वेद तथा वेदानुकूल अन्य शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध है कि मूर्तिपूजा अधर्म है। वेद ही सत्यधर्म का प्रतिपादक है। जो धर्म नहीं, वह अधर्म है—पाप है। इस बात को भागवतपुराण में बलपूर्वक इन शब्दों में कहा है—'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय:' (६।१।४०)। वेदाज्ञा के विपरीत मूर्त्तिपूजा से होनेवाली व्यष्टिगत हानि का उल्लेख 'अन्धन्तम: प्रविशन्ति···' इस मन्त्र में किया जा चुका है। आगे चलकर इससे होनेवाली हानियों का सविस्तर वर्णन किया गया है।

नास्तिको वेदनिन्दक:—धर्म के मूल स्रोत तथा आधार के सम्बन्ध में मनुस्मति में ये पाँच महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानव:।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

---

१. भवन पर=भवन की छत पर।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

—मनु० २।६, ८-११

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अर्थात् चारों वेद और उन वेदों के पारंगत विद्वानों के रचे हुए स्मृति-ग्रन्थ अर्थात् वेदानुकूल धर्मशास्त्र और श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न स्वभाव और श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण करनेवाले व्यक्तियों की आत्म-सन्तुष्टि—ये चार धर्म के मूल स्रोत हैं।

विद्वान् मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार और ज्ञाननेत्र करके श्रुतिप्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे।

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्त्ति और परलोक (जन्मान्तर) में सर्वोत्तम सुख को पाता है।

श्रुति को वेद जानना चाहिए और धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए। ये श्रुति और स्मृति-शास्त्र सब स्थितियों और सब बातों में कुतर्क न करने योग्य हैं, क्योंकि उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से धर्म उत्पन्न हुआ है।

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का तर्कशास्त्र के आश्रय से अपमान करता है, उसका श्रेष्ठजनों को सामाजिक बहिष्कार कर देना चाहिए, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है अर्थात् वेद के विरुद्ध आचरण करता है, वह नास्तिक कहाता है।

इससे आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि धर्माधर्म का निश्चय करने में मनु को तर्कशास्त्र से काम लेना अभिमत नहीं है। इसके विपरीत मनु यह भी कहते हैं—'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (मनु० १२।१०६)। अर्थात् जो तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है, वही धर्म के तत्त्व को समझ पाता है, अन्य नहीं। तर्क की महत्ता को दर्शाने के लिए यास्काचार्य एक इतिहास देते हैं—"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्—को न ऋषिर्भविष्यति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षन्तद् भवति" (परिशिष्ट ११।१३)। अर्थात् पूर्वकाल में ऋषियों के उठ जाने पर मनुष्य देवजनों से बोले कि अब हमारा ऋषि कौन होगा, जो हमें वेदार्थदर्शन करायेगा। तब उन देवों ने उन मनुष्यों को तर्क ऋषि प्रदान किया, जो कि मन्त्रार्थ-चिन्तन-विषयक ऊहापोह है और जिसे उन ऋषियों तथा देवों ने भी प्राप्त किया था। इसलिए ऐसे तर्क की सहायता से जो कोई भी वेदपाठी जिस किसी तत्त्वज्ञान को मन्त्रों में खोजता है, वह तत्त्वज्ञान ऋषिदृष्ट ही होता है।

वस्तुतस्तु यास्क हर किसी के मनमाने तर्क को तर्क नहीं मानते। वे ऐसे मनुष्य के ऊहापोह को ही तर्क-ऋषि समझते हैं, जो अनेक विद्याओं में प्रवीण हो, बहुश्रुत हो और तपस्वी हो। इसीलिए मनु ने 'तर्केण' से पहले 'वेदशास्त्राविरोधिना' जोड़ दिया है। इस प्रकार यहाँ 'तर्क' का अभिप्राय 'कुतर्क' से है। इसी प्रकार यहाँ वेदनिन्दक से तात्पर्य वेद के विरुद्ध आचरण करनेवाले से है। यतः मूर्त्तिपूजा करना वेदाज्ञा का उल्लंघन करना है, अतः ऐसा करनेवाला नास्तिक कहलाता है।

इस सन्दर्भ में महाभारत के अन्तर्गत शान्तिपर्व (अध्याय १८०) का एक आख्यान द्रष्टव्य है। कविनिबद्ध वक्ता के रूप में एक शृगाल इस योनि में जन्म लेने का कारण बताते हुए कहता है—

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः ।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥४७॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥२॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥३॥—म० अ० १२।९५, ९६

मनुजी कहते हैं कि जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान त्याग विरुद्धाचरण करता है, वह **'नास्तिक'** कहाता है ॥१॥

जो ग्रन्थ वेदबाह्य कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दुःखसागर में डुबानेवाले हैं, वे सब निष्फल असत्य अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥२॥

जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं, वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उनका मानना निष्फल और झूंठा है ॥३॥

हेतुवादान् प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत् ।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ॥४८॥
नास्तिकः सर्वशंकी च मूर्खः पण्डितमानिकः ।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥४९॥

अर्थ—पूर्वजन्म में मैं एक पण्डित था और कुतर्क का आश्रय लेकर वेदों की निन्दा करता था। प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान को प्रधानता देनेवाली थोथी तर्कविद्या पर ही उस समय मेरा अधिक अनुराग था।। मैं सभाओं में जाकर तर्क और युक्ति की बातें ही अधिक बोलता। जहाँ दूसरे ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक वेदवाक्यों पर विचार करते, वहाँ मैं बलपूर्वक आक्रमण करके उन्हें खरी-खोटी सुना देता। स्वयं ही अपना तर्कवाद बका करता।। मैं नास्तिक, सब पर सन्देह करनेवाला तथा मूर्ख होकर भी अपने को पण्डित माननेवाला था। यह शृगाल-योनि मेरे उसी कुकर्म का फल है।

या वेदबाह्याः—वेदाङ्ग, उपाङ्ग, उपवेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थ आदि सभी मनुष्योक्त हैं। इनके रचयिता साक्षात्कृतधर्मा लोकपुरुष थे। फिर भी मनुष्य में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना बनी रहती है। अल्पज्ञ जीव कभी भी पूर्णज्ञानी या निर्भ्रान्त नहीं हो सकता, अतः उसकी रचना के अज्ञानमिश्रित होने की सम्भावना है। अतः ऋषियों का कथन ब्रह्मवाक्य वेद के समान स्वतः प्रमाण न होकर परतः प्रमाण होगा, अर्थात् ये तथा अन्य मनुष्यकृत ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण माने जा सकते हैं, जहाँ तक वे वेद के अनुकूल हों। ईश्वरीय ज्ञान देशकाल से परिच्छिन्न नहीं होता। वही सदा अनादि और अनन्त है। वेद शाश्वत ब्रह्म का रूप है। सर्गकाल में भी उनकी उत्पत्ति नहीं, केवल अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार प्रलयकाल में उसका विनाश नहीं होता। वह मनुष्यमात्र के लिए है और सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन करता है। देशकाल से असम्पृक्त ब्रह्म का ज्ञान उसी के समान नित्यव्यापी है। देशभेद व कालभेद उन पदार्थों में आश्रय पाते हैं, जो कभी और कहीं उद्भव में आते हैं। जो ज्ञान किसी देश वा कालविशेष में सीमित रहता है, वह मनुष्यमात्र का पथप्रदर्शक होने का दावा नहीं कर सकता।

स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों की तुलना में मनुस्मृति का महत्त्व बताते हुए बृहस्पति कहते हैं—

तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। चतुर्वर्गस्योपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥

मनुस्मृति के इस महत्त्व का कारण उसका वेदानुकल होना बताकर, वेद के विरुद्ध होने पर उसकी उपेक्षा का कथन करते हुए कहते हैं—

इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि—वेदविरुद्ध को न मानना, किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना **'धर्म'** है।[1] क्योंकि वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है। इससे विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं, वेदविरुद्ध होने से झूँठे हैं, कि जो वेद से विरुद्ध चलते हैं। उनमें कही हुई मूर्त्तिपूजा भी अधर्मरूप है।

मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता, किन्तु जो कुछ ज्ञान है, वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानियों की सेवा-सङ्ग से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं। क्या पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है? नहीं-नहीं।

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वार्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

अर्थात् वेदानुकूल होने के कारण ही मनुस्मृति का महत्त्व है। वेद के विपरीत होने पर मनुस्मृति का कथन भी मान्य नहीं हो सकता। जाबालस्मृति के अनुसार 'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।' भविष्यपुराण में भी कहा है—'श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।' श्रीमध्वाचार्य ने अपने कथन की पुष्टि में प्रायः वेदों के ही प्रमाण उद्धृत किए हैं। कहीं-कहीं उन्होंने पुराणों के वचनों को उद्धृत किया है, परन्तु उनके विषय में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—

पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव च नापरः। तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति॥

अर्थात्—पुराणों के उपजीव्य (आधार ग्रन्थ) वेद ही हैं। अतः वेदविरुद्ध होने पर उन्हें कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है?

मूर्त्तिपूजा अज्ञानियों के लिए—इस विषय में पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं—

"He (idolator) is in the dark and wishes to remain in the dark. He does not want light. If you throw any beam of light upon him by interrogation, he resents it and shudders at it. He feels that mental analysis might make him a renegade and therefor avoids it. Not that he cannot reason. Among idolators you will find best lawyers whose legal argument is awe-inspiring; professors of logic whose fallacy detecting capacity is unquestionable, shrewd politicians who cleary see the inivisible forces working in the domain of world politics; traders from whose keen eye no corner of the world market is hidden; financers who can sucess-fully combat the dodges of exploiters; astronomers whose knowledge of the heavenly bodies is much more clear than their own house; and mathematicians well-versed in the intricacies of mathematical calculations. They are all intellectuals and you will find them worshipping in temples as devoutly as their uneducated brothers and sisters—side by side with them and as voguely too."

अर्थात्—वह (मूर्त्तिपूजक) अँधेरे में है और अँधेरे में ही रहना चाहता है। वह प्रकाश नहीं चाहता। यदि आप बातचीत के द्वारा उसे कुछ बतलाना चाहें तो उसे अच्छा नहीं लगेगा और वह उससे घबरायेगा। वह डरता है कि इस प्रकार की बौद्धिक बातचीत कही उसे अविश्वासी न बना दे। इसलिए वह उससे बच निकलने का प्रयास करता है। इसका कारण यह नही कि उसमें तर्क-वितर्क की क्षमता नहीं है। मूर्त्तिपूजकों में आपको अच्छे-से-अच्छे वकील मिलेंगे जो आश्चर्यजनक तार्किक बुद्धि रखते हैं और मिलेंगे चतुर राजनीतिज्ञ जो संसार-भर के राजनीतिक क्षेत्र में कार्य कर रही अदृश्य शक्तियों को सहज ही पहचान लेते हैं। तर्कशास्त्र के प्राध्यापक जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म हेत्वाभास को पकड़ने में कुशल हैं, मूर्त्तिपूजकों

---

१. द्र०—जैमिनि का वचन—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।३।३)। अर्थात् वेद से विरोध होने पर प्रामाण्य नहीं होता, अविरोध होने पर प्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है।

में मिल जायेंगे। उनमें आपको वाणिज्यकुशल व्यापारी मिलेंगे, जिनकी दृष्टि से संसार की किसी मण्डी का कोना छिपा हुआ नहीं है; अर्थशास्त्री जो शोषक वर्ग की चालों का सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकते हैं; ज्योतिषविद्याविशारद, जिनको आकाशस्थ ग्रह-उपग्रहों की अपने घर से भी कहीं अधिक जानकारी है तथा गणितज्ञ, जिन्हें गणित के सूक्ष्म तत्त्वों पर पूर्ण अधिकार है, पायेंगे। ये सभी बुद्धिजीवी लोग हैं, जिन्हें आप मन्दिरों में अनपढ़ लोगों के साथ वैसी ही भक्ति-भावना और आस्था से मूर्तिपूजा करते पायेंगे।—भारत में मूर्तिपूजा पृष्ठ १६४-६५।

इन महानुभावों की अवस्था उस व्यक्ति जैसी है, जो अन्धकार में भटक रहा हो और उसी में सन्तुष्ट हो। नाली के कीड़े की तरह वे प्रसन्नतापूर्वक उसमें विचरण करते रहते हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध समाजसुधारक राजा राममोहन राय तथा महाराष्ट्र के जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने हिन्दू जाति को मूर्तिपूजा के पाखण्ड से निकालने का यत्न किया। उन्होंने अपने लेखों में मूर्तिपूजा का विद्वत्तापूर्ण एवं युक्तियुक्त खण्डन किया है। राजा राममोहन राय ने अपने एक लेख में लिखा था—

Many learned Brahmans are perfactly aware of the absurdity of idolatory, and are well-informed of the nature of the pure mode of divine worship. But as in the rites ceremonies and festivals of idolatory they find the source and of comforts and fortunes, they, not only & never fail to protect idol worship from all attacks, but even advance and encourage it in the utmost in their power, by keaping the knowledge of their scriptures concealed from the rest of the world. Their followers too, confiding in their leaders, feel gratification in the idea of the divine nature residing in a being resembling themselves in birth, shape and propensities, and are naturally delighted with a mode of worship agreeable to the senses, though destructive of moral principles, and the fruitful parent of prejudice and superstition." (Works of Raja Rama Mohan Roy, Val. I, P. 70).

अर्थात्—बहुत से विद्वान् ब्राह्मण मूर्त्तिपूजा की निस्सारता तथा ब्रह्मोपासना की संगत और शुद्ध विधि से भलीभाँति परिचित हैं, परन्तु मूर्त्तिपूजासम्बन्धी प्रक्रियायें तथा उत्सवादि उनके लिये धनोपार्जन तथा अनेक प्रकार की सुख-सुविधाओं के साधन जुटाते हैं। अतः वे न केवल मूर्त्तिपूजा पर किये गये आक्षेपों का समाधान करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं, अपितु अपने सामर्थ्यानुसार उसके प्रचार व प्रोत्साहन में सारी शक्ति लगा देते हैं। इस कार्यसिद्धि के लिए वे धर्मशास्त्रों को भी छिपाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इनके अनुयायी भी अपने नेताओं में अन्धश्रद्धा रखते हैं। वे इस विचार में परम सन्तोष का अनुभव करते हैं कि उन जैसे ही प्राणी में, जो जन्म, आकृति और गुणों में उनके ही तुल्य है, दैवी शक्ति का निवासी है और स्वभावतः उस पूजाविधि में ही सन्तुष्ट रहते हैं, जो केवल उनके ऐन्द्रिक सुख की उपलब्धि में सहायक है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि उक्त विधि नैतिक सिद्धान्तों के लिए घातक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की जननी है।

राजा राममोहन राय अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखते हैं—

"The ground which I took in all my controversies was, not that of opposition to Brahmanism but to a perversion of it: and I endeavoured to show that the idolatory of the Brahmans was contrary to the practice of their ancestors and the principles of the ancient books and authorities which they profess to rever and obey."

अर्थात्—मैंने अपने समस्त विवादों में ब्राह्मणधर्म का विरोध नहीं किया, अपितु उसके विपर्यास का विरोध किया। मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मणधर्म की मूर्तिपूजा उनके पूर्वजों, प्राचीन धर्मग्रन्थों एवं उनके प्रमाणों के विपरीत है, जिन्हें वे अपने लिए मान्य तथा आदरणीय समझते हैं।

मूर्तिपूजा को बनाये रखने में सबसे बड़ा हाथ परम्परागत संस्कारों का है, जिनसे मुक्ति पाना नितान्त कठिन है। तत्पश्चात् बड़ा कारण स्वार्थसिद्धि है, जिसकी ओर राजा राममोहनराय ने संकेत किया है। यहाँ हमें एक घटना-सा स्मरण आता है। सन् १९३५ के आसपास सर हरिसिंह गौड़ ने केन्द्रीय धारा सभा (अब लोकसभा) में मन्दिरप्रवेश बिल प्रस्तुत किया था, जिसका उद्देश्य मनुष्यमात्र को मन्दिर में जाकर पूजा करने का अधिकार प्रदान करना था। शूद्रों (तब तक हरिजन नाम प्रचलित नहीं हुआ था) का मन्दिर में जाकर भगवान् का दर्शन करके मूर्त्ति को भ्रष्ट करना पौराणिकों (सनातन-धर्मियों) को असह्य था। इस कारण इस बिल के विरुद्ध उन्होंने देशव्यापी आन्दोलन छेड़ दिया। सनातन धर्म के दिग्गज विद्वान् इसके विरुद्ध प्रचारार्थ निकल पड़े। उन्हीं में एक महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय उनके जैसा संस्कृत का विद्वान् अन्य कोई नहीं माना जाता था। वह व्याख्यान देने के लिए होशियारपुर पहुँचे। मेरे पिता श्री पं० केदारनाथ जी दीक्षित की उनसे मित्रता थी। व्याख्यान के बाद वह उनसे मिलने उनके प्रवास पर पहुँचे। मैं भी साथ था। पिताजी ने उनसे पूछा—'आपने अपने व्याख्यान में जो कुछ कहा है, क्या आपकी बुद्धि उसे स्वीकार करती है?' यह दो मित्रों की एकान्त में बातचीत थी। चतुर्वेदीजी ने सहज-भाव से कहा—'अब इन बातों को छोड़िये, सारी आयु इन्हीं में बीत गई।' इसी में न कहकर भी वह सब कुछ कह गये।

पौराणिकों द्वारा सम्पन्न होनेवाले किसी धार्मिक कृत्य में गणेशपूजन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके बिना कर्मकाण्ड की कोई क्रिया नहीं हो सकती। हाथी की सूँडवाले पार्वतीपुत्र गणेश की गिनती वैदिक देवताओं में नहीं है। जिस वेदमन्त्र (गणानां त्वा गणपतिं हवामहे—यजुर्वेद २३।१९) को पढ़कर गणेशपूजन किया जाता है, उसमें भी गणेश का उल्लेख नहीं है, यह हम डा० सम्पूर्णानन्दजी द्वारा लिखित पुस्तक 'गणेश' के सन्दर्भ में उक्त वेदमन्त्र के पौराणिकों द्वारा मान्य भाष्यकार महीधर आदि के किये अर्थों के आधार पर सिद्ध कर चुके हैं। इसी गणेश के सम्बन्ध में आचार्य शंकर ने लिखा है—

"भो गाणपत्य सत्यमुक्तं भवता गणपतेः सर्वोत्तमत्वं बनमथावलद्रुद्राद्युत्पत्तिश्चेति भवद्भिः प्रतिपादितं किल तदसमञ्जसं प्रतिभाति। कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः रुद्रगणैः सह लयोनुगस्य जगत् कारणत्वं कल्पयितुमुचितम्। किञ्च रुद्रसुत इति लोके प्रसिद्धिरस्ति, तस्य ब्रह्मणत्वं कल्पिते पित्रादि-कारणत्वं सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिवाक्यात्।" (शंकरदिग्विजय, पृष्ठ ८४)

हे गणपति के पूजक! तुम्हारा यह कहना कि गणपति सर्वोत्तम है, सत्य नहीं है। सगुण गणेश, गजमुखवाला जो रुद्र के गुणों के साथ उत्पन्न और नष्ट होता है, वह जगत् का कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह रुद्र का पुत्र है—यह लोक में प्रसिद्ध है। उसको ब्रह्म मानोगे तो वह पुत्र होने से रुद्रादिकों का कारण नहीं होगा। इसलिए ब्रह्म ही रुद्रादिकों का कारण है। 'वही सत्यरूप सृष्टि के पूर्व था' इत्यादि उपनिषद्वाक्य इसमें प्रमाण है।

स्मृतिग्रन्थों में सर्वाधिक प्रामाणिक मनुस्मृति है—'यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः' (ताण्ड्यमहाब्राह्मण)। मनुस्मृति का कथन है—

विप्राणां दैवतं शम्भुः क्षत्रियाणां तु माधवः।
वैश्यानां तु भवेद् ब्रह्मा शूद्राणां गणनायकः॥

(परिशिष्ट—मनुस्मृति 'मन्वर्थमुक्तावली' टीका सहित, श्री पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण संवत् २०२६ विक्रमी)।

मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई, जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में मर जाता है। हाँ, **छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के सङ्ग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं,** जैसी ऊपर घर में जाने की निःश्रेणी[1] होती है। किन्तु मूर्त्तिपूजा करते-करते ज्ञानी तो कोई न हुआ, प्रत्युत सब मूर्त्तिपूजक अज्ञानी रहकर मनुष्य जन्म व्यर्थ खो के बहुत से मर गये। और जो अब हैं वा होंगे, वे भी मनुष्य-जन्म के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्तिरूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे।

मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं, किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टिविद्या है। इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को भी पाता है। और मूर्त्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं, किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुड़ियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये, जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा, तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायगा।

इस प्रकार शूद्रेतर वर्ण के लोगों को अपने धार्मिक कृत्यों में गणेशपूजन की विधि किसी भी अवस्था में नहीं करनी चाहिए।

मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं, खाई है—एक अज्ञातनामारचित अर्वाचीन ग्रन्थ के अनुसार—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिः पूजाऽधमाधमा॥

मूर्तिपूजा के दोषों को समझते हुए भी जो लोग स्वार्थवश उसका समर्थन करते हैं, वे युक्तियों का ताना-बाना बुनकर उसकी उपादेयता को सिद्ध करना चाहते हैं। गुड़ियों के खेल तथा धीरे-धीरे सीढ़ियों के सहारे ईश्वरप्राप्ति की उपमा देकर साधारण जनों को भरमाना आसान है, किन्तु चिन्तनशील व्यक्ति के लिए इस प्रकार की बातों में कोई सार नहीं है। गुड़ियों का खेल खेलनेवाली लड़कियों के जीवन में निश्चित रूप से एक समय आता है जब वे ये खेल खेलना बन्द कर देती हैं। परन्तु मूर्त्ति-पूजा करनेवाले के जीवन में ऐसा समय कभी नहीं आता। वह खेलना शुरू करता है तो मृत्युपर्यन्त खेलता ही रहता है। यह सबके प्रत्यक्ष का विषय है। इसी प्रकार जो कोई मूर्तिपूजा की सीढ़ी पर पैर रखता है, वह अन्त तक वहीं खड़ा रहता है। किसी को आगे बढ़ते—अगली सीढ़ी पर पैर रखते नहीं देखा जाता। श्री रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द का जीवन हमारे सामने है—सदा खून में लथपथ रहनेवाली कलकत्तेवाली उनकी इष्टदेवी थी। सायं प्रातः वे उसी की पूजा करते थे। स्वामी विवेकानन्द के जीवनचरित में लिखा है—

"He (Swami Vivekananda) expressed the desire to worship Mother Kali at the Matha the following day (the day of his death), and asked two of his disciples to procure all the necessary articles for the ceremony." (Vivekananda—A Biography by Swami Nikhilananda, Page 339)

अर्थात्—स्वामी विवेकानन्द ने अगले दिन (मृत्यु के दिन) मठ में माँ काली की पूजा करने की इच्छा व्यक्त की और अपने दो शिष्यों को पूजा के लिए आवश्यक सामग्री लाने को कहा।

इसी पुस्तक में पृष्ठ ६८ पर श्री रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के सन्दर्भ में लिखा है—

"On August 15, 1886, the Master's suffering become almost unbearable. After midnight he felt better for a few minutes. At two minutes past one in the early morning of August 16, Sri Ramakrishana uttered three times in a ringing voice the name of his beloved Kali and entered into the final samadhi."

---

१. अर्थात् 'निसैनी'।

[मूर्त्तिपूजा में १६ दोष]

प्रश्न—साकार में मन स्थिर होता, और निराकार में स्थिर होना कठिन है। इसलिए मूर्त्ति-पूजा रहनी चाहिए।

उत्तर—पहला साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता। क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है। और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं रहता। किन्तु उसी के गुण-कर्म-स्वभाव का विचार करता-करता आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है।

अर्थात्—१५ अगस्त १९१५ को श्री रामकृष्ण की पीड़ा असह्य हो गई। मध्य रात्रि में कुछ मिनटों के लिए पीड़ा में कमी हुई। १६ अगस्त की प्रातः १ बजकर २ मिनट पर उन्होंने तीन बार अपनी प्यारी काली माँ का नाम लिया और अन्तिम समाधि में प्रवेश कर गये।

कितना स्पष्ट है कि मरते समय भी ईश्वर की याद न श्री रामकृष्ण को आई और न स्वामी विवेकानन्द को। उस समय भी उनका मन काली की मूर्ति में रमा हुआ था और उस समय भी स्वामी विवेकानन्द को काली की मूर्त्ति को खिलाने-पिलाने की चिन्ता थी।

ऐसी अवस्था में ग्रन्थकार का मूर्तिपूजा को सीढ़ी की बजाय "एक बड़ी खाई, जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में, मर जाता है"—कहना कितना सटीक है। इन दोनों की तुलना में ऋषि दयानन्द कितने महान् थे, जो असह्य पीड़ा की अवस्था में भी यह कहते हुए—"हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, सचमुच तेरी ही इच्छा है। परमात्मदेव, तेरी इच्छा पूर्ण हो। मेरे प्रभु, तूने अच्छी लीला की" प्रणवनाद के साथ प्राणों को बाहर निकाल दिया। कितना अन्तर है साकार और निराकार के उपासकों में!

जहाँ-जहाँ अवतारवाद और गुरुडम है, वहाँ-वहाँ मूर्तिपूजा है। ग्रन्थकार को मूर्तिपूजा का इतना कटु अनुभव था कि न उन्होंने मठ बनवाया और न अपनी समाधि या स्मारक बनाने की अनुमति दी। यहाँ तक कि अपनी चिता की राख तक को खेतों में बिखरवा दिया—न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

साकार में ध्यान की स्थिति—सांख्यदर्शन में कहा है—'ध्यानं निर्विषयं मनः' (६।२५)—मन का विषयरहित हो जाना 'ध्यान' कहाता है। विषयों में अनुराग होने से मन उसी तरह चंचल बना रहता है। इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त न भी हों, पर मन की गति उस समय भी विषयों के स्मरण में लगी रहती है। भक्त या साधक के लिए आवश्यक है कि मन को विषयानुराग से हटाकर आत्मा में 'एकतानता' की स्थिति को बनाये। योगदर्शन में ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा है—'तत्र प्रत्ययैक-तानता ध्यानम्' (योग—३।२)—जिस ध्येय विषय में चित्त को धारण किया हुआ है, उसी की वृत्ति निरन्तर उदय होती रहे, उसमें विषयान्तर की वृत्ति का नितान्त उदय न हो—इस प्रकार विषयान्तर से मन का सर्वथा अछूता बने रहना 'ध्यान' का स्वरूप है। मूर्तिपूजक साकार में मन के स्थिर होने की बात कहते हैं, क्या वह शास्त्र द्वारा निर्धारित कसौटी पर खरी उतरती है?

यदि मन को स्थिर करना ही मूर्त्तिपूजा का उद्देश्य होता तो उसमें प्राणप्रतिष्ठा के समस्त विधि-विधान की क्या आवश्यकता थी? मूर्त्तियों के स्नान, चन्दन-लेपन, परिधान तथा अलंकारों से उन्हें सजाने की क्या आवश्यकता थी? भोग लगाने, आरति उतारने, चँवर डोलाने, पंखा करने, सुलाने और जगाने का क्या अभिप्राय है? मूर्ति के सामने खड़े होकर उसके आगे हाथ जोड़ने अथवा

और जो साकार में स्थिर होता, तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता। क्योंकि जगत् में मनुष्य स्त्री पुत्र धन मित्र आदि साकार में फँसा रहता है। परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जब तक निराकार में न लगावे। क्योंकि निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है। इसलिए मूर्त्तिपूजन करना अधर्म है।

दूसरा—उसमें क्रोड़ों रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं। और उसमें प्रमाद होता है।

तीसरा—स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार लड़ाई-बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं।

चौथा—उसी को धर्म-अर्थ-काम और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थ-रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है।

दण्डवत् साष्टांग प्रणाम करने का क्या तात्पर्य है? क्या शंख, घण्टा, घड़ियाल आदि का कोलाहल मन को स्थिर रखने में सहायक होता है? वस्तुतः मन्दिरों में प्रचलित पूजा-पद्धति में मन को स्थिर रखने का कोई प्रावधान नहीं है।

मन्दिरों का जिस ढंग से निर्माण किया जाता है, उससे यह स्वतः सिद्ध है कि उनका और उनमें स्थापित मूर्त्तियों का मन की स्थिरता से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि मूर्त्तिपूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करने मे सहायक होना होता तो उनकी बनावट दूसरे ही प्रकार की होती। बहुत से बड़े-बड़े मन्दिरों में उपासक यदि आसन लगाकर मन को स्थिर करने की भावना से मूर्त्ति के सम्मुख बैठें तो उन्हें मूर्ति का दिखाई पड़ना ही कठिन हो जायगा। या फिर शिवालय इतने संकीर्ण होते हैं कि वहाँ एक समय में चार-छह उपासक भी नहीं बैठ सकते। मध्य में शिवलिंग, एक ओर पार्वती, दूसरी ओर उनके पुत्र गजानन, तीसरी ओर उनका वाहन वृषभ। अब उपासक किस पर अपना मन स्थिर करे? यदि शिवलिंग पर, तो वहाँ पर अन्य मूर्त्तियों की स्थापना का क्या प्रयोजन? लोगों को वृषभनन्दी की पूजा करते भी देखा जा सकता है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार मन्दिरों का निर्माण यह सिद्ध करता है कि मूर्तियों की स्थापना मन को स्थिर करने के प्रयोजन से नहीं की गई। यदि मूर्त्तिपूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मूर्ति की स्थापना किसी खुले स्थान में होती, जिसके चारों ओर बैठकर उपासक योग के छठे अंग 'धारणा' का अभ्यास कर सकते। जब तक मन किसी भी सांसारिक वस्तु में लगा रहेगा, परमात्मा का ध्यान नहीं होगा। जब किसी भी वस्तुविशेष का (जिसमें ईश्वर और बाह्य-जगत् दोनों सम्मिलित हैं) ध्यान किया जायगा तो उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। यदि किसी मूर्त्ति को सम्मुख रखकर उसकी धारणा अथवा ध्यान किया जायगा तो उस मूर्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त होगा। अर्थात् यह मूर्त्ति किसकी है; किस वस्तु (मिट्टी, धातु आदि) की बनी है; किसने बनाई है, कहाँ बनी है, कैसी बनी है। इस प्रकार मूर्त्ति का ध्यान करने से मूर्त्ति, मूर्त्तिकार और उसके कला-कौशल का ही ज्ञान होगा, परमात्मा का नहीं। मूर्त्ति द्वारा हम केवल मूर्त्तिकार तक पहुँच सकते हैं। सूर्य, चन्द्रादि पदार्थों का ध्यान हमें उनके निर्माता परमेश्वर की स्मृति दिला सकता है।

किन्तु मूर्त्तिपूजक को धारणा, ध्यान, समाधि की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ तो मन्दिर में जाकर मूर्ति के दर्शनमात्र से अथवा मन्दिर की ड्योढ़ी की चौखट के स्पर्शमात्र से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में नवभारत टाइम्स दिल्ली के ७ मई १९९१ के अंक में प्रकाशित यह समाचार द्रष्टव्य है—"जैनाचार्य मुनि विद्यानन्दजी ने महावीरजी में रविवार ६ मई को धर्मसभा को सम्बोधित करते हुए बताया—प्राणप्रतिष्ठा के बाद पाषाण की प्रतिमा की वीतरागी मुद्रा के दर्शन करने मात्र से

सारे पापों की निर्जरा होने लगती है। दर्शन करने के लिए मन्दिर जाने के विचारमात्र से पापों का नाश होने लगता है।".

जैनमत का अनुसरण करनेवाले पौराणिकों में मान्य भविष्यपुराण वा० अ० १७ में लिखा है--

नैरन्तर्येण यः कुर्यात् पक्षं सम्मार्जनार्चनम्। युगकोटिशतं साग्रं ब्रह्मलोके महीयते॥
कपटेनापि यः कुर्याद् ब्रह्मशालां सुमानद। संमार्जनादि वै कर्म सोऽपि तत् फलमाप्नुयात्॥
कल्पकोटिसहस्रैस्तु यत् पापं समुपार्जितम्। पितामहघृतस्नानं दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥

अर्थ—एक पक्ष तक यदि कोई निरन्तर ब्रह्मा के मन्दिर में झाड़ू देवे तो वह एक अरब युग तक ब्रह्मलोक में रहता है। जो कोई कपट और छल से भी ब्रह्मा के मन्दिर में झाड़ू और लेपनादि करता है, उसको भी वही फल मिलता है जो श्रद्धा से करनेवाले को मिलता है। करोड़ों कल्पों में जो पाप संचित किया है, वह ब्रह्मा को घी से स्नान कराने से दूर हो जाता है।

इस प्रकार पुराणों में स्नान; मार्जन, आचमन, धूप, दीप, मन्दिरनिर्माण अनेक कृत्य, जो देवमूर्त्तियों के प्रति किये जाते हैं, उनका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया जाता है। इससे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि मूर्त्तिपूजा का ध्यान या मन की स्थिरता से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोगों की धार्मिक भावनाओं से खिलवाड़ करके उनका शोषण करनेवाले असामाजिक तत्त्वों का धन्धा है।

मूर्त्तिपूजा से हानियाँ—मन्दिरों के निर्माण, साज-सज्जा, रख-रखाव तथा पूजा-अर्चना आदि पर राष्ट्र का करोड़ों रुपया व्यर्थ व्यय होता है और उसकी अपार सम्पत्ति शत्रुओं के आक्रमण का कारण बनती है। यदि भारत के समस्त देवालयों की सम्पत्ति का सदुपयोग राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में व्यय किया जाय तो उससे देश का अनेकविध विकास हो सकता है। तिरुपति, नाथद्वारा, वैष्णोदेवी आदि के मन्दिरों में से एक-एक की आय से एक-एक विश्वविद्यालय चल सकता है। समस्त मन्दिरों की सामूहिक आय से देश भर में विद्यालयीय शिक्षा निःशुल्क दी जा सकती है। धनी लोग तथा संगठन अपनी लोकैषणा की तुष्टि के लिए, नित्य नये और एक-से-एक बढ़कर भव्य मन्दिरों का निर्माण करते जाते हैं, जबकि समाज के कल्याणकारी कार्यों के लिए उनकी जेब सदा खाली रहती है।

जिन मन्दिरों और धर्मस्थानों में स्त्री-पुरुषों का अमर्यादित आवागमन रहता है, वहाँ व्यभिचारवृद्धि स्वाभाविक है। ग्रन्थकार ने बम्बई में वल्लभ सम्प्रदायानुयायी गोस्वामी महाराजों के काले कारनामों को प्रत्यक्ष देखा सुना था। महाज लाइबल केस (Libel Case) के द्वारा किस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में होनेवाली पाप-लीलाओं का भण्डाफोड़ हुआ था, यह उस समय के समाचारपत्रों तथा अन्य प्रकाशित साहित्य (वल्लभकुलदम्भदर्पण, वल्लभकुलचरित्रदर्पण, वल्लभकुल छल-कपट दर्पण आदि) से स्पष्ट हो जाता है।

मनुष्य की स्वभाव से धार्मिक प्रवृत्ति होती है। ईश्वरोपासना और धर्म का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाना है। परन्तु मूर्त्तिपूजा ऐसी विधि है, जो उसे मूर्ख बनाये रखना चाहती है। स्वार्थी पण्डे पुजारी उन्हें उपदेश देते हैं कि मूर्त्ति के आगे हाथ जोड़ो और जो कुछ चढ़ावा अपने हाथ लाये हो, उसे हमारे हवाले करके चलते बनो। बस यही पूजा है। इससे मनुष्य भीरु और अन्धविश्वासी बनकर 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की भाँति मार्ग से भटक जाता है। यही कारण है कि शताब्दियों के अज्ञान और अन्धकार के पश्चात भी जनसाधारण का जीवन मूर्त्तियों के निरन्तर सम्पर्क में रहनेवाले

पाँचवाँ—नाना प्रकार की विरुद्धस्वरूप नामचरित्रयुक्त मूर्त्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होके विरुद्धमत में चलकर आपस में फूट वढ़ाके देश का नाश करते हैं।

छठा--उसी के भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य-स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है। और आप पराधीन भठियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध दुःख पाते हैं।

सातवाँ—जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें, तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली प्रदान करता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्त्तियाँ धरते हैं, उन दुष्ट-बुद्धिवालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे?

आठवाँ—भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते। धर्म संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते। चोर आदि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं।

नववाँ- दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं। वे उस धन को वेश्या-परस्त्रीगमन, मद्यमांसाहार, लड़ाई बखेड़ों में व्यय करते हैं। जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है।

दशवाँ—माता-पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्त्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं।

ग्यारहवाँ—उन मूर्त्तियों को कोई तोड़ डालता, वा चोर ले जाता है, तब हा-हा करके रोते रहते हैं।

बारहवाँ—पुजारी परस्त्रियों के सङ्ग, और पुजारिन परपुरुषों के सङ्ग से प्रायः दूषित होकर स्त्री-पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं।

तेरहवाँ--स्वामी-सेवक की आज्ञा का पालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

चौदहवाँ--जड़ का ध्यान करनेवाले का आत्मा भी जड़बुद्धि हो जाता है। क्योंकि ध्येय का जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है।

पन्द्रहवाँ--परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनाये हैं। उनको पुजारीजी तोड़ताड़कर, न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायुजल की शुद्धि करती, और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता है, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल सड़कर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिए पुष्पादि सुगन्धियुक्त पदार्थ रचे हैं?

पण्डे-पुजारियों (पूजा + अरियों) की अपेक्षा आज भी अच्छा है। मोक्षप्राप्ति का तो एकमात्र साधन ज्ञान और तदनुसार आचरण ही है।

मूर्त्तिपूजा से साम्प्रदायिक विद्वेष--विभिन्न सम्प्रदायों के द्वारा संचालित मठ व मन्दिर अपने-अपने इष्टदेवों व उनकी अर्चना को महत्त्व देते हैं। इसलिए मन्दिरों और उनके पुजारियों की पारस्परिक स्पर्धा समाज को विभिन्न वर्गों में बाँटकर राष्ट्रिय एकता को कमजोर करती है। एक-दूसरे के इष्टदेव की निन्दा-स्तुति के कारण लोग अन्ततः एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं।

सोलहवाँ—पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चन्दन और अक्षत आदि सबका जल और मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर सड़के इतना उससे दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का। और सहस्रों जीव उसमें पड़ते, उसी में मरते और सड़ते हैं।

ऐसे-ऐसे अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिए पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को सर्वथा त्यक्तव्य है। और जिन्होंने पाषाणमय मूर्त्ति की पूजा की है करते हैं और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

समस्त पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा शक्ति की पूजा का ही विशेष रूप से वर्णन है। किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय का पुराण अपने-अपने उपास्य देव को ही सर्वोपरि बताते हुए दूसरे सम्प्रदायों के उपास्यदेवों की निंदा करता है। वैष्णवपुराण विष्णु को महान् और शेष ब्रह्मा, शिव तथा शक्ति को निकृष्ट सिद्ध करते हैं और उनके उपासकों को नरकगामी बताते हैं। इसी प्रकार शिवपुराण शिव की महानता तथा अन्य देवों की निन्दा करता है। शाक्तों के पुराण देवीभागवत में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की बड़ ही कठोर शब्दों में आलोचना की गई है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति निःसंकोच अपशब्दों का प्रयोग करता है। इतना ही नही, इन पुराणों में इन देवों के पारस्परिक तुमुल युद्ध और जय, पराजय का भी वर्णन है, जिसका कुछ दिग्दर्शन हम पाठकों को आगे करा रहे हैं।

पौराणिक काल की उपर्युक्त साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि चाहे मूर्तिपूजा का आदिकारण कुछ भी रहा हो; किन्तु कालान्तर में इसका विस्तार व्यावसायिक बुद्धि से हुआ और आज भी यही भावना, इसकी असारता और दोषों को जानते हुए भी, इसके परित्याग में बाधक है। जिस प्रकार एक दुकानदार अपनी वस्तुओं को सर्वश्रेष्ठ और दूसरे की वस्तुओं को निकृष्ट बताकर ग्राहकों को अपनी दुकान पर खींचने का प्रयत्न करता है, ठीक यही दशा इन सम्प्रदायों की है। वे अपना देवता एवं तिलक छाप की प्रशंसा तथा दूसरों की निंदा करके अपनी-अपनी दुकान जमाने का प्रयत्न करते हैं, अन्यथा यदि समस्त उपास्य देवों में एक ही ईश्वर की भावना होती तो इस प्रतिद्वन्द्विता का कोई कारण ही नहीं था। बहु-देवतावाद का यह स्वाभाविक दुष्परिणाम है। पौराणिक काल की यही व्यवसायपूर्ण साम्प्रदायिक स्पर्धा आर्यजाति की आंतरिक कलह का मुख्य कारण थी। उसी मनोवृत्ति का संक्षेप में हम यहाँ थोड़ा दिग्दर्शन करायेंगे।

विष्णु तथा विष्णु के अवतारों की प्रशंसा करते हुए पद्म-पुराण में लिखा है—

राघवः सर्वदेवानां पावनः पुरुषोत्तमः ॥११५॥
स्पृष्टा दृष्टाश्च तेनैव विमलाः शकरादयः ॥११६॥

—पद्म पु० उत्त० खं० अ० २२५

सब देवों में पवित्र पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र हैं। जिनके स्पर्श और दर्शन से महादेवादि निर्मल हो गए।

कस्तेन तुल्यतामेति देवदेवेन विष्णुना। यस्यांशांशावतारेण विना सर्वं विलीयते ॥३२७॥

—प० पु० पाताल खं० ९७

देवों के देव विष्णु की बराबरी कौन कर सकता है? जिसके अंशांश अवतार के बिना सब विलीन हो जाते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रुद्रादिदैवतैः। समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेत्सदा ॥६॥

—प० पु० उत्तर ख० अ० २६३

जो विष्णु को ब्रह्मा और रुद्रादि देवों के समान समझता है, वह सदा पाखण्डी है।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः। न स्प्रष्टव्या न वक्तव्याः न द्रष्टव्याः कदाचन ॥११॥

—प० पु० उ० खं० अ० २६३

अधिक क्या कहें जो विष्णु के सिवाय किसी भी देवता को मानेगा, उससे बात करना, उससे छूना तथा उसको देखना पाप है।

अनर्च्या ब्रह्मरुद्राद्या रजस्तमोविमिश्रिताः। त्वं शुद्धसत्त्वगुणवान् पूजनीयोग्रजन्मनाम् ॥६०॥

ब्रह्मा और शिव रजोगुण और तमोगुण मे युक्त हैं, अतः ये पूजने योग्य नहीं हैं। हे विष्णु आप सतोगुणयुक्त हो, अतः आप ही ब्राह्मणों द्वारा पूजे जाने योग्य हैं।

इतरेषां तु देवानामन्नं पुष्पं जलं तथा। अस्पृश्यन्तु भवेत्सर्वं निर्माल्यं सुरया समम् ॥६३॥

अन्य देवताओं का अन्न, पुष्प और जल छूने योग्य भी नहीं है, किन्तु सारा चढ़ावा मदिरा के समान होता है।

इसी पुराण में शिवजी द्वारा ही उनकी निन्दा निम्न श्लोकों में कराई गई है—

देवतानां हितार्थाय वृत्तिः पाषण्डिनां शुभे। कपालचर्मभस्मास्थिधारणां तत्कृतं मया ॥५३॥

ये मे मतमाश्रित्य चरन्ति पृथिवीतले। सर्वधर्मैश्च रहिताः पश्यन्ति निरयं सदा ॥६०॥

—प० पु० उ० खं० अ० २६६ आनन्द आश्रम प्रेस पूना

शिवजी कहते हैं—हे शुभ पार्वती देवों के हित के लिये कपाल, भस्म और अस्थि रखनेवाली पाखण्डियों की वृत्ति मैंने धारण की है। जो मेरे मत को धारण कर पृथिवी पर आचरण करेंगे, वे सारे धर्मों से भ्रष्ट होकर नरक को देखेंगे।

पुरा कदाचिद्योगीन्द्र विष्णुर्विषधरासनः। सुष्वाप परया भूत्या स्वानुगैरपि सुवृतः ॥१॥

यदृच्छयागतस्तत्र ब्रह्मा ब्रह्म विदांवरः। अपृच्छत् पुण्डरीकाक्षं शयानं सर्वसुन्दरम् ॥२॥

कस्त्वं पुरुषवच्छेषे दृष्टवान् मामपि दृप्तवत्। उत्तिष्ठ वत्स मां पश्य तव नाथमिहागतम् ॥३॥

आगतं गुरुमाराध्यं दृष्ट्वा यो दृप्तवच्चरेत्। द्रोहिणस्तस्य मूढस्य प्रायश्चित्तं विधीयते ॥४॥

इति श्रुत्वा वचः क्रुद्धो बहिः शान्तवदाचरन्। स्वस्ति ते स्वागतं वत्स तिष्ठ पीठमितो विश ॥५॥

ब्रह्मोवाच—

किमुते व्यग्रवद्वक्तं विभाति विषमेक्षणम्। वत्सविष्णो महामानमागतं कालवेगतः ॥६॥

विष्णुरुवाच—

पितामहश्च जगतः पाता च तव वत्सक। मत्स्थं जगदिद वत्स मन्ये त्वं हि चोरवत् ॥७॥

नन्दिकेश्वर उवाच—

अहमेव वरो न त्वमहं प्रभुरहं प्रभुः। परस्परं हन्तुकामौ चक्रतुः समरोद्यमम् ॥८॥

—शिवपुराण विद्ये० खं० १ अ० ६

हे योगीन्द्र! आगे एक समय विष्णु भगवान् शेष शय्या पर अपने गरुड़ आदि पार्षदों से संयुक्त लक्ष्मी सहित शयन करते ॥१॥ उस समय ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी अपनी इच्छा से ही वहाँ आये और सब प्रकार सुन्दर सेज पर शयन करते हुए कमललोचन विष्णुजी से पूछने लगे ॥२॥ तुम कौन हो जो मुझे देखकर अभिमानी पुरुष के समान शयन करते हो? हे वत्स! उठो, देखो मैं तुम्हारा स्वामी आया हूँ ॥३॥ आये हुए गुरु को देखकर जो अभिमान करता है, उस द्रोही मूढ़ का प्रायश्चित्त होना उचित है ॥४॥ यह सुनकर विष्णुजी के अन्तर में तो क्रोध हुआ; परन्तु बाहर से शान्त रहे और

बोले हे वत्स ! तुम्हारा मंगल हो, बैठो, इस आसन पर विराजो ॥५॥ इस समय तुम्हारा नेत्र कुटिल और मुख व्यग्र हो रहा है। ब्रह्माजी बोले हे वत्स ! विष्णु ! तुमको समय के प्रभाव से अभिमान है ॥६॥ हे पुत्र ! मैं तुम्हारा रक्षक और जगत का पिता हूँ। विष्णुजी बोले, यह तो सब जगत् मुझमें स्थित है, तुम चोर के समान किस प्रकार अपना कहते हो ॥७॥ मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं स्वामी हूँ, ऐसा कहकर एक दूसरे को मारने की इच्छा से वे दोनों युद्ध करने को तैयार हो गये ॥८॥

स्व-सम्प्रदाय के तिलक, कंठी आदि बाह्य चिह्नों की प्रशंसा तथा अन्य सम्प्रदायों के चिह्नों की निन्दा भी इस साम्प्रदायिक संघर्ष का एक विशेष अंग था। वैष्णव सम्प्रदाय के ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र चिह्नों की प्रशंसा एवं शैवों के भस्म धारण करने की निन्दा का नमूना नीचे देखिये—

न तस्य किंचित् श्रेयादपि क्रतुसहस्रिणः। सर्ववेदविदो वापि सर्वशास्त्रविशारदः ॥४२॥
अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मणः पतितो भवेत्। ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु शङ्खचक्रविवर्जितः ॥४३॥
तं गर्दभे समारोप्य बहिः कुर्यात् स्वपत्तनात् ॥४४॥ —पद्म पु० उ० । अ० २५३

जो हजार यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेद वा सर्वशास्त्रों का ज्ञाता हो, तथापि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र धारण नहीं करता, वह ब्राह्मण पतित हो जाता है। ऐसे लोगों को गधे पर चढ़ाकर नगर से बाहर निकाल देना चाहिये। आगे और देखिये—

यच्छरीरं मनुष्याणामूर्ध्वपुण्ड्रविवर्जितम्। द्रष्टव्यं नैव तत् किंचित् श्मशानसदृशं भवेत् ॥१२॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु संध्याकर्मादिकं चरेत्। तत् सर्वं राक्षसैर्नीतं नरकं चाधिगच्छति ॥१३॥

जिस मनुष्य के मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र न हो, उसको कभी भी नहीं देखना चाहिये। वह मस्तक श्मशान के सदृश है ॥१२॥ जो मनुष्य ऊर्ध्वपुण्ड्र के बिना संध्यादि करता है, वह नरक को जाता है ॥१३॥

ब्राह्मणः कलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि। वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥१६॥

यदि कुलीन ब्राह्मण माथे पर भस्म लगावे, तो उसका मदिरा से भरे घट के समान दर्शन न करे ॥१६॥

शिवपुराणादि शैव ग्रंथ, शिव की प्रशंसा से परिपूर्ण हैं, किन्तु विष्णु, ब्रह्मा एवं शक्ति की उपासना तथा उनके बाह्य चिह्नों की भरपूर निन्दा करते हैं। शिवपुराण केवल शिव को ही ब्रह्म बताता है, शेष देवता अथवा अवतार उसकी दृष्टि में जीवमात्र हैं—

शिवैको ब्रह्मरूपत्वान्निष्कलः परिकीर्तितः ॥१०॥
निष्कलत्वान्निराकारं लिंगं तस्य समागतम् ॥११॥
अब्रह्मत्वात्तदन्येषां निष्कलत्वं नहि क्वचित् ॥१३॥
ब्रह्मत्वाच्च जीवत्वात्तथान्ये देवता गणाः ॥१४॥
जीवत्वं शंकरान्येषां ब्रह्मत्वं शंकरस्य च ॥१५॥
शिवान्येषां च जीवत्वात् सकलत्वाच्च सर्वतः ॥२२॥

—शि० पु० विद्ये० सं० अ० ५

शिव ही एक ब्रह्मरूप होने से निष्कल कहलाते हैं ॥१०॥ निष्कल होने से निराकार ही उसका स्वरूप और चिह्न है ॥११॥ शिवजी को छोड़कर और देवता ब्रह्म नहीं, अतः वे निष्कल नहीं हो सकते ॥१३॥ दूसरे देवता ब्रह्म नहीं जीव हैं ॥१४॥ शंकर के अतिरिक्त औरों में जीवत्व और शंकर में ब्रह्मत्व है ॥१५॥ शिव से अन्य देवता जीवरूप होने से सब प्रकार कलायुक्त ही हैं (निष्कल नहीं) ॥२२॥

शिवसामान्यवक्तारं शिवसामान्यदर्शिनम्।
दृष्ट्वा स्नायात् सचैलं सन् शिवसामान्यसङ्गिनम् ॥७५॥

जो शिव के समान अन्य देवों को बतलाता है, वो शिवसमान देखता है, उसको देखकर कपड़ों सहित स्नान करना चाहिए।

महेशस्येव दासोऽयं विष्णुस्तेनानुकम्पितः ॥५॥

यह बेचारा विष्णु, शिवजी का दास है।

इन्द्रोपेन्द्रादयः सर्वे महेशस्यैव किङ्कराः ॥६॥

इन्द्रादि सब देवता शिव के ही दास हैं।

तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते। षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥१७॥

—लिङ्ग पु० उत्तर भाग। अ० ११

जो मनुष्य विष्ण, ब्रह्मादि को शिव के समान कहता है, वह साठ हजार वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा बनेगा।

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवता। स नृपः सह देशेन रौरवं नरकं व्रजेत् ॥३५॥
शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च। स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते ॥३६॥

—लिङ्ग पु० उत्तरभाग। अ० ११

शिवलिङ्ग की पूजा छोड़कर जो अन्य देवताओं की पूजा करता है, वह राजा अपने देश सहित रौरव नरक में जाता है। जो राजा शिव की भक्ति न करके अन्य देव की भक्ति करता है, वह उस युवति के समान है, जो अपने पति को छोड़ कर जार पुरुष के साथ भोग करती है॥३६॥

शैवग्रन्थों में शिव द्वारा ब्रह्मा तथा विष्णु को युद्ध में पराजित करने का भी अनेक स्थानों पर वर्णन है। शिवाज्ञा से भैरव ने ब्रह्मा का पाँचवा शिर काट लिया और शिवजी ने विष्णु-अवतार नरसिंह की जो दुर्दशा की, उसका वर्णन पुराणों के ही शब्दों में हम नीचे देते हैं—

नन्दिकेश्वर उवाच—

ससर्जाथ महादेवः पुरुषं कंचिदद्भुतम्। भैरवाख्यं भ्रुवो मध्याद् ब्रह्मदर्पजिघांसया ॥१॥
स वै तदा तत्र पतिं प्रणम्य शिवमांगणे। किं कार्यं करवाण्यत्र शीघ्रमाज्ञापय प्रभो ॥२॥
वत्स योऽयं विधिः साक्षाज्जगतामाद्यदैवतम्। नूनमर्च्चय खड्गेन तिग्मेन जवसा परम् ॥३॥

स वै गृहीत्वैककरेण केशं, तत्पंचमं दृप्तमसत्यभाषिणम्।
छित्वा शिरो ह्यस्य निहन्तुमुद्यतः प्रकम्पयन् खड्गमतिस्फुटं करैः ॥४॥
पिता तवोत्सृष्टविभूषणांबरस्रगुत्तरीयामलकेशसंहितः।
प्रवालरंभेव लतेव चंचलः पपात वै भैरवपादपकजे ॥५॥

नन्दिकेश्वर बोले—तब महादेवजी ने ब्रह्माजी का मद दूर करने के लिए अपनी भृकुटी के मध्य से एक अद्भुत पुरुष भैरव की रचना की ॥१॥ उत्पन्न होते ही समरांगण में उस पुरुष ने शिवाजी को प्रणाम किया और कहा भगवन्! मैं क्या करूँ? शीघ्र आज्ञा दीजिए ॥२॥ शिवजी ने कहा—हे वत्स! यह जो जगत् के आदि देवता ब्रह्मा हैं, इनकी तीक्ष्ण धारवाले वेगवान् खड्ग से पूजा करो अर्थात् प्रहार करो ॥३॥ यह सुनते ही भैरव ने एक हाथ से केश पकड़कर ब्रह्माजी का पाँचवाँ असत्यभाषी शिर काटते हुए खड्ग से उनके और भी शिर काटने की इच्छा की ॥४॥ तब तुम्हारे पिता ब्रह्माजी आभूषण, माला और उत्तरीय वस्त्र त्याग केश खोले हुए, वायुवेग से केला और लता के समान कम्पित, भैरव के चरणों में गिर पड़े ॥५॥

सहस्रबाहुर्जटिलश्चन्द्रार्द्धकृतशेखरः। समृद्धोऽग्रशरीरेण पक्षाभ्यां चञ्चुना द्विजः ॥८॥

अति तीक्ष्णो महादंष्ट्रो वज्रतुल्यनखायुधः। कण्ठे कालो महाबाहुश्चतुष्पाद् वह्निसन्निभः ॥९॥
हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टबलविक्रमः। बिभ्रद्धामसहस्रांशोरधः खद्योतविभ्रमम् ॥१२॥
अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादान् विदारयन्। पादान्बबन्धे पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम् ॥१३॥
भिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम्। ततो जगाम गगनं देवैस्सह महर्षिभिः ॥१४॥
उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षघातविमोहितम्। हरिर्हरस्तं वृषभं विवेशानन्त ईश्वरः ॥१६॥

सहस्रों भुजाधारी, जटा रक्खे, अर्धचन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये, भयंकर शरीर से युक्त पंखों तथा चोंच से शोभायमान ॥८॥ अति तीक्ष्ण दाढ़ोंवाले, वज्र के समान नख रूप शस्त्र धारे, कण्ठ में काल, दीर्घ भुजावाले चार चरण सहित अग्नि के समान शंकर नृसिंह के सामने प्रकट हुए ॥९॥ उनके दर्शनमात्र से नृसिंह का बल पराक्रम नष्ट हो गया, जैसे सूर्य के तेज से जुगनू का तेज नष्ट हो जाता है ॥१२॥ तब अपने पक्षों को घुमाकर नाभि और चरणों को विदीर्ण करते हुए तथा पूँछ से पैरों को और दोनों भुजाओं से नृसिंह की भुजाओं को बाँधा ॥१३॥ भुजाओं से हृदय को भेदन करते हुए शिव ने उन नृसिंहरूपधारी विष्णु को ग्रहण किया और देवता-महर्षियों के देखते-देखते आकाश को चले गये ॥१४॥ उड़-उड़कर भगवान् शिव ने पक्षों से विष्णु को व्याकुल कर दिया, तब विष्णु बल के नीचे छुप गये ॥१६॥

यह सम्प्रदाय भी, शैव चिह्नों की प्रशंसा तथा अन्यों की निन्दा में दूसरे सम्प्रदायों से पीछे नहीं है। इसकी दृष्टि में जो लोग भस्म, त्रिपुण्ड्र तथा रुद्राक्ष धारण नहीं करते, वे पातकी हैं—

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाचरन्ति ये। तेषां नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वितः ॥१३॥
ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रीयनिर्णयः ॥१६॥—दे० भा० स्कं० ५ अ० ६

जो भस्म और त्रिपुण्ड्र को श्रद्धा से धारण नहीं करते, उनका वर्णाश्रमयुक्त आचरण नहीं है ॥१३॥ वे महापातकी हैं यह शास्त्रीय निर्णय है ॥१६॥

नाश्नीयाज्जलमन्नमल्पमपि वा भस्माक्षधृत्या विना।
भुक्त्वा वाथ गृही वनी यतिमती वर्णी तथा संकरः।
एनोभुङ् नरकं प्रयाति ॥४३॥

धिग्भस्मरहितं भालं धिग्ग्रामं शिवालयम्। धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामशिवाश्रयाम् ॥४५॥
ते वै संकरसूकरासुरखरश्वक्रोष्टकीटोपमाः। जाता एव भवन्ति पापपरमास्ते नारकाः केवलम् ॥४७॥

—दे० भा० ५-९

जो भस्म और रुद्राक्ष धारण नहीं करते, उनका थोड़ा भी अन्न-जल ग्रहण न करे। गृहस्थी, वनी, यति, वर्णी अथवा संकर जाति, इनके यहाँ का भोजन करके पाप खानेवाला होता है और नरक को जाता है ॥४३॥ भस्मरहित मस्तक, शिवालयरहित ग्राम, ईश के अर्चनरहित जन्म, शिवाश्रयहीन विद्या को धिक्कार है ॥४५॥ जो तीनों जगत् के आधार शंकर की निन्दा करता है और जो त्रिपुण्ड्र धारण करनेवाले की निन्दा करते हैं, उनके दर्शन में दोष है ॥४६॥ वे निश्चय ही वर्णसंकर, शूकर, असुर, खर, श्वान, गीदड़, कीट के समान हैं। वे पापरूप उत्पन्न हुए हैं। केवल नरक में ही जाने को जन्म लिया है ॥४७॥

देवीभागवत शाक्तों का एकमात्र पुराण है। इसने विष्णु, तथा विष्णु-अवतार राम, कृष्णादि की निन्दा करने में कोई कोरकसर नहीं छोड़ी। सबको ही जी भरकर नीचा दिखाया है। अवतारों को पिछले दुष्कर्म तथा शापों का परिणाम बताया है। शिव और ब्रह्मा की निन्दा तथा निकृष्टता का भी स्थान-स्थान पर वर्णन है।

देवीभागवत में एक कथा आती है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवी के दर्शन करने गये। देवी ने तीनों को स्त्री बना दिया। ब्रह्मा कहते हैं कि हे नारद ! मैंने जो वहाँ देखा, सुनो—

शृणु नारद सं वक्ष्यामि यद्दृष्टं तत्र चाद्भुतम् । नखदर्पणमध्ये वै देव्याश्चरणपंकजे ॥१४॥
ब्रह्माण्डमखिलं सर्वं तत्र स्थावरजंगमम् । अहं विष्णुश्च रुद्रश्च वायुरग्निर्यमो रविः ॥१५॥
वरुणः शीतगुस्त्वष्टा कुबेरः पाकशासनः । पर्वताः सागरा नद्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥१६॥
वैकुण्ठो ब्रह्मलोकश्च कैलासः पर्वतोत्तमः । सर्वं तदखिलं दृष्टं नखमध्यस्थितं च नः ॥१९॥
मज्जन्म पंकजं तत्र स्थितोऽहं चतुराननः । शेषशायी जगन्नाथस्तथा च मधुकैटभौ ॥२०॥
विष्णुश्च विस्मयाविष्टः शंकरश्च तथा स्थितः । तां तदा मेनिरे देवी वयं विश्वस्य मातरम् ॥२२॥

—दे० भा० स्कं० ३ अ० ४ (वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई)

देवी के चरणकमल के नख के मध्य में सब स्थावर जंगम ब्रह्माण्ड तथा विष्णु, रुद्र, वायु, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, त्वष्टा, कुबेर, पर्वत, सागर, नदी, गन्धर्व, अप्सरा, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक, पर्वतों में उत्तम कैलाश, यह सब वस्तु हमने स्थित देखीं (१४, १५, १६, १९) । और कमल के मध्य से अपना जन्म तथा कमल पर अपने को स्थित देखा । शेषशायी जगन्नाथ और मधुकैटभ को देखा ॥२०॥ विष्णु और शंकर भी आश्चर्य में मग्न हुए । तब हम सबने विश्व की माता को पहचाना ॥२२॥

तदनन्तर अत्यन्त नम्र तथा दीनभाव से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव द्वारा देवी की स्तुति का विस्तृत वर्णन है, जिसे विस्तरभय से हम यहाँ उद्धृत नहीं करते ।

विष्णु के अनेक अवतारों का कारण भृगु ऋषि का शाप बताते हुए देवीभागवत में विष्णु को अत्यन्त अपमानित करने का प्रयत्न किया गया है । इन्द्र के कहने पर विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से भृगु की पत्नी का शिर काट लिया । उसके मरने पर दुःखी होकर भृगु ने जो शाप दिया, वह निम्नांकित है—

अकृतं ते कृतं विष्णु जानन् पापं महामते । वधोऽयं विप्रजातायाः मनसा कर्त्तुमक्षमः ॥२॥
तामसस्त्वं कथं जातः कृतं कर्मातिनिन्दितम् । अवध्या स्त्री त्वया विष्णो हता कस्मान्निरागसा ॥४॥
शपामि त्वां दुराचारं किमन्यत्प्रकरोमि ते । विधुरोऽहं कृतः पाप त्वयाऽयं शक्रकारणात् ॥५॥
न शपेऽहं तथा शक्रं शपे त्वां मधुसूदन । सदा छलपरोऽसि त्वं कीटयोनिदुराशयः ॥६॥
ये च त्वां सात्विकं प्राहुस्ते मूर्खा मुनयः किल । तामसस्त्वं दुराचारः प्रत्यक्षं मे जनार्दन ॥७॥
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छापसंभवाः । प्रायो गर्भभवं दुःखं भुंक्ष्व पापाज्जनार्दन ॥८॥

—दे० भा० स्कं० ४ अ० १२

हे मधुसूदन ! तुमने अत्यन्त बुद्धिमान् होकर भी जानकर ऐसा अकार्य किया । जिस विप्रकन्या का वध मन से भी नहीं विचारा जा सकता, उसको तुमने साक्षात् कर डाला ॥२॥ हे विष्णु ! तुमने किस लिये तमोगुण-युक्त होकर अतिनिन्दित कर्म किया ? स्त्री जाति अवध्य है । तुमने बिना अपराध इस अबला को क्यों मारा ? ॥४॥ तुम्हारा यह आचरण अत्यन्त निन्दित है । इस समय मैं तुम्हारा क्या करूँ ? तुमको शाप देना ही उचित है । हे पापिष्ठ ! तुमने इन्द्र के कारण मुझको विधुर बना दिया ॥५॥ मैं इन्द्र को शाप न देकर तुमको ही शाप दूंगा । तुम सदा सर्प की भाँति कपटव्यवहार करते हो । तुम दुष्ट हो ॥६॥ जो मुनि तुमको सतोगुणी कहते हैं, वे अत्यन्त मूर्ख हैं । तुम तामसी और दुराचारी हो, यह मैंने आज प्रत्यक्ष जान लिया ॥६॥ तुम मेरे शाप से मृत्युलोक में अनेक बार अवतार लोगे और गर्भ की यन्त्रणा द्वारा अपने पाप का फल भोगोगे ॥८॥

इसी पुराण में आगे फिर लिखा है—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन कामं मीनो बभूव कमठः खलु सूकरस्तु ।
पश्चान्नृसिंह इति यच्छलकृद्धरायां तान्सेवतां जनानि मृत्युभयं न किं स्यात् ॥१८॥

—दे० भा० स्कं० ५ । अ० १६

हे जननि ! प्रकुपित भृगु मुनि के शाप से ही हरि पृथ्वी में मीन, कूर्म, शूकर, नृसिंह और वंचनातत्पर वामन इत्यादिक रूप धारण करके अवतीर्ण हुए थे। इसमें उनकी पराधीनता ही है। जो इन पराधीन अवतारों की सेवा करते हैं, उनको मृत्युभय क्यों न होगा ?

किं चित्रं नृप देवी सा ब्रह्मविष्णुसुरानपि। नर्तयत्यनिशं माया त्रिगुणानपरान् किमु ॥
गर्भवासोद्भवं दुःखं विण्मूत्रस्नायुसंयुतम्। विष्णोरापादितं सम्यग् यया विगतलीलया ॥५॥
पुरा रामावतारेऽपि निर्जरा वानराः कृताः। विदितं ते तथा विष्णुः दुःखपाशेन मोहितः ॥६॥

—दे० भा० स्कं० ४। अ० २०

हे नृपते ! त्रिगुणा माया देवी ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देवगणों को भी नचाती रहती है, वह जो अन्य को मोहित करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

हे राजन् ! उस महामाया की लीला तो सिद्ध ही है। अधिक क्या ? उसने विष्णु को भी भली-भाँति से मलमूत्र और स्नायुपरिपूरित गर्भ में वास कराकर दुःख दिया था ॥५॥ पूर्वकाल में रामावतार के समय उसने देवगणों को वानर बना दिया था। हे राजन् ! इस प्रकार मायापाश में बँधकर भगवान् विष्णु ने जो दुःख भोगा था, वह तुम भली-भाँति जानते हो ॥६॥

इस भाँति इस पुराण में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध आदि सब ही देव और अवतारों के एक-एक करके दोष गिनाये हैं और उन्हें पापयुक्त सिद्ध किया गया है।

शाक्त भी मस्तक पर भस्म लगाते हैं, अतः भस्म न धारण करनेवाले का जन्म-जन्मान्तर में चांडाल होना बताया गया है—

न यस्य सहजा प्रीतिर्मणिवद् भस्मसंग्रहे। स चांडाल इति ज्ञेयो जन्मजन्मान्तरे ध्रुवम् ॥

—दे० भा० ११।१५।१५

ब्रह्मा—ब्रह्मा को पुराणों में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया और न वैष्णव, शैव तथा शाक्तों के समान ब्रह्मा के नाम से कोई पृथक् सम्प्रदाय अथवा पुराण ही है। कुछ अपवादों को छोड़कर ब्रह्मा की मूर्त्तिपूजा का भी इस देश में प्रचलन नहीं है। केवल पुष्कर ही एक तीर्थस्थान है, जहाँ ब्रह्मा का मन्दिर है। ब्रह्मा को बहिष्कृत किए जाने के सम्बन्ध में, पद्मपुराण में एक कथा आती है। ब्रह्मा ने पुष्कर में एक यज्ञ किया। यज्ञ में ब्रह्मा की पत्नी सावित्री के आने में देर हो गई। तब इन्द्र ने एक गोपकन्या को लाकर ब्रह्मा का गान्धर्वविवाह करके यज्ञ में बिठला दिया और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। तत्पश्चात् सावित्री भी आ गई। ब्रह्मा के इस कृत्य की उसके आलोचना करने पर ब्रह्मा ने कहा कि इसमें मेरा दोष नहीं। यज्ञ में देर हो रही थी, इन्द्र ने इस स्त्री को ला दिया, विष्णु भगवान् ने भी इसका अनुमोदन किया, अतः हमने इसे ग्रहण कर लिया। हमारे अपराध को क्षमा करो। तब सावित्री ने शाप दिया कि आज से कार्तिकी पूर्णिमा के अतिरिक्त तुम्हारी पूजा न होगी—

नैव ते ब्राह्मणाः पूजां करिष्यन्ति कदाचन। ऋते तु कार्तिकीमेकां पूजां सांवत्सरीं तव ॥

इसी प्रकार शिवपुराण विद्येश्वरीसंहिता अध्याय ६ में एक अन्य कथा द्वारा ब्रह्मा की पूजा का निषेध किया गया है। कथा इस प्रकार है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु में अपने-अपने महत्त्व पर विवाद चल पड़ा और दोनों में घोर युद्ध हुआ। देवता उसे शांत कराने के लिये शिव के पास गये। शिव ने आकर दोनों के मध्य एक स्तम्भ को इतना बढ़ाया, जो आकाश और पाताल में पूर्ण हो गया। और ब्रह्मा तथा विष्णु से कहा कि तुम दोनों में जो इसका अन्त देख आयेगा, वही इस जगत् में सब देवों में महान् समझा जायेगा। तब वे दोनों सैकड़ों वर्ष उसका अन्त ढूँढ़ते रहे, परन्तु अन्त न पा सके। विष्णु ने आकर सत्य कह दिया कि मुझे इसका अन्त नहीं मिला, किन्तु ब्रह्मा ने झूठ बोला कि मुझे इसका अन्त

मिल गया। इस पर शिव ने प्रसन्न होकर कहा—विष्णु ने सत्य बोला है, अतः जगत् में उनकी मूर्त्ति की पूजा होगी—

इतः परं ते पृथगात्मञ्च क्षेत्रप्रतिष्ठोत्सवपूजनं च।

और ब्रह्मा से कहा—कि तुमने असत्य भाषण किया है, अतः तुम्हारी पूजा नहीं होगी—

नातस्ते सत्कृतिर्लोके भूयात्स्थानोत्सवादिकम्।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण कृष्णजन्म खण्ड अ० ३२ में भी इसी आशय की एक कथा दी हुई है, जिसके द्वारा ब्रह्मा को अपूज्य ठहराया गया है। वहाँ लिखा है कि विष्णु की प्रिया मोहनी एक बार कामातुर होकर ब्रह्मा के पास गई। ब्रह्मा ने विष्णु की प्रिया होने के कारण इसका निषेध किया तब मोहनी ने ब्रह्मा को शाप दिया कि जाओ तुम्हारी संसार में पूजा न होगी। ब्रह्मा ने विष्णु को जाकर समस्त वृत्तान्त सुनाया। विष्णु ने शाप दूर करने का उपाय गंगास्नान बताया और कहा कि तुम्हारी पृथक् पूजा तो न होगी, किन्तु अन्य देवों के साथ होगी—

यदन्यदेवपूजायां तव पूजा भविष्यति।

उपरोक्त सभी कथाएँ विचित्र हैं, जिनमें किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्मा के शिर दोष मढ़कर उसकी पूजा का निषेध किया गया है। अन्यथा पुराणों में विष्णु और शिव को कलंकित करनेवाली कथाओं की ब्रह्मा से कहीं अधिकता है। फिर ब्रह्मा को ही क्यों लक्ष बनाया गया ? हमारा विचार है कि अब्राह्मणों ने, जिनका कि मूर्त्तिपूजा के प्रचार में विशेष हाथ है, ब्राह्मणत्व के प्रतीक ब्रह्मा को अपमानित करने के लिये ही इन कथाओं की रचना की और उसे अपूज्य ठहराया।

जैसाकि हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, मूर्त्तिपूजा का जन्म बौद्धकाल में हुआ और सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्त्ति इस देश में पूजी जाने लगी। भगवान् बुद्ध स्वयं क्षत्रियवंशज थे और उनका प्रचार-क्षेत्र भी स्वभावतः ब्राह्मणेतर जातियों में ही रहा। बौद्धों की देखा-देखी बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् बुद्ध की मूर्ति का स्थान 'महेश्वर' और 'विष्णु' ने ले लिया। यह दोनों काल्पनिक देव भी ब्राह्मणत्व का प्रतीक न होकर क्षत्रियत्व का ही विशेष रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। संहार और पालनशक्ति क्षत्रियत्व का ही प्रतीक है। शाक्तों की 'शक्ति-पूजा' तो क्षात्र-धर्मप्रधान है ही।

विष्णु के मुख्यावतार 'राम' तथा 'कृष्ण', जिनकी पूजा का इस समय समस्त देश में प्रचार है और जिन्हें पूर्णावतार माना जाता है, क्षत्रियवंशज ही थे। समस्त अवतारों में 'परुषराम' ही ब्राह्मण माने जाते हैं, जिनकी कहीं भी पूजा नहीं होती। अतः ब्राह्म धर्म के प्रतीक, वेदोपदेष्टा, याज्ञिक ब्रह्मा अथवा उसकी मूर्त्ति का ब्राह्मणेतर जातियों तथा क्षत्रिय राजाओं की राज्यवृत्ति पर पलनेवाले लोलुप ब्राह्मणों द्वारा पुराणों में बहिष्कार करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ब्रह्मा वैदिक ज्ञान का आदिप्रचारक है। यज्ञानुष्ठान के चार ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' का मुख्य स्थान है। किन्तु शैव, शाक्त एवं वैष्णव सम्प्रदायों में वेद के स्थान पर अपने-अपने पुराणों और यज्ञ के स्थान पर अपने-अपने उपास्य देवों की मूर्त्तियों तथा मठ-मन्दिरों को ही प्रधानता दी गई है। शाक्त, यज्ञानुष्ठान करते हैं; किन्तु उसमें मांस मदिरा की आहुति तथा पशुबलि के पोषक हैं, जो सर्वथा अवैदिक कर्म हैं।

पुराणों में ऐसी कथाएँ भी हैं, जिनमें शिव ने यज्ञों का विध्वंस किया। पद्मपुराण सृष्टिखंड अ० १७ में एक कथा आती है कि एक समय ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। महादेव यज्ञशाला में भिक्षा माँगने के लिये पञ्चसूत्र धारण किये तथा एक बड़ी खोपड़ी हाथ में लिये ऋत्विजों के समीप आकर बैठ गये। यह देखकर वेदपाठी ब्राह्मणों ने कहा कि तुम इस प्रकार का निन्दित वेश बनाये यज्ञशाला में कैसे चले

आये ? उन्हें यज्ञशाला से निकालने के अनेक प्रयत्न किये गये; किन्तु वह न गये। अन्त में उन्हें भोजन कराकर सन्तुष्ट किया गया। तब कहीं यह कहकर कि हम पुष्करस्नान के लिए जा रहे हैं, वे वहाँ से टले; किन्तु अपना कपाल वहीं यज्ञशाला में ही छोड़ गये, जिसे ब्राह्मणों ने बाहर फेंक दिया। एक कपाल के फेंके जाने पर दूसरा कपाल वहाँ दिखाई देने लगा। इस प्रकार एक कपाल के फेंके जाने पर वहाँ फिर दूसरा कपाल उपस्थित हो जाता था और हजार तक फेंके जाने पर भी उनका अन्त नहीं हुआ। विवश होकर ब्राह्मण, ब्रह्मा सहित पुष्कर गये और शिव की बड़ी स्तुति-प्रार्थना करने पर वह कपाल वहाँ से हटा। एक मन्वन्तर बीत जाने पर पुनः ब्रह्मा के यज्ञ में शिवजी आ उपस्थित हुए। इस बार भी वह अपने उसी नग्न वेश में उपस्थेन्द्रिय को हाथ में लिए यज्ञमण्डप में आ गये। लोगों ने उन्हें पुनः धिक्कारा और घसीटकर बाहर कर दिया और कहा कि स्त्रियों की उपस्थिति में तुम्हारा इस प्रकार प्रवेश निन्दनीय है। इस पर क्रुद्ध होकर शिव ने ब्राह्मणों को अनेक शाप दिये।

एक दूसरी कथा शिव द्वारा अपने श्वसुर राजा दक्ष के यज्ञविध्वंस की इसी पद्मपुराण सृष्टि-खंड अ० ५ में आई है। दक्ष ने अपने यज्ञ में शिव को आमन्त्रित नहीं किया। उसका कारण दक्ष ने जो पार्वती को बताया, वह शिव के आसुरी कापालिक स्वरूप का भली प्रकार दिग्दर्शन कराता है। दक्ष ने कहा—तुम्हारा पति खोपड़ी का पात्र बनाये लिए रहते हैं। चर्म ओढ़ते हैं, चिता की भस्म लगाते हैं और नंगे रहते हैं। श्मशानभूमि में निवास करते हैं एवं व्याघ्रचर्म धारण करते हैं। हाथी का चर्म भी ओढ़ते हैं, जिससे रक्त के बिन्दु टपकते रहते हैं। मरे हुए मनुष्यों के कपालों की माला गले में पहने रहते हैं। इन्हीं अनेक कारणों से हमें लज्जा आती है और उन्हें अन्य देवों के साथ आमन्त्रित करके, उनके साथ बिठाने में संकोच होता है।

शिव के इस प्रकार अपमानित होने पर उनके प्रमुख गण वीरभद्र ने अन्य गणों सहित इस यज्ञ को विध्वंस किया। यज्ञशाला में आग लगा दी, देवताओं को मार गिराया, विष्णु से घोर युद्ध हुआ। अन्त में विष्णु परास्त हुए और उनका शिर काटकर यज्ञकुण्ड में डाल दिया। ऋषि, मुनि इधर-उधर भागने लगे। 'सरस्वती' और 'वेदमाता' की नासिका वीरभद्र ने अपने तीक्ष्ण नखों से उखाड़ ली और प्रजापति का शिर काट कर अग्नि में दग्ध कर दिया इत्यादि। यह विस्तृत कथा शैव सम्प्रदाय की वेद एवं यज्ञविरोधी प्रवृत्ति का भलीभान्ति चित्रण करती है।

उपरोक्त दोनों कथाएँ हमारी इस धारणा को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि शैव, वैदिक यज्ञों के विरोधी थे और रामायणकाल के राक्षसों की भान्ति यज्ञविध्वंसक ही थे। उनकी प्रचलित शिवलिङ्गपूजा, जिस पर कि हम आगे इसी अध्याय में पृथक् प्रकाश डालेंगे, वाममार्ग के भैरवीचक्र की स्त्री-पुरुष-गुप्तेन्द्रिय की पूजा की प्रतीकमात्र है। भैरवीचक्र का भैरव भी शिव का एक मुख्य गण है और इस प्रकार इस सम्प्रदाय का शाक्तों के वाममार्ग से निकट का सम्बन्ध है।

वैष्णव यद्यपि माँस, मदिरा का घोर विरोध करते हैं, तथापि यज्ञ के स्थान पर मूर्त्तिपूजा का प्रचलन विशेषतः इसी सम्प्रदाय ने किया है। जैसाकि हम पूर्व लिख चुके हैं, अवतारवाद तथा मूर्त्तिपूजा को प्रोत्साहन वैष्णवों से ही मिला। भागवत को 'पंचम वेद' बताना, वेदव्यास का वेद-शास्त्र सब ही से अतृप्त होकर भागवत रचने की कल्पना तथा कलियुग में तप, योग, समाधि को निष्फल बताकर केवल राम-कृष्णादि के नाममात्र कीर्तन को ही मुक्ति का सरलमार्ग बताना, यह समस्त क्रिया-कलाप वेदमार्ग से विमुख करनेवाले दुष्प्रयास ही कहे जा सकते हैं।

इस सम्प्रदाय की परस्त्री-गमनादि व्यभिचार-पूर्ण प्रवृत्ति इसे भी वाममार्ग के निकट हो ला खड़ा करती है। इसके उपास्यदेव भगवान् विष्णु का जालंधर की पतिव्रता स्त्री वृन्दा के सतीत्व नष्ट

करने की प्रसिद्ध कथा, कृष्णावतार का कुब्जा दासी के साथ सम्भोग, गोपकन्या राधा के साथ अनुचित प्रेम एवं सम्भोग तथा अन्य इसी प्रकार की कथाएँ, जिन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, इस सम्प्रदाय में व्यभिचार को प्रोत्साहन देने के लिए पर्याप्त हैं। कृष्ण के साथ, उनकी पत्नियों के होते हुए भी पूजा में राधा को स्थान देना पर-स्त्री गमन के लिए खुला प्रोत्साहन है। इसके परिणामस्वरूप पुराणों की दृष्टि में कृष्ण की लीलास्थली व्रज में किया हुआ व्यभिचार, व्यभिचार ही नहीं है। दक्षिण में इस सम्प्रदाय के सद्गृहस्थों द्वारा अपनी कन्याओं का विष्णुमूर्ति से विवाह करके उन्हें मन्दिरों में गाने बजाने के लिए छोड़ देना, समय-समय पर इस सम्प्रदाय के गोस्वामियों, साधु-महन्तों द्वारा अपनी चेलियों के साथ होनेवाली दुराचारपूर्ण दुर्घटनाएँ—वाममार्ग के परस्त्रीगमनादि दुष्कृत्यों की पुनरावृत्ति मात्र ही हैं।

पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर इस वाममार्ग-प्रवृत्ति का एक जीता-जागता उदाहरण है। मन्दिर पर अंकित व्यभिचारपूर्ण चित्र, समस्त वैष्णवों का एक पंक्ति में उच्छिष्ट पत्तलों पर सखरा दाल-भात का बिना किसी भेदभाव के खान-पान वाममार्ग का ही रूपान्तरमात्र है। अतः वैष्णव सम्प्रदाय भी वाममार्ग के प्रभाव से अछूता नहीं है। ऐसी अवस्था में वेद और यज्ञ के प्रवर्तक ब्रह्मा का, इन सम्प्रदायों द्वारा बहिष्कार करना अस्वाभाविक नहीं है।

वेदादि आर्य-धर्मशास्त्रों में दैनिक पंचयज्ञों में "देव-यज्ञ" का विशेष महत्त्व है। इसे देव-पूजा भी इसलिये कहा जाता है कि अग्निहोत्र द्वारा आकाशादि पांच भौतिक देवों की पूजा अथवा शुद्धि अभिप्रेत है। इसी देव-पूजा शब्द का सम्प्रदायों द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि कल्पित देवों की पूजा अर्थ लगाया जाने लगा और इन ही देवों की मूर्तिपूजा ने कुछ काल में इस देवयज्ञ का स्थान ग्रहण कर लिया। मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देने के लिए यज्ञों का महत्त्व घटाना आवश्यक भी था। कालान्तर में जिन यज्ञों का रामायण और महाभारतकाल में सर्वत्र प्रचार था, उनका स्थान विभिन्न प्रकार की मूर्त्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि ने ले लिया। जहाँ बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ होते थे, वहाँ अब केवल मूर्त्तियों के सम्मुख धूप-दीप मात्र शेष रह गया।

शिवलिंग-पूजा—हमारे देश में जिन देवमूर्त्तियों की पूजा की जाती है, उनमें शिवलिंग का एक विशेष स्थान है। अन्य देवों अथवा अवतारों की मूर्त्तियाँ उनके समस्त शरीर के आकार की होती हैं, किन्तु शिवलिंग जैसाकि नाम से ही सुस्पष्ट है, शिव की उपस्थेन्द्रिय की आकृति है। उपस्थेन्द्रिय की पूजा जैसाकि हम पूर्व लिख चुके हैं, वाममार्ग के भैरवीचक्र की एक मुख्य परिक्रिया है। अतः यह शिव-लिंग-पूजा भी उसका ही प्रतीक है।

उचित तो यह था कि देश के विचारशील विद्वान् मूर्त्तिपूजा के इस अश्लील तथा अशिष्ट प्रकार के विरुद्ध आवाज उठाते और इसका प्रचार रोकने का प्रयत्न किया जाता; किन्तु इसके विपरीत इस 'शिवलिंग' शब्द की नवीन व्याख्या द्वारा सत्य को छिपाने का अनुचित प्रयत्न किया जाता है, जो कि पुराणों में दी हुई अनेक साक्षियों के भी सर्वथा विपरीत है। इन नवीन व्याख्याताओं का कहना है कि 'लिङ्ग' का अर्थ उपस्थेन्द्रिय न होकर 'चिह्न' है, अतः उनके अनुसार 'शिवलिङ्ग' का अर्थ 'शिव का चिह्न' हुआ। 'लिंग' का अर्थ निश्चय ही 'चिह्न' है, इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता। जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त उपस्थेन्द्रिय ही ऐसा चिह्न है, जो स्त्री-पुरुष का वर्गीकरण करता है, अतः कालान्तर में लिंग शब्द ही उपस्थेन्द्रिय का पर्यायवाची बन गया। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यहाँ पुराणों की सुस्पष्ट कथा और अनेक साक्षियों के होते हुए क्या 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ

और भी हो सकता है ? पुराणों से कुछ ऐसी ही साक्षियाँ हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

शिवपुराण कोटि रुद्र संहिता ४, अ० १२ में दारुवन की एक कथा आती है--

दारु नाम वनं श्रेष्ठं तत्रासन्नृषिसत्तमाः।
शिवभक्ताः सदा नित्यं शिवध्यानपरायणाः ॥ ६ ॥
ते कदाचिद्वने याताः समिधाहरणाय च।
सर्वे द्विजर्षभाः शैवाः शिवध्यानपरायणाः ॥ ८ ॥
एतस्मिन्नंतरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः।
विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः ॥ ६ ॥
दिगम्बरोऽतितेजस्वी भूतिभूषणभूषितः।
स चेष्टां सकदक्षां च हस्ते लिंगं विधारयन् ॥१०॥
मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम्।
जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्तप्रीतो हरः स्वयम् ॥११॥
तं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ताः परं त्रासमुपागताः।
विह्वला विस्मिताश्चान्याः समाजग्मुस्तथा पुनः ॥१२॥
आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा पराः।
परस्परं तु संघर्षात्संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा ॥१३॥
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन्।
विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः ॥१४॥
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथा ब्रुवन्।
समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमाया विमोहिताः ॥१५॥
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बरः।
ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः ॥१६॥
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्।
ततस्त्वदीयं तल्लिंगं पततां पृथिवीतले ॥१७॥
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिंगं च पतितं क्षणात्।
अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः ॥१८॥
तल्लिंगं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम्।
यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः ॥१६॥
पाताले च गतं तच्च स्वर्गे चापि तथैव च।
भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत् ॥२०॥
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽति दुःखिताः ॥२१॥
दुःखिता मिलिताः शीघ्रं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२॥
मुनीशस्तास्तदा ब्रह्मा स्वयं प्रोवाच वै तदा ॥३१॥
आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम्।
योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरतां व्रजेत् ॥३२॥
पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शंकरस्तथा।
सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः ॥४४॥

हे देवा ऋषयः सर्वे मद्वचः श्रृणुतादरात्।
योनिरूपेण मल्लिंगं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम् ॥४५॥
पार्वतीं च विना नान्या लिंगं धारयितुं क्षमा।
तया धृतं च मल्लिंगं द्रुतं शान्ति गमिष्यति ॥४६॥
प्रसन्नां गिरिजां कृत्वा वृषभध्वजमेव च।
पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिंगमुत्तमम् ॥४८॥

दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो शिव के भक्त थे तथा नित्य प्रति शिव का ध्यान किया करते थे ॥६॥ वे कभी लकड़ियाँ चुनने के लिये सब-के-सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो शिव के भक्त तथा शिव का ध्यान करनेवाले थे, वन में गये ॥८॥ इतने में साक्षात् महादेव जी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुँचे ॥९॥ नंगे, अति तेजस्वी, विभूतिभूषण से शोभायमान, कामियों के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ में लिंग धारण करके ॥१०॥ मन से उन वनवासियों का भला करने के लिये भक्तों पर प्रसन्न होकर शिवजी स्वयं प्रीति से उस वन में गये ॥११॥ उसको देखकर ऋषि-पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत हो गईं, व्याकुल तथा आश्चर्यान्वित हुईं, कई लौट आईं ॥१२॥ कई आलिंगन करने लगीं, कई ने हाथ में धारण कर लिया तथा परस्पर के संघर्ष से वे स्त्रियाँ मग्न हो गईं ॥१३॥ इतने में ऋषि आ गये और इस प्रकार के विरुद्ध काम को देखकर वे दुःखी हुए। क्रोध से मूर्छित हो गये ॥१४॥ तब दुःख को प्राप्त हुए कहने लगे—यह कौन है? वे सब-के-सब ऋषि शिव की माया से मोहित हो गये ॥१५॥ जब उस नंगे अवधूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे परम ऋषि उस भयंकर पुरुष को यों कहने लगे ॥१६॥ तुम जो यह वेदमार्ग को लोप करनेवाला विरुद्ध काम करते हो, इसलिये तुम्हारा यह लिंग पृथिवी पर गिर पड़े ॥१७॥ उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिंग उसी समय गिर पड़ा ॥१८॥ उस लिंग ने सब-कुछ जो आगे आया, अग्नि की भाँति जला दिया। जहाँ-जहाँ वह जाता था, वहाँ-वहाँ सब कुछ जला देता था ॥१९॥ वह पाताल में भी गया, वह स्वर्ग में भी गया, वह भूमि में सब जगह गया, किन्तु वह कहीं भी स्थिर नहीं हुआ ॥२०॥ सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल हो गये तथा वे ऋषि अति दुःखित हुए ॥२१॥ वे दुःखी हुए सब मिलकर ब्रह्मा के पास गये ॥२२॥ तब ब्रह्मा उन ऋषियों को स्वयं कहने लगे ॥३१॥ हे देवताओ! पार्वती की आराधना करके शिव की प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनिरूप हो जावें तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा ॥३२॥ तब उन ऋषियों ने परम भक्ति से शंकर की प्रार्थना और पूजा की। तब अति प्रसन्न होकर शिव उनसे बोले ॥४४॥ हे देवता और ऋषि लोगो! आप सब मेरी बात को आदर से सुनें। यदि मेरा लिंग योनिरूप से धारण किया जावे तब शान्त हो सकता है ॥४५॥ मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई धारण नहीं कर सकता। उससे धारण किया हुआ मेरा लिंग शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जावेगा ॥४६॥ पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया ॥४८॥

कथा अत्यन्त अश्लील है, किन्तु प्रकरणवश देनी ही पड़ी। इस कथा में जिस शिवलिंग तथा योनि का वर्णन है, शिवालयों में स्थापित लिंग और जलहरी उसी की आकृति है। इसी लिंग को शान्त रखने के लिये शिवलिंग पर जलपूर्ण घट रक्खा जाता है। इन समस्त बातों का शिवपुराण में सविस्तर वर्णन है। इसी प्रकार पद्मपुराण षष्ठ उत्तर खण्ड अ० २५५ में लिखा है। भृगु ऋषि को आता देखकर भी शिवजी पार्वती के संग मत्त रहे, अतः भृगु ने उन्हें शाप दिया—

नारीसंगममत्तोऽसौ यस्मात्मामवमन्यते। योनिलिंगस्वरूपं वै तस्मात्तस्य भविष्यति ॥

तुमने स्त्री के संग मत्त रहकर मेरा अपमान किया है, इसलिये तुम्हारा स्वरूप योनिलिंग हो जाये ।

भविष्यपुराण प्रति० खण्ड ४ अ० १७ में इस सम्बन्ध में एक दूसरी कथा आती है—

कदाचिद् भगवानत्रिर्गंगाकूलेऽनसूयया ॥६७॥
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः ।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०॥
लिंगहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः ।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गतः ॥७१॥
मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा ।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः ॥७३॥
तदा क्रुद्धा सती सा वै तान् शशाप मुनिप्रिया ॥७४॥
महादेवस्य वै लिंगं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः ।
चरणो वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा ।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः ॥७५॥

कभी भगवान् अत्रि अपनी पत्नी अनसूया सहित गंगा के किनारे रहते थे ॥६७॥ उसके भाव को देखकर तीनों सनातन देव उसकी पत्नी अनसूया को यह बात कहने लगे ॥७०॥ हाथ में लिंग लिये हुए-महादेव········ ब्रह्माजी कामवश वेद का लोप करते हुए उस अनसूया के वश में होकर स्थित हो गये ॥७१॥ मोहित होकर वहाँ वे देवता अनसूया को बलात् पकड़ कर मैथुन करने के लिये यत्न करने लगे। उस मुनि-पत्नी ने क्रोध में आकर उन्हें शाप दिया ॥७४॥ कि महादेवजी का लिंग, ब्रह्मा का शिर और विष्णु के चरण संसार में पूजे जायेंगे और हे देवताओ ! तुम्हारा उपहास होगा ॥७५॥

इस प्रमाण में शिर और पैर के साथ लिंग भी शरीर का एक अंग है और उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता ।

देवीभागवत का एक अन्य प्रमाण भी इसकी पुष्टि करता है—

शम्भोः पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम् । शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य ।
तं ये नरा भुवि भजन्ति कपालिनं तु । तेषां सुखं कथमिहापि परत्र मातः ॥१६॥

हे माता ! महादेव के अरण्यमध्यस्थ ऋषियों के आश्रम में गमन करने पर भृगु के शाप से उनका लिंग पृथिवी में गिरा, यह तो प्रसिद्ध ही है। जो कपाल को धारण करता है, ऐसे शिव को जो भजते हैं, उनको किस प्रकार सुख होगा ?

उपरोक्त सभी उद्धरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि देश में जिस शिवलिङ्ग की पूजा होती है, वह शिव तथा पार्वती की उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। दक्षिण भारत, बिहार, बंगाल तथा आसाम के कुछ मन्दिरों में प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग तथा शिव-पार्वती की मूर्त्तियाँ, जिनके चित्र गोरखपुर से निकलनेवाले 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' में भी प्रकाशित हुए हैं, और जिनको हमने भी इस पुस्तक में दिया है, हमारे प्रतिपादित विषय की पुष्टि में अकाट्य प्रमाण हैं। यह मूर्तियाँ इस विवाद को सदा के लिये समाप्त कर देती हैं कि यह शिवलिङ्ग, शिव-पार्वती की उपस्थेन्द्रिय के सिवाय और कुछ नहीं है। और यह घृणित तथा अश्लील प्रकार की मूर्त्तिपूजाविधि वाममार्ग के भैरवीचक्र का अवशिष्टमात्र है, जहाँ एक पुरुष को शिव अथवा भैरव तथा एक स्त्री को देवी वा भैरवी बताकर उनकी उपस्थेन्द्रिय

की पूजा की जाती है। आज देश से तंत्रग्रन्थों का वाममार्ग लोप हो गया है; किन्तु एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक शिवलिंग-पूजा द्वारा हिन्दूसमाज आज भी उसे न केवल जीवित रख रहा है, अपितु अनेक प्रकार से उसका औचित्य सिद्ध करने का दुष्प्रयास भी करता रहता है। शिवपुराण में भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न धातुओं से बने शिवलिंग पूजने का विधान है। आजकल देश में सर्वत्र पत्थर के बने शिवलिंग की ही पूजा प्रचलित है, जो शिवपुराण के अनुसार केवल शूद्रों के लिए विहित है—"शिलालिंगं तु शूद्राणां महाशुद्धिकरं शुभम्" (शि० पु० विद्ये० सं० १-१८)।।४६।। इससे सिद्ध है कि वर्त्तमान में प्रचलित शिवलिंग-पूजा केवल शूद्रों के लिए है। देश के स्वतन्त्र होने पर सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करके शिवलिंग स्थापित किया गया। दुःख है कि हमारे नेताओं का ध्यान नालन्दा आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों के पुनरुद्धार की ओर न जाकर संसार में उपहास का कारण बननेवाली इस शिललिंग-स्थापना की ओर गया। इसे इस अभागी आर्य जाति का दुर्भाग्य ही कह सकते हैं। क्या किसी जाति के नैतिक पतन की इससे अधिक दुःखपूर्ण अवस्था हो सकती है?

हमने जो प्रमाण पुराणों से दिये हैं, वे न केवल कल्पित पौराणिक देवों का चरित्र-चित्रण ही करते हैं, अपितु आर्यजाति की उस समय की साम्प्रदायिक दुरवस्था तथा सामाजिक पतन पर भी विशेष प्रकाश डालते हैं। इनसे हमारे इस विचार की पूर्णतः पुष्टि होती है कि मूर्तिपूजा विभिन्न सम्प्रदायों की भक्ति-भावना के स्थान पर केवल उनकी व्यावसायिक बुद्धि की ही विशेष परिचायिका है। उनके मन्दिर और मूर्त्तियाँ, तीर्थस्थान और उनके द्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले लाखों, पंडे, पुजारी, साधु-महन्त इस समस्त व्यावसायिक मशीन के कल-पुर्जे हैं।

जिस आर्य जाति ने वेद, शास्त्र, स्मृति जैसे उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य को जन्म दिया हो, जहाँ से समस्त संसार ने धर्म एवं नीति का प्रथम पाठ पढ़ा हो, उस जाति का पुराणों के मिथ्या आचार विचारों में फँसकर एकेश्वरवाद तथा अष्टांग योग की उच्च शिक्षा के होते हुए अवतारवाद तथा मूर्ति-पूजा को अपनाना वास्तव में एक आश्चर्य की बात है। वर्तमान हिन्दू-समाज का ईश्वर, उसकी पूजा विधि, तीर्थस्थान, पर्व, जातिभेद, संस्कार, रीति-नीति—सब ही पर इस पौराणिक युग की गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि इसके अधःपतन का समस्त इतिहास इसी पौराणिक शिक्षा का दुष्परिणाम है।

इस शिक्षा के परिणामस्वरूप इसने क्या-क्या यातनाएँ सहीं, कैसे कष्ट उठाये, कितने ही अपमानों को सहन किया। यह सब होते हुए भी, यह अभागी जाति आज भी उसी शिक्षा से चिपटी हुई है। अज्ञान और स्वार्थ उसके परित्याग में आज भी बाधक हैं।

मूर्त्तिपूजा देश की पराधीनता का कारण—युद्धक्षेत्र में विदेशी आक्रान्ताओं को पराजित करने में समर्थ होते हुए भी हम मूर्तिपूजा में विश्वास रखने के कारण पराजित होते रहे और देश को शत्रुओं के हवाले करते रहे—यह इतिहास के पन्ने पलटने से स्पष्ट हो जाता है। मौलाना सुलेमान नदवी ने एक ग्रन्थ लिखा है 'भारत और अरब के पुराने सम्बन्ध'। इसके अनुसार मुहम्मद-बिन-कासिम ने सन् ७१२ ईसवी में ६००० सैनिकों के साथ सिन्ध पर आक्रमण किया। भारत पर मुसलमानों का यह पहला आक्रमण था। उस समय सिन्ध में बौद्धों और पौराणिक सम्प्रदायवादियों के बीच संघर्ष था। सिन्ध के राजा दाहर का पिता चच पौराणिक था, जिसने बहुत से बौद्ध राजाओं को नष्ट कर दिया था या अपने अधीन कर लिया था। पहली मुठभेड़ में मुहम्मद-बिन-कासिम के पैर उखड़ गये थे। तभी बौद्ध साधु मुहम्मद-बिन-कासिम से जा मिले। उन्होंने विदेशी आक्रान्ता का स्वागत किया और हर प्रकार की सुविधा पहुँचाई। उन्होंने मुहम्मद-बिन-कासिम को बताया कि हिन्दुओं का विश्वास है कि जिस दिन

मन्दिर पर लगा हुआ झण्डा गिर जायेगा, उस दिन मानो भगवान् के रूठ जाने से हिन्दू राष्ट्र पराजित हो जायेगा। कासिम ने किसी प्रकार झण्डा गिरा दिया। परिणामतः दाहर की सेना भाग खड़ी हुई। दाहर के हारते ही उसके विरोधी सेनानायकों ने भी कासिम की अधीनता स्वीकार कर ली (गौरीशंकर हीराचन्द लिखित राजस्थान का इतिहास)। मूर्त्तिपूजा के कारण हिन्दू हारे और भारत में मुसलमानों के शासन का सूत्रपात हुआ। मुहम्मद-बिन-कासिम ने ब्राह्मणों और बौद्धों को बुलाया और उनके धर्म के विषय में प्रश्न किये। ब्राह्मणों ने कहा कि हम ईश्वरीय ज्ञान वेद को मानते हैं, जिसके अनुसार ईश्वर एक है और वही संसार का रचयिता, पालक और प्रलयकर्त्ता है। कासिम ने कहा कि तुम हमारे मसावी (समान) हो, जजिया दो और हमारे शासन में रहो। बौद्धों ने कहा कि हम न ईश्वर को मानते हैं और न इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) को। कासिम ने कहा—तुम काफिर हो, इसलाम को कबूल करो या मुल्क को छोड़ो या मरने को तैयार होओ। अधिकतर मुसलमान बन गये। कुछ पक्के निकले और मारे गये। बौद्ध नेता सहायता के बदले पुरस्कार लेने गये तो कासिम ने कहा—जो अपने मुल्क के वफादार नहीं, वे हमारे वफादार कैसे हो सकते हैं ? वे सब कत्ल करवा दिये गये। यह संक्षिप्त विवरण है मुसलमानों द्वारा भारत को पराधीन करनेवाले प्रथम युद्ध का, जिसके फलस्वरूप मिली पराधीनता के बन्धन १२३५ वर्ष बाद सन् १९४७ में कटे और वह भी मुसलमानों द्वारा देश के एक भाग को काटकर अपने लिए एक स्वतन्त्र देश पाकिस्तान बनाकर शेष भारत में अपनी साझीदारी बनाये रखने के साथ। हिन्दुओं के बराबर शक्तिशाली पठानों, मुगलों में एक भी जाति नहीं है। किन्तु जिस मूर्त्तिपूजा और ज्योतिषियों के बताये मुहूर्त्त आदि के कारण हम हारते रहे, उन अन्धविश्वासों से हमारा पीछा आज भी नहीं छूटा है।

अरबयात्री अलबरूनी ने लिखा है—"जब मुहम्मद-बिन-कासिम ने मुलतान को जीता तो उसके समृद्धिशाली होने का कारण वहाँ के देवमन्दिर को पाया। देवमूर्ति सूर्यदेवता की थी, जिसके दोनों नेत्र बहुमूल्य रत्नों के थे और मुकुट सोने का था। इस मन्दिर में अतुल सोना-चाँदी था। दो-दो सौ अशर्फियों का तो यहाँ अगर जलाया जाता था। नगर के विजय होने पर भी यहाँ का मन्दिर सुरक्षित रहा। अरबों ने इस मन्दिर से राजनैतिक और आर्थिक दोनों लाभ उठाये। राजनैतिक यह कि अगर कोई हिन्दू राजा मुलतान पर आक्रमण की तैयारी करता तो अरबशासक यह कहकर उसे डरा देता कि यदि आक्रमण हुआ तो वह मन्दिर को भस्मीभूत कर देगा। यह जानकर अन्धविश्वासी धर्मभीरु राजा रुक जाता। आर्थिक यह कि समस्त भारत के लोग यहाँ आकर चढ़ावा चढ़ाते थे, जो अरब शासक राजकोष में ले लेता था।

मुहम्मद-बिन-कासिम के बाद गजनी के महमूद ने इस देश पर धावा बोल दिया। उसने सत्रह बार भारत पर आक्रमण किया और समस्त पश्चिमोत्तर भारत को भस्मीभूत कर दिया। नगरकोट के मन्दिर को ध्वंस करके उसने ६०० मन सोने-चाँदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २००० मन चाँदी और २० मन हीरे, मोती और जवाहरात लूटे। थानेश्वर के आक्रमण में २ लाख हिन्दुओं को बन्दी बनाकर गजनी ले गया। 'तारीखे फरिश्ता' के अनुसार गजनी हिन्दुओं की सी नगरी प्रतीत होने लगी थी। मथुरा की लूट में उसे ६ ठोस सोने की मूर्तियाँ मिलीं। वहाँ से वह इतने हिन्दू गुलाम बनाकर ले गया कि गजनी के बाजारों में दो-दो रुपये में भी लेनेवाले नहीं मिलते थे। इसके पश्चात् उसने गुजरात के सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। इस विशाल मन्दिर में असंख्य बहुमूल्य रत्न लगे थे। ४० मन भारी सोने की जंजीर में एक भारी घंटा लटक रहा था। मन्दिर में ५ गज ऊँची शिव की मूर्ति अधर लटक रही थी। शैव लोगों में इस अद्भुत चमत्कार को बड़ी श्रद्धा से देखा जाता था। भोली हिन्दू जाति के अन्धविश्वास का पुजारी तथा उनके संरक्षक राजा लोग लाभ उठाते थे। वस्तुतः यह

मूर्त्ति लोहे की थी। मन्दिर में ऊपर-नीचे दोनों ओर चुम्बक पत्थर लगा था, जिसके आकर्षण के कारण वह मूर्त्ति बीच में लटकी थी। महमूद गजनवी जब इसे तोड़ने लगा तो मन्दिर के पुजारियों ने बहुत हाथ पैर जोड़े और मनचाही सम्पत्ति के बदले मूर्त्ति को न तोड़ने की प्रार्थना की। परन्तु महमूद ने यह कहकर कि मैं 'बुतशिकन' (मूर्त्ति तोड़नेवाला) हूँ, 'बुतफरोश' (मूर्त्ति बेचनेवाला) नहीं हूँ, मूर्त्ति को तोड़ दिया। काशी, मथुरा, अयोध्या आदि न जाने कितने स्थानों पर यही होता रहा। न भगवान् की नींद टूटी और न हिन्दुओं की आँख खुली। उन देवमन्दिरों के स्थान पर खड़ी मस्जिदें आज भी मूर्त्तिपूजा की निःसारता और इस देश की पराधीनता की करुण कहानी कह रही हैं। जो भगवान् स्वयं अपनी रक्षा न कर सके, वह बेचारे अपने भक्तों --हिन्दुओं की रक्षा कैसे कर सकते थे ? वस्तुतः भारत की पराधीनता और वैदिक (हिन्दू) धर्म का पतन का सबसे बड़ा कारण मूर्त्तिपूजा और पुराणों के आधार पर प्रचलित अन्य अन्धविश्वास हैं।

पुजारियों को दान-दक्षिणा के रूप में दिये गये धन का भी दुरुपयोग होने से उसके लिए दाता लोग भी अपराधी बनते हैं। परस्त्रीगमन, वेश्यावृत्ति, मांसाहार, मदिरापान आदि ऐसा कौन सा दोष है, जो भारत के मठाधीशों, महन्तों और पुजारियों में न पाया जाता हो। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने बहुचर्चित पुस्तक 'धर्म के नाम पर' में इन सबका विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'—जड़मूर्त्तियों का निरन्तर ध्यान करने से मूर्त्तिपूजक का अंतःकरण भी नितान्त जड़ हो जाता है। चेतन 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। दूसरी ओर 'विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' जीवात्मा भी हृदयदेश में है। इस प्रकार हृदय ऐसा स्थान है, जहाँ आत्मा-परमात्मा दोनों एक स्थान पर विद्यमान हैं। पास में उपस्थित चेतन परमात्मा का सान्निध्य छोड़कर अपने से घटिया स्तर की जड़मूर्त्ति की उपासना करनेवाले चेतन जीवात्मा से बढ़कर मूर्ख कौन होगा ? जड़ की पूजा (संगति सान्निध्य) से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता नहीं, किन्तु जो होता है वह भी नष्ट हो जाता है। मूर्त्तिपूजक का ध्यान और चिन्तन सदा प्रस्तरनिर्मित मूर्त्तियों को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करने, उन्हें, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से सत्कृत करने तक सीमित रहता है। ऐसे जड़पूजकों का मन और आत्मा भी जड़त्व धर्म से आक्रान्त रहता है। मूर्त्तिपूजा करते-करते कोई ज्ञानी नहीं होता। यही कारण है कि, जैसा हम रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के उदाहरणों से सिद्ध कर चुके हैं, एक मूर्त्तिपूजक सदा मूर्त्तिपूजक ही बना रहता है, जबकि अष्टांगयोग के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

फिर, ब्रह्मा, विष्णु और शिव में परस्पर एक-दूसरे के प्रति इतना वैर-भाव है कि किसी भी एक की पूजा से शेष दो के अप्रसन्न हो जाने के कारण भक्त का अहित होने का भय है।

विष्णु की प्रतिमा के दर्शन से शिव से द्रोह हो जाता है, जिससे दारुण दुःख मिलता है, अतः विष्णु का तो नाम भी नहीं लेना चाहिए --

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते।
शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम्।
तस्माद्वै विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन ॥

इसी प्रकार ब्रह्मा और शिव से विष्णु की श्रेष्ठता घोषित करते हुए कहा है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदेवतैः। समं सर्वैर्निरीक्षेत स पाषण्डी भवेत्सदा ॥

अर्थात् जो विष्णु (नारायण) के तुल्य ब्रह्मा और रुद्र (शिव) को कहता है, वह पाखण्डी है।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः। न स्प्रष्टव्या न द्रष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ॥

[सच्ची पञ्चायतन-पूजा क्या है]

प्रश्न—क्या किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा करनी-करानी नहीं ? और जो अपने आर्यावर्त्त में **'पञ्चदेवपूजा'** शब्द प्राचीन परम्परा से चला आता है, उसका यही **'पञ्चायतनपूजा'** जोकि शिव विष्णु अम्बिका गणेश और सूर्य की मूर्त्ति बनाकर पूजते हैं, यह पञ्चायतनपूजा है, वा नहीं ?

उत्तर—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा न करना। किन्तु मूर्त्तिमान् जो नीचे कहेंगे, उनकी **'पूजा'** अर्थात् सत्कार करना चाहिए। वह **'पञ्चदेवपूजा'** वा **'पञ्चायतनपूजा'** शब्द बहुत अच्छा अर्थवाला है। परन्तु विद्याहीन मूढ़ों ने उसके उत्तम अर्थ को छोड़कर निकृष्ट अर्थ पकड़ लिया। जो आजकल शिवादि पाँचों की मूर्त्तियाँ बनाकर पूजते हैं, उनका खण्डन तो अभी कर चुके हैं। पर सच्ची **'पञ्चायतन'** वेदोक्त और वेदानुकूलोक्त देवपूजा और मूर्त्तिपूजा क्या है. सुनो—

मा नो॑ वधीः पि॒तरं॑ मो॒त मा॒तर॑म् ॥—यजुः० १६।१५

आ॒चार्य॒ उप॒नय॑मानो ब्रह्म॒चारि॑णमिच्छते ॥[1]

अधिक क्या कहें, जो ब्राह्मण होकर भी वैष्णव नहीं हैं, वे छूने, देखने और बात करने योग्य भी नहीं हैं।

जब मन्दिरों में विराजमान् भगवान् के वस्त्राभूषण और कभी-कभी स्वयं भगवान् को चोर उठाकर ले जाते हैं तो भगवान् देखते रह जाते हैं। थाने में रपट लिखाने पर जब पुलिस पूछताछ के लिए आती है तो सबसे पहले भगवान् जी से चोरों का नाम-पता और हुलिया पूछती है तो भगवान् जी चुप्पी साध लेते हैं। इस पर थानेदार कहता है कि आप तो भगवान् हैं, सब-कुछ जानते हैं। आप चोरों से मिले हुए हैं, इसलिए आप उन्हें बचाने के लिए नहीं बता रहे हैं। इतना कहकर थानेदार अपने सहायकों को आदेश देता है कि यह ऐसे नहीं बतायेंगे, इन्हें ले जाकर सींकचों में बन्द कर दो। तब पुजारी कहते हैं—सींकचों में तो हमने इन्हें पहले ही बन्द कर रक्खा है। कितनी उपहासास्पद है यह स्थिति। भगवान् की यह दुर्दशा मूर्त्तिपूजकों ने कर रक्खी है। लोग भगवान् को तरह-तरह के वस्त्राभूषण चढ़ाते हैं और खाने के लिए अच्छे-से-अच्छे खाद्यान्न व फल आदि लाकर देते हैं। परन्तु वस्त्राभूषण पुजारियों की स्त्रियाँ पहनती हैं और मिठाई व फल पुजारी जी खा जाते हैं। भगवान् नंगे-भूखे पड़े रहते हैं।

पंचायतन-पूजा—इस प्रकार मूर्त्तिपूजा के दोषों का वर्णन करके ग्रन्थकार पंचायतन-पूजा का वास्तविकस्वरूप प्रस्तुत करते हैं। पाँच मूर्त्तिमान् देवों की पूजा अर्थात् तन-मन-धन से इनकी सेवा-सत्कार करना वेदोक्त है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि तथा पुरुष के लिए पत्नी और स्त्री के लिए पति—ये पाँच मूर्त्तिमान् देव हैं, क्योंकि इनसे मनुष्यों के देह की उत्पत्ति, उनका पालन, शिक्षा और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है, ये ही परमेश्वर को प्राप्त करने की सीढ़ियाँ हैं। साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक 'देवों' को छोड़कर 'अदेव' पाषाणादि में सिर मारना मूर्खता है। शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश, और सूर्य की मूर्त्तियाँ बनाकर धूप, नैवेद्य आदि से उनकी पूजा करना पंचायतन-पूजा नहीं है।

मा नो वधीः—इत्यादि का अर्थ इस प्रकार है—हमारे पिता और माता को मत मार ॥१॥ ब्रह्मचर्यसम्पन्न ब्रह्मचारी को चाहता है ॥२॥ अतिथि घरों से आयें ॥३॥ हे बुद्धिप्रेमियों ! पूजा करो,

---

१. इस पाठ में दो मन्त्रों के दो भाग मिले हुए हैं। 'आचार्य उपनयमानो' भाग अ० ११।५।३ का, तथा 'ब्रह्मचारिणमिच्छते' अ० ११।५।१७ का है।

अतिथिर्गृहानुपगच्छेत् ॥३॥—अथर्व०[1]

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ॥४॥—ऋग्वेद ८।६९।८

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥५॥—तैत्तिरीयोपनि० १।१

कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥६॥—शत० प्रपा० ६ । ब्राह्म० ७ । कंडिका १०[2]

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ॥—तैत्तिरीयोपनि० १।११

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥८॥—मनु० ३।५५

पूज्यो हि देववत् पतिः ॥९॥—मनुस्मृतौ[3]

प्रथम 'माता'—मूर्त्तिमती पूजनीय देवता । अर्थात् सन्तानों को तन मन धन से सेवा करके माता को प्रसन्न रखना । हिंसा अर्थात् ताड़ना कभी न करना ।

दूसरा 'पिता'—सत्कर्त्तव्य देव । उसकी भी माता के समान सेवा करनी ॥१॥

तीसरा 'आचार्य'—जो विद्या का देनेवाला है । उसकी तन मन धन से सेवा करनी ॥२॥

चौथा 'अतिथि'—जो विद्वान् धार्मिक निष्कपटी सबकी उन्नति चाहनेवाला, जगत् में भ्रमण करता हुआ सत्य उपदेश से सबको सुखी करता है, उसकी सेवा करें ॥३॥

पांचवां—स्त्री के लिये स्व पति, और पुरुष के लिये **स्वपत्नी** पूजनीय है ॥४-९॥

ये पांच मूर्त्तिमान् देव, जिनके सङ्ग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति पालन सत्य-शिक्षा विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है । ये ही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियाँ हैं । **इनकी सेवा न करके जो** पाषाणादि मूर्त्ति पूजते हैं, वे अतीव वेदविरोधी[4] हैं ।

प्रश्न—माता-पिता आदि की सेवा करें, और मूर्त्तिपूजा भी करें, तब तो कोई दोष नहीं ?

उत्तर—पाषाणादि मूर्त्तिपूजा तो सर्वथा छोड़ने, और मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा करने ही में कल्याण है । बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक **देव** को छोड़के, **अदेव** पाषाणादि में शिर मारना स्वीकार किया ।

[पुजारियों की लीला]

इसको लोगों ने इसीलिए स्वीकार किया है कि जो मातापितादि के सामने नैवेद्य वा भेंट-पूजा धरेंगे, तो वे स्वयं खा लेगें । और भेंट-पूजा ले लेंगे, तो हमारे मुख वा हाथ में कुछ न पड़ेगा । इससे पाषाणादि की मूर्त्ति बना, उसके आगे नैवेद्य धर, घण्टानाद टंटं पूंपूं और शङ्ख बजा, कोलाहल कर, अंगूठा दिखला, अर्थात् **'त्वमङ्गुष्ठं गृहाण भोजनं पदार्थं वाऽहं ग्रहीष्यामि'** । जैसे कोई किसी को छले वा चिड़ावे कि तू घण्टा ले, और अंगूठा दिखलावे । उसके आगे से सब पदार्थ ले आप भोगे, **वैसे ही लीला** इन **'पूजारियों'** अर्थात् **'पूजा'** नाम सत्कर्म के शत्रुओं की है ।[5]

---

१. द्र०—'अतिथिर्गृहानागच्छेत् ।' अ० १५।१३।११ ॥

२. यह पता अशुद्ध अधूरा एवं दो प्रकार के विभागों का मिश्रित रूप है । यहां प्रपाठकक्रम से १४।५।७।१० तथा अध्यायक्रम से १४।६।९।१० निर्देश होना चाहिए ।

३. द्र—मनु० ५।१५४ 'उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः' ।

४. सं० २ में 'अतीव पामर नरकगामी हैं' पाठ है । यह हस्तलेख का पाठ है । इसे कठोर जानकर समर्थदान ने बदला ।

५. 'पुजारि' शब्द का 'पूजा+अरि' सन्धिच्छेद करके उक्त अर्थ दर्शाया है । यही अर्थ ग्रन्थकार ने 'वेदविरुद्धमतखण्डन' में भी लिखा है । इसी प्रकार वहां आर्तिकार, गोसांई, बावाजी शब्दों के अर्थ भी दर्शाये हैं ।

ये लोग चटक-मटक चलक-झलक दिखा, मूर्त्तियों को बना ठना, आप ठगों के तुल्य बन-ठनके विचारे निर्बुद्धि अनाथों का माल मारके मौज करते हैं। जो कोई धार्मिक राजा होता, तो इन पाषाण-प्रियों को पत्थर तोड़ने बनाने और घर रचने आदि कामों में लगाके खाने-पीने को देता, निर्वाह कराता।

[वीतराग की मूर्त्ति देखने से शान्ति की प्राप्ति नहीं]

प्रश्न—जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे वीतराग शान्त की मूर्त्ति देखने से वैराग्य और शान्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होगी ?

उत्तर—नहीं हो सकती। क्योंकि वह मूर्त्ति के जड़त्व धर्म आत्मा में आने से विचारशक्ति घट जाती है। विवेक के विना न वैराग्य, और वैराग्य के विना न विज्ञान, और विज्ञान के विना शान्ति नहीं होती। और जो कुछ होता है, सो उनके सङ्ग उपदेश और उनके इतिहासादि के देखने से होता है क्योंकि जिसका गुण वा दोष न जानके उसकी मूर्त्तिमात्र देखने से प्रीति नहीं होती। प्रीति होने का कारण गुण-ज्ञान है।

ऐसे मूर्त्तिपूजा आदि बुरे कारणों ही से आर्यावर्त्त में निकम्मे पुजारी भिक्षुक आलसी पुरुषार्थ-रहित क्रोड़ों मनुष्य हुए हैं। सब संसार में मूढ़ता उन्होंने फैलाई है। झूंट-छल भी बहुत-सा फैला है।

[लाटभैरव महादेव वेणीमाधव के चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—देखो, काशी में **'औरङ्गजेब'** बादशाह को **'लाटभैरव'** आदि ने बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये थे। जब मुसलमान उनको तोड़ने गये, और उन्होंने जब उनपर तोप गोला आदि मारे, तब बड़े-बड़े भमरे निकलकर सब फौज को व्याकुल कर भगा दिया।

उत्तर—यह पाषाण का चमत्कार नहीं। किन्तु वहाँ भमरे के छत्ते लग रहे होंगे। उनका स्वभाव ही क्रूर है। जब कोई उनको छेड़े, तो वे काटने को दौड़ते हैं। और जो दूध की धारा का चमत्कार होता था, वह पूजारीजी की लीला थी।

प्रश्न—देखो, **'महादेव'** म्लेच्छ को दर्शन न देने के लिए कूप में और **'वेणीमाधव'** एक ब्राह्मण के घर में जा छिपे। क्या यह भी चमत्कार नहीं है ?

सत्कार करो, अर्चना करो ॥४॥ तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा ॥५॥ कौन एक देव है, वह ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं ॥६॥ माता को देव माननेवाला हो, पिता को देव माननेवाला हो, आचार्य को देव माननेवाला हो, अतिथि को देव माननेवाला हो ॥७॥ बहुत कल्याण चाहनेवाले पिताओं, भाइयों, पतियों तथा देवरों के द्वारा स्त्रियों का सत्कार होना चाहिए तथा उनको भूषणादि दिये जाने चाहिएँ ॥८॥ पति देवता के समान पूज्य है ॥९॥ आजकल 'पूज्य' शब्द के स्थान पर 'उपचर्य' है।

'जैसे स्त्री आदि······प्राप्ति क्यों न होगी ?' यह प्रश्न जैनियों का है।

जब मूर्त्तिपूजा को शास्त्रसम्मत तथा तर्कप्रतिष्ठित सिद्ध न किया जा सका तो उसके समर्थकों ने मन्दिरों तथा उनमें स्थापित मूर्त्तियों के सम्बन्ध में कल्पित कहानियाँ गढ़कर चमत्कारपूर्ण घटनाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना शुरू कर दिया। ग्रन्थकार अपनी परिव्राजक अवस्था में देश के विभिन्न तीर्थों तथा धर्मस्थानों का व्यापक भ्रमण कर चुके थे। उन्होंने अपनी तीक्ष्णैक्षिका से आपाततः चमत्कारपूर्ण कृत्यों की वास्तविकता को जान लिया था। इसलिए देश की जनता को पण्डे-पुजारियों की चालाकियों से अवगत कर धर्म के नाम पर होनेवाले पाखण्डों से सावधान करने के लिए सत्यार्थप्रकाश में उनका उल्लेख करना आवश्यक समझा।

उत्तर—भला जिसके कोटपाल **कालभैरव लाटभैरव** आदि भूत-प्रेत, और गरुड़ आदि गणों ने मुसलमानों को लड़के क्यों न हठाये ? जब **महादेव** और **विष्णु** की पुराणों में कथा है कि अनेक **त्रिपुरासुर** आदि बड़े भयङ्कर दुष्टों को भस्म कर दिया, तो मुसलमानों को भस्म क्यों न किया ? इससे यह सिद्ध होता है कि विचारे पाषाण क्या लड़ते-लड़ाते ? जब मुसलमान मन्दिर और मूर्त्तियों को तोड़ते-फोड़ते हुए काशी के पास आये, तब पूजारियों ने उस पाषाण के लिङ्ग को कूप में डाल, और **वेणीमाधव** को ब्राह्मण के घर छिपा दिया। जब काशी में **कालभैरव** के डर के मारे यमदूत नहीं जाते, और प्रलयसमय में भी काशी का नाश होने नहीं देते, तो म्लेच्छों के दूत क्यों न डराये ? और अपने राज के मन्दिर का क्यों नाश होने दिया ? यह सब पोपमाया है।

[गया में श्राद्ध का खण्डन]

प्रश्न—गया में श्राद्ध करने से पितरों का पाप छूटकर वहाँ के श्राद्ध के पुण्य-प्रभाव से पितर स्वर्ग में जाते, और पितर अपना हाथ निकालकर पिण्ड लेते हैं। क्या यह भी बात झूंठी है ?

उत्तर—सर्वथा झूंठ। जो वहाँ पिण्ड देने का वही प्रभाव है, तो जिन पिण्डों को पितरों के सुख के लिये लाखों रुपये देते हैं, उनका व्यय गयावाले वेश्यागमनादि पाप में करते हैं, वह पाप क्यों नहीं छूटता ? और हाथ निकलता आज-कल कहीं नहीं दीखता, विना पण्डों के हाथों के। यह कभी किसी धूर्त्त ने पृथिवी में गुफा खोद, उसमें एक मनुष्य बैठा दिया होगा। पश्चात् उसके मुख पर कुश बिछा, पिण्ड दिया होगा। और उस कपटी ने उठा लिया होगा। किसी **'आँख के अन्धे, गाँठ के पूरे'** को इस प्रकार ठगा हो, तो आश्चर्य नहीं। वैसे ही **'बैजनाथ'** को रावण लाया था, यह भी मिथ्या बात है।

[काली कामाक्षा के चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—देखो, कलकत्ते की **काली** और **कामाक्षा**[१] आदि देवी को लाखों मनुष्य मानते हैं। क्या यह चमत्कार नहीं है ?

उत्तर—कुछ भी नहीं। ये अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं। कूप खाड़े में गिरते हैं, हठ नहीं सकते। वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्त्तिपूजारूप गढ़े में फसकर दुःख पाते हैं।

काली कलकत्तेवाली—भारत को बदनाम करनेवाली यह 'माँ' प्रतिदिन सैकड़ों बकरों का खून पीती है। रामकृष्ण परमहंस की यह Divine Mother देश का कलंक है। यह मध्यकालीन तन्त्रोक्त वाम-मार्ग के गर्हित, कुत्सित और बीभत्स कृत्यों का प्रतीक है। बंगाल और कामरूप (आसाम) में प्रचलित दुर्गापूजा वाममार्गी उपासना का ही परिष्कृत रूप है। आज भी ऐसे पुजारी और साधक हैं जो तान्त्रिक मान्यताओं के अनुसार पंचमकारों का सेवन करते हैं। वर्त्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में अमरीका की मिस मेयो (कुमारी कैथराइन मेयो) ने अपनी कुख्यात पुस्तक 'मदर इण्डिया' ('Mother India') का आरम्भ ही कालीघाट स्थित काली मन्दिर के वीभत्स वर्णन से किया था। इस पुस्तक के उत्तर में भारतीयों द्वारा अनेक पुस्तकें लिखी गईं। उनमें जो चर्चा का विषय बनीं, वे थीं—लाला लाजपत राय की 'Unhappy India' ('दुःखी भारत') 'Uncle Sam', 'Father India' लेखिका का दृष्टिकोण दूषित होने से ही वह आलोचना का विषय बनी। इसका सटीक मूल्यांकन महात्मा गांधी ने एक वाक्य में

---

१. आसाम (असम) में गोहाटी के समीप ब्रह्मपुत्र के तट पर की पहाड़ी पर कामाक्षी देवी का मन्दिर है।

[जगन्नाथ जी के चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—भला, यह तो जाने दो। परन्तु **जगन्नाथजी** में प्रत्यक्ष चमत्कार है। एक कलेवर बदलने के समय चन्दन का लकड़ा समुद्र में से स्वयमेव आता है। चूल्हे पर ऊपर-ऊपर सात हण्डे धरने से ऊपर-ऊपर के पहिले-पहिले पकते हैं। और जो कोई वहाँ जगन्नाथ की परसादी न खावे, तो कुष्ठी हो जाता है। और रथ आप-से-आप चलता, पापी को दर्शन नहीं होता है। **इन्द्रदमन** के राज्य में देवताओं ने मन्दिर बनाया है। कलेवर बदलने के समय एक राजा एक पण्डा एक बढ़ई मर जाने आदि चमत्कारों को तुम झूंठ न कर सकोगे ?

उत्तर—जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी, वह विरक्त होकर मथुरा में आया था[1], मुझसे मिला था। मैंने इन बातों का उत्तर पूछा था। उन्होंने ये सब बातें झूठ बताईं। किन्तु विचार से निश्चय यह है कि जब कलेवर बदलने का समय आता है, तब नौका में चन्दन की लकड़ी ले समुद्र में डालते हैं। वह समुद्र की लहरियों से किनारे लग जाती है। उसको ले सुतार लोग मूर्त्तियाँ बनाते हैं।

जब रसोई बनती है, तब कपाट बन्द करके रसोइयों के विना अन्य किसी को न जाने न देखने देते हैं। भूमि पर चारों ओर छः और बीच में एक चक्राकार चूल्हे बनाते हैं। उन हण्डों के नीचे घी मट्टी और राख लगा, छः चूल्हों पर चावल पका, उनके तले माँजकर उस बीच के हण्डे में उसी समय चावल डाल, उसके ऊपर उन छः हण्डों को रख, छः चूल्हों के मुख लोहे के तवों से बन्ध कर, दर्शन करनेवालों को जोकि धनाढ्य हों बुलाके दिखलाते हैं। ऊपर-ऊपर के हण्डों से चावल निकाल, पके हुए चावलों को दिखला, नीचे के कच्चे चावल निकाल दिखाके उनसे कहते हैं कि—कुछ हण्डों के लिये रख दो। **'आंख के अन्धे गाँठ के पूरे'** रुपये अशर्फी धरते, और कोई-कोई मासिक भी बाँध देते हैं।

शूद्र लोग मन्दिर में नैवेद्य लाते हैं। जब नैवेद्य हो चुकता है, तब वे शूद्र लोग जूंठा कर देते हैं। पश्चात् जो कोई रुपया देकर हण्डा लेवे उसके घर पहुँचाते, और दीन गृहस्थ और साधु-सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यजपर्यन्त एक पङ्क्ति में बैठ जूठा एक-दूसरे का भोजन करते हैं। जब वह पङ्क्ति उठती है, तब उन्हीं पत्तलों पर दूसरों को बैठाते जाते हैं। महा अनाचार है।

और बहुतेरे मनुष्य वहाँ जाकर उनका जूंठा न खाके, अपने हाथ बना खाकर चले आते हैं। कुछ भी कुष्ठादि रोग नहीं होते। और उस जगन्नाथपुरी में भी बहुत से परसादी नहीं खाते, उनको भी

किया था—"It is a drain Inspector's report". अर्थात् यह एक गन्दी नालियों के निरीक्षक की रिपोर्ट है।

जगन्नाथजी—इस विषय में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—"यदि लकड़ी के रथ में भगवान् को देखकर ही जीव की मुक्ति हो जाती है तब तो प्रतिवर्ष करोड़ों मनुष्यों को मुक्तिलाभ हो जाता। फिर भी जगन्नाथ के मन्दिर के विषय में साधारण भक्तों का जो विश्वास है, उनके बारे में मैं यह नहीं कहता कि वह कुछ भी नहीं हैं अथवा मिथ्या है" (विवेकानन्द जी के संग में, पृष्ठ १४८)। जगन्नाथ जी की पूजा की आलोचना करते हुए भी स्वामी विवेकानन्द उसे मिथ्या कहने का साहस नहीं जुटा सके। प्रथम तो इसलिए कि वे स्वयं मूर्त्तिपूजक थे और दूसरे इसलिए कि उनके जीवनी-लेखक के अनुसार वे स्थिरमति नहीं थे।

---

१. सम्भवतः जिस समय ग्रन्थकार मथुरा में गुरुवर दण्डी विरजानन्द जी से पढ़ते थे, उस समय की यह घटना होगी।

कुष्ठादि रोग नहीं होते। और उस जगन्नाथपुरी में भी बहुत से कुष्ठी हैं। नित्यप्रति जूंठा खाने से भी रोग नहीं छूटता।

और यह जगन्नाथ में वाममार्गियों ने **'भैरवीचक्र'** बनाया है। क्योंकि सुभद्रा श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान में बिठाया है।[1] जो भैरवीचक्र न होता, तो यह बात कभी न होती।[2]

और रथ के पहियों के साथ कला बनाई हैं। जब उनको सूधी घुमाते हैं घूमती हैं, तब रथ चलता है। जब मेले के बीच में पहुँचता है, तभी उसकी कील को उलटी घुमा देने से रथ खड़ा रह जाता है। पुजारी लोग पुकारते हैं—'दान देओ, पुण्य करो, जिससे जगन्नाथ प्रसन्न होकर अपना रथ चलावें, अपना धर्म रहे।' जबतक भेंट आती जाती है, तबतक ऐसे ही पुकारते जाते हैं। जब आ चुकती है, तब एक ब्रजवासी अच्छे कपड़े दुशाला ओढ़कर आगे खड़ा रहके हाथ जोड़ स्तुति करता है कि—'हे जगन्नाथ स्वामिन्! आप कृपा करके रथ को चलाइये, हमारा धर्म रक्खो'। इत्यादि बोलके साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर रथ पर चढ़ता है। उसी समय कील को सूधा घुमा देते हैं। और 'जय-जय' शब्द बोल सहस्रों मनुष्य रस्सी खींचते हैं, रथ चलता है।

जब बहुत-से लोग दर्शन को आते हैं, तब इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता है, और दीपक जलाना पड़ता है। उन मूर्त्तियों के आगे पड़दे खेंचकर लगाने के पर्दे दोनों ओर रहते हैं। पण्डे-पुजारी भीतर खड़े रहते हैं। तब एक ओर वाले ने पर्दे को खींचा, झट मूर्त्ति आड़ में आ जाती है। तब सब पण्डे और पुजारी पुकारते हैं—'तुम भेंट धरो, तुम्हारे पाप छूट जायेंगे, तब दर्शन होगा। शीघ्र करो।' वे विचारे भोले मनुष्य धूर्त्तों के हाथ लूटे जाते हैं। और झट पर्दा दूसरा खेंच लेते हैं, तभी दर्शन होता है। तब जय शब्द बोलके प्रसन्न होकर धक्के खाके तिरस्कृत हो चले आते हैं।

'इन्द्रदमन' वही है कि जिसके कुल में लोग अब तक कलकत्ते में है। वह धनाढ्य राजा और देवी का उपासक था। उसने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर बनवाया था। इसलिए कि आर्यावर्त्त देश के भोजन का बखेड़ा इस रीति से छुड़ावें। परन्तु वे मूर्ख कब छोड़ते हैं? **'देव'** मानो तो उन्हीं कारीगरों को मानो, कि जिन शिल्पियों ने मन्दिर बनवाया। राजा पण्डा और बढ़ई उस समय नहीं मरते, परन्तु वे तीनों वहाँ प्रधान रहते हैं। छोटों को दुःख देते होंगे, उन्होंने सम्मति करके उसी समय अर्थात् कलेवर बदलने के समय वे तीनों उपस्थित रहते हैं, मूर्त्ति का हृदय पोला रक्खा है। उसमें सोने के सम्पुट में एक सालगराम रखते हैं कि जिसको प्रतिदिन धोके चरणामृत बनाते हैं। उस पर रात्रि की शयन आर्त्ती में उन लोगों ने विष का तेजाब लपेट दिया होगा। उसको धोके उन्हीं तीनों को पिलाया होगा, कि जिससे वे कभी मर गये होंगे। मरे तो इस प्रकार, और भोजनभट्टों ने प्रसिद्ध किया होगा कि जगन्नाथजी अपने शरीर बदलने के समय तीनों भक्तों को भी साथ ले गये। ऐसी झूंठी बातें पराये धन ठगने के लिये बहुत सी हुआ करती हैं।

---

१. प्राचीन भारतीय शिष्टाचार के अनुसार यज्ञकार्य से अन्यत्र पत्नी को वामभाग में, और पत्नी से भिन्न स्त्रीमात्र को दक्षिण भाग में बिठाया जाता है। दोनों के मध्य में सुभद्रा को रखने से उसकी स्थिति एक के वामभाग में होने से पत्नी और दूसरे के दक्षिण भाग में होने से माता के समान होती है।

२. इस बात की पुष्टि जगन्नाथ के मन्दिर के ऊपर बनी स्त्री-पुरुषों की विविध प्रकार की भोगात्मक मूर्त्तियों से भी होती है।

[रामेश्वर में लिङ्ग चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—जो **रामेश्वर** में गंगोतरी के जल चढ़ाने समय लिंग बढ़ जाता है, क्या यह भी बात झूंठी है ?

उत्तर—झूंठी। क्योंकि उस मन्दिर में भी[1] दिन में अँधेरा रहता है। दीपक रात-दिन जला करते हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजुली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब चलकता है, और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके विचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।

प्रश्न—रामेश्वर को **रामचन्द्र** ने स्थापन किया है। जो मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध होती, तो रामचन्द्र मूर्त्तिस्थापन क्यों करते ? और **वाल्मीकिजी** रामायण में क्यों लिखते ?

उत्तर—रामचन्द्र के समय में उस लिङ्ग वा मन्दिर का नाम चिह्न भी न था। किन्तु यह ठीक है कि दक्षिण देशस्थ **'राम'** नामक राजा ने मन्दिर बनवा लिङ्ग का नाम **रामेश्वर** धर दिया है। जब रामचन्द्र सीताजी को ले, हनुमान् आदि के साथ लङ्का से आकाशमार्ग में विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे, तब सीताजी से कहा था कि---

'अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः। सेतुबन्ध इति ख्यातम् ॥'

---वाल्मीकि रा० लङ्का काण्ड सर्ग १२६, श्लोक १६, १५

'हे सीते ! तेरे वियोग से हम व्याकुल होकर घूमते थे, और इसी स्थान में चातुर्मास किया था। और परमेश्वर की उपासना ध्यान भी करते थे। वहीं जो सर्वत्र विभु=व्यापक देवों का देव **'महादेव'** परमात्मा है, उसकी कृपा से हमको सब सामग्री यहाँ प्राप्त हुई। और देख, यह सेतु हमने बाँधकर लङ्का में आके उस रावण को मार तुझको ले आये ॥'

इसके सिवाय वहाँ वाल्मीकि ने अन्य कुछ भी नहीं लिखा।

[कालियाकन्त के चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—**'रङ्ग है कालियाकन्त को। जिसने हुक्का पिलाया सन्त को ॥**

दक्षिण में एक कालियाकन्त की मूर्त्ति है। वह अब तक हुक्का पिया करती है। जो मूर्त्तिपूजा झूंठी हो, तो यह चमत्कार भी झूंठा हो जाय ?

उत्तर—झूंठी-झूंठी। यह सब पोपलीला है। क्योंकि वह मूर्त्ति का मुख पोला होगा। उसका छिद्र पृष्ठ में निकालके भित्ती के पार दूसरे मकान में नल लगा होगा। जब पुजारी हुक्का भरवा पेचवाँ[2] लगा, मुख में नली जमाके पड़दे डाल, निकल आता होगा, तभी पीछेवाला आदमी मुख से खींचता होगा, तो इधर हुक्का गड़-गड़ बोलता होगा। दूसरा छिद्र नाक और मुख के साथ लगा होगा। जब पीछे फूंक मार देता होगा, तब नाक और मुख के छिद्रों से धुआँ निकलता होगा। उस समय बहुत से मूढ़ों को धनादि पदार्थों से लूटकर धनरहित करते होंगे।

[डाकोर के चमत्कारों का खण्डन]

प्रश्न—देखो, **डाकोरजी** की मूर्त्ति द्वारिका से भगत के साथ चली आई। एक सवा रत्ती सोने

डाकोर जी—"श्री द्वारिका जी के निकट (सात कोस) डाकोर (हीराकोरक) के एक गाँव में श्री रामदास जी रहते थे। आपको श्री भगवान् की भक्ति अति प्रिय थी। श्री रणछोड़ भगवान् के यहाँ

१. अर्थात् 'जगन्नाथ के मन्दिर के समान रामेश्वर के मन्दिर में भी।'
२. अर्थात् 'पेचवान'।

में कई मन की मूर्त्ति तुल गई। क्या यह भी चमत्कार नहीं ?

उत्तर—नहीं। वह भक्त मूर्त्ति को चोर[1] ले आया होगा। और सवा रत्ती के बराबर मूर्त्ति का तुलना किसी भङ्गड़ आदमी ने गप्प मारा होगा।

प्रति एकादशी की रात को जागरन कीर्तन उत्सव हुआ करता था। उसमें आप भी बराबर पहुँचा करते थे, यह आपका नियम था। आप बूढ़े हुए तो भगवान् ने कृपा कर आज्ञा दी कि 'तुम अब इस अवस्था में सात कोस आने-जाने का कष्ट मत सहा करो।' परन्तु आपने जागरन के आनन्द में साथ देना नहीं छोड़ा। भगवान् ने प्रेम तथा कृपापूर्वक कहा कि 'तुम्हारा आना मुझसे सहा नहीं जाता, सो तुम शीघ्र ही मुझे अपने ही घर ले चलो। इसके योग्य एक गाड़ी ले आओ। मन्दिर के पीछे जो खिड़की है, उसी के सामने गाड़ी खड़ी करना। अपने अंकवार में लेके मुझे उसमें लिटा देना और बड़ी खरा में गाड़ी हाँक ले जाना।' श्री रामदास जी ने वैसा ही किया। गाड़ी में चढ़के जागरन कीर्तन के उत्सव में आये। लोगों ने अनुमान किया कि बूढ़े होने से पाँव की शक्ति थक जाने के कारण अबकी गाड़ी पर आये हैं। द्वादशी की आधी रात के समय भगवान् उसी ढिग से आपके साथ गाड़ी पर चले। आपके आनन्द की वार्त्ता ही क्या है ! हाँ, श्रीभगवान् को गाड़ी पर चढ़ा ले चलने के पहले श्री रामदास जी ने भूषण सब उतारकर मन्दिर में ही छोड़ दिये, क्योंकि आप धन के भूखे तो थे ही नहीं। आपको तो केवल श्रीभगवान् के चरणों की सच्ची चाह थी। बड़े भोर जब मन्दिर खोला गया तो सबों ने देखा कि उजाड़ पड़ा है। जान गये कि रामदास ही ले गये। लोगों ने आपका पीछा किया। दौड़कर समीप पहुँचे कि जहाँ से गाड़ी दिखाई देने लगी तथा आपने भी देखा कि पीछा करनेवाले आ पहुँचे। आपको भारी चिन्ता हुई कि अब क्या बुद्धि चलाऊँ ? भगवान् ने आज्ञा दी कि उसी समीपस्थ वापी में मेरी प्रतिमा छिपा दो। ऐसा करके आप गाड़ी में पाँव फैला चैन से लेट रहे। गाड़ी धीरे-धीरे हाँक दी। वे लोग आ पहुँचे। गाड़ी जो चली जा रही थी उसको पकड़कर रामदास जी को बड़ी मार मारी, आपकी देह में बरछी चुभो दी। मारपीट के अनन्तर उन सबने उस गाड़ी में चारों ओर श्रीभगबान् को ढूँढ़ा। परन्तु कहीं न पाया। तब वे पछताने लगे कि व्यर्थ ही हमने भक्त को कलंक लगाया तथा चोट लगाई। इतने में एक बोल उठा—'मैंने रामदास को देखा था कि उस बावली की ओर गया था।' सबने बावली में जाकर देखा, जल में रुधिर छाया हुआ था। तब वे सब चिन्तित व चकित हुए। भगवान् ने आज्ञा दी कि 'मेरा भक्त मुझे मेरी आज्ञा से ले चला है। तुमने बुरा किया, तुम सब फिर जाओ। तुम्हारे साथ मैं नहीं जाने का। मेरी इस बाली को मेरी मूर्त्ति के तुल्य तोल के दे दो।' प्रभु प्रताप से बाली ऐसी भारी हो गई कि बाली-वाला पलड़ा पृथिवी से उठा ही नहीं। भगवान् ने निज मूर्त्ति को हल्का कर लिया। वह पलड़ा ऊपर को उठ गया।" (भक्तमाल पर वार्त्तिक तिलक पृष्ठ ४५१-५३)

'भक्तमाल' की रचना नाभादास जी ने संवत् १६४२ के आसपास की थी। संवत् १७६६ में प्रियादास जी ने इसकी टीका लिखी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "इस ग्रन्थ में २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र लिखे गये हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्यबुद्धि का प्रचार करना है।" मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गई कल्पित कहानियों में तथ्यों की खोज करना व्यर्थ है। बुद्धि का प्रवेश वहाँ सर्वथा निषिद्ध है।

---

१. अर्थात् 'चुरा'।

[सोमनाथ का मन्दिर और महमूद गजनवी]

प्रश्न—देखो, **सोमनाथजी** पृथिवी से ऊपर रहता था, और बड़ा चमत्कार था। क्या यह भी मिथ्या बात है ?

उत्तर—हाँ, मिथ्या है। सुनो, ऊपर नीचे चुम्बक पाषाण लगा रक्खे थे। उसके आकर्षण से वह मूर्त्ति अधर खड़ी थी। जब **'महमूद गजनवी'** आकर लड़ा, तब यह चमत्कार हुआ कि उसका मन्दिर तोड़ा गया। और पुजारी भक्तों की दुर्दशा हो गई। और लाखों फौज दस सहस्र फौज से भाग गई।

जो पोप पुजारी पूजा पुरश्चरण स्तुति प्रार्थना करते थे कि—'हे महादेव। इस म्लेच्छ को तू मार डाल, हमारी रक्षा कर'। और वे अपने चेले राजाओं को समझाते थे कि—'आप निश्चिन्त रहिये। महादेवजी भैरव अथवा वीरभद्र को भेज देंगे। वे सब म्लेच्छों को मार डालेंगे, वा अन्धा कर देंगे। अभी हमारा देवता प्रसिद्ध होता है। हनुमान्, दुर्गा और भैरव ने स्वप्न दिया है कि हम सब काम कर देंगे।' वे बिचारे भोले राजा और क्षत्रिय पोपों के बहकाने से विश्वास में रहे।

कितने ही ज्योतिषी पोपों ने कहा कि अभी तुम्हारी चढ़ाई का मुहूर्त्त नहीं है। एक ने आठवाँ चन्द्रमा बतलाया, दूसरे ने योगिनी सामने दिखलाई, इत्यादि बहकावट में रहे। जब म्लेच्छों की फौज ने आकर घेर लिया, तब दुर्दशा से भागे। कितने ही पोप पुजारी और उनके चेले पकड़े गये। पुजारियों ने यह भी हाथ जोड़ कहा कि—'तीन क्रोड़ रुपया ले लो, मन्दिर और मूर्त्ति मत तोड़ो।' मुसलमानों ने कहा कि—'हम **'बुतपरस्त'**[1] नहीं, किन्तु **'बुतशिकन'** अर्थात् मूर्त्तिपूजक नहीं किन्तु मूर्त्तिभंजक हैं।' जाके झट मन्दिर तोड़ दिया।

जब ऊपर की छत टूटी, तब चुम्बक-पाषाण पृथक् होने से मूर्त्ति गिर पड़ी। जब मूर्त्ति तोड़ी, तब सुनते हैं कि अठारह क्रोड़ के रत्न निकले। जब पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े, तब रोने लगे।

सोमनाथ—सोमनाथ सौराष्ट्र में समुद्रतट पर है। वहाँ पहुँचने के लिए वीरावल स्टेशन पर उतरना होता है। सोमनाथ पर हुए आक्रमण का विस्तृत विवरण प्रथम संस्करण (पृ० ३१७-२०) में मिलता है। इस प्रसंग में प्रथम संस्करण में इतना और लिखा है—"सो अठारह करोड़ का माल उसने (महमूद ग़ज़नवी ने) उस मन्दिर से पाया। फिर बहुत-सी गाड़ी, ऊँट और मजूर उसके पास में थे। और भी वहाँ से पकड़ लिए। उनके ऊपर सब माल को लादके अपने देश की ओर चला। सो थोड़े-से-थोड़े पण्डित, महन्त और पुजारी तथा क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण और शूद्र तथा स्त्री, बालक दश हज़ार तक पकड़ कर संग ले लिए थे। उनका यज्ञोपवीत तोड़ डाला, मुख में थूक दिया और थोड़े-थोड़े सूखे चने नित्य खाने को देता था और जौ जरूर साफ़ करवावै, पिसवावै, घास छिलवावै और घोड़ों की लीद उठवावै और मुसलमानों के जूठे बरतन मजवावै और सब प्रकार की नीच सेवा उनसे ले। ऐसा करता-करता जब मक्का के पास पहुँचा तब अन्य मुसलमानों ने कहा कि इन काफ़िरों को यहाँ रखना उचित नहीं। फिर उनको बुरी दशा से मार डाला। क्योंकि उनके कुरान में लिखा है कि काफ़िरों को लूट ले, उनकी स्त्री छीन ले, झूठ-फ़रेब से उनका सब माल ले-ले और उनको मार डाले तो भी कुछ दोष नहीं। किन्तु उस (मारनेवाले) मुसलमान को बिहिस्त अर्थात् उसको स्वर्गवास मिलता है। वह ख़ुदा के घर में मान्य होता है। फिर काफ़िर वह कहाता है जो कि मुहम्मद के कलमा को न पढ़ै और क़ुरान के ऊपर विश्वास न ले आवै। उसको बिगाड़ने और मारने में कुछ दोष नहीं, ऐसा मुसलमानों के मत में लिखा है। इससे

---

१. 'बुत' अपभ्रंश 'बुद्ध' से हुआ है। पहले बुद्ध की मूर्त्तियाँ ही फारस देश में थीं। भ० द०

कहा कि कोष बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूटमार कूटकर पोप और उनके चेलों को 'गुलाम' बिगारो[1] बना पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया, और चना खाने को दिये।

हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? क्यों परमेश्वर की भक्ति न की? जो म्लेच्छों के दाँत तोड़ डालते, और अपना विजय करते। देखो, जितनी मूर्त्तियाँ पूजी हैं, उतनी शूरवीरों की पूजा करते, तो भी कितनी रक्षा होती। पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की। परन्तु मूर्त्ति एक भी उन शत्रुओं के शिर पर उड़के न लगी। जो किसी एक शूरवीर पुरुष की मूर्त्ति के सदृश सेवा करते, तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता, और उन शत्रुओं को मारता।

[द्वारिका के रणछोड़ के चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—द्वारिकाजी के **रणछोड़जी**, जिसने **'नर्सीमहता'** के पास हुण्डी भेज दी, और उसका ऋण चुका दिया। इत्यादि बात भी क्या झूंठ है?

उनको अन्याय करने में कुछ भय नहीं होता और जो कुछ पाप होता है सो तोवा शब्द से छूट जाता है। इससे वे पाप करने में भय क्यों करेंगे। ऐसे ही वारह दफ़े वह आया है और दो-तीन बार मथुरा की भी दुर्दशा ऐसी किई थी और जहाँ-जहाँ वह गया था वहाँ-वहाँ ऐसी ही दुर्दशा उस देश की उसने किई थी और डांकू की नांई वह आता था, मारके जो कुछ पाता था, अपने देश में ले जाता था। उस दिन से मुसलमान लोग दरिद्र से धनाढ्य हो गये हैं। सो आर्यावर्त्त के प्रताप से आज तक भी धन चला आता है और आर्यावर्त्त देश अपने ही दोषों से नष्ट होता जाता है। सो हमको बड़ा अपशोच है कि ऐसा जो देश और इस प्रकार का धन जिस देश में है, सो मूर्त्तिपूजनादिक पाखण्डों की प्रवृत्ति और नाना प्रकार के मिथ्या मज़हबों से···अधिक-अधिक दुर्दशा ही होगी।"—(पृ० ३२१-२२)

द्वारिकाजी के रणछोड़जी—द्वारिका तीन हैं—१. गोमती द्वारिका, २. बेट द्वारिका, ३. मूल द्वारिका। मूल द्वारिका सौराष्ट्र (काठियावाड़) में पोरबन्दर रेलवे स्टेशन के पास है। यात्री लोग प्रायः गोमती और बेट द्वारिका की ही यात्रा करते हैं।

नर्सी महता—भक्तमाल के वार्त्तिक (पृ० ६७६-८०) में यह प्रसंग इस प्रकार वर्णित है—"एक बार तीर्थ करते हुए कोई सन्तजन जूनागढ़ में आकर पूछने लगे कि हमें द्वारिका जाना है, कोई वहाँ की हुण्डी कर देनेवाला है? यह बात जो आपकी निन्दा और विरोध करनेवाले थे, उन्होंने सुनकर कहा कि 'यहाँ बडे विख्यात सेठ नरसी हैं, उनके पास जाते ही आपकी यह भूख जाती रहेगी। परन्तु इस बल से हुण्डी करेंगे कि आगे रुपये रख देना और आगे चरण पकड़ के दण्डवत् कर बारम्बार प्रार्थना करना, तब हुण्डी लिख देंगे।' और उन खलों ने आपका स्थान भी जाकर बता दिया। सन्तों ने वैसा ही किया। श्री नरसी जी उठकर मिले और बोले कि मेरे बड़े भाग्य हैं कि आप आये हैं, मैं क्या न्यवछावर करूँ? सन्तों से सात सौ रुपये आपके आगे रख प्रणाम कर वारम्बार कहा 'हमको हुण्डी लिखि दीजिए।' आपने जान लिया कि लोगों ने इन्हें भरमाके भेजा है। फिर निश्चय किया कि प्रभु ने मेरे लिये द्रव्य भेजा है। सो उन्हीं की हुण्डी लिख दूं। प्रभु ही के नाम से लिख दिया और बता दिया कि हमारे आढ़तिया बड़े उदार हैं। 'सांवल साहू' हैं। उन्हीं के हाथ हुण्डी देकर रुपये लेकर अपना काम कर लेना। सन्त हुण्डी

---

१. अर्थात् जिनसे बेगार ली जाती है।

उत्तर—किसी साहूकार ने रुपये दे दिये होंगे। किसी ने झूँठा नाम उड़ा दिया होगा कि श्रीकृष्ण ने भेजे। **जब संवत् १९१४[1] के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्त्तियाँ अंगरेजों ने उड़ा दी थीं,** तब मूर्त्ति कहाँ गई थीं ? प्रत्युत **बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा**[2], परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता, तो इनके धुर्रें उड़ा देता, और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाये, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें ?

लेकर द्वारिका आ नगर में 'सांवलिया साहू' की कोठी पूछने लगे। किसी ने नहीं बताई। भूख-प्यास छोड़ बहुत ढूँढ़ा, पर नहीं पाया। तब अति दुःखी होकर द्वारिका के बाहर गये। तब श्रीकृष्णचन्द्र सेठ का रूप कर, कन्धे पर रुपयों की थैली धरे आकर बोले कि किसके पास नरसीजी की हुण्डी है ? अपना दाम गिनाकर हुण्डी चुका ले। सुनकर सन्त बोले—अजी, हम तुमको ढूँढ़कर हार गये; भले आए। आप बोले कि मुझको बड़ी लज्जा हुई कि आपको हुण्डी रुपये मिलने में विलम्ब हुआ। मेरा घर एकान्त में है। कोई-कोई हरि के दास ही जानते हैं। अपने रुपये लीजिए और हमारा पत्र भी नरसीजी को देकर कहना कि बारम्बार हुण्डी लिखा करें, बहुत से रुपये रक्खे हैं। सन्तों ने रुपये ले द्वारिका की यात्रा की और लौटकर नरसीजी को पत्र दे दिया।

---

१. अर्थात् सन् १८५७ के वर्ष में।

२. यह सन् १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध के समय की बात है। 'मन्दिरों और मूर्त्तियों के तोपों से उड़ाये जाने की घटना रींवा शहडोल क्षेत्र के एक ग्राम की है, जो वर्तमान बदिया के पास स्थित है। यह सर्वविदित है। सन् १८५७ में इस क्षेत्र के बघेलों ने अंग्रेजी सेना से टक्कर ली थी, यह भी सर्वविदित है।' परोपकारी पत्रिका आश्विन २०३२ (सितम्बर १९७५) पृष्ठ २४ कालम १, 'विन्ध्य भूभाग में महर्षि दयानन्द सरस्वती का परिभ्रमण एवं विश्राम' शीर्षक श्री गणेशप्रसाद साहा का लेख। यह उपयोगी लेख परोपकारी के भाद्र आश्विन सं० २०३२ के दो अंकों में छपा है।

बाघेर कौन थे—

प्रस्तुत सन्दर्भ में बाघेर लोगों की वीरता के उल्लेख के आधार पर कई लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सन् १८५७ में भारतीयों द्वारा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध किए गये सशस्त्र संघर्ष के सूत्रधार अथवा प्रेरणास्रोत स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। ऋषि दयानन्द के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में वर्षों तक खोज करनेवाले, जामनगर के आयुर्वेदिक कालिज के प्राध्यापक प्रो० दयाल ने स्वयं द्वारिका जाकर बाघेर लोगों के इतिहास की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया। उनके द्वारा प्राप्त जानकारी को हम यहाँ उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं—

इस विषय में मैंने बाघेर जाति की उत्पत्ति से लेकर वर्तमान तक का इतिहास, द्वारिका मन्दिर, कब कितनी बार, किसने तोड़ा—आदि जानकारी एकत्र करने का प्रयास किया है। मैंने ऋषि की जीवनी के शोधकार्य में द्वारिका के पण्डों के चोपड़े (रजिस्टर) में सब बातों की जानकारी हेतु भी प्रयत्न किया। द्वारिका मैं एकाधिक बार गया हूँ। दो मास पूर्व (सन् १९८८) हमारे कालिज में द्वारिका पुरातत्त्व विभाग की ओर से एक प्रदर्शनी आयोजित की गई थी। उसके वरिष्ठ अधिकारी डाक्टर राव ने समुद्र में डूबी प्राचीन द्वारिका के पुराने अवशेष आदि भी ढूंढ निकाले हैं। कुछ इतिहासकार वर्तमान द्वारिका को ही प्राचीन मानते हैं। इस विषय में गुजरात के पत्र-पत्रिकाओं में पक्ष-विपक्ष में लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

कृष्ण के द्वारिका बसाने से पूर्व बाघेर समुद्र तट पर रहनेवाली जाति थी। उसका मूल पुरुष कालयवन माना जाता है। यह जाति समुद्र युद्ध में दक्ष थी। द्वारिका विस्तार वर्तमान में 'ओखा मण्डल' के नाम से ख्यात है। ओखा द्वारिका से ३० किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। मण्डल के चालीस गाँवों में बाघेर राजा की सत्ता थी।

[ज्वालामुखी-हिंगलाज के चमत्कार का खण्डन]

प्रश्न—ज्वालामुखी तो प्रत्यक्ष देवी है, सबको खा जाती है। और प्रसाद देवे तो आधा खा जाती और आधा छोड़ देती है। मुसलमान बादशाहों ने उस पर जल की नहर छुड़वाई, और लोहे के तवे जड़वाये थे, तो भी ज्वाला न बुझी और न रुकी।

ज्वालामुखी—पंजाब (वर्त्तमान हिमाचल प्रदेश) के कांगड़ा जिले में 'ज्वालामुखी स्टेशन' से १३ मील (२० किलोमीटर) दूर है। होशियारपुर से गगरेट-चिन्तपूर्णी के रास्ते बस द्वारा भी पहुँचा जा सकता है। पौराणिक कल्पना के अनुसार सात देवियों में यह सबसे बड़ी बहन मानी जाती है। यह भी कहा जाता है कि ५१ शक्तिपीठों में से यहाँ देवी की जिह्वा गिरी थी। पास ही चिन्तपूर्णी देवी है, जिस पर यदि कोई जिह्वा काटकर चढ़ाये तो तत्काल जुड़ जाती है। हमने वहाँ जाकर देखा कि इस बात पर विश्वास करते हुए भी कोई भक्त हमारे बार-बार अनुरोध करने और चुनौती देने पर भी अपनी जीभ काटकर देवी पर चढ़ाने पर भी तैयार नहीं हुआ। वैज्ञानिकों के अनुसार इस ज्वाला का स्रोत पहाड़ के भीतर गैस का कोई अक्षय्य भण्डार है। जिस प्रकार देहरादून के पास अजस्रप्रवहमान सहस्रधारा का

सन् १४५९ में महमूद बेगड़ा ने द्वारिका का जगत् प्रसिद्ध मन्दिर (रणछोड़जी का मन्दिर) जो १८० फुट ऊँचा था, उसका चालीस फुट भाग तोड़कर उस पर मस्जिद जैसी मीनार बनाई थी। उसका एक टुकड़ा आज भी मन्दिर के चौक में विद्यमान है। इस लड़ाई में बाघेर राजा को हारकर भागना पड़ा था।

सन् १५७३ में अकबर गुजरात के बादशाह मुजफ्फरशाह को हराकर, कैदकर दिल्ली ले गया था। वह जेल से भागकर द्वारिका आया। उस समय उसे द्वारिका के राजा ने आश्रय दिया था।

सन् १६२४ में वर्त्तमान मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था।

सन् १८०४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार का एक जहाज बम्बई से कराची जा रहा था। बाघेर सरदारों ने उसे लूटा और अंग्रेजों को मारा। बम्बई की कम्पनी सरकार ने नौसेना से बम्बई पर चढ़ाई की, परन्तु वे बाघेरों से हार गये। १८०७ में बड़ौदा नरेश गायकवाड़ की सहायता से कम्पनी सरकार ने बाघेरों से समझौता किया, परन्तु बाघेरों ने उसका पालन नहीं किया। १८१६ में ओखा मण्डल के बाघेर राज्य को अपने अधिकार में ले लिया। ६ नवम्बर १८१७ को कम्पनी ने यह राज्य बड़ौदा नरेश आनन्दराव गायकवाड़ को सौंप दिया। बाघेरों ने पुनः १८६० तक बार-बार सत्ता प्राप्ति का प्रयास किया। ६ नवम्बर १८२० को गायकवाड़ की सहायता से अंग्रेज सैन्य ने बाघेरो से जोरदार युद्ध किया। बाघेर फिर हार गये। बाद में बाघेर लोग लूट-डकैती आदि उपद्रवों में लगे रहे।

१८५७ में कम्पनी सरकार अन्यत्र युद्धरत रहने के कारण गायकवाड़ की सहायता न कर सकेगी, यह सोचकर द्वारिका में गायकवाड़ के शासनाधिकारी को खदेड़कर उसने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। परन्तु गायकवाड़ की सेना के आने पर भागना पड़ा। बाघेरों के उपद्रवों के शमनार्थ १८५९ में कम्पनी सरकार ने गायकवाड़ की सहायतार्थ राजकोट, अहमदाबाद, बम्बई से नौसेना के साथ कर्नल डोनावल को ओखा भेजा। ४ अक्तूबर को तोपों का घमासान युद्ध हुआ। फिर भी अंग्रेजों को ओखा का किला सर करने में सफलता नहीं मिली। अनेक सैनिकों के साथ कैप्टन मेक-कार्मेक और एडवर्ड विलियम जैसे सेनानी मारे गये। दोनों को एक ही कब्र में दफनाया गया। आज भी उनकी कब्र ओखा टापू में स्थित है। दूसरे दिन अंग्रेजों ने पूरे जोश से युद्ध किया, जिससे बाघेर लोग द्वारिका की ओर भागे। अंग्रेजों ने पीछा किया। ६ अक्टूबर १८५९ को विजयादशमी के दिन द्वारिका में तोप के गोले बरसाये गये। रणछोड़ जी के प्रसिद्ध मन्दिर को क्षति पहुँची। बहुत से बाघेर मारे गये, शेष जंगल में भाग गये।

उस समय बम्बई के वैष्णव महाजनों ने प्रस्ताव पास कर दीवाली न मनाने का निर्णय किया और कम्पनी सरकार के सामने अपना विरोध प्रदर्शित किया। उसकी एक रिपोर्ट 'टाइम्स आफ इण्डिया' के २७ अक्टूबर १९५९

वैसे **हिंगलाज** भी आधीरात को सवारी कर पहाड़ पर दिखाई देती, पहाड़ को गर्जना कराती है। चन्द्रकूप बोलता, और योनियन्त्र से निकलने से पुनर्जन्म नहीं होता। ठुमरा बाँधने से पूरा महापुरुष कहाता। जबतक हिंगलाज न हो आवे, तबतक आधा महापुरुष बजता है। इत्यादि सब बातें क्या मानने योग्य नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि वह ज्वालामुखी पहाड़ से आगी निकलती है। उसमें पुजारी लोगों की विचित्र लीला है। जैसे बघार के घी के चमचे में ज्वाला आ जाती, अलग करने से वा फूक मारने से बुझ जाती, और थोड़े-से घी को खा जाती, शेष छोड़ जाती है, उसी के समान वहाँ भी है। जैसे चूल्हे की ज्वाला में जो डाला जाये सब भस्म हो जाता। जंगल वा घर में आग लग जाने से सबको खा जाती है। इससे वहाँ क्या विशेष है ? विना एक मन्दिर कुण्ड और इधर-उधर नल रचना के।

हिंगलाज में न कोई सवारी होती। और जो कुछ होता है वह सब पोप पूजारियों की लीला से दूसरा कुछ भी नहीं। एक जल और दलदल का कुण्ड बना रक्खा है। जिसके नीचे से बुदबुदे उठते हैं। उसको **'सफलयात्रा'** होना मूढ़ मानते हैं। **'योनि का यन्त्र'** उन लोगों ने धन हरने के लिये बनवा रक्खा है। और **'ठुमरे'** भी उसी प्रकार पोपलीला के हैं। उससे महापुरुष हो, तो एक पशु पर ठुमरे का बोझ लाद दें, तो क्या महापुरुष हो जायेगा ? **'महापुरुष'** तो बड़े उत्तम धर्मयुक्त पुरुषार्थ से होता है।

[अमृतसर रेवालसर अमरनाथ आदि के चमत्कारों का खण्डन]

प्रश्न—**अमृतसर** का तालाब अमृतरूप; एक **रीठे** का फल आधा मीठा; और एक **भित्ती नमती** और गिरती नहीं। **रेवालसर** में बेड़े तैरते; **अमरनाथ** में आप से आप लिङ्ग बन जाते; **हिमालय** से **कबूतर के जोड़े** आके सबको दर्शन देके चले जाते हैं। क्या यह भी मानने योग्य नहीं ?

पोषण करनेवाले जलभण्डार के नियत स्थान का पता नहीं लगाया जा सका, उसी प्रकार ज्वालामुखी में निरन्तर जलती रहनेवाली ज्वाला को बनाये रखनेवाले गैस भण्डार का पता नहीं लग सका है। **हिंगलाज**—बिलोचिस्तान के अन्तर्गत लासबेला राज्य में हिंगोलाज नदी के तट पर है। ५१ शक्तिपीठों (शक्तिपीठ वे स्थान हैं जहाँ पार्वतीदेवी के अंग गिरे थे) में से यहाँ पार्वती देवी का ब्रह्मरन्ध्र गिरा था। **ठूमरा**—नगर ठठ्ठा (सिन्ध) के पास की एक पहाड़ी से निकलता है।

अमृतसर—संवत् १६३१ में एक गाँव के रूप में बसाये गये इस नगर का नाम प्रारम्भ में 'गुरुचक' रक्खा गया था। गुरु अर्जुनदेव ने तालाब बनवाया तो इसका नाम बदलकर 'रामदासपुर' कर दिया गया। संवत् १६४१ में तालाब को पक्का कराया गया तो उसका नाम 'अमृतसर' रक्खा गया। धीरे-धीरे नगर का नाम भी अमृतसर प्रसिद्ध हो गया। संवत् १६४५ में हरिमन्दिर बनवाया गया, जिसकी आधारशिला लाहौर के सूफी सन्त मियाँ मीर ने रक्खी थी। तालाब ५०० फीट लम्बा और

के अंक में प्रकाशित हुई थी। तदनन्तर बाघेर सरदार जंगल में भटकते रहे। डकैती आदि उपद्रव मचाते रहे। उनका शमन करने का भी अंग्रेज प्रयत्न करते रहे। इस संघर्ष में अनेक अंग्रेज मारे गये। उनकी कब्रें आज भी विभिन्न स्थलों पर विद्यमान हैं।

बाघेरों के सम्बन्ध का कोई प्रमाण नहीं मिलता। १८५७ में गायकवाड़ से युद्ध अवश्य हुआ था। १८५६ में गायकवाड़ की सहायतार्थ अंग्रेजों ने युद्ध किया था। ऋषि दयानन्द का इस घटना से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। सत्यार्थप्रकाश का उक्त वर्णन १५५६ के ओखा के युद्ध से सुसंगत प्रतीत होता है। अब तक के शोधकार्य में ऋषि की प्रारम्भिक जीवनी और सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई।

उत्तर—नहीं। उस तालाब का नाममात्र '**अमृतसर**' है। जब कभी जङ्गल होगा, तब उसका जल अच्छा होगा। इससे उसका नाम '**अमृतसर**' धरा होगा।[1] जो अमृत होता तो पुराणियों के मानने के तुल्य कोई क्यों मरता[2]? **भित्ती** की कुछ बनावट ऐसी होगी, जिससे नमती होगी और गिरती न होगी। **रीठे** कलम के पैबन्दी होंगे अथवा गपोड़ा होगा। **रेवालसर** में बेड़ा तरने में कुछ कारीगरी होगी। **अमरनाथ** में बर्फ के पहाड़ बनते हैं, तो जल जमके छोटे लिङ्ग का बनना कौन आश्चर्य है? और **कबूतर के जोड़े** पालित होंगे। पहाड़ की आड़ में से मनुष्य छोड़ते होंगे। दिखलाकर टका हरते होंगे।

---

४६० फीट चौड़ा है। हरिमन्दिर की परिक्रमा १३ फीट चौड़ी है। चारों ओर ६६ फुट लम्बी है। दर्शनी ड्योढ़ी से हरिमन्दिर २४० फुट पर है। वह मार्ग १८ फुट चौड़ा है और उसमें ६८ बुरजियाँ हैं। संवत् १८१८ में अहमदशाह दुर्रानी ने हरिमन्दिर गिरवा दिया और तालाब भरवा दिया। संवत् १८२१ में यह सब कुछ पुनः बना। इस बार इसकी आधारशिला जस्सासिंह आहलूवालिया ने रक्खी। रावी नदी से हँसली नामक नारहर (नहर) निकालकर तालाब में जल डाला गया। यह नारहर उदासी साधुओं ने ग्रामनिवासियों की सहायता से बनवाया था। यह घटना संवत् १८३८ की है। उस समय उदासी साधु हरिमन्दिर के पुजारी थे। आज भी इसे हरिमन्दिर अथवा स्वर्णमन्दिर के नाम से जाना जाता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि दूसरे गुरुद्वारों की तरह स्वर्णमन्दिर केवल सिखों का धर्मस्थल नहीं है। कुछ समय पहले तक वहाँ गुरु ग्रन्थसाहिब की तरह तुलसीकृत रामचरितमानस का भी पाठ होता था। राजनीति ने सब उलटा-पुलटा कर दिया।

हरिमन्दिर के तालाब का जल वैसा ही है, जैसे अन्य जल। अज्ञानी लोगों को चमत्कारों के नाम पर आकृष्ट करने के लिए उसके साथ अनेक प्रकार की कथाएँ जोड़ दी गई हैं। श्रद्धा का अतिरेक होने पर भक्तजनों का विवेक लुप्त हो जाता है।

भित्ती—पंजाब के गुरदासपुर नगर में झूलनामहल में इस प्रकार की दीवार है। यह कोई दैवी चमत्कार नहीं है। दक्षिण में हैदराबाद राज्य (अब आन्ध्रप्रदेश) के अन्तर्गत हुमनाबार नगर में एक मन्दिर है, जिसका एक खम्भा इसी प्रकार हिलता है, पर गिरता नहीं। श्रीरंगपाटन में ईंटों का एक पुल था, जो हिलता था। ये सब शिल्पविद्या की चतुराई के परिणाम हैं। **मीठा-रीठा**—नैनीताल जिले की तहसील सतारगंज में 'नानकमता' नामक स्थान है। यह स्थान पीलीभीत से १५ मील की दूरी पर है। पहले इसका नाम 'गोरखमाता' था। तब वहाँ नाथ साधु रहते थे। जब वहाँ उदासी साधु रहने लगे और उनका प्रभाव अधिक हुआ, तब से इसका नाम 'नानकमाता' पड़ गया। उसके साथ पाँच सहस्र रुपये वार्षिक की एक जागीर है। वहाँ मीठा-रीठा होता है। अमृतसर के प्रसिद्ध उदासी विद्वान् पं० स्वरूपदासजी कहा करते थे कि उस वन में मीठे-रीठे और भी हैं। **रेवालसर**—मण्डी (हिमाचल प्रदेश) से १० मील की दूरी पर रेवालसर तालाब है। यह होशियारपुर से ७५ मील जेजों द्वाब से ६४ मील के अन्तर पर है। भाँवला से जो सड़क मण्डी को जाती है, उस पर नवें मील की दूरी पर एक मार्ग निकलता है, वहाँ से वह ३ मील है। श्रीनगर (कश्मीर) की डल झील में खोतियाँ तैरती हैं। घास के गट्ठे बाँधकर उन पर मिट्टी की मोटी परत डालकर छोटे-छोटे खेत बन जाते हैं, जिन पर खेती (विशेषतः शाक-सब्जी की) की जाती है। जल पर तैरते हुए इन खेतों को जहाँ चाहे ले जा सकते हैं। वहाँ प्रायः खेत के चोरी हो जाने की घटना सुनने में आती है, अन्यत्र यह विचित्र-सी बात लगेगी। रेवालसर में भी

---

१. तिब्बत के ग्रन्थों में यही बात लिखी है। भ० द०

२. अर्थात् उसके जल के पान करने पर कोई न मरता।

[हर की पैड़ी देवप्रयाग केदार बद्रीनारायणादि की समीक्षा]

प्रश्न—हरद्वार स्वर्ग का द्वार, **हर की पैड़ी** में स्नान करे, तो पाप छूट जाते हैं। और **तपोवन** में रहने से तपस्वी होता। **देवप्रयाग,** गङ्गोत्तरी में **गोमुख,** उत्तरकाशी में **गुप्त-काशी, त्रियुगीनारायण** के दर्शन होते हैं। **केदार** और **बद्रीनारायण** की पूजा छः महीने तक मनुष्य और छः महीने तक देवता करते हैं। महादेव का मुख नैपाल में **पशुपति,** चूतड़ केदार, और तुङ्गनाथ में जानु, और पग अमरनाथ में। इनके दर्शन स्पर्शन स्नान करने से मुक्ति हो जाती है। वहाँ केदार और बद्री से स्वर्ग जाना चाहे, तो जा सकता है। इत्यादि बातें कैसी हैं ?

उत्तर—**'हरद्वार'** उत्तर से पहाड़ों में जाने का एक मार्ग का आरम्भ है। **'हर की पैड़ी'** एक स्नान के लिये कुण्ड की सीढ़ियों को बनाया है। सच पूछो तो **'हाड़पैड़ी'** है। क्योंकि देशदेशान्तर के मृतकों के हाड़ उसमें पड़ा करते है। पाप कभी नहीं कहीं छूट सकता, विना भोगे अथवा नहीं कटते। **'तपोवन'** जब होगा तब होगा, अब तो **'भिक्षुकवन'** है। तपोवन में जाने-रहने से तप नहीं होता, किन्तु तप तो करने से होता है। क्योंकि वहाँ बहुत से दुकानदार झूंठ बोलनेवाले भी रहते हैं।

'हिमवतः प्रभवति गङ्गा' पहाड़ के ऊपर से जल गिरता है। **गोमुख** का आकार टका लेनेवालों ने बनाया होगा। और वही पहाड़ पोप का स्वर्ग है। वहाँ **उत्तरकाशी** आदि स्थान ध्यानियों के लिये अच्छा है, परन्तु दुकानदारों के लिये वहाँ भी दुकानदारी है। **'देवप्रयाग'** पुराण के गपोड़ों की लीला है। अर्थात् जहाँ अलखनन्दा और गङ्गा मिली हैं, इसलिये वहाँ देवता बसते हैं, ऐसे गपोड़े न मारें तो वहाँ कौन जाय, और टका कौन देवे ? **'गुप्तकाशी'** तो नहीं है, वह तो प्रसिद्ध काशी है। **तीन युग की धूनी[1]** तो नहीं दीखती, परन्तु पोपों की दश बीस पीढ़ी की होगी। जैसी खाखियों की धूनी और पारसियों की

इसी तरकीब से काम लेकर बनाये गये बेड़े तैरते हैं। यह कोई अलौकिक बात नहीं है। **अमरनाथ**—श्रीनगर से लगभग ८५ मील दूर, समुद्रतल से पन्द्रह हजार फीट की ऊँचाई पर 'अमरनाथ' स्थित है। श्रावण की पूर्णमासी को यात्रा सम्पन्न होती है। स्वामी वेदानन्दजी ने अपनी आँखों से देखा है कि बर्फ का तोदा लिंगाकार नहीं होता। पण्डे कबूतरों को लाते हैं और उड़ाते हैं। उक्त स्वामीजी एक बार यात्रा से २-३ दिन पूर्व उस गुफा में रहे थे।

हरिद्वार से बद्रीनारायण तक का सम्पूर्ण प्रदेश उत्तराखण्ड कहाता है। देवप्रयाग जान्हवी तथा अलखनन्दा के संगम पर है। बदरीनाथ के पण्डे शीतकाल में यहाँ रहते हैं। प्रसंगवश एक बात जान लेनी चाहिए कि जहाँ दो या अधिक नदियाँ मिलती हैं, उसे 'प्रयाग' कहते हैं—देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, प्रयाग में सर्वत्र यह देखा जा सकता है। केदारनाथ समुद्रतल से ११७५३ फीट और बदरीनाथ या बदरीनारायण १०४०० फीट ऊँचा है। बदरीनारायण ऋषिकेश से १७३ मील है। ऋषिकेश, केदारनाथ, बदरीनाथ, देवप्रयाग, गुप्तकाशी, उत्तरकाशी आदि सब स्थान उत्तराखण्ड में हैं। **विन्ध्येश्वरी देवी** का मन्दिर उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में है। **तीर्थराज**—'न लोकवचनात्तात न वेदवचनादपि। मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति'॥ (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी में प्रकाशित 'वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली' पृष्ठ ८२) अर्थात्—हे तात ! न लोगों के कहने से और न ही वेद के आदेश से प्रयाग में मरने की बुद्धि को पलटना। नारदपुराण के उत्तर भाग में प्रयागप्रकरण में प्रयाग में मुण्डन कराने का विधान है।

---

१. त्रियुगीनारायण में।

अग्यारी सदैव जलती रहती है। **तप्तकुण्ड** भी पहाड़ों के भीतर ऊष्मा=गर्मी होती है, उसमें तपकर जल आता है। उसके पास दूसरे कुण्ड में ऊपर का जल, वा जहाँ गर्मी नहीं वहाँ का आता है, इससे ठण्डा है।

'केदार' का स्थान वह भूमि बहुत अच्छी है। परन्तु वहाँ भी एक जमे हुए पत्थर पर पुजारी वा उनके चेलों ने मन्दिर बना रक्खा है। वहाँ महन्त पुजारी पण्डे **'आँख के अन्धे और गाँठ के पूरों'** से माल लेकर विषयानन्द करते हैं। वैसे ही **'बद्रीनारायण'** में ठगविद्यावाले बहुत से बैठे हैं। **'रावलजी'** वहाँ के मुख्य हैं। एक स्त्री छोड़ अनेक स्त्री रख बैठे हैं।[1] **'पशुपति'** एक मन्दिर और **'पञ्चमुखी'** मूर्त्ति का नाम धर रक्खा है। जब कोई न पूछे, तभी ऐसी लीला बलवती होती है। परन्तु जैसे तीर्थ के लोग धूर्त्त धनहरे होते हैं, वैसे पहाड़ी लोग नहीं होते। वहाँ की भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।

[विन्ध्याचल-प्रयाग-अयोध्या-मथुरा के माहात्म्य का खण्डन]

प्रश्न—**विन्ध्याचल** में 'विन्ध्येश्वरी काली अष्टभुजा' प्रत्यक्ष सत्य है। विन्ध्येश्वरी तीन समय में तीन रूप बदलती है। और उसके बाड़े में मक्खी एक भी नहीं होती। **'प्रयाग'** तीर्थराज, वहाँ शिर मुण्डाये सिद्धि। गङ्गा यमुना के सङ्गम में स्नान करने से इच्छासिद्धि होती है। वैसे ही **'अयोध्या'** कई वार उड़कर सब बस्ती सहित स्वर्ग में चली गई। **'मथुरा'** सब तीर्थों से अधिक; **'वृन्दावन'** लीला-स्थान; और गोवर्द्धन व्रजयात्रा बड़े भाग्य से होती है। सूर्य ग्रहण में **'कुरुक्षेत्र'** में लाखों मनुष्यों का मेला होता है। क्या ये सब बातें मिथ्या हैं?

उत्तर—प्रत्यक्ष तो आँखों से तीनों मूर्त्तियाँ दीखती हैं कि पाषाण की मूर्त्तियाँ हैं। और तीन काल में तीन प्रकार के रूप होने का कारण पुजारी लोगों के वस्त्र आदि आभूषण पहिराने की चतुराई है। और मक्खियाँ सहस्रों लाखों होती हैं। मैंने अपनी आँखों से देखा है।[2]

'प्रयाग' में कोई नापित श्लोक बनानेहारा, अथवा पोपजी को कुछ धन देके मुण्डन कराने का माहात्म्य बनाया वा बनवाया होगा। **प्रयाग** में स्नान करके स्वर्ग को जाता, तो लौटकर घर में आता कोई भी नहीं दीखता, किन्तु घर को सब आते हुए दीखते हैं। अथवा जो कोई वहाँ डूब मरता, और उसका जीव भी आकाश में वायु के साथ घूमकर जन्म लेता होगा। **'तीर्थराज'** भी नाम टका लेनेवालों ने धरा है। जड़ में राजा प्रजा भाव कभी नहीं हो सकता।

यह बड़ी असम्भव बात है कि **अयोध्या** नगरी बस्ती कुत्ते गधे भङ्गी चमार जाजरू सहित कई बार स्वर्ग में गई। स्वर्ग में तो नहीं गई, वहीं की वहीं है। परन्तु पोपजी के मुख-गपोड़ों में अयोध्या स्वर्ग को उड़ गई। यह गपोड़ा शब्दरूप उड़ता फिरता है। ऐसे ही नैमिषारण्य आदि की भी इन्हीं लोगों की लीला जाननी।

'मथुरा तीन लोक से निराली' तो नहीं, परन्तु उसमें तीन जन्तु बड़े लीलाधारी हैं, कि जिनके मारे जल स्थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। **एक चौबे**—जो कोई स्नान करने जाये, अपना कर लेने को खड़े रहकर बकते रहते हैं—'लाओ यजमान! भाँग मर्ची और लड्डू खावें-पीवें। यजमान की जै-जै मनावें।' **दूसरे जल में कछुवे**—काट ही खाते हैं। जिनके मारे स्नान करना भी

१. हिमालय के उपर्युक्त भाग की ग्रन्थकार ने संवत् १९१२ में योगविद्याविज्ञ पुरुषों के अन्वेषण के लिये विस्तृत यात्रा की थी। (द्र०—ऋ० द० सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित। 'दया० लघुग्रन्थ-संग्रह,' पृष्ठ १७-२५)। अतः वे इस भू भाग से तथा तीर्थों की लीलाओं से भले प्रकार परिचित थे।

२. विन्ध्याचल प्रयाग अयोध्या मथुरा आदि में भी ग्रन्थकार का असकृद् गमन हुआ है। अतः यहाँ की लीलाओं से भी वे भले प्रकार परिचित थे।

घाट पर कठिन पड़ता है। **तीसरे** आकाश के ऊपर लाल मुख के **बन्दर**—पगड़ी टोपी गहने और जूते तक भी न छोड़ें। काट खावें, धक्के दे गिरा मार डालें।

और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय हैं। मनों चना आदि अन्न कछुवे और बन्दरों को चना गुड़ आदि, और चौबों की दक्षिणा और लड्डुओं से उनके सेवक सेवा किया करते हैं।

और **वृन्दावन** जब था तब था, अब तो वेश्यावनवत् लल्ला-लल्ली और गुरु-चेली आदि की लीला फैल रही है। वैसे ही दीपमालिका का मेला गोवर्द्धन और व्रजयात्रा में भी पोपों की बन पड़ती है।

कुरुक्षेत्र में भी वही जीविका की लीला समझ लो। इनमें जो कोई धार्मिक परोपकारी पुरुष है, इस पोपलीला से पृथक् हो जाता है।

[मूर्त्ति-पूजा और तीर्थ बहुत पुरातन नहीं हैं]

प्रश्न—यह मूर्त्तिपूजा और तीर्थ सनातन से चले आते हैं। झूंठे क्योंकर हो सकते हैं ?

उत्तर—तुम **'सनातन'** किसको कहते हो ? जो सदा से चला आता है ? जो यह सदा से होता, तो वेद और ब्राह्मणादि ऋषिमुनिकृत पुस्तकों[1] में इनका नाम क्यों नहीं ? यह **'मूर्त्तिपूजा'** अढ़ाई तीन सहस्र वर्ष के इधर-इधर वाममार्गी और जैनियों से चली है, प्रथम आर्यावर्त्त में नहीं थी।

और ये **'तीर्थ'** भी नहीं थे। जब जैनियों ने गिरनार पालिटाना शिखर शत्रुञ्जय और आबू आदि तीर्थ बनाये, उनके अनुकूल इन लोगों ने भी बना लिये। जो कोई इनके आरम्भ की परीक्षा करना चाहें, वे पण्डों की पुरानी से पुरानी वही और तांबे के पत्र[2] आदि लेख देखें, तो निश्चय हो जाएगा कि **ये सब तीर्थ पाँच सौ अथवा एक सहस्र वर्ष से इधर ही बने हैं।** सहस्र वर्ष से उधर का लेख किसी के पास नहीं निकलता, इससे आधुनिक हैं।

[तीर्थ वा नामस्मरण के माहात्म्य का खण्डन]

प्रश्न—जो-जो तीर्थ वा नाम का माहात्म्य, अर्थात् जैसे **'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति'**[3] इत्यादि बातें हैं, वे सच्ची हैं वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि जो पाप छूट जाते हों, तो दरिद्रों को धन राजपाट और अन्धों को आंख मिल जाती। कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता। ऐसा नहीं होता, इसलिये पाप वा पुण्य किसी का नहीं छूटता।

प्रश्न—गङ्गागङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥१॥[4]
हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥२॥[5]
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशि पापं विनश्यति।

---

१. वेद शाखा ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् उपवेद वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि किसी भी ग्रन्थ में मूर्त्तिपूजा का लेश भी नहीं है। हाँ, इनके खिल=परिशिष्ट में कहीं-कहीं पूजा का संकेत है। पर ये खिल=परिशिष्ट मूल ग्रन्थों के प्रवक्ता ऋषियों के प्रोक्त हुए नहीं हैं, पीछे से बनाकर जोड़े गये हैं।

२. ये ताम्रपत्र प्रायः दान-सम्बन्धी हैं।

३. द्र०—काशीमाहात्म्य, काशीखण्ड आदि।

४. ब्रह्मपुराण १७५।८२ ॥ पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २३।२॥

५. स्वामी वेदानन्द ने 'पद्म पु० उ० खं० २२।३४' पता दिया है। वेंयमुद्रित सं० ३४ में 'पद्म पु० उ० खं० ७२।१२' पता छापा है। 'मोर' संस्करण में दोनों स्थानों में नहीं मिलता।

आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम् ॥३॥ इत्यादि श्लोक पोपपुराण के हैं ॥

जो सैकड़ों सहस्रों कोश दूर से भी गङ्गा-गङ्गा कहै, तो उसके पाप नष्ट होकर वह विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ को जाता है ॥१॥

'हरि' इन दो अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है। वैसे ही राम कृष्ण शिव भगवती आदि नामों का माहात्म्य है ॥२॥

और जो मनुष्य प्रातःकाल में शिव अर्थात् लिङ्ग वा उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्मभर का, सायङ्काल में दर्शन करने से सात जन्मों का पाप छूट जाता है ॥३॥ **यह दर्शन का माहात्म्य** है, क्या झूंठा हो जाएगा ?

दर्शन का माहात्म्य—

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मागधेषु च। स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ॥६३॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा मुदं प्रयच्छति। अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥६४॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्। तावत्स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ॥

—महा० वन० अ० ७५

अर्थात्—पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और मगध देश में स्नान करके प्राणी अपनी सात पूर्व की और सात परली पीढ़ियों को तार देता है। गंगा नाम लेने से पाप से बचाती है, दीखने पर हर्ष देती है, स्नान करने और पीने से सातवें कुल तक पवित्र कर देती है। जब तक गंगा का जल मरे मनुष्य की हड्डी को छूता रहता है, तब तक, हे राजन्, वह पुण्य स्वर्ग में प्रतिष्ठा पाता है।

नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में मुद्रित सटीक भक्तमाल के पृष्ठ ७२ पर आदिपुराण से उद्धृत---

दृष्ट्वा जन्मशतं पापं स्पृष्ट्वा जन्मशतद्वयम्। स्नात्वा पीत्वा सहस्राणि हन्ति गङ्गा कलौ युगे ॥

अर्थात्--कलियुग में गंगादर्शन से सौ जन्मों के पाप, स्पर्श करने से दो सौ जन्मों के पाप और स्नान तथा पीने से हजारों पाप नष्ट करती है।

दामोदर प्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'तीर्थदर्पण पण्डा अर्पण' के द्वितीय परिच्छेद में लिखा है कि तीर्थों के पण्डे पापनाशन के लिए ये वृथा वाक्य पढ़कर सुनाया करते हैं—

नन्दं स्कन्दं तथा रुद्रं देवेन्द्रं वटुमेव च। प्रयागपञ्चकं नित्यं स्मरेत्पातकनाशनम् ॥१॥
केदारं मध्यं तुङ्गं रुद्रं गोपेश्वरं तथा। केदारपञ्चकं नित्यं स्मरेत्पातकनाशनम् ॥२॥
अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा। पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥३॥
दृष्ट्वा जन्मशतं पापं पीत्वा जन्मशतत्रयम्। स्नात्वा जन्मसहस्राणि गङ्गा हरति कलौ युगे ॥४॥
त्रिदलं त्रिगुणाकारं त्रिनेत्रं चैव त्र्यायुधम्। त्रिजन्मपापसंहारं बिल्वपत्रं शिवार्पणम् ॥५॥
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥६॥
रोगं हरति निर्माल्यं शोकं तु चरणोदकम्। अशेषं पातकं हन्ति शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ॥७॥
मद्यं मांसं च मत्स्यञ्च मुद्रां मैथुनमेव च। मकारपञ्चकं चैव महापातकनाशनम् ॥८॥
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशि पापं विनश्यति। आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम् ॥९॥
हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥१०॥

अर्थात्---नन्दप्रयाग, स्कन्दप्रयाग, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग तथा वटुप्रयाग—पापनाशक इन पाँचों प्रयागों को नित्य स्मरण करे॥ केदारनाथ, मध्यकेदार, तुंगकेदार, रुद्रकेदार तथा गोपेश्वरकेदार—पापनाशक इन पाँचों केदारों को नित्य स्मरण करे॥ अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती तथा मन्दोदरी—

उत्तर—मिथ्या होने में क्या शङ्का ? क्योंकि गङ्गा-गङ्गा वा हरे राम कृष्ण नारायण शिव और भगवती नामस्मरण से पाप कभी नहीं छूटता। जो छूटे तो दुःखी कोई न रहे। और पाप करने से कोई भी न डरे, जैसे आजकल पोपलीला में पाप बढ़कर हो रहे हैं। मूढ़ों को विश्वास है कि हम पाप कर नाम-स्मरण वा तीर्थयात्रा करेंगे, तो पापों की निवृत्ति हो जायगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं। पर किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।

[**सच्चे तीर्थ और नाम-स्मरण क्या हैं ?**]

प्रश्न— तो कोई तीर्थ नाम-स्मरण सत्य है, वा नहीं ?

महापातकनाशक इन पाँचों कन्याओं को नित्य स्मरण करे ॥ तीन दलोंवाला, तीन गुणों के आकारवाला, तीन नेत्रोंवाला, तीन आयुधोंवाला शिव को अर्पित किया हुआ बिल्वपत्र तीन जन्मों के पापों का संहार करता है ॥ कलियुग में गंगा दर्शन से सौ जन्मों में किये गये पाप, पीने से तीन सौ जन्मों के पाप, स्नान करने से हजारों जन्मों के पाप हरती है ॥ 'गंगा-गंगा', ऐसा जो सौ योजनों से भी बोले, वह सब पापों से छूट जाता है और विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥ शिवनिर्माल्य रोग हरता है, चरणामृत शोक हरता है और उसका नैवेद्य खाना तो सब पापों को हर लेता है। मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन--ये पाँच मकार महापातकनाशक हैं। प्रातःकाल में शिवलिंग के दर्शन करने से रात्रि का किया पाप नष्ट होता है, मध्याह्न में दर्शन से जन्मभर के और सायंकाल दर्शन से सात जन्मों के पाप नष्ट होते हैं। 'हरि' यह दो अक्षरों वाला नाम है, हरि पाप हरता है।

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः। पश्चाद् गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ॥

—महा० अनु० २६।३०

जो मनुष्य पूर्व आयु में पाप करके पीछे से गंगा का सेवन करते, वे भी परमगति पाते हैं।

भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात्। गङ्गाया दर्शनात्तद्वत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥—वही ४४

जैसे गरुण के देखते ही साँप विषरहित हो जाते हैं, वैसे ही गंगा के देखते ही मनुष्य सब पापों से छूट जाते हैं।

इह ये पुरुषाः क्षेत्रे मरिष्यन्ति शतक्रतो। ते गमिष्यन्ति सुकृतान् लोकान् पापविवर्जितान् ॥

—महा० शल्य० अ० ५३

हे इन्द्र ! जो लोग इस क्षेत्र में मरेंगे वे पापों से छूटकर पुण्यलोकों को प्राप्त होंगे।

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः। अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥

—महा० वन० अ० ८३

हवा से उड़े हुए धूलिकण भी कुरुक्षेत्र में जिस किसी पर पड़ेंगे, वे अतिपापी को मोक्ष में पहुँचा देंगे।

ये सब वचन स्वार्थी लोगों ने लोगों को बहकाकर अपना पेट भरने के लिए गढ़े हैं।

वेद के पश्चात् मनुस्मृति के द्वारा ही धर्माधर्म का निर्धारण होता है। भगवान् मनु का वचन है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥५।१०६॥

उत्तर—है। वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, परोपकार धर्मानुष्ठान योगाभ्यास, निर्वैरनिष्कपट, सत्यभाषण सत्य का मानना सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य्य अतिथि माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, शान्ति जितेन्द्रियता सुशीलता, धर्मयुक्त-पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ गुण-कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से **'तीर्थ'** हैं।

और जो जलस्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी हो नहीं सकते। क्योंकि **'जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि'** मनुष्य जिन करके दुःखों से तरें, उसका नाम **'तीर्थ'** है। जल स्थल तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम **'तीर्थ'** हो सकता है। क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।

जल से शरीर शुद्ध होता है, मन और आत्मा नहीं। मन तो सत्याचरण—सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य ही करने से पवित्र होता है, जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण से पवित्र होता है और बुद्धि पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से पवित्र होती है।

मनुष्य कहीं भी हो और किसी भी अवस्था में हो, 'गंगा-गंगा' बोलने में क्या लगता है? यदि गंगा शब्द के उच्चारणमात्र से पाप से छुटकारा मिल सकता हो तो कोई भी पापी न रहे। पाप का ही फल दुःख होता है। इसलिए जब कोई पापी न रहेगा तो कोई दुःखी न होगा। किन्तु दुःख तो प्रत्यक्ष है। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी रूप में दुःखी है। गंगा में स्नान करनेवाले भी करोड़ों मनुष्य हैं। अनेक बड़े-बड़े नगर और हजारों गाँव गंगा के किनारे बसे हुए हैं। वे नित्य प्रति गंगा का दर्शन करते, उसमें स्नान करते और उसी का जल पीते हैं। पर वे भी वैसे ही दुःखी हैं, जैसे अन्य लोग। इससे स्पष्ट है कि गंगा से मनुष्यों के पाप-पुण्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह निश्चित है कि कर्म का फल भोगे विना उससे छुटकारा नहीं मिल सकता। भौतिक जगत् में जिसे कार्य-कारण (Cause and effect या action and reaction) कहते हैं, आध्यात्मिक क्षेत्र में उसी को कर्म-सिद्धान्त के नाम से अभिहित किया जाता है। अनिवार्यता कार्य-कारण का अटल नियम है। कर्म कारण है, फल उसका कार्य है। कर्म क्रिया है तो उसके फल से बचा नहीं जा सकता। जब तक किसी कर्म का फल नहीं जाता तब तक वह कर्त्ता के खाते में दर्ज रहता है। भुगतान हो जाने अर्थात् फल मिल जाने पर ही वह वहाँ से कट सकता है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० अ० ३७

शुभ हो या अशुभ, किये हुए कर्म का फल भोगना ही पडता है। करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी विना भोगे उसका क्षय नहीं होता। किंचिद् भिन्न शब्दों में यही बात देवीभागवत पुराण में कही गई है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कालेनोपादितं च यत्। शुभं वाप्यशुभं वापि दैवं कोऽतिक्रमेत्पुनः॥

जब ब्रह्म का दिन समाप्त होने पर सृष्टि की प्रलय होती है तो अभुक्त कर्म बीजरूप में बने रहते हैं। जब फिर नये सिरे से सृष्टिरचना होती है तो उसी कर्मबीज (संस्कार) से अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारत में आगे कहा है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे। तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

अर्थात्—पूर्वसृष्टि में जिस-जिस प्राणी ने जो-जो कर्म किये होंगे, फिर वे ही कर्म उसे वार-बार प्राप्त होते रहेंगे।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम् । तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ।।

—महा० शान्ति० १५-१६

अर्थात्—जैसे बछड़ा हज़ारों गौओं के बीच अपनी माँ को ढूंढ़ लेता है, वैसे ही किया हुआ कर्म अपने करनेवाले को जा पकड़ता है।

जब अभुक्त कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इस जन्म में ही नहीं, किसी भी जन्म में किये पापों से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसलिए मनुष्य को यह समझकर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए कि उसका फल अनिवार्य रूप से मुझे—और केवल मुझे—मिलना है। कोई व्यक्ति किसी अन्य के किए पापों को अपने सिर पर लेकर उसकी मुक्ति में सहायक नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी मृत व्यक्ति के नाम पर उसकी सन्तान या अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया श्राद्धकर्म मृत व्यक्ति की तृप्ति या मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। नई दिल्ली से प्रकाशित 'सरिता' में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार 'नैपाल नरेश महेन्द्र के मरने पर एक ब्राह्मण ने उनके सारे पाप ओट लिये। महाराज स्वर्ग चले गये। इसके बदले में ब्राह्मण को बहुत-सा धन, मोटर, हाथी, घोड़े दिए गये। एक वर्ष तक वह ब्राह्मण अछूत बनकर रहा। फिर तीर्थयात्रा करके पवित्र हो गया और आनन्दपूर्वक रहने लगा।' कोई भी समझदार व्यक्ति इस पर विश्वास नहीं करेगा। ईश्वर की न्यायव्यवस्था यही है कि अपराध का दण्ड अवश्य मिले और जिसने अपराध किया है, उसी को मिले। तीर्थयात्रा से उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। सन् १९२६ में अमरीका में हिन्दू (वैदिक) धर्म के सम्बन्ध में दिये गये अपने एक भाषण में डॉक्टर राधाकृष्णन ने कर्मसिद्धान्त के वैज्ञानिक आधार को प्रस्तुत करते हुए कहा था—

"We cannot prevent the cause from producing its effect. Any arbitrary interference whith the order of the world is not permitted. Every act, every thought is weighed in the invisible, but universal, balance scales of justice. None can escape the day of judgement which is not in some remote future, but here and now, Divine laws cannot be evaded."

—Hindu View of life, Page 53.

अर्थात्—हम कारण को कार्यरूप में परिणत होने से नहीं रोक सकते। संसार की व्यवस्था में मनमाना हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कर्म—प्रत्येक विचार को न्याय की परोक्ष, किन्तु सार्वभौम तुला में तोला जाता है। न्यायव्यवस्था से कोई बच नहीं सकता। ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

वेद तो ज्ञान और कर्म के संयोग से मुक्ति की प्राप्ति मानता है। यजुर्वेद में स्पष्ट निर्देश किया है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (यजु० ४०।१४)। अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान से मनुष्य मोक्षलाभ करता है। पौराणिक की ओर से तीर्थों को वेद-सम्मत सिद्ध करने के लिए अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है—

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ।। —अथर्व० १८।४।७

अर्थात् तीर्थों से बड़ी आपत्ति को तर जाते हैं—बड़े-बड़े भयंकर पाप तीर्थों से क्षय हो जाते हैं।

वस्तुतस्तु इस मन्त्र में इस भाव को प्रकट करनेवाला कोई भी पद नहीं है कि नदियों में स्नान करने से पापों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा मिल जाता है।

महाभारत में वास्तविक तीर्थों के विषय में लिखा है—

मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च । स्नाति यो मानसे तीर्थे तत् स्नानं तत्त्वदर्शिनः ।।

—महा० अनु० अ० १०८ श्लोक १३

समानतीर्थे वासी ॥१॥—पा० अ० ४।४।१०७

नमस्तीर्थ्याय च ॥२॥—यजु० अ० १६। मन्त्र ४२

जो ब्रह्मचारी एक आचार्य से और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हों, वे सब **'सतीर्थ्य'** अर्थात् समानतीर्थसेवी होते हैं ॥१॥

व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः। तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत् ॥

—महा० वन० अ० २०० श्लोक ६२

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥

—महा० उद्योग० अ० ४० श्लोक २१

तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज। वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि ॥

—महा० उद्योग० अ० १०५ श्लोक ३६

अर्थात्—मन से प्रकाशित ब्रह्मज्ञानरूपजल से जो मन के तीर्थ में स्नान करता है, तत्त्वदर्शियों का वही स्नान है ॥ घर में या जंगल में जहाँ भी ज्ञानी लोग रहते हैं, उसी का नाम नगर है, उसी को तीर्थ कहते हैं ॥ हे भारत ! आत्मा नदी है, यही पवित्र तीर्थ है। इसमें सत्य का जल, धैर्य के किनारे तथा दया की लहरें हैं। इसमें स्नान करनेवाला पुण्यात्मा पवित्र हो जाता है। आत्मा पवित्र है, नित्य है एवं निर्लोभ है ॥ हे राजपुत्र दुर्योधन ! विरोध छोड़ दे, शान्त हो। तू कृष्णरूप तीर्थ से अपने कुल की रक्षा कर ॥

इसी प्रकार गरुड़पुराण में लिखा है—

ब्रह्मध्यानं परं तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। दमस्तीर्थं तु परमं भावशुद्धिः परं तथा।
ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥

—गरुड़० पूर्व० अ० ८१ श्लोक २३-२४

अर्थात्—ब्रह्म का ध्यान परम तीर्थ है। इन्द्रियों का निग्रह तीर्थ है। मन का निग्रह तीर्थ है। भाव की शुद्धि परम तीर्थ है। ज्ञानरूप तालाब में ध्यान जल में जो मन के तीर्थ में स्नान करके रागद्वेष-रूप मल को दूर करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

यौगिकं स्नानमाख्यातं योगेन हरिचिन्तनम्। आत्मतीर्थमिति ख्यातं सेवितं ब्रह्मवादिभिः ॥

—वही ५०।१२-१३

अर्थात्—योग से हरि का चिन्तन यौगिक स्नान है। ब्रह्मवादी प्रसिद्ध आत्मरूप तीर्थ का सेवन करते हैं।

समानतीर्थे वासी—यह अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय में चतुर्थपाद का १०७वाँ सूत्र है। समान-तीर्थ प्रातिपदिक से (वासी) रहनेवाला इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यहाँ तीर्थ का अर्थ गुरुकुल, पाठशाला वा आचार्य है। अतः 'सतीर्थ्य' सहपाठी वा सहाध्यायी को कहते हैं। 'तीर्थे ये' (अ० ६।३।८६) से समान के स्थान में 'स' आदेश हो जाता है। सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार 'साधुरिति निवृत्तम्। वसतीति वासी। समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः' (तद्धिते प्राग्घितीयप्रकरणम्) तीर्थ नाम गुरु का है। **'नमस्तीर्थ्याय'** यजुर्वेद के १६वें अध्याय के ४२वें मन्त्र का यह अंश है। यह पूरा मन्त्रांश इस प्रकार है—**'नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय'**। अर्थात् नदियों के तट पर रहनेवाले (कूल्याय) वेदविद्या के पढ़ाने में प्रवीण **आचार्यों** (तीर्थ्याय) का अन्नादि से सत्कार करें।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में १० नदियों के नामों को देखकर पौराणिकों की ओर से इसका विनियोग तीर्थयात्रा तथा उक्त नदियों में स्नान के माहात्म्य में किया जाता है। मन्त्र इस प्रकार है—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया॥—ऋक्० १०।७५।५

'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।' पाश्चात्य इतिहासविदों ने इस मन्त्र के द्वारा आर्यों का बाहर से आकर भारत में बसना सिद्ध करने का प्रयास किया है। पौराणिकों ने इससे नदियों में स्नान करके पापों से मुक्त होना प्रमाणित करना चाहा है। परन्तु इस मन्त्र में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जिसका सम्बन्ध आर्यों के इतिहास **अथवा भारत के भूगोल के साथ हो।**[1] इसी प्रकार इस मन्त्र में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जिससे इन नदियों में स्नान करने से पापनाश तथा मोक्षप्राप्ति की सिद्धि होती हो। आदिकाल में संस्कृत के समस्त नामपद यौगिक अर्थात् धातुज होते थे। कालान्तर में उनके अर्थविशेष में सीमित हो जाने पर वे रूढ़ होने लगे। यतः वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ; अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के सभी शब्दों का अर्थ यौगिक—धातु के अर्थों के अनुकूल होगा। प्रकरणानुसार उनका अर्थविशेष में पर्यवसान होगा। जब ज्ञान का एकमात्र आधार वेद ही था और वैदिक भाषा ही सृष्टि के आदि में मनुष्यों के व्यवहार की एकमात्र भाषा थी, तब मनुष्यों द्वारा रक्खे गये पदार्थों के नाम वैदिक नामों से भिन्न कैसे हो सकते थे। मनुस्मृति के इस श्लोक में यही बात कही गई—

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥—मनु० १।२१

अर्थात् सृष्टि के आदि में ज्ञान देते समय परमेश्वर ने सब पदार्थों के नाम, कर्म आदि बता दिए। इन्हीं नामों का लोग प्रयोग करने लगे। इससे यह निश्चित हो जाता है कि वेद से लोक में नाम आये, लोक से वेद में नहीं। ऋग्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में आये नदियों के नाम किन गुणों के कारण होते हैं, इसका उल्लेख निरुक्तकार यास्काचार्य ने इस प्रकार किया है—

"गंगा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छति प्रवियुतं गच्छतीति वा। सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्त्तेस्तद्वती। शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रन्द्रविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा। इरावती परुष्णीत्याहुः—पर्ववती कुटिलगामिनी। असिक्न्यशुक्लासिता—सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्। मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति। वितस्ताऽविदग्धाविवृधा महाकूला। आर्जीकीया विपाडित्याहुः। ऋजीकप्रभवावर्जुगामिनी वा, सुषोमा सिन्धुपदेनाभि प्रसुवन्ति नद्यः सिन्धुः स्पन्दनात्।" निरुक्त अ० ९, खण्ड २६,१

अर्थात्—गमन से गंगा—जिसकी गति वा प्रवाह प्रशंसित हो, उसका नाम गंगा है। जोड़ती हुई चलनेवाली यमुना। सर अर्थात् उत्तम जलवाली का नाम सरस्वती। शीघ्र भागनेवाली का नाम शुतुद्री जानो। पर्वों=जोड़ोंवाली, कुटिलगामिनी को परुष्णी जानो। अशुक्ला वा असिता होने से असिक्नी। सित वर्ण का नाम है, उसका उलट असित है। मरुद्वृधा सब नदियों का नाम है, क्योंकि मरुत् इनको बढ़ाते हैं। विदग्धा विशेष बड़े किनारोंवाली को वितस्ता जानो। ऋजुगामिनी को आर्जीकीया जानो वा जो ऋजीक पर्वत से निकले उसे आर्जीकीया जानो। सिन्धु उसको कहते हैं जिसमें सब नदियाँ गिरती हैं।

१. इस विषय का युक्ति-प्रमाण पुरःसर विस्तृत विवेचन हमने अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता' में किया है।

जो वेदादिशास्त्र और सत्यभाषणादि धर्म-लक्षणों में साधु हो, उसको अन्नादि पदार्थ देना और उससे विद्या लेनी, इत्यादि **'तीर्थ'** कहाते हैं ॥२॥

'नामस्मरण' इसको कहते हैं कि—

यस्य नाम महद्यशः ।—यजु० ३२।३

परमेश्वर का नाम बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है। जैसे—ब्रह्म परमेश्वर ईश्वर न्यायकारी दयालु सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से हैं। जैसे—**'ब्रह्म'** सबसे बड़ा; **'परमेश्वर'**=ईश्वरों का ईश्वर, **'ईश्वर'**=सामर्थ्ययुक्त; **'न्यायकारी'**=कभी अन्याय नहीं करता; **'दयालु'**=सब पर कृपादृष्टि रखता; **'सर्वशक्तिमान्'**=अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता, सहाय किसी का नहीं लेता; **'ब्रह्मा'**=विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा; **'विष्णु'**=सबमें व्यापक होकर रक्षा करता, **'महादेव'**=सब देवों का देव; **'रुद्र'**= प्रलय करनेहारा आदि नामों के

इस विवरण से स्पष्ट है कि जिस-जिस नदी में जो लक्षण पाये गये, लोक में प्रवहमान उस-उस नदी को उसी नाम से पुकारने लगे। निरुक्तकार ने दो जगह स्वयं कहा है कि ऋजुगामिनी होने से विपाशा का नाम आर्जीकीया पड़ गया और पर्वोंवाली होने से इरावती का अपर नाम इरावती पड़ गया। जहाँ तक नदियों को सम्बोधित करने वा उनकी स्तुति करने की बात है, सो यह वेद की वर्णन करने की अपनी शैली है कि अचेतनों से भी चेतनों की भाँति व्यवहार किया जाता है—'अचेतनेष्वपि चेतनवद् व्यवहारः' अथवा यह औपचारिक वा आलंकारिक वर्णन है। इस प्रकार वेद में आये गंगा आदि शब्दों से वर्त्तमान में उपलब्ध भागीरथी आदि नदियों का ग्रहण करके उनमें स्नान द्वारा पापों से मुक्त मानना सर्वथा अशास्त्रीय है। इस प्रकरण को हम भविष्यपुराण की साक्षी के साथ समाप्त करते हैं—

सर्वेषामेव तीर्थानां क्षान्तिः परमपूजिता। तस्मात् पूर्वं प्रयत्नेन क्षान्तिः कार्या क्रियासु वै ॥

—भविष्य० ब्राह्म० १७१।४७

वरस्नातं ज्ञानसलिलैः शीलभस्मप्रमार्जितम्। तत्पात्रं सर्वपात्रेभ्य उत्तमं परिकीर्तितम् ॥

—भविष्य० ब्राह्म० १८७।७६

अर्थात्—सब तीर्थों में क्षान्ति परम पूजित है। इसलिए पहले प्रयत्न से हरेक काम में शान्ति करनी चाहिए। ज्ञान के जल से स्नान करना तथा शील की भस्म मलना ही सब पात्रों से उत्तम कहा गया है।

इस प्रकार अन्यथा हेयपुराणों में भी यत्र-तत्र ऐसे अनेक श्लोक मिलते हैं, जिनमें जलस्नान, दर्शन आदि के विपरीत ज्ञान आदि के द्वारा मोक्षलाभ का विधान किया है।

नामस्मरण—'यस्य नाम महद्यशः' इत्यादि पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः ॥—यजु० ३२।३

इसके भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—"हे मनुष्यो! जो कभी देहधारी नहीं होता, जिसका कुछ भी परिमाण—सीमा का कारण नहीं है, जिसकी आज्ञा का पालन ही नामस्मरण है, जो उपासना किया हुआ अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है, वेदों के अनेक स्थलों में जिसका महत्त्व कहा गया है, जो न मरता, न विकृत होता और न नष्ट होता है, उसी की उपासना निरन्तर करो। जो इससे भिन्न की उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख क्लेशों में नष्ट होओगे।"

नामस्मरण का प्रत्यक्ष उल्लेख यजुर्वेद (४०।१५) के इस मन्त्र में मिलता है—

अर्थों को अपने में धारण करे।' अर्थात् बड़े कामों में बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को बढ़ाता जाय। अधर्म कभी न करे, सब पर दया रक्खे। सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे। शिल्पविद्या से नाना प्रकार के पदार्थों को बनावे। सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख-दुःख समझे। सबकी रक्षा करे। विद्वानों में विद्वान् होवे। दुष्ट कर्म कराने और दुष्ट कर्म करनेवालों को प्रयत्न से दण्ड देवे, और सज्जनों की रक्षा करे।

इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का **'नामस्मरण'** है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर॥

इस मन्त्र में निम्नलिखित आदेश दिये गये हैं—

१. परमेश्वर के 'ओ३म्' नाम का स्मरण करो।

२. अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उसका स्मरण करो।

३. अतीत में किये अपने कर्मों को स्मरण करो।

४. अन्त में शरीर भस्म होनेवाला है।

क्योंकि शरीर नाशवान् है, इसलिए अविनाशी परमेश्वर को स्मरण करो। जिस नाम से परमेश्वर को स्मरण करना है, वह 'ओ३म्' है। परन्तु मन्त्रगत 'ओ३म् स्मर' के साथ 'कृतं स्मर' भी जुड़ा है। अर्थात् केवल नामस्मरण से कुछ नहीं होता, यदि नामस्मरण के साथ मनुष्य शुभकर्मों में प्रवृत्त न हो। वस्तुतः परमात्मा की आज्ञानुसार शुभकर्म करना ही परमात्मा का नामस्मरण है। केवल नाम-स्मरण-से मुक्ति मानना वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है। इस प्रसंग में गीता के ये दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥८।१३॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्म तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

अर्थात् जो मनुष्य एकाक्षर परमेश्वर के वाचक 'ओ३म्' का उच्चारण करता हुआ और उसके माध्यम से मेरा स्मरण करता हुआ देह का परित्याग करता है वह परमगति—मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार जानकर पहले मोक्ष की इच्छा करनेवालों ने भी कर्म किया। इसलिए तू कर्म कर, पहले भी बहुतों ने यही किया है।

इन दोनों श्लोकों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि पहला श्लोक ओम् नाम के स्मरण का निर्देश करता है, किन्तु कर्म का निषेध नहीं करता। इसी प्रकार दूसरा श्लोक कर्म करने का आदेश देता है, किन्तु नामस्मरण का निषेध नहीं करता। दोनों को मिलाकर यह अभिप्राय हुआ कि नामस्मरण और कर्म का समुच्चय ही मोक्ष का हेतु है। यही वैदिक सिद्धान्त है, क्योंकि सम्पूर्ण वेद भी यदि कोई पढ़ ले किन्तु ब्रह्म का ज्ञान न हो तो उच्चारणमात्र से उसे कुछ नहीं मिलता। जैसे—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते॥

—ऋ० १।१६४।३९

अर्थात्—ऋग्वेदादि से प्रतिपादित जिस सर्वोत्कृष्ट, सर्वव्यापक, विकाररहित परमेश्वर में सब सूर्य, चन्द्र आदि आधेयरूप से स्थित हैं, उस परब्रह्म परमेश्वर को जो नहीं जानता, वह वेद से क्या

---

१. 'परमेश्वर के नामों को अपने में धारण करे' का अभिप्राय है तदनुकूल आचरण करना। इसे ही 'अर्थात्' द्वारा व्यक्त किया है। और अन्त में उपसंहार में स्पष्ट किया है।

[कल्पित गुरु-माहात्म्य तथा गुरु-गीता का खण्डन]

प्रश्न—गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

इत्यादि **'गुरु-माहात्म्य'** तो सच्चा है ? गुरु के पग धोके पीना, जैसी आज्ञा करे वैसा करना। गुरु लोभी हो तो वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के सदृश, मोही हो तो राम के तुल्य, और कामी

करेगा, अर्थात् उसका वेदाध्ययन निष्फल है। जो मनुष्य उस प्रभु को जान लेते हैं, वे ही ब्रह्म में भली प्रकार स्थित होते हैं।

अपने यजुर्भाष्य में 'वायुरनिलम्०' (४०।१५) इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है--"मनुष्यों को चाहिए कि जैसी मृत्युसमय में चित्त की वृत्ति होती है और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है, वैसा ही इस समय भी जानें।" प्रश्नोपनिषद् में लिखा है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥ प्रश्न० ३।१०॥

मृत्यु के समय जिस प्रकार का चित्त होता है, उसी प्रकार का चित्त प्राण के पास जाता है। प्राण ही तेज, चित्त और आत्मा को अपने संकल्पों के अनुसारी लोकों में ले जाता है। चलते समय आत्मा भी कूच करता है, क्योंकि आत्मा और प्राण साथ-साथ रहते हैं। इस प्रकार शरीर से कूच करते समय प्राण अपने शारीरिक तेज, मानसिक चित्त तथा आत्मा--इन तीनों आधारों को लेकर चलता है। गीता के अनुसार—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ —गीता ८।६

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार के विचारों को अपने मन में अन्त समय में लाता है, दूसरे जन्म में उन्हीं संस्कारों के साथ उत्पन्न होता है।

गीता और उपनिषद् आदि की यही बात लोक में 'अन्त मता सो गता' इन शब्दों में कही गई है। परन्तु मृत्यु के समय मनुष्य के भीतर वही विचार उभरकर आते हैं, जिनका वह अतीत में अभ्यस्त होता है। अन्तकाल में अनायास प्रभु के नाम 'ओ३म्' का स्मरण वही करेगा, जिसकी वाणी 'ओ३म्' नाम की अभ्यस्त रही है। इसलिए नामस्मरण की विधि यही है कि ध्यानावस्थित होकर एकान्त में प्रभु के सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओ३म्' का अर्थसहित जप करे और उन अर्थों के अनुरूप व्यवहार करे। योगदर्शन के 'तस्य वाचकः प्रणवः' (१।२७) तथा 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२८) सूत्रानुसारी नामस्मरण का यही अभिप्राय है।

गुरुमाहात्म्य—मूर्तिपूजा, अवतारवाद, पैगम्बरवाद, तीर्थयात्रा, गुरुडम आदि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। पौराणिक हिन्दू जिन्हें मानवरूप में अवतरित होनेवाले ईश्वर मानते हैं, उन्हीं की मूर्तियाँ बनाकर मन्दिरों के रूप में उनके रहने के लिए भव्य भवन बनाते और उनकी पूजा-अर्चना की व्यवस्था करते हैं। तत्पश्चात् भक्त और भगवान् का परस्पर परिचय करावे और भक्तजनों की मनोकामना पूरी करानेवाले बिचौलियों--पुजारिओं और गुरुओं की आवश्यकता पड़ती है। विशिष्ट भगवान् स्थान-विशेषों पर ही मिलते हैं, इसलिए तीर्थस्थानों की कल्पना करनी पड़ती है। फिर, 'घर का जोगी जोगना

---

१. गुरु-गीता। गुरु-माहात्म्य १६।

हो तो कृष्ण के समान गुरु को जानना। चाहे गुरुजी कैसा ही पाप करें, तो भी अश्रद्धा न करनी। सन्त या गुरु के दर्शन को जाने में पग-पग में अश्वमेध का फल होता है। यह बात ठीक है वा नहीं ?

उत्तर—ठीक नहीं। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी हो नहीं सकता। यह **'गुरु-माहात्म्य' 'गुरुगीता'** भी एक बड़ी पोपलीला है। **'गुरु'** तो माता-पिता आचार्य और अतिथि होते हैं। उनकी सेवा करनी, उनसे विद्या-शिक्षा लेनी-देनी शिष्य और गुरु का काम है।

आन गाँव का सिद्ध' होने के कारण हरिद्वार में रहनेवालों को प्रयाग में और प्रयाग में रहनेवालों को हरिद्वार में मुक्ति मिलती है। जगन्नाथपुरी वालों को बदरीनारायण में और बदरीनारायणवालों को मथुरा में या द्वारिका अथवा सोमनाथ में भगवान् के दर्शन होते हैं। जहाँ जो रहता है, वहाँ उसे भगवान् नहीं मिलता, यद्यपि श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट घोषणा कर दी हुई है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'।

ईश्वर के और हमारे (जीवात्मा) के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध सर्ववादीसम्मत है—'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो', 'स नः पिता सूनवेऽग्ने सूपायनो भव', 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादि अनेक शास्त्रवचनों से तो यह प्रमाणित है ही, लोक में भी यह सम्बन्ध सर्वमान्य है।

जिसे हम नहीं जानते, उस तक पहुँचने अथवा उससे अपना कोई काम कराने के लिए हमें किसी बिचौलिये, मध्यस्थ या दलाल का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु जिससे हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उसके पास हम बिना किसी की सहायता के सीधे पहुँच जाते हैं और अपनी बात कह देते हैं, और यदि हमारी माँग उचित है तो बिना किसी की सिफारिश के हमारी माँग स्वीकार हो जाती है। पिता-पुत्र के बीच सीधा सम्बन्ध है और हमारा पिता हमें इतना जानता है जितना हम स्वयं अपने को नहीं जानते। ऐसी स्थिति में कबीर का यह कहना—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

गुरु के प्रति उनकी भक्ति का अभिव्यंजक भावोद्रेक भले ही हो, यथार्थ नहीं माना जा सकता। यही बात खुदा और उसके बन्दों के बीच में पड़े पैगम्बरों की है। चित्रगुप्त का यमराज के सामने जीवों के खाते देखकर उनके कर्मों का ब्यौरा (रिपोर्ट) प्रस्तुत करना या कयामत के दिन मुहम्मद साहब या ईसामसीह का अपने अनुयायिओं का विवरण प्रस्तुत करके सिफारिश करना परमेश्वर की सर्वज्ञता तथा उसकी न्यायप्रियता दोनों पर प्रश्नचिह्न लगाना है।

वस्तुतः मनुष्य का निर्माण करनेवाले, उसके परम हितैषी गुरुओं का उल्लेख ग्रन्थकार सत्यार्थ-प्रकाश के द्वितीय समुल्लास के आरम्भ में कर आये हैं। वे हैं—'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।' और इन सबके गुरु—आदिगुरु का परिचय योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने 'स (ईश्वरः) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इन शब्दों में दिया है। यहाँ ग्रन्थकार ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह गुरुनामधारी धूर्त्तों का है, जो भोले-भाले लोगों को लूटने के लिए तरह-तरह के प्रपंच रचते हैं।

'गुरुब्रह्मा'—साधु लोग शयन से पूर्व, अपने महन्त के पास एकत्रित होकर कुछ श्लोकों का पाठ करते हैं, उसे 'पुष्पाञ्जलि' कहते हैं। उसमें यह आठवाँ श्लोक है। 'गुरु लोभी०'—भक्तमाल (१०६) की टीका में पाठ इस प्रकार है—'गुरु लोभी शिष्य लालची दोऊ खेलें दाव। दोऊ बूढ़े बापुरे चढ़ि पाथर की नाव' (पृष्ठ ६९)। इसी प्रकार गरीबदास जी के ग्रन्थ के कबीर १६ में यह पाठ है—'कबीर न गुरु मिल्या, न शिष्य भया लालच खेल्या दाव। दोन्यो बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नाव।' शब्द भेद है, आशय सबका एक है।

परन्तु जो गुरु लोभी क्रोधी मोही और कामी हो, तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा[1] करनी। सहज शिक्षा से न माने, तो 'अर्घ्यपाद्य' अर्थात् ताड़ना दण्ड प्राणहरण तक भी करने में कुछ दोष नहीं।

जो 'विद्यादि सद्गुणों में गुरुत्व नहीं है' ऐसा कहते हैं, झूंठ-मूंठ कंठी तिलक वेदविरुद्ध मन्त्रोपदेश करनेवाले हैं, वे गुरु ही नहीं, किन्तु गड़रिये जैसे हैं। जैसे गड़रिये अपनी भेड़-बकरियों से दूध आदि से प्रयोजन सिद्ध करते हैं, वैसे ही शिष्यों के=चेले-चेलियों के धन हरके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे—

दोहा— **गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव।**
भवसागर में डूबते, बैठ पत्थर की नाव॥

मार्गदर्शक अथवा लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक के रूप में गुरु उपयोगी होता है। परन्तु गुरु को आराध्यदेव के रूप में स्वीकार करके मूर्ति की भाँति उसकी पूजा-अर्चना में प्रवृत्त होना और 'त्वमेव सर्वं मम देव देव' मानकर सर्वस्व उसे अर्पण कर देना निश्चय ही अन्धभक्ति है, जो भक्त को अनजाने में ही सर्वथा नष्ट कर देती है। ग्रन्थकार ने वर्षों तक देश का भ्रमण किया था। इस बीच उन्हें ऐसे कितने ही नामधारी गुरुओं और मूढ़बुद्धि और अन्धश्रद्ध शिष्यों या भक्तों के विषय में जानकारी मिल चुकी थी। तभी उन्होंने इनके विषय में प्रचलित जनसाधारण की अन्ध धारणाओं को आक्रोशपूर्ण शब्दों में प्रकट किया है। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित वैष्णव सम्प्रदाय में तो गुरुमाहात्म्य शिष्टाचार और सभी सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर गया था। उस सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को तन-मन-धन सभी गोसाईंजी को अर्पण करना होता था। उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि धन-सम्पत्ति के साथ वह अपनी स्त्री और सन्तान को भी गुरुसेवा में सशरीर अर्पण कर दे। ऐसे सम्प्रदाय भी थे, जिनमें विवाहोपरान्त नववधू को अपनी सुहागरात पति के साथ नहीं, गुरुजी के साथ मनानी होती थी, क्योंकि हर अच्छी वस्तु पर सबसे पहले गुरु का अधिकार होने से वही उसको भोगता था।

ब्रह्मसम्बन्ध (गोकुलनाथकृत टीका) में लिखा है—"तस्मादादौ सोपभोगात् पूर्वमेव सर्ववस्तु-पदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यम्। विवाहानन्तरं सोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्तत्कार्योपभोगिवस्तुसमर्पणं कार्यं समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः।"

गुरुपूजा का यह घृणित और कुत्सित रूप किस प्रकार व्यभिचार और दुराचार को प्रश्रय देता था, ग्रन्थकार इससे पूरी तरह परिचित थे। अपने बम्बई-प्रवास के दिनों में गोकुलिए गोसाईंयों के गुरुओं (जो महाराज कहाते थे) के काले कारनामों को उन्होंने निकटता से देखा था। इसीलिए उन्होंने गुरु कहलानेवाले पाखण्डियों के माहात्म्य का खण्डन कर लोभी, कामी, क्रोधी और व्यसनी कहकर उनकी गडरियों से तुलना की है। जो सचमुच गुरु कहलाने योग्य हैं, उनकी एक पहचान बताई गई है—'यमर्थाः नापकर्षन्ति' जिन्हें पैसों—धन-सम्पत्ति का लोभ नहीं होता। जगद्गुरु शंकराचार्य के अनुसार 'को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा, शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव'। आर्य मर्यादा के अनुसार अपराधी पाया जाने पर तो गुरु भी दण्डनीय है। मनुस्मृति में बताया है—

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥८।३३५॥

यह श्लोक महाभारत (शान्तिपर्व १२१।६०) में भी इसी रूप में उपलब्ध है। इसी सन्दर्भ में वाल्मीकिरामायण में लिखा है—

---

१. 'शिक्षा' यह गुजराती भाषा का प्रयोग है। यह भर्त्सना दण्ड देना आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ भर्त्सना परित्याग आदि का अभिप्राय है। दण्ड-ताड़ना आदि का आगे निर्देश है।

गुरु समझें कि चेले-चेली कुछ-न-कुछ देवेंहीगे। और चेला समझें कि चलो गुरु झूठे सौगन्ध खाने पाप छुड़ाने के काम आवेंगे, आदि लालच से दोनों कपटमुनि भवसागर के दुःख में डूबते हैं। जैसे पत्थर की नौका में बैठनेवाले समुद्र में डूब मरते हैं।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यो भवति शासनम्॥

किंचित् पाठभेद के साथ यह श्लोक महाभारत में भी दो स्थानों पर आया है। वहाँ 'न्याय्यो भवति शासनम्' के स्थान पर एक स्थल में 'दण्डचो भवति शाश्वतः' पाठ है और दूसरे स्थल में 'परित्यागो विधीयते' पाठ है।

यह बात नहीं कि मूर्त्तिपूजा का खण्डन सबसे पहले स्वामी दयानन्द ने ही किया था, उनसे बहुत पहले कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि निर्गुणपन्थ के अनेक सन्त मूर्तिपूजा की अत्यन्त कठोर शब्दों में आलोचना करते ईश्वर की निर्गुण मानस पूजा का प्रचार करते आये थे। कबीर का यह दोहा उनकी मूर्तिपूजाविरोधी भावना का जीता-जागता उदाहरण है—

पाथर पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूँ पहार। ताते तो चाकी भली पीस खाय संसार॥

परन्तु कबीर, नानक, दादू तथा अन्य सन्तों की मूर्तिपूजा की पृष्ठभूमि में उनका तेजस्वी फक्कड़पन तो था ही। धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्या हिन्दूशास्त्र-परम्परा और उस पर आधारित शूद्र कहलानेवाले लोगों पर तथाकथित सवर्ण लोगों के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह की भावना भी काम कर रही थी। इसलिए उनका मूर्तिपूजा का विरोध तथा तीर्थ, अवतार, कण्ठी, तिलक, माला, छाप आदि का खण्डन स्पष्ट ही उनकी स्वतन्त्र चिन्तनशैली तथा परम्परागत शास्त्रीय व्यवस्थाओं का विरोध करने की उनकी मनःस्थिति का परिचायक था। कबीर आदि की यह मान्यता थी कि मूर्त्तिपूजा का विधान हिन्दूशास्त्रसम्मत भले ही हो, वे उसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। निर्गुणवादी सन्त प्रायः अनपढ़ अथवा स्वयं संस्कृतशास्त्रों से अनभिज्ञ होने एवं तथोक्त निम्नकुलोत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू धर्म के प्रति आस्थावान् नहीं थे। एक प्रकार से उनका मूर्त्तिपूजा-खण्डन जानबूझकर किये गये शास्त्र एवं परम्पराविरोध का ही प्रतिक्रियामूलक रूप था।

ग्रन्थकार का मूर्त्ति पूजा-खण्डन इन सबसे भिन्न प्रकार का था। शंकराचार्य मूलतः मूर्त्तिपूजक नहीं थे। पर उनके लिए तो अद्वैतवाद अथवा ब्रह्मैक्यवाद जैसे सिद्धान्तों को स्वीकार करने के कारण मूर्त्तिपूजा आदि कर्मकाण्ड का कोई महत्त्व ही नहीं था। फिर भी वे उससे सर्वथा छुटकारा नहीं पा सके। अपने परम्परागत पौराणिक संस्कारों से अभिभूत होने के कारण परमार्थ में एकमात्र निर्गुण ब्रह्मात्मैक्यवाद का प्रतिपादन करते हुए भी शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों (शंकराचार्यरचित निर्गुण मानस-पूजा) में व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीकोपासना को भी स्वीकार किया है।

ज्ञानमार्गी होते हुए भी शंकराचार्य भक्ति की आवश्यकता एवं उपादेयता का निषेध नहीं कर सके। ईशोपनिषद् (१५) के भाष्य में सत्यधर्माय की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—"सत्यधर्माय तव सत्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्"। अर्थात् मैं तुझ सत्यस्वरूप की उपासना से मैं सत्यनिष्ठ हो गया हूँ। अद्वैत का उद्घोष करनेवालों को भी स्वीकार करना पड़ा—"पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे"—यथार्थ में अद्वैत होते हुए भी भक्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है। यह भी कहा जाता है कि ज्ञानप्राप्ति से पूर्व द्वैत मोह का कारण है, किन्तु बोध हो जाने पर पता चलता है कि अद्वैत से द्वैत कहीं अधिक सुन्दर है और भक्ति के लिए अनिवार्य है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग्जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्॥

ऐसे गुरु और चेलों के मुख पर धूड़-राख पड़े। उसके पास कोई भी खड़ा न रहै। जो रहै वह दुःखसागर में पड़ेगा। जैसी पोपलीला पुजारी पुराणियों ने चलाई है, वैसी इन गड़रिये गुरुओं ने भी लीला मचाई है। यह सब काम स्वार्थी लोगों का है। जो परमार्थी लोग हैं, वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते। और गुरु-माहात्म्य तथा गुरुगीता आदि भी इन्हीं लोभी कुकर्मी गुरु लोगों ने बनाई हैं।

वस्तुतः शंकर के विचारों में यत्र-तत्र-अनेकत्र परस्पर विरुद्धता या वदतोव्याघात दोष का प्राचुर्य है।

इन सबके विपरीत ग्रन्थकार का मूर्त्तिपूजा-खण्डन कुछ विशेषता लिए हुए है। उनके खण्डन का ठोस आधार है। जहाँ उनका खण्डन तर्कप्रतिष्ठित है, वहाँ उनका यह भी दृढ़ विश्वास है कि प्राचीन शास्त्रों तथा भारतीय चिन्तन में मूर्तिपूजा के लिए कभी कोई स्थान नहीं रहा। अतः यदि वह परवर्ती काल में प्रचलित मूर्त्तिपूजा, अवतार, तीर्थ आदि की मध्ययुगीन धारणाओं का खण्डन करते हैं तो उससे न तो शास्त्रों की मान्यताओं का विरोध होता है और न तर्क को आघात पहुँचता है।

मूर्त्तिपूजा के लिए मूर्त्ति का होना आवश्यक है और मूर्त्ति के लिए किसी मूर्त्त पदार्थ की अपेक्षा होती है। बौद्धों और जैनों के पास महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी की जीती-जागती मूर्त्तियाँ थीं, ईसाइयों के पास भी ईसामसीह और मरियम की मूर्त्तियाँ थीं, गुरु नानकदेव कह गये 'गुरु मानियो ग्रन्थ' इसलिए उनके पास पुस्तकरूप में ग्रन्थ साहब की मूर्त्ति थी, कबीर साहब की खड़ाऊँ आदि के रूप में मूर्त्ति थी, मुहम्मद साहब का स्थानापन्न 'संगे असवद' है। ये सभी मतमतान्तर मनुष्यकृत हैं, अर्थात् उनके संस्थापक व्यक्तिविशेष हैं। वही उनके अनुयायियों के आराध्यदेव हैं। यदि बौद्धमत में से महात्मा बुद्ध को, जैनमत में से महावीर स्वामी को, इसलाम में से मुहम्मद साहब को, ईसाइयत में से ईसामसीह को, सिखमत में से गुरु नानकदेव को और इसी प्रकार अनेकानेक अन्य मतान्तरों में से उनके संस्थापकों को निकाल दिया जाय तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसलिए वहाँ सिद्धान्त-रूप से ईश्वर के अस्तित्व को मानते हुए भी वह नगण्य हो जाता है और मूर्ति के मुख्य होने से उसी की पूजा अर्चना होती है। वैदिक (हिन्दू) धर्म सनातन है--अनादिकाल से चला आ रहा है। उसका संस्थापक कोई नहीं है। हाँ, समय-समय पर समाज का मार्गदर्शन करने के लिए महापुरुष आते-जाते रहते हैं। जैनों और बौद्धों की देखा-देखी जब उन्होंने मूर्त्तिपूजा प्रारम्भ की तो लोगों ने अपनी-अपनी पसन्द के महापुरुषों को ईश्वर का अवतार मानकर अपने-अपने मन्दिरों में बन्द कर दिया। जिस कठोरता के साथ स्वामी दयानन्द ने मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया, उसका यह परिणाम हुआ कि जहाँ अन्य अनेकानेक महापुरुष प्रतीकोपासना के शिकार हो गये, वहाँ स्वामी दयानन्द उससे मुक्त रहे। मध्यकाल में महापुरुषों को किस प्रकार अवतार बनाया गया होगा और किस प्रकार उनकी ईश्वर की तरह पूजा चालू हुई होगी, इसका अनुमान दिल्ली में राजघाट पर गांधीजी की समाधि-पूजा को और गुजरात में कई स्थानों को देखकर लगाया जा सकता है।

पोप--'पोप' शब्द मूलतः लैटिन भाषा का है। अंग्रेजी के सर्वाधिक प्रामाणिक कोश O. E. D. (Oxford English Dictionary) में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है--The Bishop of Rome, as head of the Roman christian church; Appied to the spiritual head of a non-christian religion; One who assumes or is considered to have a position or authority like that of the Pope (1589 A. D.) आधुनिक अंग्रेजी में पिता के लिए प्रयुक्त प्रयुक्त होनेवाले 'पापा' और 'पोप' शब्द का मूल एक ही है। दोनों का अर्थ पिता है। जिस प्रकार भारत में शंकराचार्य की गद्दी चलती है और धर्माध्यक्ष के नाते उसे

हिन्दू धर्म में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार रोम में पोप की गद्दी चलती है। पोप सारे संसार के रोमन कैथोलिक ईसाइयों का सबसे बड़ा धर्मगुरु माना जाता है। वेटिकन सिटी के नाम से रोम के पोप का एक स्वतन्त्र राज्य है। उसकी अपनी शासनव्यवस्था है, जिसमें अन्य किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। आज भी धार्मिक जगत् में जैसी प्रभु-सत्ता और मान्यता पोप की है, वैसी संसार में अन्य किसी धर्मगुरु की नहीं।

जहाँ एकाधिकार होता है वहाँ कालान्तर में दोषों के पनपने की सम्भावना होती है। एक समय आया जब पोप ने अपनी प्रभुसत्ता का दुरुपयोग करना शुरू किया। रोम के पोप अपने चेलों से कहने लगे कि तुम हमारे सामने अपने पाप स्वीकार (Confession) कर लोगे तो हम तुम्हारे सब पाप क्षमा करवा देंगे और हजरत ईसामसीह की सिफारिश पर तुम्हें स्वर्ग में भिजवा देंगे। स्वर्ग में जाकर वहाँ जो-जो सुख-सुविधायें पाना चाहते हो, उन सबका ब्यौरा लिखकर उनका पैसा हमारे पास यहाँ जमा कर दो। पोप के वचन पर विश्वास करके लोग उनको यथेष्ट धन देते और पोप ईसा और मरियम की मूर्त्ति के सामने खड़े होकर इस प्रकार की हुण्डी लिख देते—'हे खुदावन्द यीशु! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर इतना रुपया जमा कराया है। जब वह स्वर्ग में पहुँचे तो इस हुंडी में लिखे अनुसार सब वस्तुएँ—मकान, बाग, बगीचा, वस्त्राभूषण, खानपान की सामग्री, नौकर-चाकर—उपलब्ध करा देना। उस हुंडी के नीचे पोप हस्ताक्षर करके सगे-सम्बन्धियों से कह देता कि हुंडी को कब्र में मृतक के सिरहाने रख देना। कयामत के दिन फरिश्ते आयेंगे और वे हुंडी को देखकर तदनुसार सारी व्यवस्था कर देंगे। जब तक यूरोप में अविद्या और अन्धविश्वास रहे तब तक पोप की यह ठग लीला चलती रही। सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी में मार्टिन लूथर नाम के व्यक्ति ने Reformation Movement के नाम से एक आंदोलन खड़ा किया। इसी आन्दोलन का नेतृत्व इंगलैंड में ऐंसलम (Anslem) नामक एक पादरी ने किया था। 'खुदा जो चाहे सो कर सकता है' कहनेवालों से वह पूछता था—Can God restore virginity to a prostitute? Or can God construct a triangle whose two sides together should fall shorter than the third?

अर्थात्—क्या खुदा किसी वेश्या को कुआँरी बना सकता है? या क्या खुदा ऐसी त्रिभुज बना सकता है, जिसकी दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से छोटी पड़ती हों?

उसके कहने का अभिप्राय लोगों के इस अन्धविश्वास को दूर करना था कि सर्वशक्तिमान् होने से परमात्मा असम्भव को सम्भव कर सकता है। उसके फलस्वरूप इन विश्वासों में कमी तो आई पर उनका समूल नाश नहीं हुआ। वैज्ञानिक युग के प्रवेश और विद्या के प्रसार के बावजूद रोम के पोप के प्रति अन्ध भक्ति और तज्जन्य अन्धविश्वास अभी भी बने हुए हैं।

जैसे रोम के पोप अपने आपको धर्म व स्वर्ग के ठेकेदार समझते थे, उसी प्रकार भारत में भी जिन लोगों ने अपने आपको धर्म और स्वर्ग का ठेकेदार बताकर जनता को अन्धविश्वास के गर्त्त में धकेलने में और धर्म के नाम पर लूटने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी, इसीलिए ग्रन्थकार ने उन्हें 'पोप' की उपाधि से विभूषित किया था।

जब अन्य सब वर्णों को व्यवस्था में रखनेवाले ब्राह्मण ही विद्याविहीन हो गये तब उनके यजमानस्वरूप अन्य लोग—जिसमें राजा और प्रजा दोनों सम्मिलित थे—विद्याविहीन क्यों न होंगे? पौराणिक गपोड़ों, दैवी प्रकोपों, गृह-नक्षत्रों से होनेवाली आपदाओं से त्रस्त भोली जनता को ब्राह्मणों ने बहकाया—

देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः। ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम्॥

[१८ कल्पित पुराण और ब्राह्मण ग्रन्थ]

प्रश्न—**अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः ॥१॥**
इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ॥२॥—महा० आदिपर्व ३।२६७
पुराणानि खिलानि च ॥३॥—मनु० ३।२३२
इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः ॥४॥—छान्दोग्य० ७।१।४
नवमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत ॥५॥
पुराणविद्या वेदः ॥६॥ सूत्रम् ।

अर्थात् देवताओं के अधीन सब जगत् है, मन्त्रों के अधीन सब देवता हैं और वे मन्त्र ब्राह्मणों के अधीन हैं, इसलिए ब्राह्मण ही देवता हैं। इस प्रकार मन्त्र के बल से देवता को बुलाकर और उन्हें प्रसन्न करके अभीष्ट की सिद्धि का दावा करनेवाले ब्राह्मणों ने अपने आपको 'पृथिवी का देवता' (भूसुर, भूदेव) घोषित कर अपनी ही पूजा को प्रधान्ता देकर परमेश्वर को पृष्ठभूमि में धकेल दिया। गुरुकृपा पर बल देते हुए उन्होंने गुरुसेवा और गुरुमाहात्म्य के सम्बन्ध में भगवद्‌गीता के अनुकरण पर 'गुरु-गीता' जैसे ग्रन्थ रच डाले। इतना ही नहीं, स्वरचित जालग्रन्थों को व्यास आदि प्राचीन ऋषियों के नाम से प्रचारित करने लगे। इन स्वार्थी लोगों ने प्राचीन ग्रन्थों में मिलावट (प्रक्षेप) करके मूर्त्तिपूजा, मृतक-श्राद्ध, मद्य-माँस ही नहीं, पशुवलि तक का विधान करने में भी संकोच नहीं किया। धीरे-धीरे गुरु का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि वह परमात्मा के समकक्ष या परमात्मा से भी बड़ा दिखाया जाने लगा। यजमानों को सिखाया गया कि गुरु चाहे कुछ भी करे, उस पर अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए, जबकि शास्त्रों का कथन है कि "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।"

पुराणों की समीक्षा

वैदिक धर्म के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर उसके नाम पर अन्धविश्वासों और घृणित कृत्यों को प्रसारित कर भारत के पतन में सर्वाधिक योगदान भागवतादि के नाम से प्रचलित पुराणों का है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र अपने 'अष्टादशपुराणदर्पण' (पृ० ६) में लिखते हैं—"तथा च रेवाखण्ड में स्पष्ट है—'अष्टादश-पुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः।" 'कर्त्ता' और 'वक्ता' दोनों पद एकार्थवाची हैं। 'नवमेऽहनि'—मूल में 'नवमे' होने से हमने यहाँ 'दशमे' के स्थान में 'नवमे' और तदनुसार भाषा में भी 'नवम' कर दिया है। पुराणों के रचनाकाल और उनके रचयिता के सम्बन्ध में हम इससे पूर्व भी लिख आये हैं। पौराणिक विद्वानों का कहना है कि वेदों में पुराणों का उल्लेख होने से वे भी हमारे धर्मग्रन्थ हैं और धर्माधर्म का निश्चय करने में प्रमाण हैं। 'वेदों में पुराण' शब्द अवश्य पाया जाता है, परन्तु उससे वर्त्तमान में प्रचलित भागवतादि कपोल-कल्पित ग्रन्थों का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। तद्यथा—

१. अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः।—ऋ० २।१८।१
इस मन्त्र में 'पुराण' शब्द पुरातन अर्थ का विज्ञापक है और 'पन्था' का विशेषण है।
२. पुनः पुनर्जायमाना पुराणी।—ऋ० १।९२।१०
इस मन्त्र में 'पुराणी' शब्द उषा का विशेषण है और 'सनातनी' अर्थ का प्रतिपादक है।
३. अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्रस्थ पुराणा ये च नूतनाः।—यजु० १२।४५
इस मन्त्र में 'पुराणाः' शब्द पितर का विशेषण है। यहाँ इसका अर्थ पूर्वज-वृद्ध है।
४. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।—अथर्व० ११।७।२४

अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी हैं। व्यासवचन का प्रमाण अवश्य करना चाहिये ॥१॥

इतिहास=महाभारत और अठारह पुराणों से वेदों का अर्थ पढ़ें-पढ़ावें। क्योंकि इतिहास और पुराण वेदों ही के अर्थ अनुकूल हैं ॥२॥

पितृकर्म में पुराण और खिल अर्थात् हरिवंश[1] की कथा सुन ॥५॥

इस मन्त्र में 'पुराण' शब्द 'देहली-दीप' न्याय से प्रत्येक वेद की पुरातनता को बताता है।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेदों में पठित शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, भागवतादि नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थविशेष के लिए नहीं। भागवतपुराण में लिखा है—

द्वापरान्ते च भगवान् व्यासः सत्यवतीसुतः। तान्येव जनयामास लोकमंगलहेतवे ॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४, २५।२२२

अर्थात् द्वापर के अन्त में सत्यवती के पुत्र व्यास ने उन अठारह पुराणों को संसार के कल्याणार्थ बनाया।

वेदों का सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत होना तो सर्ववादीसम्मत है। तब उनमें द्वापर युग के अन्त में रचे गये पुराणों का उल्लेख कैसे सम्भव है?

भविष्यपुराण में एक और चौंकानेवाली बात लिखी है—

विशेषतश्च शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः। अष्टादशपुराणानि चरितं राघवस्य च ॥

—भविष्य० ब्राह्म० अ० १।५४

अर्थात्—मुनि लोगों ने अठारह पुराण तथा रामचरित विशेषतः शूद्रों को पवित्र करने के लिए बनाये हैं।

इस श्लोक में पुराणों के रचयिता व्यास नहीं, बल्कि अन्य ऋषि मुनि बताये गये हैं और पुराणों की रचना 'लोकमंगल' के लिए नहीं, केवल शूद्रों को शुद्ध करने के लिए की गई है। रामकथा का प्रणयन भी शूद्रों की शुद्धि के लिए किया गया है।

अष्टादशपुराणानाम्—भागवतादि पुराणों को कहीं पर अठारह लिखा है और कहीं पर छब्बीस—

अष्टादशपुराणानि निर्मितानि शिवात्मना।

—भविष्य० प्रतिसर्ग० खं० ४, अ० २५, श्लोक २२१

यहाँ पुराणों की संख्या १८ बताई गई है और लेखक शिव। अन्यत्र लिखा है—

षड्विंशतिपुराणानां मध्येऽप्येकं शृणोति यः। पठेद्वा भक्तियुक्तस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥

—शिव० उमा० अ० १३, श्लोक ४१

अठारह पुराणों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम्, आग्नेयमष्टकं प्रोक्तं भविष्यन्नवमं तथा, दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लिङ्गमेकादशं तथा, वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कन्दं चात्र त्रयोदशम्, चतुर्दशं वामनं च कौर्मं पञ्चदशं तथा, मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डाष्टादशं तथा।

इन अठारह पुराणों में भी कहीं श्रीमद्भागवत को माना है और कहीं देवीभागवत को, जैसा कि—

---

१. मूल प्रमाण मनुस्मृति का है। हरिवंश की रचना महाभारत से भी पीछे की है। अतः मनुस्मृति में 'हरिवंश' का संकेत नहीं हो सकता। सम्भवतः ग्रन्थकार ने यह निर्देश पौराणिक मतानुसार किया हो।

इतिहास और पुराण पञ्चम वेद कहाते हैं ॥४॥
अश्वमेध की समाप्ति में नवम दिन थोड़ी सी पुराण की कथा सुनें ॥५॥
पुराण-विद्या वेदार्थ जनाने से ही से वेद हैं ॥६॥
इत्यादि प्रमाणों से पुराणों का प्रमाण, और इनके प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का भी प्रमाण है। क्योंकि पुराणों में मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का विधान है।

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा। भविष्यं नारदीयं च मार्कण्डेयमतः परम् ॥१२०॥
आग्नेयं ब्रह्मवैवर्त्तं लिङ्गं वाराहमेव च। वामनाख्यं ततः कौर्मं मात्स्यं गारुडमेव च ॥१२१॥
स्कान्दं तथैव ब्रह्माण्डाख्यं पुराणं च कीर्तितम् ॥१२२॥
भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतं प्रोक्तं नन देवीपुराणोक्तम् ॥१२६॥
—शिव० उमा० अ० ४४

यहाँ पर देवीभागवत को अठारह पुराणों में गिना गया है, श्रीमद्भागवत को नहीं। भविष्यपुराण में श्रीमद्भागवत को अठारह पुराणों में गिना है, देवीभागवत को नहीं।

भविष्यपुराण के निम्न श्लोक से तो स्वतः सभी पुराणों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है—

सर्वाण्येव पुराणानि संज्ञेयानि नरर्षभ। द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह मनीषिभिः ॥
पुनर्वृद्धिं गतानीह आख्यानैर्विविधैर्नृप ॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० १।१०३-१०४

अर्थात्—सारे पुराण केवल १२००० श्लोक के थे, पीछे से इनमें वृद्धि हो गई।

इस प्रकार तर्कहीन, असम्भव तथा परस्पर विरोधी बातों से भरे ये पुराण न व्यासरचित हैं और न इन्हें प्रामाणिक ग्रन्थों की कोटि में रक्खा जा सकता है।

इतिहासपुराणाभ्याम्—पुराणों में पाँच विषयों का वर्णन अपेक्षित है—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

अर्थात् (सर्ग) सृष्टि, (प्रतिसर्ग) प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित वर्णन पुराणों का लक्षण कहा है। अर्थात् पुराणों में सृष्टिरचना, प्रलय, प्राचीन राजवंश, वैवस्वत आदि मन्वन्तरों का विवरण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्राचीन राजवंशों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ग्रन्थकार ने इसी प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करनेवाले ब्राह्मणग्रन्थों को ही 'पुराण' कहा है। वर्त्तमान में पुराण नाम से, अभिहित भागवतादि ग्रन्थ इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। महाभारत (आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक २६७) से उद्धृत उक्त वचन (इतिहासपुराणाभ्याम्०) में आगे कहा है—'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' अर्थात् जो अल्पश्रुत हैं—जो वेदार्थ में सहायक आधारभूत ग्रन्थों में पारंगत नहीं हैं, वेद उनसे डरता है कि यह कहीं मेरी हत्या न कर दे। मन्त्र के वास्तविक भाव को न समझकर उसका मनमाना अर्थ करना और इस प्रकार उसे विकृतरूप में प्रस्तुत करना उसकी हत्या करना है। सायण, महीधर, उवट आदि मध्यकालीन आचार्यों और वर्त्तमान में संस्कृत का साधारण ज्ञान रखनेवाले लोगों ने यही किया है। तैत्तिरीय आरण्यक (२।९) का वचन है—'ब्राह्मणानितिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरिति।' आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।३।१) में कहा है—'ब्राह्मणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरितिहासपुराणानीति'। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों का नाम पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, नाराशंसी है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०) की व्याख्या में इतिहास, पुराण आदि पदों से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—"किं तन्निःश्वसितमिव ततो जातिमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः—चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरुरवसोः संवादादिः—'उर्वशीहाप्सराः'

इत्यादि ब्राह्मणमेव पुराणम् ।" इस प्रकार शंकराचार्य ने इतिहास-पुराण शब्दों से ब्राह्मणान्तर्गत विशिष्ट वचनों का निर्देश कर ब्राह्मणग्रन्थों को इतिहास, पुराण आदि का पर्याय अथवा उसके अन्तर्गत स्वीकार किया है। सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीय आरण्यक (८।२१) के उक्त वचन की व्याख्या में इतिहास, पुराण आदि शब्दों से ब्राह्मणग्रन्थों का ही निर्देश माना है। 'ब्राह्मणं चाष्टधा भिन्नम्, तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि' कहकर आरण्यक ग्रन्थों से ही इतिहासादि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इतिहास-पुराणादि के ये लक्षण ब्राह्मणग्रन्थों में पूरी तरह घटते हैं।

'पुराण' शब्द के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अन्यत्र लिखा है—"पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः।" जो पुराणा पदार्थ होवे, उसको कहते हैं पुराण। सो सदा विशेषणवाची ही रहता है। तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदिक सब शब्द हैं। तथा इनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं। जो विशेषणवाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्त्तक होते हैं। जैसे कि यह चीज पुरानी है तथा यह चीज नवीन है। पुराण शब्द जो है सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है। जहाँ-जहाँ वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहाँ-वहाँ वे इन अर्थों के ही वाचक होते हैं, अन्यथा नहीं। ऐसा ही अर्थ गौतम मुनि के किये सूत्रों पर जो वात्स्यायन मुनि का किया भाष्य है (लोकव्यवस्थापनमिति पुराणस्य---४।१।६२), उसमें लिखा है—वहाँ ब्राह्मणपुस्तक जो शतपथादिक, उनों का नाम ही पुराण है। तथा शंकराचार्य ने भी शारीरक भाष्य में और उपनिषद् भाष्य में ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही 'पुराण' शब्द से ग्रहण किया है। जो चाहे, सो उन शास्त्रों में देख लेवे। वह इस प्रकार से कहा है कि जहाँ-जहाँ प्रश्न और उत्तरपूर्वक कथा होवै, उसका नाम 'इतिहास' है। और जहाँ-जहाँ वंश कथा होवै ब्राह्मणपुस्तकों में, उसका नाम 'पुराण' है। और जो ऐसे कहते हैं कि १८ ग्रन्थों का नाम पुराण है, यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि उस बात को वेदादिक सत्य-शास्त्रों में कहीं प्रमाण नहीं है। इनों का नाम कोई पुराण रक्खै तो इनसे पूछना चाहिए कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं? सब ग्रन्थों में वेद ही सबसे पुराने हैं।"

शतपथब्राह्मण (१३।४।३।१३) में अश्वमेध के नवम दिन पुराण सुनने का विधान किया है—"अथ नवमेऽहनि···तानुपदिशति पुराणं वेदः, सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षति।" शांखायनश्रौत-सूत्र (१६।२।२५-२७) में भी नवम दिन में पुराण पाठ का निर्देश है। यहाँ सर्वत्र 'पुराण' शब्द से ब्राह्मणादि ग्रन्थ अभिप्रेत हैं।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार लिखते हैं—"और यह बात कहते हैं कि अश्वमेध की जो पूर्ति हो जाए तो उसके नवम दिन यजमान पुराण की कथा सुनै सो तो ठीक-ठीक है कि ब्राह्मण पुस्तक की कथा सुनै। और जो ऐसा कहै कि ब्रह्मवैवर्त्तादिकों की क्यों नहीं सुनै? तो उससे पूछना चाहिए कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जब-जब अश्वमेध भये थे तब-तब किसकी कथा सुनी थी। क्योंकि उस वक्त व्यासजी का जन्म भी नहीं भया था। तब पुराण कहाँ थे? और जो ऐसा कहै कि व्यासजी युग-युग में थे। यह बात भी उसकी मिथ्या है, क्योंकि अब तक युधिष्ठिरादिकों का निशान दिल्ली आदिकों में देख पड़ता है।[1] उसी वक्त व्यासजी तथा व्यासजी की माता आदिक वर्त्तमान थे। इससे यह भी उनका कहना मिथ्या है। पुराण जितने हैं ब्रह्मवैवर्त्तादिक, वे सब सम्प्रदायी लोगों ने अपने-अपने मतलब के वास्ते लोगों ने बना लिए हैं। व्यासजी का वा अन्य ऋषि-मुनियों का बनाया एक भी पुराण नहीं है। क्योंकि वे बड़े

१. यह सम्भवतः पाण्डवों के किले की ओर संकेत है।

उत्तर—जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी होते, तो उनमें इतने गपोड़े न होते। क्योंकि शारीरकसूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यासजी बड़े विद्वान् सत्यवादी धार्मिक योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते। और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था। और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्याससदृश विद्वानों का काम नहीं। किन्तु यह काम वेदशास्त्रविरोधी स्वार्थी अविद्वान् लोगों का है।

'**इतिहास**' और '**पुराण**' शिवपुराणादि का नाम नहीं। किन्तु—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति।

—यह ब्राह्मण और सूत्रों का वचन है।'

विद्वान् थे और धर्मात्मा। उनका वचन सत्य ही है। तथा छह दर्शनों में उनके सत्य वचन देखने में आते हैं, मिथ्या एक भी नहीं है। और पुराणों में मिथ्या कथा तथा परस्पर विरोध ही है। और जैसे वे सम्प्रदायी लोग हैं, वैसे ही उनके बनाये पुराण भी सब भ्रष्ट हैं। सो सज्जनों को ऐसा ही जानना उचित है, अन्यथा नहीं।"—ऋषि दयानन्द के 'पत्र और विज्ञापन', भाग १, सं० ३, पृ० २१

जमदग्नि, कश्यप आदि कतिपय व्यक्तिसूचक नामों को देखकर यजुर्वेदादि मन्त्र-संहिताओं में भी आपाततः इतिहास होने की प्रतीति होती है। वस्तुतः ये शब्द किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के वाचक नहीं हैं। आदिकाल में संस्कृत के समस्त नामपद यौगिक अर्थात् धातुज थे। कालान्तर में उनके अर्थ-विशेष में सीमित हो जाने पर वे रूढ़ होने लगे। यतः वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ, अतः उनमें कोई शब्द रूढ़ नहीं है। इस प्रकार वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक प्रक्रिया से होगा और प्रकरणादि के अनुसार उनका अर्थविशेष में पर्यवसान होगा। वेदार्थ की जितनी भी प्रक्रियायें हैं, उनमें ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़कर, सभी प्रक्रियाओं में वैदिक नामों=प्रातिपदिकों को यौगिक माना गया है। वेद के शब्द रूढ़ नहीं होते—अपनी इस मान्यता के अनुरूप ही महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'भोगैः' का अर्थ 'शरीरैः', 'सप्तसिन्धवः' का 'सप्तविभक्तयः' तथा 'सखायः' का 'वैयाकरणाः' किया है। यौगिक-वाद में जो कुछ भी प्राचीन और अर्वाचीन विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, उनका मुख्य स्रोत निरुक्त है और निरुक्त नाम है निर्वचन का। प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तियाँ इसलिए की गई हैं कि उन शब्दों की निरुक्तियों को लेकर तत्तत् शब्दों का अर्थ होता है। स्वयं निरुक्त ब्राह्मणग्रन्थों का पूरक सा है। जहाँ कहीं सम्भव होता है, वहाँ यास्क अपने अर्थों की पुष्टि में 'इति विज्ञायते', 'हैति ब्राह्मणम्' इत्यादि कहकर ब्राह्मणवचनों को उद्धृत करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ तो निर्वचनों से भरे पड़े हैं। वे तो हर समय निरुक्ति द्वारा शब्दों के अर्थ समझने-समझाने की बात करते हैं। यज्ञो वै विष्णुः, राष्ट्रं वा अश्वमेधः, सत्यमाज्यम्, यज्ञो वै वसुः, प्राणो वै वसिष्ठः, वीर्यं वा अश्वः, मनो वै भरद्वाजः, कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः, चक्षुर्वै जमदग्निः इत्यादि निर्वचनों की ब्राह्मणग्रन्थों में भरमार है। यही नहीं, अर्थ का औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रत्येक निर्वचन का स्पष्टीकरण भी करते हैं। जैसे—'श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः।'[2]

ब्राह्मणानीतिहासान्—इतिहास-पुराणादि शब्दों के ब्राह्मणान्तर्गत वचनों के उदाहरण ग्रन्थकार

---

१. आरण्यक ब्राह्मणों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

२. चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः।—शत० ८।१।२।३; जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा। प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति।—निरुक्त ७।२४।

ऐतरेय शतपथ साम और गोपथ ब्राह्मणग्रन्थों के ही **इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी** ये पाँच नाम हैं। **'इतिहास'**=जैसे जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद। **'पुराण'**=जगदुत्पत्ति आदि का वर्णन। **'कल्प'**=वेदशब्दों के सामर्थ्य का वर्णन, अर्थनिरूपण करना। **'गाथा'**=किसी का दृष्टान्त दार्ष्टान्तरूप कथा-प्रसंग कहना। **'नाराशंसी'**=मनुष्यों के प्रशंसनीय वा अप्रशंसनीय कर्मों का कथन करना[1]। इन ही से वेदार्थ का बोध होता है।

'पितृकर्म' अर्थात् ज्ञानियों की प्रशंसा में कुछ सुनना, अश्वमेध के अन्त में भी इन्हीं का सुनना लिखा है। क्योंकि जो व्यासकृत ग्रन्थ हैं, उनका सुनना-सुनाना व्यास जी के जन्म के पश्चात् ही हो सकता

ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'वेदसंज्ञाविचार' के अन्तर्गत इस प्रकार दिये हैं—"ब्राह्मणग्रन्थों में इतिहासादि का अन्तर्भाव होने से इतिहास पुराण आदि नामों से उनका ही ग्रहण होता है। वहाँ—

जो ब्राह्मणग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् देव=विद्वान् और असुर=मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे—इत्यादि कथाओं का नाम 'इतिहास' है।

(तदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्—छां० प्रपा० ६; आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्—ऐतरेयारण्यकोप० अ० १, खं० १; आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास—शत० कां० ११।१।६।१; इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्।)—अर्थात् जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है, उस ब्राह्मण भाग का नाम 'पुराण' है।

(इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ, अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

शतपथब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, गार्गी, जनक, मैत्रेयी आदि की प्रश्नोत्तररूप कथाओं का नाम 'गाथा' है।

(नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवति—निरुक्त ८।६) अर्थात् जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं।

(ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में 'ब्राह्मणानि' संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा हैं अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि में जो-जो जैसी कथा लिखी है, उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिए, अन्य का नहीं।"

---

१. इतिहास-पुराणादि शब्दों के ब्राह्मणगत वचनों के उदाहरण ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६४, ६५, ६६ (रालाकट्रमं०) में विस्तार में दिये हैं। वहाँ इतिहास का उदाहरण 'देवासुरसंग्रामविषयक' दिया है और याज्ञवल्क्य जनक संवाद का निर्देश गाथा के अन्तर्गत किया है।

आचार्य शङ्कर ने बृ० उ० २।४।१० के व्याख्यान में 'इतिहास पुराण' आदि शब्दों के ब्राह्मणगत उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—"इतिहास इत्युर्वशीपुरुरवसोः संवादादिः, उर्वशी हाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम्—असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि।" इसी प्रकार इस प्रकरण में आये विद्या उपनिषद् श्लोक सूत्र अनुव्याख्यान व्याख्यान शब्दों के उदाहरण भी ब्राह्मणगत ही दिये हैं।

सायणाचार्य ने तैत्तिरीय आरण्यक ८।२१ (पृष्ठ ५६३, पूना संस्करण) के व्याख्यान में बृ० उ० २।८।४ के अनुसार ब्राह्मण को आठ प्रकार का बताकर प्रकृत आरण्यक ग्रन्थ के निम्न उदाहरण दिये हैं—"भृगुर्वै वारुणिरित्यादिरितिहासः। यतो वा इमानि भूतानि जायन्त इत्यादिकं सर्गप्रतिसर्गादिप्रतिपादकं पुराणम्।" शेष विद्या उपनिषद् आदि के उदाहरण दिये हैं।

है, पूर्व नहीं। जब व्यासजी का जन्म भी नहीं था, तब भी वेदार्थ को पढ़ते-पढ़ाते और सुनते-सुनाते थे। इसलिये **सबसे प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों**[1] ही में यह सब घटना हो सकता है। इन नवीन कपोल-कल्पित श्रीमद्-भागवत शिवपुराणादि मिथ्या वा दूषित ग्रन्थों में नहीं घट सकता।

[व्यास जी का 'वेदव्यास' नाम कैसे पड़ा ?]

जब व्यासजी ने वेद पढ़े और पढ़ाकर वेदार्थ फैलाया, इसीलिये उनका नाम **'वेदव्यास'** हुआ।[2] क्योंकि **'व्यास'** कहते हैं वारपार की मध्यरेखा को। अर्थात् ऋग्वेद के आरम्भ से लेकर अथर्ववेद के पार-पर्यन्त चारों वेद पढ़े थे। और शुकदेव तथा जैमिनि आदि शिष्यों को पढ़ाये भी थे। नहीं तो उनका जन्म का नाम **'कृष्ण द्वैपायन'** था। जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यासजी ने इकट्ठे किये, यह बात झूंठी है। क्योंकि व्यासजी के पिता पितामह परमपितामह पराशर शक्ति वशिष्ठ और ब्रह्मा[3] आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे, यह बात क्योंकर घट सके ?

[शिवपुराणादि की अधिकांश बातें झूंठी हैं]

प्रश्न—पुराणों में सब बातें झूंठी हैं, वा कोई सच्ची भी है।

उत्तर—बहुत-सी बातें झूंठी हैं, और कोई **'घुणाक्षरन्याय'** से सच्ची भी है। जो सच्ची हैं वह वेदादि सत्यशास्त्रों की, और जो झूंठी हैं वे इन पोपों के पुराणरूप घर की हैं। जैसे—**शिवपुराण** में शैवों ने शिव को परमेश्वर मानके विष्णु ब्रह्मा इन्द्र गणेश और सूर्य्यादि को उनके दास ठहराये। वैष्णवों ने **विष्णु-पुराण**-आदि में विष्णु को परमात्मा माना, और शिव आदि को विष्णु के दास। **देवीभागवत** में देवी को

---

१. वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन आदि विद्वान् ब्रह्मा के काल से ही प्रारम्भ हो गया था। और इसकी समाप्ति कृष्ण द्वैपायनव्यास के शिष्य-प्रशिष्यों के प्रवचन के साथ हुई। वर्तमान में जो वेद की शाखायें वा ब्राह्मणग्रन्थ मिलते हैं, उनमें ऐतरेयब्राह्मण को छोड़कर सभी कृष्णद्वैपायन व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त हैं। ब्राह्मण और कल्पसूत्र पुराणप्रोक्त और अर्वाचीन दो प्रकार के हैं। इसका निर्देश भगवान् पाणिनि ने 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अ० ४।३।१०५) सूत्र में किया है। इसकी पुष्टि लाट्यायनश्रौतसूत्र के "तथा च पुराणं ताण्डम्" (७।१०।१०) से भी होती है। वैयाकरणों की व्याख्यानुसार भाल्लव शाट्यायन ऐतरेय और भागुरि प्रोक्त पुराण ब्राह्मण, तथा पैङ्ग आरुणपराज (=आरुणपराशर) प्रोक्त पुराण कल्प कहे हैं। द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १ (तृ० सं०) पृष्ठ २४६-२५६। वायुपुराण अ० २३, श्लोक ११४ के आगे द्वापर में ही वाल्मीकि प्रभृति २८ व्यासों का निर्देश किया है। वाल्मीकि आदि प्रोक्त कतिपय शाखाओं के नियम प्रातिशाख्यों में उपलब्ध होते हैं।

सम्भवतः इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने यहाँ ब्राह्मणग्रन्थों का विशेषण 'सबसे प्राचीन' दिया है। प्रोक्त-साहित्य के सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें अधिकांश भाग प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गये प्रवचन का ही होता है। द्र०—'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', भाग १ (तृ० सं० पृष्ठ २४६)। अतः वर्तमान में उपलब्ध व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों में भी अधिक भाग प्राचीन प्रवचन का है। अतः इन ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण देना भी अयुक्त नहीं है।

२. वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इति स्मृतः। महा० आदिपर्व। वायुपुराण अ० २३। श्लोक ११४ के आगे 'कृष्ण द्वैपायन व्यास' से पूर्व २७ व्यासों का नामपूर्वक उल्लेख मिलता है।

३. यह कुल-परम्परा महाभारत आदि में वर्णित है। पर ब्रह्मा से कृष्णद्वैपायन व्यास तक ५ पीढ़ी में अति सुदीर्घकाल कैसे व्यतीत हुआ, यह विचारणीय है।

परमेश्वरी, और शिव विष्णु आदि को उसके किङ्कर बनाये। **गणेशखण्ड में गणेश को ईश्वर, और शेष सबको दास बनाये।**

भला यह बात इन सम्प्रदायी लोगों की नहीं, तो किनकी है? एक साधारण मनुष्य के बनाने में ऐसी परस्पर विरुद्ध बात नहीं होती, तो विद्वान् के बनाये में कभी नहीं आ सकती। इसमें एक बात को सच्ची मानें तो दूसरी झूंठी। और जो दूसरी को सच्ची मानें तो तीसरी झूंठी। और जो तीसरी को सच्ची मानें, तो अन्य सब झूंठी होती हैं।

शिवपुराणवाले शिव से, विष्णुपुराणवालों ने विष्णु से, देवीपुराणवाले ने देवी से, गणेशखण्ड वाले ने गणेश से, सूर्यपुराणवाले ने सूर्य से, और वायुपुराणवाले ने वायु से सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय लिखके, पुनः एक-एक से एक-एक जो जगत् के कारण लिखे, उनकी उत्पत्ति एक-एक से लिखी।

कोई पूछे कि जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करनेवाला है वह उत्पन्न, और जो उत्पन्न होता है वह सृष्टि का कारण कभी हो सकता है, वा नहीं? तो केवल चुप रहने के सिवाय कुछ भी नहीं कह सकते। और इन सबके शरीर की उत्पत्ति भी इसी से हुई होगी। फिर वे आप सृष्टि-पदार्थ और परिच्छिन्न होकर संसार की उत्पत्ति के कर्त्ता क्योंकर हो सकते हैं? और जगत् की उत्पत्ति भी विलक्षण-विलक्षण प्रकार से मानी है, जोकि सर्वथा असम्भव है। जैसे—

[शिवपुराणोक्त सृष्टि-रचना का विवेचन]

शिवपुराण में शिव ने इच्छा की कि मैं सृष्टि करूँ। तो एक नारायण जलाशय[1] को उत्पन्न कर उसकी नाभि से कमल, कमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसने देखा कि सब जलमय है। जल की अञ्जलि उठा देख जल में पटक दी। उससे एक बुद्बुदा उठा, और बुद्बुदे में से एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने ब्रह्मा से कहा कि 'हे पुत्र! सृष्टि उत्पन्न कर'। ब्रह्मा ने उससे कहा कि—'मैं तेरा पुत्र नहीं, किन्तु तू मेरा पुत्र है'। उनमें विवाद हुआ, और दिव्यसहस्र वर्ष पर्यन्त दोनों जल पर लड़ते रहे।

यही सब मानकर ग्रन्थकार ने अन्त में लिखा है—"चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि।"

वेदों में पुराणों का उल्लेख—पौराणिक विद्वानों का कहना है कि वेदों में पुराणों का उल्लेख होने से पुराण भी प्राचीन धर्मग्रन्थ हैं और धर्माधर्म के प्रसंग में प्रामाणिक हैं। हमारा कहना है कि वेदों में 'पुराण' शब्द अवश्य है, परन्तु वहाँ पुराण शब्द से भागवतादि पुराणों का ग्रहण नहीं होता। तद्यथा—

१. अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः (ऋ० २।१८।१)—इस मन्त्र में 'पुराण' पुरातन अर्थ का प्रतिपादक है, भागवतादि कपोलकल्पित पुराणों का नहीं।

२. पुनः पुनर्जायमाना पुराणी० (ऋ० १।९२।१०)—इस मन्त्र में 'पुराणी' शब्द उषा का विशेषण है और 'सनातनी' अर्थ का प्रतिपादक है।

३. अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्रस्थ पुराणा ये च नूतनाः (यजु० १२।४५)—इस मन्त्र में भी 'पुराणाः' पद पितर का विशेषण है, भागवतादि पुराणों के लिए किसी भाष्यकार ने विनियुक्त नहीं किया। यहाँ इसका अर्थ पूर्वज या वृद्ध ही है।

---

१. अर्थात् 'नारायण' नामक जलाशय। 'नारायण' तीर्थ का निर्देश 'शिवपुराण' में है (द्र०—वाचस्पत्य कोष)। तदनुसार यहीं शिव ने सृष्टि रची थी।

तब महादेव ने विचार किया जिनको मैंने सृष्टि करने के लिये भेजा था, वे दोनों आपस में लड़-झगड़ रहे हैं। तब उन दोनों के बीच में से एक तेजोमय लिङ्ग उत्पन्न हुआ, और वह शीघ्र आकाश में चला गया। उसको देखके दोनों साश्चर्य हो गये। विचारा कि इसका आदि-अन्त लेना चाहिये। जो आदि-अन्त लेके शीघ्र आवे वह पिता, और जो पीछे वा थाह लेके न आवे वह पुत्र कहावे।

विष्णु कूर्म का स्वरूप धरके नीचे को चला, और ब्रह्मा हंस का शरीर धारण करके ऊपर को उड़ा। दोनों मनोवेग से चले। दिव्यसहस्र वर्षपर्यन्त दोनों चलते रहे, तो भी उसका अन्त न पाया। तब नीचे से ऊपर विष्णु और ऊपर से नीचे ब्रह्मा चला। ब्रह्मा ने विचारा कि जो वह छेड़ा[1] ले आया होगा तो मुझको पुत्र बनना पड़ेगा। ऐसा सोच रहा था कि उसी समय एक गाय और एक केतकी का वृक्ष ऊपर से उतर आया। उनसे ब्रह्मा ने पूछा कि—'तुम कहाँ से आये'? उन्होंने कहा—'हम सहस्र वर्षों से इस लिङ्ग के आधार से चले आते हैं'। ब्रह्मा ने पूछा—'इस लिङ्ग का थाह है, वा नहीं?' उन्होंने कहा कि—नहीं।

ब्रह्मा ने उनसे कहा कि—'तुम हमारे साथ चलो। और ऐसी साक्षी देओ कि मैं इस लिङ्ग के शिर पर दूध की धारा वर्षाती थी। और वृक्ष कहे कि मैं फूल वर्षाता था। ऐसी साक्षी देओ, तो मैं तुमको ठिकाने पर ले चलूँ'। उन्होंने कहा कि—'हम झूंठी साक्षी नहीं देंगे।' तब ब्रह्मा कुपित होकर बोला 'जो साक्षी नहीं देओगे, तो मैं तुमको अभी भस्म करे देता हूँ।' तब दोनों ने डरके कहा कि—'हम जैसी तुम कहते हो, वैसी साक्षी देवेंगे।' तब तीनों नीचे की ओर चले।

---

४. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह (अथर्व० ११।७।२४)—इस मन्त्र में 'पुराणम्' शब्द देहली-दीप न्याय से प्रत्येक वेद की पुरातनता-सनातनता का द्योतक है।

यहाँ उदाहृत प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेदों में पठित पुराण शब्द प्रायः विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, किसी ग्रन्थविशेष के लिए नामरूप में नहीं। गीता में भी "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (२।२०) पुराण शब्द जीवात्मा के विशेषण रूप में प्रयुक्त होकर उसकी सनातनता का बोधक है।

फिर, वेदविरोधी विचारों के प्रतिपादक पुराण वैदिक धर्म में कैसे मान्य हो सकते हैं? ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।—यजु० ४०।८

इसके विपरीत पराणों के अनुसार परमेश्वर का स्वरूप यह है—

गजेन्द्रवदनं देवं श्वेतवस्त्रं चतुर्भुजम्।
परशुलगुडं वामे दक्षिणे दण्डमुत्पलम्।
मूषकस्थं महाकायं शंखकुन्देन्दुसमप्रभम्।
युक्तं बुद्धिकुबुद्धिभ्यां एकदन्तं भयावहम्॥—भविष्यपुराण

वेद के अनुसार मोक्षलाभ के लिए ब्रह्मज्ञान ही एकमात्र साधन है—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजुः १८।३१)। इसके विपरीत पुराणों के अनुसार—

---

१. छेड़ा अर्थात् थाह।

विष्णु प्रथम ही आ गये थे, ब्रह्मा भी पहुँचा। विष्णु से पूछा कि--'तू थाह ले आया वा नहीं' ? तब विष्णु बोला--'मुझको इसका थाह नहीं मिला'। ब्रह्मा ने कहा--'मैं ले आया'। विष्णु ने कहा--'कोई साक्षी देओ'। तब गाय और वृक्ष ने साक्षी दी--'हम दोनों लिङ्ग के शिर पर थे'। तब लिङ्ग में से शब्द निकला, और वृक्ष को शाप दिया कि--'जिससे तू झूंठ बोला, इसलिये तेरा फूल मुझ वा अन्य देवता पर जगत् में कहीं नहीं चढ़ेगा। और जो कोई चढ़ावेगा, उसका सत्यानाश होगा।' गाय को शाप दिया कि--'जिस मुख से तू झूंठ बोली, उसी से विष्ठा खाया करेगी। तेरे मुख की पूजा कोई नहीं करेगा, किन्तु पूंछ की करेंगे'। और ब्रह्मा को शाप दिया कि--'जिससे तू मिथ्या बोला, इसलिये तेरी पूजा संसार में कहीं न होगी'। और विष्णु को वर दिया--'जिससे तू सत्य बोला, इससे तेरी पूजा सर्वत्र होगी।'

पुनः दोनों ने लिङ्ग की स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर उस लिङ्ग में से एक जटाजूट मूर्त्ति निकल आई। और कहा कि--'तुमको मैंने सृष्टि करने के लिए भेजा था, झगड़े में क्यों लगे रहे' ? ब्रह्मा और विष्णु ने कहा कि--'हम विना सामग्री सृष्टि कहाँ से करें' ? तब महादेव ने अपनी जटा में से एक भस्म का गोला निकालकर दिया और कहा कि--'जाओ, इसमें से सब सृष्टि बनाओ' इत्यादि।

भला कोई इन पुराणों के बनानेवालों से पूछे कि--'जब सृष्टि-तत्त्व और पञ्च महाभूत भी नहीं थे, तो ब्रह्मा विष्णु महादेव के शरीर, जल कमल लिङ्ग गाय और केतकी का वृक्ष और भस्म का गोला क्या तुम्हारे बाबा के घर में से आ गिरे ?'

शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः।
कोटिजन्मार्जितात्पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः॥
तुलसीपत्रतोयं च मृत्युकाले च यो लभेत्।
स मुच्यते सर्वपापाद् विष्णुलोकं स गच्छति॥--ब्रह्मवैवर्त्त०

वेद प्राणिमात्र की रक्षा का उपदेश देता है--

गां मा हिंसीः। यजु० १३।४३

पशून् पाहि। यजु० १।१

मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्। यजु० १३।४७

इसके विपरीत पुराणों में गौ जैसे सर्वोपकारक पशु की हत्या का विधान इन शब्दों में किया गया है--

पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं स्वयमेव च। एतेषां च नदीराशिर्भुञ्जते ब्राह्मणा मुने॥
पञ्चलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः। ब्राह्मणां त्रिकोटीश्च भोजयामास नित्यशः॥
गवां द्वादशलक्षाणां दक्षैर्नित्यमुदान्वितः। सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति॥

विवाहसम्बन्ध के विषय में पुराणों में लिखा है--

मातृजां पितृजां चैव यां चैवोद्वहेत् स्त्रियम्।
कुलैकविंशमुत्तार्य ब्रह्मलोके महीयते॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्।
भगिनीं भगवाञ्छम्भुः गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥

इस प्रकार की ऊटपटाँग, बेहूदा, शास्त्रविरुद्ध बातों से भरे भागवतादि पुराणों के लिए वैदिक धर्म में कोई स्थान नहीं हो सकता।

पुराणों में कुछ सत्य भी है ?—इस विषय में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—"कदाचित् इन (त्याज्य) ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्य ग्रन्थों में भी जो-जो सत्य बात है, उसका ग्रहण करना चाहिए ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे अमृततुल्य अन्न में विष मिला हो तो उसको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उनसे सत्यग्रहण करने की आशा में सत्यार्थप्रकाशक वेदादिग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिए इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्याग्रन्थों को अवश्य छोड़ देना चाहिए।"

ऋ० भा० भूमिका में विविध विषयों के ग्राह्य तथा त्याज्य ग्रन्थों का निर्देश करना इस बात का सूचक है कि ग्रन्थकार ने उनका (अन्यत्र कथित लगभग तीन हज़ार ग्रन्थों का) अध्ययन किया और ऊहापोह करने पर उनमें से बहुतों को ऋषि-मुनि प्रणीत ग्रन्थों के विपरीत तथा वैदिक मन्तव्यों के विरुद्ध पाया। लुप्तप्राय वेदों को पुनरुज्जीवित करने का दृढ़ व्रत और संकल्प लिए हुए ग्रन्थकार को पुराणादि त्याज्य ग्रन्थ वेदों के प्रचार-प्रसार में बाधक प्रतीत हुए, क्योंकि तत्कालीन समाज उनमें लिखी बातों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। ऐसे समाज को सही दिशा देने के लिए आवश्यक था कि उनके मिथ्या विश्वासों को उनके सामने खोलकर रक्खा जाता। इसके बिना वेदों के प्रति उनकी श्रद्धा को जगाना कठिन था। इन त्याज्य ग्रन्थों की वास्तविकता को उजागर करने के लिए उदाहरणार्थ यहाँ एक-दो प्रसंग उपस्थित किए जाते हैं। भागवतपुराण को तत्सम्प्रदाय में महर्षि वेदव्यासविरचित महापुराण माना जाता है। उसी में से एक उद्धरण है—

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरि हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिका:॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्ति: कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्ण: पुर: स्थित:॥
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखै:।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा॥

—भागवतमाहात्म्य २।१८, १६, २१

यहाँ तप, ज्ञान, कर्म, तीर्थ, व्रत, योग, यज्ञ, ज्ञानचर्चा—इन सबको तुच्छ बतलाकर कृष्णभक्ति की महिमा यह कहकर प्रतिपादित की गई है कि कलियुग में एकमात्र गोपियों के प्रिय कृष्ण की भक्ति ही मोक्षलाभ का उपाय है। इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि भागवतपुराण भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र के रचयिता कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास की रचना नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि व्यासमुनि यज्ञ, दान, तप, ज्ञान, कर्म, योग, वेद आदि की निन्दा करें, जबकि गीता आदि में बलपूर्वक इनका प्रतिपादन करें, यथा ब्रह्मसूत्र में 'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।३), 'अत एव च नित्यत्वम्' (१।१।३६), 'अग्निहोत्रादि तु कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४।१।१६), तथा गीता में 'यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५)। दूसरे भक्ति और (वह भी नरदेह-धारी पुरुष की, जो अन्य जीवों के समान देह को त्याग देने के कारण अब अदृश्य है) को केवल कलियुग के लिए उपयोगी बतलाने से स्पष्ट है कि भागवत की रचना कलियुग के आरम्भ होने के बाद हुई, जब-कि व्यास तो द्वापर के अन्त से कुछ वर्ष पूर्व हुए थे। यदि कृष्णभक्ति केवल कलियुग के लिए उपयोगी है तो सत्ययुग—त्रेता—द्वापर में और उससे भी पूर्व २७ चतुर्युगियों के बीत जाने पर (क्योंकि सृष्टि के आदि से पढ़े जा रहे संकल्पवाक्य के अनुसार वर्त्तमान कलियुग २८वीं चतुर्युगी का कलियुग है) लाखों-

[भागवतपुराणोक्त सृष्टि-रचना का विवेचन]

वैसे ही भागवत में विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, और ब्रह्मा के दहिने पग के अँगूठे से स्वायंभुव, और बायें अँगूठे से शतरूपा राणी। ललाट से रुद्र और मरीचि आदि दश पुत्र, उनसे दश प्रजापति। दक्ष की तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से। उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव, अदिति से आदित्य, विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते स्याल आदि। और अन्य स्त्रियों से हाथी घोड़े ऊँट गधा भैंसा घास-फूस और बबूल आदि वृक्ष काँटे सहित उत्पन्न हो गये।

करोड़ों वर्षों तक मनुष्यसमाज किस ग्रन्थ के सहारे और श्रीकृष्ण के अभाव में किस व्यक्तिविशेष की भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता रहा है। स्पष्ट है कि वेदविरुद्ध वैष्णव पञ्चरात्र मत के प्रति 'अन्धे-नैव नीयमाना यथान्धाः' जनसमुदाय को भ्रमित कर स्वार्थसिद्धि के लिए इस प्रकार के जालग्रन्थ रचे गये। वेदप्रतिपादित 'ओम्' पदवाच्य सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ तथा नित्य परमेश्वर के स्थान में जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँसे देहधारी जीव की पूजा का विधान करनेवाले भागवतादि पुराणों का त्याज्य होना सर्वथा युक्तियुक्त एवं शास्त्रसम्मत है।

भागवत में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन—

तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेरन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूर्यस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥१३॥
स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधनेन।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥१४॥
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयंभुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥१५॥

—श्रीमद्भागवत, तृतीयस्कन्ध० अष्टमाध्याय

अर्थात्—सूक्ष्मपदार्थ से अभिनिविष्ट दृष्टिवाले विष्णु के नाभिप्रदेश से······वह कमल सहसा निकला···उस विशाल जल को सूर्यसम अपने तेज से चमकाता हुआ आत्मयोनि वेदमय ब्रह्मा स्वयं हुआ, जिसे स्वयंभू कहते हैं।

आजकल श्रीमद्भागवत में मनु और शतरूपा की उत्पत्ति इस प्रकार मिलती है—

ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ॥४६॥
ज्ञात्वा तद्हृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव।
अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ॥५०॥
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं देवमत्र विघातकम्।
एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ॥५१॥
कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥५२॥
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायंभुवः स्वराट्।
स्त्री याऽऽसीत् शतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥५३॥—तृतीय स्कन्ध, अ० १२

अर्थात्—महाशक्ति ऋषियों की भी सृष्टि को अतिविस्तृत जानकर उसके हृदय में, हे विदुर ! फिर चिन्ता हुई, आश्चर्य है कि नित्यकार्य में लगे रहने पर भी मेरी सृष्टि नहीं बढ़ रही। सचमुच इसमें भाग्य ही विघ्न है। इस प्रकार उपाय करते हुए और भाग्य की जाँच करते हुए ब्रह्मा का रूप दो प्रकार का हो गया, जिसे काम कहते हैं। उन रूपविभागों से जोड़ा उत्पन्न हुआ। इसमें जो पुरुष था, वह तो

वाह रे वाह ! भागवत के बनानेवाले लालबुझक्कड़ ! क्या कहना । तुझको ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शर्म न आई । निपट अन्धा ही बन गया । स्त्री-पुरुष के रजवीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही हैं, परन्तु परमेश्वर की सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु-पक्षी सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते । और हाथी ऊँट सिंह कुत्ता गधा और वृक्षादि का स्त्री के गर्भाशय में स्थित होने का अवकाश कहाँ हो सकता है ? और सिंह आदि उत्पन्न होकर माँ-बाप को क्यों न खा गये ? और मनुष्य शरीर से पशु-पक्षी वृक्षादि का होना क्योंकर संभव हो सकता है ?

स्वराट् स्वायंभुव मनु था और जो स्त्री थी, वह उस महात्मा की राणी शतरूपा नामक थी ॥ उत्पत्ति का यह रूप भी असम्भव होने से सर्वथा काल्पनिक है । ग्रन्थकार का आक्षेप असम्भव पर है, जो इस प्रकार पर भी पूरी तरह लागू है ।

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ॥७॥
स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः ।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥८॥
इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन् ।
अभ्यधाद् भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥९॥
यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥१०॥—तदेव, अ० ३।१२

अर्थात्—बुद्धि के द्वारा रोका जाता हुआ भी वह क्रोध ब्रह्मा के ललाट से नीललोहित कुमार तत्काल उत्पन्न हुआ । देवों का पूर्वज वह भगवान् महादेव रोकर कहने लगा—हे धातः=ब्रह्मन् मेरे नाम और स्थान निश्चित करो । भगवान् ब्रह्मा उसके वचन को मानते हुए भद्रवाणी से बोले—"तू रो मत, मैं कर देता हूँ । हे सुरश्रेष्ठ, यतः तू बालक के समान उद्वेग से रोया है, अतः प्रजाएँ तुझे रुद्र नाम से पुकारेंगी ।"

अथाभिध्यायतः सर्गं दशपुत्राः प्रजज्ञिरे ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥

—श्रीमद्भागवत ३।१२

अर्थात्—सृष्टिरचना का ध्यान करते हुए ब्रह्मा के दश पुत्र—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष तथा नारद—उत्पन्न हुए । काम से विह्वल दिति अपने पति मरीचिपुत्र कश्यप से कहती है—

पुरा पिता नो भगवान् दक्षो दुहितृवत्सलः ।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥
स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥—तदेव ३।१४

अर्थात्—पहले कभी पुत्री-स्नेह से प्रेरित हमारे पिता भगवान् दक्ष ने पृथक्-पृथक् हमसे पूछा—"बेटियो ! किसे वरना चाहती हो ।" सन्तान की भावनावाले हमारे पिता ने अपनी कन्याओं के भाव को जानकर उनमें से तेरह को, जो तेरे शील के अनुकूल थीं, तुझे दे दीं ।

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशंकिनी । पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥२॥

शोक है इन लोगों की रची हुई इस महा असम्भव लीला पर, जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है। भला इन महा झूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं, वा अन्य कोई!!! इन भागवतादि

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥१६॥—तदेव ३।१७

अर्थात्—पति के आदेश से सन्तान के विषय में संदिग्ध साध्वी दिति ने सौ वर्ष पूरे होने पर दो यमल पुत्र उत्पन्न किए। शक्ति से प्रकट हो रहा है पौरुष जिनका, वैसे वे दो आदि दैत्य पर्वतों के पत्थर के समान देह के साथ बढ़ने लगे।

ताक्ष्यर्स्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनीति च।
पतङ्ग्यसूत पतगान् यामिनी शलभानथ ॥२१॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद् यज्ञेशवाहनम्।
सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥२२॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत्।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ॥२५॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः।
तिमेर्यादोगणा आसन् श्वापदाः सरमासुताः ॥२६॥
सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप।
ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः ॥२७॥
दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः।
इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥२८॥
अरिष्टायाश्च गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः।
सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकान् शृणु ॥२९॥
द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः।
अयोमुखः शंकुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः ॥३०॥
अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावातरद् विभुः ॥३८॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाऽथ सविता भगः।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः ॥३९॥—तदेव ६।६

अर्थात्—ताक्ष्यर्य की विनता, कद्रू, पतङ्गी तथा यामिनी ये पत्नियाँ थीं। पतंगी ने पतंग उत्पन्न किए। यामिनी ने शलभों को जना। सुपर्णा ने गरुड़ को जन्म दिया, जो साक्षात् विष्णु का वाहन है और सूर्य के कोचवान अनूरु को भी। कद्रू ने अनेक प्रकार के नागों को जन्म दिया। अब कश्यप की पत्नियों की (प्रसूति का वृत्तान्त) सुनो, जिनसे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा, तिमि—ये पत्नियाँ थीं। तिमि से जल-तन्तु समुदाय उत्पन्न हुए। सरमा से कुत्ते आदि हिंसक पशु, सुरभि से भैंसें, गौवें तथा अन्य दो खुरोंवाले पशु; ताम्रा से बाज़, गीध आदि; मुनि से अप्सराओं के गण। हे राजन्! दन्दशूक आदि सर्प क्रोधवशा की सन्तान हैं। इला से सब वृक्ष उत्पन्न हुए। सभी यातुधान सुरसा की सन्तान हैं। अरिष्टा से गन्धर्व

पुराणों के बनानेहारे जन्मते[1] ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये ? वा जन्मते समय पर मर क्यों न गये ? क्योंकि इन पोपों से बचते, तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता ।

[सृष्टिक्रम से विरुद्ध रचना नहीं हो सकती]

प्रश्न—इन बातों में विरोध नहीं आ सकता । क्योंकि **'जिसका विवाह उसी के गीत'** । जब विष्णु की स्तुति करने लगे, तब विष्णु को परमेश्वर अन्य को दास । जब शिव के गुण गाने लगे, तब शिव को परमात्मा अन्य को किंकर बनाया । और परमेश्वर की माया में सब बन सकता है । मनुष्य से पशु आदि, और पशु आदि से मनुष्यादि की उत्पत्ति परमेश्वर कर सकता है । देखो, विना कारण अपनी माया से सब सृष्टि खड़ी कर दी है । उसमें कौनसी बात अघटित है ? जो करना चाहै, सो सब कर सकता है ।

उत्तर—अरे भोले लोगो ! विवाह में जिसके गीत गाते हैं, उस को सब से बड़ा, और दूसरों को छोटा वा निन्दा, अथवा उसको सब का बाप तो नहीं बनाते ? कहो पोपजी ! तुम भाट और खुशामदी चारणों से भी बढ़कर गप्पी हो, अथवा नहीं ? कि जिसके पीछे लगो, उसी को सबसे बड़ा बनाओ । और जिससे विरोध करो, उसको सब से नीच ठहराओ । तुमको सत्य और धर्म से क्या प्रयोजन ? किन्तु तुमको तो अपने स्वार्थ ही से काम है । माया मनुष्य में ही हो सकती है । जो कि छली कपटी हैं, उन्हीं को **'मायावी'** कहते हैं । परमेश्वर में छल-कपटादि दोष न होने से उसको 'मायावी' नहीं कह सकते । जो

काष्ठा से दो खुरोंवालों से अतिरिक्त पशु उत्पन्न हुए । दनु से इकसठ सन्तान उत्पन्न हुए । उनमें से मुख्यों-के नाम सुनो—द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल और अरुण । ये सब युद्धशील दानव हैं । अब अदिति के वंश का क्रमशः वर्णन सुनो—इसमें विभु नारायण-देव ने अंशावतार ग्रहण किया । विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र, और उरुक्रम अदिति की सन्तान=आदित्य हैं ।

जिसका ब्याह उसके गीत—शिवजी के विवाह में विष्णु आदि की निन्दा—

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः ।
स नृपः सहदेशेन रौरवं नरकं व्रजेत् ॥३५॥
शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च ।
स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते ॥३६॥
—लिंग उत्तरभाग अ० ११

शिवं सामान्यवक्तारं शिवं सामान्यदर्शितम् ।
दृष्ट्वा स्नायात् सचैलः शिवसामान्यसङ्गिनम् ॥
महेशस्यैव दासोऽयं विष्णुस्तेनानुकम्पितः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां सिद्धान्तोऽयं यथार्थतः ।
इन्द्रोपेन्द्रादयः सर्वे महेशस्यैव किङ्कराः ॥
तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते ।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥—सौरपुराण अ० ४०

---

१. अर्थात् गर्भ में आते ही ।

आदि सृष्टि में कश्यप और कश्यप की स्त्रियों से पशु पक्षी सर्प वृक्षादि हुए होते, तो आजकल भी वैसे सन्तान क्यों नहीं होते? सृष्टिक्रम जो पहिले[1] लिख आये, वही ठीक है।

[भागवत के कर्त्ता को धोखा]

और अनुमान है कि पोपजी यहीं से धोखा खाकर बहके होंगे—'**तस्मात् काश्यप्य इमाः प्रजाः**'। शतपथ[2] में यह लिखा है कि यह सब सृष्टि '**कश्यप**' की बनाई हुई है। '**कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरु०**'[3]। सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का नाम '**कश्यप**' इसलिये है कि '**पश्यक**' अर्थात् '**पश्यतीति पश्यः, पश्य एव पश्यकः**' जो निर्भ्रम होकर चराचर जगत् सब जीव और इनके कर्म, सकल विद्याओं को यथावत्

अर्थात्—शिवलिंग की पूजा को छोड़कर जो अन्य विष्णु, ब्रह्मा, हनुमान्, देवी आदि देवताओं की पूजा करते हैं, उनके राजा अपने देशसहित रौरव नरक में जाते हैं। जो राजा दूसरे देवताओं की पूजा करता है, वह ऐसा दुष्ट है जैसे कोई युवती अपने पति को छोड़कर दूसरे जार पुरुष के साथ रमण करती है।

जो मनुष्य विष्णु को शिव के समान समझता है या ब्रह्मादि को शिव के समान बतलाता है, वह पापी है। उसको देखकर कपड़ों सहित स्नान करना चाहिए। विष्णु शिवजी का दास है। इन्द्रादि सब देवता शिवजी के नौकर हैं। जो मनुष्य विष्णु, ब्रह्मादि को शिवजी के समान कहता है, वह साठ हजार वर्ष तक टट्टी का कीड़ा बनेगा।

विष्णु आदि के विवाह में शिवजी की निन्दा—

रुद्रभक्ताश्च ये लोके भस्मलिंगास्थिधारिणः।
ते पाषण्डत्वमापन्ना वेदबाह्या भवन्तु वै॥
येऽर्चयन्ति सुरानन्यांस्त्वां विना पुरुषोत्तम।
ते पाषण्डत्वमापन्नाः सर्वलोकविगर्हिताः॥
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदेवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेत् सदा॥
किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः।
न स्प्रष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्याः कदाचन॥

जो इस संसार में शिवजी के भक्त हैं तथा लिंग या भस्म धारण करते हैं, वे पाखण्डी वेद-विरोधी हैं। जो विष्णु को छोड़कर अन्य रुद्रादि की पूजा करते हैं, वे संसार में निन्दनीय हैं। जो शिवादि देवताओं को विष्णु के समान देखेगा, वह पाखण्डी है। अधिक क्या कहें, जो किसी भी देवता को विष्णु के समान मानेगा, उससे बात करना, उसे छूना व देखना पाप है।

---

१. अर्थात् अष्टम समुल्लास में।

२. तुलना करो—'तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः।' शत० ७।५।१।५॥

३. यहाँ 'निरु०' संकेत निरुक्त ग्रन्थ के लिये नहीं है, अपितु 'निरुक्ति' पद के लिये है। द्रष्टव्य—'कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या' (ऋभाभू० पृष्ठ ३३३; पं० ६, रालाकट्र सं०)। तुलना करो—'कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्'। तै० आर० १।८॥ यद्वा—निरुक्त २।२ के 'अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति' वचनानुसार आद्यन्त वर्णों के विपर्यय दर्शाने में तात्पर्य माना जा सकता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से सायण ने भी तै० आर० के वचन को यास्क के नाम से उद्धृत किया है। द्र०—अथर्व० भाष्य १६।५३।१०॥

देखता है। और '**आद्यन्तविपर्ययश्च**' इस महाभाष्य के वचन[1] से आदि का अक्षर अन्त और अन्त का वर्ण आदि में आने से '**पश्यक**' से '**कश्यप**' बन गया है। इसका अर्थ न जानके भांग के लोटे चढ़ा अपना जन्म सृष्टिविरुद्ध कथन करने में नष्ट किया।

[मार्कण्डेयपुराण-प्रोक्त 'रक्तबीज' की आलोचना]

जैसे—**मार्कण्डेयपुराण** के दुर्गापाठ में देवों के शरीरों से तेज निकल के एक **देवी** बनी। उसने '**महिषासुर**' को मारा। **रक्तबीज** के शरीर से एक बिन्दु भूमि में पड़ने से उसके सदृश रक्तबीज के उत्पन्न होने से सब जगत् में रक्तबीज का भर जाना, रुधिर की नदी का बह चलना, आदि गपोड़े बहुत से लिख रक्खे हैं।

जब रक्तबीज से सब जगत् भर गया था, तो देवी और देवी का सिंह और उसकी सेना कहाँ रही थी? जो कहो कि देवी से दूर-दूर रक्तबीज थे, तो सब जगत् रक्तबीज से नहीं भरा था। जो भर जाता, तो पशु पक्षी मनुष्यादि प्राणी, और जलस्थ मगरमच्छ कच्छप मत्स्यादि, वनस्पति आदि वृक्ष कहाँ रहते? यहाँ यही निश्चित जानो कि दुर्गापाठ बनानेवाले पोप के घर में भागकर चले गये होंगे? देखिये क्या ही असम्भव कथा का गपोड़ा भंग की लहरी में उड़ाया, जिसका ठौर न ठिकाना।

सृष्टिक्रम के विरुद्ध—सर्वशक्तिमान् होते हुए भी परमेश्वर सृष्टिक्रम के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। साधारण रूप से प्रजनन की विधाओं को चार वर्गों में बाँटा गया है, जिनमें प्राणिमात्र का समावेश हो जाता है। ये चार वर्ग हैं—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज। प्रत्येक वर्ग के प्राणियों की उत्पत्ति अपने ही वर्ग के नर-मादा के संयोग से होती है। उत्पादक बीज (Germ Plasm) सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कोष्ठ के केन्द्रबिन्दु (Nucleus) में एक रंगदार पदार्थ होता है, जिसे क्रोमेटिन (Chromatin) कहते हैं। इस क्रोमेटिन में आनुवंशिक गुण रहते हैं। इन्हीं के अनुसार सन्तति का निर्माण होता है। इसलिए मानव माता-पिता के रज-वीर्य से पुराणवर्णित सृष्टि का होना असम्भव है।

मार्कण्डेयपुराण—देवी का जन्म और रक्तबीज—

अतुलं तव तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्। एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तं लोकत्रयं त्विषा॥
अर्धनिष्क्रान्त एवासौ युध्यमानो महासुरः। तया महासिना देव्या शिरश्छित्वा निपातितः॥

—मार्कण्डेय २।१३; ३।४३

अर्थात्—सब देवों के शरीर से उत्पन्न वह अतुल तेज था, वह इकट्ठा होकर एक नारी बना, जिसने क्रान्ति से तीनों लोक व्याप्त कर दिये। आधा ही निकला हुआ युद्ध करता हुआ वह महान् असुर देवी से महा तलवार द्वारा सिर काट कर गिरा दिया गया।

योद्धुमभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महासुरः॥४०॥
तस्याहतस्य बहुधा शक्तिशूलादिभिर्भुवि। पपात यो वै रक्तौघस्तेनासञ्छतशोऽसुराः॥५१॥
तैश्चासुरासृक् संभूतैरसुरैः सकलं जगत्। व्याप्तमासीत्ततो देवा भयमाजग्मुरुत्तमम्॥५२॥

(मार्क० ८)

अर्थात्—महासुर रक्तबीज क्रुद्ध होकर युद्ध करने को आया। शक्ति, शूलादि से आहत हुए उसके शरीर से जो अनेक प्रकार का रक्तसमूह भूमि पर गिरा, उससे सैंकड़ों असुर उत्पन्न हुए! असुर के रक्त से उत्पन्न हुए उन असुरों से यह समस्त जगत् व्याप्त हो गया और देव भयभीत हो गए।

---

१. द्र०—महा० ३।१।१२३॥

[श्रीमद्भागवतपुराण की आलोचना]

अब जिसको **'श्रीमद्भागवत'** कहते हैं, उसकी लीला सुनो।[1] ब्रह्माजी को नारायण ने **चतुश्लोकी भागवत** का उपदेश किया—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥—भाग० २।६।३०

हे ब्रह्माजी! तू मेरा परमगुह्य ज्ञान, जो विज्ञान और रहस्ययुक्त, और धर्म अर्थ काम मोक्ष का अङ्ग है, उसी को मुझसे ग्रहण कर।

[समीक्षा—] जब विज्ञानयुक्त ज्ञान कहा, तो परम अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञान का विशेषण रचना व्यर्थ है। और गुह्य विशेषण से रहस्य भी पुनरुक्त है। जब मूल श्लोक अनर्थक है, तो अन्य अनर्थक क्यों नहीं? **जब भागवत का मूल ही झूठा है, तो उसका वृक्ष क्यों न झूठा होगा?** ब्रह्माजी को वर दिया कि—

'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्।' भाग० २।६।३६

भागवत के झूठा होने में प्रमाण - भागवत में कहा है कि सर्पदंश से भयभीत परीक्षित राज्य त्याग कर गंगातट पर रहने लगे और वहाँ उनको श्री शुकदेव जी ने भागवतपुराण सुनाया। महाभारत के आधार पर यह बात मिथ्या है, क्योंकि महाभारत के अनुसार परीक्षित के जन्म से बहुत पहले शुकदेव जी का देहान्त हो चुका था। महाभारत शान्तिपर्व ३३१ तथा ३३२ अध्यायों में शुक जी के जीवन की कथा है। कथा के वक्ता शय्या पर लेटे भीष्म हैं और श्रोता महाराज युधिष्ठिर हैं। भीष्म जी अन्त में कहते हैं—"इति जन्मगतिश्चैवं शुकस्य भरतर्षभ। विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि" (३३२। ३६) अर्थात् हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार विस्तार से शुक जन्म तथा गति (अन्त) मैंने कह दिया, जो तू मुझसे पूछता है। इस विषय में एक अन्य प्रमाण यह है—महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत आस्तीक पर्व के ४२वें अध्याय को २६।३३ श्लोकों में सर्पकाटे का उपाय वर्णित है।

यथा—'संमन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित्।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भसुरक्षितम्॥२६॥
रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च।
ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत्॥३०॥
राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः।
मन्त्रिभिस्सह धर्मज्ञः समन्तात् परिरक्षितः॥३१॥
न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम्।
वातोपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशाद् विनिवार्यते॥३२॥
प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमाः॥३३॥

अर्थात्—मन्त्रतत्त्व के जाननेवाले राजा परीक्षित ने मन्त्रियों के साथ सम्मति करके एकस्तम्भ वाला महल बनवाया। और उसमें रक्षा, वैद्यों और औषधों का प्रबन्ध किया। और मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणों को सब ओर नियुक्त किया। वह धर्मात्मा वहीं रहकर सब ओर से सुरक्षित हुआ मन्त्रियों के साथ सब राज-कार्य करता था। वहाँ उस आरूढ हुए राजश्रेष्ठ को कोई भी नहीं मिल सकता था। चलता हुआ वायु

---

[1] इस प्रकरण की तुलना ग्रन्थकार के आद्य ग्रन्थ 'भागवत-खण्डनम्' के साथ भी करें। द्र०—'दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह' पृष्ठ ४६३-४६०। यह पुस्तिका पृथक् भी छपी है।

'आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में मोह को कभी न प्राप्त होंगे'। ऐसा लिखके पुन: दशम स्कन्ध में 'मोहित होके वत्सहरण किया' ऐसा भी लिखा।[1] इन दोनों में से एक बात सच्ची, दूसरी झूंठी। ऐसा होकर दोनों बातें झूंठी।

[स्वर्ग के द्वारपाल जय-विजय को शाप]

जब वैकुण्ठ में राग द्वेष क्रोध ईर्ष्या दु:ख नहीं हैं, तो सनकादिकों को वैकुण्ठ के द्वार में क्रोध क्यों हुआ? जो क्रोध हुआ, तो वह स्वर्ग ही नहीं। तब जय विजय द्वारपाल थे, स्वामी की आज्ञा पालनी आवश्यक थी। उन्होंने सनकादिकों को रोका, तो क्या अपराध हुआ? इस पर विना अपराध शाप ही नहीं लग सकता। जब शाप लगा कि तुम पृथिवी में गिर पड़ो। इसके कहने से यह सिद्ध होता है कि वहाँ पृथिवी न होगी। आकाश वायु अग्नि और जल होगा, तो ऐसा द्वार मन्दिर और जल किसके आधार थे? पुन: जय विजय ने सनकादिकों की स्तुति की कि—'महाराज। पुन: हम वैकुण्ठ में कब आवेंगे?' उन्होंने उनसे कहा कि—'जो प्रेम से नारायण की भक्ति करोगे तो सातवें जन्म, और जो विरोध से भक्ति करोगे तो तीसरे जन्म वैकुण्ठ को प्राप्त होओगे।'[2]

वहाँ प्रवेश होने से रोक दिया जाता था। उस सातवें दिन के आने पर वे ब्राह्मण—

ततस्तु ते तद्गृहमग्निना प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिन:।
भयात्परित्यज्य दिश: प्रपेदिरे पपात राजाशनिताडितो यथा॥

अर्थात्—वे सर्प के विष से जलते हुए उस घर को डर के मारे छोड़कर भाग गये और राजा बिजली से मारे हुए के समान गिर पड़ा।

यहाँ राज्य छोड़ने और कथा सुनने की कोई चर्चा नहीं है।

वत्सहरण—एवं संमोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव मायया सोऽपि स्वयमेव विमोहित:॥—भा० १०।१३।४४

अर्थात्—इस संसार को मोहनेवाले, मोहरहित विष्णु को मोहित करता हुआ ब्रह्मा अपनी माया से स्वयं ही मोहित हो गया।

कृष्णसहित गोपबाल भोजन कर रहे थे और बछड़े घास चर रहे थे। घास के लोभ में बछड़े घास में घुस गये। अपने साथियों को भयभीत देखकर कृष्ण ने उनसे कहा—'मित्रो भोजन मत छोड़ो, मैं बछड़ों को ले आऊँगा।' ऐसा कहकर कृष्णजी हाथ ही में भोजन का ग्रास लेकर चल दिए—'अम्भोजन्म-जनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो य: पुरा दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवत: प्राप्त: परं विस्मयम्' (भा० १०।१३।१५) अर्थात्—आकाश में स्थित हुए जो ब्रह्मा पहले भगवान् का अघासुर से छुटकारा देखकर अत्यन्त चकित हुआ था, उस ब्रह्मा ने बीच में आकर मायाबालक भगवान् का और भी सुन्दर महत्त्व देखने के लिए गोपबालकों से बछड़ों को अन्यत्र ले जाकर छिपा दिया।

सनकादिक—ब्रह्मोवाच—

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजा: सनकादय:।
चेरुर्विहायसा लोकाल्लोकेषु विगतस्पृहा:॥१२॥

---

१. भाग० १०। अ० १३।१४॥
२. द्र०—भाग० ३। अ० १५, १६॥

[**समीक्षा**—]इसमें विचारना चाहिए कि जय-विजय नारायण के नौकर थे। उनकी रक्षा और सहाय करना नारायण का कर्त्तव्य काम था। जो अपने नौकरों को बिना अपराध दुःख देवें, उनको उन का स्वामी दण्ड न देवे, तो उसके नौकरों की दुर्दशा सब कोई कर डाले। नारायण को उचित था कि जय-विजय का सत्कार और सनकादिकों को खूब दण्ड देते। क्योंकि उन्होंने भीतर आने के लिए हठ क्यों किया? और नौकरों से लड़े क्यों? शाप क्यों दिया? उन के बदले सनकादिकों को पृथिवी में डाल देना नारायण का न्याय था। जब इतना अन्धेर नारायण के घर में है, तो उसके सेवक जो कि '**वैष्णव**' कहाते हैं, उनकी जितनी दुर्दशा हो उतनी थोड़ी है।

[वराह द्वारा हिरण्याक्ष का वध]

पुनः वे **हिरण्याक्ष** और **हिरण्यकश्यप** उत्पन्न हुए। उनमें से हिरण्याक्ष को वराह ने मारा। उसकी कथा इस प्रकार से लिखी है कि—'वह पृथिवी को चटाई के समान लपेट शिराने धर सो गया।'

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥१३॥
तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम्।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्यकेयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥२७॥
द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा......॥२६॥
तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्।
वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ ॥३०॥
मुनय ऊचुः—लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥३४॥
तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥३५॥
—भा० ३।१५

श्रीभगवानुवाच—एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम् ॥—भा० ३।१६।२

अर्थात्—ब्रह्मा बोले—जो मेरे मानस पुत्र हैं और तुम्हारे पूर्वज हैं, वे सनकादि निस्पृह एक लोक से दूसरे लोकों में विचरते थे। एक बार वे पवित्रात्मा वैकुण्ठवासी भगवान् के सर्वलोकनमस्कृत वैकुण्ठ-धाम में गये। परस्पर सक्त छह कक्षाओं को लाँघकर सातवें पर आये। वहाँ उन्होंने गदाधारी, बहुमूल्य नूपुर...भूषणधारी, समान आयुवाले दो देवों को देखा। मुनि उन दोनों से पूछे बिना उनके द्वार में घुसे। उन वातरशना कुमारों को देखकर बेंत से उनको रोका। मुनि बोले—यहाँ से तुम उन लोकों को प्राप्त होओ, जहाँ भेदबुद्धि के कारण विष्णु के ये तीन पापितर शत्रु रहते हैं। विष्णु के वे दोनों सेवक उनके वचन को अन्य आयुधों से न हटाया जा सकनेवाला ब्रह्मदण्ड समझकर अत्यन्त कातरभाव से डरते हुए उनके चरणों में गिर पड़े। श्रीभगवान् बोले—ये जो जय और विजय नामक मेरे पार्षद हैं, इन्होंने मुझे तिरस्कृत करके आपका अपमान किया है।

हिरण्यकशिपु—दितिस्तु भर्त्तुरादेशादपत्यपरिशंकिनी।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥२॥

---

१. द्र०—गरुडपु० उत्तर खण्ड २६।३॥

विष्णु ने वराह का स्वरूप धारण करके उसके शिर के नीचे से पृथिवी को मुख में धर लिया।[1] वह उठा, दोनों की लड़ाई हुई। वराह ने **हिरण्याक्ष** को मार डाला।'

[**समीक्षा**—] इनसे कोई पूछे कि पृथिवी गोल है, वा चटाई के समान? तो कुछ न कह सकेंगे। क्योंकि पौराणिक लोग भूगोलविद्या के शत्रु हैं। भला जब लपेटकर शिराने धर ली, तो आप किस पर सोया? और वराहजी किस पर पग धरके दौड़ आये? पृथिवी को तो वराहजी ने मुख में

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद् यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥१८॥
हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम्।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ॥२०॥—भा० ३।१७

अर्थात्—पति के आदेश से सन्तान के सम्बन्ध में सशंक दिति ने सौ वर्ष पूर्ण होने पर दो जुड़वाँ पुत्रों को उत्पन्न किया। जिसने पहले अपने देह से इन यमों को उत्पन्न किया था, इस कश्यप प्रजापति ने इनका नामकरण संस्कार किया। जिसको दिति ने पहले जन्म दिया, उसे हिरण्यकशिपु जाना और दूसरे को हिरण्याक्ष।···युद्धाभिलाषी हिरण्याक्ष युद्ध की खोज करता हुआ हाथ में गदा लेकर स्वर्ग को गया।

चटाई की भाँति पृथिवी को लपेटा—'ततो भूमिं कटवद् वेष्टयित्वा निन्ये तदा दैत्यवर्यो महात्मा' (गरुड़पुराण, उत्तरखण्ड, २६।३) अर्थात्—इसके पश्चात् महात्मा दैत्यवर पृथिवी को चटाई की तरह लपेटकर ले चला।

वराह के मुख में पृथिवी—ददर्श तत्राभिजितं धराधरं प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया।
पुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥२॥
आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः सुराधमासादितसूकराकृते ॥३॥

श्रीभगवानुवाच—एते वयं न्यासहरा रसौकसां गतह्रियो गदया द्राविताास्ते।
तिष्ठामहेऽथापि कथंचिदाजौ स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥११॥
सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम्।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥१३॥
सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाऽभ्यहनद्धरिम् ॥१४॥
भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥१५॥ (३।१८)
स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद् यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥२६॥
—भा० ३।१९

अर्थात्—वहाँ विष्णु को अपनी दाढ़ में पृथिवी को चुरा कर ले जाते हुए देखा और लाल-लाल आँख करके हँसकर कहा—अहो! यह जंगली पशु है। उसे कहा—अरे मूर्ख, इस पृथिवी को छोड़ दे, यह

---

१. द्र०—भाग० ३। अ० १८, १९॥

रखा, फिर दोनों किस पर खड़े होके लड़े ? वहां तो और कोई ठहरने की जगह नहीं थी। किन्तु भागवतादि पुराण बनानेवाले पोपजी की छाती पर ठड़े होकर लड़े होंगे ? परन्तु पोपजी किस पर सोया होगा ? यह बात जैसे—'**गप्पी के घर गप्पी आए, बोले गप्पीजी**' जब मिथ्यावादियों के घर में दूसरे गप्पी लोग आ हैं, फिर गप्प मारने में क्या कमती, इस प्रकार की है।

[नृसिंह द्वारा हिरण्यकश्यप का विनाश]

अब रहा '**हिरण्यकश्यप**'। उसका लड़का जो प्रह्लाद था, वह भक्त हुआ था। उसका पिता पढ़ाने को पाठशाला में भेजता था। तब वह अध्यापकों से कहता था कि मेरी पट्टी में राम-राम लिख देओ'। जब उसके बाप ने सुना, उससे कहा—'तू हमारे शत्रु का भजन क्यों करता है' ? छोकरे ने न माना। तब उसके बाप ने उसको बाँधके पहाड़ से गिराया, कूप में डाला। परन्तु उसको कुछ न हुआ। तब उसने एक लोहे का खम्भा आगी में तपाके उससे बोला—'जो तेरा इष्टदेव राम सच्चा हो, तो तू इसको पकड़ने से न जलेगा।' प्रह्लाद पकड़ने को चला। मन में शङ्का हुई, जलने से बचूंगा वा नहीं ? नारायण ने उस खम्भे पर छोटी-छोटी चींटियों की पङ्क्ति चलाई। उसको निश्चय हुआ, झट खम्भे को जा पकड़ा। वह फट गया, उसमें से नृसिंह निकला, और उसके बाप को पकड़ पेट फाड़ डाला। पश्चात् प्रह्लाद को लाड़ से चाटने लगा। प्रह्लाद से कहा—'वर माँग' उसने अपने पिता की सद्गति होनी माँगी। नृसिंह ने वर दिया कि—'तेरे इक्कीस पुरुषे सद्गति को गये।'[२]

वरुण ने हमें भेंट दी है। हे सुराधम ! हे सूकरशरीरधारिन् ! मेरे देखते तू इसके साथ सुख से न जा सकेगा। श्रीभगवान् बोले—हम तो जलजन्तुओं की धरोहरवाले हैं, तूने इन निर्लज्जों को गदा से भगा दिया है। युद्ध के लिए हम तैयार हैं, ठहरना ही होगा, बलवान् के साथ वैर करके हम कहां जायें ? इस प्रकार भगवान् से आक्षेप और उपालम्भ प्राप्त करके, खिलाये जाते हुए सर्पराज की भाँति उसने तीव्र क्रोध किया। क्रोध से विचलितेन्द्रिय होकर, श्वास छोड़ते हुए दैत्य ने समीप आकर वेग से विष्णु पर गदा से प्रहार किया। भगवान् ने अपनी छाती पर छोड़े हुए गदावेग को टेढ़ा करके टाल दिया, जैसे योगारूढ़ मृत्यु को टाल देता है (इसके आगे दोनों के युद्ध का वर्णन है)। भगवान् से अनायास ताड़ित हुआ वह भूमि पर गिर पड़ा, उसका शरीर घूम गया, नेत्र बन्द हो गए, भुजाएँ, पाँव और बाल बिखर गये, जैसे वायु ने पर्वत को हिला दिया हो।

प्रह्लाद की कथा भागवत में इस प्रकार कही है—

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः।
प्रह्लादोभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः॥ —श्रीमद्भागवत ७।४।३०
पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके॥ १॥
तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान्॥ २॥

---

१. द्र०—भक्तमाल का यह प्रकरण।
२. द्र०—भागवत ७।१०।१८॥

समीक्षा—अब देखो, यह भी दूसरे गपोड़े का भाई गपोड़ा है। किसी भागवत सुनने वा बांचनेवाले को पकड़ पहाड़ के ऊपर से गिरावे तो कोई न बचावे, चकनाचूर होकर मर ही जावे। प्रह्लाद को उसका पिता पढ़ने के लिये भेजता था, क्या बुरा काम किया था? और वह प्रह्लाद ऐसा मूर्ख कि पढ़ना छोड़ वैरागी होना चाहता था।

जो जलते हुए खम्भे से कीड़ी ऊपर चढ़ने लगी, और प्रह्लाद स्पर्श करने से न जला, इस बात को जो सच्ची माने उसको भी खम्भे के साथ लगा देना चाहिए। जो यह न जले, तो जानो वह भी न जला होगा। और नृसिंह भी क्यों न जला?

प्रथम तीसरे जन्म में वैकुण्ठ में आने का वर सनकादिक का था। क्या उसको तुम्हारा नारायण भूल गया? भागवत की रीति से ब्रह्मा प्रजापति कश्यप हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप चौथी पीढ़ी में होता

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद् गृहाश्रमम् ॥ ३ ॥
एकदाऽसुरराट् पुत्रमंकमारोप्य पाण्डव।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४ ॥

प्रह्लाद उवाच—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥ ५ ॥
श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥२३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२४॥
निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥२५॥
ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥२६॥
सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥२७॥
इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥३३॥
आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निस्सारयत नैर्ऋताः ॥३४॥
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥४२॥
दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः।
मायाभिः संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥४३॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ॥४४॥ —श्रीमद्भागवत ७।५

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते ॥१३॥
एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा सुतं महाभागवतं महासुरः।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात् स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥१५॥
तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ॥१६॥
मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम्।
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम् ॥२०॥
विष्वक्स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरिर्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया नखैर्यथाहि गरुडो महाविषम् ॥२९॥ —७।८

प्रह्लाद उवाच—

तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात् ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ॥१८॥—श्रीमद्भागवत ७।१०

अर्थात्—उस दैत्यराज के चार परम अद्भुत पुत्र थे। उनमें भगवदुपासक प्रह्लाद गुणों के द्वारा बड़ा था। असुरों ने कविपुत्र शुक्र को अपना पुरोहित चुना। उसके दो पुत्र शण्ड और मर्क दैत्यराज के घर के पास रहते थे। दैत्यराज के द्वारा उनके पास पहुँचाए हुए प्रह्लाद तथा अन्य पढ़ने योग्य असुर बालकों को वे पढ़ाते थे। गुरु जो कुछ पढ़ाता था, उसे वह सुनता और उसके अनुसार पढ़ता था [हमारे मत में यहाँ 'शुश्रुवे न पपाठ च' पाठ था, जिसका अर्थ है, 'न सुनता और न पढ़ता था'], किन्तु अपने पराये आग्रह से उसे अच्छा नहीं मानता था। एक बार हिरण्यकशिपु ने पुत्र को गोद में बैठाकर पूछा, हे पुत्र ! कहिये, आप किसको अच्छा मानते हो। प्रह्लाद ने कहा—हे असुरवर्य ! मैं असदाग्रह के कारण सदा चंचल बुद्धिवाले प्राणियों के लिए इस बात को भला मानता हूँ कि आत्मा को गिरानेवाले अन्धकूप गृह को छोड़कर वन में जाकर भगवान् का आश्रय लें। विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दासता, मैत्री तथा आत्मनिवेदन—विष्णु की यह नवधा भक्ति यदि पुरुष करता है—इसे मैं उत्तम अध्ययन मानता हूँ। पुत्र के इस वचन को सुनकर हिरण्यकशिपु ने तब गुरुपुत्र को क्रोध से कहा—हे मूर्ख ब्रह्मबन्धो ! विपक्ष=शत्रु का आश्रय लेते हुए तूने मेरा अनादर करके बालक को क्या असार पढ़ा दिया। इतना कहकर शान्त हुए पुत्र को क्रोध से अन्धे होकर हिरण्यकशिपु ने गोद से उतारकर भूमि पर फेंक दिया। अमर्ष और रोष से भरकर, विकृत नेत्र होकर कहा—हे राक्षसो ! इस वध्य को मार डालो, निकाल दो। हे युधिष्ठिर ! आग्रहपूर्वक उसके मारने के उपाय उसने किए, दिग्गजों (हाथियों), दन्दशूकों (सर्पादिकों), अभिचारों, ऊपर से गिराने, मायाओं, बन्धनों, विषदान, भोजन न देने, बरफ, वायु, आग तथा जल पर्वतों से गिराने से भी जब वह असुर अपने निष्पाप पुत्र को न मार सका।··· [तब उसने पुत्र से कहा] कि—हे मन्दभाग्य ! यह जो तूने कहा है कि मेरे (हिरण्यकशिपु के) अतिरिक्त कोई ईश्वर है, तो वह कहाँ है ? यदि सर्वत्र है तो स्तम्भ में क्यों नहीं दीखता। इस प्रकार अनेक दुर्वचनों से महा-भागवत पुत्र को पीड़ा देते हुए वह महान् असुर तलवार खींचकर सिंहासन से कूदा। और वह महाबली अपनी मुठ्ठियों से स्तम्भ को तोड़ने लगा। तब उसमें महान् शब्द हुआ, जिससे ब्रह्माण्ड फट गया। इस प्रकार विचार करते हुए उसके सामने अति भयानक नृसिंहरूप प्रकट हुआ। तपे सोने के समान जिसके नेत्र भयंकर थे, जिसकी जटा के बाल फड़फड़ा रहे थे और मुख खुला हुआ था। जैसे साँप चूहे को पकड़ता

है। इक्कीस पीढ़ी प्रह्लाद की हुई भी नहीं, पुन: इक्कीस पुरुषे[1] सद्गति को गये, कह देना इतना प्रमाद है ? और फिर वे ही हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यप, रावण-कुम्भकरण, पुन: शिशुपाल-दन्तवक्र उत्पन्न हुए[2], तो नृसिंह का वर कहाँ उड़ गया ? ऐसी प्रमाद की बातें प्रमादी करते-सुनते और मानते हैं, विद्वान् नहीं।

[पूतना और अक्रूर सम्बन्धी गप्पें]

पूतना और अक्रूरजी के विषय में देखो कि—

'रथेन वायुवेगेन;[3] जगाम गोकुलं प्रति।[4]

है, वैसे ही हरि ने उस इन्द्रवज्र से भी अक्षत देहवाले, पकड़ने में आतुर को द्वार पर उसकी छाती पटक-कर फाड़ दी, जैसे गरुड़ अनायास साँप को [मार देता है]···प्रह्लाद ने नृसिंह से कहा—मेरा पिता उस दुरन्त दुस्तर पाप से (छूटकर) पवित्र हो जाये। भगवान् बोला—हे निष्पाप ! तेरा बाप इक्कीस पीढ़ियों के साथ पवित्र हो गया। भक्तमाल सटीक पृष्ठ ६६ पर पढ़ने के सम्बन्ध में लिखा है—'जब गुरुजी पढ़ाने लगे तो आपने श्रीसीताराम सीताराम की मधुरध्वनि करना आरम्भ किया वरंच पाठशाला भरके लड़कों को इसी में लगा दिया।' खम्भेवाली बात आजकल भागवत में नहीं मिलती, किन्तु यह उसमें थी अवश्य। अकबर के मन्त्री फैजी ने भागवत का फारसी भाषा में अनुवाद किया, उसमें इस बात का वर्णन इस प्रकार है—हिरनाकष खशमगी शुद: शमशीर बरकशीद व दरम्याने सितूं······गर्दानीद खुर्द मोर्च: स्याह आमद······अज़ मियाने सितूं बर आमद। (सन् १८७० ई० का छपा)। अर्थात्—'हिरण्यकशिपु ने क्रुद्ध होकर तलवार निकाली···देखा कि छोटी-छोटी काली चींटियाँ सितून (खम्भा=स्तम्भ) के बीच में से निकल आईं'। पुराणों में पर्याप्त परिवर्तन किया गया है। एक स्थान के मुद्रित पुराण दूसरे स्थान के मुद्रित पुराण से भिन्न पाठवाले हैं।

अक्रूरजी—भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के ३६वें अध्याय में कंस द्वारा अक्रूर को गोकुल जाकर कृष्ण और बलराम को मथुरा लाने के आदेश का वर्णन है। ३८वें अध्याय का प्रथम श्लोक यह है—

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामति:।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥

अर्थात्—महामति अक्रूर वह रात्रि मथुरा में वास करके रथ पर बैठकर नन्द के गोकुल को गया। इससे स्पष्टत: उसका मथुरा से प्रात:काल चलना सिद्ध होता है। पुन: इसी अध्याय का २४वाँ श्लोक है—

इति संचिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्त: सूर्यश्चास्तगिरिं नृप॥

अर्थात्—इस प्रकार मार्ग में कृष्ण का ध्यान करता हुआ अक्रूर रथ के द्वारा सूर्यास्त के समय गोकुल पहुँचा। इससे प्रात:काल चलकर सायं गोकुल पहुँचना स्पष्ट है। वापिसी का वृत्तान्त इस प्रकार है—

---

१. अर्थात् पुरखे।
२. द्र०—भाग० ७। अ० १॥
३. भाग० १०।३६।३८॥
४. भाग० १०।३८।२४॥

अक्रूरजी कंस के भेजने से वायु के वेग के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ पर बैठकर सूर्योदय से चले[1], और चार मील गोकुल में सूर्यास्त समय पहुंचे[2]। अथवा घोड़े भागवत बनानेवाले की परिक्रमा करते रहे होंगे ? वा मार्ग भूल कर भागवत बनानेवाले के घर में घोड़े हाँकनेवाले और अक्रूर जी आकर सो गये होंगे ?

पूतना का शरीर छः कोश चौड़ा और बहुतसा लम्बा लिखा है[3]। मथुरा और गोकुल के बीच में उसको मारकर श्रीकृष्ण जी ने डाल दिया। जो ऐसा होता तो मथुरा और गोकुल दोनों दबकर इस पोपजी का घर भी दब गया होता ?

[अजामेल की ऊटपटाँग कथा]

और **अजामेल** की कथा ऊटपटाँग लिखी है—'उसने नारद के कहने से अपने लड़के का नाम 'नारायण' रक्खा था। मरते समय अपने पुत्र को पुकारा। बीच में नारायण कूद पड़े[4]। क्या नारायण

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३६।३२॥
भगवानपि संप्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३६।३८॥
इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः।
मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥४१।६॥

अर्थात्—स्त्रियों के इस प्रकार रोते हुए, सूर्योदय होने पर, मैत्रादि करके अक्रूर ने रथ चलाया। हे राजन्! बलराम और अक्रूर के साथ भगवान् भी वायुवेगवाले रथ के द्वारा पापनाशिनी यमुना पर पहुँचे। और सूर्यास्त के समय बलराम और कृष्ण को मथुरा ले आया।

इस प्रकार वापिसी पर तो स्पष्ट ही सूर्योदय के समय चलकर सूर्यास्त के समय पहुँचना स्पष्ट लिखा है। अतः ग्रन्थकार का आक्षेप वज्रसार है।

पूतना— 'पतमानोपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् चूर्णयामास राजेन्द्र।'

अर्थात्—हे राजन्! उस पूतना के गिरते हुए देह ने छह कोस के बीच के सब वृक्षों को पीस दिया। तब, मनुष्य व पश्वादि तथा मकान कहाँ बचे होंगे ?

अजामिल की कथा—

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥२१॥
तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥२४॥
स एवं वर्त्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥२७॥
स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान्।
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥२८॥

---

१. भाग० १०।३८।१॥
२. भाग० १०।३८।२४॥
३. भाग० १०।६।१४ त्रिगव्यूति। गव्यूति = २ कोस, ३ × २ = ६ कोस।
४. भाग० ६।१।२६,३०॥

अक्रूरजी कंस के भेजने से वायु के वेग के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ पर बैठकर सूर्योदय से चले[1], और चार मील गोकुल में सूर्यास्त समय पहुंचे[2]। अथवा घोड़े भागवत बनानेवाले की परिक्रमा करते रहे होंगे? वा मार्ग भूल कर भागवत बनानेवाले के घर में घोड़े हाँकनेवाले और अक्रूर जी आकर सो गये होंगे?

पूतना का शरीर छः कोश चौड़ा और बहुतसा लम्बा लिखा है[3]। मथुरा और गोकुल के बीच में उसको मारकर श्रीकृष्ण जी ने डाल दिया। जो ऐसा होता तो मथुरा और गोकुल दोनों दबकर इस पोपजी का घर भी दब गया होता?

[अजामेल की ऊटपटाँग कथा]

और **अजामेल** की कथा ऊटपटाँग लिखी है—'उसने नारद के कहने से अपने लड़के का नाम 'नारायण' रक्खा था। मरते समय अपने पुत्र को पुकारा। बीच में नारायण कूद पड़े[4]। क्या नारायण

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३६।३२॥
भगवानपि संप्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३६।३८॥
इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः।
मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥४१।६॥

अर्थात्--स्त्रियों के इस प्रकार रोते हुए, सूर्योदय होने पर, मैत्रादि करके अक्रूर ने रथ चलाया। हे राजन्! बलराम और अक्रूर के साथ भगवान् भी वायुवेगवाले रथ के द्वारा पापनाशिनी यमुना पर पहुँचे। और सूर्यास्त के समय बलराम और कृष्ण को मथुरा ले आया।

इस प्रकार वापिसी पर तो स्पष्ट ही सूर्योदय के समय चलकर सूर्यास्त के समय पहुँचना स्पष्ट लिखा है। अतः ग्रन्थकार का आक्षेप वज्रसार है।

पूतना— 'पतमानोपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् चूर्णयामास राजेन्द्र।'

अर्थात्—हे राजन्! उस पूतना के गिरते हुए देह ने छह कोस के बीच के सब वृक्षों को पीस दिया। तब, मनुष्य व पश्वादि तथा मकान कहाँ बचे होंगे?

अजामिल की कथा—

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥२१॥
तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥२४॥
स एवं वर्त्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥२७॥
स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान्।
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥२८॥

---

१. भाग० १०।३८।१॥ २. भाग० १०।३८।२४॥
३. भाग० १०।६।१४ त्रिगव्यूति। गव्यूति = २ कोस, ३ × २ = ६ कोस। ४. भाग० ६।१।२६,३०॥

उसके अन्तःकरण के भाव को नहीं जानते थे ? कि वह अपने पुत्र को पुकारता है, मुझको नहीं। जो ऐसा ही नाम-माहात्म्य है, तो आजकल भी नारायण के स्मरण करनेवालों के दुःख छुड़ाने को वे क्यों नहीं आते ? यदि यह बात सच्ची हो, तो कैदी लोग नारायण-नारायण करके क्यों नहीं छूट जाते ?

दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम्।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः ॥२९॥
निशम्य म्रियमाणस्य ब्रुवतो हरिकीर्तनम्।
भर्त्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ॥३०॥
विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।
यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥३१॥—भागवत० ६।१

अर्थात्—कान्यकुब्ज देश में अजामिल नामक ब्राह्मण दासीपति था। वह दासी के संसर्ग से दूषित व दुराचारी था। उस वृद्ध के दस पुत्र थे। उनमें से छोटे का नाम नारायण था और वह माता-पिता का अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार व्यवहार करते हुए उस मूर्ख ने मृत्युकाल आने पर, नारायण नामक छोटे पुत्र पर विचार किया। उसने अत्यन्त कठोर, हाथ में पाश लिए हुए, टेढ़े मुखोंवाले, उठे बालोंवाले, आत्मा को लेने के लिए आये तीन पुरुषों को देखकर, व्याकुलेन्द्रिय होकर, खिलौनों में आसक्त, नारायण नामक पुत्र को गद्गद् ऊँचे स्वर से पुकारा। मरनेवाले के हरिकीर्त्तन 'नारायण' नाम को सुनकर नारायण के पार्षद अचानक आ पड़े। दासीपति अजामिल (के आत्मा) को हृदय के भीतर से खींचनेवाले यमदूतों को विष्णुदूतों ने बलात् रोका। झगड़ा बढ़ने पर विष्णु (नारायण) के दूतों ने यमदूतों से कहा—

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः।
ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम् ॥—भा० ६।१।३८

अर्थात्—यदि तुम धर्मराज के दूत हो तो धर्म का तत्त्व और लक्षण बताओ। इसके उत्तर में धर्मराज के दूत बोले—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति विश्रुतम् ॥—भा० ६।१।४०

अर्थात्—जो वेदानुकूल है वह धर्म है और जो वेद के विपरीत है, वह अधर्म है। वेद तो साक्षात् भगवान् है।

वेदानुकूल तो यह है कि मनुष्य के जन्मजन्मान्तर के कर्म ही उसे मोक्ष प्रदान करते हैं। जीवन-भर पापकर्मों में लिप्त रहनेवाला अन्तसमय में 'नारायण' शब्द के उच्चारणमात्र से मुक्त हो जाता है—यह सर्वथा वेदविरुद्ध मन्तव्य है, जिसका प्रतिपादन करते हुए भागवत में लिखा है—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥—भा० ६।२।४९

अर्थात्—मृत्यु के समय पुत्र के बहाने नारायण का नाम लेने से भी अजामिल को विष्णुलोका प्राप्त हो गया। तब, श्रद्धापूर्वक नाम लेनेवाले का तो क्या कहना ? धर्मराज के दूतों द्वारा कहा गया धर्म का लक्षण धरा रह गया, विष्णु के दूतों की सिफ़ारिश काम दे गई। यदि अजामिल के अनुकरण पर स्वर्ग मिलने लगे तो वहाँ तिल धरने को जगह न मिले। नारायण का नाम लेते जायें और स्वर्ग क परमिट प्राप्त करते जायें। धरती खाली हो जाये।

[भागवत के कुछ अन्य गपोड़े]

ऐसा ही ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध सुमेरु पर्वत का परिमाण लिखा है[1]। और प्रियव्रत राजा के रथ के चक्र की लीक से 'समुद्र' हुए[2]; पचास कोटि योजन पृथिवी हैं, इत्यादि मिथ्या बातों का गपोड़ा भागवत में लिखा है, जिसका कुछ पारावार नहीं।

[भागवत की रचना बोबदेव द्वारा]

यह भागवत **बोबदेव** का बनाया है, जिसके भाई जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' बनाया है। देखो, उसने यह श्लोक अपने बनाये 'हिमाद्रि'[3] नामक ग्रन्थ में लिखे हैं कि **'श्रीमद्भागवतपुराण मैंने बनाया है।'**

भक्तमाल के तिलक में बालक का नारायण नाम धरने का हेतु इस प्रकार लिखा है—"किसी खल (दुष्ट) ने सन्तों से कह दिया कि अजामिल बड़ा साधुसेवी हरिभक्त है, उसके घर जाओ। अनेक सन्त अजामिल के घर पहुँच गये। सन्तों के दर्शन से उसकी बुद्धि श्रीसीताराम की कृपा से सात्त्विकी हो गई, अर्थात् सन्तों पर श्रद्धा हो गई। सन्तों को अपनी सेवा से रिझा लिया। जब सन्त चलने लगे तब उसने अपनी गर्भवती दासी को सन्तों के पैरों में डाल दिया और कहा कि इस गर्भवती को असीस देने की कृपा करें। सन्तों ने प्रसन्न होकर कहा कि श्रीरामकृपा से तुम्हारे यहाँ पुत्र उत्पन्न होगा। सो उसका 'नारायण' नाम रखना।"--पष्ठ ७०

सुमेरु पर्वत—एषां मध्य इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः। (भा० ५।१६।७) अर्थात्—इनके मध्य में इलावृत नामक आभ्यन्तर वर्ष है, जिसकी नाभि में कुल पर्वत मेरु अवस्थित है, जो सब ओर से सुवर्णमय है, द्वीप के समान जिसकी ऊँचाई है, वह कर्णिकाभूत है, कुवलय कमल के माथे पर दूर बत्तीस सहस्र योजन विस्तृत है, मूल में सोलह सहस्र योजन तथा उतना ही भीतर प्रविष्ट है।

प्रियव्रत राजा—तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्तसिन्धव उपक्लृप्ताः॥ (भा० ५।१६।२) अर्थात् उसमें भी प्रियव्रत के रथ के पहियों की सात लीकों से सात समुद्र बन गये।

स० प्र० प्रथम संस्करण में इस प्रसंग में इतना विशेष लिखा है—"इस्से पूंछना चाहिए कि रथ के चक्र की इतनी बडी स्थूल लीक भई तो उस रथ के चक्र का क्या प्रमाण रथ, अश्व और प्रियव्रत के शरीर का होगा" (पृष्ठ ३७०)।

पचास कोटि योजन पृथिवी—"एतावांल्लोकविन्यासो मानसलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः, स तु पञ्चाशत्कोटिश्च गणितस्य भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः" (५।२०।३८)। अर्थात् कवियों के प्रमाण, लक्षण तथा रचना द्वारा इतना ही लोकविन्यास माना है। पचास करोड़ योजन परिमित भूगोल का चौथा भाग यह लोकालोक पर्वत है।

भागवत का रचयिता—शाहजहाँ के समय में बनारस मीरघाट पर कवीन्द्रसरस्वती नामक एक विद्वान् संन्यासी रहते थे। उनका पुस्तकालय अच्छा बड़ा था। उसका सूचीपत्र बड़ौदा की ओरियंटल

---

१. भाग० ५।१६।७॥
२. भाग० ५।१६।२॥
३. इसका 'हरिलीलामृत' भी नाम है।

उस लेख के तीन पत्र हमारे पास थे। उनमें से एक पत्र खो गया है। उस पत्र में श्लोकों का जो आशय था, उस आशय के हमने दो श्लोक बनाके नीचे लिखे हैं। जिसको देखना हो, वह **'हिमाद्रि'** ग्रन्थ में देख लेवे—

'हिमाद्रेः सचिवस्यार्थे सूचना क्रियतेऽधुना।
स्कन्धाऽध्यायकथानां च यत्प्रमाणं समासतः॥१॥
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्।
विदुषा बोबदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्॥२॥

इसी प्रकार के नष्टपत्र में श्लोक थे। अर्थात् राजा के सचिव हिमाद्रि ने **'बोबदेव'** पण्डित से कहा कि—'मुझको तुम्हारे बनाये श्रीमद्भागवत के सम्पूर्ण सुनने का अवकाश नहीं है। इसलिये तुम संक्षेप से श्लोकबद्ध सूचीपत्र बनाओ। जिसको देखके मैं श्रीमद्भागवत की कथा को संक्षेप से जान लूं। सो नीचे लिखा हुआ सूचीपत्र उस **'बोबदेव'** ने बनाया। उसमें से उस नष्टपत्र में १० श्लोक खो गये हैं। ग्यारहवें श्लोक से लिखते हैं'। ये नीचे लिखे श्लोक सब **बोबदेव** ने बनाये हैं—

लायब्रेरी की ओर से प्रकाशित हो चुका है। उसमें भागवत को बोपदेवकृत लिखा है। प्रसिद्ध पुराण टीकाकार नीलकण्ठ ने भागवत की स्वकृत टीका के उपोद्घात में लिखा है—"विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति" अर्थात् विष्णुभागवत (श्रीमद्भागवत) को बोपदेवकृत मानते हैं। इसी बोपदेव ने 'मुग्धबोधव्याकरण' की रचना की थी। बंकिमचन्द्र चटर्जी के अनुसार बोपदेव देवगिरि के राजा हेमाद्रि के सभासद थे (श्रीकृष्णचरित्र पृ० ७६)। हिमाद्रि के सन्तोष के लिए उसने श्रीमद्भागवत पर 'हिमाद्रि' नाम से एक व्याख्याग्रन्थ भी लिखा था। तत्पश्चात् मधुसूदन सरस्वती ने उसी पर 'हरिलीलामृत' नामक टीका लिखी थी। इस टीका में प्रत्येक स्कन्ध के अन्त में इस प्रकार लिखा मिलता है—'इति श्रीभागवते श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृतायां टीकायां...स्कन्धः समाप्तः।' कहीं-कहीं 'श्रीभागवते' शब्द के आगे 'महापुराणे' शब्द भी है। ग्रन्थकार के पास इस ग्रन्थ के केवल तीन पत्र थे, जैसाकि उन्होंने यहाँ लिखा है। तीसरे पत्र के अन्त में उन्होंने 'इतिश्रीभागवते प्रथमः स्कन्धः' लिखा हुआ देखा। आरम्भ के श्लोक के साथ इसको मिलाकर पढ़ने से प्रत्येक इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि यह भागवतपुराण है और बोपदेव द्वारा रचित है। बंकिमचन्द्र कहते हैं—"भागवत के पुराण होने के बारे में बड़े झगड़े हुए हैं। शाक्त कहते हैं कि यह पुराण ही नहीं है, देवीभागवत ही पुराण है। भागवत में बहुत-सी पुरानी बातें हैं, पर उसमें नई भी बहुत सी मिलाई गई हैं। जो पुरानी हैं, वे भी नोन मिर्च लगाकर चरपरी कर दी गई हैं। भागवत और पुराणों से नया मालूम होता है। ऐसा न होता तो इसके बारे में इतना झगड़ा क्यों उठता" (वही पृ० ६६)।

नष्टपत्र के श्लोक—श्रीमद्भागवतस्कन्धाध्यायार्थादि निरूप्यते।
विदुषा बोपदेवेन मन्त्रिहेमाद्रितुष्टये॥१॥
आनन्दस्य हरेर्लीलां वक्ता भागवतागमः।
स्कन्धैर्द्वादशभिः शाखाः प्रतन्वन् द्विजसेविताः॥२॥
स च द्वितीयदशमे दशधा दर्शिता यथा।
अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पूषणमूतयः॥३॥

---

१. 'हरिलीलामृत' की मुद्रित पुस्तक के अनुसार ग्यारहवाँ श्लोक दसवाँ है।

बोधयन्तीति हि प्राहुः श्रीमद्भागवतं पुनः ।
पञ्च प्रश्नाः शौनकस्य सूतस्यात्रोत्तरं त्रिषु ॥११॥
प्रश्नावतारयोश्चैव व्यासस्यानिर्वृतिः कृतात् ।
नारदस्यात्र हेतूक्तिः प्रतीत्यर्थं स्वजन्म च ॥१२॥
सुप्तघ्नं द्रौण्यभिभवस्तदस्त्रात्पाण्डवावनम् ।
भीष्मस्य स्वपदप्राप्तिः कृष्णस्य द्वारिकागमः ॥१३॥
श्रोतुः परीक्षितो जन्म धृतराष्ट्रस्य निर्गमः ।
कृष्णमर्त्यत्यागसूचा ततः पार्थमहापथः ॥१४॥
इत्यष्टादशभिः पादैरध्यायार्थः क्रमात् स्मृतः ।
स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः ॥१५॥
इति वैराज्ञो दाढर्योक्तौ प्रोक्ता द्रौणिजयादयः ॥[१६]॥
इति प्रथमः स्कन्धः ॥१॥

इत्यादि बारह स्कन्धों का सूचीपत्र इसी प्रकार 'बोबदेव' पण्डित ने बनाकर 'हिमाद्रि' सचिव को दिया। जो विस्तार देखना चाहै, वह बोबदेव के बनाये हिमाद्रि ग्रन्थ में देख लेवे।

इसी प्रकार अन्य पुराणों की लीला समझनी। परन्तु उन्नीस बीस इक्कीस एक-दूसरे से बढ़कर हैं।

मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ।
सर्गादयस्तृतीयादिस्कन्धेषूक्ता दशक्रमात् ॥४॥
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये श्रवणे विधिः ।
इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं दशलक्षणम् ॥५॥
प्रथमेऽष्टादशाध्यायास्तत्र प्रकरणत्रयम् ।
त्रित्रिद्वादशभिर्लक्ष्यहीनमध्यमोत्तमत्वतः ॥६॥
श्रोतारः शौनको व्यासः परीक्षिच्चोत्तमः क्रमात् ।
वक्तारोपि तथा सूतो नारदः शुक इत्यमी ॥७॥
वैराग्यस्य प्रकर्षेण प्रकर्षोऽत्र विवक्षितः ।
तल्लक्षणपरः श्रोतुं वक्तुं चार्हति संहिताम् ॥८॥
पुराणेष्वितिहासैर्हि लक्षणादिनिरूपणम् ।
वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रः प्रियेव च ॥९॥

अर्थात्—मन्त्री हेमाद्रि के सन्तोष के लिए विद्वान् बोपदेव श्रीमद्भागवत के स्कन्धों, अध्यायों आदि का निरूपण करता है। आनन्दकन्द हरि की लीला का वक्ता भागवतशास्त्र है। वह बारह स्कन्धों द्वारा द्विजों से सेवित शाखाओं का विस्तार करता है। वह दूसरे तथा दशम में दस-दस प्रकार से वर्णित हुआ है। इसमें सर्ग (सृष्टि), विसर्ग (प्रलय), स्थान, पुष्टि, रक्षण, मन्वन्तर, राजचरित, निरोध, मुक्ति और आश्रय का वर्णन है। सर्गादि दस क्रम तृतीय स्कन्ध में कहे गये हैं। श्रोता तथा वक्ता के लक्षण प्रथम में, द्वितीय में श्रवण विधि—यह बारह स्कन्धोंवाला पुराण दश लक्षणोंवाला है। प्रथम में अठारह अध्याय और तीन प्रकरण हैं। तीन में अधम, तीन में मध्यम और बारह में उत्तम। श्रोता क्रम से शौनक, व्यास और परीक्षित हैं। वक्ता भी क्रम से सूत, नारद और शुक हैं। उत्तम वैराग्य की उत्कटता ही इसमें

[भागवतकार द्वारा श्रीकृष्ण पर मनमाने दोष]

देखो, **श्रीकृष्णजी** का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा।[1]

और इस भागवतवाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध दही मक्खन आदि की चोरी लगाई। और कुब्जा दासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्णजी में

उत्तमता कही है। इन लक्षणोंवाला ही इस संहिता को कहने-सुनने का अधिकारी है। पुराणों में इतिहासों के द्वारा लक्षण आदि का निरूपण किया है। वेद प्रभु है, पुराण मित्र हैं तथा काव्य के समान हैं।

मक्खन आदि की चोरी—"स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयःकल्पितैः स्तेययोगैः" (१०।८।२९) अर्थात्—विचारे हुए चोरी के उपायों से चोरी का स्वादु दही, दूध खाता था।

कुब्जा-समागम—गत्वा ददर्श कुब्जां तां रत्नतल्पे च निद्रिताम्।
दासीगणैः परिवृतां सुन्दरीं कमलामिव ॥५४॥
इत्युक्त्वा श्रीनिवासश्च कृत्वा तामेव वक्षसि।
नग्नां चकार शृङ्गारं चुम्बनं चापि कामुकीम् ॥५९॥
सा सस्मिता च श्रीकृष्णं नवसङ्गमलज्जिता।
चुचुम्बे गण्डे क्रोडे तां चकार कमलां यथा ॥६०॥
सुरतेर्विरतिर्नास्ति दम्पती रतिपण्डितौ।
नानाप्रकारसुरतं बभूव तत्र नारद ॥६१॥
स्तनश्रोणियुगं तस्या विक्षतं च चकार ह।
भगवान्नखैस्तीक्ष्णैर्दशनैरधरं वरम् ॥६२॥
निशावसानसमये वीर्याधानं चकार सः।
सुखसंभोगभोगेन मूर्च्छामाप च सुन्दरी ॥६३॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, उत्तर० नारद० अ० ७२

अर्थात्—जाकर रत्नजटित पलँग पर सोई, दासीसमूह से घिरी हुई, लक्ष्मी के समान सुन्दर उस कुब्जा को देखा। ऐसा कहकर कृष्ण ने उसे अपनी छाती पर करके उस कामुकी को नंगा किया तथा शृङ्गार और चुम्बन भी किया। नवसंगम से लज्जित और मुस्कराती हुई उसे श्रीकृष्ण ने गाल और गोद पर चूमा, जैसे लक्ष्मी को। संभोग की समाप्ति नहीं थी, दोनों दम्पती रति के पण्डित थे। हे नारद ! उन दोनों में नाना प्रकार का सम्भोग हुआ। भगवान् ने तीक्ष्ण नाखूनों और दाँतों से उसके स्तनों, श्रेणियों तथा मुख को क्षत-विक्षत कर दिया। उसने रात्रि की समाप्ति पर वीर्याधान किया। वह सुन्दरी सुखपूर्वक सम्भोग करने से मूर्च्छित हो गई।

---

१. महाभारत में श्रीकृष्ण का चरित्र विभिन्न स्थलों पर वर्णित है। ग्रन्थकार के उक्त कथन की सत्यता के लिए सभापर्व के शिशुपालवध प्रकरण का अ० ४१ देखना चाहिये। यदि श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में कुछ भी दुष्कर्म (भागवत में लिखे) किये होते, तो शिशुपाल कृष्णदोषवर्णन के प्रसंग में उनका निर्देश अवश्य करता। परन्तु कृष्णदोषवर्णन करते हुए शिशुपाल ने भागवतपुराणोक्त श्रीकृष्ण के किसी दुराचरण का निर्देश नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का चरित्र स्फटिक के समान निर्मल था।

लगाये हैं। इनको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके अन्य मतवाले श्रीकृष्णजी की बहुत-सी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता, तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूंठी निन्दा क्योंकर होती ?

[शिवपुराण में बारह ज्योतिर्लिङ्गों की चर्चा]

शिवपुराण में बारह ज्योतिर्लिङ्ग लिखे हैं। उसकी कथा सर्वथा असम्भव है। नाम धरा है ज्योतिर्लिङ्ग और जिनमें प्रकाश का लेश भी नहीं। रात्रि को बिना दीप किये लिङ्ग भी अँधेरे में नहीं दीखते। ये सब लीला पोपजी की हैं।

जो लोग सचाई को सहन न कर पाने के कारण कह दिया करते हैं कि पुराणों में ऐसी बातें नहीं हैं, वे आँखें खोलकर उपर्युक्त श्लोकों को पढ़ें। ये केवल स्थालीपुलाकन्याय से ही उद्धृत किये हैं। अन्यथा पुराणों की आलोचना करने के लिए तो कई महाभारत भी थोड़े पड़ जायें। श्रीकृष्ण जैसे पवित्रात्मा को कितना कलंकित किया गया है। इन अनर्गल बातों को पढ़ने-सुनने पर लज्जा और क्षोभ का पारावार नहीं रहता।

रासमण्डल—तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रवृष्टेन गृहीतानां काष्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥३॥ (१० पू० ३३)

अर्थात्—वहाँ कृष्ण ने अनुव्रत स्त्रीरत्नों के साथ रास और क्रीड़ा में रमण किया, एक-दूसरे के साथ बाहु बाँधकर प्रसन्न हुए। गोपीमण्डल से मण्डित रासोत्सव आरम्भ हुआ। गले से पकड़ी हुई उन स्त्रियों के बीच में से दो-दो के बीच में श्रीकृष्ण के साथ।

ज्योतिर्लिङ्ग—सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारमभलेश्वरम् ॥१॥
परल्यां बैजनाथं च डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
सेतुबन्धे च रामेशं नागेशं दारुकावने ॥२॥
वाराणस्यां तु विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे।
हिमालये तु केदारं घुसृणेशं शिवालये ॥३॥

—वृत्तस्तोत्ररत्नाकर पृ० २१६

अर्थात्—१. सोमनाथ सौराष्ट्र में, वेरावल स्टेशन से दो तीन मील दूर। २. मल्लिकार्जुन श्रीशैल पर। यह पर्वत मद्रास के कृष्णा जिले में कृष्णा नदी के तट पर है। नन्दिपाल (दक्षिणी M. S. M. रेलवे) स्टेशन से अट्ठाइस मील आत्माकूर ग्राम है, वहाँ से १२ मील नागाहुण्डी है। वहाँ से ३१ मील की दूरी पर श्रीशैल पर्वत है अथवा करनूल स्टेशन से सत्तर मील पर श्रीशैल है। बस जाती है। ३. उज्जैन में महाकालेश्वर शिप्रा के तट पर है। ४. ओङ्कारेश्वर मध्य रेलवे पर मोरटका स्टेशन से सात मील दूर नर्मदा तट पर है। इसे अमलेश्वर या अमरेश्वर भी कहते हैं। ५. परली आन्ध्रप्रदेश में वैद्यनाथ स्टेशन के पास है अथवा बिहार में जस्सीडिह के समीप वैद्यनाथ स्टेशन के पास है। ६. बैजनाथ—बम्बई-पूना के बीच नरेल स्टेशन से सोलह मील अथवा तलेगाम स्टेशन से २४ मील पर सह्याद्रि पर्वत में भीमा नदी के उद्गम के पास है। अथवा आसाम में गोहाटी के समीप कामाख्या देवी के पास है।

[पुराण-रचना-प्रयोजन की समीक्षा]

प्रश्न—जब वेद पढ़ने का सामर्थ्य नहीं रहा तब स्मृति जब स्मृति । पढ़ने की बुद्धि नहीं रही तब शास्त्र । जब शास्त्र पढ़ने का सामर्थ्य न रहा तब पुराण बनाये । केवल स्त्री और शूद्रों के लिए । क्योंकि इनको वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं ।

उत्तर—यह बात मिथ्या है । क्योंकि सामर्थ्य पढ़ने-पढ़ाने ही से होता है । और वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार सब को है । देखो, **गार्गी** आदि स्त्रियाँ और छान्दोग्य में **जानश्रुति** शूद्र ने भी वेद **'रैक्यमुनि'**

अथवा उत्तरप्रदेशान्तर्गत नैनीताल जिला के काशीपुर नगर के पास है । ७. सेतुबन्ध रामेश्वर मद्रास में नीचे की ओर समुद्रतट पर है । ८. नागेश—सौराष्ट्र में द्वारिका से १२ मील पर बेट द्वारिका के मार्ग में अथवा आन्ध्र में कलमनूरी तालुका के चन्दी स्टेशन से ११ मील दूर स्थित ओढ़ा नामक ग्राम में अथवा अलमोड़ा से सत्रह मील पूर्वोत्तर दिशा में वाघेश्वर नामक महादेव । ९. बनारस (काशी) में विश्वनाथ। १०. त्र्यम्बकेश्वर—नासिक रोड स्टेशन से पाँच मील पर पंचवटी या नासिक है । वहाँ से १८ मील पर मन्दिर है । वहाँ भी हर १२वें वर्ष कुम्भ मेला लगता है । ११. हिमालय में केदारनाथ, समुद्रतट से ११७५३ फुट की ऊंचाई पर । १२. घुसृणेश्वर (घुस्मेश्वर)—आन्ध्रप्रदेश में दौलताबाद स्टेशन से १२ मील पर बेरुल ग्राम है, वहाँ के शिवालय में यह लिंग है । इसी के समीप एलोरा की गुफाएँ हैं ।

गार्गी—बृहदारण्यकोपनिषद् में कथा आती है—राजा जनक को जिज्ञासा हुई कि मेरे यहाँ के विद्वानों में सबसे बड़ा अनूचान (वेद का वक्ता) कौन है । उसने एक सहस्र गौओं को सींगों में दस-दस सुवर्णपाद लगाकर खड़ा कर दिया और पण्डितों से कहा कि 'जो आपमें सबसे बड़ा ब्रह्मनिष्ठ (वेदनिष्ठ) हो, वह इनको लेले ।' किसी को साहस न हुआ । याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा—'इन गौओं को हाँक ले जा ।' याज्ञवल्क्य के ऐसा कहने पर खलबली मच गई । सभी ने ललकारा । शास्त्रार्थ छिड़ गया । शास्त्रार्थ करनेवालों में गार्गी भी थी । उसने याज्ञवल्क्य के सामने हार स्वीकार करके एक बार फिर कहा—"पण्डितो ! मैं इनसे दो प्रश्न पूछती हूँ, यदि इन्होंने उत्तर दे दिया तो तुममें से कोई इन्हें नहीं जीत सकता ।" इससे गार्गी की विद्वत्ता एवं अनूचानता का पता चलता है ।

जानश्रुति—छान्दोग्योपनिषद् के चतुर्थाध्याय में जानश्रुति पौत्रायण की कथा है । वह ब्रह्मविद्या सीखने के लिए सब कुछ करने को तैयार था । रैक्यमुनि की कीर्त्ति सुनकर वह उसके पास गया । वहाँ (४।२ में) रैक्यमुनि के मुँह से जानश्रुति को 'शूद्र' कहा गया है । यजुर्वेद के २६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।

अर्थात्—भगवान् कहते हैं कि जैसे मैं इस कल्याणी वाणी को मनुष्यमात्र के लिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्व=निजभवत तथा अरण=स्व शब्द सम्बन्धरहित के लिए उपदेश करता हूँ ।

भागवतपुराण में लिखा है—स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम् ।

अर्थात्—महाभारत तथा पुराणों की रचना तो स्त्री, शूद्र तथा निम्नवर्ग के उन लोगों के लिए की गई है, जिन्हें वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है ।

प्रथम तो, जैसाकि हम उपर्युक्त वेदमन्त्र के प्रमाण से तथा इससे पूर्व तीसरे व चौथे समुल्लासों में अनेकानेक युक्ति प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं कि वेदाध्ययन का अधिकार मनुष्यमात्र को है, फिर, यदि

के पास पड़ा था। और यजुर्वेद के २६वें अध्याय २ मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि—'**वेदों के पढ़ने और सुनने का अधिकार मनुष्यमात्र को है।**' पुनः जो ऐसे-ऐसे मिथ्याग्रन्थ बना लोगों को सत्यग्रन्थों से विमुख कर जाल में फँसा अपने प्रयोजन को साधते हैं, वे महापापी क्यों नहीं ?

[नव ग्रह-सम्बन्धी मन्त्र और उनकी समीक्षा]

देखो, ग्रहों का चक्र कैसा चलाया है कि जिसने विद्याहीन मनुष्यों को ग्रस लिया है—

आकृष्णेन रजसा० ॥१॥[1] सूर्य का मन्त्र।

भागवत के उक्त श्लोक को प्रमाण माना जाय तो शूद्रेतर लोगों को पुराणों को नहीं पढ़ना चाहिए। इस प्रकार भागवतादि का घर-घर में पाठ आदि पौराणिकों के अपने मान्य शास्त्रों की आज्ञा के विरुद्ध है।

भागवतकार ने अपने इस ग्रन्थ को वेदरूपी कल्पतरु का फल मानकर लिखा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतरससंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

अर्थात्—भागवत वेदरूपी कल्पतरु का वह सुपक्व फल है, जो महामुनि शुक के मुख का स्पर्श पाकर अमृतरस से युक्त हो गया है। इस रस के भण्डार भागवत का आस्वादन वे ही लोग करते हैं, जो भगवद्भक्त भावुक हैं।

परन्तु स्थालीपुलाकन्याय से पुराणों से जितने उद्धरण हमने इस प्रकरण में दिये हैं, उन्हें देखकर कौन मान सकता है कि भागवतपुराण वेदरूप कल्पतरु का फल है ?

ग्रन्थकार ने 'भागवतखण्डनम्' नामक पुस्तक की रचना संवत् १९२३ अर्थात् सत्यार्थप्रकाश से ९ वर्ष पूर्व की थी। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ है। अतः इसका दूसरा नाम 'वैष्णवमतखण्डन' भी है। पं० लेखरामजी ने ऋषि के जीवनचरित में इसका उल्लेख 'भड़वा भागवत' और 'पाखण्डखण्डन' नाम से किया है। पं० लेखरामजी द्वारा सङ्कलित जीवनचरित पृष्ठ ७९० (प्रथम उर्दू संस्करण) पर इस पुस्तक के विषय में निम्न परिचय उपलब्ध होता है—

पाखण्डखण्डन—"यह सात पृष्ठ की पुस्तक संस्कृत भाषा में स्वामीजी ने भागवतखण्डन विषय पर लिखी है। सबसे पुरानी हस्तलिखित कापी इसकी ज्येष्ठ द्वितीय तिथि ९ बृहस्पति संवत् १९२३, तदनुसार ७ जून १८६६ में लिखी हुई पं० छगनलालजी शास्त्री किशनगढ़ के पास विद्यमान है। इसकी कई हज़ार प्रतियाँ छपवाईं, और प्रथम वैशाख संवत् १९२४ तदनुसार १२ अप्रैल सन् १८६७ में मेला हरिद्वार पर इसे बिना मूल्य वितीर्ण किया गया। यह बहुत सुन्दर समयोचित ट्रैक्ट संस्कृत भाषा में है।"

ग्रहपूजा—ग्रहसम्बन्धी यह (आकृष्णेन रजसा०) मन्त्र मेरुतन्त्र के त्रयोदश अ० में है। वहाँ चन्द्र-सम्बन्धी यह मन्त्र है—"आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे।"

आकृष्णेन रजसा०—जिन मन्त्रों के 'आकृष्णेन' आदि प्रतीक हैं, वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

१—आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥—यजु० ३३।४३

अर्थ—जो ज्योतिस्वरूप रमणीय स्वरूप से (कृष्णेन) आकर्षण से परस्पर सम्बद्ध (रजसा) लोकमात्र के साथ (आवर्त्तमानः) अपने भ्रमण की आवृत्ति करता हुआ (भुवनानि) सब लोकों को (पश्यन्) दिखाता हुआ (देवः) प्रकाशमान (सविता) सूर्यदेव (अमृतम्) जल वा अविनाशी आकाशादि

---

१. यजुः० ३३।४३॥

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वम्० ॥२॥[1] चन्द्र का मन्त्र ।
अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः० ॥३॥[2] मंगल का मन्त्र ।
उद्बुध्यस्वाग्ने० ॥४॥[3] बुध का मन्त्र ।
बृहस्पते अति यदर्यो० ॥५॥[4] बृहस्पति का मन्त्र ।

(च) और (मर्त्यम्) मरणधर्मा प्राणिमात्र को (निवेशयन्) अपने-अपने प्रदेश में स्थापित करता हुआ (आ याति) उदयास्त समय में आता जाता है, सो ईश्वर का बनाया सूर्यलोक है।

२. इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥—यजु० ९।४०

अर्थ– हे प्रजास्थ (देवाः) विद्वान् लोगो ! तुम जो (एष) यह (सोमः) चन्द्रमा के समान प्रजा में प्रियरूप (वः) तुम क्षत्रियादि और हम ब्राह्मणादि और जो (अमी) परोक्ष में वर्त्तमान हैं, उन सबका राजा है। उस (इमम्) इस (अमुष्य) उस उत्तम पुरुष के (पुत्रम्) पुत्र (अमुष्यै) उस विद्यादि गुणों से श्रेष्ठ धर्मात्मा विदुषी स्त्री के पुत्र को (अस्यै) इस (विशे) प्रजा के लिए इसी पुरुष को (महते) बड़े (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसा के योग्य (महते) बड़े (जानराज्याय) धार्मिक जनों के राज्य करने (इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्त (इन्द्रियाय) धन के वास्ते (असपत्नम्) शत्रुरहित (सुवध्वम्) कीजिए।

३. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥—यजु० ३।१२

अर्थ—(अयम्) जो यह कार्य-कारण से प्रत्यक्ष (ककुत्) सबसे बड़ा (मूर्द्धा) सबसे ऊपर विराजमान (अग्निः) जगदीश्वर (दिवः) प्रकाशमान सूर्य आदि लोक और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों का (पतिः) पालन करता हुआ (अपाम्) प्राणों के (रेतांसि) वीर्यों की (जिन्वति) रचना को जानता है, उसी को पूज्य मानो।

४. उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च। अस्मिन् त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥१५।५४॥

अर्थ—हे (अग्ने) अच्छी विद्या से प्रकाशित स्त्री वा पुरुष ! तू (उद्बुध्यस्व) अच्छे प्रकार ज्ञान को प्राप्त हो, सबके प्रति (प्रति, जागृहि) अविद्यारूप निद्रा को छोड़के विद्या से चेतन हो, (त्वम्) तू स्त्री (च) और (अयं) यह पुरुष दोनों (अस्मिन्) इस वर्त्तमान (सधस्थे) एक स्थान में और (उत्तरस्मिन्) आगामी समय में सदा (इष्टापूर्त्ते) इष्ट सुख, विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, अच्छा संग करना और सत्यविद्या आदि का दान देना—यह इष्ट और पूर्ण बल, ब्रह्मचर्य, विद्या की शोभा, पूर्ण युवावस्था, साधन और उपसाधन—यह सब पूर्त्त, इन दोनों को (सं सृजेथाम्) सिद्ध किया करो। (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (च) और (यजमानः) यज्ञ करनेवाले पुरुष, तू इस एक स्थान में (अधि, सीदत) उन्नतिपूर्वक स्थिर होओ।

५. बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दीदयच्छवसऽऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्। उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा ॥—यजु० २६।३

अर्थ—हे (बृहस्पते) बड़े-बड़े प्रकृति आदि पदार्थों और जीवों के पालनेवाले ईश्वर ! जो आप (उपयामगृहीतः) प्राप्त हुए यम-नियमादि योगसाधनों से जाने गये (असि) हैं, उन (त्वा) आपको

---

१. यजुः० ९।४०॥ २. यजुः० ३।१२॥ ३. यजुः० १५।५४॥ ४. यजुः० २६।३॥

शुक्रमन्धंसः० ॥६॥[1] शुक्र का मन्त्र।
शन्नों देवीरभिष्टंय० ॥७॥[2] शनि का मन्त्र।
कया नश्चित्र आ भुव० ॥८॥[3] राहु का मन्त्र। और
केतुं कृण्वन्नकेतवें० ॥९॥[4] इसको 'केतु' की कण्डिका कहते हैं।[5]

(बृहस्पतये) बड़ी देववाणी की पालना के लिए तथा जिन (ते) आपका (एषः) यह (योनिः) प्रमाण है, उन (बृहस्पतये) बड़े-बड़े आप्त विद्वानों की पालना करनेवाले के लिए (त्वा) आपको हम लोग स्वीकार करते हैं। हे भगवन्! (ऋतप्रजात) जिनसे सत्य उत्तमता से उत्पन्न हुआ, वे (अर्यः) परमात्मा आप (जनेषु) मनुष्यों में (अर्हात्) योग्य काम से (यत्) जो (द्युमत्) प्रशंसित प्रकाशयुक्त मन (क्रतुमत्) वा प्रशंसित बुद्धि और कर्मयुक्त मन (अतिविभाति) विशेषकर प्रकाशमान है वा (यत्) जो (शवसा) बल से (दीदयत्) प्रकाशित होता हुआ वर्त्तमान है, (तत्) उस (चित्रम्) आश्चर्यरूप ज्ञान (द्रविणम्) धन और यश को (अस्मासु) हम लोगों में (धेहि) धारण स्थापन कीजिए।

६. अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानᳬ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥—यजु० १९।७५

अर्थ—जो (ब्रह्मणा) चारों वेद पढ़े विद्वान् के साथ (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक सभाध्यक्ष राजा (परिस्रुतः) सब ओर से पके हुए (अन्नात्) जौ आदि अन्न से निकले (पयः) दुग्ध के तुल्य (सोमम्) ऐश्वर्य्ययुक्त (रसम्) साररूप रस और (क्षत्रम्) क्षत्रियकुल को (व्यपिबत्) ग्रहण करे सो (ऋतेन) विद्या तथा विनय से युक्त न्याय से (अन्धसः) अन्धकाररूप अन्याय के निवारक (शुक्रम्) पराक्रम करनेहारे (विपानम्) विविध रक्षण के हेतु (सत्यम्) सत्य व्यवहारों में उत्तम (इन्द्रियम्) इन्द्र नामक परमात्मा के दिये हुए (इन्द्रस्य) समग्र ऐश्वर्य के देनेहारे, राज्य की प्राप्ति करानेहारे (इदम्) इस प्रत्यक्ष (पयः) पीने के योग्य (अमृतम्) अमृत के तुल्य सुखदायक रस और (मधु) मधुरादि गुणयुक्त (इन्द्रियम्) राजादि पुरुषों के सेवे हुए न्यायाचरण को प्राप्त होवे, वह सदा सुखी होवे।

७. शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥—यजुः० ३६।१२

अर्थ—हे जगदीश्वर या विद्वन्! जैसे (अभीष्टये) इष्ट सुख की सिद्धि के लिए (पीतये) पीने के अर्थ (देवीः) दिव्य उत्तम (आपः) जल (नः) हमको (शम्) सुखकारी (भवन्तु) होवे (नः) हमारे लिए (शंयोः) सुख की वृष्टि (अभि भवन्तु) सब ओर से करें, वैसे उपदेश करो।

८. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥—यजुः० २७।३९

अर्थ—हे विद्वन् पुरुष! (चित्रः) आश्चर्य कर्म करनेहारे (सदावृधः) जो सदा बढ़ता है, उसके (सखा) मित्र (आ भुवत्) हूजिए (कया) किसी (ऊती) रक्षणादि क्रिया से (नः) हमारी रक्षा कीजिए (कया) किसी (शचिष्ठया) अत्यन्त निकटसम्बन्धिनी (वृता) वर्त्तमान क्रिया से हमको युक्त कीजिए।

९—केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥—यजुः० २९।३७

अर्थ—हे विद्वन् पुरुष! जैसे (मर्या) मनुष्य (अपेशसे) जिनके सुवर्ण नहीं है, उनके लिए (पेशः)

---

१. यजुः० १९।७५॥ २. यजुः० ३६।१२॥ ३. यजुः० २७।३९॥ ४. यजुः० २९।३७॥

५. यहां कुछ पाठ त्रुटित प्रतीत होता है। हमारे विचार में इसके आगे यह पाठ होना चाहिये—'ये नव ग्रहों की पूजा के मन्त्र हैं।
समीक्षा—उक्त मन्त्रों का उन-उन ग्रहों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इनमें—'

(आकृष्णे०) यह सूर्य का और भूमि का आकर्षण ॥१॥ दूसरा राजगुण-विधायक ॥२॥ तीसरा अग्नि ॥३॥ और चौथा यजमान ॥४॥ पांचवां विद्वान् ॥५॥ छठा वीर्य अन्न ॥६॥ सातवां जल प्राण

सुवर्ण को और (अकेतवे) जिसको बुद्धि नहीं है, उसके लिए (केतुम्) बुद्धि को करते हैं। उन (उषद्भिः) होम करनेवाले यजमान पुरुषों के साथ बुद्धि और धन को (कृण्वन्) करते हुए आप (सम्, अजायथाः) सम्यक् प्रसिद्ध हूजिए।

वस्तुतः आकाशीय पिण्डों का अध्ययन खगोलशास्त्र का विषय है। वेदाङ्गों में परिगणित ज्योतिष के प्रामाणिक ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' आदि हैं। वर्त्तमान में प्रचलित नवग्रह पूजा, मुहूर्त्त, जन्मपत्र, शुभाशुभ फल आदि अन्धविश्वासों का उसमें कहीं उल्लेख नहीं है। पृथिवी से करोड़ों-अरबों मील की दूरी पर आकाशस्थित ग्रह-नक्षत्र आदि का आवाहन, विसर्जन आदि यदि मनुष्य के वश में हो तो सृष्टि की व्यवस्था चौपट हो जाय। यहाँ उद्धृत मन्त्रों का तथाकथित ग्रहों या उनकी पूजा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके अर्थों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्बन्ध सृष्टि-विज्ञान तथा उसके संचालक ईश्वर से है।

१. अपने यजुर्भाष्य में 'आ कृष्णेन रजसा' इत्यादि मन्त्र के भावार्थ में उसके निहितार्थ को इन शब्दों में लिखा है—"हे मनुष्यो! जैसे इन भूगोलादि लोगों के साथ सूर्य का आकर्षण है, जो वृष्टि द्वारा अमृतरूप जल को वर्षाता और जो मूर्त्त द्रव्यों को दिखानेवाला है, वैसे ही सूर्य आदि लोक भी ईश्वर के आकर्षण से धारण किए हुए हैं—ऐसा जानना चाहिए।"

Francis Thompson नामक अंग्रेज़ी के कवि ने लिखा है—

All things by Immortal Power,
Near or Far,
Hiddenly,
To each other linked are,
That thou canst not stir a flower,
Without troubling of a star.

अहमदावाद में पण्डितों के शास्त्रार्थ में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का दो प्रकार का अर्थ (जो प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध है) हस्ताक्षरसहित लिखकर दिया था। वह इस प्रकार है—

(आ कृष्णेन) आकर्षणात्मना (रजसा) रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा (रथेन) रमणीयेन (देवः) द्योतनात्मकः (सविता) प्रसवकर्त्ता वृष्ट्यादेः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकम् (अमृतम्) ओषध्यादिकं रसं (निवेशयन्) प्रवेशयन् (भुवनानि पश्यन्) दर्शयन् याति रूपादिकं विभक्तम् प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन ॥

(सविता) सर्वस्य जगत उत्पादकः (देवः) सर्वस्य प्रकाशकः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (अमृतम्) सत्योपदेशरूपम् (निवेशयन्) प्रवेशयन् सर्वाणि (भुवनानि) सर्वज्ञतया (पश्यन्) सन् (आकृष्णेन) सर्वस्याकर्षणस्वरूपेण वर्त्तमानः सन् (याति) धर्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः॥ दयानन्द सरस्वती स्वामिनः सम्वत् १९३१ पौषवदि षष्ठी बुधवार ७ काल ४० मिनट सही सम्मतिरत्र दयानन्द सरस्वती स्वामिनः (पं० देवेन्द्रनाथ संकलित महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित, भाग १ पृ० ३२३) यहाँ 'पौषवदि ६ बुधवार' तिथि गुजराती पंचाङ्ग के अनुसार है। उत्तरभारतीय पंचाङ्ग के अनुसार माघवदि ६ जानना चाहिए। उस दिन अंग्रेजी तिथि २७ जनवरी १८७५ थी।

और परमेश्वर ॥७॥ आठवाँ मित्र ॥८॥ नववाँ ज्ञानग्रहण का विधायक मन्त्र है ॥९॥ ये ग्रहों के वाचक नहीं। अर्थ न जानने से भ्रमजाल में पड़े हैं।

परमात्मा तो केवल सौरमण्डल का ही नहीं, समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादक, पोषक एवं संचालक है, अतः वह 'सविता' कहलाता है। परन्तु उसे धरती पर उतारकर मिट्टी, पत्थर या आटे की मूर्त्ति के रूप में पूजना न शास्त्रसम्मत है और न युक्तिसंगत।

द्वितीय मन्त्र 'इमं देवा असपत्नम्' इत्यादि में 'सोम' पद अनेकार्थवाची है। परन्तु कहाँ कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है, इसका निश्चयात्मक प्रकरण होता है। मन्त्रगत 'असपत्नम्', 'क्षत्राय', 'जानराज्याय', 'राजा' आदि शब्दों से स्पष्ट है कि यह मन्त्र राजविद्या का विधायक एवं राजा के गुणों का प्रतिपादक है। अतः यहाँ सोम शब्द से आकाशगत चन्द्रमा का ग्रहण करना असंगत है। फिर उसकी पूजा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

तृतीय मन्त्र 'अग्निर्मूर्द्धा' का देवता अग्नि है, जो भौतिक अग्नि तथा सर्वप्रकाशक परमेश्वर का वाचक है। मन्त्रगत कोई भी शब्द मंगलग्रह विशेष का बोधक नहीं है।

'उद्बुध्यस्वाग्ने' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र का अग्न्याधान में विनियोग सर्वविदित है। पूर्वापर शब्दों पर विचार किये बिना पौराणिकों ने क्रियापद 'उद्बुध्यस्व' में से यदृच्छया 'बुध' शब्द निकालकर बलात् उसका विनियोग 'बुध' नामक ग्रह की पूजा में कर डाला। 'शरदः शतमदीनाः स्याम' इस मन्त्रांश में मुसलमानों का 'मदीना' के दर्शन होते हैं। कुछ समय पूर्व हमें गुरदासपुर जिले के क़ादियाँ नामक नगर में जाने का अवसर मिला। यह नगर क़ादियानी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी तथा उनके साथ हुए पं० लेखराम आर्य मुसाफ़िर के शास्त्रार्थों के कारण प्रसिद्ध है। वहाँ के इमाम हमसे बोले कि हमारे मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद साहब को अवतरित होने की पेशीनगोई (भविष्यवाणी) तो आपके अथर्ववेद में लिखी है। यह कहकर उन्होंने हमारे सामने अथर्ववेद रखकर उसमें एक शब्द की ओर निर्देश करके कहा—यह देखिये, यहाँ स्पष्ट लिखा है—'अहमिद्धि' मैंने उन्हें बताया—जनाब! यह 'अहम्+इत्+हि'='अहमिद्धि' इस प्रकार तीन शब्दों में सन्धि होकर बना एक शब्द है। सन्ध्या के मन्त्रों में मुसलमान अपना कलमा खोज लेते हैं—'कल्माषग्रीवो' और ईसाई वेद में ईसा को पा लेते हैं—'ईशावास्यमिदम्'। जैनियों को स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण के मन्त्रों में अपने तीर्थंकर 'अरिष्टनेमि' तथा 'ऋषभदेव' मिल जाते हैं।

'बृहस्पते अति यदर्यो' मन्त्र में वाणी के स्वामी (वाचस्पति) बृहस्पति और उसकी महत्ता का वर्णन हुआ है। 'अन्नात् परिस्रुतः' इत्यादि मन्त्र का देवता (प्रतिपाद्य) प्रजापति है। अतः उसमें 'शुक्र' जैसे अनेक उत्कृष्ट अर्थों के वाचक शब्द को देखते ही उसे ग्रह-विशेष का बोधक नहीं माना जा सकता। 'शन्नो देवी' इत्यादि मन्त्रगत 'शन्नो' शब्द एक पद न होकर 'शं' और 'नः' दो पदों से मिलकर बना है। अपना मतलब निकालने के लिए बलात् उसका 'शनि' अर्थ करना सर्वथा हास्यास्पद है। 'कया नश्चित्र' इत्यादि मन्त्र का देवता अग्नि है। 'राहू' या इससे मिलता-जुलता भी कोई शब्द इस मन्त्र में नहीं है। मन्त्रगत सखा शब्द सबके सखा परमात्मा का परामर्शक है। नवग्रहों के बोधक तथाकथित मन्त्रों में अन्तिम मन्त्र का देवता 'विद्वांसः' है और 'केतु' शब्द यहाँ निश्चय ही बद्धि के अर्थ में प्रयुक्त है।

इस प्रकार इन मन्त्रों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका नवग्रह पूजा में विधान या विनियोग करना सर्वथा असंगत है।

मनुष्य के सुख-दुःख में कारण उसके कर्म होते हैं और उन्हीं के अनुसार परमेश्वर उसे फल देता है। नक्षत्रादि भौतिक पदार्थ हैं, इसलिए उनका प्रभाव भौतिक क्षेत्र तक सीमित रहता है। जड़ होने से वे स्वयं किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकते। मनुष्यों को हानि-लाभ, सुख-दुःख का निर्धारण करने में वे हस्तक्षेप नहीं कर सकते। महामति चाणक्य ने कहा है—

नक्षत्रमिति पृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्त्तते।
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः॥ —अर्थशास्त्र ९।१४२।४

अर्थात्—नक्षत्र पूछनेवाला राजा बाल (मूर्ख) है, वह अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सकता। धन और साधन ही नक्षत्र हैं; तारे क्या करेंगे ?

किसी से प्रसन्न होकर उसे सुख समृद्धि प्रदान करने अथवा कुपित होकर उसे हानि पहुँचाने का सामर्थ्य जड़ पदार्थों में नहीं है। इसलिए जहाँ गणित के सिद्धान्तों पर आधारित ज्योतिषशास्त्र सत्य एवं उपादेय है, वहाँ फलित ज्योतिष का विस्तार घोर अन्धविश्वास पर आधारित होने के कारण बैठे-बिठाये मनुष्यों को दुःखों में फँसाने में कारण है। इस सन्दर्भ में विश्व के १८६ वैज्ञानिकों तथा ज्योतिर्विदों (खगोलशास्त्रियों) का यह वक्तव्य द्रष्टव्य है जो American Humanist Association की पत्रिका 'Humanist' के सितम्बर-अक्तूबर के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करनेवाले १८६ वैज्ञानिकों में विभिन्न विधाओं में नोबल पुरस्कार पानेवाले १८ वैज्ञानिक (Sir Peter Medawar, Linus Pauling, Paul Samuelson, J. Timbergen, Wassily Leontief George Wald, Sir John Eccles etc.) सम्मिलित हैं। यह वक्तव्य जो नई दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के १४ सितम्बर १९७५ के अंक में उद्धृत हुआ है, इस प्रकार है—

"In ancient times people believed in the predictions and advice of astrologers because astrology was part and parcel of their magical world. They looked upon celestial objects as abodes of the Gods and, thus, intimately connected with events here on earth. They had no concept of the vast distances from the earth to the planets and the stars. Now that these distances have been calculated, we can see how infinitesimally small are the gravitational and other effects produced by the distant planets and their more distant stars. It is simply a mistake to imagine that the forces exerted by the stars and planets at the time of birth can in any way shape our futures. Neither is it true that the position of distant heavenly bodies makes certain days and periods more favourable to particular kinds of action or that the signs under which one was born determines one's compatability with other people. Such things can only contribute to the growth of irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challenge directly and forcefully the pretentions and claims of astrological charlatans."

अर्थात्—प्राचीनकाल में लोग ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे, क्योंकि ज्योतिष उनके चमत्कार-जगत् का अनिवार्य अंग था। वे आकाशीय पदार्थों को देवी-देवताओं के आवास के रूप में मानते थे जिनका धरती पर होनेवाली घटनाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था। पृथिवी से ग्रहों, उपग्रहों तथा नक्षत्रों की इतनी दूरी का उन्हें ज्ञान नहीं था। अब, जबकि इन दूरियों को मापा जा चुका है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इतनी दूरी पर स्थित उपग्रहों तथा उनसे भी अधिक दूरी पर स्थित

[पोपों की ग्रह-फलविषयक लीला]

प्रश्न—ग्रहों का फल होता है, वा नहीं ?

उत्तर—जैसा पोपलीला का है, वैसा नहीं। किन्तु जैसा सूर्य चन्द्रमा की किरणद्वारा उष्णता शीतता, अथवा ऋतुवत् कालचक्र के सम्बन्धमात्र से अपनी प्रकृति के अनुकूल सुख-दुःख के निमित्त होते हैं।[1]

नक्षत्रों का आकर्षणसम्बन्धी तथा अन्य प्रभाव कितना नगण्य है। किसी व्यक्ति के जन्म के समय पड़नेवाले इन नक्षत्रों के प्रभाव की कल्पना करना भूल होगी। हमारे भविष्य के निर्धारण में कोई हाथ नहीं हो सकता। यह भी सत्य नहीं है कि इन दूरस्थ आकाशीय नक्षत्रों की स्थितिविशेष के कारण किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा उसकी गतिविधियों के लिए कुछ दिवस या वार या समयविशेष अनुकूल होते हैं। यह भी सत्य नहीं है कि जन्म के समय के कुछ लक्षण उसे दूसरे लोगों के अनुकूल या अन्यथा बनाने में सहायक होते हैं। ऐसी बातें अज्ञान और अन्धविश्वास को बढ़ावा देती हैं। हमारा विश्वास है कि अब समय आ गया है जब ज्योतिष के नाम पर किए जानेवाले दावों को प्रत्यक्ष रूप से बलपूर्वक चुनौती दी जाये।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह प्राचीनकाल की बजाय मध्यकाल के सन्दर्भ में अक्षरशः सत्य है और पौराणिककाल की देन है। विज्ञानवेत्ताओं और खगोलशास्त्रियों के इस प्रकार के उद्घोषों के होते हुए भी इस प्रकार के अन्धविश्वास न केवल ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं, प्रत्युत दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं। पहले ये जनसाधारण तक सीमित थे, देश (भारत) के स्वतन्त्र होने के बाद से तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग (राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, लोकनेता, राजनेता, डाक्टर, विधिवेत्ता, अध्यापक आदि) भी इनके शिकार होते जा रहे हैं। प्रचारमाध्यमों तथा सरकारी कार्यक्रमों व गतिविधियों के द्वारा प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये व्यय करके इन्हें बढ़ावा दिया जा रहा है। इतना ही नहीं, भारत में आनेवाले विदेशियों तक को उनके न चाहने पर भी इन कुरीतियों में लिप्त किया जा रहा है।

सोचने की बात है कि यदि नक्षत्रविशेष में जन्म लेने के साथ ही मनुष्य के भावी कार्यकलाप, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि का निश्चय हो जाता है तो उसके जीवन में पुरुषार्थ के लिए कहाँ स्थान रहेगा ? नक्षत्रों के अनुसार—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करत अन्यथा अस नहीं कोई ॥
होइ है वही जो राम रच राखा। क्यों करि जतन बढ़ावै साखा ॥

ज्योतिष, राशिफल और ग्रहों के अच्छे बुरे फल, मुहूर्त्त, दिशाशूल आदि ने लोगों को सर्वथा निष्क्रिय तथा नपुंसक बना दिया। इसी के फलस्वरूप भुजाओं में शक्ति होते हुए भी संख्यातीत भारतीय सैनिक मुट्ठी भर विदेशी आक्रान्ताओं से पराजित होते रहे और देश रसातल की ओर जाता रहा। पहले क्रूर ग्रहों का भय दिखाकर और फिर पूजा-पाठ और दान-दक्षिणा के द्वारा उनकी शान्ति का उपाय बताकर भोले-भाले अज्ञानी लोगों को लूटने के लिए ही ब्राह्मण नामधारी स्वार्थी लोगों ने ये पाखण्ड रच रक्खे हैं। इनसे मुक्ति दिलाने के हेतु ही ग्रन्थकार ने अनेकत्र इनका खण्डन किया है।

---

१. ग्रह शुभाशुभ के कारण नहीं, वे निवेदक मात्र हैं। ऐसा महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २२५ में 'महेश्वर' का मत कहा है। श्लोक ८ में महेश्वर का मत है—'केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम्। सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादी ग्रहा इति'॥ अर्थात् अपने ही कर्म का सब फल है। संसार भूल से कहता है कि यह ग्रहों का फल है। भ० द०

परन्तु जो पोपलीलावाले कहते हैं—"सुनो महाराज सेठजी ! यजमानो ! तुम्हारे आज आठवां चन्द्र सूर्यादि क्रूर ग्रह घर में आये हैं। अढ़ाई वर्ष का शनैश्चर पग में आया है। तुमको बड़ा विघ्न होगा। घर द्वार छुड़ाकर परदेश में घुमावेगा। परन्तु जो तुम ग्रहों का दान जप-पाठ-पूजा कराओगे, तो दुःख से बचोगे।" इनसे कहना चाहिये कि—'सुनो पोपजी ! तुम्हारा और ग्रहों का क्या सम्बन्ध है ? ग्रह क्या वस्तु है' ?

[मन्त्रों से देवताओं को वश में करना ढोंग]

पोपजी—**दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।**
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम् ॥

देखो कैसा प्रमाण है—देवताओं के आधीन सब जगत्, मन्त्रों के आधीन सब देवता, और वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं। इसलिये ब्राह्मण **'देवता'** कहाते हैं। क्योंकि जिसे चाहैं उस देवता को मन्त्र के बल से बुला प्रसन्न कर काम सिद्ध कराने का हमारा ही अधिकार है। जो हममें मन्त्र-शक्ति न होती, तो तुम्हारेसे नास्तिक हमको संसार में रहने ही न देते।

सत्यवादी—जो चोर डाकू कुकर्मी लोग हैं, वे भी तुम्हारे देवताओं के आधीन होंगे ? देवता ही उनसे दुष्ट कर्म कराते होंगे ? जो वैसा है, तो तुम्हारे देवता और राक्षसों में कुछ भेद न रहेगा। जो तुम्हारे आधीन मन्त्र हैं, उनसे तुम जो चाहो सो करा सकते हो, तो उन मन्त्रों से देवताओं को वश में कर राजाओं के कोष उठवाकर अपने घर में भरकर बैठके आनन्द क्यों नहीं भोगते ? घर-घर में शनैश्चरादि के तैल आदि का **'छायादान'** लेने को मारे-मारे क्यों फिरते हो ? और जिसको तुम **कुबेर** मानते हो, उसको वश में करके चाहों जितना धन लिया करो। बिचारे गरीबों को क्यों लूटते हो ?

[ग्रह किसी पर प्रसन्न वा अप्रसन्न नहीं होते]

तुमको दान देने से यह प्रसन्न, और न देने से अप्रसन्न होते हों, तो हमको सूर्यादि ग्रहों की प्रसन्नता-अप्रसन्नता प्रत्यक्ष दिखलाओ। जिसको ८वां सूर्य चन्द्र और दूसरे को ३तीसरा हो, उन दोनों को ज्येष्ठ महीने में बिना जूते महिने तपी हुई भूमि पर चलाओ। जिस पर प्रसन्न हैं, उनके पग शरीर न जलने, और जिस पर क्रोधित हैं उनके जल जानें चाहियें। तथा पौष मास में दोनों को नंगे कर पौर्णमासी की रात्रिभर मैदान में रक्खें। एक को शीत लगे दूसरे को नहीं, तो जानो कि ग्रह क्रूर और सौम्य दृष्टि-वाले होते हैं।

पौराणिकों के अनुसार राम के राज्याभिषेक का तथा राम और सीता के विवाह का मुहूर्त्त नक्षत्रादि के अनुसार निकाला गया था और मुहूर्त्त निकालनेवाले भी कोई राह चलते साधारण ज्योतिषी न होकर कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ जैसे ज्ञानी पुरुष थे। फिर भी न राज्याभिषेक हुआ और न राम व सीता का दाम्पत्यजीवन सुखी रहा। अच्छे-अच्छे ज्योतिषी अपनी सन्तान का विवाह अच्छी तरह मुहूर्त्तादि देखकर करते हैं। पर कर्मभोग के कारण उन्हें बहुत जल्दी विधवा और विधुर होते देखा जाता है। फिर भी मूर्खों की आँखें नहीं खुलतीं।

दैवाधीनं जगत्सर्वम्—यह श्लोक अनेकों पुराणों एवं तन्त्रों में पाया जाता है।

इस प्रकार के अनेक वचन ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए कल्पित कर रक्खे हैं।

और क्या तुम्हारे ग्रह सम्बन्धी हैं ? और तुम्हारी डाक वा तार उनके पास आता-जाता है ? अथवा तुम उनके वा वे तुम्हारे पास आते-जाते हैं ? जो तुम में मन्त्रशक्ति हो, तो तुम स्वयं राजा वा धनाढ्य क्यों नहीं बन जाओ ? वा शत्रुओं को अपने वश में क्यों नहीं कर लेते हो ?

[ग्रहदानोपजीवी ही ग्रहों की मूत्तियाँ हैं]

'नास्तिक' वह होता है, जो वेद ईश्वर की आज्ञा वेद-विरुद्ध पोपलीला[1] चलावे। जब तुमको ग्रहदान न देवे, जिस पर ग्रह है वही[2] ग्रहदान को भोगे, तो क्या चिन्ता है ? जो तुम कहो कि नहीं, हम ही को देने से वे प्रसन्न होते हैं, अन्य को देने से नहीं। तो क्या तुमने ग्रहों का ठेका ले लिया है ? जो ठेका लिया हो, तो सूर्यादि को अपने घर में बुलाके जल मरो[3]।

सच तो यह है कि सूर्यादि लोक जड़ हैं। वे न किसी को दुःख और न सुख देने की चेष्टा कर सकते हैं। किन्तु जितने तुम ग्रहदानोपजीवी हो, वे सब तुम ग्रहों की मूत्तियां हो। क्योंकि **'ग्रह'** शब्द का अर्थ भी तुममें ही घटित होता है। **'ये गृह्णन्ति ते 'ग्रहाः'** = जो ग्रहण करते हैं, उनका नाम **'ग्रह'** है।

जब तक तुम्हारे चरण राजा-रईस सेठ-साहूकार और दरिद्रों के पास नहीं पहुंचते, तब तक किसी को नवग्रह का स्मरण भी नहीं होता। जब तुम साक्षात् सूर्य शनैश्चरादि मूत्तिमान् क्रूर रूप धर उन पर जा चढ़ते हो, तब विना ग्रहण किये उनको कभी नहीं छोड़ते। और जो कोई तुम्हारे ग्रास में न आवे, उसकी निन्दा नास्तिकादि शब्दों से करते फिरते हो।

[सूर्य और चन्द्र ग्रहण पर विचार]

पोपजी—देखो, ज्योतिष का प्रत्यक्ष फल। आकाश में रहनेवाले सूर्य चन्द्र और राहु केतु के संयोगरूप **'ग्रहण'** को पहिले ही कह देते हैं। जैसा यह प्रत्यक्ष होता है, वैसा ग्रहों का भी फल प्रत्यक्ष हो जाता है। देखो, धनाढ्य दरिद्र राजा रङ्क सुखी दुःखी ग्रहों ही से होते हैं।

सत्यवादी—जो यह ग्रहणरूप प्रत्यक्ष फल है, सो गणितविद्या का है, फलित का नहीं। जो **गणितविद्या है वह सच्ची, और फलितविद्या स्वाभाविक सम्बन्धजन्य को छोड़के झूँठी है।** जैसे अनुलोम प्रतिलोम घूमनेवाले पृथिवी और चन्द्र के गणित से स्पष्ट विदित होता है कि अमुक समय अमुक देश अमुक अवयव में सूर्य वा चन्द्र का ग्रहण होगा। जैसे—

'छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ॥'

यह सिद्धान्त-शिरोमणि[4] का वचन है।

छादयत्यर्कम्—सूर्यसिद्धान्त के चन्द्रग्रहणाधिकार में यही बात दूसरे शब्दों में कही गई है—

"भानोर्भार्धे महीच्छाया तत्तुल्येऽर्कसमेपि वा।
शशाङ्कपाते ग्रहणं कियद्भागाधिकोनके ॥६॥
छान्दको भास्करस्येन्दुरधःस्थोवद्भघनवद्भवेत्।
भूछायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥६॥

---

1. अर्थात् आज्ञा जो वेद उसके विरुद्ध। श्री पं० भगवद्दत्त ने 'आज्ञा [न माने और] वेद-विरुद्ध' ऐसा पाठ बनाया है। यह अधिक स्पष्ट है।
2. सं० २ में 'वह' पाठ है।
3. सं० २ में 'जल मरे' अपपाठ है।
4. ग्रहलाघवचन्द्र-ग्रहणाधिकार। ५।४।। 'सिद्धान्तशिरोमणि' में यह विषय गोलाध्याय ग्रहण प्रकरण में भी आया है।

और इसी प्रकार **'सूर्य-सिद्धान्तादि'**[1] में भी है। अर्थात् जब सूर्य और भूमि के मध्य में चन्द्रमा आता है तब **'सूर्यग्रहण'**, और जब सूर्य और चन्द्र के बीच में भूमि आती है तब **'चन्द्रग्रहण'** होता है। अर्थात् चन्द्रमा की छाया भूमि पर, और भूमि की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। सूर्य प्रकाशरूप होने से उसके सम्मुख छाया किसी की नहीं पड़ती। किन्तु जैसे प्रकाशमान सूर्य वा दीप से देहादि की छाया उल्टी जाती है, वैसे ही ग्रहण में समझो।

[ग्रहों के कारण कोई धनी या दरिद्र नहीं होता]

जो धनाढ्य दरिद्र प्रजा राजा रङ्क होते हैं, वे अपने कर्मों से होते हैं, ग्रहों से नहीं। बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़के-लड़की का विवाह ग्रहों की गणितविद्या के अनुसार करते हैं, पुनः उनमें विरोध वा विधवा अथवा मृतस्त्रीक पुरुष हो जाता है। जो फल सच्चा होता, तो ऐसा क्यों होता? इसलिये कर्म की गति सच्ची, और ग्रहों की गति सुख-दुःख भोग में कारण नहीं। भला, ग्रह आकाश में और पृथिवी भी आकाश में बहुत दूर पर हैं। इनका सम्बन्ध कर्त्ता और कर्मों के साथ साक्षात् नहीं। कर्म और कर्म के फल का कर्त्ता भोक्ता जीव, और कर्मों के फल भोगानेहारा परमात्मा है।

जो तुम ग्रहों का फल मानो, तो इसका उत्तर देओ कि जिस क्षण में एक मनुष्य का जन्म होता है, जिसको तुम **ध्रुवात्रुटि** मानकर जन्मपत्र बनाते हो, उसी समय में भूगोल पर दूसरे का जन्म होता है वा नहीं? जो कहो नहीं, तो झूंठ। और जो कहो होता है, तो एक चक्रवर्ती के सदृश भूगोल में दूसरा चक्रवर्ती राजा क्यों नहीं होता? हाँ इतना तुम कह सकते हो कि यह लीला हमारे उदर भरने की है, तो कोई मान भी लेवे।

अर्थात्—सूर्य के भा-अर्द्ध में पृथिवी छाया घूमती है, उसके समान अथवा सूर्य के समान चन्द्रपात होने पर कुछ भाग न्यून वा अधिक भाग में ग्रहण होता है ॥६॥ जिस प्रकार बादल सूर्य के नीचे चलता हुआ सूर्य को ढक लेता है, वैसे ही नीचे रहता हुआ चन्द्रमा सूर्य का आच्छादक होता है। पूर्वाभिमुख जाता हुआ चन्द्रमा भूमिच्छाया में प्रविष्ट होता है, तब उसका ग्रहण होता है ॥९॥

सिद्धान्तशिरोमणि में यही सिद्धान्त इन शब्दों में कहा गया है—

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो,
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितया छादयत्यात्ममूर्त्या।
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव,
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपि ततो नैष कक्षान्तरत्वात् ॥
पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायान्तर्गतः शशी विशति।
तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ॥

—गोलाध्याय, ग्रहणप्रकरण

भावार्थ—जैसे मेघ सूर्य के नीचे रहता हुआ सूर्य को ढक देता है, तद्वत् चन्द्रमा, सूर्य से नीचे रहता हुआ अपने ज्योतिःशून्य बिम्ब से सूर्य को ढक देता है। ग्रहण पश्चिम से होता है, मोक्ष पूर्व से। पूर्व की ओर जाता हुआ चन्द्र पृथिवी की छाया में प्रविष्ट होता है। इससे उसका पूर्वदिशा से ग्रहण और पश्चिम दिशा में मोक्ष होता है।

---

१. द्रष्टव्य—'सूर्यसिद्धान्त' चन्द्रग्रहणाधिकार।

[गरुडपुराण की आलोचना]

प्रश्न—क्या गरुड़पुराण भी झूंठा है ?

उत्तर—हाँ, असत्य है।

प्रश्न—फिर मरे हुए जीव की क्या गति होती है ?

उत्तर—जैसे उसके कर्म हैं।

मरने के पश्चात् जीव की गति—कई लोग 'यमेन—वायुना—सत्यराजन्' को एक मन्त्र मानकर और इसको इस रूप में वेद में न पाकर ग्रन्थकार पर आक्षेप करते हैं। किन्तु 'सत्यराजन्' से आगे बहु-वचन के बोधक 'इत्यादि वेदवचनों' से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने इन्हें एक मन्त्र न मानकर अनेक मन्त्रों के प्रतीक रूप में उद्धृत किया है। वादी ने 'सत्यराजन्' शब्द को यम के साथ प्रयुक्त देखकर उसे वायु-परक मान लिया है। किन्तु अगली पंक्ति पढ़ने से बात स्पष्ट हो जाती है। वह पंक्ति है —"और जो सत्यकर्त्ता पक्षपातरहित परमात्मा 'धर्मराज' है, वही सबका न्यायकर्त्ता सिद्ध होता है।" ऋग्वेद में पुनर्जन्म के प्रसंग में ईश्वर को 'असुनीता' अर्थात् प्राणों को एक शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में पहुँचानेवाला कहा गया है। इस प्रकार यमराज जीवात्माओं को उनके कर्मानुसार विभिन्न योनियों में भेजनेवाले विधाता परमात्मा का ही नाम है। ग्रन्थकार की शैली, जैसी कि इस ग्रन्थ में अनेकत्र देखी जा सकती है, यह है कि वह अपेक्षित प्रमाण एकस्थ लिख देते हैं। ऐसा ही उन्होंने यहाँ किया है। 'सत्यराजन्' पद उद्धृत करके वह यह दिखाना चाहते हैं कि प्राणियों के पाप पुण्य कर्मों की व्यवस्था भगवान् करता है, न कि पुराणोक्त यमराज। 'यम' शब्द अनेकार्थवाची है। उसका एक अर्थ 'वायु' भी है, इसमें शतपथ ब्राह्मण १४।२।२।११ प्रमाण है—'अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते' अर्थात् यह जो चलता एवं शुद्ध करता है, वह (वायु) यम है। ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ-जहाँ 'पवते' पद का प्रयोग होता है, वहाँ-वहाँ वायु अभिप्रेत होता है। अथर्व (१८।२।२१) का उत्तरार्ध है—"संगच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः" अर्थात् वर्षाकारक वायुओं से तू संगत हो, यम—सामान्य वायु से संगत हो ताकि सुखकारक शान्ति प्राप्त करानेवाले वायु तेरी ओर वहें। इस मन्त्र के पूर्वापर में वायु की चर्चा है, अतः प्रकरणवशात् यहाँ 'यम' का अर्थ 'वायु' है। इसी प्रकार अथर्व ६।३२।२ के उत्तरार्ध में "वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत्' में 'यमेन' पद का अर्थ वायुपरक के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। अर्थ है—तुम्हारी सर्व ओर शक्तिवाली लता यम (वायु) के साथ निरन्तर संगत रहती है। इसको दृष्टि में रखकर पितृप्रकरणस्थ 'यम' शब्द पर विचार करें तो वहाँ परमेश्वर तथा वायु के अतिरिक्त अन्य अर्थ ही नहीं बन सकता। उदाहरण के लिए ऋक् १०।१४ सूक्त में 'यम' का एक विशेषण 'वैवस्वत' है। वैवस्वत का अर्थ है—विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र। सूर्य का उदय होते ही वायु अवश्य चल पड़ता है, अतः वैवस्वत का अर्थ वायु होता है और यम वैवस्वत है। अतः यम सुतरां वायु ही है।

अब 'वायुना' पद की बात लीजिए—"अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः। सा मे वायुना वत्सेनेष-मूर्जं कामदुहाम्" (अथर्व० ४।३९।४) अर्थात्—अन्तरिक्ष धेनु (गाय) है, वायु उसका वछड़ा है। वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायु बछड़े के द्वारा भरपूर अन्न, बल, कामना दे। वायु का अन्तरिक्षस्थ होना सर्व-विदित है। शरीर को छोड़कर जीव तथा प्राण पहले वायु में ही जाएँगे। जन्मान्तर लेने से पूर्व जीव वायु में ही जाता है। इस बात को अथर्व० २०।१४१।२ में अश्वियों=प्राण और अपान के सम्बन्ध में कहते हुए लिखा है—"यद् वा वायुना भवथः समोकसा" अर्थात्—तुम दोनों प्राण और अपान के साथ समान स्थानवाले होते हो। तात्पर्य यह कि मरकर जीव वायु से संसृष्ट होता है। वेद में परमात्मा ही को धर्म-

[पर्वताकार यमगण श्राद्धतर्पण गोदानादि की कल्पना]

प्रश्न—जो यमराज राजा, चित्रगुप्त मन्त्री, उसके बड़े भयङ्कर गण कज्जल के पर्वत के तुल्य शरीरवाले जीव को पकड़कर ले जाते हैं। पाप पुण्य के अनुसार नरक-स्वर्ग में डालते हैं। उसके लिये दान-पुण्य श्राद्ध-तर्पण गोदानादि वैतरणी नदी तैरने के लिये करते हैं। ये सब बातें झूंठ क्योंकर हो सकती हैं ?

उत्तर—ये सब बातें पोपलीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं, उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं, तो यदि यमलोक के जीव पाप करें, तो दूसरा यमलोक मानना चाहिये कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें।

और **पर्वत के समान यमगणों के शरीर** हों तो दीखते क्यों नहीं ? और मरनेवाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अङ्गुली भी नहीं जा सकती। और सड़क गली में क्यों नहीं रुक जाते ? जो कहो कि सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते हैं, तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बड़े-बड़े हाड़ पोपजी विना अपने घर के कहाँ धरेंगे ? जब जङ्गल में आगी लगती है, तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिए असंख्य यम के गण आवें, तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिये ? और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जायेंगे, तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं, वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़पुराण के बाँचने सुननेवालों के आँगन में गिर पड़ेंगे, तो वे दब मरेंगे। वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी, तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे ?

श्राद्ध-तर्पण-पिण्ड प्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के घर उदर और हाथ में पहुँचता है। जो **वैतरणी के लिए गोदान** लेते हैं, वह तो पोपजी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुंचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती, पुनः किसकी पूंछ पकड़कर तरेगा ? और हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया, फिर पूंछ को कैसे पकड़ेगा ?

कृत् अर्थात् पक्षपातरहित न्याय करनेवाला कहा गया है, यथा ऋ० ८।९८।१ में "इन्द्राय सामगायत विप्राय वृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे" अर्थात् महा बुद्धिमान्, धर्मकारी, पक्षपातरहित, न्यायकारी, सर्वज्ञ, पूजनीय, सर्वैश्वर्यसम्पन्न भगवान् का यशोगान करो।

जीव का एक देह से दूसरे में संक्रमण—

जीवात्मा अपने प्राणादि सहचरों तथा विद्या-कर्म-पूर्वप्रज्ञारूप तीन प्रकार के पाथेय को साथ लेकर एक देह से दूसरे देह को किस प्रकार प्राप्त करता है, इस बात को बृहदारण्यकोपनिषद् में एक दृष्टान्त के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमित्वाऽन्यमाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।"—बृहद्० ४।३।३

लोक में प्रसिद्ध है कि तृणजलायुका (सुंडी) नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटी-सी पिपीलिका एक तिनके के अन्तिम छोर पर पहुँचकर दूसरे तिनके पर जाने की इच्छा करती हुई प्रथम उस दूसरे तिनके को अपने अग्रिम भाग से दृढ़ता से पकड़कर अपने शरीर के पिछले भाग को खींचकर अग्रिम स्थान पर रखती हुई चलती है। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा गृहीत जीर्ण शरीर को निश्चेष्ट कर स्त्री-पुत्र-मित्रादिकों के वियोगजनित शोक की उपेक्षा करके दूसरे देहरूप आश्रय को पकड़ने के बाद ही अपने

[एक जाट का रोचक दृष्टान्त]

यहाँ एक **दृष्टान्त** इस बात में उपयुक्त है कि--एक जाट था। उसके घर में एक गाय बहुत अच्छी और बीस सेर दूध देनेवाली थी। दूध उसका बड़ा स्वादिष्ट होता था। कभी-कभी पोपजी के मुख में भी पड़ता था। उसका पुरोहित यही ध्यान कर रहा था कि जब जाट का बुड्ढा बाप मरने लगेगा, तब इसी गाय का संकल्प करा लूंगा।

कुछ दिनों में दैवयोग से उसके बाप का मरण-समय आया। जीभ बन्द हो गई, और खाट से भूमि पर ले लिया। अर्थात् प्राण छोड़ने का समय आ पहुँचा। उस समय जाट के इष्ट-मित्र और सम्बन्धी भी उपस्थित हुए थे। तब पोपजी ने पुकारा कि—'यजमान ! अब तू इसके हाथ से गोदान करा'। जाट

पहले शरीर को छोड़ता है। स्थूलशरीर के बिना कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं, अतः असुनेता परमेश्वर की व्यवस्था में यह आत्मा तृणजलायुकावत् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है।

ऐतरेय उपनिषद् (४।४) के अनुसार जीव यहाँ से मरते ही जन्म ले लेता है—"स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते"। महाभारत में लिखा है—

"आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्, सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभावः"।
—वनपर्व १८३।७७

अर्थात्—आयु पूर्ण होने पर आत्मा अपने जराजर्जर शरीर का परित्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे को ग्रहण करने के मध्य में क्षण-भर के लिए भी असंसारी नहीं होता।

तथापि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने में कुछ-न-कुछ समय तो लगता ही है, क्योंकि काल के बिना तो कोई भी कार्य नहीं हो सकता। परन्तु वह समय इतना थोड़ा होता है कि समय की नापतोल करने के लिए मनुष्य ने समय के जो विभाग (घड़ी, पल, मुहूर्त्तादि) किये हैं, उनमें वह कहीं नहीं आता। इसलिए उसका निर्देश सम्भव नहीं।

१२ दिन के बाद पैदा होने की कल्पना भ्रमात्मक है। इस प्रसंग में यजुर्वेद का यह मन्त्र विचारणीय है—

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीये आदित्यश्चतुर्थे।
चन्द्रमा पञ्चम ऋतुषष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे।
मित्रो नवमे वरुणो दशमे इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ॥—यजु० ३९।६

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा...किञ्चित् कालं भ्रमणं कृत्वा...।" यदि यहाँ एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने से पहले जीवात्मा के भ्रमण की अवधि १२ दिन निर्दिष्ट होती तो 'किंचित् कालं भ्रमणं कृत्वा' क्यों कहा जाता ? वस्तुतः यहाँ 'किञ्चित् काल' से 'तत्काल' अथवा नाममात्र काल अभिप्रेत है। इस मन्त्र पर ग्रन्थकार के दिये भावार्थ में लेखक के प्रमाद से वाक्यविन्यास अयथास्थान हो गया है। यथास्थान कर देने पर शुद्ध रूप इस प्रकार बनता है—

"हे मनुष्याः ! यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा किञ्चित् कालं भ्रमणं कृत्वा स्वकर्मानुयोगेन गर्भाशयं गत्वा सूर्यप्रकाशादीन् पदार्थान् प्राप्य शरीरं धृत्वा जायन्ते तदैव पुण्यपापकर्मणां सुखदुःखानि फलानि भुङ्क्ते।"

ने १०) रुपैया निकाल पिता के हाथ में रखकर बोला—'पढ़ो संकल्प'। पोपजी बोला—'वाह-वाह! क्या बाप वारम्वार मरता है? इस समय तो साक्षात् गाय को लाओ, जो दूध देती हो बुड्ढी न हो, सब प्रकार उत्तम हो। ऐसी गौ का दान करना चाहिये'।

जाटजी—हमारे पास तो एक ही गाय है। उसके विना हमारे लड़के-बालों का निर्वाह न हो सकेगा। इसलिये उसको न दूँगा। लो २०) रुपये का संकल्प पढ़ देओ। और इन रुपयों से दूसरी दुधार गाय ले लेना।

पोपजी—वाह जी वाह! तुम अपने बाप से भी गाय को अधिक समझते हो? क्या अपने बाप को वैतरणी नदी में डुबाकर दुःख देना चाहते हो? तुम अच्छे सुपुत्र हुए!!

तब तो पोपजी की ओर सब कुटुम्बी हो गये। क्योंकि उन सब को पहिले ही पोपजी ने बहका रक्खा था। और उस समय भी इशारा कर दिया। सब ने मिलकर हठ से उसी गाय का दान उसी पोपजी को दिला दिया। उस समय जाट कुछ भी न बोला। उसका पिता मर गया। और पोपजी बच्छा सहित गाय और दोहने की बटलोई को ले अपने घर में गौ बाँध बटलोई धर पुनः जाट के घर आया। और मृतक के साथ श्मशान भूमि में जाकर दाहकर्म कराया। वहाँ भी कुछ-कुछ पोपलीला चलाई। पश्चात् दशगात्र सपिंडी कराने आदि में भी उस को मूँडा। महाब्राह्मणों ने भी लूटा। और भुक्खड़ों ने भी बहुतसा माल पेट में भरा। अर्थात् जब सब क्रिया हो चुकी, तब जाट ने जिस-किसी के घर से दूध माँग-मूँग निर्वाह किया।

चौदहवें दिन प्रातःकाल पोपजी के घर पहुँचा। देखा तो पोपजी गाय दुह बटलोई भर पोपजी की उठने की तैयारी थी। इतने ही में जाटजी पहुँचे। उसको देख पोपजी बोला—'आइये यजमान! बैठिये'।

जाटजी—तुम भी पुरोहितजी! इधर आओ।

पोपजी—अच्छा, दूध धर आऊँ।

जाटजी—नहीं-नहीं। दूध की बटलोई इधर लाओ। पोपजी विचारे जा बैठे, और बटलोई सामने धर दी।

जाटजी—तुम बड़े झूँठे हो।

पोपजी—क्या झूँठ कहा?

जाटजी—कहो तुमने गाय किसलिये ली थी?

पोपजी—तुम्हारे पिता के वैतरणी नदी तरने के लिये।

जाटजी—अच्छा, तो तुमने वहाँ वैतरणी के किनारे पर गाय क्यों न पहुँचाई? हम तो तुम्हारे भरोसे पर रहे, और तुम अपने घर बाँध बैठे। न जाने मेरे बाप ने वैतरणी में कितने गोते खाये होंगे?

पोपजी—नहीं-नहीं। वहाँ इस दान के पुण्य के प्रभाव से दूसरी गाय बनकर उसको पार उतार दिया होगा।

जाटजी—वैतरणी नदी यहाँ से कितनी दूर, और किधर की ओर है?

पोपजी—अनुमान से कोई तीस क्रोड़ कोश दूर है। क्योंकि उञ्चास कोटि योजन पृथिवी है।[1] और दक्षिण-नैर्ऋत्य दिशा में वैतरणी नदी है।

---

1. भाग० ५।२०।३८; तथा मत्स्य १२४।१२ में पचास कोटि योजन पृथिवी का परिणाम लिखा है।

जाटजी—इतनी दूर तुम्हारी चिट्ठी वा तार का समाचार गया हो, उसका उत्तर आया हो कि वहाँ पुण्य की गाय बन गई। अमुक के पिता को पार उतार दिया, दिखलाओ।

पोपजी—हमारे पास **'गरुड पुराण'** के लेख के विना डाक वा तारबर्की दूसरी कोई नहीं।

जाटजी—इस **गरुड पुराण** को हम सच्चा कैसे मानें ?

पोपजी—जैसे सब मानते हैं।

जाटजी—यह पुस्तक तुम्हारे पुरषाओं ने तुम्हारी जीविका के लिए बनाया है। क्योंकि पिता को विना अपने पुत्रों के कोई प्रिय नह । जब मेरे पिता मेरे पास चिट्ठी-पत्री वा तार भेजेगा, त भी मैं वैतरणी के किनारे गाय पहुँचा दूंगा। और उनको पार उतार पुनः गाय को घर में ले आ दूध को मैं और मेरे लड़के-वाले पिया करेंगे। लाओ, दूध की भरी हुई वटलोई। गाय बछड़ा लेकर जाटजी अपने घर को चला।

पोपजी—तुम दान देकर लेते हो। तुम्हारा सत्यानाश हो जायगा।

जाटजी—चुप रहो। नहीं तो तेरह दिन लों दूध के विना जितना दुःख हमने पाया है, सब कसर निकाल दूंगा।

तब पोपजी चुप रहे। और जाटजी गाय-बछड़ा ले अपने घर पहुँचे। जब ऐसे ही जाटजी के से पुरुष हों तो पोपलीला संसार में न चले।

[दशगात्र-सपिण्डीकरण की समीक्षा]

जो ये लोग कहते हैं कि **दशगात्र** के पिण्डों से दश अङ्ग, **सपिण्डी** करने से शरीर के साथ जीव का मेल होके अंगुष्ठमात्र शरीर बनके पश्चात् यमलोक को जाता है। तो मरते समय यमदूतों का आना व्यर्थ होता है। **'त्रयोदशाह'** के पश्चात् आना चाहिये। जो शरीर बन जाता हो, तो अपनी स्त्री सन्तान और इष्ट-मित्रों के मोह से क्यों नहीं लौट आता ?

[पोपजी का स्वर्ग]

प्रश्न—स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता। जो दान किया जाता है, वही वहाँ मिलता है। इसलिये सब दान करने चाहियें।

उत्तर—उस तुम्हारे स्वर्ग से यही लोक अच्छा, जिसमें धर्मशाला हैं, लोग दान देते हैं। इष्ट मित्र और जाति में खूब निमन्त्रण होते हैं। अच्छे-अच्छे वस्त्र मिलते हैं। तुम्हारे कहने प्रमाणे स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता। ऐसे निर्दय कृपण कङ्गले स्वर्ग में पोपजी जाके खराब होवें। वहाँ भले-भले मनुष्यों का क्या काम ?

वस्तुतः इस मन्त्र में मरणोपरान्त जीवात्मा के भ्रमण की बात न होकर गर्भाशय में प्रविष्ट जीव की भ्रूणावस्था अथवा उसके क्रमिक विकास का वर्णन किया है। गर्भस्थित भ्रूण को प्रथम दिन सूर्य दूसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन मास, पाँचवें दिन चन्द्रमा, छठे दिन ऋतु, सातवें दिन मरुद्गण, आठवें दिन बृहस्पति या सूत्रात्मा वायु, नवें दिन प्राण, दसवें दिन उदान, ग्यारहवें दिन विद्युत् तथा बारहवें दिन समस्त उत्तम दिव्यगुण प्राप्त होते हैं।

गर्भाशय में जीव को भ्रूणावस्था में प्रतिदिन के क्रम से सविता आदि देवों से शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। पुनः उसका विकास उत्तरोत्तर देवों की शक्तियाँ करती हैं। आयुर्वेदशास्त्र के प्रामाणिक

[यम-यमलोक-धर्मराज क्या हैं ?]

प्रश्न—जब तुम्हारे कहने से **यमलोक** और **यम** नहीं हैं, तो मरकर जीव कहाँ जाता, और इनका न्याय कौन करता है ?

उत्तर—तुम्हारे गरुड़पुराण का कहा हुआ तो अप्रमाण है। परन्तु जो वेदोक्त है कि—'**यमेन**'[1]। **वायुना**[2]। **सत्यराजन्**[3]' इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि '**यम**' नाम वायु का है। शरीर छोड़ वायु के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं। और जो सत्यकर्त्ता पक्षपातरहित परमात्मा '**धर्मराज**'[4] है, वही सब का न्यायकर्त्ता है।

[दान के पात्र और अपात्र]

प्रश्न—तुम्हारे कहने से गोदानादि दान किसी को न देना, और न कुछ दान-पुण्य करना, ऐसा सिद्ध होता है।

उत्तर—यह तुम्हारा कहना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि सुपात्रों को परोपकारियों को परोपकारार्थ सोना चाँदी हीरा मोती माणिक अन्न-जल स्थान इत्यादि दान अवश्य करना उचित है। किन्तु कुपात्रों को कभी न देना चाहिये।

ग्रन्थ चरक के गर्भप्रकरण में भौतिक देवों से प्राप्त होनेवाली शक्तियों के सन्दर्भ में लिखा है—

"यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे...। लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः स आदित्यस्त्वादानं रुद्रो रोषः सोमः प्रसादः वसवः सुखम् अश्विनौ कान्तिः मरुदुत्साहः विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि च तमो मोहः ज्योतिर्ज्ञानम् यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा गर्भाधानम्" (चरक, शरीरस्थान ५।६)।

अर्थात्—जितने ही लोक में विशेष पदार्थ देवरूप से हैं, उतने पुरुष शरीर में हैं। जैसे लोक में प्रजापति है, वैसे शरीर में बुद्धि है; लोक में जो इन्द्र है, शरीर में वह अहङ्कार है; लोक में जो आदित्य है, वह शरीर में आदान रसादान शक्ति; लोक में रुद्र वह शरीर में रोष; लोक में सोम वह शरीर में प्रसाद शान्त भाव; लोक में वसु वह शरीर में सुख; लोक में विश्वेदेव के शरीर में समस्त इन्द्रियाँ;... जिस प्रकार लोक में सर्गादि हैं, वह शरीर में गर्भाधान है। इस प्रकार बारह समान नामों तथा पर्याय नामों से गर्भ में देवों का स्थान दर्शाया है।

यह कल्पना कि मरने के बाद आत्मा 'यमलोक' में जाता है, सर्वथा मिथ्या है। इस कल्पना का आधार गरुड़पुराण आदि में यमलोक का वर्णन है। परन्तु यह सब वेदों में आये 'यम' शब्द के वास्तविक अर्थों को न समझने के कारण है।

दान—दान का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। गीता में सात्त्विक, राजस व तामस भेद से दान का त्रिविध वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः॥

---

१. ऋ० १०।१४।८॥
२. अथर्व० २०।१४१।२॥
३. यजुः० २०।४॥
४. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते न पनस्यवे॥ ऋ० ८।९८।१॥

प्रश्न—'**कुपात्र**' और '**सुपात्र**' का लक्षण क्या है?

उत्तर--जो छली-कपटी स्वार्थी विषयी, काम क्रोध लोभ मोह से युक्त, परहानि करनेवाले, लंपटी, मिथ्यावादी, अविद्वान्, कुसङ्गी, आलसी। जो कोई दाता हो उसके पास वारम्वार माँगना। धरना देना, ना किये पश्चात् भी हठता से माँगते ही जाना, सन्तोष न होना। जो न दे उसकी निन्दा करना, शाप और गाली-प्रदानादि देना। अनेक वार जो सेवा करे और एक वार न करे, तो उसका शत्रु बन जाना। ऊपर से साधु का वेश बना लोगों को बहकाकर ठगना। और अपने पास पदार्थ हो तो भी मेरे पास कुछ भी नहीं है, कहना। सब को फुसला-फुसलूकर स्वार्थ सिद्ध करना। रात-दिन भीख माँगने ही में प्रवृत्त रहना। निमन्त्रण दिये पर यथेष्ट भंगादि मादक द्रव्य खा-पीकर बहुत सा पराया पदार्थ खाना। पुनः उन्मत्त होकर प्रमादी होना। सत्यमार्ग का विरोध और झूंठ मार्ग में अपने प्रयोजनार्थ चलना। वैसे ही अपने चेलों को केवल अपनी ही सेवा करने का उपदेश करना, अन्य योग्य पुरुषों की सेवा करने का नहीं। सद्विद्यादि प्रवृत्ति के विरोधी। जगत् के व्यवहार अर्थात् स्त्री-पुरुष माता-पिता सन्तान राजा-प्रजा इष्ट-मित्रों में अप्रीति कराना कि ये सब असत्य हैं, और जगत् भी मिथ्या है। इत्यादि दुष्ट उपदेश करना आदि '**कुपात्रों के लक्षण**' हैं।

और जो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय, वेदादि विद्या के पढ़ने-पढ़ानेहारे। सुशील, सत्यवादी, परोपकार-प्रिय, पुरुषार्थी, उदार। विद्या धर्म की निरन्तर उन्नति करनेहारे। धर्मात्मा, शान्त, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोकरहित। निर्भय, उत्साही, योगी, ज्ञानी। सृष्टिक्रम वेदाज्ञा ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभावानुकूल वर्त्तमान करनेहारे। न्याय की रीतियुक्त, पक्षपातरहित, सत्योपदेश और सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ानेहारे के परीक्षक।

किसी की लल्लो-पत्तो न करें। प्रश्नों के यथार्थ समाधानकर्त्ता। अपने आत्मा के तुल्य अन्य का भी सुख-दुःख हानि-लाभ समझनेवाले। अविद्यादि-क्लेश हठ-दुराग्रहाभिमान-रहित। अमृत के समान अपमान और विष के समान मान को समझनेवाले[1]। **सन्तोषी**=जो कोई प्रीति से जितना देवे उतने ही से प्रसन्न। एक वार आपत्काल में माँगे भी न देने वा वर्जने पर भी दुःख वा बुरी चेष्टा न करना। वहाँ से झट लौट जाना, उसकी निन्दा करना।

सुखी पुरुषों के साथ मित्रता, दुःखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं से आनन्द, और पापियों से उपेक्षा अर्थात् राग-द्वेषरहित रहना।[2] सत्यमानी सत्यवादी सत्यकारी निष्कपट, ईर्ष्या द्वेषरहित, गम्भीराशय सत्पुरुष। धर्म से युक्त और सर्वथा दुष्टाचार से रहित। अपने तन मन धन को परोपकार करने में लगानेवाले। पराये सुख के लिये अपने प्राणों को भी समर्पितकर्त्ता इत्यादि शुभलक्षणयुक्त '**सुपात्र**' होते हैं।

परन्तु दुर्भिक्षादि आपत्काल में अन्न जल वस्त्र और ओषधि पथ्य स्थान के अधिकारी सब प्राणीमात्र हो सकते हैं।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥—१७।२०-२२

---

१. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥—मनु० २।१६२॥

२. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ योग १।३३॥

[दान-दाताओं के तीन भेद]

प्रश्न—दाता कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—तीन प्रकार के—उत्तम मध्यम और निकृष्ट। **'उत्तम दाता'** उसको कहते हैं, जो देश काल पात्र को जानकर सत्यविद्या धर्म की उन्नतिरूप परोपकारार्थ देवे। **'मध्यम'** वह है, जो कीर्ति वा स्वार्थ के लिये दान करे। **'नीच'** वह है, जो अपना वा पराया कुछ उपकार न कर सके, किन्तु वेश्या-गमनादि वा भाँड भाटों आदि को देवे। देते समय तिरस्कार अपमानादि कुचेष्टा भी करे। पात्र कुपात्र का कुछ भी भेद न जाने। किन्तु **'सब अन्न बारह पसेरी'**[1] बेचनेवालों के समान विवाद-लड़ाई, दूसरे धर्मात्मा को दुःख देकर सुखी होने के लिये दिया करे, वह **'अधम दाता'** है। अर्थात् जो परीक्षापूर्वक विद्वान् धर्मात्माओं का सत्कार करे वह **'उत्तम'**। और जो कुछ परीक्षा करे वा न करे, परन्तु जिसमें अपनी प्रशंसा हो उसको **'मध्यम'**, और जो अन्धाधुध परीक्षारहित निष्फल दान दिया करे, वह **'नीच दाता'** कहाता है।

[दान का फल कब कहाँ और किसके द्वारा ?]

प्रश्न—दान के फल यहाँ होते हैं, वा परलोक में ?

उत्तर—सर्वत्र होते हैं।

प्रश्न—स्वयं होते हैं, वा कोई फल देनेवाला है ?

उत्तर—फल देनेवाला ईश्वर है। जैसे कोई चोर डाकू स्वयं बन्दीघर में जाना नहीं चाहता, राजा उसको अवश्य भेजता है। धर्मात्माओं के सुख की रक्षा करता भुगाता। डाकू आदि से बचाकर

अर्थात्—देश, काल और पात्र का विचार करके, प्रत्युपकार न करनेवाले को, 'देना उचित है' ऐसा मानकर दिया गया दान सात्त्विक दान कहाता है।

प्रत्युपकार के बदले में या भविष्य में होनेवाले लाभ की आशा में, कष्ट अनुभव करते हुए दिया गया दान राजस दान कहाता है।

देश-काल-पात्र का विचार किये बिना उपेक्षा या तिरस्कारपूर्वक दिया गया दान तामस दान कहाता है।

इन्हीं को ग्रन्थकार ने यहाँ उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट कोटि में रक्खा है।

फल ईश्वराधीन—जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। कर्म तो यह भी नहीं पहचान सकते कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध हो जाने से कर्मसंकर हो जायेगा। फलतः अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ जायेंगे। अराजकता की ऐसी स्थिति में 'कृतहानि' (करनेवाले को फल न मिलना) और 'अकृताभ्यागम' (न करनेवाले को फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी।

अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् नहीं जान सकता और अल्पशक्ति होने से अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करनेवाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह उन सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके, जो फलोपभोग के लिए अपेक्षित हैं। सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के फलोपभोग के

---

१. यहाँ मुहावरा वह प्रयुक्त होता है, जहाँ ऊँच-नीच के भेद का ध्यान नहीं रखा जाता। पसेरी=पाँच सेर, लगभग साढ़े चार किलो।

उनको सुख में रखता है। वैसे ही परमात्मा सब को पाप-पुण्य के दुःख और सुखरूप फलों को यथावत् भुगाता है।

[पुराण और तन्त्र वेद-विरोधी हैं]

प्रश्न—जो ये गरुड़पुराणादि ग्रन्थ हैं, वे वेदार्थ वा वेद की पुष्टि करनेवाले हैं, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। किन्तु वेद के विरोधी और उलटे चलते हैं। तथा तन्त्र भी वैसे ही हैं। जैसे कोई मनुष्य एक का मित्र, किन्तु सब संसार का शत्रु हो, वैसा ही पुराण और तन्त्र का माननेवाला पुरुष होता है। क्योंकि एक-दूसरे से विरोध करानेवाले ये ग्रन्थ हैं। इनका मानना किसी विद्वान् का काम नहीं, किन्तु इनको मानना अविद्वत्ता है।

[एकदश्यादि व्रत-उपवासों की समीक्षा]

देखो, शिवपुराण में त्रयोदशी सोमवार, आदित्यपुराण में रवि, चन्द्रखण्ड में 'सोम, ग्रहवाले मङ्गल बुध बृहस्पति शुक्र शनैश्चर राहु केतु'[1] के, वैष्णव एकादशी, वामन की द्वादशी, नृसिंह वा अनन्त

लिए समुचित भूमि तैयार करना है, जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तथा विभिन्न योनियों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है और न कर्म के विधान की क्रिया है। जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथिवी अनेक प्रकार के कर्मों के फलों के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है और किस तरह यह शरीर कार्य करता है और जिसका निर्माण भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है, जिससे वह विविध कर्मों के फलोपभोग का उचित साधन बन सके तो यह कैसे माना जा सकता है कि यह सब व्यवस्था किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सत्ता के नियमन तथा निर्देशन के बिना सम्भव है।

यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीरधारण में निमित्त होते तो कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में और मनुष्ययोनि में भी किसी दरिद्र के घर जन्म न लेता। अपने अशुभ कर्मों का फल कोई नहीं भोगना चाहता। जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जबतक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योगसूत्र) कर्मफल भोगने के लिए साधनरूप इस सृष्टि की रचना ईश्वर के अधीन है। यदि कोई जीवविशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता, जो उसके अनुकूल होतीं—जन्म, मरण, वृद्धावस्था, रोग, शोक आदि विरुद्ध वस्तुओं को कभी न बनाता। कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने आप नहीं जा बैठेगा—'न हि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति' (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।१।२१)।

Cp. Descortes—"If I were myself the auther of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea."—Meditation, P. iii

एकादश्यादि व्रतोपवास—नारदपुराण पूर्वभाग, तृतीय पाद में सब तिथियों में व्रत करने का विधान है। प्रत्येक तिथि किसी न किसी देवता से जुड़ी है और सप्ताह का प्रत्येक दिन किसी न किसी धार्मिक कृत्य से सम्बन्धित है। चन्द्रमा की पूर्णिमा का सम्बन्ध सत्यनारायण की पूर्णिमा से जोड़ा जाता

---

१. यहाँ पाठ कुछ अस्पष्टसा है।

की चतुर्दशी, चन्द्रमा की पौर्णमासी, दिक्पालों की दशमी, दुर्गा की नौमी, वसुओं की अष्टमी, मुनियों की सप्तमी, कार्तिकेय स्वामी की षष्ठी, नाग की पञ्चमी, गणेश की चतुर्थी, गौरी की तृतीया, अश्विनी-कुमार की द्वितीया, आद्यादेवी की प्रतिपदा और पितरों की अमावास्या। **पुराणरीति से ये दिन उपवास करने के हैं।** और सर्वत्र यही लिखा है कि जो मनुष्य इन वार और तिथियों में अन्न-पान ग्रहण करेगा, वह नरकगामी होगा।

अब पोप और पोपजी के चेलों को चाहिये कि किसी वार अथवा किसी तिथि में भोजन न करें। क्योंकि जो भोजन वा पान किया, तो नरकगामी होंगे। अब **'निर्णयसिन्धु,' 'धर्मसिन्धु', 'व्रतार्क'** आदि ग्रन्थ, जो कि प्रमादी लोगों के बनाये हैं, उन्होंमें एक-एक व्रत की ऐसी दुर्दशा की है कि जैसे एकादशी को शैव दशमीविद्धा में, कोई द्वादशी में एकादशी व्रत करते हैं। अर्थात् क्या बड़ी विचित्र पोप-लीला है कि भूखे मरने में भी वाद-विवाद ही करते हैं।

जो **'एकादशी का व्रत'** चलाया है, उसमें अपना स्वार्थपन ही है, और दया कुछ भी नहीं। वे कहते हैं—**'एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति'** जितने पाप हैं, वे सब एकादशी के दिन अन्न में वसते हैं। इस पर पोपजी से पूछना चाहिये कि किसके पाप उसमें वसते हैं? तेरे वा तेरे पिता आदि के? जो सब के सब पाप एकादशी में जा वसें, तो एकादशी के दिन किसी को दुःख न रहना चाहिये। ऐसा तो नहीं होता, किन्तु उलटा क्षुधा आदि से दुःख होता है। दुःख पाप का फल है, इससे भूखे मरना पाप है।

है, यद्यपि उसके द्वारा निर्दिष्ट इस सत्यनारायण कथा का स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में कहीं भी उल्लेख नहीं है, जिसका संकेत और प्रकाश इस तथाकथित व्रतकथा में किया जाता है। (द्रष्टव्यः डा० सम्पूर्णानन्द लिखित 'ब्राह्मण ! सावधान')। अनन्त चतुर्दशी का व्रत करते समय लोग अनन्त के प्रतीक रूप में एक डोरा अपनी भुजा पर बाँध लेते हैं। दुर्गा की नवमी—बंगाल में आश्विन मास में दुर्गापूजा विशेष समारोह-पूर्वक मनाई जाती है। नागपंचमी के दिन नागों को दूध पिलाते हैं। इसी प्रकार वामन की द्वादशी, स्वामी कार्त्तिक की षष्ठी, गणेश की चतुर्थी, गौरी की तृतीया, आद्यादेवी की प्रतिपदा, पितरों की अमावस्या आदि का माहात्म्य है।

हिन्दुओं के देवी-देवताओं और तत्सम्बन्धी व्रतोपवासों में आये दिन वृद्धि होती रहती है। कुछ वर्षों से सन्तोषीमाता के नाम से एक नई देवी का प्रादुर्भाव हुआ है। कहा जाता है कि इस नाम से एक मुस्लिम लड़की को योजनाबद्ध रूप से हिन्दू देवी-देवताओं की भीड़ में शामिल कर दिया गया है। सन्तोषीमाता का यह आकस्मिक अभ्युदय तथा तेजी से बढ़ता हुआ प्रभाव इस बात का प्रमाण है कि हिन्दूजाति इतनी भोली और अन्धविश्वासी है कि देवी-देवता के नाम पर उसे कोई भी बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा कर सकता है। सन्तोषीमाता का व्रत शुक्रवार को रखने की प्रथा है। श्रद्धालुजन उस दिन खटाई का सेवन नहीं करते। भुने हुए चनों से यह व्रत खोला जाता है। लड़कियों में यह अधिक लोकप्रिय है। जहाँ मंगल का व्रत रामभक्त हनुमान् के साथ जुड़ा होने से महत्त्वपूर्ण है, वहाँ शनिवार का व्रत उन लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण है जो फलित ज्योतिष के विश्वासी होने के कारण इस क्रूर ग्रह से भयभीत होने के कारण उसके सम्भावित संकट को टालने के लिए उस दिन व्रत रखकर शनिपूजकों को तेलादि का दान करते हैं। यदि इन व्रतों-उपवासों का पूरी तरह पालन किया जाय तो कोई कभी भोजन न कर सके और कुछ ही दिनों में धरती पुराणमतावलम्बियों से शून्य हो जाये।

एकादशी में अन्न में पापों का वास—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (श्रीकृष्णजन्म खण्ड० ७५।५७) के अनुसार "एकादशीदिने भङ्क्ते कृष्णजन्माष्टमीव्रते। त्रैलोक्यजनितं पापं सोपि भुङ्क्ते न संशयः" ॥

[एकादशी-व्रत के माहात्म्य की समीक्षा]

इसका बड़ा माहात्म्य बनाया है। जिसकी कथा बाँचके बहुत ठगे जाते हैं। उसमें एक गाथा है कि—

ब्रह्मलोक में एक वेश्या थी। उसने कुछ अपराध किया। उस को शाप हुआ—'तू पृथिवी पर गिर'। उसने स्तुति की कि मैं पुनः स्वर्ग में क्योंकर आसकूँगी ? 'उसने कहा—'जब कभी एकादशी के व्रत का फल तुझे कोई देगा, तभी तू स्वर्ग में आजायगी'। यह विमानसहित किसी नगर में गिर पड़ी। वहाँ के राजा ने पूछा कि—'तू कौन है' ? तब उसने सब वृत्तान्त कह सुनाया। और कहा कि—'जो कोई मुझको एकादशी का फल अर्पण करे, तो फिर भी स्वर्ग को जा सकती हूँ।'

राजा ने नगर में खोज कराया। कोई भी एकादशी का व्रत करनेवाला न मिला। किन्तु एक दिन किसी शूद्र स्त्री-पुरुष में लड़ाई हुई थी। क्रोध से स्त्री दिनरात भूखी रही थी। दैवयोग से उस दिन एकादशी ही थी। उसने कहा कि—'मैंने एकादशी जानकर तो नहीं की। अकस्मात् उस दिन भूखी रह गई थी।' ऐसे राजा के भृत्यों से कहा। तब तो वे उसको राजा के सामने ले आये। उससे राजा ने कहा कि—'तू इस विमान को छू'। उसने छुआ, तो उसी समय विमान ऊपर को उड़ गया।

अर्थात् एकादशी के दिन तथा श्रीकृष्णजन्माष्टमी के व्रत में जो भोजन करता है, निस्सन्देह वह त्रिलोकी में होनेवाले पापों को भोगता है।

स्मृतिचन्द्रिका (पृ० ५४ पर कात्यायन) के अनुसार "यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति प्राप्ते हरिवासरे॥" अर्थात्—जितने पाप हैं और जो ब्रह्महत्या के समान हैं, हरिवार आने पर वे सब अन्न का आश्रय लेकर रहते हैं।

भूखे मरना पाप—सब बुद्धिमान् लोग ऐसा ही मानते हैं कि आत्महत्या पाप है—

गृहस्थो ब्रह्मचारी च योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत्।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः॥

—स्मृतिचन्द्रिका पृ० ६०६, बौधायन

अर्थात्—गृहस्थ और ब्रह्मचारी यदि भूखे रहकर तप करें, तो प्राण-अग्निहोत्र के लोप होने से वे अवकीर्णी होवें।

ब्रह्मलोक की वेश्या— भक्तमाल की टीका के तिलक में यह कथा इस प्रकार लिखी है—"भगवद्भक्त श्रीराजरुक्माङ्गद जी की पुष्पवाटिका फूलकर सुन्दर सुगन्धित फूलों से भरी पगी सुशोभित हो रही थी, यहाँ तक कि स्वर्ग की वाटिकाओं से भी अधिक उत्तम थी और उससे अप्सरायें भी रात्रि में प्रेम से फूल ले जाया करती थीं। एक बार उनमें से एक अप्सरा के पाँव में भाँटे (बैंगन) का काँटा चुभ गया। अतः उसका पुण्य क्षीण होने से उसकी आकाश में उड़ने की दिव्य गति क्षीण हो गई। परिणामतः वह वाटिका में ही रह गई। माली से यह वार्त्ता सुनके श्रीरुक्माङ्गदजी ने स्वयं वहाँ पहुँच के उस अप्सरा को (श्रीरामकृपा से अकामदृष्टि से ही) देखा और प्रसन्न होके उससे पूछा कि तुम्हारे स्वर्ग जाने का यदि कोई उपाय हो तो बताओ कि जिससे हम तुम्हें स्वर्ग को भेज दें। उस अप्सरा ने उत्तर दिया कि जिसने एकादशी का व्रत किया हो, वह यदि अपनी एक एकादशी के व्रत का फल संकल्प करके जल मेरे हाथ में दे दे तो मैं स्वर्ग को चली जाऊँ। राजा ने उत्तर दिया कि इस व्रत का तो नाम भी इस नगर में

---

१. अर्थात् शापदाता ने।

यह तो विना जाने एकादशी के व्रत का फल है। जो जानके करे, तो उसके फल का क्या पारावार है!! वाह रे आँख के अन्धे लोगो! जो यह बात सच्ची हो, तो हम एक पान की बीड़ी, जो कि स्वर्ग में नहीं होती, भेजना चाहते हैं। सब एकादशीवाले अपना-अपना फल दे दो। जो एक पानबीड़ा ऊपर को चला जायगा, तो पुन: लाखों क्रोड़ों पान वहाँ भेजेंगे। और हम भी एकादशी किया करेंगे। और जो ऐसा न होगा, तो तुम लोगों को इस भूखे मरनेरूप आपत्काल से बचावेंगे।

इन चौबीस एकादशियों के नाम पृथक्-पृथक् रक्खे हैं। किसी का **'धनदा'**, किसी का **'कामदा'**, किसी का **'पुत्रदा'**, और किसी का **'निर्जला'**। बहुत से दरिद्र, बहुत से कामी और बहुत से निर्वंशी लोग एकादशी करके बूढ़े हो गये, और मर भी गये, परन्तु उन्हें धन कामना और पुत्र प्राप्त न हुआ। और ज्येष्ठ महीने के शुक्लपक्ष में, कि जिस समय एक घड़ीभर जल न पावे, तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है, व्रत करनेवालों को महादु:ख प्राप्त होता है। विशेषकर बङ्गाले में सब विधवा स्त्रियों की एकादशी के दिन बड़ी दुर्दशा होती है।

इस निर्दयी कसाई को लिखते समय कुछ भी मन में दया न आई। नहीं तो निर्जला का नाम **'सजला'** और पौष महीने की शुक्ल पक्ष की एकादशी का नाम **'निर्जला'** रख देता, तो भी कुछ अच्छा होता। परन्तु इस पोप को दया से क्या काम? **'कोई जीवो वा मरो, पोपजी का पेट पूरा भरो'**।

गर्भवती वा सद्योविवाहिता स्त्री लड़के वा युवा पुरुषों को तो कभी उपवास न करना चाहिये। परन्तु किसी को करना भी हो, तो जिस दिन अजीर्ण हो, क्षुधा न लगे, उस दिन **शर्करावत्**[1]=शर्बत वा दूध पीकर रहना चाहिये। जो भूख में नहीं खाते, और विना भूख के भोजन करते हैं, वे दोनों रोग-सागर में गोते खा दु:ख पाते हैं। इन प्रमादियों के कहने-लिखने का प्रमाण कोई भी न करे।

कोई नहीं जानता। तिस पर अप्सरा बोली—कल एकादशी थी, कदाचित् कोई अज्ञात कल भूखा रह गया हो तो उसको लाके, उसका ही फल लाके मुझको दिलवा दीजिए तो मैं स्वर्ग को चली जाऊँगी और आपके इस उपकार को सदा मानती रहूँगी। यह सुन राजा ने अपने नगर में डौंडी फिरवा दी कि जो कोई कल दिन-रात भूखा रह गया हो, सो राजा के पास चले। उस पर राजा अति प्रसन्न होंगे। ऐसा ढंढोरा सुनकर एक बनिये की कजौड़ी टहलनी सामने आई, जिसको किसी अपराध से बनिये ने बहुत पीटा था और भोजन भी नहीं दिया था। इसी हेतु से वह भूखी रही थी और रात-भर रोती और जागती रही थी। राजा ने उसी लौंडी (टहलनी) से संकल्प कराके उस अज्ञात व्रत का फल अप्सरा को दिला दिया। इतने ही मात्र के प्रभाव से उस अप्सरा को दिव्य गति प्राप्त हो गई तथा उड़के निजलोक को चली गई। इस प्रकार एकादशी व्रत का आश्चर्यजनक अमोघ माहात्म्य देखके…" (पृष्ठ १६२-६३)।

चौबीस एकादशियाँ—पद्मपुराण, उत्तराखण्ड में इन एकादशियों की नामावली इस प्रकार है—

(१) मार्गशीर्षशुक्ला—मोक्षदा (२) मार्गशीर्षकृष्णा—संवत्सरदीयव्रता (३) पौषकृष्णा सफला (४) पौषशुक्ला—पुत्रदा (५) माघकृष्णा—षट्तिला (६) माघशुक्ला—जया (७) फाल्गुनकृष्णा—विजया (८) फाल्गुनशुक्ला—आमलकी (९) चैत्रकृष्णा—पापमोचिनी (१०) चैत्रशुक्ला—कामदा (११) वैशाखकृष्णा—रूपिणी (१२) वैशाखशुक्ला—मोहिनी (१३) ज्येष्ठकृष्णा—अपरा (१४) ज्येष्ठ-शुक्ला—निर्जला (१५) आषाढकृष्णा—योगिनी (१६) आषाढशुक्ला—शयिनी (१७) श्रावणकृष्णा—कामिका (१८) श्रावणशुक्ला—पुत्रदा (१९) भाद्रकृष्णा—अजा (२०) भाद्रशक्ला—पद्मा (२१) आश्विनकृष्णा—इन्द्र (२२) आश्विनशुक्ला—पापाङ्कुशा (२३) कार्त्तिककृष्णा—रमा (२४) कार्त्तिक-

१. अर्थात् शर्करावाला (मतुप्-प्रत्ययान्त)।

[लुप्त वेदशाखाओं में मूर्त्तिपूजा वा तीर्थों के होने की कल्पना]

अब **गुरु-शिष्य-मन्त्रोपदेश** और मतमतान्तर के चरित्रों का वर्त्तमान कहते हैं—

मूर्त्तिपूजक सम्प्रदायी लोग प्रश्न करते हैं कि वेद अनन्त हैं।[1] ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखा हैं[2]। इनमें से थोड़ीसी शाखा मिलती हैं,[3] शेष लोप हो गई हैं। उन्हीं में मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का प्रमाण होगा। जो न होता तो पुराणों में कहाँ से आता? जब कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है, तब पुराणों को देखकर मूर्त्तिपूजा में क्या शङ्का है?

उत्तर—जैसे शाखा जिस वृक्ष की होती है, उसके सदृश हुआ करती है, विरुद्ध नहीं। चाहे शाखा छोटी-बड़ी हों, परन्तु उनमें विरोध नहीं हो सकता। वैसे ही जितनी शाखा मिलती हैं, जब इनमें पाषाणादि-मूर्त्ति और जल स्थल विशेष तीर्थों का प्रमाण नहीं मिलता तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था। और चार वेद पूर्ण मिलते हैं। उनसे विरुद्ध शाखा कभी नहीं हो सकतीं। और जो विरुद्ध हैं, उनको शाखा कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। जब यह बात है, तो पुराण वेदों की लुप्त शाखाओं के अनुसार नहीं, किन्तु सम्प्रदायी लोगों ने परस्पर विरुद्धरूप ग्रन्थ बना रक्खे हैं।

वेदों को तुम परमेश्वरकृत मानते हो, तो **'आश्वलायनादि'** ऋषि-मुनियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों को वेद क्यों मानते हो? जैसे डाली और पत्तों के देखने से पीपल बड़ और आम्र आदि वृक्षों की

शुक्ला—प्रबोधिनी। इनके अतिरिक्त महामास की दो—(१) कृष्णपक्ष—कमला (२) शुक्लपक्ष—कामदा।

उपलब्ध शाखाएँ—अपने मूलरूप में ११३१ शाखाओं में से केवल १० शाखाएँ उपलब्ध हैं—ऋग्वेद की शाकल; यजुर्वेद की काण्व, तैत्तिरीय, माध्यन्दिनी व मैत्रायणी; सामवेद की जैमिनि, राणायनि व कौथुमा; अथर्ववेद की शौनक व पिप्पलाद। मैत्रायणी शाखा के केवल ३ पण्डित, शौनक व जैमिनी के १ पण्डित व ३ शिष्य, पिप्पलाद शाखा के नैपाल में १ पण्डित और शौनक शाखा के सिनौर में केवल १ पण्डित शेष हैं। पूर्वी खान्देश में यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के दो पण्डित और ६५० परिवार हैं। परन्तु कोई भी अपनी सन्तान को वेदाध्ययन नहीं कराता। कारण है वेदानुयायियों की अपनी उदासीनता। पहले महाराष्ट्र में गणेश-चतुर्थी के अवसर पर तथा अन्य समारोहों में वेदपाठ के लिए पण्डितों को आमन्त्रित करने की परम्परा थी, परन्तु अब उनका स्थान अश्लील और बेहूदा फिल्मी गीतों को प्रसारित करनेवाले ध्वनि-विस्तारकों (Loud speakers) ने ले लिया है। (Are the Vedas

---

१. 'अनन्ता वै वेदाः'। तै० ब्रा० ३।१०।११।५॥

२. महाभाष्य अ० १। पा० १। आह्निक १॥ यह वेद-शाखाओं की संख्या उन शाखाओं की है, जिनका प्रवचन कृष्ण-द्वैपायन व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों ने किया था। व्यास से प्राचीन शाखाएँ लुप्त हो गईं। उनमें से कतिपय के संकेत प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मिलते हैं। उपलब्ध ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध प्राचीन ऐतरेय शाखा के साथ था। वह शाखा लुप्त हो गई। शाट्यायनी भाल्लवी भागुरी तथा ताण्डी शाखाओं से सम्बद्ध ब्राह्मणों का संकेत व्याकरण-ग्रन्थों में मिलता है। द्र०—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास,' भाग १ (तृ० सं०) पृष्ठ २५०। शाखाओं और ब्राह्मणों का प्रवचन ब्रह्मा के काल से ही आरम्भ हो गया था। यह क्रम कृष्णद्वैपायन के शिष्यों-प्रशिष्यों तक वर्तमान रहा।

३. उपलब्ध शाखाएँ—ऋग्वेद की शाकल वा शाङ्खायन (यह छपी नहीं); शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन वा काण्व; कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय (=आपस्तम्बी), मैत्रायणी, काठक, कठ, कपिष्ठल; सामवेद की कौथुमी राणायनी (यह छपी नहीं); अथर्ववेद की शौनक वा पैप्पलाद (यह सम्पूर्ण अभी नहीं छपी)।

पहिचान होती है, वैसे ही ऋषि-मुनियों के किये वेदाङ्ग चारों ब्राह्मण अङ्ग उपाङ्ग और उपवेद आदि से वेदार्थ पहिचाना जाता है। इसीलिये इन ग्रन्थों को 'शाखा' माना[1] है। जो वेदों से विरुद्ध है उसका प्रमाण, और अनुकूल का अप्रमाण नहीं हो सकता।[2]

जो तुम अदृष्ट[3] शाखाओं में मूर्त्ति आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे, तो जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रमव्यवस्था उलटी, अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र अन्त्यजादि, अगमनीया गमनीया, अकर्त्तव्य कर्त्तव्य, मिथ्याभाषणादि धर्म और सत्यभाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा। तो तुम उसको वही उत्तर दोगे, जो कि हमने दिया—'अर्थात् वेद और प्रसिद्ध[4] शाखाओं में जैसा ब्राह्मणादि का नाम ब्राह्मणादि, और शूद्रादि का नाम शूद्रादि लिखा है, वैसा ही अदृष्ट शाखाओं में भी मानना चाहिये। नहीं तो वर्णाश्रमव्यवस्था आदि सब अन्यथा हो जायेंगे।'

भला जैमिनी व्यास और पतञ्जलि के समय-पर्यन्त तो सब शाखा विद्यमान थीं वा नहीं[5]? यदि थीं तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे। और जो कहो कि नहीं थीं तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है?

देखो, जैमिनि ने मीमांसा में सब कर्मकाण्ड, 'पतञ्जलि मुनि ने[6] योगशास्त्र में सब उपासना-काण्ड, और व्यास मुनि ने शारीरकसूत्रों में सब ज्ञानकाण्ड वेदानुकूल लिखा है। उनमें पाषाणादि मूर्त्तिपूजा वा प्रयागादि तीर्थों का नाम तक भी नहीं लिखा। लिखें कहाँ से? जो कहीं वेदों में होता, तो लिखे विना कभी न छोड़ते। इसलिये लुप्त शाखाओं में भी इस मूर्त्तिपूजादि का प्रमाण नहीं था।

---

dying out' in 'The Illustrated Weekly of India' dated 3.9 79) उधर पारिवारिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ भी आड़े आ रही हैं। पहले ऐसे लोगों को राजकीय (राजा-महाराजाओं का) संरक्षण प्राप्त था, अब वह भी जाता रहा। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों में वेद के प्रति पहले-सा उत्साह कैसे बना रह सकता था?

---

१. शाखा शब्द वेद-शाखाओं में मुख्य है। वेदाङ्ग उपाङ्ग और उपवेदों के लिए यहाँ 'शाखा' शब्द का प्रयोग गौण है। शाखा शब्द पञ्चपादी (५।२५), तथा दशपादी (३।५६) उणादिसूत्रों में 'शीङ् शये' धातु से व्युत्पादित है। अतः अर्थ होगा—वेदार्थ जिनमें सोता=रहता है। निरुक्तकार ने १।४; ६।३२ में 'शक्नोति' से भी शाखा का निर्वचन दर्शाया है। तदनुसार 'जिनसे वेदार्थ जाना जा सकता है' वे शाखा कहाती हैं। ग्रन्थकार ने इसी सामान्य अर्थ को यहाँ स्वीकार करके वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि को भी 'शाखा' कहा है।

२. जैमिनि आचार्य का प्रसिद्ध न्याय है—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्'। मीमांसा १।३।२॥

३. अर्थात् लुप्त।

४. प्रसिद्ध=वर्तमान में उपलब्ध।

५. जैमिनि आदि व्यास के शिष्य-प्रशिष्य ही तो अन्तिम ११२७ शाखाओं के प्रवक्ता थे। अतः इनके काल में इनके असद्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। उलटा इनके समय में तो अनेक प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त शाखायें भी रही होंगी। महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल भी भारतयुद्ध से अधिक से अधिक५००-१००० वर्ष पश्चात् रहा होगा। इनके समय में वैदिक ग्रन्थों का पठन-पाठन अविच्छिन्न परम्परा से होता था। ग्राम-ग्राम में वैदिक शाखाओं का अध्ययनाध्यापन होता था। द्र०—महाभाष्य ४।३।१०१—'ग्रामे-ग्रामे च काठकं कालापकं च प्रोच्यते'।

६. योगशास्त्र के प्रवक्ता पतञ्जलि महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि से भिन्न एवं प्राचीनकाल के हैं। सम्भवतः सामवेद से सम्बद्ध निदानसूत्र इन्हीं का प्रवचन है।

[शाखायें वेद नहीं हैं]

ये सब शाखा वेद नहीं हैं। क्योंक इनमें ईश्वरकृत वेदों की प्रतीक धरके व्याख्या, और संसारी जनों के इतिहासादि लिखे हैं। इसलिये वेद में कभी नहीं हो सकते[1]। वेदों में तो केवल मनुष्यों को विद्या का उपदेश किया है। किसी मनुष्य का नाममात्र नहीं। इसलिये मूर्त्तिपूजा का सर्वथा खण्डन है।

[मूर्त्तिपूजा से श्रीरामचन्द्रादि की निन्दा और उपहास]

देखो, मूर्त्तिपूजा से श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्ण नारायण और शिवादि[2] की बड़ी निन्दा और उपहास होता है। सब कोई जानते हैं कि वे बड़े महाराजाधिराज, और उनकी स्त्री सीता तथा रुक्मिणी लक्ष्मी और पार्वती आदि महाराणियाँ थीं। परन्तु जब उनकी मूर्त्तियाँ मन्दिर आदि में रखके पुजारी लोग उनके नाम से भींख माँगते हैं। अर्थात् उनको भिखारी बनाते हैं कि—

"आओ महाराज! महाराजा जी! सेठ साहूकारो! दर्शन कीजिये। बैठिये चरणामृत लीजिये, कुछ भेंट चढ़ाइये। महाराज! सीताराम, कृष्ण-रुक्मिणी वा राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण और महादेव-पार्वती जी को तीन दिन से बालभोग वा राजभोग अर्थात् जलपान वा खानपान भी नहीं मिला है। आज इनके पास कुछ भी नहीं है। सीता आदि को नथुनी[3] आदि राणीजी वा सेठानीजी! बनवा दीजिये। अन्न आदि भेजो, तो रामकृष्णादि को भोग लगावें।"

"वस्त्र सब फट गये हैं। मन्दिर के कोने सब गिर पड़े हैं। ऊपर से चूता है। और दुष्ट चोर जो कुछ था, उसे उठा ले गये। कुछ ऊँदरों=चूहों ने काट-कूट डाले। देखिये एक दिन ऊँदरों ने ऐसा अनर्थ किया कि इनकी आँख भी निकालके भाग गये। अब हम चाँदी की आँख न बना सके, इसलिये कौड़ी की लगादी है।"

[4]रामलीला और रासमण्डल भी करवाते हैं। सीताराम राधाकृष्ण नाच रहे हैं, राजा और महन्त आदि उनके सेवक आनन्द में बैठे हैं। मन्दिर में सीतारामादि खड़े और पुजारी वा महन्तजी आसन अथवा गद्दी पर तकिया लगाये बैठते हैं।

महागरमी में भी ताला लगा भीतर बन्ध कर देते हैं, और आप सुन्दर वायु में पलंग बिछाकर सोते हैं। बहुत से पुजारी अपने नारायण को डब्बी में बन्ध कर, ऊपर से कपड़े आदि बाँध गले में लटका लेते हैं। जैसे कि वानरी अपने बच्चे को गले में लटका लेती है, वैसे पुजारियों के गले में भी लटकते हैं।

जब कोई मूर्त्ति को तोड़ता है, तब हाय-हाय कर छाती पीट बकते हैं कि—[5]"सीतारामजी राधाकृष्णजी और शिवपार्वती को दुष्टों ने तोड़ डाला!! अब दूसरी मूर्त्ति मँगवाकर, जो कि अच्छे शिल्पी ने संगमरकर की बनाई हो, स्थापन कर पूजना चाहिये। नारायण को घी के विना भोग नहीं लगता। बहुत नहीं तो थोड़ा-सा अवश्य भेज देना'। इत्यादि बातें इन पर ठहराते हैं।

शाखायें वेद नहीं—इस विषय का विस्तृत विवेचन हमारे 'वेदमीमांसा' अथवा 'भूमिकाभास्कर' नामक ग्रन्थों के अन्तर्गत 'वेदसंज्ञा' प्रकरण में देखना चाहिए।

---

१. अर्थात् इनकी गणना वेदों में कभी नहीं हो सकती। वा—संसारी जनों के इतिहासादि वेद में कभी नहीं हो सकते।
२. यहाँ ऐतिहासिक नारायण और शिव व्यक्ति का निर्देश जानना चाहिये।
३. अर्थात् नथ।
४. पूर्व कथन पुजारियों का कथनोपकथन-रूप है। यह सन्दर्भ ग्रन्थकार का स्थितिनिदर्शनात्मक है।
५. यह सन्दर्भ पुन: पुजारियों का कथनोपकथनात्मक है।

और रासमण्डल वा रामलीला के अन्त में सीताराम वा राधाकृष्ण से भीख मँगवाते हैं। जहाँ मेला-ठेला होता है, वहाँ छोकरे पर मुकुट धर कन्हैया बना मार्ग में बैठाकर भीख मँगवाते हैं। इत्यादि बातों को आप लोग विचार लीजिये कि कितने बड़े शोक की बात है।

भला कहो तो, सीतारामादि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक थे? यह उनका उपहास और निन्दा नहीं, तो क्या है? इससे बड़ी अपने माननीय पुरुषों की निन्दा होती है। भला जिस समय ये विद्यमान थे, उस समय सीता रुक्मिणी लक्ष्मी और पार्वती को सड़क पर, वा किसी मकान में खड़ी कर पुजारी कहते कि—'आओ इनका दर्शन करो, और कुछ भेंट-पूजा धरो' तो सीता-रामादि इन मूर्खों के कहने से ऐसा काम कभी न करते, और न करने देते। जो कोई ऐसा उपहास उनका करता है, उसको विना दण्ड दिये कभी छोड़ते? हाँ, जब उन्होंसे दण्ड न पाया, तो इनके ही कर्मों ने पुजारियों को बहुत-सी मूर्त्ति-विरोधियों से प्रसादी[1] दिलादी, और अब भी मिलती है। और जबतक इस कुकर्म को न छोड़ेंगे, तबतक मिलेगी।

इसमें क्या सन्देह है कि जो आर्यावर्त्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाणादि-मूर्त्तिपूजकों का पराजय इन्हीं कर्मों से होता है। क्योंकि पाप का फल दुःख है। इन्हीं पाषाणादि मूर्त्तियों के विश्वास से बहुत-सी हानि हो गई। जो न छोड़ेंगे तो प्रतिदिन अधिक-अधिक होती जायगी।

[वाममार्गियों के मन्त्रों और मारण-मोहनादि की समीक्षा]

इनमें से **वाममार्गी** बड़े भारी अपराधी हैं। जब वे चेला करते हैं, तब साधारण को—

'दं दुर्गायै नमः। भं भैरवाय नमः।
ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चै ॥'

इत्यादि मन्त्रों का उपदेश कर देते हैं। और बंगाले में विशेष करके **एकाक्षरी मन्त्रोपदेश** करते हैं। जैसे—**ह्रीं, श्रीं, क्लीं** (शावरतन्त्र, बं० प्रकी० अ० ४४) इत्यादि। और धनाढ्यों का पूर्णाभिषेक करते हैं। ऐसे ही **दश-महाविद्याओं के मन्त्र**—

'ह्रां ह्रीं ह्रूँ वगलामुख्यै फट् स्वाहा' ॥ शा० त० बं० प्रकी० अ० ४१।
कहीं-कहीं—**'हूं फट् स्वाहा'** ॥ कामरत्नतन्त्र, बीजमन्त्र ४।

पुराणों को तो किसी प्रकार वैदिक शाखाओं की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विभिन्न सम्प्रदायों के पूर्वाग्रह से ग्रस्त सामान्य लोगों द्वारा रचित गपोड़ों से भरपूर इन ग्रन्थों को आश्वलायन, शौनक, कठ, पिप्पलाद प्रभृति ऋषियों द्वारा प्रणीत वैदिक शाखाओं के तुल्य कदापि नहीं माना जा सकता। सम्प्रति उपलब्ध वैदिक संहिताओं और शाखाओं में पौराणिक विधि-विधानों को न पाकर अनुपलब्ध शाखाओं में उनके अस्तित्व की कल्पना करना आत्म-प्रवञ्चना से अधिक कुछ नहीं।

वाममार्गी—वाममार्गियों ने अपने शास्त्रों को 'आगम' की संज्ञा दी है। आगम का मनःकल्पित अर्थ करते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मत्तं श्रीवासुदेवस्य तस्माद् आगम उच्यते ॥

अर्थात्—यह आगमशास्त्र शिव के मुख से निकला और पार्वती के मुख में चला गया। वस्तुतः आगम कहलानेवाले तन्त्रग्रन्थों की रचना शिव-पार्वती के कपोल-कल्पित संवादों के रूप में हुई है। इन

---

१. अर्थात् मूर्त्तिभञ्जन लूटमार मारपीट मूर्त्ति की चोरी आदिरूप प्रसादी।

और **मारण मोहन उच्चाटन विद्वेषण वशीकरण** आदि प्रयोग करते हैं। सो मन्त्र से तो कुछ भी नहीं होता, किन्तु क्रिया से सब कुछ करते हैं। जब किसी को मारने का प्रयोग करते हैं, तब इधर करानेवाले से धन लेके आटे वा मट्टी का पुतला, जिसको मारना चाहते हैं, उसका बना लेते हैं। उसकी छाती नाभि कण्ठ में छुरे प्रवेश कर देते हैं। आँख हाथ पग में कीलें ठोकते हैं। उसके ऊपर भैरव वा दुर्गा की मूर्त्ति बना हाथ में त्रिशूल दे, उसके हृदय पर लगाते है। एक वेदी बनाकर माँस आदि का होम करने लगते हैं। और उधर दूत आदि भेजके उसको विष आदि से मारने का उपाय करते हैं। जो अपने पुरश्चरण के बीच में उसको मार डाला, तो अपने को भैरव देवी की सिद्धिवाले बतलाते हैं। '**भैरवो भूतनाथश्च**' इत्यादि का पाठ करते हैं।

'मारय-मारय, उच्चाटय-उच्चाटय, विद्वेषय-विद्वेषय, छिन्धि-छिन्धि, भिन्धि-भिन्धि, वशीकुरु-वशीकुरु, खादय-खादय, भक्षय-भक्षय, त्रोटत-त्रोटय, नाशय-नाशय, मम शत्रून् वशीकुरु-वशीकुरु, हुँ फट् स्वाहा' ॥ कामरत्नतन्त्र, उच्चाटन प्रक० मं० ५-७॥

इत्यादि मन्त्र जपते। मद्यमाँसादि यथेष्ट खाते-पीते। भृकुटी के बीच में सिन्दूर-रेखा देते। कभी-कभी काली आदि के लिये किसी आदमी को पकड़ मार होम कर कुछ-कुछ उसका माँस खाते भी हैं। जो कोई भैरवीचक्र में जावे, मद्यमाँस न पीवे न खावे, तो उसको मार होम कर देते हैं। उनमें से जो '**अघोरी**' होता है, वह मृत मनुष्य का भी माँस खाता है। **अजरी-बजरी** करनेवाले विष्ठा मूत्र भी खाते-पीते हैं।

आगमों ने वैदिक ही नहीं, स्मार्त्त एवं पौराणिक परिपाटियों को मिटाकर तान्त्रिक आचार पद्धति को ही प्रश्रय दिया। उनके अनुसार—

१—कृते श्रुत्युक्तमार्गो हि त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे पुराणप्रोक्तः कलौ आगमसंमतः॥—दिव्यानन्द सरस्वती : युगधर्म पृष्ठ ३

अर्थात्—सतयुग में वेदमार्ग, त्रेता में स्मृतिप्रोक्त मार्ग, द्वापर में पुराणोक्त मर्यादाओं का अनुसरण किया जाता है, परन्तु कलियुग में तन्त्रोक्त मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए।

२—निर्वीर्या श्रौतजातीया विषहीनोऽरगा इव।
आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः॥

अर्थात्—कलियुग में वेदमन्त्रों की स्थिति विषहीन सर्प के समान हो गई है। अतः बुद्धिमान् को चाहिए कि वह आगमोक्त विधान से ही देवार्चन करे।

३—कलौ प्राबल्यसमये सर्वधर्मविवर्जिते।
गोपनात् कुलधर्मस्य कौलोऽपि नारकी भवेत्॥

अर्थात्—कलियुग के प्रबल होने पर अन्य (वैदिक आदि) धर्म निर्वीर्य हो जाते हैं। तब यदि कौलिक (वाममार्गी) पुरुष अपने कुलधर्म को छिपायेंगे तो वे नरकगामी होंगे। वाममार्गियों ने शास्त्रीय एवं परम्परागत मर्यादाओं का पालन करनेवाले को तो 'पशु' संज्ञा प्रदान की है तथा अमर्यादित स्वैराचार बरतनेवालों को 'शिव' कहा है। उनके अनुसार—

४—घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेति पञ्चमम्।
कुलं शीलं तथा जातिरष्ट पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धः भवेज्जीवः पाशमुक्तो सदा शिवः॥
—दिव्यानन्द सरस्वती : कुलार्णवतन्त्र-तत्त्व विवेचन, पृष्ठ १२ पर उद्धत

[चोलीमार्गी और बीजमार्गियों की लीला]

एक **चोलीमार्ग** वाले और दूसरे **बीजमार्गी** भी होते हैं। **चोलीमार्गवाले** एक गुप्त स्थान वा भूमि में एक स्थान बनाते हैं। वहाँ सब की स्त्रियाँ पुरुष लड़का-लड़की बहिन माता पुत्रवधू आदि सब इकट्ठे हो सब लोग मिल-मिलाकर माँस खाते मद्य पीते। एक स्त्री को नंगी कर उसके गुप्त इन्द्रिय की पूजा सब पुरुष करते हैं। और उसका नाम **'दुर्गादेवी'** धरते हैं। एक पुरुष को नंगा कर उसके गुप्त इन्द्रिय की पूजा सब स्त्रियाँ करती हैं।

जब मद्य पी-पी के उन्मत्त हो जाते हैं, तब स्त्रियों के छाती के वस्त्र जिसको **'चोली'** कहते हैं, एक बड़ी मट्टी की नाँद में सब वस्त्र मिलाकर रखके एक-एक पुरुष उसमें हाथ डालके जिसके हाथ में जिसका वस्त्र आवे, वह माता बहिन कन्या और पुत्रवधू क्यों न हो, उस समय के लिए वह उसकी स्त्री

अर्थात्—घृणा, लज्जा, भय, शंका और जुगुप्सा, कुलमर्यादा का पालन, शील का आचरण तथा जातिस्वीकृत अनुशासन—ये आठ पाश हैं। समग्र लज्जा, शंका, जुगुप्सा, भय, घृणा आदि सहज भावों तथा कुल, शील और सामाजिक मर्यादाओं को त्यागनेवाला पाशमुक्त होकर सदा शिव की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत आचरण करनेवाले की पशुसंज्ञा है। मांस-मदिरा आदि का सेवन करने में भी उन्होंने अपने ढंग की मर्यादाएँ बना रक्खी हैं। तदनुसार तन्त्रोक्त विधि के विपरीत मांस-मदिरा आदि का सेवन करना निषिद्ध है, किन्तु उनके द्वारा नियत विधि के अनुसार गौ-ब्राह्मण की हत्या करना भी धर्म हो जाता है—

तस्मादविधिना मांसं मद्यं न सेवते क्वचित्।
तृणं वाप्यविधानेन छेदयेन्न कदाचन॥
विधिना गां द्विजं वापि हत्वा पापैर्न लिप्यते॥—वही, पृष्ठ १४

वैदिक एवं स्मार्त्त मर्यादा के अनुसार तो ब्रह्महत्या, सुरापान, गोवध आदि सभी महापातक माने गये हैं—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥—मनुस्मृति ११।५४

वाममार्गियों से प्रभावित होकर ही महीधर, उवट, सायण आदि ने वेदमन्त्रों के मनमाने अर्थ करके वेदों को कलंकित किया और मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार कर दी।

वाममार्गियों ने तो मद्यपान, अगम्यागमन (मैथुन) **और मांसभक्षण को भी आगमोक्त** तथा तन्त्रप्रतिपादित रीति से सुसंस्कृत कर उपयोग में लाने की आज्ञा दी है—

असंस्कृतं पिबेद् द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम्।
अप्रोक्षितं खादयेन् मांसं रौरवे नरकं व्रजेत्॥

इसी वाममार्ग में ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत 'दुं दुर्गायै नमः' जैसे तथाकथित मन्त्रों के जाप का विधान है। चोलीमार्ग और बीजमार्ग वाममार्गियों की ही अवान्तर शाखायें हैं। चोलीमार्गी व्यभिचार-प्रधान होते हैं। बीजमार्गी वीर्यपान जैसे घृणित कृत्य में भी संकोच नहीं करते। अघोरी भी इन्हीं के अन्तर्गत हैं, जो मनुष्य के मल-मूत्र को भी खा-पी जाते हैं और जिन्हें नरमांसभक्षण में भी संकोच नहीं होता। आश्चर्य है कि धर्म के नाम पर ऐसे कुकृत्यों को भी मुक्ति का साधन माना जाता है।

'विचारसागर' आदि ग्रन्थों के रचयिता साधु निश्चलदास अपने विचारसागर ग्रन्थ सप्तम तरंग में वाममार्ग के सम्बन्ध में लिखते हैं—"वाममार्ग जिन ग्रन्थन में है सो धर्मशास्त्रतें विरुद्ध है, यातें

हो जाती है ! ! आपस में कुकर्म करने और बहुत नशा चढ़ने से जूते आदि से लड़ते-भिड़ते हैं। जब प्रातः काल कुछ अंधेरे अपने-अपने घर को चले जाते हैं, तब माता माता, कन्या कन्या, बहिन बहिन और पुत्रवधू पुत्रवधू हो जाती हैं।

अप्रमाण है। यद्यपि नामतन्त्र शिव ने किया है तथापि सकलशास्त्र और वेद से विरुद्ध है, यातें प्रमाण नहीं। जैसे विष्णु के बुद्ध अवतार ने नास्तिक ग्रन्थ किये हैं सो वेदविरुद्ध हैं, यातें प्रमाण नहीं। तैसें शिवकृत वामतन्त्र बी अत्यन्त विरुद्ध है। मदिरादिक अत्यन्त अशुद्ध पदार्थन का तामें ग्रहण लिखा है। और उत्तम पदार्थन के जो नाम हैं सोई मलिन पदार्थन के नाम लोकवंचन के निमित्त कहे हैं। मदिरा का नाम तीर्थ, मांस का नाम शुद्ध, मदिरापात्र का नाम पद्म, प्याज़ का नाम व्यास, लशुन का नाम शुकदेव, मदिराकारी कलाल का नाम दीक्षित कहे हैं। तैसें वेश्यासेवी, चर्मकारी आदि चाण्डाली, चाण्डालीसेवीकूं प्रयागसेवी, काशीसेवी कहे हैं। और भैरवीचक्र में स्थित जो चाण्डालादिक हैं तिनकूं ब्राह्मण कहे हैं। और अत्यन्त व्यभिचारिणी कूं योगी कहै हैं। ऐसे अनेक प्रकार से निषिद्ध तिनका व्यवहार है। पूजन के समय अनेक दोषवती स्त्रीकूं उत्तम शक्ति कहे हैं। जाति की चाण्डाली अत्यन्त व्यभिचारिणी रजस्वला स्त्रीकूं देवीबुद्धि से पूजन करै हैं। ताकी उच्छिष्ट मदिरापान करै हैं औ जो अधिक मदिरापान सें जो वमन करिदेवैं ताकूं पृथिवी में नहीं गिरनै देवैं हैं। किन्तु आचार्य सहित दूसरे सावधान भक्षण करै हैं। वमनकूं भैरवी कहै हैं। औमें जिह्वा लगाकै मन्त्रन का जप करै हैं। १. मदिरा, २. मांस, ३. मत्स्य, ४. मुद्रा और ५. मैथुन--इन पाँच मकारकूं भोगमोक्षनिमित्त सेवन करै हैं। प्रथम द्वितीयादिक तिन मकारन के अप्रसिद्ध नामनतें व्यवहार करै हैं। इसतें आदि लेके वामतन्त्र का सकल व्यवहार इस लौकतें औ परलोक तें भ्रष्ट करै हैं। इसी कारणतें कर्णच्छेदी योगी और अवधूत गुसाईं तैसे अनेक संन्यासी औ ब्राह्मणादिक वाममार्गकूं सेवन करै हैं तौ वी लोकवेदनिन्दित जानिकै गुप्त राखे हैं। अधिक क्या कहैं ? वामतन्त्र की रीति सुनिकैं म्लेच्छ के बी रोमांच होय जावैं, ऐसा निन्दित वामतन्त्र है। सर्वंगी जो अभक्ष्य भक्षण कहे हैं सो सारे निन्दित मार्ग वामतन्त्र में कहै हैं। अति नीच व्यवहार लिखने योग्य नहीं। यातें विशेष प्रकार लिखा नहीं। सर्वथा वामतन्त्र त्यागने योग्य है।"

देवीभागवत के अनुसार वाम, कापालक, कौलिक तथा भैरवागम वेद, स्मृति से विरुद्ध तामस ग्रन्थ हैं—

श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तामसान्येव सर्वशः।
वामं कापालकं चैव कौलकं भैरवागमः॥

यह भी माना गया है कि शिव ने ही दक्ष, भृगु और दधीचि के शापवश इन तामस आगमों की रचना लोगों को मुग्ध करने के लिए की—

शिवेन मोहनार्थाय प्रणीतो नान्यहेतुकः।
दक्षशापाद् भृगोः शापाद् दधीचस्य शापतः॥

आगमों के सम्प्रदायानुसार शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य नामक पाँच मुख्य भेद हैं। इनकी रचना शंकर ने की है—

शैवाश्च वैष्णवाश्चैव सौरा शाक्तास्तथैव च।
गाणपत्या आगमाश्च प्रणीताः शंकरेण तु॥

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "शाक्तमत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार के भी चार भेद हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार

और **बीजमार्गी** स्त्रीपुरुष के समागम कर जल में वीर्य डाल मिलाकर पीते हैं। ये पामर ऐसे कर्मों को मुक्ति के साधन मानते हैं। विद्या-विचार-सज्जनतादि रहित होते हैं।

[**शैवमत का खण्डन**]

प्रश्न—शैवमत वाले तो अच्छे होते हैं ?

उत्तर—अच्छे कहाँ से होते हैं ? **'जैसा प्रेतनाथ वैसा भूतनाथ'**। जैसे वाममार्गी मन्त्रोपदेशादि से उनका धन हरते हैं, वैसे शैव भी **'ओं नमः शिवाय'** इत्यादि **पञ्चाक्षरादि मन्त्रों** का उपदेश करते, रुद्राक्ष भस्म धारण करते, मट्टी के और पाषाणादि के लिङ्ग बनाकर पूजते हैं।

और हर हर बं बं और बकरे के शब्द के समान बड़-बड़-बड़ मुख से शब्द करते हैं। उसका कारण यह कहते हैं कि **ताली बजाने** और **बं बं शब्द बोलने** से पार्वती प्रसन्न, और महादेव अप्रसन्न होता है। क्योंकि जब **भस्मासुर** के आगे से **महादेव** भागे थे, तब बं बं और ठठ्ठे की तालियाँ बजी थीं। और **गाल बजाने** से पार्वती अप्रसन्न और महादेव प्रसन्न होते हैं, क्योंकि पार्वती के पिता **दक्ष प्रजापति** का शिर काट आगी में डाल उसके धड़ पर बकरे का शिर लगा दिया था। उसी की नकल के तुल्य गाल बजाना मानते हैं। **शिवरात्रिप्रदोष का व्रत** करते हैं, इत्यादि से मुक्ति मानते हैं।

इसलिये जैसे वाममार्गी भ्रान्त हैं, वैसे शैव भी। इनमें विशेषकर **कनफटे नाथ गिरी पुरी वन आरण्य पर्वत** और **सागर** तथा गृहस्थ भी शैव होते हैं। कोई-कोई **'दोनों घोड़ों पर चढ़ते हैं'** अर्थात् वाम और शैव दोनों मतों को मानते हैं। और कितने ही **वैष्णव** भी रहते हैं। उनका—

अन्तः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्तीह महीतले॥ यह तन्त्र का श्लोक है॥[1]

तथा कौलाचार। 'षट्शाम्भव रहस्य' नामक ग्रन्थ में बताया है कि वैदिक आचार से वैष्णव आचार श्रेष्ठ है, उससे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव से शाक्त आचार श्रेष्ठ है" (नाथ सम्प्रदाय पृ० ५)। इस प्रकार वाममर्गियों ने प्राचीन वैदिक तथा वर्त्तमान में प्रचलित लोकमर्यादाओं का तिरस्कार करके वामाचार के साधकों को गौरवान्वित किया है।

शैवमत—शिवपुराण में कथा आती है कि अपने श्वसुर दक्ष प्रजापति के द्वारा यज्ञ में आमन्त्रित न किये जाने तथा पति की इच्छा के विपरीत शिवपत्नी सती के पिता के यज्ञ में सम्मिलित होने से भगवान् शिव रुष्ट हुए। तत्पश्चात् जब रुद्रगणों ने यज्ञ विध्वंस किया तो दक्ष को भी मारकर उसका सिर यज्ञकुण्ड में डाल दिया। कालान्तर में दक्ष को पुनरुज्जीवित करने के लिए जब शिव ने उसके धड़ पर बकरे का सिर लगा दिया तो वह अजमुख दक्ष बं बं कर शिव को प्रसन्न करने लगा। तब से यह लोक प्रचलित धारणा बन गई कि बकरे की तरह गाल बजाने से तथा बं बं का कोलाहल करने से शिव प्रसन्न होते हैं।

शैवों का कर्मकाण्ड एवं आचारनिष्ठा भी अन्य साम्प्रदायिक निष्ठाओं के समान ही संकीर्ण तथा मिथ्या है। भस्म, रुद्राक्ष धारण, शिवलिंग पूजा तथा 'नमः शिवाय' इस पंचाक्षरी मन्त्र का जाप ही शैवों की मान्यता के अनुसार मोक्षदायक है।

शैव सम्प्रदाय के अवान्तर भेद भी कई हैं। कनफटे और नाथ, गिरि, पुरी, वन, अरण्य, पर्वत, सागर आदि नामधारी संन्यासी भी शैवमत के अनुयायी हैं। नाथ सम्प्रदाय के कई साधु कालान्तर में

---

१. द्र०—पाठभेद से कौलोपनिषद्; कुलार्णवतन्त्र उल्लास ११, बल्लभदिग्विजय, पृष्ठ २६२। स्वामी वेदानन्द।

भीतर **शाक्त** अर्थात् वाममार्गी, बाहर **शैव** अर्थात् रुद्राक्ष भस्म धारण करते हैं, और सभा में **वैष्णव** कहाते हैं कि हम विष्णु के उपासक हैं। ऐसे नाना प्रकार के रूप धारण करके वाममार्गी लोग पृथिवी में विचरते हैं ॥

[वैष्णवमत का खण्डन]

प्रश्न—**'वैष्णव'** तो अच्छे हैं?

उत्तर—क्या धूड़[1] अच्छे है, जैसे वे वैसे ये हैं। देखलो वैष्णवों की लीला—अपने को विष्णु का दास मानते हैं। उनमें से **श्रीवैष्णव,** जो कि **चक्राङ्कित** होते हैं, वे अपने को सर्वोपरि मानते हैं। सो कुछ भी नहीं है।

गृहस्थी भी हो गये। कुण्डल पहनना तथा नाथान्त नाग रखना इन शैव गृहस्थों की पहचान है।

अन्तः शाक्ताः—पाठभेद से यह श्लोक अनेक तान्त्रिक ग्रन्थों में आता है। कौलोपनिषद् में यह इस प्रकार आता है—"अन्तः शाक्ता बहिः शैवा लोके ते खलु वैष्णवाः"। कुलार्णवतन्त्र के एकादश उल्लास में यह इस प्रकार है—"अन्तः कौलो बहिः शैवो जनमध्ये तु वैष्णवः। कौलं सुगोपयेद्देवि नारिकेलफलाम्बुवत्" ॥२८॥ "कुलधर्मादिकं सर्वं सर्वावस्थासु सर्वदा। गोपयेच्च प्रयत्नेन जननी जारगर्भवत्" ॥८४॥ इसी के नवम उल्लास में इस प्रकार लिखा है—"योगिनो विविधैर्वेशैर्नराणां हितकारिणः। भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः" ॥६६॥ "क्वचिच्छिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्। नानावेशधरो योगी विचरेज्जगतीतले ॥७४॥" वल्लभदिग्विजय पृष्ठ २६२ पर—"दर्शयेद्वैष्णवीं मुद्रां पूजाकाले तदागमे। अन्तः शाक्ता बहिश्शैवास्सभामध्ये च वैष्णवाः" ॥६९॥ "नानारूपधरैः कौलैः स्थातव्यं स्वार्थसिद्धये" ॥७०॥ अर्थ प्रायः समान है। केवल एक बात अधिक है और वह यह कि यहाँ स्पष्ट शब्दों में इस बहुरूपियेपन का हेतु स्वार्थसिद्धि कहा है।

कई लोग यह कहते देखे-सुने जाते हैं कि वाममार्ग एक विशिष्ट आध्यात्मिक साधना है, जिसे सत्यार्थप्रकाश के लेखक समझ नहीं सके। किन्तु जब हम शंकराचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक सभी को एक स्वर से वाममार्ग की भर्त्सना करते पाते हैं तो उनका यह विचार स्वतः खण्डित हो जाता है। वल्लभदिग्विजय के पृष्ठ ३६१ पर लिखा है—"पीतं पीतं च वमितं पीत्वा जन्म न विद्यते" ॥५९॥ "मकारपंचकैर्ज्ञेयं विजयाद्यासवं तथा। तस्मात् सदैव संसेव्यं पूजाकाले विशेषतः" ॥६१॥ "स्त्रीसंगतिः सदा भाव्या स्त्रीभिर्नरः सदाचरेत्। स्त्रीषु केलिं सदा कुर्यात् स्त्रियस्तु परदेवताः" ॥६२॥ अर्थात्—पी पी करके वमन किये हुए को फिर पिये तो उसका फिर जन्म नहीं होता। पाँच मकार भंग शराब आदि हैं, अतः सदा इनका सेवन करे, विशेषकर पूजा के समय। स्त्रीसंगति सदा करे, स्त्रियों के साथ उपहासादि भी करे। स्त्रियों से सदा क्रीड़ा करे, स्त्रियाँ सर्वोत्तम देवता हैं। इन वचनों के होते वाममार्ग को कुछ और बताना प्रवंचनामात्र है।

वैष्णवमत—रामानुजमतानुयायी अपने को वैष्णव कहते हैं। स्वामी शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त नहीं था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी स्वीकार था, तथापि भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जैसे दृढ़ आधार की अपेक्षा थी, वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्य (संवत् १०७३ वि०) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैत के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंशरूप जगत् के समस्त प्राणी हैं। जो उसी से उत्पन्न होते और उसी में लीन

---

१. अर्थात् 'धूल'।

[ललाट में विष्णुपद-चिह्न कहाँ से आया ?]

प्रश्न—क्यों सब कुछ नहीं ? सब कुछ है। देखो, ललाट में नारायण के चरणारविन्द के सदृश तिलक, और बीच में पीली रेखा श्री होती है, इसलिये हम **'श्रीवैष्णव'** कहाते हैं। एक नारायण को छोड़ दूसरे किसी को नहीं मानते। महादेव के लिङ्ग का दर्शन भी नहीं करते। क्योंकि हमारे ललाट में **'श्री'** विराजमान है, वह लज्जित होती है। **आलमन्दारादि**[1] स्तोत्रों के पाठ करते हैं। नारायण की मन्त्रपूर्वक पूजा करते हैं। मांस नहीं खाते, न मद्य पीते हैं। फिर अच्छे क्यों नहीं ?

उत्तर—इस तुम्हारे तिलक को **'हरिपदाकृति'**, इस पीली रेखा को **'श्री'** मानना व्यर्थ है। क्योंकि यह तो हाथ की कारीगरी और ललाट का चित्रण है। जैसा हाथी का ललाट चित्र-विचित्र करते हैं। तुम्हारे ललाट में विष्णु के पद का चिह्न कहाँ से आया ? क्या कोई वैकुण्ठ में जाकर विष्णु के पग का चिह्न ललाट में करा आया है ?

[कपाल में श्री, और काम महादरिद्रों के]

विवेकी—और श्री जड़ है, वा चेतन ?

वैष्णव—चेतन है।

विवेकी—तो यह रेखा जड़ होने से **'श्री'** नहीं। हम पूछते हैं कि श्री बनाई हुई है, वा विना बनाई ? जो विना बनाई है, तो यह श्री नहीं। क्योंकि इसको तो तुम नित्य अपने हाथ से बनाते हो। फिर श्री नहीं हो सकती। जो तुम्हारे ललाट में श्री हो तो कितने ही वैष्णवों का बुरा मुख अर्थात् शोभारहित क्यों दीखता है ? ललाट में श्री और घर-घर भीख माँगते, और सदावर्त्त लेकर पेट भरते क्यों फिरते हो ? यह बात [2]स्रीड़ी और निर्लज्जों की है कि कपाल में श्री और महादरिद्रों के काम हैं।

[परिकाल नामक वैष्णवभक्त डाकू की कथा]

इनमें एक **'परिकाल'** नामक वैष्णवभक्त था। वह चोरी डाका मार, छल कपट कर, पराया धन हर वैष्णवों के पास धर प्रसन्न होता था। एक समय उसको चोरी में पदार्थ कोई न मिला कि जिसको लूटे। व्याकुल होकर फिरता था। नारायण ने समझा कि हमारा भक्त दुःख पाता है। सेठजी का स्वरूप धर, अँगूठी आदि आभूषण पहिन, रथ में बैठके सामने आये। तब तो परिकाल रथ के पास गया। सेठ से कहा—'सब वस्तु शीघ्र उतार दो, नहीं तो मार डालूंगा'। उतारते-उतारते अँगूठी उतारने

हो जाते हैं। अतः इन जीवों के उद्धार का यही मार्ग है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी (ब्रह्म) का सामीप्य लाभ करने का प्रयत्न करें। रामानुज की शिष्य परम्परा देश में बराबर फैलती गई और जनता भक्ति मार्ग की ओर आकर्षित होती गई। रामानुज के सम्प्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना है। ईसा की १५वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्यपरम्परा में रामानन्द हुए। तात्त्विक दृष्टि से रामानुजाचार्य के मतानुयायी होते हुए भी उन्होंने उपासना के लिए वैकुण्ठनिवासी विष्णु के स्थान पर लोक में लीला विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इस प्रकार कालान्तर में वैष्णवों में भी नाना सम्प्रदाय बन गये। परन्तु मलतः रामानुजाचार्य के मतानुयायी ही वैष्णव कहलाते हैं। उन्हीं को चक्रांकित भी कहा जाता है।

---

१. तमिल बोली के स्तोत्र। भ० द०

२. स्रीड़ी=सीड़ी=विना विचारे काम करनेवाला।

में देर लगी। परिकाल ने नारायण की अँगुली काट अँगूठी ले ली। नारायण बड़े प्रसन्न हो चतुर्भुज शरीर बना दर्शन दिया। कहा कि--'तू मेरा बड़ा प्रिय भक्त है। क्योंकि सब धन मार लूट चोरी कर वैष्णवों की सेवा करता है, इसलिये तू धन्य है'। फिर उसने जाकर वैष्णवों के पास सब गहने धर दिये।

एक समय **'परिकाल'** को कोई साहूकार नौकर कर जहाज में बिठाके देशान्तर में ले गया। वहाँ से जहाज में सुपारी भरी। परिकाल ने एक सुपारी तोड़ आधा टकड़ा कर बनिये से कहा—'यह मेरी आधी सुपारी जहाज में धर दो, और लिख दो कि जहाज में आधी सुपारी परिकाल की है।'

बनिये ने कहा कि चाहे तुम हजार सुपारी ले लेना। परिकाल ने कहा—'नहीं, हम अधर्मी नहीं हैं, जो हम झूँठमूँठ लें। हमको तो आधी चाहिये'। बनिया बिचारा भोला-भाला था, उसने लिख दिया। जब अपने देश में बन्दर पर जहाज आया, और सुपारी उतारने की तैयारी हुई, तब परिकाल ने कहा—'हमारी आधी सुपारी दे दो'। बनिया वही आधी सुपारी देने लगा। तब परिकाल झगड़ने लगा। मेरी तो जहाज में आधी सुपारी हैं, आधा बाँट लूंगा। राजपुरुषों तक झगड़ा गया। परिकाल ने बनिये का लेख दिखलाया कि इसने आधी सुपारी देनी लिखी है। बनिया बहुतसा कहता रहा, परन्तु उसने न माना। आधी सुपारी लेकर वैष्णवों को अर्पण कर दी। तब तो वैष्णव बड़े प्रसन्न हुए। अब तक उस **'डाकू चोर परिकाल'** की मूर्त्ति मन्दिरों में रखते हैं।

यह कथा **भक्तमाल** में लिखी है। बुद्धिमान् देख लें कि **वैष्णव उनके सेवक और नारायण तीनों चोरमण्डली है, या नहीं ?** यद्यपि मतमतान्तरों में कोई थोड़ा अच्छा भी होता है, तथापि उस मत में रहकर सर्वथा अच्छा नहीं हो सकता।

[वैष्णवों में अनेक भेद]

अब जैसा वैष्णवों में फूट-टूट **भिन्न-भिन्न तिलक कण्ठी धारण** करते हैं—**रामानन्दी** बगल में गोपीचन्दन, बीच में लाल बिन्दु; **नीमावत** दोनों ओर पतली रेखा, बीच में काला बिन्दु; **माधव** काली

वैष्णवों का तिलक ऊर्ध्वपुण्ड्र कहलाता है, जो विष्णु के चरणों के सदृश तथा बीच में पीली रेखा से युक्त होता है। चक्रांकितों की धारणा है कि यह पीली रेखा 'श्री' अर्थात् 'लक्ष्मी' की प्रतीक है। रामानुजाचार्य के वेदान्तदर्शन आदि ग्रन्थों के भाष्य भी 'श्रीभाष्य' कहलाते हैं। मुसलमानों के शिया और सुन्नी सम्प्रदायों की भाँति शैवों और वैष्णवों का विरोध प्रसिद्ध है। भागवतपुराण में शैवों को पाखण्डी तथा सत् शास्त्रों का विरोधी कहा है---

भवव्रतधरा ये च ये तान् समनुव्रताः।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥—भाग० ४।२।२८

वैष्णव शिवलिंग के दर्शन में भी पाप समझते हैं। क्योंकि उनकी धारणा है कि इनके ललाट पर विराजमान लक्ष्मीजी पुरुषचिह्न लिंग को देखकर लज्जित होती हैं। रामानुजाचार्य दाक्षिणात्य थे। अतः वैष्णव सम्प्रदाय का उदय वहाँ होकर वह कालान्तर में इतस्ततः प्रचलित हुआ। 'ओं नमो नारायणाय' इनका मन्त्र है। तमिल भाषा में आलवार नामक सन्तों द्वारा रचित आलमन्दारादि स्तोत्र तथा भजन दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में आज भी पढ़े जाते हैं। मांस मदिरादि तामसी एवं अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करना वैष्णवों की आचारगत शुद्धता का प्रतीक है। परन्तु अन्य नाना व्रत, उपवास, पूजापाठ तथा बुद्धिबाह्य कर्मकाण्ड से बोझिल वैष्णव धर्म अपनी मूलभूत पवित्रता और सरलता से कोसों दूर जा चुका है।

रेखा; और **गौड बंगाली** कटारी के तुल्य; और **रामप्रसादवाले** दोनों चाँदला, रेखा के बीच में एक सफेद गोल टीका इत्यादि ।

इनका **कथन[1] विलक्षण-विलक्षण** है । रामानन्दी लाल रेखा को लक्ष्मी का चिह्न, और नारायण के हृदय में श्री, कृष्णचन्द्रजी के हृदय में राधा विराजमान है, इत्यादि कथन करते हैं ।

[तिलक का माहात्म्य और उसकी समीक्षा]

एक कथा **भक्तमाल** में लिखी है--"कोई एक मनुष्य वृक्ष के नीचे सोता था । सोता-सोता ही मर गया । ऊपर से काक ने विष्ठा कर दी । वह ललाट पर तिलकाकार हो गई थी । वहाँ यम के दूत उसको लेने आये । इतने में विष्णु के दूत भी पहुँच गये । दोनों विवाद करते थे कि यह हमारे स्वामी की आज्ञा है, हम यमलोक में ले जायेंगे । विष्णु के दूतों ने कहा कि--'हमारे स्वामी की आज्ञा है वैकुण्ठ में लेजाने की । देखो, इसके ललाट में वैष्णवी तिलक है । तुम कैसे ले जाओगे ?' तब तो यम के दूत चुप होकर चले गये । विष्णु के दूत सुख से उसको वैकुण्ठ में ले गये । नारायण ने उसको वैकुण्ठ में रक्खा ।"

देखो जब अकस्मात् तिलक बन जाने का ऐसा माहात्म्य है, तो जो अपनी प्रीति और हाथ से तिलक करते हैं, वे नरक से छूट वैकुण्ठ में जावें, तो इसमें क्या आश्चर्य है ! !

हम पूछते हैं कि जब छोटे से तिलक के करने से वैकुण्ठ में जावें, तो सब मुख के ऊपर लेपन करने, वा काला मुख करने, वा शरीर पर लेपन करने से वैकुण्ठ से भी आगे सिधार जाते हैं वा नहीं ? इससे ये बातें सब व्यर्थ हैं ।

[खाखियों की लीला]

अब इनमें बहुत से **खाखी** लङ्गोटी लगा लकड़े की धूनी तापते, जटा बढ़ाते, सिद्ध का वेश कर लेते हैं । बगुले के समान ध्यानावस्थित होते हैं । गाँजा भाँग चरस के दम लगाते, लाल नेत्र कर रखते, सबसे चुटकी-चुटकी अन्न पिसान[1] कौड़ी पैसे माँगते, गृहस्थों के लड़कों को बहकाकर चेले बना लेते हैं । बहुत करके मजूर लोग उनमें होते हैं ।

वैष्णवों ने अपने मत की महिमा प्रकाशित करने के लिए नाना प्रकार की कहानियाँ कल्पित कर उनके संग्रहरूप धर्मग्रन्थों को प्रचारित कर रक्खा है । इसी प्रकार के एक ग्रन्थ भक्तमाल से उदाहरण-रूप उद्धृत दो आख्यायिकाओं को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य अनैतिकता को प्रोत्साहन देना है । वैष्णवों के लिए अपने समानधर्मा वैष्णव के द्वारा किए गये हत्या, चोरी, डाका, लूट, दुराचार, बेईमानी आदि सभी प्रकार के अपराध क्षम्य हैं । परिकाल भक्त के चोरी और डाके से भी नारायण प्रसन्न हो जाते हैं तथा प्रवंचनापूर्वक जलपोत के स्वामी वणिक् से आधी सुपारी प्राप्त कर उसका कुछ भाग वैष्णवों में वितीर्ण कर देने से उसे पुण्यलाभ होता है । इस प्रकार की कथाओं को पढ़ने-सुननेवालों को सहज ही यह प्रेरणा मिलती है कि यदि तस्करी, कालाबाज़ारी, वस्तुओं में मिलावट, सेलटैक्स इनकमटैक्स की चोरी आदि से प्राप्त विपुल धनराशि में से कमीशनरूप कुछ भाग धर्म के नाम पर दान कर दिया जाय तो दाता समस्त पापों से छूट जाता है ।

पठितव्यं तदपि--इनसे पूछना चाहिए कि खाने-पीनेवाले भी मर जाते हैं और न खाने-पीनेवाले भी, तो फिर खाने के लिए घर-घर भीख माँगते क्यों फिरते हो ?

---

१. अर्थात् वैष्णवों का भिन्न-भिन्न प्रकार के तिलकों का प्रयोजन-कथन ।

कोई विद्या को पढ़ता हो, तो उसको पढ़ने नहीं देते। किन्तु कहते हैं कि—**'पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्'** ? सन्तों को विद्या पढ़ने से क्या काम ? क्योंकि विद्या पढ़नेवाले भी मर जाते हैं, फिर दन्त-कटाकट क्यों करना ? साधुओं को चार धाम फिर आना, सन्तों की सेवा करनी, रामजी का भजन करना पर्याप्त है। जो किसी ने मूर्ख **अविद्या की मूर्त्ति** न देखी हो, तो खाखीजी का दर्शन कर आवे। उसके पास जो कोई जाता है, उनको **'बच्चा-बच्ची'** कहते हैं। चाहे वे खाखीजी के बाप-मा के समान क्यों न हों ?

जैसे खाखीजी हैं, वैसे ही **रूँखड़-सूँखड़, गोदड़िये,** और **जमातवाले सुतरेसाई और अकाली, कनफटे, जोगी, औघड़ आदि सब एकसे हैं।**

[एक खाकी की रोचक कथा[2]]

"एक खाखी का चेला **'श्रीगणेशाय नमः'** घोखता-घोखता कुवे पर जल भरने को गया। **वहाँ** एक पण्डित बैठा था। वह उसको **'स्रीगनेसाजनमें'** घोखते देखकर बोला—"अरे साधु ! अशुद्ध घोखता है। **'श्रीगणेशाय नमः'** ऐसा घोख"। उसने झट लोटा भर गुरुजी के पास जा कहा कि—'एक बम्मन मेरे घोखने को असुद्ध कहता है।' ऐसा सुनकर झट खाखीजी उठा। कूप पर गया, और पण्डित से कहा—तूँ मेरे चेले को वहकाता है ? तूँ गुरु की लंडी क्या पढ़ा है ? देख तूँ एक प्रकार का पाठ जानता है, हम तीन प्रकार का जानते हैं—**'स्रीगनेसाजन्नमें'; 'स्रीगनेसायन्नमें'; श्रीगनेसायनमें'।**

पण्डित—सुनो साधुजी ! विद्या की बात बहुत कठिन है। विना पढ़े नहीं आती।

खाखी—चल बे ! सब विद्वानों को हमने रगड़ मारे। जो भाँग में घोट एकदम सब उड़ा दिये। सन्तों का घर वड़ा है। तू बाबूड़ा क्या जाने ?

पण्डित—देखो, जो तुमने विद्या पढ़ी होती, तो ऐसे अपशब्द क्यों बोलते ? सब प्रकार का तुमको ज्ञान होता।

खाखी—अबे तू हमारा गुरू बनता है ? तेरा उपदेश हम नहीं सुनते।

पण्डित—सुनो कहाँ से ? बुद्धि ही नहीं है। उपदेश सुनने-समझने के लिये विद्या चाहिये।

खाखी—जो सब वेदशास्त्र पढ़े, संन्तों को न माने, तो जानो कि वह कुछ भी नहीं पढ़ा।

पण्डित—हाँ, हम सन्तों की सेवा करते हैं, परन्तु तुम्हारे से हुर्दङ्गों की नहीं करते। क्योंकि **'सन्त'** सज्जन विद्वान् धार्मिक परोपकारी पुरुषों को कहते हैं।

खाखी—देख, हम रात-दिन नंगे रहते, धूनी तापते। गाँजा चरस के सैंकड़ों दम लगाते। तीन-तीन लोटा भाँग पीते। गाँजे भाँग धतूरा की पत्ता की भाजी=शाक बना खाते। संखिया और अफीम भी चट निगल जाते। नशा में गर्क रात-दिन बेग़म रहते। दुनिया को कुछ नहीं समझते। भीख माँगकर टिक्कड़ बना खाते। रातभर ऐसी खाँसी उठती, जो पास में सोवे उसको भी नींद कभी न आवे। इत्यादि सिद्धियाँ और साधूपन हममें है। फिर तू हमारी निन्दा क्यों करता है ? चेत बाबूड़े ! जो हमको दिक्क करेगा, हम तुमको भसम कर डालेंगे।

पण्डित—ये सब लक्षण असाधु मूर्ख और गवर्गण्डों के हैं, साधुओं के नहीं। सुनो, **'साध्नोति पराणि धर्मकार्य्याणि स साधुः'** जो धर्मयुक्त उत्तम काम करे, सदा परोपकार में प्रवृत्त हो, कोई दुर्गुण

---

१. पिसान=आटा।

२. यह कथा कुछ भेद से ग्रन्थकार ने 'व्यवहार-भानु' ग्रन्थ में भी लिखी है।

जिसमें न हो, विद्वान्, सत्योपदेश से सब का उपकार करे, उस को 'साधु' कहते हैं।

खाखी—चल बे ! तू साधू के कर्म क्या जाने ? सन्तों का घर बड़ा है। किसी सन्त से अटकना नहीं। नहीं तो देख एक चीमटा उठाकर मारेगा। कपाल फुड़वा लेगा।

पण्डित—अच्छा खाखी ! जाओ अपने आसन पर। हमसे बहुत गुस्से मत हो। जानते हो राज्य कैसा है ? किसी को मारोगे, तो पकड़े जाओगे। कारावास भोगोगे, बेंत खाओगे। वा कोई तुमको भी मार बैठेगा। फिर क्या करोगे ? यह साधु का लक्षण नहीं।

खाखी—चल बे चेले ! किस राक्षस का मुख दिखलाया ?

पण्डित—तुमने कभी किसी महात्मा का सङ्ग नहीं किया है, नहीं तो ऐसे जड़ मूर्ख न रहते।

खाखी—हम आप ही महात्मा हैं। हमको किसी दूसरे की गर्ज नहीं।

पण्डित—जिनके भाग्य नष्ट होते हैं, उनकी तुम्हारी-सी बुद्धि और अभिमान होता है।"

खाखी चला गया आसन पर, और पण्डित घर को गये।

[बूढ़े खाखी और चेले]

"जब सन्ध्या आर्त्ती हो गई, तब उस खाखी को बुड्ढा समझ बहुत से खाखी **'डण्डोत-डण्डोत'** कहते साष्टांग करके बैठे। उस खाखी ने पूछा—'अबे रामदासिये ! तू क्या पढ़ा है' ?

रामदास—महाराज ! मैंने **'बेस्नुसहसरनाम'** पढ़ा है।

खाखी जी— 'अबे गोबिन्ददासिये ! तू क्या पढ़ा है' ?

गोबिन्ददास—मैं **'रामसतवराज'** पढ़ा हूँ। अमुक खाखीजी के पास से।

तब रामदास बोला कि—'महाराज ! आप क्या पढ़े हैं ?'

खाखी जी—हम गीता पढ़े हैं।

रामदास—किसके पास ?

खाखी जी—चल बे छोकरे ! हम किसीको गुरू नहीं करते। देख, हम **'परागराज'** में रहते थे। हमको अक्खर नहीं आता था। जब किसी लम्बी धोतीवाले पण्डित को देखता था, तब गीता के गोटके में पूछता था कि इस कलङ्गीवाले अक्खर का क्या नाम है ? ऐसे पूछता-पूछता अठारा अध्याय गीता रगड़ मारी। गुरू एक भी नहीं किया।"

भला ऐसे विद्या के शत्रुओं को अविद्या घर करके ठहरे नहीं, तो कहाँ जाय ?

[खाखी कुछ भी अच्छा काम नहीं करते]

ये लोग विना नशा, प्रमाद, लड़ना, खाना, सोना, झाँझ पीटना, घण्टा-घडियाल, शङ्ख बजाना, धूनी चिता रखनी, नहाना-धोना, सब दिशाओं में व्यर्थ घूमते फिरने के अन्य कुछ भी अच्छा काम नहीं करते। चाहे कोई पत्थर को भी पिंघला लेवे, परन्तु इन खाखियों के आत्माओं को बोध कराना कठिन है। क्योंकि बहुधा वे शूद्रवर्ण मजूर किसान कहार आदि अपनी मजूरी छोड़ **केवल खाख रमाके वैरागी खाखी आदि हो जाते हैं।** उनको विद्या वा सत्सङ्ग आदि का माहात्म्य नहीं जान पड़ सकता।

[भिन्न-भिन्न मन्त्र और उनका उपदेश]

इनमें से **नाथों** का मन्त्र—**'नमः शिवाय'**। **खाखियों** का—**'नृसिंहाय नमः'** **रामावतों** का—**'श्रीरामचन्द्राय नमः'**, अथवा **'सीतारामाभ्यां नमः'**। **कृष्णोपासकों** का—**'श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः'**। **'नमो भगवते वासुदेवाय'**, और **बङ्गालियों** का **'गोविन्दाय नमः'**। इन मन्त्रों को कान में पढ़नेमात्र से शिष्य कर लेते हैं। और ऐसी-ऐसी शिक्षा करते हैं कि—बच्चे ! **तूंबे' का मन्त्र** पढ़ले—

'जल पवितर सथल पवितर, और पवितर कुआ
शिव कहे सुन पार्वती, तूंबा[1] पवितर हुआ' ॥[2]

भला ऐसे की योग्यता साधु वा विद्वान् होने अथवा जगत् के उपकार करने की कभी हो सकती है ? खाखी रात-दिन लक्कड़ छाने=जङ्गली कण्डे जलाया करते हैं। एक महीने में कई रुपये की लकड़ी फूंक देते हैं। जो एक महीने की लकड़ी के मूल्य से कम्बलादि वस्त्र ले लें, तो शतांश धन से आनन्द में रहें। उनको इतनी बुद्धि कहाँ से आवे ?

और अपना नाम उसी धूनी में तपने ही से **'तपस्वी'** धर रक्खा है। जो इस प्रकार तपस्वी हो सकें, तो जङ्गली मनुष्य इनसे भी अधिक तपस्वी हो जावें। जो जटा बढ़ाने, राख लगाने, तिलक करने से तपस्वी हो जाय, तो सब कोई कर सके। ये ऊपर के त्यागस्वरूप और भीतर के महासंग्रही होते हैं।

[कबीरपन्थ की समीक्षा]

प्रश्न—**'कबीरपन्थी'** तो अच्छे हैं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों अच्छे नहीं ? पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हैं। कबीर साहब फूलों से उत्पन्न हुए, और अन्त में भी फूल हो गये। ब्रह्मा विष्णु महादेव का जन्म जब नहीं था, तब भी **कबीर** साहब थे। बड़े सिद्ध, ऐसे कि जिस बात को वेद पुराण भी नहीं जान सकता, उसको कबीर जानते हैं। जो सच्चा रस्ता है, सो कबीर ही ने दिखलाया है। **इनका मन्त्र 'सत्यनाम कबीर'** आदि है।

जल-पवितर— ओं जलं दहति पापानि कमण्डलुगतं च यत्।
गङ्गातोयसमं नित्यं जलपात्रं च शुध्यति ॥
ओं जले चाग्निः स्थले चाग्निरग्निश्च वायुमण्डले।
त्रिभिरग्निप्रकाशैश्च काष्ठपात्रं च शुद्ध्यति ॥
—तूंबामन्त्र, रामस्नेहधर्मप्रकाश, ३९०, रामपटल पृ० ३

अर्थात्—कमण्डलु में पड़ा जल, यतः गंगाजल के समान पापों को जलाता है, अतः उससे जल-पात्र नित्य शुद्ध होता है ॥ जल में अग्नि है, स्थल में अग्नि है, वायुमण्डल में अग्नि है। इन तीन अग्नि-प्रकाशों से जलपात्र शुद्ध होता है।

कबीर की उत्पत्ति—इस विषय में एक कबीरपन्थी का एक अन्य कबीरपन्थी के नाम लिखा एक पत्र विचार करने योग्य है—

"श्रीमते रामानन्दाय नमः। ता० ३-११-४५ काशी। स्वस्ति श्री सर्वोपमायोग्य जिला काशी से महन्त रामशरणदासजी को महन्त खूबदासजी का दण्डवत् स्वीकृत हो। अत्र कुशलं तत्रास्तु। आगे समाचार यह है कि पत्र आपका आया। इस पत्र के प्रश्नों के अनुकूल खास कबीरमठ में प्रामाणिक उत्तर समझकर इसमें लिखा जा रहा है। **कबीरजी की उत्पत्ति**—श्री स्वामी रामानन्दजी, काशी में एक बगीचा

---

१. जो 'तूंबा' पुराने साधु संन्यासी रखते थे, वह कड़वी तूंबी का होता था। उसमें रखे हुए जल के दोष नष्ट हो जाते थे। साधु-संन्यासी भ्रमणशील होते थे। जगह-जगह का जल उनको हानि न पहुँचावे, इसका यह सरल उपाय था। आजकल के साधु संन्यासी समुद्रफल वा धातु के कमण्डलु रखते हैं। उनमें स्थान-स्थान के जलदोषों को दूर करने का सामर्थ्य न होने से इनका उपयोग दिखावेमात्र के लिए है।

२. रामस्नेही धर्मप्रकाश, रामपटल पृ० ३। भ० द०।

उत्तर—पाषाणादि को छोड़ पलंग गद्दी तकिये खड़ाऊँ ज्योति अर्थात् दीप आदि का पूजना पाषाणमूर्त्ति से न्यून नहीं। क्या कबीर साहब भुनुगा था वा कलियाँ थां, जो फूलों से उत्पन्न हुआ और अन्त में फूल हो गया ?

[कबीर साहब का जन्म, और उनके सिद्धान्त]

यहाँ जो यह बात सुनी जाती है, वही सच्ची होगी कि—"कोई जुलाहा काशी में रहता था। उसके लड़के-बालक नहीं थे। एक समय थोड़ी सी रात्रि थी। एक गली में चला जाता था, तो देखा—सड़क के किनारे में एक टोकनी में फूलों के बीच में उसी रात का जन्मा बालक था। वह उसको उठा ले गया। अपनी स्त्री को दिया। उसने पालन किया।

था, उसमें तपस्या कर रहे थे। उस समय लक्ष्मीजी उनकी परीक्षा के लिए आईं और बग़ीचे से फूल उतारकर चलने लगीं। तो स्वामीजी ने पूछा, क्यों फूल तोड़कर ले जा रही हो। सो लक्ष्मीजी ने कहा—ये फूल नहीं हैं, यह तो एक लड़का है। ऐसा कहकर चली गईं। नारायणजी ने पूछा—क्यों परीक्षा लिए हो ? वो बोली, हाँ। नारायणजी ने कहा—कपड़े में क्या है ? लक्ष्मीजी ने कहा—फूल। फिर देखे तो लड़का। इस तरह की उत्पत्ति सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना गया है। और भी अनेक तरह से लोग इनकी उत्पत्ति बतलाते हैं। १४५५ में उत्पत्ति, १४५६ में शिष्यत्त्व और १५७५ में शरीरत्याग हुआ। गादी काशी में कबीरचौरा है। **द्वादशार्ध का उत्तर**—कबीरदासजी के १३ शिष्य हुए। उनमें तेरहवें शिष्य रामदासजी हुए। उनको कबीरदासजी स्वामी रामानन्दजी की सेवा में करके तीर्थयात्रा में चले गये। इसलिए वही आधा कबीर अर्थात् रामकबीर कहलाये। और जो शेष बारह शिष्य थे, वही बारह कबीर कहलाए। इस प्रकार द्वादशार्ध कबीर कहलाये। रामकबीर के आचार्य श्री स्वामी रामानन्दाचार्यजी हैं। दूसरी तरह की उत्पत्ति कुमारी कन्या के गर्भ से हुई है। यह भी कलंक के भय से कमल के पत्ते पर शयन कराई। फिर नीरू-नीमा के पालन करने मे जुलाहे कहाये। रामानन्द स्वामीजी एक बार गंगास्नान को गये। बाहर मृत्तिका न मिलने से गंगा के अन्दर से मिट्टी निकालने लगे। एक सीप भी हाथ में आ गई, उसी सीप में लड़का निकला, अर्थात् स्वामीजी के कर में से उत्पत्ति हुई, इस तरह से भी प्रमाण है। परन्तु पहली उत्पत्ति सर्वश्रेष्ठ है, जो लक्ष्मीजी से हुई। लक्ष्मीजी उस लड़के को एक तालाब में कमल के पत्ते पर रख गईं तो नीरू जुलाहा ले आया और पालन-पोषण किया, जो अर्ध रामकबीर हैं। उन्हीं से हम लोगों का खान-पान का व्यवहार है, ऐसा समझियेगा। इति शुभम्।"

ये सब किंवदन्तियाँ हैं, जो अन्धभक्तों द्वारा अपने गुरुओं के जीवन को चमत्कारी पुरुष सिद्ध करने के लिए कल्पित की जाती हैं। हिन्दी साहित्य के अध्येताओं की खोज के अनुसार मानव सन्तति की भाँति कबीर का जन्म नीरु जुलाहे के यहाँ उसकी पत्नी नीमा के गर्भ से हुआ था। यही बुद्धिगम्य है। कबीर का जन्मकाल ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा विक्रम संवत् १४५५-५६ ठहरता है। कबीर का अशिक्षित होना निर्विवाद है। बीजक के अनुसार कबीर स्वयं कहते थे—"मसि कागज़ छूयो नहीं कलम गही नहिं हाथ।" "तू कहता कागज़ की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी" उनकी यह उक्ति भी उनके अपठित होने में प्रमाण है।

इस कारण कबीर ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। कालान्तर में उनके शिष्यों ने ही उनके विचारों को लिपिबद्ध किया। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य ने द्विजमात्र को अपने शिष्यत्व में लिया, किन्तु शूद्रों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं दिया। स्वामी रामानन्द ने रामानुज की शिष्य परम्परा में होते हुए भी शूद्रों को भी शिष्य बनाया। इतना होने पर भी वह एक

जब वह बड़ा हुआ, तब जुलाहे का काम करता था। किसी पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिये गया। उसने उसका अपमान किया। कहा कि--'हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते'। इसी प्रकार कई पण्डितों के पास फिरा, परन्तु किसी ने न पढ़ाया।

तब ऊटपटाँग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगों को समझाने लगा। तम्बूरे लेकर गाता था, भजन बनाता था। विशेष पण्डित शास्त्र वेदों की निन्दा किया करता था। कुछ मूर्ख लोग उसके जाल में फस गये। जब मर गया तब लोगों ने उसको सिद्ध बना लिया। जो-जो उसने जीते जी बनाया था, उसको उसके चेले पढ़ते रहे।"

कान को मूंदके जो शब्द सुना जाता है, उसको 'अनहत शब्द' सिद्धान्त ठहराया। मन की वृत्ति को 'सुरति' कहते हैं। उसको उस शब्द के सुनने में लगाना। उसी को सन्त और परमेश्वर का ध्यान बतलाते हैं। वहाँ काल नहीं पहुँचता। बर्छी के समान तिलक और चन्दनादि लकड़े की कंठी बाँधते हैं।

मुसलमान जुलाहे को शिष्य बनाने को तैयार न थे। कबीर स्वतन्त्र प्रकृति के मनुष्य थे। सामाजिक परिस्थितियों ने उन्हें विद्रोही बना दिया था। उन्होंने देखा कि लोग नाना प्रकार के अन्धविश्वासों में फँसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्होंने मुसलमानों के रोज़ा, नमाज़, हज, ताज़ियेदारी, कुर्बानी आदि और हिन्दुओं के श्राद्ध, मूर्त्तिपूजा, एकादशी, तीर्थव्रत, कर्मकाण्ड, जन्म पर आधारित ऊँच-नीच, ज्योतिषियों की लूट आदि सबका विरोध किया। इनके लिए उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों को खूब फटकारा। निरक्षर होने से कबीर को शास्त्रज्ञान होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वह बहुश्रुत थे। विभिन्न मतों के साधुओं के सत्संग से उन्हें वेदान्त, उपनिषदों तथा पौराणिक कथाओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य हो गया था। परन्तु वेदों का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र उनकी निन्दा की है। इसमें शायद वेदों के नाम पर ब्राह्मणनामधारी लोगों द्वारा फैलाये गये आडम्बरों तथा मिथ्या विश्वासों के प्रति उनका रोष कारण रहा हो।

कालान्तर में कबीर के अनुयायियों ने ही उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्त्व तथा विचारों पर हर-ताल फेर दी और वे पूरी तरह वही सब-कुछ करने लगे, जिसका कबीर ने बड़ी प्रखरता के साथ खण्डन किया था। मन्दिरों में प्रतिष्ठित विष्णु, लक्ष्मी, शिव, पार्वती, हनुमान् आदि का स्थान कबीर की मूर्त्तियों, चित्रों, खड़ाउओं, पलंग, गद्दी, तकिये आदि ने ले लिया। यह पौराणिकों के मन्दिरों में होनेवाली मूर्त्ति-पूजा से कहीं अधिक निकृष्टरूप है। इसी प्रकार जिन कण्ठी, तिलक आदि बाह्य चिह्नों का कबीर ने खण्डन किया था, कालान्तर में उनके सम्प्रदाय में उन सबका प्रचलन हो गया, केवल नाम-रूप के अन्तर के साथ। कबीरपन्थियों के इस व्यावहारिक रूप के कारण ही ग्रन्थकार ने उसकी आलोचना की है।

जुलाहे आदि नीच—ग्रन्थकार कुकर्मी-पापाचारी को नीच मानते हैं, किसी कार्यविशेष से जीविका करनेवाले को नहीं। इसलिए यहाँ जुलाहे के साथ नीच शब्द का प्रयोग उनकी अपेक्षा से है, जो एक ओर तो उसको नीच मानते हैं और दूसरी ओर उन्हें पूज्य भी मानते हैं।

अनहत शब्द—हठयोग के अनुसार कानों को अँगूठों से बन्द करके ध्यान लगाने पर सुनाई देनेवाली ध्वनि को अनहत या अनहद शब्द कहते हैं। आगे चलकर राधास्वामी सम्प्रदाय की साधना में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। कबीर के पश्चात् साधुओं द्वारा जितने भी मत प्रचलित हुए वे सभी कबीर के उपजीवी हुए। चाहे वे सगुणोपासक (साकारोपासक) हैं या निर्गुणोपासक (निराकारोपासक) हैं। उन्होंने कोई बात कबीर से विलक्षण नहीं कही। हाँ, सबने अपने गुरु को सबसे बड़ा अवश्य माना है। इसमें भी उन्होंने कबीरपन्थियों का ही अनुकरण किया है।

भला विचार के देखो कि इसमें आत्मा की उन्नति और ज्ञान क्या बढ़ सकता है ? यह केवल लड़कों के खेल के समान लीला है।

[नानक जी के मत की समीक्षा]

प्रश्न—पंजाब देश में **नानकजी** ने एक मार्ग चलाया है। क्योंकि वे भी मूर्त्ति का खण्डन करते थे। मुसलमान होने से बचाये। वे साधु भी नहीं हुए, किन्तु गृहस्थ बने रहे। देखो, उन्होंने यह मन्त्र उपदेश किया है। इसीसे विदित होता है कि उनका आशय अच्छा था—

गुरुनानक—गुरुनानक का जन्म पंजाब में संवत् १५२६ में कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन हुआ था। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे हुए थे। इस कारण वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। लोग बहुत-से देवी-देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानी प्रभाव से प्राय: उठ गया था, जिससे प्राचीन धर्म और उपासना के गूढ़ तत्त्वों को समझने की शक्ति जाती रही थी। अत: जहाँ बहुत-से लोग बलात् मुसलमान बनाए जाते थे, वहाँ कुछ लोग शौक़ से भी मुसलमान बनते थे। गुरुनानक का ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था, जिसकी उपासना का स्वरूप हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को समानरूप से ग्राह्य हो, जिसकी भूमिका कबीर तैयार कर चुके थे। कबीरदास के समान गुरुनानक भी विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। भक्तिभाव से पूर्ण होकर जो भजन गाया करते थे, वे ग्रन्थसाहब में संकलित हैं। उनके भजनों की भाषा प्राय: उस समय की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी है। कुछ भजन पंजाबी में भी लिखे गये हैं। निम्नकुलोत्पन्न होने और सर्वथा अशिक्षित तथा शास्त्रविद्या से शून्य होने के कारण कबीरपन्थ को प्राय: निम्नवर्ग के लोगों ने अपनाया। परन्तु गुरुनानक एक उच्चकोटि के आध्यात्मिक भावापन्न पुरुष थे, जिनमें आदर्श साधु, तपस्वी एवं महात्मा के गुण थे। कबीर की कठोर तथा बेलाग वाणी ने फोड़े को चीरकर मवाद को निकाला तो गुरुनानक की शान्त वाणी ने उस पर मरहम लगाकर उसकी टीस को कम किया।

गुरु नानक के समय में न सिक्ख मत नाम का कोई सम्प्रदाय था, न ग्रन्थसाहब नाम का कोई धर्मग्रन्थ और न गुरुद्वारा नाम का कोई धर्मस्थल। इतना ही नहीं, नवें गुरु तक के नाम भी 'सिंहान्त' नहीं थे। सिक्खों के चिह्न 'पञ्च ककारों' तक का नाम कोई नहीं जानता था। मूलत: सिख हिन्दुओं का ही अंग है। पंच ककारों के कारण वे हिन्दुओं से पृथक् लगते हैं। किन्तु खालसा के लिए निर्धारित पच ककार (केश, कृपाण, कड़ा, कंघा व कच्छा) किसी धार्मिक पन्थ के प्रतीक न होकर सैनिक आवश्यकता की पूर्त्यर्थ थे। गुरु नानक विश्वविद्यालय अमृतसर के कुलपति, प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर जे० ग्रेवाल के अनुसार गुरु गोविन्दसिंह का आग्रह केवल केश और कृपाण धारण करने पर ही था, क्योंकि पंच ककारों का उल्लेख समकालीन साक्षियों में उपलब्ध नहीं है। पंच ककारों की बजाय पंच शास्त्रों का उल्लेख अवश्य मिलता है। अत: कहा जा सकता है कि ख़ालसा को पृथक् पंथ के रूप में तब तक मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। सिक्खों का सबसे बड़ा तीर्थ अमृतसर में है। वह मूलत: हरिमन्दिर कहलाता था। आज भी वह स्वर्ण-मन्दिर (Golden Temple) के नाम से प्रसिद्ध है। फिर भी, न जाने कैसे, गुरु नानक को सिक्ख पन्थ का प्रवर्त्तक या आदि गुरु मान लिया गया। वस्तुत: कबीर, नानक तथा दादू आदि के मन में अपने नाम पर कोई पन्थ या सम्प्रदाय चलाने का विचार तक नहीं आया होगा। श्रद्धा के अतिरेक में उन्हें देवत्व प्रदान करने के लिए उनके अनुयायी ही उनकी शिक्षाओं की उपेक्षा करके उनकी पूजा

'ओं सत्यनाम कर्त्ता पुरुष निर्भो निर्वैर अकालमूर्त्त अजोनि सहभं गुरुप्रसाद जप। आदि सच, जुगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच' ॥—जपजी, पौड़ी १

'ओ३म्' जिसका सत्य नाम है, वह कर्त्ता पुरुष भय और वैररहित, **'अकालमूर्त्ति'**=जो काल में और जोनि में नहीं आता, प्रकाशमान् है। उसी का जप गुरु की कृपा से कर। वह परमात्मा आदि में सच था, जुगों की आदि में सच, वर्त्तमान में सच, और होगा भी सच।

उत्तर—नानकजी का आशय तो अच्छा था, परन्तु विद्या कुछ भी नहीं थी। हाँ, भाषा उस देश की, जो कि ग्रामों की है, उसे जानते थे। वेदादिशास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे। जो जानते होते तो 'निर्भय' शब्द को 'निर्भो' क्यों लिखते? और इसका दृष्टान्त उनका बनाया **'संस्कृती-स्तोत्र'** है। चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी 'पग अड़ाऊँ'। परन्तु बिना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है? हाँ, उन ग्रामीणों के सामने कि जिन्होंने संस्कृत कभी सुना भी नहीं था, संस्कृती-स्तोत्र बनाकर संस्कृत के भी पण्डित बन गये होंगे।

करने लगते हैं और कालान्तर में उनके जीवन में चमत्कारों की कल्पना करके उन्हें या उनकी किन्हीं वस्तुओं को ईश्वरस्थानीय मानकर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठित कर देते हैं। परिणामतः जिस मूर्त्तिपूजा का वे अपने जीवनकाल में खण्डन करते रहे थे, वे स्वयं उसी मूर्त्तिपूजा का आलम्बन बना दिये जाते हैं। एक ऋषि दयानन्द को छोड़कर किसी न किसी रूप में प्रायः सभी के साथ ऐसा होता रहा है।

ग्रन्थकार ने विभिन्न मतों के अनुयायियों के कृत्यों को देख-सुनकर या पढ़कर उनका खण्डन किया है, उनके संस्थापकों के प्रति उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अत्यन्त सन्तुलित है। गुरु नानक के विषय में उनका यह लिखना कि "नानकजी का आशय तो अच्छा था'''इसमें उनके चेलों का दोष है, नानकजी का नहीं" प्रमाण है। 'ग्रन्थसाहब' की रचना पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेव (सम्वत् १६६१) जी के समय में हुई। तब तक उनके उपदेश और भजन श्रवण परम्परा से ही चलते रहे। गुरु नानक के लिए कबीर की तरह 'काला अक्षर भैंस बराबर' नहीं था। तथापि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "वे कुछ विशेष पढ़े-लिखे भी नहीं थे।" संस्कृत पढ़ने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला था। उनकी माता का नाम तृप्ता, पत्नी का नाम सुलक्षणा और पुत्रों के नाम श्रीचन्द तथा लक्ष्मीचन्द थे। इससे स्पष्ट है कि जिस परिवेश में एक खत्री परिवार में उनका जन्म हुआ था, उसमें किसी अंश में भारतीय संस्कार शेष थे। 'ओं सत्तनाम कर्त्ता पुरुष' आदि शब्द भी ठीक हैं और भाव भी शास्त्रसम्मत हैं। परन्तु कुल मिलाकर भाषा बिल्कुल अटपटी है, जिससे नानकजी का संस्कृत न जानना स्पष्ट हो जाता है।

गुरु नानक दम्भी—प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि सिख मत की आलोचना के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने गुरु नानक की निन्दा की है और उन्हें 'दम्भी' कहा है। इस प्रसंग में स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा लिखित पं० लेखराम के जीवनचरित के अन्तर्गत यह घटना द्रष्टव्य है—"एक बार रेल की यात्रा में एक उदासी साधु ने स्वामी दयानन्द को साधुनिन्दक सिद्ध करने के लिए कहा—'दयानन्द ने गुरु नानकजी को दम्भी लिखा है। यह संन्यासियों का काम नहीं।' पं० लेखरामजी उसे बड़े प्रेम से समझाने लगे और कहा—'देखो, बाबा नानकजी के आशय की तो स्वामीजी ने प्रशंसा की है। हाँ, कहीं-कहीं वेदों की निन्दा उनसे सहन न हुई और संस्कृत न जानते हुए भी उसमें टाँग अड़ाते देखकर यह लिख दिया कि दम्भ भी किया होगा।' पं० लेखराम ने बहुत कुछ समझाना चाहा परन्तु उस उदासी साधु ने शोर मचा दिया। जब वह समझाने पर भी दबाये चला गया तो पण्डितजी ने कड़ककर कहा—'अच्छा, अगर बाबा नानक खुद कह दे कि मुझमें दम्भ है?' उदासी कुछ आश्चर्यचकित-सा होकर बोला—'यह क्या?' पण्डित

यह बात अपने मान-प्रतिष्ठा और अपनी प्रख्याति की इच्छा के विना कभी न करते। उनको अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा अवश्य थी। नहीं तो जैसी भाषा जानते थे, कहते रहते। और यह भी कह देते कि मैं संस्कृत नहीं पढ़ा। जब कुछ अभिमान था, तो मानप्रतिष्ठा के लिये कुछ दम्भ भी किया होगा। इसीलिये उनके ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ वेदों की निन्दा और स्तुति भी है। क्योंकि जो ऐसा न करते, तो उनसे भी कोई वेद का अर्थ पूछता। जब न आता तब प्रतिष्ठा नष्ट होती। इसलिए पहिले ही अपने शिष्यों के सामने कहीं-कहीं वेदों के विरुद्ध बोलते थे, और कहीं-कहीं वेद के लिए अच्छा भी कहा है। क्योंकि जो कहीं अच्छा न कहते, तो लोग उनको नास्तिक बनाते। जैसे—

लेखरामजी ने सिक्खों के ग्रन्थ से एक वाक्य पढ़ा, जिसमें दो-तीन निर्बलताओं के साथ दम्भी शब्द भी था। अब तो उदासी बाबा कुछ ढीले पड़े और बोले—'यह तो कसर नफ़सी (शिष्टाचारवश अपने को अयोग्य या दोषी बतलाना) है। इसका यह मतलब थोड़े ही है कि गुरु महाराज सचमुच दम्भी थे।' पण्डितजी कहाँ चूकनेवाले थे। उनकी हाज़िर जवाबी कमाल की थी। उन्होंने अन्य दस घृणित पापों के नाम गिनाकर कहा—"यह सब पाप अपने में क्यों न बतलाये ? तुम बाबा नानक को मक्कार समझते हो, हम तो उन्हें सच्चा ईश्वरभक्त समझते हैं। उन्होंने मेरे कहे हुए दुराचारों का नाम इसलिए नहीं लिया कि वे ऐब उनमें नहीं थे। दो-तीन कमजोरियाँ थीं और उनसे बचने की प्रार्थना अपने मालिक से की। तुम चाहे अपने गुरु को मक्कार समझो, हम तो बाबा नानकजी को सच्चा ईश्वरभक्त समझते हैं।" इस घटना में स्वामी श्रद्धानन्द पं० लेखराम के साथ थे।

इस प्रसंग में एक और मनोरंजक, किन्तु उपयोगी, घटना भी द्रष्टव्य है—"एक बार कुछ सिखों ने नाभानरेश को आर्यसमाज के विरुद्ध भड़काने के लिए कहा कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में बाबा नानक के बारे में कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। महाराजा ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—"नानक बाबा थे, दयानन्द भी बाबा थे। एक बाबा ने दूसरे बाबा के बारे में यदि सत्य के बारे में कुछ लिख ही दिया तो हम-तुम बीच में पड़नेवाले कौन ? बाबा-बाबा आपस में सुलट लेंगे।"

ग्रन्थकार ने यह मानने में कोई भूल नहीं की है कि संस्कृत भाषा की अनभिज्ञता के कारण नानक का शास्त्रज्ञान नहीं के बराबर था। संस्कृत जाने बिना वेद के रहस्यों को जानना उनके लिए सम्भव नहीं था। फिर, यदि गुरु नानक को कैलाश-मानसरोवर के योगियों, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार और जगन्नाथपुरी के ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों व बाह्याचारों की आलोचना करने का अधिकार था तो इस अधिकार से दूसरों को वंचित करने का किसी को क्या अधिकार है ?

यद्यपि आजकल साम्प्रदायिक भावनाओं से अभिभूत सिख वेदादि शास्त्रों के महत्त्व को नहीं समझते किन्तु सिखों के धर्मग्रन्थों में अनेकत्र वेदों का महत्त्व स्पष्टतः वर्णित है—

१. ओंकार वेद निरमाये (राग रामकली, महला १, ओंकार शब्द १) अर्थात् ईश्वर ने वेद बनाये।

२. हरि आज्ञा होए वेद, पाप-पुण्य विचारिआ। (महला ५, शब्द १) अर्थात् ईश्वर की आज्ञा से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे पाप-पुण्य का विचार=ज्ञान हो सके।

३. सामवेद, ऋग्, यजुर्, अथर्वण, ब्रह्मे मुख माइया है त्रैगुण।
ताकी कीमत कीत कह न सकै, को तिउ बोले जिउ बोलाइदा॥ (महला १, शब्द १७)

यहाँ नामोल्लेखपूर्वक चारों वेदों के विषय में कहा है कि उनकी कीमत कोई नहीं बता सकता, वे अमूल्य और अनन्त हैं।

४. चार वेद चार खानी (महला ५, शब्द १७) अर्थात् चार वेद चार खानों (ज्ञानकोष) के समान हैं।

५. वेद बखान कहहि इक कहिए। ओह बेअन्त अन्त किन लहिए। (महला १०, शब्द ३)
अर्थात्—वेदों की महिमा का क्या वर्णन करें। वे तो बेअन्त हैं, उनका अन्त कौन पा सकता है।

६. दीवा बले अँधेरा जाई, वेदपाठमति पापा खाई। उगवे सूरज न जाये चन्द॥ अर्थात् जैसे दिया जलने पर अंधेरा मिट जाता है, वैसे ही वेदपाठ से बुद्धि शुद्ध हो जाने से पापों से छुटकारा मिल जाता है।

७. असंख्य ग्रन्थमुखी वेदपाठ। (जपजी १७)। ग्रन्थ तो अनेक हैं, पर उनमें वेदपाठ मुख्य है।

८. वेद बख्यान करत साधुजन, भागहीन समझत नाहीं। (टोडी महला ५, शब्द १७) अर्थात् साधु=सज्जन पुरुष वेद की व्याख्या करते हैं, पर भाग्यहीन समझते नहीं।

९. कहन्त वेदागुणन्त गुणिया। दृढन्त सुविद्या हरि-हरि कृपाला॥ (महला ५, शब्द १५) अर्थात्—वेदों के पढ़ने से विद्या भाग्यवानों को ही मिलती है।

इस पर भी जो वेदशास्त्र की निन्दा करते और उन्हें असत्य समझते हैं, उनके सम्बन्ध में ग्रन्थसाहब में कबीर के शब्दों में कहा है—"वेद कतेब कहो मत झूठे, झूठा जो न विचारे॥" (प्रभाती बानी कबीर) अर्थात्—वेदशास्त्र को झूठा मत कहो, झूठा वह है जो उन पर विचार नहीं करता।

इस प्रकार ग्रन्थ साहब में अनेक बार श्रद्धापूर्वक वेदों को स्मरण किया गया है। परन्तु वेदों में ऐसा क्या है, जिसके कारण उन्हें इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है, यह जानने का प्रयास किसी ने नहीं किया। यह कार्य गत शताब्दी के अन्त में ग्रन्थकार ने किया, जिसके लिए मनुष्यमात्र को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

गुरुग्रन्थसाहब में जिन वचनों के साथ महल्ला १ आता है, वे प्रथमगुरु नानकदेवजी की रचना हैं। इसी प्रकार का एक उद्धरण है—

"पढ़ पुस्तक सन्ध्यावादम्। सिल पूजिस बगल समाधम्। मुख झूठ विभूषणसारम्। त्रैपाल निहाल विचारम्। गलमाला तिलक ललाटम्। दोय धोती वस्त्र कपाटम्। जो जानस ब्रह्मकर्मम्। सब फोकट निश्चय कर्मम्। कहै नानक निश्चाध्यावै। विन सतगुरु बाट न पावै।"

—इलोक सहंस्कृति, महल्ला १

अब पाँचवें गुरु अर्जुनदेवजी की भी संस्कृत-रचना देखिए—

"कतं च माता कतं च पिता कतं च वनिता विनीतः सुतः।
कतं च भ्रात मीत हि बान्धव कतं च मोह कुटुम्ब ते॥
कतं च चपल मोहिनीरूपम् नेसन्तं त्यागं करोति।
कतं च संग भगवान् सिमरण नानक लब्ध अच्युतः॥

—इलोक सहंस्कृति महल्ला ५

गुरु नानक के प्रति ग्रन्थकार के आक्रोश का एक कारण ग्रन्थसाहब में यत्र-तत्र वेद के प्रति निन्दात्मक वचन हैं। वे स्वयं तो सर्वज्ञानमय वेदों के प्रति दृढ़ आस्थावान् थे ही। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त प्रतिष्ठित वेदों की निन्दा वे सहन नहीं कर सकते थे। ग्रन्थसाहब में कहीं-कहीं वेद की स्तुति भी की गई है। एक साथ इस निन्दा-स्तुति को ग्रन्थकार कपट वचन मानते थे।

'वेद पढ़त ब्रह्मा मरे' इस रूप में यह वचन ग्रन्थसाहब में नहीं मिलता। परन्तु इस आशय को पूरी तरह व्यक्त करनेवाले निम्न वचन उपलब्ध हैं—

'वेद पढ़त ब्रह्मा मरे' । 'चारों वेद कहानि' ॥
'सन्त कि महिमा वेद न जानी' ॥[1]
'नानक ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर' ॥[2]

क्या वेद पढ़नेवाले मर गये, और नानकजी आदि अपने को अमर समझते थे ? क्या वे नहीं मर गये ? वेद तो सब विद्याओं का भण्डार है। परन्तु जो चारों वेदों को कहानी कहे, उसकी सब बातें कहानी हैं। जो मूर्खों का नाम सन्त होता है, वे बिचारे वेदों की महिमा कभी नहीं जान सकते। जो नानक जी वेदों ही का मान करते, तो उनका सम्प्रदाय न चलता। न वे गुरु बन सकते थे। क्योंकि संस्कृतविद्या तो पढ़े ही नहीं थे, तो दूसरे को पढ़ाकर शिष्य कैसे बना सकते थे !

[नानकजी ने लोगों को मुसलमान होने से बचाया]

यह सच है कि जिस समय नानकजी पंजाब में हुए थे, उस समय पंजाब संस्कृतविद्या से सर्वथा रहित, मुसलमानों से पीड़ित था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया[3]। नानकजी के सामने कुछ उनका सम्प्रदाय वा बहुत से शिष्य नहीं हुए थे। क्योंकि अविद्वानों में यह चाल है कि मरे पीछे उनको सिद्ध बना लेते हैं। पश्चात् बहुत-सा माहात्म्य करके ईश्वर के समान मान लेते हैं।

नाभिकमल ते ब्रह्मा उपजै वेद पढ़े मुखकण्ठ सँवार।
ताको अन्त न जाई लखणा आवत जावत रहे गंवार॥ (गूजरी १।२)
सनक सनन्दन अन्त न पाया वेद पढ़े पढ़ जनम गंवाया॥ (आसा १।१० कबीरजी)

यहाँ 'रहे गँवार' और 'वेद पढ़े-पढ़ जनम गँवाया' पर ध्यान देने की आवश्यकता है। 'वेद पढ़त ब्रह्मा मरे' की अपेक्षा ये शब्द अधिक कठोर एवं आपत्तिजनक हैं। इनमें ब्रह्मा के साथ सनकादि सभी आरोपित हैं।

'चारों वेद कहानी' के स्थान पर उपलब्ध पाठ है—'वेद कतेब इफ़तिरा भाई' (१।१ तिलंग कबीरजी) भाई काहनसिंह सिख मत के एक प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने स्वरचित 'महाकोष' में 'इफ़तिरा' शब्द के अर्थ इस प्रकार लिखे हैं--"इफ़तिरा (संज्ञा) १. निन्दा, २. तोहमत, ३. अतिशयोक्ति, मुबालिग़ा, ४. झूठ, असत्य—वेद कतेब इफ़तिरा भाई, दिल का फ़िकर न जाई" (तिलंग, कबीरजी)। 'इफ़तिरा' शब्द मूलतः अरबी-फ़ारसी का है। हमने अरबी-फ़ारसी कोष से अर्थ न देकर भाई काहनसिंह के कोष का उद्धरण इसलिए दिया है कि कोई यह न कहे कि ग्रन्थसाहब में यह शब्द पारिभाषिक होने से किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त है। उदाहरण के रूप में भाई काहनसिंह ने इस शब्द के प्रयोग का भी वही स्थल उद्धत किया है, जो भाईजी ने किया है। भाईजी ने इसका एक अर्थ तोहमत लिखा है। तोहमत का अर्थ है—किसी पर झूठा दोष लगाना। इस प्रकार वेद को इफ़तिरा कहना निन्दा की अन्तिम सीमा है।

सन्त साध की महिमा—आजकल कुछ सिख विद्वान् 'वेद न' को एक पद 'वेदन' मानकर इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'सन्त या साधु की महिमा 'वेदन' (वेदों के द्वारा) जाने।

---

१. द्र०—सुखमनी पौड़ी ७, पद ८ (भेद से)।
२. द्र०—सुखमनी पौड़ी ८, पद ६ (भेद से)।
३. अर्थात् मुसलमान होने से बचाया।

[नानकजी के सम्बन्ध में गपोड़े; उदासी और निर्मले]

हाँ, नानकजी बड़े धनाढ्य और रईस भी नहीं थे। परन्तु उनके चेलों ने **'नानकचन्द्रोदय'** और **'जन्मशाखी'** आदि में बड़े सिद्ध और बड़े-बड़े ऐश्वर्यवाले थे, लिखा है। नानकजी ब्रह्मा आदि से मिले, बड़ी बातचीत की। सबने इनका मान्य किया। नानकजी के विवाह में बहुत से घोड़े रथ हाथी, सोने-चाँदी मोती पन्ना आदि रत्नों से जड़े हुए, और अमूल्य रत्नों का पारावार न था, लिखा है। भला ये गपोड़े नहीं तो क्या हैं? **इसमें इनके चेलों का दोष है, नानकजी का नहीं।** दूसरा—जो उनके पीछे उनके लड़के से **उदासी** चले, और रामदास आदि से **निर्मले।**

जन्मसाखी—(क) जज दा भला आदर भाव कीता भली प्रकार बाजे बजदे आहे। बड़ा उत्साह होया। गौआं दे आवण वेले जंज शहर विच आई। इक पासे कालू दूजे पासे जयरामदा पिता पैसे टके रुपये सट दे धन दी बरखा करदे डेरे आये जहाँ उतारा दिया था। दूलो देखकर नर-नारी बड़े प्रसन्न हुए। और मूले दे भागां दी सराहणा करदे हैं। अठाईस हजार देवतियां समेत इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव अपणी शक्तियाँ नाल लैंके बाबे जी दा ब्याह देखन आये। अते लक्ष्मीजी, पार्वतीजी, इन्द्राणी, ब्रह्माणी हाथों में आरती लेकर होर पूजा दे सामान लैंके बाबे दे ब्याह दे गीत गांवदियां हैं। जब मूले घर ढुकाव होया। उसने नानक निरंकार जी दी आरती करी। गुरु नानकजी दा नाँव लैं लैंकर गीत गांवदा है। वेदविहितकर चौक पूरया। ब्रह्मा वेदां करके लगा स्तुति करन। गौरांदे समेत शिवजी मुकुट लैंकर आये। गण गन्धर्व सब मिलके मंगलाचार लगे गावन। अते सनकादि सेहरे लैंके आये। सब देवी देवते तम्बोल देके जयजयकार करने लगे। अते नौ नाथ चौरासी सिद्ध सब भेंट लेकर आये। (जनमसाखी भाईबाला, पन्ना ४७, ४८ साखी ब्याह दी)।

(ख) नानकप्रकाश का वर्णन इस प्रकार है—

गज गाजत सांज सजे सबही, धुनि घंटन की उठती बड़ घोरा।
अस हिंसत जीव जराव जरे, अवनि खुर बाज रहे चहुं ओरा।
रथ जात चले छके घुंघह पुन ओ करन को खरका नहिं घोरा।
डफ ढोल दमामन डंक लगे, पर आपन कौन सुने बड़ सोरा ॥२४॥
एक मतंग पै कालू आरूढ़ करै बरखा धन की बहु भाई।
दूसरे पर चढ़ तात जयराम को ही न बिलम्ब भये हरखाई।
मेघ की रीत सुहाये दोऊ तब नीच ऊँच विचार न आई।
कीरति यों विस्तारत हैं जनु पूरनचन्द ने जौन सीधाई ॥२५॥

—नानकप्रकाश पूर्वार्द्ध अध्याय २२

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि गुरु नानक का विवाह गोधूलि वेला में वैदिक रीति से हुआ था। **ब्रह्मा ने उसमें** वेदपाठ किया था। तब 'वेद पढ़त ब्रह्मा मरे' और 'चारों वेद कहानी' का सामंजस्य **कैसे हो सकता है?** वर्त्तमान में जैसे 'द्विवेदी' और 'त्रिवेदी' आदि होते हैं, वैसे ही नानकजी का परिवार **'बेदी' कहलाता था।** आज भी अनेक सिखों के नाम के साथ उपजातिसूचक 'बेदी' शब्द प्रयुक्त होता है।

उदासी—उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीचन्द श्री नानकजी के सुपुत्र थे। उनके चार चेले थे—१. बालू हसना, २. गोंदसाहब, ३ फूलसाहब और ४. अलमस्त साहब। ये चार 'धुएँ' कहलाते थे। उदासियों की नौ बखशीशें भी हैं—१. भगत भगवान्, २. मियाँ साहब, ३. सोढियाँ दे साध, ४. दिवाने, ५. जीतमलिए, ६. बेदियाँ दे साध, ७. सुथरे, ८. संगत साहब के, ९. बख्त मलिए।

[धर्मग्रन्थ में भिन्न-भिन्न लोगों की वाणियाँ]

कितने ही गद्दीवालों ने भाषा बनाकर ग्रन्थ में रक्खी है। अर्थात् इनका **गुरु गोविन्दसिंहजी** दशमा हुआ। उसके पीछे उस ग्रन्थ में किसी की भाषा नहीं मिलाई गई। किन्तु वहाँ तक के जितने छोटे-छोटे पुस्तक थे, उन सबको इकट्ठे करके जिल्द बँधवा दी। इन लोगों ने भी नानकजी के पीछे बहुत-सी भाषा बनाई। कितने ही ने नाना प्रकार की पुराणों की मिथ्याकथा के तुल्य बना दिये। परन्तु ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर बनके उस पर कर्म उपासना छोड़कर इनके शिष्य झुकते आये। इसने बहुत बिगाड़ कर दिया। नहीं तो जो **नानकजी ने कुछ भक्तिविशेष ईश्वर की लिखी थी, उसे करते आते तो अच्छा था।** अब **उदासी** कहते हैं—'हम बड़े'; **निर्मले** कहते हैं—'हम बड़े'। **अकाली** तथा **सूतरहसाई**[1] कहते हैं कि सर्वोपरि हम हैं।

निर्मलों की उत्पत्ति—सिख पोथियों में कई प्रकार से वर्णन है। कहा जाता है कि 'निर्मले' वे कहलाये, जिन्हें गुरु गोविन्दसिंह ने उच्च शिक्षा के लिए काशी भेजा था। इन निर्मलों ने ही सिख मत के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट करने की दिशा में प्रयास किया था। इन निर्मलों में अनेक संस्कृत के विद्वान् पाये जाते हैं। ज्ञानी ज्ञानसिंहजी जो स्वयं निर्मले थे, अपने बनाये पन्थप्रकाश में लिखते हैं—"जैसे वैरागी संन्यासी पूज्य हिन्दुओं के सन्त···नसीं तैसे सिक्ख पन्थ के ये हैं। मानन पूजन जोग रचे हैं। क्योंकि सतगुरु यह विचारी महिमा सन्तन की है भारी। वेद, पुराण, गुरु की वाणी, आदि सन्तन की सेव बखानी। भेखी को जन सब पछानत भेख देख के पूजन मानत। सिंह गुरु के भी पिख भीखैं, मानेंगे जब उन्हें विशिखैं। उनका चरणामृत भी लैहैं, बालक माइयाँ सीत छके हैं। गुरु सन लैं गुरु दीखैं हैं, उनकी आज्ञा माहिं चलैं हैं। सिंह नाम और केशविहीने, खण्डे के अमृत से हीने। जे साधु होवे तो ऐसो, उनके धरमसिंहन के रहेगो कैसो। सने सने सिंह पन्थ हमारे, भेखी साधु ठीक बिगारे। ताँ ते अमृत इन्हें छकाके, सिंह नाम दृढ़ केश रखाके। वसन काखाय भेख पहिनाके, सिंह निर्मल सन्त बनाके। हुकुम दियो गुरु सिंहन ताईं, मानो पूजो इन्हें सदाई। (पन्ना १०३१-३२)

जिनकी वाणी— गुरु ग्रन्थ साहब में निम्नलिखित सज्जनों की वाणी है—१. गुरु नानकजी, २. गुरु अंगदजी, ३. गुरु अमरदासजी, ४. गुरु रामदासजी, ५. गुरु अर्जुनदेवजी, ६. गुरु तेगबहादुरजी, ७. गुरु हरगोविन्द जी की धुनें, ८. कबीर, ९. फरीद, १०. नामदेव, ११. धन्ना, १२. सधना, १३. सैण, १४. पीपा, १५. रविदास, १६. परमानन्द, १७. मीराबाई, १८. सूरदास, १९. बेणी, २०. त्रिलोचन, २१ जयदेव, २२. रामानन्द, २३. सत्ता, २४. बलबंड, २५. सुन्दर, २६. जमाल, २७. वतंग, २८. सम्मन, २९. मूसन, ३०. ईश्वर, ३१. गोरख, ३२. भर्तरी, ३३. गोपीचन्द, और ३४-५०. सत्रह भट्ट (इन सत्रह भट्टों के नाम गुरुप्रतापसूर्यप्रकाश रास तीसरी अंशु ४२ में ये लिखे हैं—ऋग्वेद के चार भट्ट, १. कल, २. जल, ३. नल, ४. मैकल; यजुर्वेद के ४ भट्ट—१. दल्ल, २. मल्ल, ३. जल्ल, ४. भल्ल; सामवेद के ४ भट्ट—१. मथुरा, २. जाल, ३. बल, ४. हरिवंश; अथर्ववेद के ४ भट्ट—१. दासर, २. कीरत, ३. गयन्द, ४. सदरंग; १७वाँ ब्रह्मा का अवतार भीखा) आगे ५१. आलम। यदि दन्तकथा सत्य मानी जाय तो ५२. श्रीचन्दजी व ५३. गुरु गोविन्दसिंहजी।

अकालिये—फतहसिंह साहबजादा बालकों को ले संग ज्यादा होलियों के स्वांग साथ गुरु पास

---

१. 'सुथरे शाह' के अनुयायी।

[गुरु गोविन्दसिंह द्वारा पञ्च ककारों का प्रचार]

इनमें गोविन्दसिंहजी शूरवीर हुए। जो मुसलमानों ने उनके पुरुषाओं को बहुत-सा दुःख दिया था, उनसे वैर लेना चाहते थे। परन्तु इनके पास कुछ सामग्री न थी। और उधर मुसलमानों की बादशाही प्रज्वलित हो रही थी। इन्होंने एक पुरश्चरण[1] करवाया। प्रसिद्धि की कि—'मुझको देवी ने वर और खड्ग दिया है कि तुम मुसलमानों से लड़ो, तुम्हारा विजय होगा' बहुत-से लोग उनके साथी हो गये।

और उन्होंने, जैसे वाममार्गियों ने 'पञ्च मकार'; चक्राङ्कितों ने 'पञ्च संस्कार' चलाये थे, वैसे 'पञ्च ककार' चलाये। अर्थात् इनके पञ्च ककार युद्ध के उपयोगी थे।

एक 'केश'—अर्थात् जिसके रखने से लड़ाई में लकड़ी और तलवार से कुछ बचावट हो। दूसरा 'कंगण'—जो शिर के ऊपर पगड़ी में अकाली लोग रखते हैं। और हाथ में 'कड़ा' जिससे हाथ और शिर बच सकें। तीसरा 'काछ'—अर्थात् जानू के ऊपर एक जाँघिया, कि जो दौड़ने और कूदने में अच्छा होता है। बहुत करके अखाड़-मल्ल[2] और नट भी इसको इसीलिये धारण करते हैं कि जिससे शरीर का मर्म-स्थान बचा रहै, और अटकाव न हो। चौथा 'कंगा'—कि जिससे केश सुधरते हैं। पांचवां 'काचू'[3]—कि जिससे शत्रु से भेंट-भड़क्का होने से लड़ाई में काम आवे। ये पञ्च ककार युद्ध में उपयोगी थे।

आयो है। जीर्ण सीलक कच्छ दस्तार ऊँचो अच्छ सोटा मोटा कन्धे स्वच्छ वसन सजायो है। बोले है अकाल ते अकाल तेग ढाल धारे देखके गुरुजी हंस वसन चलायो है। थारो पन्थ चलैगो विसालो जग आने पाले। सिदक अकाल को अकाली बिदलायो है॥२६॥ फेर एक रोज गुरु तिल तेल लोहा माहि तुलादान कर दियो द्विज को मसाली है। द्वारे पर भिखारो थे भंगेरे जीव वधेरे सिंह बूझ्यो तिन कि पालिये जान क्यों उताली है। बोल्यो सिर सिदक गुरु का लिये जात हम समझियो न इन्हें अर्थ कमाली है। छीन लीन द्विज दीन हो भगयां गुरु के पास सुन गुरु बोले भोले सिख ये अकाली हैं। नंग भूख दारिद की छनिछर की दशा मन्द जानकर हम निज घरों थी निकाली है। समझ सबर बिन जबरन राखी इन्हें रहे अब इन्हों में सदा महोचाली है। ओसे लोहे फेर गुरु बनबाने करद कठे बड़े तेल तिलवाये तिनहूं रखाली है। नील थे वसन जू पहराये तिन्हें, तेड़ करयो गुरु सिख बड़े गुरु के अकाली हैं। (पन्थप्रकाश पन्ना १०४१-४२)

पुरश्चरण—यह एक विशेष प्रकार की पूजा है। गुरु गोविन्दसिंह के पुरश्चरण का वर्णन भाई सन्तोखसिंहजी के रचे 'गुरुप्रतापसूरजप्रकाश' ऋतु ३, अंशु ६ से २२ में तथा ज्ञानी ज्ञानसिंह जी के रचे 'पन्थप्रकाश' की प्रथमावृत्ति के पन्ने ७७६ पर है। गुरु गोविन्दसिंहजी ने दुर्गा का पुरश्चरण कराया था।

आज जिन बातों से सिक्खों या उनके मत (धर्म ?) की पहचान की जाती है, उनका प्रवर्त्तन गुरु गोविन्दसिंहजी ने ही किया। सिक्खों के लिए गुरुस्थानीय ग्रन्थसाहब का सम्पादन कर कबीर, दादू आदि अनेक निर्गुणियों की वाणी का समावेश कर उसे अन्तिमरूप देकर गुरुद्वारों में प्रतिष्ठित करने का श्रेय गुरु गोविन्दसिंहजी को ही है। सिक्खों की पहचान के लिए पंच ककारों का विधान भी उन्होंने ही किया। युगधर्म के रूप में निर्दिष्ट व्यवस्था को शाश्वत धर्म मानकर एक सम्प्रदाय की स्थापना करना गुरु गोविन्दसिंह को अभिमत नहीं था। ऐसा होता तो वे यह कभी नहीं कहते—

जो नर मोहिं परमेश्वर उच्चरहिं, ते नर घोर नरक में परहीं।
हम हैं परम पुरुष के दासा, देखन आये जगत् तमाशा॥

---

१. दुर्गा का पुरश्चरण। २. अर्थात् अखाड़े के मल्ल।
३. काचू=चाकू, अर्थात् कटार।

इसीलिये यह रीति **गोविन्दसिंहजी** ने अपनी बुद्धिमत्ता से उस समय के लिये की थी। अब इस समय में उनका रखना कुछ उपयोगी नहीं है। परन्तु अब, जो युद्ध के प्रयोजन के लिये बातें कर्त्तव्य थीं, उनको धर्म के साथ मान ली हैं।

[मूर्त्ति के स्थान में 'ग्रन्थ साहब' की पूजा]

मूर्त्तिपूजा तो नहीं करते, किन्तु उससे विशेष **'ग्रन्थ' की पूजा** करते हैं। क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं है? किसी जड़ पदार्थ के सामने शिर झुकाना, वा उसकी पूजा करनी सब **'मूर्त्तिपूजा'** है। जैसे मूर्त्तिपूजा-वालों ने अपनी दुकान जमाकर जीविका ठाड़ी की है, वैसे इन लोगों ने भी कर ली है। जैसे पुजारी लोग मूर्त्ति का दर्शन कराते, भेंट चढ़वाते हैं, वैसे नानकपन्थी लोग ग्रन्थ की पूजा करते-कराते, भेंट भी चढ़वाते हैं। अर्थात् मूर्त्तिपूजावाले जितना वेद का मान्य करते हैं, उतना ये लोग ग्रन्थसाहबवाले नहीं करते।

हाँ, यह कहा जा सकता है कि इन्होंने वेदों को न सुना न देखा, क्या करें? जो सुनने और देखने में आवें तो बुद्धिमान् लोग, जो कि हठी-दुराग्रही नहीं हैं, वे सब सम्प्रदायवाले वेदमत में आ जाते

खालसा पन्थ के रूप में व्यावहारिक दृष्टि से सिक्ख पन्थ के प्रवर्त्तक के रूप में गुरु गोविन्दसिंह (जो पहले गोविन्दराय कहलाते थे) ही उभर कर सामने आये। उन्होंने उसे एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं, हिन्दू धर्म के रक्षक वर्ग के रूप में खड़ा किया था। आज जिस कमरे में ग्रन्थ साहब को रक्खा जाता है, उसमें गर्मियों में पंखा अवश्य चलता है और सर्दियों में हीटर जलता है, जिससे गुरुजी को गर्मी-सर्दी न सतायें। गुरु नानक इन मूर्खतापूर्ण बातों को कदापि सहन न करते। मूर्त्तिपूजा के वे घोर विरोधी थे। नीतिकारों का कथन है—

शत्रोरपि गुणा वाच्याः, दोषा वाच्या गुरोरपि।

ग्रन्थकार ने सर्वत्र इसका अनुसरण किया है। गुरु नानक तथा गुरु गोविन्दसिंह के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे इसकी पुष्टि होती है।

परन्तु जिस प्रकार मुहम्मद साहब ने स्वयं को अन्तिम पैग़म्बर और कुरान को खुदा का आखिरी पैगाम या ईश्वरीय ग्रन्थ घोषित कर एक मत या सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसी प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने मानवरूप में स्वयं को और तत्पश्चात् ग्रन्थसाहब को गुरुस्थानीय मानने का आदेश देकर (गुरु मानियो ग्रन्थ) हिन्दुओं की भुजा न रहने देकर एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय या कौम का रूप दे दिया। इससे सिखों में अलगाववादी प्रवृत्तियों को बल मिला।

उधर अंग्रेज की समझ में आ गया कि उनका हित हिन्दुओं की इस रक्षा पंक्ति को तोड़ने में है। सन् १८५७ के गदर में सिखों ने अंग्रेजों को भारी सहायता पहुँचाकर उनका विश्वास जीत लिया। परिणामतः जिन सिखों को कभी अंग्रेज गन्दा आदमी कहकर दुतकारा करता था, वे अब उसके चहेते बन गये और धड़ाधड़ सेना में भरती होने लगे। अनेक इतिहासकारों का मत है कि यदि १८५७ का गदर न हुआ होता तो या तो सिख धर्म हिन्दू धर्म में विलीन हो गया होता या एक कोने में सिमटकर रह गया होता। एक अंग्रेज प्रशासक सी० एच० पाह ने लिखा था—"इसमें तनिक सन्देह नहीं कि यदि सेना में सिखों की भरती के लिए दरवाजे न खुले होते तो वे अब तक अपने चारों ओर छायी हुई विभिन्न हिन्दू जातियों (उपजातियों) में विलीन हो गये होते"। गदर के बाद अंग्रेजों ने सेना में हिन्दुओं की भरती पर अंकुश लगाया तो दूसरी ओर सिखों की निर्बाध भरती होने लगी। परिणामतः पंजाब में लोग केश रखने लगे। सेना में हर प्रकार से सिखों को हिन्दुओं से अलग रक्खा जाने लगा और उनको

हैं। परन्तु इन सबने भोजन का बखेड़ा बहुत-सा हटा दिया है। जैसे इसको हटाया, वैसे विषयासक्ति दुरभिमान को भी हटाकर वेदमत की उन्नति करें, तो बहुत अच्छी बात है।

[दादूपन्थी मत की समीक्षा]

प्रश्न—'दादूपन्थी' का मार्ग तो अच्छा है?

उत्तर—अच्छा तो वेदमार्ग है। जो पकड़ा जाय तो पकड़ो, नहीं तो सदा गोते खाते रहोगे। इनके मत में **दादूजी** का जन्म गुजरात में हुआ था। पुन: जयपुर के पास 'आमेर' में रहते थे। तेली का

हिन्दुओं से अलग एक कौम के रूप में पेश किया जाने गया। फलतः धीरे-धीरे हिन्दुओं का प्रतिशत घटता गया और सिखों का प्रतिशत बढ़ता गया। आज पंजाब की जो स्थिति है, वह उसी नीति का परिणाम है।

दादू पन्थ—यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के अनुयायी हैं, पर उनका मत दादूपन्थ के नाम से ही जाना जाता है। दादूपन्थी इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक नगर में मानते हैं। इनकी जाति के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग उन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर की उत्पत्ति के समान ही उनकी उत्पत्ति की कथा भी तमाच्छन्न है। दादू की जाति और उनके माता-पिता के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। कहा जाता है कि ये बच्चे के रूप में साबरमती में बहते हुए लोधीराम नामक नागर ब्राह्मण को मिले थे,-जहाँ से उठाकर वह इन्हें अपने घर लाया और माता-पिता के समान इनका पालन-पोषण किया। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं। दादू के एक शिष्य जगगोपालरचित 'जन्म-लीला परची' के अनुसार जब ये ग्यारह वर्ष के थे तब भगवान् ने स्वयं आकर इन्हें दर्शन देकर उपदेश किया। तभी से ये साधुसेवा और सत्संग में समय बिताने लगे। ये मोठ बनाने का काम करते थे, जिसकी पुष्टि इस साखी से होती है—"साचा समरथ गुरु मिल्या तिन तत दिया बताय। दादू मोठ महाबली सब घृत मथिकर खाय।" १८ वर्ष की आयु में इन्होंने घर छोड़ दिया। ६ वर्ष भ्रमण करके ये जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी आमेर आये, जहाँ वे १४ वर्ष तक रहे। तत्पश्चात् वे मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए नराना नारायणा (पश्चिमी रेलवे के फुलेरा स्टेशन से होते हुए अजमेर जाने-वाले रेलमार्ग पर जयपुर से बीस कोस दूर) आकर रह गये। वहाँ से तीन-चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। अन्तिम समय में वे कुछ दिन वहाँ रहे और वहीं संवत् १६६० में शरीर छोड़ा। वह स्थान दादूपन्थियों का तीर्थस्थान है। वहीं दादूजी के कपड़े, पोथियाँ आदि सुरक्षित हैं।

दादूदयाल ने विवाह भी किया था, जिससे उनकी चार सन्तानें हुईं—दो पुत्र और दो पुत्रियाँ। बड़े पुत्र का नाम गरीबदास था, जो बाद में उनकी गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। इनके शिष्यों में प्रमुख थे—रज्जबजी, सुन्दरदास, गरीबदास, जगगोपाल, राघवदास, वाजीदजी और मंगलराम।

कबीर की भाँति दादूदयाल ने भी मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद आदि का खण्डन किया, किन्तु इनकी वाणी में कबीर का सा आक्रोश नहीं था। निर्गुणपन्थियों के समान दादूपन्थी भी अपने को निरंजन निराकार का उपासक मानते हैं। ये लोग न तिलक लगाते हैं, न कण्ठी पहनते हैं, हाथ में एक सुमरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं। इनकी बानी में साधारणतः ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जाति-पाँति का निराकरण, संसार की अनित्यता आदि के प्रसंग आते हैं। परन्तु अन्य अवैदिक मतों के समान दादूपन्थ का पर्यवसान व्यक्तिविशेष में हो गया। दादू ने राम को परब्रह्म का वाचक माना, परन्तु उनके अनुयायियों ने दादू को राम का पर्याय मानकर 'दादूराम-दादूराम'

काम करते थे। ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादूजी भी पुजाने लग गए। अब इनके चेलों ने वेदादिशास्त्रों की कही सब बातें छोड़कर 'दादूराम-दादूराम' में ही मुक्ति मान ली है। जब सत्योपदेशक नहीं होता, तब ऐसे-ऐसे ही बखेड़े चला करते हैं।[1]

[रामसनेही मत की आलोचना]

थोड़े दिन हुए कि एक 'रामसनेही' मत शाहपुरा[2] से चला है। उन्होंने सब वेदोक्त धर्म को छोड़के 'राम-राम' पुकारना अच्छा माना है। उसीमें ज्ञान ध्यान मुक्ति मानते हैं। परन्तु जब भूख लगती है, तब 'राम-नाम' में से रोटी शाक नहीं निकलता।[3] क्योंकि खानपान आदि तो गृहस्थों के घर ही में मिलते हैं। वे भी मूर्तिपूजा को धिक्कारते हैं, परन्तु आप स्वयं मूर्ति बन रहे हैं। स्त्रियों के संग में बहुत रहते हैं। क्योंकि रामजी को 'रामकी' के विना आनन्द ही नहीं मिल सकता।

जपने का उपदेश दिया। कालान्तर में उनमें संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ गई और मठाधीश हो गये। मठों और गद्दियों में ऐश्वर्य का व्यापार होने लगा। और एक समय ऐसा आया जब राजस्थान में लोग खुलकर कहने लगे—"जो थने चइजे धन और माया, दादूपन्थी होजा रे भाया"॥

दादूपन्थ में चार प्रकार के साधु पाये जाते हैं—खाकी, विरक्त, थांभाधारी और नागे। इनमें जो खाकी हैं, वे शरीर पर भस्म लगाते और सिर पर जटा बढ़ाते हैं। विरक्त कोपीन बाँधते, काषाय वस्त्र पहनते और हाथ में तूंबी रखते हैं। वे अपना समय भजन, कीर्त्तन, ज्ञानचर्चा आदि में बिताते हैं। नागे और थांभाधारी सफेद वस्त्र पहनते और खेती और चिकित्सा द्वारा जीवननिर्वाह करते हैं। नागे साधु बड़े वीर, साहसी और रणकुशल होते हैं।

रामस्नेही पन्थ—राजस्थान में रामस्नेहियों के तीन केन्द्र हैं—शाहपुरा, खेड़ापा और रेंण। शाहपुरा का रामस्नेही पन्थ रामचरणजी से चला है। इसके अनुयायी निर्गुण परमेश्वर को रामनाम से मानते हैं और उसी का ध्यान करते हैं। ये मूर्त्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। इनके साधु रामद्वारा में रहते हैं और भिक्षा माँगकर अपनी उदरपूर्त्ति करते हैं। ये कपड़े नहीं पहनते, सिर्फ लंगोटी बाँधे रहते हैं और ऊपर से चादर ओढ़ लेते हैं। पहले कोई-कोई साधु नंगे भी रहते थे, जो परमहंस कहलाते थे। वे प्रायः तूंबी, लंगोट, चादर, माला और टोपी के सिवा कोई दूसरी वस्तु अपने पास नहीं रखते और न किसी से रुपया पैसा लेते हैं। ये विवाह नहीं करते। किसी बड़े घर के लड़के को देखकर चेला बना लेते हैं। जो चेला सबसे पहले-पहले मूंडा जाता है, गुरु की गद्दी पर उसी का अधिकार होता है। बड़े चेले को सब छोटे चेले गुरुवत् मानकर नमस्कार करते हैं। ये साधु रामद्वारों में रहते, कथा बाँचते और भजन कीर्त्तन करते हैं। यों तो सभी जातियों के लोग इनको पूज्य दृष्टि से देखते हैं, पर अग्रवालों और महेश्वरियों की इनके प्रति विशेष भक्ति है। रामस्नेही साधु शाहपुरा को अपना गुरुद्वारा समझते हैं जहाँ प्रतिवर्ष फाल्गुण सुदि १ से चैत्रवदि ६ तक मेला लगता है।

शाहपुरा सम्प्रदाय के वर्त्तमान मठाधीश या आचार्य स्वामी रामकिशोरजी हैं। कुछ वर्ष हुए इन्दौर में गीता जयन्ती के अवसर पर हमारी उनसे भेंट हुई थी। आचार्य रामकिशोरजी विद्वान् पुरुष

---

१. 'उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथाऽन्धपरम्परा'। सांख्य ३।७९, ८१

२. राजस्थान के अन्तर्गत भूतपूर्व मेवाड़ के एक राज्य की राजधानी। यह 'भीलवाड़ा' स्टेशन से लगभग ३५ मील पूर्व में स्थित है। पहले यह मेवाड़ राज्य (उदयपुर) का एक सामन्तीय भाग था।

३. अर्थात् मिलता।

['अब थोड़ा-सा विशेष रामसनेही मत के विषय में लिखते हैं—] एक 'रामचरण'[2] नामक साधु हुआ है, जिसका मत मुख्यकर 'शाहपुरा' स्थान मेवाड़ से चला है। वे 'राम-राम' कहने ही को 'परममन्त्र' और इसी को सिद्धान्त मानते हैं। उनका एक ग्रन्थ, कि जिसमें सन्तदासजी आदि की वाणी है, उसमें ऐसा लिखते हैं। **उनका वचन—**

भरम रोग तब ही मिट्या, रट्या निरंजन राइ।
तब जम का कागज फट्या, कट्या कर्म तब जाइ ॥साखी ६[3]॥

अब बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि 'राम-राम' कहने से भ्रम जो कि अज्ञान है, वा यमराज का पापानुकूल शासन, अथवा किये हुए कर्म कभी छूट सकते हैं, वा नहीं? यह केवल मनुष्यों को पापों में फसाना और मनुष्यजन्म को नष्ट कर देना है।

हैं। प्रचारार्थ विदेशों में भी जाते हैं। परस्पर की बातचीत तथा सार्वजनिक भाषण में वे ऐसी कोई बात नहीं कहते, जिसमें सम्प्रदायवाद की गन्ध आती हो। उनके उपदेश सर्वग्राहक होते हैं जिससे लोग उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। अपने सम्प्रदायविशेष की मान्यताओं का उपदेश अपने अनुयायियों को ही देते हैं। आचार्य रामकिशोरजी हलके गुलाबी रंग की पतली-सी चादर ओढ़े रहते हैं।

खैड़ापे का रामस्नेही पन्थ हरिरामदासजी से निकला है। हरिरामदास जी का जन्मस्थान सीथल (बीकानेर) था। संवत् १८०० में इन्होंने बीकानेर राज्य के अन्तर्गत बुलचाकर नामक ग्राम में जैमलदास नामक एक रामानन्दी वैष्णव साधु से दीक्षा ली थी। इनके एक शिष्य रामदास जी हुए। इन्होंने अपनी गद्दी खैड़ापे में स्थापित की। अतः खैड़ापे के रामस्नेही रामदासजी को अपना आदि गुरु, हरिरामदास जी को आदि प्रवर्त्तक और जैमलदास जी को आदि आचार्य मानते हैं। इनके अनुयायियों की संख्या बीकानेर, मारवाड़, गुजरात और मालवे में अधिक है। हरिरामदास जी स्वयं गृहस्थ थे और अपने शिष्यों को भी उन्होंने गृहस्थ धर्म पालन करने का आदेश दिया था। अपने शिष्यों के लिए उन्होंने किसी विशेष प्रकार का बाना या स्वरूप भी नियत नहीं किया था। पर बाद में इनके बेटे दयालदास और पोते पूर्णदास ने रामस्नेहियों के विरक्त, विदेही, परमहंस, प्रवृत्ति और घरबारी—ये पाँच भेद कर दिए थे, जो आज तक चले आते हैं। मूर्त्तिपूजक न होते हुए भी ये गुरुद्वारों में अपने गुरु का चित्र अवश्य रखते हैं, पर यह प्रथा हरिरामदास जी के बहुत पीछे चली बताई जाती है। ये साधु भंग, तमाखू, गांजा, मदिरा आदि किसी प्रकार का नशा नहीं करते और भक्ष्याभक्ष्य का पूरा ध्यान रखते हैं। ये रात्रि में भोजन नहीं करते और पानी को कई बार छान कर पीते हैं। खैड़ापे का गुरुद्वारा सींथल है। इन दोनों स्थानों पर होली के दूसरे दिन मेला लगता है और साधु लोग कीर्तन और पंचवाणी (कबीर, दादू, हरिदास और दयालदास की वाणियों को पंचवाणी कहते हैं) की कथा करते हैं।

रैण (मेड़ता) के रामस्नेही दरियाव जी को अपना आदि गुरु मानते हैं। इनका रहन-सहन और उपासना-पद्धति शाहपुरा और खैड़ापे के रामस्नेहियों से मिलते हैं। इनका गुरुद्वारा रैण है, जहाँ दरियाव जी का एक चित्र रक्खा हुआ है। वर्ष में एक भारी मेला यहाँ भी होता है और उनके अनुयायी बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं।

---

१. सं० २ में यह पङ्क्ति नहीं है। सं० ३४, ३५ में किस आधार पर रखी, इसका निर्देश न होने से हमने इसे कोष्ठक में रखा है। अगले २६१ पृष्ठ पर 'अब दूसरी इनकी शाखा....' पाठानुसार यहाँ उक्त पङ्क्ति युक्त है।

२. 'रामचरण' का इतिहास अगले पृष्ठ २६२, पं० ४ पर देखें।

३. सुमरण को अंग १७॥

अब इनका जो मुख्य गुरु हुआ है 'रामचरण', उसके वचन—

महमा नाँव[1] प्रताप की, सुणो सरवण चित लाइ।
रामचरण रसना रटौ, क्रम सकल झड़ जाइ ॥
जिन-जिन सुमरचा नांव कूं, सो सब उतरचा पार।
रामचरण जो वीसरचा, सो ही जम के द्वार॥२॥
राम बिना सब झूठ बतायो ॥
राम भजत छूटचा सब क्रम्मा। चंद अरु सूर देइ परकम्मा॥
राम कहे तिनकूं भै नाहीं। तीन लोक में कीरति गाहीं॥
राम रटत जम जोर न लागै॥
राम नाम लिष पथर तराई। भगति हेति औतार ही धरही॥
ऊँच नीच कुल भेद विचारै। सो तो जनम आपणो हारै॥
संतां कै कुल दीसै नाहीं। राम राम कह राम सम्हांहीं॥
ऐसो कुण जो कीरति गावै। हरि हरि जन को पार न पावै॥
राम संतां का अन्त न आवै। आप आपकी बुद्धि सम गावै॥

['राम-राम' कहने से कर्म से छुटकारा नहीं]

इनका खण्डन—प्रथम तो **रामचरण** आदि के ग्रन्थ देखने से विदित होता है कि यह ग्रामीण एक सीधा-सादा मनुष्य था। न वह कुछ पढ़ा था, नहीं तो ऐसी गपड़चौथ क्यों लिखता? यह केवल

---

(१) **रामचरण जी**—यह जयपुर राज्य के सोष्ठा नामक गाँव के रहनेवाले बीजावर्गी बनिये थे। इनका जन्म विक्रमी संवत् १७७६ में माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को हुआ था। इनके गुरु का नाम कृपाराम था, जिनसे इन्होंने वि. सं. १८०८ में दीक्षा ली थी। वि. सं. १८२६ में घूमते-घूमते ये भीलवाड़े (मेवाड़) में आए और वहाँ से शाहपुरा गए, जहाँ के राजाधिराज रणसिंह जी ने इनका अच्छा स्वागत किया और इनकी गद्दी स्थापित करवाई। इनका देहावसान वि. सं. १८५५ में शाहपुरा में हुआ। इनके २२५ शिष्य हुए, जिनमें से रामजनजी इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। रामचरण जी की वाणी प्रकाशित हो चुकी है। इसमें लगभग ८००० छन्द हैं। इनकी कविता है तो तथ्यपूर्ण, पर छन्दोभंग बहुत है। इनकी कविता के निम्न दो उदाहरण हैं—

राम ही राम अखण्डित ध्यावत राम बिना सब लागत लारो।
राम ही राम लिया मुख बोलत राम ही ग्यान रु राम विचारो।
राम ही राम करे उपदेशहि राम ही जोग रु जिज्ञ बसारो।
रामचरण इसे कोई साधु है सो ही सिरोमणी प्राण हमारो।
क्षुधा पिपासो उदर संग शीत उष्ण तन साथ।
सो किसको सारै नहीं, ये कर्त्ता के हाथ॥
ये कर्त्ता के हाथ और मत व्याधि लगावे।
कैंफ स्वाद शृङ्गार अजक हैरान करावै॥
रामचरण भज रामकूं पाँचो परबल नाथ।
क्षुधा पिपासा उदर संग शीत उष्ण तन साथ॥

---

१. नाँव=नाम।

इनको भ्रम है कि 'राम-राम' कहने से कर्म छूट जायें। केवल ये अपना और दूसरों का जन्म खोते हैं।

जम का भय तो बड़ा भारी है, परन्तु राजसिपाही चोर डाकू व्याघ्र सर्प बीछू और मच्छर आदि का भय कभी नहीं छूटता, चाहे रात-दिन 'राम-राम' किया करे, कुछ भी नहीं होगा। जैसे 'सक्कर-सक्कर' कहने से मुख मीठा नहीं होता, वैसे सत्यभाषणादि कर्म किये बिना 'राम-राम' कहने से कुछ भी नहीं होगा। और यदि 'राम-राम' करना इनका राम नहीं सुनता, तो जन्मभर कहने से भी नहीं सुनेगा। और जो सुनता है, तो दूसरी बार भी 'राम-राम' कहना व्यर्थ है।

[रामसनेही नहीं, रांडसनेही]

इन लोगों ने अपना पेट भरने और दूसरों का भी जन्म नष्ट करने के लिए एक पाखण्ड खड़ा किया है। सो यह बड़ा आश्चर्य हम सुनते और देखते हैं कि नाम तो धरा **'रामसनेही'** और काम करते हैं **'रांडसनेही'** का। जहाँ देखो वहाँ रॉड ही रॉड सन्तों को घेर रही हैं।

यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते, तो आर्य्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती? ये लोग अपने चेलों को **झूठ**[1] खिलाते हैं। और स्त्रियाँ भी लम्बी पड़के दण्डवत् प्रणाम करती हैं। एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की बैठक होती रहती हैं।

[रामसनेही मत की दो शाखाएँ]

अब दूसरी इनकी शाखा—**'खेड़ापा'**[2] ग्राम मारवाड़ देश से चली है। उसका इतिहास—"एक **'रामदास'** नामक जाति का ढेढ़[3] बड़ा चालाक था। उसके दो स्त्रियाँ थीं। वह प्रथम बहुत दिन तक

हरिरामदास जी—ये बीकानेर राज्यान्तर्गत सींथल नामक ग्राम के एक ब्राह्मणकुल में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम भाग्यचन्द्र था। यह बड़े कुशाग्रबुद्धि तथा मेधावी थे और बहुत थोड़ी आयु में वेदान्त और ज्योतिष आदि में पारंगत हो गए थे। इन्होंने संवत् १८०० में दुलसासर ग्राम (जो सींथल से सात कोस है) में जाकर जैमलदास जी से दीक्षा ग्रहण की थी। इनके योगचमत्कार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन्होंने स्वरूपसिंह नामक निर्धन व्यक्ति को धनवान् बना दिया था। इनका स्वर्गवास संवत् १८३५ में हुआ था। इनके सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्य हुए, जिनमें बिहारीदास जी मुख्य थे। यही इनके बाद इनकी गद्दी के अधिकारी हुए। इन्होंने बहुत-सी फुटकर साखियाँ और पद बनाए तथा छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'निसाणी' इनकी सबसे प्रौढ़ रचना है। इसमें हठयोग, समाधि, प्राणायाम आदि की क्रियाओं का वर्णन है। इनकी राजस्थानी और विचार उच्च हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

रे नर सत गुरु सौदा कीजै। इस सौदा में नफा बहुत है एक मना होय लीजै॥ माता पिता सुत भ्रात सनेही चौरासी लख हीजै॥१॥ जो कोई चाहे राम भक्ति कूं गुरु की शरण गहीजै॥२॥ गुरु बिन भरम न भाजै भव का कर्म न काल कहीजै॥३॥ गुरु गोविन्द बिन मुक्ति न जिव की कहियो वेद सुनीजै॥४॥ जन हरिराम और सब कुकस राम शब्द शत बीजै॥५॥

---

१. झूठ=झूठा भोजन।

२. 'खेड़ापा' ग्राम रामस्नेही सम्प्रदाय का केन्द्र है। यह राजस्थान के नागौर जिले में है, तथा जोधपुर-नागौर सड़क पर स्थित है। साधारण-सा ग्राम है।

३. ढेढ़=चमार।

ओघड़ होकर कुत्तों के साथ खाता रहा। पीछे वामी कूण्डापन्थी, पीछे '**रामदेव का कामडिया**'[1] बना। अपनी दोनों स्त्रियों के साथ गाता था। ऐसे घूमता-घूमता '**सीथल**'[2] में ढ़ेढ़ों का गुरु हररामदास था, उससे मिला। उसने उसको '**रामदेव**' का पन्थ बताके अपना चेला बनाया। उस '**रामदास**' ने '**खेड़ापा**' ग्राम में जगह बनाई, और इसका इधर मत चला।

उधर '**शाहपुरे**' में '**रामचरण**' का। उसका भी इतिहास ऐसा सुना है कि वह जयपुर का बनियाँ था। उसने '**दांतड़ा**'[3] ग्राम में एक साधु से वेष लिया, और उसको गुरु किया। और शाहपुरे में आके टिक्की जमाई। भोले मनुष्यों में पाखण्ड की जड़ शीघ्र जम जाती है, जम गई।

[इनका महामन्त्र और चरणामृत]

इन सब में ऊपर के रामचरण के वचनों के प्रमाण से चेला करके ऊँच-नीच का कुछ भेद नहीं। ब्राह्मण से अन्त्यज-पर्यन्त इनमें चेले बनते हैं। अब भी '**कूण्डापन्थी**' से ही हैं। क्योंकि मट्टी के कूण्डों में ही खाते हैं, और साधुओं की झूठ खाते हैं। वेदधर्म से, माता-पिता, संसार के व्यवहार से बहकाकर छुड़ा देते, और चेला बना लेते हैं। और '**राम**' नाम को '**महामंत्र**' मानते हैं। और इसी को **छुच्छम**[4] वेद भी कहते हैं। राम-राम कहने से अनन्त जन्मों के पाप छूट जाते हैं। इसके विना मुक्ति किसी की नहीं होती।

जो श्वास और प्रश्वास के साथ राम-राम कहना बतावे, उसको '**सत्यगुरु**' कहते हैं। और सत्यगरु को परमेश्वर से भी बड़ा मानते हैं, और उसकी मूर्त्ति का ध्यान करते हैं। साधुओं के चरण धोके पीते हैं। जब गुरु से चेला दूर जावे, तो गुरु के नख और डाढ़ी के बाल अपने पास रख लेवे। उसका **चरणामृत** नित्य लेवे।

रामदास जी—इनका जन्म संवत् १७८३ में जोधपुर राज्य के बीकोकोर नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के चमार (मेघवाल) थे। इनके दो स्त्रियां थीं। यह कभी अघोरी की भाँति रहकर कुत्तों के साथ खाता रहा। बाद में कूण्डापन्थी हो गया। कूण्डापन्थी भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं करते। एक मिट्टी के पात्र में रख कर सब कुछ खा जाते हैं। कहते हैं कि बाल्यावस्था में इन्होंने थोड़ा-सा अभ्यास किया था। कालान्तर में विरक्त होकर किसी योग्य गुरु की खोज करने लगे। इन्होंने बारी-बारी से बारह गुरु किए। पर किसी से भी सन्तोष न हुआ। अन्त में एक दिन किसी सद्‌गृहस्थ से हरिरामदास जी की वाणी सुन कर यह बहुत प्रभावित हुए और सींथल जाकर उनसे भेंट की। सुपात्र समझ कर हरिरामदास जी ने इन्हें रामनाम का प्रभाव और रामस्नेही पन्थ के नियम बताए। सम्वत् १८०९ में इन्होंने रामस्नेही मत की दीक्षा ली और हरिरामदास जी के पास रहकर रामनाम की माला जपने लगे। सम्वत् १८२१ तक ये सींथल में रहे। बाद में जोधपुर की ओर चले गए और वहाँ खेड़ापे में अपनी गद्दी स्थापित की। वहीं उनके सैकड़ों शिष्य बन गए, जिन्होंने आगे चल कर रामस्नेही मत को आगे बढ़ाया। संवत् १८५५ में ७२ वर्ष की आयु में इनका निधन हुआ।

---

१. राजपूताने में 'चमार' लोग भगवें वस्त्र रंगकर 'रामदेव' आदि के गीत, जिन को वे 'शब्द' कहते हैं, चमारों और अन्य जातियों को सुनाते हैं। वे 'कामड़िये' कहलाते हैं। स० द०

२. 'सीथल' जोधपुर के राज्य में एक बड़ा ग्राम है॥ स० द०

३. फुलेरा जंक्शन और जयपुर के मध्य इस नाम का रेलवे स्टेशन है।

४. छुच्छम अर्थात् सूक्ष्म।

[धर्म-पुस्तक की परिक्रमा और दण्डवत् प्रणाम]

रामदास और हररामदास के वाणी के पुस्तक को वेद से अधिक मानते हैं। उसकी[1] परिक्रमा और आठ दण्डवत् प्रणाम करते हैं। और जो गुरु समीप हो, तो गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर लेते हैं। स्त्री वा पुरुष को 'राम-राम' एकसा ही मन्त्रोपदेश करते हैं। और नामस्मरण ही से कल्याण मानते हैं। पुनः पढ़ने में पाप समझते हैं। उनकी साखी—

पंडिताई पाने पड़ी, ओ पूरबलो पाप।
राम राम सुमरयाँ बिनाँ, रहग्यो रीतो आप॥
वेद पुराण पढ़े पढ़ गीता। रामभजन बिन रह गये रीता॥

इनके धर्मग्रन्थ का नाम 'श्री रामस्नेही धर्मप्रकाश' है। रामदास जी ने गुरुमहिमा भक्तमाल, चेतावनी, जमफारगति आदि ग्रन्थ तथा अङ्गवध, अनुभव वाणी की रचना की। इनकी कविता का नमूना है—

निरधन झूरै धन बिना, फल बिन नागर बेल।
रामा झूरै राम बिन, विरही सालै सेल॥
कुंजर झूरै वन्न कूँ, सूवा अम्बा काज।
विरहिन झूरै पीव कूँ, कबै मिलो महराज॥

दयालदास जी—यह रामदास जी के पुत्र थे और उनके बाद खेड़ापे की गद्दी के अधिकारी हुए। इनका जन्म संवत् १८१६ में और निधन १८८५ में हुआ था। यह बड़े अनुभवी और सच्चरित्र महात्मा थे। इनके शिष्य पूर्णदास ने अपनी बनाई हुई 'जन्मलीला' में इनकी बड़ी प्रशंसा की है, जो शिष्य होने के कारण उचित है। इनका बनाया 'करुणासागर' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके रचे फुटकर पद भी बहुत मिले हैं। इनकी कविता का नमूना—

रामइया शरणै की प्रतिपाल।
अब लगि करि सोई अब कीजै अपने घर की चाल॥
जो सूरज परकासै नाहीं रात न कंज विसाल।
ससि नहीं अमिद्रवै जो माधव्र तो निपजै केम रसाल॥
विरह कुमोदिनी जीवन सोई सब लालों सिर लाल।
घाल बाल कै समरथ स्वामी रामदास किरपाल॥

दरियाव जी—ये मारवाड़ राज्य के जेतारां परगने के मुख्य नगर जेतारां के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १७३३ में हुआ था। कुछ लोगों ने इन्हें जाति का मुसलमान (धुनिया) भी माना है। यह सर्वथा निराधार है। न तो दरियाव जी ने कहीं अपना परिचय इस रूप में दिया है और न इनके समकालीन शिष्यों में से किसीने इन्हें मुसलमानकुलोत्पन्न माना है। उनके अनुयायियों में आज भी कोई नहीं कहता कि वे मुसलमान थे। रैण में दरियावजी का एक चित्र रक्खा हुआ है और इसी के दर्शनार्थ चैत्र सुदी पूर्णिमा को लोग वहाँ एकत्र होते हैं। इनका जन्म का नाम दरियाव जी था। पर साधु होने के बाद लोग इन्हें दरियासा कहने लगे। कालान्तर में वही दरियासाहब हो गया। उनके गुरु का नाम प्रेमदास था। गुरुमन्त्र ग्रहण करने के कुछ वर्ष बाद ये रैण चले गए और वहीं पर अपनी गद्दी स्थापित

---

१. उसकी अर्थात् धर्म-पुस्तक की।

ऐसे-ऐसे पुस्तक बनाये हैं। स्त्री को पति की सेवा करने में **पाप** और गुरु-साधु की सेवा में **धर्म** बतलाते हैं। वर्णाश्रम को नहीं मानते। जो ब्राह्मण 'रामस्नेही' न हो, तो उसको नीच और चाण्डाल, रामस्नेही हो तो उसको उत्तम जानते हैं।

की। मारवाड़ के अतिरिक्त राजस्थान की दूसरी रियासतों में भी दरियाव जी के रामस्नेहियों की संख्या काफी है। इनका स्वर्गवास संवत् १८०५ में हुआ। दरियाव जी को हिन्दी, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था और काव्यरचना में भी इनकी अच्छी गति थी। कहते हैं कि इन्होंने 'वाणी' नामक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा था, जिसमें लगभग दस हजार दोहे आदि थे। पर आजकल बहुत थोड़ी कविताएँ मिलती हैं। रामस्नेहियों में यही एक ऐसे कवि हुए हैं, जिनकी भाषा सुव्यवस्थित और रचना कवित्वपूर्ण कही जा सकती है। उदाहरणार्थ—

गुरु आये घन गरजि करि, सबद किया परकास।
बीज पड़ा था भूमि में, भई फूल फल आस॥
जो काया कंचन भई, रतनो जड़िया चाम।
दरिया कहै किस काम का, जो मुख नाहीं राम॥
विरहिन पिउ के कारने, ढूंढन बन खंड जाय।
निसि बीती पिउ ना मिला, दरद रहा लिपटाय॥
दरिया बगला ऊजला, उज्जल ही ह्वै हंस।
ये सखर मोती चुगैं, वा में मुख में मंस॥
सीखत ज्ञानी ज्ञान गम, करें ब्रह्म की बात।
दरिया बाहर चाँदना, भीतर काली रात॥
कंचन-कंचन ही सदा, काँच-काँच सो काँच।
दरिया झूठ सो झूठ है, साँच साँच सो साँच॥
साध पुरुष देखि कहैं, सुनि कहैं नहिं कोय।
कानों सुनी सो झूठ सब, देखी साँची होय॥

(राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, ८०-८६)

सिद्धान्तरूप से रामस्नेही भले ही मूर्त्तिपूजा में आस्था न रखते हों, किन्तु इनके गुरु और महन्त स्वयं ही शिष्यों के पूजा-पात्र बनकर सिद्धाई और गुरुडम को प्रोत्साहित करते हैं। गुरुभक्ति इस सम्प्रदाय में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई है। पौराणिकों की अवतारवाद की कल्पना को भले ही स्वीकार न करते हों, किन्तु अपने गुरु को ईश्वर से कम नहीं मानते। दरियाव जी के विषय में लिखा है—"त्रिविध मेटन ताप आप लियो अवतारी।" गुरुओं की वाणी को वेद से अधिक मानते हैं। स्त्रियों के लिए पतिसेवा को पाप और गुरुसेवा को पुण्य मानते हैं। " 'राम जी' को 'राम की' के बिना आनन्द नहीं आता" ग्रन्थकार की यह आलोचना सर्वथा सटीक है। स्त्रियों का साष्टांग प्रणाम करना, गुरु के चरण धोकर पीना और उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण रामस्नेही मत के कलंक हैं। व्यभिचार या दुराचार का प्रचलन भी उनमें कम नहीं है। चेलियों के साथ इनके दुराचार की कथाएँ राजस्थान में प्रचलित हैं। इसका विस्तृत विवरण कभी 'चाँद' के मारवाड़ी अंक में प्रमाणसहित प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थकार शाहपुराधीश द्वारा आमन्त्रित होकर वहाँ गए थे और महाराजा सर नाहरसिंह को मनुस्मृति का राजधर्म तथा कुछ दर्शनशास्त्र पढ़ाने के निमित्त चार मास से अधिक वहाँ रहे थे। उसी काल में जो कुछ वहाँ उन्होंने प्रत्यक्ष देखा और सुना होगा, उसी को लक्ष्य कर उन्होंने यहाँ लिखा है—"सो यह बड़ा

अब ईश्वर का अवतार नहीं मानते, और रामचरण का वचन जो ऊपर लिख आए कि—**'भगति हेति औतार ही धरही'** भक्ति और सन्तों के हित अवतार को भी मानते हैं। इत्यादि पाखण्ड प्रपञ्च इनका जितना है, सो सब आर्यावर्त्त देश का अहितकारक है। इतने ही से बुद्धिमान् बहुत-सा समझ लेंगे।

[वल्लभ सम्प्रदाय की समीक्षा]

प्रश्न—गोकुलिये गुसाइंयों का मत तो बहुत अच्छा है। देखो कैसा ऐश्वर्य भोगते हैं ? क्या यह ऐश्वर्य लीला के विना ऐसा हो सकता है ?

उत्तर—यह ऐश्वर्य गृहस्थ लोगों का है, गुसाइंयों का कुछ नहीं।

प्रश्न—वाह ! वाह ! गुसाइंयों के प्रताप से है। क्योंकि ऐसा ऐश्वर्य दूसरों को क्यों नहीं मिलता ?

उत्तर—दूसरे भी इसी प्रकार का छल-प्रपञ्च रचें, तो ऐश्वर्य मिलने में क्या सन्देह है ? और जो इनसे अधिक धूर्त्तता करते, तो अधिक भी ऐश्वर्य हो सकता है।

प्रश्न—वाह जी वाह ! इसमें क्या धूर्त्तता है ? यह तो सब **'गोलोक'** की लीला है ?

उत्तर—गोलोक की लीला नहीं, किन्तु गुसाइंयों की लीला है। जो गोलोक की लीला है, तो **'गोलोक'** भी ऐसा ही होगा।

आश्चर्य हम देखते और सुनते हैं कि नाम तो धरा 'रामस्नेही' और काम करते हैं 'राँडस्नेही' का। जहाँ देखो वहाँ-राँड ही राँड सन्तों को घेर रही हैं।"

वल्लभ सम्प्रदाय—जिन वैष्णव आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए विष्णुपूजा का प्रचार किया तथा ज्ञान के विरोध में भक्ति के महत्त्व को उजागर किया, उनमें वल्लभाचार्य अन्यतम हैं। अपने पूर्ववर्त्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि अन्य वैष्णव सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों की भाँति वल्लभ ने भी अपने मत तथा सिद्धान्त की पुष्टि के लिए वेदान्तसूत्र, उपनिषद् तथा गीता अर्थात् प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे। उनका वेदान्तदर्शन-भाष्य अणुभाष्य के नाम से जाना जाता है। वल्लभाचार्य ने भागवतपुराण पर 'संजीवनी' टीका भी लिखी है। वल्लभ को पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तक माना जाता है, यद्यपि वे मूलतः इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक नहीं थे। उनसे पूर्व विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत दर्शन के आधार पर रुद्र सम्प्रदाय स्थापित किया था। वल्लभ इन्हीं विष्णु स्वामी के शिष्य थे।

वल्लभाचार्य का जन्म आन्ध्रप्रदेश में हुआ था। इसके प्रारम्भिक जीवन की कथा ग्रन्थकार ने विस्तारपूर्वक दी है। 'वल्लभदिग्विजय' (प्रथम प्रस्थान, तृतीय पटल) के अनुसार—

"श्रीमांल्लक्ष्मणभट्टोऽसौ धृत्वौपासनमादरात्। सेवमानः पितृंश्चक्रे धर्ममाश्रमचोदितम् ॥४७॥

अपत्येषु तथान्येषु जातेष्वथ स संस्कृतिम्। चकार लोकानुगतो लौकिकं च महोदयम् ॥५१॥
पित्रोर्लब्ध्वा ततोऽनुज्ञां तीर्थयात्रामिषादथ। प्रेमाकरं सिषेवेऽसौ प्रमेय स्याकरं गिराम् ॥५२॥
ततो लब्ध्वा मनुवरं जजाप स जनार्दने। रहस्यं भक्तिशास्त्राणां प्रपेदेयमिनो मुखात् ॥५३॥
तनयस्य वियोगेन विमना वल्लभस्ततः। सकुटुम्बः प्रचलितस्तीर्थान्येव गवेषयन् ॥५४॥
स पुनर्दैवयोगेन क्षेत्रमेतदुपागमत् ॥५५॥ ददर्श स्वामिनं प्रेमाकरं विद्यामहोदधिम् ॥५७॥
तत्र लब्ध्वा सुतं तेन वन्दितश्चातिनन्दितः। ननाम यतिराजं तं त्रयीमूर्त्ति त्रिदण्डिनम् ॥५८॥
यतिराट् प्राह तनयो विनयादिगुणस्तव ॥५९॥ भवत्स्नुषार्थं तन्मात्राभ्यर्थितोऽहमचिन्तयम् ॥६०॥
ततोऽयं नीयतां पुत्रो गताधिः क्रियतां स्नुषा ॥६१॥"

[वल्लभ मत के मूल पुरुष का इतिहास]

"यह मत '**तैलङ्ग**' देश से चला है। क्योंकि एक तैलङ्गी **लक्ष्मण भट्ट** नामक ब्राह्मण विवाह कर किसी कारण से माता-पिता और स्त्री को छोड़ काशी में जाके उसने संन्यास ले लिया था। और झूंठ बोला था कि मेरा विवाह नहीं हुआ।

दैवयोग से उसके माता-पिता और स्त्री ने सुना कि काशी में संन्यासी हो गया है। उसके माता-पिता और स्त्री काशी में पहुँचकर जिसने उसको संन्यास दिया था, उससे कहा कि इसको संन्यासी क्यों किया ? देखो, इसकी यह युवति स्त्री है।

और स्त्री ने कहा कि—"यदि आप मेरे पति को मेरे साथ न करें, तो मुझको भी संन्यास दे दीजिये'। तब तो उसको बुलाके कहा कि—तू बड़ा मिथ्यावादी है। संन्यास छोड़ गृहाश्रम कर। क्योंकि तूने झूठ बोलकर संन्यास लिया। उसने पुन: वैसा ही किया। संन्यास छोड़ उसके साथ हो लिया।"

देखो, इस मत का मूल ही झूंठ-कपट से जमा। जब तैलङ्ग देश में गये, उसको जाति में किसी ने न लिया। तब वहाँ से निकलकर घूमने लगे। '**चरणागंढ़**'[1] जो काशी के पास है, उसके समीप '**चम्पारण्य**'[2] नामक जंगल में चले जाते थे। वहाँ **कोई एक लड़के को जंगल में छोड़,** चारों ओर दूर-दूर आगी जलाकर चला गया था। क्योंकि छोड़नेवाले ने यह समझा था—'जो आगी न जलाऊँगा, तो अभी कोई जीव इसे मार डालेगा।' लक्ष्मणभट्ट और उसकी स्त्री ने **लड़के को लेकर अपना पुत्र बना लिया।** फिर काशी में जा रहे।

अर्थात्--श्रीमान् लक्ष्मणभट्ट ने आदर से औपासन अग्निहोत्र को धारण करके, पितादि की सेवा करते हुए आश्रमधर्म का पालन किया। सन्तान उत्पन्न होने पर उस लोकानुसारी ने उनके महाफल संस्कार कराये। तीर्थयात्रा के बहाने माता-पिता की अनुमति प्राप्त करके प्रेमवाणियों के भण्डार स्वामी प्रेमाकर की सेवा करने लगा। उसके पश्चात् विष्णुस्वामी श्रेष्ठ मनु (मन्त्र) प्राप्त करके जप किया और स्वामी प्रेमाकर के मुख से भक्तिशास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया। पुत्र के वियोग से विमन होकर वल्लभ (लक्ष्मणभट्ट के पिता का नाम भी वल्लभ था) परिवारसहित तीर्थों में खोजने चल पड़ा। वह पुन: दैवयोग से जगदीश क्षेत्र (जगन्नाथपुरी) में आया। वहाँ विद्यासागर स्वामी प्रेमाकर के दर्शन किये। वहाँ पुत्र को देखकर और प्रणाम प्राप्त कर अति आनन्दित हुआ। वेदमूर्त्ति त्रिदण्डी संन्यासी को प्रणाम किया। स्वामी प्रेमाकर ने कहा—तेरा पुत्र विनयादि गुणोंवाला है। आपकी पुत्रवधू के लिए उसकी माता की प्रार्थना पर मैं विचार करने लगा। तो इस पुत्र को ले जाइए और अपनी पुत्रवधू को निश्चिन्त कीजिए।

ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित वल्लभ के पूर्ववृत्त के स्रोत का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है। तथापि उसके बीज 'वल्लभदिग्विजय' में उपलब्ध हैं और वल्लभ सम्प्रदाय की गतिविधियों से भी उसकी पुष्टि होती है। वल्लभ तैलंग ब्राह्मण थे। काशी में वल्लभ ने शिक्षा पाई, किन्तु अपने मत का प्रचार करने के लिए उन्हें व्रजदेश अधिक अनुकूल जान पड़ा। व्रजमण्डल उन दिनों अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाओं से परिपूर्ण था। वल्लभाचार्य ने गोवर्धन के निकट श्रीनाथजी के मन्दिर की स्थापना की और उसमें अपने

---

१. मिर्जापुर और मुगलसराय के मध्य 'चुनार' वा 'चुनारगढ़' नाम से प्रसिद्ध स्थान। यह रेलवे स्टेशन भी है।

२. 'हिन्दुत्व' ग्रन्थ के लेखक श्री रामदास गौड़ ने श्री वल्लभाचार्य के परिचय के प्रसङ्ग में 'चम्पारण्य' को रायपुर मध्य-प्रदेश में माना है।

[लक्ष्मण भट्ट के पालित पुत्र द्वारा वल्लभ मत की स्थापना]

जब वह लड़का बड़ा हुआ, तब उसके माँ-बाप का शरीर छूट गया। काशी में बाल्यावस्था से युवावस्था तक कुछ पढ़ता भी रहा। फिर और कहीं जाके एक विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हो गया। वहाँ से कभी कुछ खटपट होने से काशी को फिर चला गया, और संन्यास ले लिया। फिर कोई वैसा ही जाति-बहिष्कृत ब्राह्मण काशी में रहता था। उसकी लड़की युवति थी, उसने इससे कहा कि—'तू संन्यास छोड़ मेरी लड़की से विवाह करले। वैसा ही हुआ। 'जिसके बाप ने जैसे लीला की थी, वैसी ही पुत्र क्यों न करे ? उस स्त्री को लेके वहीं चला गया कि जहाँ प्रथम विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हुआ था। विवाह करने से उनको वहाँ से निकाल दिया।

[वल्लभ द्वारा ८४ लोगों को वैष्णव मत की दीक्षा]

फिर ब्रजदेश में कि जहाँ अविद्या ने घर कर रक्खा है, जाकर अपना प्रपञ्च अनेक प्रकार की छल-युक्तियों से फैलाने लगा। और मिथ्या बातों की प्रसिद्धि करने लगा कि—"श्रीकृष्ण मुझको मिले, और कहा कि जो गोलोक से **'दैवी जीव'** मर्त्यलोक में आये हैं, उनको ब्रह्म-सम्बन्ध आदि से पवित्र करके गोलोक में भेजो।" इत्यादि मूर्खों को प्रलोभन की बातें सुनाके थोड़े से लोगों को अर्थात् ८४ चौरासी वैष्णव बनाये।

[वल्लभ सम्प्रदाय के समर्पण-मन्त्र और उनकी समीक्षा]

और निम्नलिखित मन्त्र बना लिये। और उनमें भी भेद रक्खा। जैसे—

'श्रीकृष्णः शरणं मम' ॥१॥

'क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' ॥२॥

ये दोनों साधारण मन्त्र हैं। परन्तु अगला मन्त्र ब्रह्मसम्बन्ध और **समर्पण** कराने का है—

'श्रीकृष्णः शरणं मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराण्यात्मना सह समर्पयामि, दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' ॥

द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार बालकृष्ण की मूर्त्ति की स्थापना कर उसमें आडम्बरपूर्ण पूजा सेवा की व्यवस्था की। वल्लभाचार्य गृहस्थ थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ नामक उनके पुत्र ही वल्लभाचार्य की मृत्यु के बाद उनकी उद्दी के उत्तराधिकारी हुए। वल्लभाचार्य के काल में ही श्रीनाथजी के मन्दिर को अपना केन्द्र बना सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने अपनी काव्यरचना की। यह समूचा काव्य शृङ्गाररस से परिपूर्ण है, जिसमें श्रीकृष्ण और राधा तथा गोपियों के परकीया (जार) भाव की प्रधानता है।

जब औरंगजेब ने श्रीनाथजी के मन्दिर पर आक्रमण किया तो वहाँ की श्रीकृष्ण की प्रतिमा को उठाकर राजस्थान में उदयपुर के निकट मन्दिर बनाकर उसमें स्थापित कर दिया गया। वह वर्तमान में नाथद्वारा के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार की श्रीकृष्ण-प्रतिमाएँ काँकरोली, द्वारिकाधीश, कोटा (मथुराधीश) तथा चौपासनी (जोधपुर) में भी प्रतिष्ठित हैं। इन मन्दिरों में पुष्टिमार्ग की उपासना पद्धति के अनुसार भगवान् की मूर्त्तियों के राग भोग की आडम्बरपूर्ण व्यवस्था है। लाखों रुपयों के खाद्य पदार्थ प्रसाद के रूप में तैयार किये जाकर श्रीनाथजी को अर्पित किये जाते हैं। मनों घृत, शक्कर, अन्न,

[**समीक्षा**—] इस मन्त्र का उपदेश करके शिष्य-शिष्याओं को **समर्पण** कराते हैं। **'क्लीं कृष्णायेति'**—यह 'क्ली' तन्त्रग्रन्थ का है। इससे विदित होता है कि यह वल्लभ मत भी वाममार्गियों का भेद है। इसी से स्त्रीसङ्ग गुसाईं लोग बहुधा करते हैं। **'गोपीजनवल्लभेति'**—क्या कृष्ण गोपियों ही को प्रिय थे, अन्य को नहीं? स्त्रियों को प्रिय वह होता है, जो **'स्त्रैण'** अर्थात् स्त्रीभोग में फँसा हो। क्या श्रीकृष्णजी ऐसे थे?

अब **'सहस्रपरिवत्सरेति'**—सहस्र वर्षों की गणना व्यर्थ है। क्योंकि वल्लभ और उसके शिष्य कुछ सर्वज्ञ नहीं हैं। क्या कृष्ण का वियोग सहस्रों वर्षों से हुआ, और आजलों अर्थात् जबलों वल्लभ का मत न था, न वल्लभ जन्मा था, उसके पूर्व अपने दैवी जीवों के उद्धार करने को कोई क्यों न आया? **'ताप'** और **'क्लेश'** ये दोनों पर्यायवाची हैं। इनमें एक का ग्रहण करना उचित था, दो का नहीं। **'अनन्त'** शब्द का पाठ करना व्यर्थ है। क्योंकि जो अनन्त शब्द रक्खो, तो 'सहस्र' शब्द का पाठ न रखना चाहिए। और जो 'सहस्र' शब्द का पाठ रक्खो, तो 'अनन्त' शब्द का पाठ रखना सर्वथा व्यर्थ है। और जो अनन्तकाललों **'तिरोहित'** अर्थात् आच्छादित रहे, उसकी मुक्ति के लिये वल्लभ का होना भी व्यर्थ है। क्योंकि अनन्त का अन्त नहीं होता।

भला देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरण और उसके धर्म, स्त्री स्थान पुत्र प्राप्तधन का अर्पण कृष्ण को क्यों करना? क्योंकि कृष्ण पूर्णकाम[1] होने से किसी के देहादि की इच्छा नहीं कर सकते। और देहादि का अर्पण करना भी नहीं हो सकता। क्योंकि देह के अर्पण से नखाग्रशिखा-पर्यन्त **'देह'** कहाता है। उसमें जो कुछ अच्छी-बुरी वस्तु हैं, उन मलमूत्रादि का भी अर्पण कैसे कर सकोगे?

और जो पाप-पुण्यरूप कर्म होते हैं, उनको कृष्णार्पण करने से उनके फलभागी भी कृष्ण ही होवें। अर्थात् नाम तो कृष्ण का लेते हैं, और समर्पण अपने लिये कराते हैं। जो कुछ देह में मल-मूत्रादि हैं, वह भी गोसाईंजी के अर्पण क्यों नहीं होता? क्या **'मीठा-मीठा गड़प्प और कडुवा-कडुवा थू'**? और यह भी लिखा है कि गोसाईंजी के अर्पण करना, अन्य मतवाले के नहीं। यह सब स्वार्थसिन्धुपन, और पराये धनादि पदार्थ हरने, और वेदोक्त धर्म के नाश करने की लीला रची है। देखो यह **वल्लभ का प्रपञ्च**—

दूध, दही आदि पौष्टिक पदार्थों का दुरुपयोग देखकर ही ग्रन्थकार की इस उक्ति की सार्थकता समझ में आती है कि मन्दिरों में करोड़ों रुपये के अपव्यय से देश की दरिद्रता की वृद्धि होती है तथा मन्दिराश्रित लोग आलसी एवं प्रमादी होकर पुरुषार्थहीन हो जाते हैं।

नाथद्वारा में जितना प्रसाद भगवान् श्रीनाथजी को अर्पित किया जाता है, भगवान् तो उसे छूते भी नहीं, क्योंकि अकाय होने से उन्हें कभी भूख ही नहीं लगती। इसलिए वह सब मन्दिर के कर्मचारियों को वेतनरूप में वितरित कर दिया जाता है, जिसे वे खुले बाजार में बेचकर अपनी तिजोरियों में डाल देते हैं। इस प्रकार धर्म और ईश्वर के नाम पर मठ मन्दिरों में विद्यमान करोड़ों रुपये की पूंजी मठों और धर्मसंस्थानों में पाषाण की मूर्त्तियों की पूजा अर्चना में नष्ट होती है।

जहाँ तक सिद्धान्तों का प्रश्न है, वल्लभाचार्य ने भी अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों की भाँति शंकराचार्य के ज्ञानाश्रित अद्वैतवाद का खण्डन किया है। परन्तु प्रकारान्तर से वे शंकर के समान ब्रह्म और जीव की अभिन्नता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने जीव को ब्रह्म का अंश माना है। वल्लभ के

---

१. न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ गीता ३।२२॥

[वल्लभ मत के मूल सिद्धान्त, और उनका खण्डन]

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥१॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥२॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥३॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्ज्जनमाचरेत् ॥४॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥५॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥७॥
यथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वे गुणदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥८॥

इत्यादि श्लोक गोसाइयों के **'सिद्धान्तरहस्यादि'** ग्रन्थों में लिखे हैं। यही गोसाइयों के मत का मूल तत्त्व है। भला इनसे कोई पूछे कि श्रीकृष्ण के देहान्त हुए कुछ कम पाँच सहस्र वर्ष बीते। वह वल्लभ से श्रावण मास की आधी रात को कैसे मिल सके? ॥१॥

सिद्धान्त में माया का कोई स्थान नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने अद्वैत को शुद्धाद्वैत का नाम दिया है। वल्लभ के अनुसार 'श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयं'—कृष्ण ही साक्षात् भगवान् हैं। वही लीलाहेतु संसार में अवतार धारण करते हैं। राधा कृष्ण की ल्हादिनी शक्ति है। उन्हीं से प्रसूत गोप और गोपियाँ उन्हीं की लीला का प्रसारण करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में बालकृष्ण ही पूज्य और आराध्य हैं। तदनुसार कृष्ण अपने निज लोक गोलोक में शाश्वत लीलाएँ करते हैं। भारत में गोकुल, वृन्दावन और व्रज उसी शाश्वत गोलोक की प्रतिकृति हैं, जहाँ द्वापर में अवतार लेकर श्रीकृष्ण ने विभिन्न लीलाएँ की थीं।

जब वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में रासलीलाएँ होने लगीं तो कृष्ण और गोपियों के जारभाव का प्रेम उनके भक्तों में अभिव्यक्त होने लगा। रासलीलाओं और जारभाव के प्रेम के परिणामस्वरूप वल्लभ सम्प्रदाय में दुराचार बढ़ने लगा। स० प्र० के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा—"सो बड़े-बड़े मन्दिर उनोंने बनाये हैं और नाना प्रकार की मूर्त्तियाँ रख ली हैं। ऐसा जाल रचा है कि देखते ही मोहित होके उसमें फँस जाते हैं। प्रायः स्त्री लोग उस मन्दिर में बहुत जाती हैं। जितनी व्यभिचारिणी स्त्री और व्यभिचारी पुरुष बहुधा मन्दिरों में जाते हैं, क्योंकि वहाँ परस्पर स्त्री पुरुषों का दर्शन होता है और जिस्से जो चाहे उस्से समागम विना परिश्रम से कर ले। उसमें शयन आर्ती और मंगलार्ती बहुधा व्यभिचार के मूल हैं। क्योंकि उस समय प्रायः रात्रि ही रहती है। इससे आनन्दपूर्वक निर्भय होके क्रीड़ा करते हैं परस्पर मिलके। और उसमें पाप भी नहीं गिनते क्योंकि एक श्लोक बना रक्खा है—"अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगमः।" परस्त्री और परपुरुष जब परस्पर संगम करना चाहें तो इसको

'जो गोसाईं का चेला होता है, और उसको सब पदार्थों का समर्पण करता है, उसके शरीर और जीव के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है।' यही वल्लभ का प्रपञ्च मूर्खों को बहकाकर अपने मत में लाने का है। जो गोसाईं के चेले-चेलियों के सब दोष निवृत्त हो जावें, तो रोग-दारिद्र्यादि दुःखों से पीड़ित क्यों रहें ? और **वे दोष पांच प्रकार के होते हैं** --॥२॥

'**एक सहज दोष**--जो कि स्वाभाविक अर्थात् काम-क्रोधादि से उत्पन्न होते हैं। **दूसरे**--किसी देश काल में नाना प्रकार के पाप किये जायें। **तीसरे**--लोक में जिनको भक्ष्याभक्ष्य कहते, और वेदोक्त जो कि मिथ्याभाषणादि हैं। **चौथे संयोगज**--जो कि बुरे सङ्ग से अर्थात् चोरी, जारी=माता भगिनी कन्या पुत्रवधू गुरुपत्नी आदि से संयोग करना। **पाँचवें स्पर्शज**--अस्पर्शनीयों को स्पर्श करना। इन पाँच दोषों को गोसाईं लोगों के मतवाले कभी न मानें। अर्थात् यथेष्टाचार करें' ॥३॥

'अन्य कोई प्रकार दोषों की निवृत्ति के लिये नहीं है, विना गोसाईंजी के मत के। इसलिए विना समर्पण किए पदार्थ को गोसाईंजी के चेले न भोगें'। इसीलिए इनके चेले अपनी स्त्री कन्या पुत्रवधू और धनादि पदार्थों को भी समर्पित करते हैं। परन्तु समर्पण का नियम यह है कि जबलों गोसाईंजी की चरण-सेवा में समर्पित न होवे, तबलों उसका स्वामी स्वस्त्री को स्पर्श न करे ॥४॥

'इससे गोसाइयों के चेले समर्पण करके पश्चात् अपने-अपने पदार्थ का भोग करें। क्योंकि स्वामी के भोग करे पश्चात् समर्पण नहीं हो सकता' ॥५॥

'इससे प्रथम सब कामों में सब वस्तुओं का समर्पण करें। प्रथम गोसाईंजी को भार्यादि समर्पण करके पश्चात् ग्रहण करें। वैसे ही हरि को सम्पूर्ण पदार्थ समर्पण करके ग्रहण करें ॥६॥

'गोसाईंजी के मत से भिन्न मार्ग के वाक्यमात्र को भी गोसाइयों के चेला-चेली कभी न सुनें न ग्रहण करें। यही उनके शिष्यों का व्यवहार प्रसिद्ध है'[1] ॥७॥

'वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में **ब्रह्मबुद्धि** करे। उसके पश्चात् जैसे गंगा में अन्य जल मिलकर गंगारूप हो जाते हैं, वैसे ही अपने मत में गुण और दूसरे के मत में दोष हैं। इसलिये अपने मत में गुणों का वर्णन किया करें ॥८॥

पढ़ ले तो कुछ पर-स्त्री गमन वा पर-पुरुष गमन में कुछ पाप नहीं होता है। जब वे परस्पर सम्मुख होवें तब पुरुष कहे कि मैं कृष्ण हूँ, तू राधा है। तब स्त्री बोले कि मैं राधा हूँ, आप कृष्ण हैं। ऐसा कहके कुकर्म करने में लग जाते हैं।" (पृष्ठ ३३७-३८)

सो यह सब 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' के अनुसार है। पौराणिकों के अनुसार जैसा उनके आराध्यदेव श्रीकृष्ण करते थे, वैसा ही वे कर रहे हैं। 'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' में ग्रन्थकार लिखते हैं--" 'रसभावना' आदि इनके सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इसमें एक बात उदाहरण के लिए लिखते हैं--"राधा के कुच आदि अंगों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिए। तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियाँ हैं। कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन-रात क्रीड़ा करते हैं। सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियाँ हैं, उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकलके एक-एक स्त्री को एक-एक पुरुष ग्रहण करके सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं।"

"विट्ठलकृत 'विद्वन्मण्डल' नामक ग्रन्थ में 'निजमुरलिका०' इत्यादि लिखा है। अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुनके गोकुल की स्त्रियाँ आईं। कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिए प्रीति

---

१. 'यही···प्रसिद्ध है' यह भावमात्र है। शब्दार्थ--'जैसे लोक में सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, अर्थात् वे अपने स्वामी का कहा मानते हैं अन्य का नहीं, उसी प्रकार अन्यमतपरक वचन नहीं सुनना चाहिये'।

[उपर्युक्त अनर्गल बातों की समीक्षा]

अब देखिये, गोसाइंयों का मत सब मतों से अधिक अपना प्रयोजन सिद्ध करनेहारा है। भला, इन गोसाइंयों को कोई पूछे कि ब्रह्म का एक लक्षण भी तुम नहीं जानते, तो शिष्य-शिष्याओं को 'ब्रह्म-सम्बन्ध' कैसे करा सकोगे ? जो कहो कि हम ही ब्रह्म हैं, हमारे साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्म-सम्बन्ध हो जाता है, सो तुममें ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव एक भी नहीं हैं। पुनः क्या तुम केवल भोगविलास के लिये ब्रह्म बन बैठे हो ?

भला शिष्य और शिष्याओं को तो तुम अपने साथ समर्पित करके शुद्ध करते हो, परन्तु तुम और तुम्हारी स्त्री कन्या तथा पुत्रवधू आदि असमर्पित रह जाने से अशुद्ध रह गये वा नहीं ? और तुम असमर्पित वस्तु को अशुद्ध मानते हो, पुनः उनसे उत्पन्न हुए तुम लोग अशुद्ध क्यों नहीं ? इसलिये तुमको

से उनका ग्रहण किया, अर्थात् युवति-युवति स्त्रियाँ देखके जितनी गोपों की स्त्रियाँ थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर कृष्ण ने उनसे समागम किया…इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से 'विद्वन्मण्डल' नाम अयोग्य ही है। क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है।"

गोकुलिये गुँसाई अपने आपको साक्षात् कृष्ण का रूप और भक्त स्त्रियों को गोपियों का अवतार मानकर उनके साथ रहस केलि करने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं करते थे। 'तन-मन-धन श्री गोसाईंजी को अर्पण' उनका मन्त्र बन गया। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अनाचारी गोस्वामियों ने भक्तजनों के धन तथा वैभव का ही अपहरण नहीं किया, उनके दाम्पत्य जीवन में भी विष घोल दिया। जब बम्बई और गुजरात में महाराज नामधारी इन गुसाइयों के अनाचार की कहानियाँ प्रसारित हुईं और पत्र-पत्रिकाओं में उनके दुराचार एवं व्यभिचार के किस्से प्रकाशित हुए तो बम्बई के वल्लभाचार्य के महन्त जीवन जी महाराज ने 'सत्यप्रकाश' नामक पत्र पर मानहानि का अभियोग चलाया। बम्बई हाईकोर्ट में दायर यह अभियोग महाराज लाइबल (Libel = निन्दा) केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मुकदमे की सुनवाई के दौरान जो गवाहियाँ हुईं, उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों के काले कारनामों तथा व्यभिचार-कथाओं का पर्दाफाश कर दिया। स्वामी ब्लाक्टानन्द नामक एक व्यक्ति ने, जो स्वयं अपने पूर्व जीवन में इस सम्प्रदाय का अनुयायी रहकर महाराजों के दुश्चरित्रों से अवगत बताया जाता था, 'वल्लभकुलचरित्र दर्पण', 'वल्लभकुल छलकपटदर्पण' आदि पुस्तकें लिखीं, जिनसे महाराजों की चरित्रहीनता का भंडाफोड़ हुआ। पं० लेखराम आर्य मुसाफिर ने प्रयास किया कि Maharaj Libel case नामक पुस्तक का उर्दू में अनुवाद करवाकर इसे प्रसारित किया जाये। उनके जीते जी यह कार्य न हो सका। उनके बलिदान के बाद सन् १८९८ में उनके एक भक्त लाला जयचन्द जी ने इसका अनुवाद करके प्रसारित किया।

जिस समय ग्रन्थकार का प्रथम बार बम्बई में पदार्पण हुआ उस समय वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के लोगों में बड़ी भयंकर खलबली मची हुई थी। महाराजों की चरित्रहीनता से उनके विचारशील अनुयायी दुःखी थे। वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के इन काले कारनामों के तीव्र खण्डन की आवश्यकता को भी लोग अनुभव करने लगे थे। ग्रन्थकार को भी वल्लभ मत की विचारधारा और गतिविधियों को निकट से देखने-परखने का अवसर मिला। अतः उन्होंने आते ही इस सम्प्रदाय के विचारों, सिद्धान्तों और कार्यों का तीव्र खण्डन करना आरम्भ कर दिया। इस बीच उन्होंने 'वेदविरुद्धमतखण्डन' नाम से वल्लभ सम्प्रदाय विरोधी पुस्तक भी लिखी, जिसमें युक्तियों के साथ-साथ वल्लभ प्रतिपादित बातों का शास्त्रीय आधार पर भी खण्डन किया गया था। वल्लभ सम्प्रदाय गुजराती भाषा भाषी भाटिया जाति

भी उचित है कि अपनी स्त्री कन्या तथा पुत्रवधू आदि को अन्य मतवालों के साथ समर्पित कराया करो। जो कहो कि नहीं-नहीं, तो तुम भी अन्य स्त्री-पुरुष तथा धनादि-पदार्थों को समर्पित करना-कराना छोड़ देओ।

भला अबलों जो हुआ सो हुआ, परन्तु अब तो अपनी मिथ्या-प्रपञ्चादि बुराइयों को छोड़ो। और सुन्दर ईश्वरोक्त वेदविहित सुपथ में आकर अपने मनुष्यरूपी जन्म को सफल कर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस **'चतुष्टय फल'** को प्राप्त होकर आनन्द भोगो।

[यह पुष्टिमार्ग नहीं, कुष्ठिमार्ग है]

और देखिये, ये गोसाईं लोग अपने सम्प्रदाय को **'पुष्टिमार्ग'** कहते हैं। अर्थात् खाने-पीने पुष्ट होने और सब स्त्रियों के सङ्ग यथेष्ट भोगविलास करने को **'पुष्टिमार्ग'** कहते हैं। परन्तु इनसे पूछना

के लोगों में अधिक प्रचलित था। इस समुदाय की स्थिति बम्बई में अत्यन्त विषम हो गई। यह देखकर कि स्वामी दयानन्द के प्रचण्ड खण्डन से उनके सम्प्रदाय की जड़ें हिलती जा रही हैं, गोकुलिये गुसांई लोग स्वामी जी के शत्रु हो गए और उनके प्राण हरण की चेष्टा करने लगे। गुसाईं जीवन जी महाराज (महाराज लाइबल केस वाले) ने ग्रन्थकार के रसोइये बलदेव से मिलकर उन्हें विष देकर मारने का षड्यन्त्र किया था, जो ग्रन्थकार की जागरूकता के कारण विफल हो गया था।

गुरुवर विरजानन्द जी ने दयानन्द की अन्तः प्रकृति को निकटता से परखा-पहचाना था। अपने इस शिष्य को वे प्यार से 'कुलक्कर' और 'कालजिह्व' जैसे नामों से पुकारते थे। कुलक्कर का अर्थ है खूंटा—जो अपने पक्ष पर खूंटे की तरह अविचलित रहकर प्रतिपक्षी को धराशायी कर दे, वह है कुलक्कर। और असत्य के खण्डन तथा धर्म के नाम पर फैले मिथ्यावादों के खण्डन में जिसकी जिह्वा काल के समान घातक बन जाती हो, उसे कहते हैं कालजिह्व। गुरुद्वारा प्रदत्त इन उपाधियों से विभूषित निर्भीक संन्यासी को इन धमकियों और खतरों का क्या डर! वे अपने गुरुवर द्वारा दिए गए नामों को सार्थक करते हुए यथापूर्व वल्लभ सम्प्रदाय के खण्डन में प्रवृत्त रहे।

सत्यार्थप्रकाश में की गई वल्लभ सम्प्रदाय की आलोचना को पढ़ते समय इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है। वल्लभाचार्य ने मर्त्यलोक के जीवों को गुरुद्वारा स्थापित ब्रह्मसम्बन्ध से पवित्र करनेवाला पाखण्ड रचा। जनसाधारण में अपने मत को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से वल्लभाचार्य के अनुयायियों की वार्त्ता-कथायें उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ और पौत्र गोस्वामी गोकुलनाथ ने लिखी हैं, जो ८४ वैष्णवों की वार्ता और २५२ वैष्णवों की वार्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'श्रीकृष्ण: शरणं मम...दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' इस समर्पण मन्त्र की रचना वल्लभाचार्य ने की, जिसके अनुसार उपासकों को देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, स्त्री, पुत्र, धन आदि सर्वस्व को कृष्ण (अथवा कृष्ण के लौकिक प्रतिनिधि गोसाईं जी) के अर्पित करना पड़ता था—यहाँ तक कि नवविवाहिता पत्नी को भी पति से पहले एक बार गोस्वामी जी की अंकशायिनी बनना पड़ता था।

पुष्टिमार्ग—हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के अनुसार दार्शनिक पक्ष में वल्लभाचार्य जी का मत जिस प्रकार शुद्धाद्वैत कहलाता है, उसी प्रकार भक्ति पक्ष में पुष्टिमार्ग कहलाता है, क्योंकि वहाँ पुष्टि का अर्थ अनुग्रह या भगवत्कृपा माना गया है। परन्तु साधारण जनता की दृष्टि में 'पुष्टि' से शरीर का हृष्ट-पुष्ट होना अभिप्रेत है, क्योंकि वल्लभमत के लोग दूध, दही आदि पदार्थों को प्रचुर मात्रा में खाकर अपने शरीर को पुष्ट करना ही अपना परम धर्म मानते हैं। परन्तु इस प्रकार के पदार्थों के

चाहिए कि जब बड़े दुःखदायी भगन्दरादि रोगग्रस्त होकर ऐसे झीक-झीक मरते हैं कि जिसको ये ही जानते होंगे ।

सच पूछो तो यह **'पुष्टिमार्ग'** नहीं, किन्तु **'कुष्ठिमार्ग'** है । जैसे कुष्ठी के शरीर की सब धातु पिघल-पिघल के निकल जाती हैं, और विलाप करता हुआ शरीर छोड़ता है, ऐसी ही लीला इनकी भी देखने में आती है । इसलिये **'नरकमार्ग'** भी इसी को कहना संघटित हो सकता है। क्योंकि दुःख का नाम **'नरक'** और सुख का नाम **'स्वर्ग'** है ।

[गोलोक से आये जीवों के उद्धार का ढोंग]

इसी प्रकार मिथ्याजाल रचके बिचारे भोले-भाले मनुष्यों को जाल में फँसाया । और अपने आपको श्रीकृष्ण मानकर सबके स्वामी बनते हैं । यह कहते हैं कि---'जितने दैवी जीव गोलोक से यहाँ आये हैं, उनके उद्धार करने के लिये हम लीला-पुरुषोत्तम जन्मे हैं । जबलों हमारा उपदेश न ले, तबलों गोलोक की प्राप्ति नहीं होती । **वहाँ एक श्रीकृष्ण पुरुष और सब स्त्रियाँ हैं ।'**

[गोलोक में एक ही पुरुष मानने में अनेक दोष]

वाह जी वाह ! भला तुम्हारा मत है !! **गोसाइंयों के जितने चेले हैं, वे सब गोपियाँ बन जावेंगी ।** अब विचारिये, भला जिस पुरुष के दो स्त्री होती हैं, उसकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है। तो जहाँ एक पुरुष और क्रोड़ों स्त्री एक के पीछे लगी हैं, उसके दुःख का क्या पारावार है ?

जो कहो कि श्रीकृष्ण में बड़ा भारी सामर्थ्य है, सबको प्रसन्न करते हैं । तो जो उसकी स्त्री, जिसको **स्वामिनीजी** कहते हैं, उसमें भी श्रीकृष्ण के समान सामर्थ्य होगा ? क्योंकि वह उनकी अर्धाङ्गी है। जैसे यहाँ स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुष से स्त्री की अधिक होती है, तो गोलोक में क्यों नहीं ? जो ऐसा है तो अन्य स्त्रियों के साथ स्वामिनीजी की अत्यन्त लड़ाई बखेड़ा मचता होगा । क्योंकि सपत्नीकभाव बहुत बुरा होता है। पुनः गोलोक स्वर्ग के बदले नरकवत् हो गया होगा ।

अत्यधिक मात्रा में खाने तथा अहर्निश दुराचारों में प्रवृत्त रहने से इनका शरीर कुष्ठी के शरीर की भाँति गल-गल कर नष्ट हो जाता है । इसलिए ग्रन्थकार ने व्यंग्य के रूप में इसे कुष्ठिमार्ग कहा है ।

'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' में ग्रन्थकार ने लिखा है—"वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गोसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है । घोड़े, बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि स्वजातीय स्त्रियों को देखके पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह में मैथुन में प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही इन लोगों का भी पुष्टि प्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा नहीं । इन लोगों की यही मर्यादा है कि वेद-विद्या और धर्माचरण का त्याग, परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना—इसीमें पुष्टि और प्रवाह निश्चित है ।"

वेद के विषय में वल्लभ कहता है—"लौकिक और वैदिक धर्म के विषय कपट रूप होने से यथार्थ नहीं । एक वैष्णव मत ही सहज है, इससे अन्य सब विपरीत है ।"

सर्वस्व गुसाइंजी को समर्पण तथा 'गोलोक में एक ही श्रीकृष्ण पुरुष' का ग्रन्थकार ने युक्ति पूर्वक विस्तृत विवेचन किया है, जिसका उत्तर देना वल्लभमतानुयायियों के लिए सम्भव नहीं । इस विषय की अतिरिक्त जानकारी के लिए ग्रन्थकार द्वारा रचित स्वतन्त्र ग्रन्थ 'वेदविरुद्धमतखण्डन' द्रष्टव्य है ।

अथवा जैसे बहुत स्त्रीगामी पुरुष भगन्दरादि रोगों से पीड़ित रहते हैं, वैसा ही गोलोक में भी होगा। छि ! छि !! छि !!! ऐसे गोलोक से मर्त्यलोक ही बिचारा भला है। देखो जैसे यहाँ गोसाईंजी **अपने को श्रीकृष्ण मानते हैं,** और बहुत स्त्रियों के साथ लीला करने से भगन्दर तथा प्रमेहादि रोगों से पीड़ित होकर महादुःख भोगते हैं। अब कहिए जिनका स्वरूप[1] गोसाईं पीड़ित होता है, तो गोलोक का स्वामी श्रीकृष्ण इन रोगों से पीड़ित क्यों न होगा ? और नहीं है तो उनका स्वरूप गोसाईंजी पीड़ित क्यों होते हैं ?

प्रश्न—मर्त्यलोक में लीलावतार धारण करने से रोग-दोष होता है, गोलोक में नहीं। क्योंकि वहाँ रोग-दोष ही नहीं है।

उत्तर—'भोगे रोगभयम्'[2] जहाँ भोग है, वहाँ रोग अवश्य होता है। और श्रीकृष्ण के क्रोड़ानुक्रोड़ स्त्रियों से सन्तान होते हैं, वा नहीं ? और जो होते हैं तो लड़के-लड़के होते हैं वा लड़की-लड़की ? अथवा दोनों ?

जो कहो कि लड़कियाँ ही लड़कियाँ होती हैं, तो उनका विवाह किनके साथ होता होगा ? क्योंकि वहाँ विना श्रीकृष्ण के दूसरा कोई पुरुष नहीं। जो दूसरा है[3] तो तुम्हारी प्रतिज्ञाहानि हुई। जो कहो लड़के ही लड़के होते हैं, तो भी यही दोष आन पड़ेगा कि उनका विवाह कहाँ और किनके साथ होता है ? अथवा घर के घर ही में गटपट कर लेते हैं ? अथवा अन्य किसी[4] की लड़कियाँ वा लड़के हैं ? तो भी तुम्हारी प्रतिज्ञा कि **'गोलोक में एक ही श्रीकृष्ण पुरुष'** नष्ट हो जाएगी।

और जो कहो कि सन्तान होते ही नहीं, तो श्रीकृष्ण में नपुंसकत्व और स्त्रियों में बन्ध्यापन का दोष आवेगा। भला यह गोलोक क्या हुआ, जानो दिल्ली के बादशाह की बीबियों की सेना हुई !!!

[तन-मन-धन अर्पण की समीक्षा]

अब जो गोसाईं लोग शिष्य और शिष्याओं का तन-मन तथा धन अपने अर्पण करा लेते हैं, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि तन तो विवाह-समय में स्त्री और पति के[5] समर्पण हो जाता है। पुनः मन भी दूसरे के समर्पण नहीं हो सकता। क्योंकि मन ही के साथ तन का भी समर्पण करना बन सकता है।[6] और जो करें, तो व्यभिचारी कहावेंगे। अब रहा धन, उसकी भी यही लीला समझो। अर्थात् मन के विना कुछ भी अर्पण नहीं हो सकता। इन गोसाईंयों का अभिप्राय यह है कि कमावें तो चेला और आनन्द करें हम।

जितने वल्लभ सम्प्रदायी गोसाईं लोग हैं, वे अबलों तैलङ्गी जाति में नहीं हैं। और जो कोई इनको भूले-भटके लड़की देता है, वह भी जातिबाह्य होकर भ्रष्ट हो जाता है। क्योंकि ये जाति से पतित किये गये और विद्याहीन रात-दिन प्रमाद में रहते हैं।

---

१. अर्थात् गोलोक के स्वामी श्रीकृष्ण का।
२. भर्तृहरि वैराग्यशतक ३२।
३. अर्थात् यदि लड़के भी होते हैं, तो तुम्हारी इस प्रतिज्ञा कि, 'गोलोक में एक श्रीकृष्ण के विना अन्य पुरुष नहीं', की हानि होती है।
४. अर्थात् श्रीकृष्ण से भिन्न पुरुष की।
५. अर्थात् स्त्री का शरीर पति के और पति का शरीर स्त्री के समर्पण हो जाता है।
६. विवाह के समय स्त्री-पुरुष के तन का जैसे परस्पर समर्पण हो जाता है, वैसे ही मन का भी हो जाता है। जैसा कि 'प्रतिज्ञामन्त्र' से स्पष्ट है—'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु'।

[घर बुलाने पर गोसाईंजी की लीला]

और देखिये, जब कोई गोसाईंजी की पधरावनी[1] करता है, तब उसके घर पर जा चुपचाप काठ की पुतली के समान बैठा रहता है, न कुछ बोलता न चालता। बिचारा बोले तो तब जो मूर्ख न होवे। **'मूर्खाणां बलं मौनम्'** क्योंकि मूर्खों का बल मौन है। जो बोले तो उसकी पोल निकल जाय। परन्तु स्त्रियों की ओर खूब ध्यान लगाके ताकता रहता है। और जिसकी ओर गोसाईंजी देखें, तो जानो बड़े ही भाग्य की बात है। और उसका पति भाई-बन्धु माता-पिता बड़े प्रसन्न होते हैं।

वहाँ सब स्त्रियाँ गोसाईंजी के पग छूती हैं। जिस पर गोसाईंजी का मन लगे वा कृपा हो, उसकी अङ्गुली पैर से दबा देते हैं। वह स्त्री और उसके पति आदि अपना धन्यभाग्य समझते हैं। और उस स्त्री के पति आदि सब उससे कहते हैं कि—'तू गोसाईंजी की चरण-सेवा में जा'। और जहाँ-कहीं उसके पति आदि प्रसन्न नहीं होते, वहाँ दूती और कुटनियों से काम सिद्ध करा लेते हैं। सच पूँछो तो ऐसे काम करनेवाले उनके मन्दिरों में और उनके समीप बहुत से रहा करते हैं।

[गोसाईंयों का दक्षिणा माँगने का ढंग]

अब **इनकी दक्षिणा की लीला**, अर्थात् इस प्रकार माँगते हैं—'लाओ भेंट गोसाईंजी की, बहूजी की, लालजी[2] की, बेटीजी की, मुखियाजी की, बाहरियाजी की, गवैयाजी की, और ठाकुरजी की'। **इन आठ दुकानों से यथेष्ट माल मारते हैं।** जब कोई गोसाईंजी का सेवक मरने लगता है, तब उसकी **छाती में पग** गोसाईंजी धरते हैं। और जो कुछ मिलता है, उसको गोसाईंजी 'गड़क्क' कर जाते हैं। क्या यह काम महाब्राह्मण[3] और कटिया वा मुर्दावली के समान नहीं है?

[स्नान किये जल का आचमन; और खास प्रसादी]

कोई-कोई चेला विवाह में गोसाईंजी को बुलाकर उन्हीं से लड़के-लड़की का पाणिग्रहण कराते हैं। और कोई-कोई सेवक[4] जब **केशरिया स्नान** अर्थात् गोसाईंजी के शरीर पर स्त्रीलोग केशर का उबटना करके फिर एक बड़े पात्र में पट्टा रखके गोसाईंजी को स्त्री-पुरुष मिलके स्नान कराते हैं। परन्तु विशेष स्त्रीजन स्नान कराती हैं। पुनः जब गोसाईंजी पीताम्बर पहिर और खड़ाऊँ पर चढ़ बाहर निकल आते हैं, और धोती उसीमें पटक देते हैं। फिर **उस जल का आचमन** उसके सेवक करते हैं। और अच्छे मसाला धरके पानबीड़ी गोसाईंजी को देते हैं। वह चाबकर कुछ निगल जाते हैं, शेष एक चाँदी के कटोरे में, जिसको उनका सेवक मुख के आगे कर देता है, उसमें पीक उगल देते हैं। उसकी भी प्रसादी बटती है, जिसको **'खास प्रसादी'** कहते हैं।

[गोसाईंयों का भोजन-सम्बन्धी पाखण्ड]

अब विचारिये कि ये लोग किस प्रकार के मनुष्य हैं? जो मूढ़पन और अनाचार होगा, तो इतना ही होगा? बहुत से समर्पण लेते हैं। उनमें से कितने ही वैष्णवों के हाथ का खाते हैं, अन्य का

---

१. पधरावनी = घर पर बुलाना।

२. लाल जी की = बेटे जी की। मारवाड़ और गुजरात में बेटे को लालजी कहते हैं।

३. 'महाब्राह्मण' शब्द का मूल अर्थ महाविद्वान् ब्राह्मण है। उपनिषदों में इसी अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है, परन्तु संप्रति लोक में इस अर्थ का अपकर्ष होकर 'मुर्दों के कपड़े लेनेवाले व्यक्ति' के लिये यह प्रयुक्त होता है।

४. यहाँ कुछ पाठ त्रुटित प्रतीत होता है।

नहीं। कितने ही वैष्णवों के हाथ का भी नहीं खाते। लकड़ेलों[1] धो लेते हैं, परन्तु आटा गुड़ चीनी घी आदि धोये बिना उनका अस्पर्श[2] बिगड़ जाता है। क्या करें बिचारे? जो इनको धोवें, तो पदार्थ ही हाथ से खो बैठें।

[**गोसाइंयों के राग-रङ्ग**]

वे कहते हैं कि हम ठाकुरजी के रङ्ग राग भोग में बहुत-सा धन लगा देते हैं, परन्तु वे रङ्ग राग भोग आप ही करते हैं। और सच पूछो तो बड़े-बडे अनर्थ होते हैं। अर्थात् होली के समय पिचकारियां भरकर स्त्रियों के अस्पर्शनीय अवयव अर्थात् जो गुप्त स्थान हैं, उन पर मारते हैं। और **रसविक्रय** जो ब्राह्मण के लिए निषिद्ध कर्म[3] है, उसको भी करते हैं।

[**गोसाइंजी रस = भोजन-विक्रय पाप के दोषी**]

प्रश्न—गुसाईंजी रोटी दाल कढ़ी भात शाक और मठरी तथा लड्डू आदि को प्रत्यक्ष हाट में बैठके तो नहीं बेचते, किन्तु अपने नौकरों चाकरों को पत्तलें बाँट देते हैं। वे लोग बेचते हैं, गुसाईंजी नहीं।

उत्तर—जो गुसाईंजी उनको मासिक रुपये देवें, तो वे पत्तलें क्यों लेवें? गुसाईंजी अपने नौकरों के हाथ दाल भात आदि नौकरी के बदले में बेच देते हैं। वे ले जाकर हाट-बाजार में बेचते हैं। जो गुसाईंजी स्वयं बाहर बेचते, तो नौकर जो ब्राह्मणादि हैं, वे तो **रस-विक्रय दोष** से बच जाते। और अकेले गुसाईंजी ही रसविक्रयरूपी पाप के भागी होते। प्रथम तो इस पाप में आप डूबे, फिर औरों को भी समेटा। और कहीं-कहीं '**नाथद्वारा**' आदि में गुसाईंजी भी बेचते हैं। रस-विक्रय करना नीचों का काम है, उत्तमों का नहीं। ऐसे-ऐसे लोगों ने इस आर्यावर्त्त की अधोगति कर दी।

[**स्वामी नारायण मत का खण्डन**]

प्रश्न– स्वामी नारायण का मत कैसा है?

वल्लभाचार्य का दार्शनिक पक्ष—वल्लभाचार्य के अनुसार जीव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह ब्रह्म का ही अंश है। वस्तुत: ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। अंश सदा अवयवी का होता है, इसलिए जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश अर्थात् सम्पूर्ण ईकाई से काटा हुआ अंश नहीं हो सकता। परमेश्वर की अखण्डता के साथ उसके टुकड़ों में विभक्त होने या किसी के उसका अंश होने के विचार का सामंजस्य नहीं हो सकता। इसलिए अद्वैतवादी शंकर को इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का अंश है' यह अर्थ लगाना पड़ा कि "जीव अंश के समान अर्थात् अंश जैसा है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश होना सम्भव नहीं"—अंश इवांशो, न हि निरवयवस्य मुख्योऽश: सम्भवति। (ब्रह्मसूत्र २।३।४३ शांकरभाष्य)

स्वामीनारायण मत—इस मत या सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ सहजानन्दरचित 'शिक्षापत्री' है। इसलिए ग्रन्थकार ने इसका खण्डन 'शिक्षापत्री-ध्वान्तनिवारणम्' नामक छोटी-सी पुस्तक में किया है। इसका प्रथम श्लोक है—

---

१. अर्थात् लकड़ियों तक।

२. अर्थात् बिना धोये स्पर्श न करना। यहाँ 'अस्पर्श' में 'असूर्यंपश्या'='सूर्यं न पश्यन्ति' के समान असमर्थ नञ् समास मानें, तो वाक्यार्थ होगा—'स्पर्श नहीं बिगड़ता है।' वस्तुत: ऐसा पाठ ही होना चाहिये।

३. ब्राह्मण के लिये आपत्काल में वैश्यवृत्ति=व्यापार से जीने का विधान मनु० १०।८३ में किया है। इसी प्रसंग (१०।८६) में 'रसविक्रय' का निषेध भी किया है।

उत्तर—'**यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः**''। जैसी गुसाईंजी की धनहरणादि में विचित्र लीला है, वैसी ही स्वामी नारायण की भी है।

[स्वामी नारायण मत के प्रवर्त्तक सहजानन्द का पाखण्ड]

देखिए, एक '**सहजानन्द**' नामक अयोध्या के समीप एक ग्राम का जन्मा हुआ था। वह ब्रह्मचारी होकर गुजरात काठियावाड़ कच्छभुज आदि देशों में फिरता था। उसने देखा कि यह देश मूर्ख और भोला-भाला है। चाहै जैसे इनको अपने मत में झुकालें, वैसे ही ये लोग झुक सकते हैं।

वहाँ उसने दो-चार शिष्य बनाये। उनने आपस में सम्मति कर प्रसिद्ध किया कि सहजानन्द **नारायण का अवतार** और बड़ा सिद्ध है। और भक्तों को **चतुर्भुज मूर्त्ति धारण** कर साक्षात् दर्शन भी देता है।

[चतुर्भुज बन एक भूमिया को जाल में फँसाया]

''एक वार काठियावाड़ में किसी 'काठी' अर्थात् जिसका नाम '**दादाखाचर**', गढ़डे[२] का भूमिया =जिमींदार था। उसको शिष्यों ने कहा कि तुम चतुर्भुज नारायण का दर्शन करना चाहो, तो हम सहजानन्द जी से प्रार्थना करें। उसने कहा वहुत अच्छी बात है। वह भोला आदमी था। एक कोठरी में सहजानन्द ने शिर पर मुकुट धारण कर, और शङ्ख चक्र अपने हाथ में ऊपर को धारण किया। और एक दूसरा आदमी उसके पीछे खड़ा रहकर गदा पद्म अपने हाथ में लेकर सहजानन्द की बगल में से आगे को हाथ निकाल '**चतुर्भुज**' के तुल्य बन-ठन गये।

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि। वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तयन् ॥१॥

अर्थात् जिनके बाईं ओर राधा जी खड़ी हैं और छाती पर लक्ष्मी विराजमान हैं, और जो वृन्दावन में विहार करते हैं, मैं उन श्रीकृष्ण का ध्यान करता हूँ।

लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व स्वर्गत श्रीकृष्ण को वृन्दावन में क्रीड़ा करते किसीने नहीं देखा। जिसे देखा नहीं, उसका चिन्तन-मनन कैसे सम्भव है। पौराणिकों के अनुसार रुक्मिणी के रूप में लक्ष्मी तो श्रीकृष्ण की विवाहिता स्त्री या पत्नी थीं। राधा का तो नाम तक न कहीं महाभारत में है और न किसी पुराण में। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार वह श्रीकृष्ण की मामी थीं, इसलिए श्रीकृष्ण के बाईं ओर राधा के खड़े होने का प्रश्न ही नहीं उठता। राधा की श्रीकृष्ण की प्रेमिका के रूप में कल्पना करके श्रीकृष्ण के पवित्र जीवन को कलंकित कर रक्खा है।

सहजानन्द की इस प्रकार की मिथ्या धारणाओं पर किसी को शंका करने का अवसर ही न मिल सके, इसलिए उसने भक्तों के विद्वानों की संगति में उठने-बैठने या परस्पर वार्त्तालाप करने पर रोक लगाने के लिए निर्देश दिया है—

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥१५॥

जिसके कहने से कृष्णभक्ति में भंग पड़े, उस पुरुष के मुख से भगवान् की कथावार्त्ता नहीं सुननी चाहिए।

---

१. पाठभेद चतुर्दश समु० ६३वें समीक्ष्याश की समीक्षा में।
२. अर्थात् छोटा किला या पहाड़ी भूमि।

दादाखाचर से उनके चेलों ने कहा कि—'एक वार आँख उठा देखके फिर आँख मीच लेना, और झट इधर को चले आना। जो बहुत देखोगे, तो नारायण कोप करेंगे'। अर्थात् चेलों के मन में तो यह था कि हमारे कपट की परीक्षा न कर लेवे ? उसको ले गये। वह सहजानन्द कलावत्तू और चिलकते हुए रेशमी कपड़े धारण कर रहा था, अँधेरी कोठड़ी में खड़ा था। उसके चेलों ने एक साथ लालटेन से कोठरी के ओर उजाला किया। दादाखाचर ने देखा, तो चतुर्भुज मूर्त्ति दीखी। फिर झट दीपक को आड़ में कर दिया। वे सब नीचे गिर नमस्कार कर दूसरी ओर चले आये।

और उसी समय बीच में बातें कीं कि--'तुम्हारा धन्य भाग्य है। अब तुम महाराज के चेले हो जाओ'। उसने कहा बहुत अच्छी बात। जबलों फिरके दूसरे स्थान में गये, तबलों दूसरे वस्त्र धारण करके सहजानन्द गद्दी पर बैठा मिला। तब चेलों ने कहा कि देखो, अब दूसरा स्वरूप धारण करके यहां विराजमान हैं।

वह 'दादाखाचर' इनके जाल में फँस गया। वहीं से उनके मत की जड़ जमी। क्योंकि वह एक बड़ा भूमिया था। वहीं अपनी जड़ जमा ली। पुनः इधर-उधर घूमता रहा। सबको उपदेश करता था, बहुतों को साधु भी बनाता था। कभी-कभी किसी साधु की कण्ठ की नाड़ी को मलकर मूर्च्छित भी कर देता था। और सबसे कहता था कि हमने इनको समाधि चढ़ा दी है। ऐसी-ऐसी धूर्त्तता में काठियावाड़ के भोले-भाले लोग उसके पेच में फस गये। जब वह मर गया, तब उसके चेलों ने बहुत-सा पाखण्ड फैलाया।"

[नारायणदर्शी नकटों का दृष्टान्त]

इसमें यह दृष्टान्त उचित होगा कि—"जैसे कोई एक चोरी करता पकड़ा गया था। न्यायाधीश ने उसको नाक काट डालने का दण्ड किया। जब उसकी नाक काटी गई, तब वह धूर्त्त नाचने-गाने और हँसने लगा। लोगों ने पूछा कि—'तू क्यों हँसता है' ? उसने कहा--'कुछ कहने की बात नहीं है'। लोगों

अपने भक्तों का सीमाक्षेत्र बढ़ाने के लिए सहजानन्द ने शैवों और वैष्णवों के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया। तदनुसार उसने घोषणा की—

ऐकात्म्येन विज्ञेयं नारायणमहेशयोः।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥४७॥

किन्तु यह खाई इतनी बड़ी थी कि इसे पाटा नहीं जा सकता था। एक ओर यदि कहा गया—

शिवार्चनाद् ब्राह्मणस्तु शूद्रेण समतामियात्।
तिर्यक्पुण्ड्रधरं विप्रं चाण्डालमिव संत्यजेत् ॥

अर्थात्--शिव की पूजा करने से ब्राह्मण शूद्र के तुल्य हो जाता है। तिरछे पुण्ड्रधारी ब्राह्मण को चाण्डाल के तुल्य त्याग देना चाहिए। तो दूसरी ओर कहा गया—

वैष्णवः पुरुषो यस्तु शिवब्रह्मादिदेवताः।
प्रणमेतार्चयेद्वापि विष्ठायां जायते कृमिः ॥

अर्थात्—वैष्णव पुरुष को नमस्कार करने या पूजने से मनुष्य विष्ठा का कीड़ा बनता है। पर सहजानन्द ने स्वयं शैव तथा वैष्णव में भेदभाव रखा—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥१२१॥

ने पूछा—'ऐसी कौन-सी बात है' ? उसने कहा—'बड़ी भारी आश्चर्य की बात है, हमने ऐसी कभी नहीं देखी'।

लोगों ने कहा—'क्यों क्या बात है' ? उसने कहा कि—'मेरे सामने साक्षात् चतुर्भुज नारायण खड़े हैं। मैं देखकर बड़ा प्रसन्न होकर नाचता-गाता अपने भाग्य को धन्यवाद देता हूँ कि मैं नारायण का साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ'। लोगों ने कहा—'हमको दर्शन क्यों नहीं होता' ? वह बोला—'नाक की आड़ हो रही है। जो नाक कटवा डालो, तो नारायण दीखे, नहीं तो नहीं'।

उनमें से किसी मूर्ख ने चाहा कि नाक जाय तो जाय, परन्तु नारायण का दर्शन अवश्य करना चाहिए। उसने कहा कि—'मेरी भी नाक काटो, नारायण को दिखलाओ'। उसने उसकी नाक काटकर कान में कहा कि—'तू भी ऐसा ही कर, नहीं तो मेरा और तेरा उपहास होगा'। उसने भी समझा कि अब नाक तो आती नहीं, इसलिए ऐसा ही कहना ठीक है। तब तो वह भी वहाँ उसी के समान नाचने-कूदने गाने-बजाने हँसने और कहने लगा कि—'मुझको भी नारायण दीखता है'। वैसे होते-होते एक सहस्र मनुष्यों का झुण्ड हो गया, और बड़ा कोलाहल मचा। और अपने सम्प्रदाय का नाम **'नारायणदर्शी'** रक्खा।

किसी मूर्ख राजा ने सुना, उनको बुलाया। जब राजा उनके पास गया, तब तो वे बहुत कुछ नाचने-कूदने-हँसने लगे। तब राजा ने पूछा कि—'यह क्या बात है' ? उन्होंने कहा कि—'साक्षात् नारायण हमको दीखता है'।

राजा—हमको क्यों नहीं दीखता ?

नारायणदर्शी—जब तक नाक है, तब तक नहीं दीखेगा। और जब नाक कटवा लोगे, तब नारायण प्रत्यक्ष दीखेंगे।

उस राजा ने विचारा कि यह बात ठीक है। राजा ने कहा—'ज्योतिषीजी मुहूर्त्त देखिये'। ज्योतिषीजी ने उत्तर दिया—'जो हुक्म अन्नदाता ! दशमी के दिन प्रातःकाल आठ बजे नाक कटवाने और नारायण के दर्शन करने का बड़ा अच्छा मुहूर्त्त है'। वाह रे पोपजी ! अपनी पोथी में नाक काटने-कटवाने का भी मुहूर्त्त लिख दिया।

मेरा मत विशिष्टाद्वैत है और गोलोक मेरा प्रिय धाम है। वहाँ ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी ही मेरी मुक्ति है।

मया प्रतिष्ठापितानां मन्दिरेष महत्सु च।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि ॥१३०॥

मैंने बड़े-बड़े मन्दिरों में जो लक्ष्मीनारायणादि मूर्त्तियों की स्थापना की है, उनकी यथाविधि सेवा करना।

वस्तुतः सहजानन्द और उनके द्वारा संस्थापित स्वामीनारायण मत पर वल्लभाचार्य और उनके मत का बड़ा प्रभाव था। इस कारण उसमें वैष्णव मत की समस्त दुर्बलताएँ समाविष्ट थीं। इसी कारण स्त्रियों और शूद्रों के अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, शास्त्रों के पठन—को उन्होंने भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने आदेश दिया—

ज्ञानवार्त्ता श्रुतिर्नार्या मुखात् कार्या न पूरुषैः।
न विवादः स्त्रिया कार्यो न राज्ञा न च तज्जनैः ॥

स्त्री से श्रुति या ज्ञानवार्त्ता पुरुषों को नहीं करनी चाहिए। प्राचीनकाल में जनक की सभा में

जब राजा की इच्छा हुई, और उन सहस्र नकटों के सीधे बांध दिये[1], तब तो वे बड़े ही प्रसन्न होकर नाचने-कूदने और गाने लगे। यह बात राजा के दीवान आदि कुछ-कुछ बुद्धिवालों को अच्छी न लगी। राजा के एक चार पीढ़ी का बूढ़ा ९० वर्ष का दीवान था। उसको जाकर उसके परपोते ने, जो कि उस समय दीवान था, वह बात सुनाई। तब उस वृद्ध ने कहा कि—'वे धूर्त्त हैं। तू मुझको राजा के पास ले चल। वह ले गया। बैठते समय राजा ने बड़े हर्षित होके उन नाककटों की बातें सुनाईं। दीवान ने कहा कि—'सुनिये महाराज! ऐसी शीघ्रता न करनी चाहिए। विना परीक्षा किये कार्य करने से पश्चात्ताप होता है'।

राजा—क्या ये सहस्र पुरुष झूंठ बोलते होंगे?

दीवान—झूंठ बोलो वा सच। विना परीक्षा के सच झूंठ कैसे कह सकते हैं?

राजा—परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए?

दीवान—विद्या सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

राजा—जो पढ़ा न हो, वह परीक्षा कैसे करे?

दीवान—विद्वानों के सङ्ग से ज्ञान की वृद्धि करके।

राजा—जो विद्वान् न मिले तो?

दीवान—पुरुषार्थी को कोई बात दुर्लभ नहीं है।

राजा—तो आप ही कहिये, कैसा किया जाय?

दीवान—मैं बुड्ढा और घर में बैठा रहता हूँ, और अब थोड़े दिन हो जीऊँगा भी। इसलिए प्रथम परीक्षा मैं कर लेऊँ। तत्पश्चात् जैसा उचित समझें, वैसा कीजियेगा।

राजा—बहुत अच्छी बात है। ज्योतिषीजी! दीवानजी के लिए मुहूर्त्त देखो।

ज्योतिषी—जो महाराज की आज्ञा। यही शुक्ल पञ्चमी १० बजे का मुहूर्त्त अच्छा है।

जब पञ्चमी आई, तब राजाजी के पास जाके आठ बजे बुड्ढे दीवानजी ने राजाजी से कहा कि—'सहस्र दो सहस्र सेना लेके चलना चाहिए।'

राजा—वहाँ सेना का क्या काम है?

दीवान—आपको राजव्यवस्था की जानकारी नहीं है। जैसा मैं कहता हूँ, वैसा कीजिए।

राजा—अच्छा, जाओ भाई। सेना को तैयार करो।

गार्गी जैसी विदुषियाँ महर्षि याज्ञवल्क्य से चुनौती देकर शास्त्रार्थ करती थीं। मध्यकाल में शंकर और मण्डन मिश्र जैसे विद्वानों के बीच होनेवाले शास्त्रार्थों में मध्यस्थता करती थीं।

स्वामीनारायण मत में ये आठ ग्रन्थ मान्य हैं—वेद, व्यासरचित वेदान्तसूत्र, भागवत, महाभारतोक्त विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्दपुराण के वैष्णव खण्ड में कहा गया वासुदेव माहात्म्य तथा धर्मशास्त्र के अन्तर्गत याज्ञवल्क्यस्मृति। (६३-६५)

गपोड़ों और अश्लील कथाओं से भरपूर पुराणों को वेद, वेदान्तसूत्र आदि के तुल्य वही मान सकता है, जिसने इन्हें कभी देखा नहीं। भागवत के दशम स्कन्ध को पढ़ते हुए तो लज्जा ही नहीं, निर्लज्जता को भी लज्जा आये बिना नहीं रहेगी। गीता और विदुरनीति के साथ उसे कोई अतिमूढ़ तथा दुराचारी ही रख सकता है। पर इन ग्रन्थों से भी सहजानन्द को सन्तोष नहीं हुआ। अपने अनुयायियों को उसका आदेश है—

---

१. अर्थात् भोजन के लिये आटा दाल आदि का प्रबन्ध कर दिया।

साढे नौ बजे सवारी करके राजा सबको लेकर गया। उनको देखकर वे नाचने और गाने लगे। जाकर बैठे। उनके महन्त, जिसने यह सम्प्रदाय चलाया था, जिसकी प्रथम नाक कटी थी, उसको बुलाकर राजा ने कहा कि—'आज हमारे दीवानजी को नारायण का दर्शन कराओ'। उसने कहा—'अच्छा'।

दश बजे का समय जब आया, तब एक थाली एक मनुष्य ने नाक के नीचे पकड़ रक्खी। उसने पैना चक्कू ले नाक काट थाली में डाल दी। और दीवानजी की नाक से रुधिर की धार छूटने लगी। दीवानजी का मुख मलिन पड़ गया। फिर उस धूर्त्त ने दीवानजी के कान में मन्त्रोपदेश किया कि—'आप भी हँसकर सबसे कहिये कि मुझको नारायण दीखता है। अब नाक कटी हुई नहीं आवेगी। जो ऐसा न कहोगे, तो तुम्हारा ठट्ठा होगा। सब लोग हँसी करेंगे। वह इतना कह अलग हुआ। और दीवानजी ने अङ्गोछा हाथ में ले नाक की आड़ में लगा दिया।

जब दीवानजी से राजा ने पूछा—'कहिये, नारायण दीखता है, वा नहीं'? दीवानजी ने राजा के कान में कहा कि—'कुछ भी नहीं दीखता। वृथा इस धूर्त्त ने सहस्रों मनुष्यों को खराब किया। राजा ने दीवान से कहा कि—'अब क्या करना चाहिये'? दीवान ने कहा—'इनको पकड़के कठिन दण्ड देना चाहिये। जबलों जीवें तबलों बन्दीघर में रखना चाहिए। और इस दुष्ट को कि जिसने इन सबको बिगाड़ा है, गधे पर चढ़ा बड़ी दुर्दशा के साथ मारना चाहिये'।

जब राजा और दीवान कान में बातें करने लगे, तब उन्होंने डरके भागने की तैयारी की। परन्तु चारों ओर फौज ने घेरा दे रक्खा था, न भाग सके। राजा ने आज्ञा दी कि—'सबको पकड़ बेड़ियाँ डाल दो। और इस दुष्ट का काला मुख कर गधे पर चढ़ा, इसके कण्ठ में फटे जूतों का हार पहिना सर्वत्र घुमा, छोकरों से धूड़ राख इस पर डलवा, चौक-चौक में जूतों से पिटवा, कुत्तों से लुँचवा मरवा डाला जावे। जो ऐसा न होवे, तो पुनः दूसरे भी ऐसा काम करते न डरेंगे'। जब ऐसा हुआ, तब नाककटे का सम्प्रदाय बन्द हुआ।"

इसी प्रकार सब वेदविरोधी दूसरों का धन हरने में बड़े चतुर हैं। यह सम्प्रदायों की लीला है।

[पैसा बटोरने के विविध ढंग]

ये **स्वामी नारायण मतवाले** धनहरे छल-कपट-युक्त काम करते हैं। कितने ही मूर्खों के बहकाने के लिए मरते समय कहते हैं कि सफेद घोड़े पर बैठ **सहजानन्दजी** मुक्ति को ले जाने के लिए आये हैं। और नित्य इस मन्दिर में एक बार आया करते हैं।

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी ॥२०४॥
नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते त्वस्मत्संप्रदायतः।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः ॥२०७॥
शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः।
कर्त्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्यमादरात् ॥२०८॥
वक्रभावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम्।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥२०९॥

अर्थात्—मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकालकर मनुष्यों को अभीष्ट फल देनेवाली यह शिक्षा पत्री लिखी है। शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करेंगे, उन्हें सम्प्रदाय से बहिष्कृत समझना

जब मेला होता है, तब मन्दिर के भीतर पुजारी रहते हैं, और नीचे दुकान लगा रक्खी है। मन्दिर में से दुकान में जाने का छिद्र रखते हैं। जो किसी ने नारियल चढ़ाया, वही दुकान में उस छिद्र द्वारा फेंक दिया। अर्थात् इसी प्रकार **एक नारियल सहस्र बार बिकता है**। ऐसे ही सब पदार्थों को बेचते हैं।

जिस जाति का साधु हो, उनसे वैसा ही काम कराते हैं। जैसे नापित हो उससे नापित का, कुम्हार से कुम्हार का, शिल्पी से शिल्पी का, बनिये से बनिये का, और शूद्र से शूद्रादि का काम लेते हैं। **अपने चेलों पर एक कर=टिक्कस बांध रखा है**। लाखों क्रोड़ों रुपये ठगके एकत्र कर लिये हैं, और करते जाते हैं। जो गद्दी पर बैठता है, वह गृहस्थ=विवाह करता है, आभूषणादि पहिनता है। जहाँ-कहीं पधरावनी होती है, वहाँ गोकुलिये के समान गुसाईंजी बहूजी आदि के नाम से भेंट-पूजा लेते हैं।

[अन्य मतस्थ की सेवा में पाप]

अपने को **'सत्सङ्गी'** और दूसरे मतवालों को **'कुसङ्गी'** कहते हैं। अपने सिवाय दूसरा कैसा ही उत्तम धार्मिक विद्वान् पुरुष क्यों न हो, परन्तु उसका मान्य और सेवा कभी नहीं करते। क्योंकि **अन्य मतस्थ की सेवा करने में पाप** गिनते हैं। प्रसिद्धि में उनके साधु स्त्रीजनों का मुख नहीं देखते, परन्तु गुप्त न जाने क्या-क्या लीला होती होगी ? इसकी प्रसिद्धि सर्वत्र न्यून हुई है। कहीं-कहीं साधुओं की परस्त्री-गमनादि लीला प्रसिद्ध हो गई है।

[साधुओं के शरीरसहित वैकुण्ठ में जाने का ढोंग]

और उनमें जो-जो बड़े-बड़े साधु हैं, वे जब मरते हैं तब उनको गुप्त कुवे में फेंक देकर प्रसिद्ध करते हैं कि अमुक महाराज **सदेह वैकुण्ठ में** गये। सहजानन्दजी आके ले गये। हमने बहुत प्रार्थना करी कि—'महाराज ! इनको न ले जाइए, क्योंकि इस महात्मा के यहाँ रहने से अच्छा है'। सहजानन्दजी ने कहा कि—'नहीं। अब इनकी वैकुण्ठ में बहुत आवश्यकता है, इसलिए ले जाते हैं।' हमने अपनी आँख से सहजानन्दजी को और विमान को देखा। तथा जो मरनेवाले थे, उनको विमान में बैठा दिया। ऊपर को ले गये, और पुष्पों की वर्षा करते गये।

और जब कोई साधु बीमार पड़ता है, और उसके बचने की आशा नहीं होती, तब वह कहता है कि मैं कल रात को वैकुण्ठ में जाऊँगा। सुना है कि उस रात में जो उसके प्राण न छूटे, और मूच्छित हो गया हो, तो भी कुवे में फेंक देते हैं। क्योंकि जो उस रात को न फेंक दें तो झूँठे पड़ें। इसलिए ऐसा

चाहिए। मेरे अनुयायियों को प्रतिदिन शिक्षापत्री का पाठ करना चाहिए। जो निरक्षर होने से उसका पाठ न कर सकें, वे उसका श्रवण करें और जो श्रवण भी न कर सकें तो मेरी शिक्षापत्री की पूजा करें। मेरी इस वाणी को मेरा ही रूप मानें।

चलिये छुट्टी हुई सब शास्त्रों की। ग्रन्थकार के अनुसार "शिक्षापत्री में सार की जगह असार ही वर्णन किया है और युक्तिविरुद्ध मूर्त्तिपूजन कण्ठी-धारण आदि भ्रष्ट कामों का ही प्रतिपादन किया है" (शि० ध्वान्तनि०)। इनका मन्त्र भी वही है जो गुसाइयों का है—'श्रीकृष्णः शरणं मम।' इस प्रकार इनके विषय में ग्रन्थकार का यह कथन सर्वथा सटीक है—'यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनो खरः।' इनमें यह विशेष है—

भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम्।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चै राधिकापतेः ॥६३॥

काम करते होंगे। ऐसे ही जब गोकुलिया गोसाईं मरता है, तब उनके चेले कहते हैं कि—'गुसाईंजी **लीला-विस्तार** कर गये'।

[गोसाईंयों और स्वामी नारायणवालों का एक ही मन्त्र]

जो इन गोसाईं और स्वामी नारायणवालों का उपदेश करने का मन्त्र है, वह एक ही है—**'श्री कृष्णः शरणं मम'**। इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि—'श्रीकृष्ण मेरा शरण है, अर्थात् मैं श्रीकृष्ण के शरणागत हूँ'। परन्तु इसका अर्थ—'श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त', अर्थात् मेरे शरणागत हों,' ऐसा भी हो सकता है। ये सब जितने मत हैं, वे विद्याहीन होने से ऊटपटाँग शास्त्रविरुद्ध वाक्यरचना[२] करते हैं। क्योंकि उनको विद्या के नियम की जानकारी नहीं।

[माध्व मत की समीक्षा]

प्रश्न—माध्वमत तो अच्छा है?

उत्तर—जैसे अन्य मतावलम्बी हैं, वैसा ही माध्व भी है। क्योंकि ये भी **'चक्राङ्कित'** होते हैं। इनमें चक्राङ्कितों से इतना विशेष है कि—'रामानुजीय एक बार चक्राङ्कित होते हैं और माध्व **वर्ष-वर्ष में फिर-फिर चक्राङ्कित होते** जाते हैं। चक्राङ्कित कपाल में पीली रेखा, और माध्व **काली रेखा** लगाते हैं। एक माध्व पण्डित से किसी एक महात्मा का शास्त्रार्थ हुआ था—

महात्मा—तुमने यह काली रेखा और चाँदला=तिलक क्यों लगाया?

शास्त्री—इसके लगाने से हम वैकुण्ठ को जायेंगे। और श्रीकृष्ण का भी शरीर श्याम रंग का था, इसलिए हम काला तिलक करते हैं।

महात्मा—जो काली रेखा और चाँदला लगाने से वैकुण्ठ में जाते हों, तो सब मुख काला कर

अर्थात्—प्रतिदिन शाम को मन्दिर में जाना और वहाँ ऊँची आवाज में राधापति कृष्ण का कीर्त्तन करना चाहिए।

कृष्ण को राधा का पति कहना इतने पूज्य महापुरुष को परस्त्रीगामी बताना है, पति तो वह केवल रुक्मिणी के थे। ऊँची आवाज में कीर्त्तन करने को कहना कबीर के शब्दों में मानो श्रीकृष्ण को बहरा बताना है—

काँकर पाथर जोरि के मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय॥

माध्वमत—मध्वाचार्य (अपरनाम आनन्दतीर्थ) का जन्म विक्रमी संवत् १२५५ तथा मृत्यु संवत् १३३५ वि० में हुई। मध्व संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों पर भी भाष्य लिखा। भाष्यारम्भ में वे लिखते हैं—

स पूर्णत्वात् पुमान्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च॥

---

१. यह अर्थ 'श्रीकृष्णः मम शरणम्' अन्वयानुसार है।

२. जिस वाक्य-रचना से अभिप्रेत अर्थ से विपरीत अर्थ भी प्रकट होता है, वह रचना दोषयुक्त मानी जाती है। श्लेषालंकार से अनेकार्थता होने पर भी विपरीतार्थता नहीं होनी चाहिए। इसी कारण प्रक्रिया-भेद से अनेकार्थता मन्त्रों का भूषण है, दोष नहीं।

लेओ, तो कहाँ जाओगे ? क्या वैकुण्ठ के भी पार उतर जाओगे ? और जैसा श्रीकृष्ण का सब शरीर काला था, वैसा तुम भी सब शरीर काला कर लिया करो; तब श्रीकृष्ण का सादृश्य हो सकता है। इसलिए यह भी पूर्वों के सदृश है।

[लिङ्गाङ्कित मत का खण्डन]

प्रश्न—**लिङ्गाङ्कित** का मत कैसा है ?

उत्तर--जैसा चक्राङ्कित का। जैसे चक्राङ्कित चक्र से दागे जाते, और नारायण के विना किसी को नहीं मानते, वैसे लिङ्गाङ्कित लिङ्गाकृति से दागे जाते, और विना महादेव के अन्य किसी को नहीं मानते। इनमें विशेष यह है कि लिङ्गाङ्कित पाषाण का एक लिङ्ग सोने अथवा चाँदी में मढ़वाके गले में डाल रखते हैं। जब पानी भी पीते हैं, तब उसको दिखाके पीते हैं। उनका भी मन्त्र शैव के तुल्य रहता है।

ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज; गुण-दोष-कथन

प्रश्न—ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज तो अच्छा है, वा नहीं ?

उत्तर—कुछ-कुछ बातें अच्छी, और बहुत-सी बुरी हैं।

प्रश्न—ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज सबसे अच्छा है। क्योंकि इसके नियम बहुत अच्छे हैं।

उत्तर—नियम सर्वांश में अच्छे नहीं। क्योंकि वेदविद्याहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है ? जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियों ने ईसाईमत में मिलने से थोड़े मनुष्यों

अर्थात्—वही नारायण पूर्ण होने से पुरुषसूक्त में पुरुष कहा गया है। यही सारे वेद का अर्थ है, यही शास्त्र का भी।

मध्व ने वेदार्थ करते हुए अधिकांश मन्त्रों की व्याख्या विष्णुपरक की है। मध्व द्वैतवादी दार्शनिक थे। इसलिए उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन किया है और ब्रह्मसूत्र की भेदपरक व्याख्या की है। ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त मध्व ने गीता और उपनिषदों पर भी भाष्य लिखे हैं। जहाँ तक साम्प्रदायिक विचारधारा का सम्बन्ध है, माध्व मतावलम्बी वैष्णव हैं और चक्रांकित रामानुजियों के अनुगामी हैं। इनका तिलक सामान्य वैष्णवों से कुछ भिन्न प्रकार का होता है। माध्व मत का विशेष प्रचार दक्षिण में है। वहाँ उडुपी (कर्नाटक) में इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र है। मध्व के द्वैतवाद से चिढ़कर अद्वैतवादियों ने इनका तीव्र खण्डन किया है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की घोषणा करनेवाले अद्वैतवादियों के मध्वमतानुयायियों के प्रति द्वेषभाव का आतिशय्य उनके माध्वमत के खण्डन में लिखी गई पुस्तकों के नामकरण से परिलक्षित होता है। तद्यथा—माध्वमुखमर्दन, माध्वमुखचपेटिका, दुर्जनकरिपंचानन आदि। अप्पय दीक्षित ने मध्वमत के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखे, उनके नाम थे—मध्वमतविध्वंसन तथा मध्वतन्त्र-मुखमर्दन।

लिङ्गाङ्कित या लिङ्गायत—जिस प्रकार चक्रांकित वैष्णव अपने शरीर को चतुर्भुज विष्णु के शंख, पद्म, चक्र और गदा से अंकित करते हैं, उसी प्रकार लिंगांकित शैव अपने शरीर को लिंगाकृति से दागते हैं। ये अपने गले में लिंग की आकृति का एक स्वर्ण, रजत या पाषाणनिर्मित चिह्न लटकाये रहते हैं। लिंगायत सम्प्रदाय का प्रचलन आन्ध्रप्रदेश में अधिक है।

ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के गुणदोष कथन

ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७४ ईसवी में हुआ था। यही वह वर्ष था जब लार्ड वारन हेस्टिंग्ज अंग्रेजों का पहला गवर्नर जनरल नियुक्त होकर भारत में

को बचाये, और कुछ-कुछ पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा को हठाया, अन्य जाल ग्रन्थों के फन्दे से भी कुछ बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु—

आया था। यहीं से इस देश में ब्रिटिश सरकार के आधिपत्य का सूत्रपात हुआ समझना चाहिए। जो बात ईसाई धर्म के सन्दर्भ में जॉन वाइक्लिफ़ (John wycliffe) के लिए कही जाती है, वही हिन्दू धर्म के सन्दर्भ में राजा राममोहन राय के लिए कही जा सकती है—Moining Star of Hindu Reformation. राममोहन राय एक प्रतिभाशाली पुरुष थे। उन्होंने समझ लिया था कि यदि हिन्दू धर्म और संस्कृति को जीवित रखना है तो उनका सुधार करना आवश्यक है। उनका विश्वास था कि न तो पाश्चात्य प्रभाव सर्वथा भागने और न हिन्दू धर्म उसके तत्कालीन रूप में ज्यों-का-त्यों अपनाने से काम चलेगा और न हिन्दू धर्म को त्याग कर ईसाई बनने से कल्याण होगा।

राममोहन राय की प्रारम्भिक शिक्षा फ़ारसी और अरबी के माध्यम से हुई। तत्पश्चात् उन्होंने काशी में रहकर संस्कृत पढ़ी और उपनिषद्, वेदान्तसूत्र, स्मृति आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसलाम के एकेश्वरवाद, सूफ़ियों के तसव्वुफ़ और उपनिषद् साहित्य तथा वेदान्तदर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप उनकी एकेश्वरवाद की धारणा सुदृढ़ हो गई।

राममोहन राय ने १६ वर्ष की आयु में मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध पुस्तक लिखी, जिससे उनके पिता बड़े रुष्ट हुए। पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने मूर्त्तिपूजा का अधिक बलपूर्वक विरोध किया। उनसे पहले कबीर, नानक आदि ने भी मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया था। परन्तु उनमें से किसी का यह पक्ष नहीं रहा कि मूर्त्तिपूजा हिन्दूधर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उन सबका यही विचार रहा कि मूर्त्तिपूजा ही हिन्दूधर्म है। राममोहन राय ने लिखा—

The ground which I took in all my controversies was, not that of opposition to Brahmanism, but to a pervesion of it; and I endeavoured to show that idolatory of the Brahmans was contrary to the practiee of their ancestors, and the principles of the ancient books and anthorities which they profes to revere and obey."

अर्थात्—सब शास्त्रार्थों में मेरा यही पक्ष रहा कि मैं हिन्दूधर्म का विरोधी नहीं रहा, किन्तु हिन्दू धर्म के बिगड़े हुए रूप का विरोधी हूँ। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि जिस मूर्त्तिपूजा को आजकल ब्राह्मण करते हैं, वह उनके पूर्वजों की प्रथा के प्रतिकूल है तथा उन प्राचीन शास्त्रों क भी विरुद्ध है, जिनका आदर करने और मानने का वे दावा करते हैं।

इससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. उन्होंने मौलिक संस्कृत ग्रन्थ पढ़े थे।

२. उन्हें मूर्त्तिपूजा तथा अन्य रूढ़ियाँ वेदादिशास्त्रों के विपरीत जान पड़े।

३ उनका मूर्त्तिपूजा का विरोध इसलाम तथा ईसाई धर्म के मूर्त्तिपूजा विरोधी विचारों से प्रभावित नहीं था।

राममोहन राय आगे लिखते हैं—

For every Hindu who devotes himself to this absurd practice, Constructs for that purpose a couple of male and female idols, sometimes indecent in from, as representatives of his favourite deities; he is taught and enjoined from his infancy to contemplate and repeat

the history of these, as well as their fellow deities; though the actions ascribed to them, be only a contiuned series of debauchery, sensuality, falsehood, ingratitude, breach of trust and treachery to friends." (Monotheistical system of the Vedas—Centenary Works, P. 123)

अर्थात्--जो हिन्दू पूजा करता है, वह इस काम के लिए स्त्रीलिंग और और पुंलिंग मूर्त्ति का जोड़ा अपने इष्टदेवों के प्रतिनिधिरूप तैयार करता है। इनकी आकृति कभी-कभी बड़ी अश्लील होती है। उसे बचपन से सिखाया जाता है कि इनकी और इसी प्रकार के अन्य देवताओं की कहानी स्मरण किया करे। और जो क्रिया-कलाप उनसे सम्बद्ध किए जाते हैं, वे उनके निरन्तर व्यभिचार, इन्द्रियविलास, झूठ, कृतघ्नता, विश्वासघात और मित्रद्रोह के होते हैं।

श्रीरामपुर में ईसाइयों ने एक मिशन प्रेस स्थापित किया था। वहाँ से 'समाचार दर्पण' नामक एक पत्र निकलता था। उस पत्र के १४ जुलाई १८२१ के अंक में किसी ने हिन्दू धर्म पर कुछ आक्षेप किए। वे ऐसे आक्रमणों को कैसे सहन कर सकते थे, यद्यपि उन्होंने स्वयं हिन्दुओं की प्राचीन प्रथाओं—मूर्त्तिपूजा, सतीप्रथा आदि के विरुद्ध आवाज उठाई थी। उन्होंने 'Brahmanical Magazine' में न केवल इन आक्षेपों का उत्तर ही दिया, अपितु ईसाई सिद्धान्तों का खण्डन भी किया। उन्होंने ईसाइयों से प्रश्न किए। जैसे—

१. तुम ईसा को ईश्वर का बेटा भी मानते हो और ईश्वर भी। बेटा बाप कैसे हो सकता है?

२. तुम यह भी कहते हो कि ईसा मनुष्य का बेटा था। फिर भी कहते हो कि कोई मनुष्य उसका बाप नहीं था।

३ तुम कहते हो कि ईश्वर एक है, फिर भी कहते कि बाप हो ईश्वर है, बेटा ईश्वरहै और पवित्र आत्मा ईश्वर है।

४. तुम कहते हो कि ईश्वर की आत्मा की पूजा करनी चाहिए। फिर तुम ईसामसीह की ईश्वर के रूप में पूजा करते हो। यद्यपि वह शरीरधारी है।

ईसाइयों से उनके प्रश्नोत्तर चलते रहते थे। यह उत्तर 'शिवप्रसाद शर्मा' के नाम से दिए जाते थे, यद्यपि वस्तुतः इनके लेखक स्वयं राममोहन राय होते थे।

ईसाइयों का कहना था—"Christians worship Christ and not his body separately from him." अर्थात्—ईसाई ईसामसीह को पूजते हैं, उससे अलग उसके शरीर को नहीं।

राममोहन राय ने उत्तर दिया—यदि हम मान लें कि शरीरधारी आत्मा की पूजा आत्मा की ही पूजा है, जड़पदार्थ की नहीं, तो किसी को भी मूर्त्तिपूजक होने का दोष नहीं लगेगा। क्या यूनानी और रोमन लोग जूपिटर और जूनो आदि देवताओं के शरीरों को उनके आत्मा से अलग मानकर पूजते थे? क्या हिन्दू लोग अवतारों की मूर्त्तियों को आत्मा मानकर नहीं पूजते? वे भी तो प्राणप्रतिष्ठा करके ही मूर्त्तियों को पूजते हैं।

राममोहनराय ब्रह्मोपासना के लिए एक सभा की आवश्यकता अनुभव करते थे। इसलिए उन्होंने २५ अगस्त १८२८ को कलकत्ता नगर के जोड़ासाकों (चीतपुर रोड) मुहल्ले में एक किराये के मकान में ब्राह्मसमाज की स्थापना कर दी। १८२९ में उसका अपना भवन बन गया। इसका अधिवेशन प्रति शनिवार को सायं ७ से ९ बजे तक होने लगा। इसमें दक्षिणी ब्राह्मणों द्वारा वेदपाठ, वेदव्याख्या, उपनिषद् पाठ व व्याख्या होते थे। ८ जनवरी १८३० को इसका ट्रस्ट लिखा गया। उसमें ब्राह्मसमाज के ये सिद्धान्त लिखे गए—

१. वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए।

२. इनमें एक ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है।
३. बहु-विवाह, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि सब वेदविरुद्ध हैं और त्याज्य हैं।
४. मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध है, इसलिए त्याज्य है।

राममोहनराय १८३० में इंगलैण्ड चले गए और वहीं १८३३ ई० में उनका देहान्त हो गया। उनके बाद ब्राह्मसमाज का नेतृत्व श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर (कवीन्द्र रवीन्द्र के पिता) के हाथों में आ गया। उन्होंने ब्राह्मसमाज की उपासनापद्धति को सुनिश्चित रूप दिया। ब्राह्मसमाज के एकेश्वरवाद के सिद्धांत में श्रद्धा, भक्ति और आस्था का प्रवेश कराने का श्रेय उन्हीं को जाता है। राममोहनराय का विश्वास था—

"The validity of the theological controvery chiefly depends upon seriptural authority." (Montheistical system of the Vedas P. 113)

अर्थात्—धार्मिक शास्त्रार्थ और वाद-विवाद की सत्यता मुख्यतः शास्त्रीय प्रमाणों पर ही निर्भर करती है। राममोहनराय के बाद इस बात को लेकर मतभेद के अंकुर फूटने लगे। ऐसे समय कलकत्ते में बाबू केशवचन्द्र सेन का प्रादुर्भाव हुआ। वह बड़े तीक्ष्णबुद्धि, तार्किक और विद्वान् युवक थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ को वह ब्राह्मसमाज के लिए बड़ा उपयोगी जान पड़ा। केशव बाबू १८५७ में ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हो गए। उन्होंने समाज को संगठित करना प्रारम्भ किया। महर्षि के कृपापात्र होकर वह शीघ्र ही उसके आचार्य पद पर नियुक्त हो गए। पर केशव बाबू का आना ब्राह्मसमाज के संगठन और उसके स्वरूप के लिए अभिशाप बन गया। महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशव बाबू के विचार नहीं मिलते थे। परिणामतः ब्राह्मसमाज का विभाजन हो गया। मूल ब्राह्मसमाज आदि ब्राह्मसमाज के नाम से जाना जाने लगा और केशव बाबू का नवगठित समाज भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

केशव बाबू की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य संस्कारों के साथ हुई थी। ईसाइयत के प्रति उनमें अपार उत्साह था। वे ईसा को एशिया का महापुरुष ही नहीं, समस्त मानव जाति के त्राता के रूप में स्वीकार करते थे और अपने अनुयायियों को ईसाई मत की धार्मिक एवं आचारमूलक शिक्षाओं को खुले आम स्वीकार करने की प्रेरणा देते थे। 'Prophets of New India' नामक पुस्तक में रोम्यारोलाँ लिखता है—"Keshab Chandra Sen ran counter to the rising tide of national consciouseness then feverisbly awakening". (Page 97)। अर्थात् केशवचन्द्र सेन भारत की राष्ट्रिय चेतना के, जो उस समय बड़े वेग से उभर रही थी, विरुद्ध दौड़ा। जब नेता में ही देशभक्ति की भावना न हो तो अनुयायियों का क्या कहना। ९ अप्रैल १८७९ को कलकत्ता के टाउन हाल में "India asks who is Christ ?' नामक व्याख्यान में ब्राह्मसमाज के प्रमुख नेता ब्रह्मानन्द श्री केशवचन्द्र सेन ने अपने व्याख्यान में कहा था—"My Christ, my sweet Christ, the brightest jewel of my heart, the necklace of my soul. For twenty years have I cherished him in this my niserable heart." अर्थात् मेरा ईसा ! मेरा प्यारा ईसा ! मेरे हृदय का सर्वाधिक आभावान् हीरा ! मेरे आत्मा का कण्ठहार ! बीस वर्ष तक मैंने इस सन्तप्त हृदय में धारण कर रक्खा है। कदाचित् इसी को लक्ष्य करके रोम्यारोलाँ ने 'Life of Ramakrishna Paramahans' में केशवचन्द्र के सम्बन्ध में लिखा—"Christ has touched him and it was to be his mission of life to introduce him to Brahma Samaj. Keshab not only accepted and adopted Christianity but extolled it with greatness and was enlightened with it. He called the loftiest expression of the world's religious consciousness" अर्थात् ईसा ने उसके अन्तस्तल को स्पर्श किया था, और केशवचन्द्र के जीवन

का यह लक्ष्य होना था कि वह ईसा को ब्राह्मसमाज में प्रविष्ट कराये। केशव ने न केवल ईसाइयत को अंगीकार और धारण किया था, प्रत्युत उसे महत्त्व का आसन दिया था और वह स्वयं उससे आलोकित था। वह उसे संसार की धार्मिक चेतना का सर्वोच्च विचार मानता था। इतना ही नहीं, रोलाँ इससे आगे लिखता है—"Dis anything still separate him from Christianity ?" अर्थात् क्या अब भी कोई बात उसे ईसाइयत से पृथक् करती है ? फ्रैंक लिल्लींगटन ने 'The Brahma Samaj and Arya Samaj' नामक ग्रन्थ में लिखा—" 'Let India accept Christ' were the words of Keshab Chandra Sen, one of the leaders of the Brahma Samaj of India when he preached to a large congregation at Calcutta in 1979. To Christion ears no words be more welcome." (P.1) अर्थात् १८७९ ई० में कलकत्ता में एक बड़ी सभा में भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के एक नेता केशवचन्द्र सेन ने कहा—भारत को ईसा को स्वीकार कर लेना चाहिए। ईसाई कानों को इससे अधिक सुखद शब्द नहीं हो सकते। मैक्समूलर Biographical Essays के पृष्ठ ८९ पर पादरी क्लार्क वोयरो का यह प्रमाण उद्धृत करता है—"Believers of Keshab Chandra Sen have forefieted the name of theists, because their leader has been more and more inclined towards Christianity." अर्थात् केशवचन्द्र सेन के अनुयायी ब्राह्म कहलाने का अधिकार गँवा बैठे हैं, क्योंकि उनका नेता ईसाइयत की ओर अधिक-से-अधिक झुक गया है। मैक्समूलर पाश्चात्य प्रभाव से आर्यसमाज के लोप की सम्भावना करके लिखता है—"But it is different with the Arya Samaj under Devendranath Tagore and Keshab Chandra Sen. They do not fear the west, on the contrary they welcome it." अर्थात् देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के तत्त्वावधान में ब्राह्मसमाज की स्थिति बिल्कुल भिन्न है, वे पश्चिम से डरते नहीं, प्रत्युत उसका स्वागत करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिस ब्राह्मसमाज की आलोचना ग्रन्थकार ने यहाँ की है, वह न राजाराममोहनराय का ब्राह्मसमाज है और न देवेन्द्रनाथ ठाकुर का। निश्चय ही वह केशवचन्द्र सेन का ब्राह्मसमाज है। "ईसाई होने से बचाये" केवल यह वाक्य राजाराममोहनराय द्वारा प्रवर्त्तित ब्राह्मसमाज से सम्बन्धित है। केशव बाबू Brahmo Marriage Act पास कराना चाहते थे। आदि ब्रह्मसमाज के लोगों ने उसका विरोध किया। वे अपने आपको हिन्दू मानते थे, इसलिए वे उस विल को अपने ऊपर लागू करवाना नहीं चाहते थे। केशव बाबू के परामर्श से ब्राह्मसमाज की ओर से जो ज्ञापन सरकार को भेजा गया. उसमें स्पष्ट लिखा था —"The term Hindu does not include the Brahmos, who deny the authority of the Vedas." अर्थात् हिन्दू शब्द ब्राह्मों पर लागू नहीं होता, क्योंकि वे वेद को प्रमाण नहीं मानते। जबकि ब्राह्मसमाज के ट्रस्ट डीड में स्पष्ट लिखा था कि "वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए। और मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध है, इसलिए त्याज्य है।" अन्ततः उक्त बिल १९ मार्च १८७२ को 'देशी विवाह का कानून' (Native Marriage Act) के नाम से पास हुआ।

केशवचन्द्र सेन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के कारण ही परवर्त्ती ब्राह्मसमाज का विशाल हिन्दूसमाज से सर्वथा सम्बन्धविच्छेद हो गया। ब्राह्म लोग अपने आपको हिन्दू धर्म की मान्यताओं और विश्वासों की मुख्य धारा से पृथक् करते गये। परिणाम यह हुआ कि जिस ब्राह्मसमाज की स्थापना हिन्दू धर्म की विकृतियों को दूर करके उसे एक स्वस्थ समाज के रूप में प्रस्तुत करने के लिए की गई थी, वह एक संकीर्ण प्रम्प्रदाय बन कर रह गया। 'Modern Relegious movements in India' के लेखक J. N. Farqutar ने ठीक लिखा—"The Brahma today is as distinctly outside Hinduism as the Christian" (Page 38)

"ब्रह्मा आदि ऋषियों का नाम नहीं"—केशवचन्द्र सेन ने ब्राह्मसमाज के पाँच नियम निर्धारित किए। उनमें तीसरा इस प्रकार है—"परमेश्वर कभी नर-तन धारण करके मनुष्य नहीं बनता। उसका ईश्वरत्व प्रत्येक मनुष्य में वास करता है। कुछ में अधिक स्पष्टता से प्रकट होता है। मूसा, ईसामसीह, मुहम्मद, नानक, चैतन्य तथा दूसरे महागुरु विशेष समयों पर प्रकट हुए और संसार को लाभ दिए।" देखिए, यहाँ किसी ऋषि-मुनि का नाम नहीं है।

भारत में जन्मे, पले और बढ़े सभी मतों और सम्प्रदायों ने किसी-न-किसी रूप में वेद के प्रामाण्य को स्वीकार किया है। तद्यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनु० २।६); वेदो धर्ममूलम् (गौतम धर्मसूत्र १।१।२)।

न हि वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥—याज्ञवल्क्य

वेदाः प्रमाणं लोकानाम् (महा० शा० प० २७०।१)।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥—सायण० तै० संहिताभाष्य
वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।—भागवत० ६।१।४०
श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत्स धर्मः प्रकीर्तितः।
अन्यशास्त्रेण यः प्रोक्तो धर्माभासः स उच्यते॥
यो वेदधर्ममुत्सृज्य धर्ममन्यं समाश्रयेत्।
राजा प्रवासयेद् दशान्निजादेतानधर्मिणः॥

इसी परम्परा के अनुसार राजा राममोहनराय ने वेदों की अपौरुषेयता को स्वीकार किया था और शास्त्रप्रमाण-विचार में वेद की प्रामाणिकता को सर्वोपरि माना था—"A commonly received rule for ascertaining the outhority of any book is this, that whatever book opposes the veda, is destitute of authority." (The Brahmanical Magazine No.2, P. 162)

किन्तु कालान्तर में इस स्थिति में परिवर्तन आ गया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के काल में कुछ-कुछ बीच की सी स्थिति रही और केशवचन्द्र के समय में ब्राह्मसमाज ने वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर दिया। अन्ततः ब्राह्मो (Native) विवाह कानून के सन्दर्भ में दिए गए ज्ञापन में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वेद को प्रमाण माननेवाले हिन्दू होते हैं और न माननेवाले ब्राह्मसमाजी होते हैं। प्रो० मैक्समूलर ने 'Ramamohan to Ramkrishna' में लिखा—"Members of the Brahma Samaj, after becoming better acquainted with their own sacred teachings than they ever had before, should solemnly have declared in the year 1850 (17 years after the death of Raja Ramamohan Rai) that the claim of being divinely inspired conld no longer be maintained in favour of the hymns of the Brahmanas or the veda." साथ-साथ यह भी कहना प्रारम्भ कर दिया कि समान बाइबल और कुरान आदि अन्य ग्रन्थ भी हमारे लिए प्रामाणिक और ग्राह्य हैं। कालान्तर में जब केशव ने अपनी अल्पवयस्का पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजकुमार के साथ करना निश्चित किया और इस विवाह में भी ब्राह्म अनुष्ठान विधि का प्रयोग न किया जाकर परम्परागत मूर्त्तिपूजाप्रधान संस्कार ही सम्पन्न हुआ तो केशव के रहे-सहे अनुयायी भी उनका साथ छोड़ गए। केशव ने अपनी पुत्री के अल्पावस्था में विवाह का येन केन प्रकारेण समर्थन किया और अपने आपको दैवी आदेश प्राप्त करनेवाले सिद्धपुरुष के रूप में प्रस्थापित किया। मुहम्मद साहब जो कुछ करना चाहते थे, उसकी स्वीकृति देनेवाली आयत खुदा की ओर से उन पर पहली रात में नाजिल हो जाती थी। अपनी अल्पवयस्का

[ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज में १६ दोष]

१. इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से ले लिये हैं। खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।

२. अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान में पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंगरेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान् नहीं हुआ। आर्य्यावर्त्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।

३. वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के **उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा मूसा मुहम्मद नानक और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।** इससे जाना जाता है कि इन लोगों ने जिनका नाम लिखा है, उन्हीं के मतानुसारी मतवाले हैं।

भला जब आर्य्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं, इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, तब अपने माता-पिता-पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना; ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृतविद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना; इङ्गलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है?

४. अङ्गरेज यवन अन्त्यजादि से भी खाने-पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा

पुत्री के विवाह के समर्थन में कुछ वैसी ही प्रेरणा उन्हें ईश्वर से प्राप्त हो गई थी। वैसी ही प्रेरणा ब्रह्मादि ऋषियों द्वारा प्राप्त किया जाना केशव बाबू को मान्य नहीं था।

स्वदेशभक्ति—जिस देश की मिट्टी में जन्म लिया और जिसके अन्न जल से पोषण पाया, उसकी संस्कृति, सभ्यता, भाषा, इतिहास और परम्पराओं में जिसकी आस्था नहीं, ऐसे कृतघ्न मनुष्य के लिए महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि यह एक ऐसा पाप है, जिसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता—'कृतघ्नस्य नास्ति निष्कृतिः।' महान सन्त और कवि वियोगी हरि के शब्दों में—

'पर भाषा पर भाव पर भूषण पर परिधान।
पराधीन नर की अहो यह पूरी पहचान॥

और हम कहते हैं—

'घर से बैर अपर से नाता।
ऐसी बहू मत देहु विधाता॥'

ऐसी बहू के रहते घर में सुख शान्ति कभी नहीं रह सकती।

खान-पान—ब्राह्मसमाज ने हिन्दू समाज में प्रचलित भक्ष्याभक्ष्य के स्वस्थ नियमों को तिलांजलि देकर अंग्रेज, मुसलमान, ईसाई आदि विदेशियों और विधर्मियों के साथ यथेच्छ खान-पान को प्रोत्साहित किया। खाना-पीना एक होने से समाज में सुधार नहीं हो सकता। क्या एक थाली में भोजन करने वाले सहोदरों में झगड़े नहीं होते? बिरादरी के आधार पर रोटी-बेटी एक रखनेवालों में क्या सिर फुटौवल नहीं होता। इसलिए इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार की यह उक्ति बड़ी सटीक है कि "उन्होंने अर्थात् ऐसा करनेवाले ब्राह्मसमाजियों ने समझा होगा कि खाने-पीने और इस प्रकार जातिभेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जाएगा। परंतु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ उल्टा बिगाड़ होता है।"

कि खाने-पीने और जातिभेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जाएगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ है ? उलटा बिगाड़ होता है।

[ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जातिभेद है]

प्रश्न—जातिभेद ईश्वरकृत है, वा मनुष्यकृत ?

उत्तर—ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जातिभेद हैं।

प्रश्न—कौनसे ईश्वरकृत, और कौनसे मनुष्यकृत ?

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जल-जन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ अश्व हस्ती आदि जातियाँ; वृक्षों में पीपल वट आम्र आदि; पक्षियों में हंस काक वकादि; जलजन्तुओं में मत्स्य मकरादि जातिभेद ईश्वरकृत हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अन्त्यज जातिभेद हैं। परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं, किन्तु सामान्यविशेषात्मक[1] जाति में गिनते हैं।

हमारे देश भारत में पिछले ८० वर्ष में इस विषय में जो प्रयोग हुए हैं, वे इस बात के साक्षी हैं। खान-पान से होनेवाली अथवा दीखनेवाली ऊपरी एकता से बात नहीं बनती।

जातिभेद—जन्म से सम्बन्धित होने से जाति बदल नहीं सकती। गाय का घोड़ा, घोड़े का कुत्ता, वृक्ष का कबूतर आदि नहीं हो सकते। इसलिए जातिभेद ईश्वरकृत है। वर्णव्यवस्था या वर्णभेद गुणकर्माश्रित है। गुणकर्म के बदलने से वह बदल सकता है। ब्राह्मण से वैश्य, शूद्र से ब्राह्मण या क्षत्रिय

---

१. यहाँ नैयायिकों की 'सामान्य-विशेषात्मक जाति' अभिप्रेत नहीं है। उनके मतानुसार तो पूर्वोक्त गौ अश्व आदि भी सामान्य-विशेषात्मक जातियाँ हैं। अतः इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणादि शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से सामान्य मनुष्यजाति के अन्तर्गत विशेष जाति हैं। अतएव यह सामान्य-विशेषात्मक जाति हैं। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के ४।१।६३ सूत्र में प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए 'जाति' का निम्न लक्षण लिखा है—

'आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥'

इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा है—'आकृतिर्ग्रहणं यस्याः सा आकृतिग्रहणा, अवयवसन्निवेशव्यङ्ग्येत्यर्थः। एतेन गोत्वादिजातिर्लक्षिता, ब्राह्मणत्वादिस्तु न संगृहीता। ब्राह्मणक्षत्रियादीनां संस्थानस्य सदृशत्वादिति। तत्संग्रहायाह—लिङ्गानामिति।'

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=शरीर-अवयव-रचना-विशेष से ज्ञान होता है, वह 'जाति' है। जैसे गोत्व अश्वत्व आदि। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के शरीर-अवयव-रचना में समानता होने से ब्राह्मण आदि का 'जाति' शब्द से ग्रहण नहीं होगा। अतः कहा—जो सब (=तीनों) लिङ्गों में प्रयुक्त नहीं होते, वह भी 'जाति' शब्द से कहे जाते हैं। यथा—ब्राह्मण क्षत्रिय आदि।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि उस प्रकार की मुख्य जातियाँ नहीं हैं, जो शरीराकृतिमात्र से जानी जायें। 'समानप्रसवात्मिका जातिः' (न्याय २।२।६८) इस सूत्र का तात्पर्य भी 'आकृतिग्रहणा जातिः' से ही है। अतः ब्राह्मण आदि सामान्य जातिलक्षण से जातिवाचक नहीं हैं, अपितु शास्त्रीय-कार्य सिद्ध्यर्थ='ब्राह्मणी' आदि में स्त्री-प्रत्यय करने के लिए इनकी विशेषरूप से 'जाति' संज्ञा कही है। चरणों और गोत्रवाची—यथा कठ बह्वृच नाडायन चारायण आदि शब्दों की भी पारिभाषिक=शास्त्रीय जाति-संज्ञा 'विशेष जाति' संज्ञा कही है।

इस प्रसंग का उल्लेख ग्रन्थकार के जीवन-चरित्रों में कलकत्ता की यात्रा के प्रसंग में भी आया है। वहाँ पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती के प्रश्न के उत्तर में ब्राह्मण आदि को 'वर्ण' कहा है, जाति नहीं कहा। स० प्र० सं० १ के ११वें समुल्लास के अन्त में ब्राह्मसमाज के प्रकरण में लिखा है—'वे ब्राह्मणादि वर्णवाचक जो शब्द है, उनको जातिवाची 'ब्राह्मण' लोग जानके निषेध कर्त्ते हैं, सो केवल उनका भ्रम है'।

जैसे पूर्व वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आये, वैसे ही गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इसमें मनुष्य-कृतत्व उनके गुण-कर्म-स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम है।

भोजनभेद भी ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी है। जैसे सिंह मांसाहारी, और अर्णा भैंसा घासादि का आहार करते हैं, यह ईश्वरकृत। और देश-काल-वस्तुभेद से भोजनभेद मनुष्यकृत है।

[यूरोपियनों के गुण-दोषों की समीक्षा]

प्रश्न—देखो, यूरोपियन लोग मुण्डे जूते कोट पतलून पहरते, होटल में सबके हाथ का खाते हैं, इसीलिए अपनी बढ़ती करते जाते हैं।

उत्तर—यह तुम्हारी भूल है। क्योंकि मुसलमान और अन्त्यज लोग सबके हाथ का खाते हैं, पुन: उनकी उन्नति क्यों नहीं होती? जो यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना; लड़का-लड़की को विद्या-सुशिक्षा करना-कराना; स्वयंवर विवाह होना; बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता; वे विद्वान् होकर जिस-किसी के पाखण्ड में नहीं फँसते; जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं; अपनी स्वजाति की उन्नति के लिए तन-मन-धन व्यय करते हैं; आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं।

देखो, अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय=आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्यदेशस्थ मनुष्यों का नहीं करते।

देखो, कुछ[1] सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए, और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं जैसाकि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा। और तुममें से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसीसे तुम निर्बुद्धि, और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण का करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।

से ब्राह्मण आदि बन सकता है। इसलिए मनुष्यों में वर्णभेद मनुष्यकृत है। जाति और वर्ण पर्यायवाची नहीं हैं।

"**अपने देश के जूतों** का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्यदेशस्थ मनुष्यों का नहीं करते"—लिखनेवाले व्यक्ति के हृदय में विदेशी शासन और विदेशी वस्तुओं के प्रयोग के विरुद्ध कितना आक्रोश रहा होगा! विदेशी माल की खपत से देश की आर्थिक हानि को लक्ष्य करके ग्रन्थकार ने लिखा कि "जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार करें तो बिना दारिद्र्य और दु:ख के दूसरा कुछ नहीं हो सकता।" संस्कारविधि में विवाह के प्रकरण में उन्होंने विशुद्ध स्वदेशी वस्त्रों के प्रयोग का विधान किया है। ठाकुर ऊधोसिंह को विदेशी वेशभूषा में देखकर उन्होंने बड़ मार्मिक शब्दों में कहा था—"क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेश से विभूषित होकर अपने पिताजी से अधिक संस्कृत हो गये हो? अपने ही देश के वस्तु वेश को अपनाने में शोभा है।" वास्तव में ग्रन्थकार के आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, मस्तिष्क, हृदय—सभी पर स्वदेशभक्ति की छाप थी। उनका अन्दर-बाहर सभी स्वदेशी के रंग में रंगा था। ब्राह्मसमाजियों का आचरण इसके विपरीत देखकर उनका आत्मा क्यों न कराह उठता?

१. अर्थात् 'सौ वर्ष से कुछ ऊपर' यह भाव जानना चाहिए।

और जो जिस काम पर रहता है, उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्त्ती बराबर रहते हैं। अपने देशवालों को व्यापार आदि में सहाय देते हैं। इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है। मुण्डे जूते, कोट पतलून, होटल में खाने-पीने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।

और इनमें जातिभेद भी है। देखो जब कोई यूरोपियन चाहे कितने बड़े अधिकार पर और प्रतिष्ठित हो, किसी अन्य देश वा अन्य मतवालों की लड़की, वा यूरोपियन की लड़की अन्य देशवाले से विवाह कर लेती है, तो उसी समय उसका निमन्त्रण साथ बैठकर खाने और विवाह आदि को अन्य लोग बन्ध कर देते हैं। यह जातिभेद नहीं, तो क्या है ? और तुम भोले-भालों को बहकाते हैं कि हममें जातिभेद नहीं। तुम अपनी मूर्खता से मान भी लेते हो। इसलिए जो कुछ करना, वह सोच-विचारके करना चाहिये। जिसमें पुनः पश्चात्ताप करना न पड़े।

[रोगी को ही वैद्य और औषध चाहिए]

देखो, वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगी के लिए है, नीरोग के लिए नहीं। विद्यावान् नीरोग, और विद्यारहित अविद्यारोग से ग्रसित रहता है। उस रोग के छुड़ाने के लिए सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको[1] अविद्या से यह रोग है कि खाने-पीने में ही धर्म रहता और जाता है। जब किसी को खाने-पीने में अनाचार करता देखते हैं, तब कहते और जानते हैं कि वह धर्मभ्रष्ट हो गया। उसकी बात न सुनते, और न उसके पास बैठते, न उसको अपने पास बैठने देते।

अब कहिये कि तुम्हारी विद्या स्वार्थ के लिए है, अथवा परमार्थ के लिए ? परमार्थ तो तभी होता, कि जब तुम्हारी विद्या से उन अज्ञानियों को लाभ पहुँचता। जो कहो कि वे नहीं लेते, हम क्या करें ? यह तुम्हारा दोष है उनका नहीं। क्योंकि तुम जो अपना आचरण अच्छा रखते, तो तुमसे प्रेम कर वे उपकृत होते। सो तुमने सहस्रों का उपकार नाश करके अपना ही सुख किया, सो यह तुमको बड़ा अपराध लगा। क्योंकि परोपकार करना 'धर्म' और परहानि करना 'अधर्म' कहाता है।

इसलिए विद्वान् को यथायोग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःखसागर से तारने के लिए नौकारूप होना चाहिए। सर्वथा मूर्खों के सदृश कर्म न करने चाहिए। किन्तु जिसमें उनकी और अपनी दिन-दिन प्रति उन्नति हो, वैसे कर्म करने उचित हैं।

[सत्य विद्याओं के पुस्तक वेदों को न मानना भूल है]

५. **प्रश्न**—हम कोई पुस्तक ईश्वरप्रणीत वा सर्वांश सत्य नहीं मानते। क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि निर्भ्रान्त नहीं होती। इससे उनके बनाये ग्रन्थ सब भ्रान्त होते हैं। इसलिए हम सबसे सत्य ग्रहण करते, और असत्य को छोड़ देते हैं। चाहे सत्य वेद में, बाइबिल में, वा कुरान में, और अन्य किसी ग्रन्थ में हो, हमको ग्राह्य है। असत्य किसी का नहीं।

उत्तर—जिस बात से तुम सत्यग्राही होना चाहते हो, उसी बात से असत्यग्राही भी ठहरते हो। क्योंकि जब सब मनुष्य भ्रान्तिरहित नहीं हो सकते, तो तुम भी मनुष्य होने से भ्रान्तिसहित हो। जब भ्रान्तिसहित के वचन सर्वांश में प्रामाणिक नहीं होते, तो तुम्हारे वचन का भी विश्वास नहीं होगा। फिर तुम्हारे वचन पर भी सर्वथा विश्वास न करना चाहिए। जब ऐसा है, तो विषयुक्त अन्न के समान वे भी त्याग के योग्य हैं।

---

१. अर्थात् अज्ञानियों को।

फिर तुम्हारे व्याख्यान-पुस्तक बनाये का प्रमाण किसी को भी न करना चाहिए। 'चले तो चौबेजी छब्बेजी बनने को, गाँठ के दो खोकर दुबेजी 'बन गये।' कुछ तुम सर्वज्ञ नहीं, जैसेकि अन्य मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हैं। कदाचित् भ्रम से असत्य को ग्रहण कर सत्य को छोड़ भी देते होंगे? इसलिए सर्वज्ञ परमात्मा के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिए। जैसाकि वेद के व्याख्यान में लिख आये हैं[2], वैसा तुमको अवश्य ही मानना चाहिए। नहीं तो [3]"यतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाना है। जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, तो उनका ग्रहण करने में शङ्का करनी अपनी और पराई हानिमात्र कर लेनी है।

[आर्यावर्त्तीय तुम्हें अपना नहीं समझते]

इसी बात से तुमको आर्यावर्त्तीय लोग अपने नहीं समझते। और तुम आर्यावर्त्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके। क्योंकि तुम सब घर के भिक्षुक ठहरे हो। तुमने समझा है कि इस बात से हम लोग अपना और पराया उपकार कर सकेंगे, सो न कर सकोगे। जैसे किसी के दो ही माता-पिता सब संसार के लड़कों का पालन करने लगें। सबका पालन करना तो असम्भव है, किन्तु उस बात से अपने लड़कों को भी नष्ट कर बैठें, वैसे ही आप लोगों की गति है। भला वेदादिसत्यशास्त्रों को माने विना तुम अपने वचनों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा, और आर्यावर्त्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो?

जिस देश को रोग हुआ है, उसकी ओषधि तुम्हारे पास नहीं। और यूरोपियन लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते। और आर्यावर्त्तीय लोग तुमको अन्य मतियों[4] के सदृश समझते हैं। अब भी समझकर वेदादि के मान्य से देशोन्नति करने लगो, तो भी अच्छा है। जो तुम यह कहते हो कि सब सत्य परमेश्वर से प्रकाशित होता है। पुनः ऋषियों के आत्माओं में ईश्वर से प्रकाशित हुए सत्यार्थ वेदों को क्यों नहीं मानते? हाँ यही कारण है कि तुम लोग वेद नहीं पढ़े और न पढ़ने की इच्छा करते हो। क्योंकर तुमको वेदोक्त ज्ञान हो सकेगा?

[विना उपादान के जगत् की उत्पत्ति नहीं होती; जीव नित्य हैं]

६. दूसरा—जगत् के उपादान कारण के विना जगत् की उत्पत्ति और जीव को भी उत्पन्न मानते हो, जैसा ईसाई और मुसलमान आदि मानते हैं। इसका उत्तर सृष्ट्युत्पत्ति[5] और जीवेश्वर[6] की व्याख्या में देख लीजिए। कारण के विना कार्य का होना सर्वथा असम्भव, और उत्पन्न वस्तु का नाश न होना भी वैसा ही असम्भव है।

---

१. लौकिक कहावत में 'दुबे जी रह गये।'
२. द्र०—सप्तम समुल्लास।
३. 'इतो भ्रष्टः' प्रायिक पाठ है।
४. 'मत' शब्द से मत्वर्थक इन्=='मती' अर्थात् मत-वाला। बहुवचन मतियों==मत-वालों। यथा धनी का बहुवचन धनियों।
५. सृष्ट्युत्पत्ति का विषय अष्टम समुल्लास में व्याख्यात है।
६. जीवेश्वर का विषय सप्तम समुल्लास में व्याख्यात है।

[बिना भोगे पापों की निवृत्ति नहीं होती]

७. एक यह भी तुम्हारा दोष है, जो पश्चात्ताप[1] और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति मानते हो। इसी बात से जगत् में बहुत से पाप बढ़ गये हैं। क्योंकि पुराणी लोग तीर्थादि यात्रा से; जैनी लोग भी नवकार मन्त्र जप और तीर्थादि से; ईसाई लोग ईसा के विश्वास से; मुसलमान लोग 'तोबा:' करने से पाप का छूट जाना बिना भोग के मानते हैं। इससे पापों से भय न होकर पाप में प्रवृत्ति बहुत हो गई है। इस बात में ब्राह्म और प्रार्थनासमाजी भी पुराणी आदि के समान हैं। जो वेदों की सुनते[2], तो बिना भोग के पाप-पुण्य की निवृत्ति न होने से पापों से डरते, और धर्म में सदा प्रवृत्त रहते। जो भोग के बिना निवृत्ति मानें, तो ईश्वर अन्यायकारी होता है।

प्रायश्चित्त—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम्॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥
येषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि फलोपभोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। एक बार जब बाण छूट जाता है, तब वह लौटकर नहीं आता, अपने लक्ष्य पर पहुँच कर ही शान्त होता है। यहाँ तक कि—

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥

अर्थात्—ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व अज्ञानावस्था में भी मनुष्य जिन कर्मों को कर डालता है, उनका फल ज्ञान प्राप्ति के बाद न मिले, यह नहीं हो सकता। जिस प्रकार व्याघ्र समझकर छोड़ा गया बाण, बाद में यह मालूम हो जाने पर भी कि यह गौ है, व्याघ्र नहीं, अपने लक्ष्य को मार ही डालता है, उसी प्रकार जाने-अनजाने किये हुए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जब ब्रह्म का दिन समाप्त होने पर सृष्टि की प्रलय होती है तो अभुक्त कर्म बीजरूप में बने रहते हैं। फिर जब नये सिरे से सृष्टि-रचना होती है तो उसी कर्मबीज (संस्कार) से अंकुर फूटने लगते हैं और इस प्रकार पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्म उसे यथापूर्व प्राप्त होते रहेंगे। जब अभुक्तकर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इसी जन्म में

---

१. पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त में अन्तर है। पश्चात्ताप और प्रार्थना भविष्य में दुष्कर्म न करने में सहायक होते हैं। इस कारण उससे पूर्वकृत दुष्कर्मों के फलों से नहीं बच सकता। हाँ, प्रायश्चित्त से, जिसमें दुष्कर्मकर्त्ता स्वयं शारीरिक मानसिक कष्ट जितने अंश में भोग लेता है, उतने अंश में दुष्कर्म के फल से बच जाता है। यदि ऐसा न मानें, तो शास्त्रकारों का प्रायश्चित्त-विधान व्यर्थ हो जावे। और पापकर्त्ता को दोहरा फल भोगना पड़े। यही व्यवस्था राज-दण्ड की भी जाननी चाहिए। अर्थात् किसी चोरी आदि कर्म का राजा से दण्ड प्राप्त हो गया, तो परमात्मा पुनः उसका दण्ड न देगा। यदि देगा तो अन्यायकारी होगा। हाँ, न्यायाधीश के असर्वज्ञ होने से दण्ड में न्यूनाधिक्य हो सकता है। उस अवस्था में शेष की पूर्ति ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुसार होगी।

२. अर्थात् वेदों की बातें मानते।

[सीमित कर्मों का अनन्त फल नहीं मिल सकता]

८. जो तुम जीव की अनन्त उन्नति मानते हो, सो कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ससीम जीव के गुण-कर्म-स्वभाव का फल भी ससीम होना अवश्य है।

प्रश्न—परमेश्वर दयालु है, ससीम कर्मों का फल अनन्त दे देगा।

उत्तर—ऐसा करे, तो परमेश्वर का न्याय नष्ट हो जाए, और सत्कर्मों की उन्नति भी कोई न करेगा। क्योंकि थोड़े से भी सत्कर्म का अनन्त फल परमेश्वर दे देगा, और पश्चात्ताप वा प्रार्थना से पाप चाहे जितने हों छूट जाएँगे। ऐसी बातों से धर्म की हानि, और पाप-कर्मों की वृद्धि होती है।

[स्वाभाविक ज्ञान को सर्वोपरि मानना ठीक नहीं]

प्रश्न—हम स्वाभाविक ज्ञान को वेद से भी बड़ा मानते हैं, नैमित्तिक को नहीं[1]। क्योंकि जो

किये हुए पापों से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव हो सकता है। भौतिक जगत् में जिसे कार्य-कारण (Cause and effect or action and reaction) कहते हैं, आध्यात्मिक सन्दर्भ में उसी को कर्म-सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। डॉ० राधाकृष्णन ने इस विषय में लिखा है—

"We cannot prevent the cause from producing its effect. Any arbitrary interference with the order of the world is not permitted. Every act, every thought is weighed in the invisible, but universal, balance scales of justice. None can escape the day of judgement which is not in some remote future, but here and now. Divine laws cannot be evaded." (Hindu View of Life; P. 53)

अर्थात् हम कारण को कार्यरूप में परिणत होने से नहीं रोक सकते। संसार की व्यवस्था में मनमाना हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक विचार को न्याय की परोक्ष, किन्तु सार्वभौम तुला में तोला जाता है। न्यायव्यवस्था से कोई बच नहीं सकता। ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

आशय यह है कि अनिवार्यता कार्य-कारण का अटल नियम है। कर्म कारण है तो फल उसका कार्य है। कर्म किया है तो उसके फल से बचा नहीं जा सकता। जब तक किसी कर्म का फल मिल नहीं जाता तब तक वह उसके खाते में दर्ज रहता है।

साम्प्रदायिक लोगों ने (जिनमें ब्राह्मसमाजी भी शामिल हैं) प्रायश्चित्त का विधान करके कर्मफल भोग से बचाने के उपाय खोज निकाले हैं। वास्तव में उनका उद्देश्य लोगों को बहकाकर अपना उल्लू सीधा करना है। तीर्थस्नान, व्रतोपवास, दान-पुण्य, पुराण आदि की कथा, नियत संख्या में किसी नाम या मन्त्र का जाप कराना आदि इसी के उपाय माने जाते हैं। यदि यह मान लिया जाये कि परमेश्वर अपराध का दण्ड दिये विना छोड़ देता है तो न्यायव्यवस्था भंग हो जाती है और न्यायव्यवस्था भंग होने अर्थात् दण्ड का भय निकल जाने पर निश्चय ही अपराधों में वृद्धि होगी। सच तो यही है कि प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप से न कृत कर्मों का पूरी तरह नाश होता है और न ससीम कर्मों का असीम फल मिलता है। परमेश्वर के दलालों (Agents or Middle men) या सिफ़ारिशियों को बीच में डाले बिना यदि कोई हृदय से अपने किए पर पछताता है तो इससे उसे भविष्य में पापकर्मों से बचने में सहायता अवश्य मिलती है।

नैमित्तिक ज्ञान आवश्यक—पशु-पक्षी हों या मनुष्य—जीवमात्र ज्ञानयुक्त है। स्वाभाविक

---

१. यही पक्ष वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका का है। इसके अनुसार कार्लमार्क्स और फ्रायड के कल्पित मत खड़े हुए। इनका खण्डन अपेक्षित है। भ० द०

स्वाभाविक ज्ञान परमेश्वरदत्त हममें न होता, तो वेदों को भी कैसे पढ़-पढ़ा समझ-समझा सकते ? इसलिए हम लोगों का मत बहुत अच्छा है ।

उत्तर—यह तुम्हारी बात निरर्थक है। क्योंकि जो किसी का दिया हुआ ज्ञान होता है, वह स्वाभाविक नहीं होता । जो स्वाभाविक है, वह सहज ज्ञान होता है । और न वह बढ़ घट सकता[1] । उससे उन्नति कोई भी नहीं कर सकता । क्योंकि जङ्गली मनुष्यों में भी स्वाभाविक ज्ञान है, तो भी वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते ।

अथवा नैसर्गिक ज्ञान की दृष्टि से पशुओं से मनुष्य पीछे है । पशु पैदा होते ही तैरने लगता है । राजस्थान की भैंस ने जीवन में तैरने योग्य पानी देखा भी नहीं होगा, फिर भी उसका सद्योजात बच्चा पानी में घुसते ही तैरने लगेगा । इसके विपरीत नदी के किनारे रहनेवाले और जीवन भर मल्लाह का काम करते रहनेवाले अथवा अन्यथा तैरने के अभ्यस्त मनुष्य का बच्चा भी बिना सीखे नहीं तैर सकता । तैरने की तो बात ही क्या, जब तक उसे अंगुली पकड़कर चलाया नहीं जायेगा तब तक वह चल भी नहीं सकेगा ।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है परन्तु स्वयं वही विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता । स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए अध्यापक के पास जाना पड़ता है । यदि स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभवमात्र से ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े गणित या व्याकरण का आचार्य, डाक्टर, इन्जीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता । परन्तु अफ्रीका, अमरीका, या आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, हज़ारों-लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं । भारत के सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, संथाल, नाग, आदि जातियाँ अभी तक असभ्य बनी हैं । कौन कह सकता है कि उनमें संवेदन या चिन्तन का अत्यन्ताभाव है । यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति कर सकता होता तो उसकी दशा अब तक ज्यों की त्यों क्यों बनी रहती ? दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित देशों के लोग इन पिछड़े क्षेत्रों में जाकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते जाते हैं, वैसै-वैसे वे लोग शिक्षित होते जाते हैं । जो काम स्वतः सैंकड़ों-हज़ारों वर्षों में न हुआ, वह प्रयत्न करने पर कुछ दशकों में हो गया ।

वर्त्तमान समाजशास्त्री भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है । इसीलिए आज भी यदि किसी मानव-शिशु को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह सर्वथा अज्ञ रह जाएगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा । जो परीक्षण किये गए, उनसे यही पता चला कि यदि किसी मनुष्य को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानव समाज से पृथक् करके पशुओं की संगति में रख दिया जाए तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा । वैसी ही बोली बोलेगा और वैसे ही चले फिरेगा । आकृति के सिवा उस मानव शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा । सुदूर अतीत में सीरिया के राजा बनीपाल, यूनान के बादशाह सेमिटिकल फ्रैड्रिक द्वितीय और इंगलैंड के बादशाह जेम्स चतुर्थ ने १०-१२ बच्चों को निर्जन स्थान में रक्खा और उनकी देखभाल के लिए नियुक्त व्यक्तियों को उनके सामने किसी प्रकार का व्यवहार करने से मना कर दिया । इसी प्रकार का एक प्रयोग भारत में अकबर ने भी किया । ये बच्चे न मनुष्यों की तरह बोल सकते थे, न चल सकते थे और न खा-पी सकते थे । १९३८ में एक अमरीकन बच्ची को उसका अध्ययन करने के लिए छह मास के

१. स्वामीजी का तर्क उनकी आर्ष-बुद्धि का ज्वलन्त प्रमाण है । भ० द०

और जो नैमित्तिक ज्ञान है, वही उन्नति का कारण है। देखो, तुम हम बाल्यावस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म कुछ भी ठीक-ठीक नहीं जानते थे। जब हम विद्वानों से पढ़े, तभी कर्त्तव्या-कर्त्तव्य और धर्माधर्म को समझने लगे। इसलिये स्वाभाविक ज्ञान को सर्वोपरि मानना ठीक नहीं।

[पूर्वापर जन्म न मानने में अनेक दोष]

६. जो आप लोगों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म नहीं माना है, वह ईसाई मुसलमानों से लिया होगा। इसका भी उत्तर पुनर्जन्म की व्याख्या से समझ लेना।[1] परन्तु इतना समझो कि जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है, और उसके कर्म भी प्रवाहरूप से नित्य हैं। कर्म और कर्मवान् का नित्य सम्बन्ध होता है। क्या वह जीव कहीं निकम्मा बैठा रहा था, वा रहेगा? और परमेश्वर भी निकम्मा तुम्हारे कहने से होता है।

पूर्वापर जन्म न मानने से कृतहानि और अकृताभ्यागम, नैर्घृण्य और वैषम्य दोष भी ईश्वर में आते हैं। क्योंकि जन्म न हो तो पाप-पुण्य के फलभोग की हानि हो जाए। क्योंकि जिस प्रकार दूसरे को

लिए एक कमरे में बन्द कर दिया गया। चार वर्ष की अवस्था होने पर उसका अध्ययन करने पर पता चला कि उसमें ४ वर्ष की आयुवाले मानव का कोई लक्षण नहीं था। जन्म के तत्काल बाद से ही भेड़िए की माँद में पलने-वाले रामू और कमला की कहानी तो देशभर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की भाँति चारों हाथों-पैरों से चलते थे और बोलने के नाम पर भेड़ियों की तरह गुर्राते थे। मानव समाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गये थे।

आहार-निद्रा-भय-मैथुन-आत्मसंरक्षण विषयक पशु जगत् का काम नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है। परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही हमारे माता-पिता ने अपने माता-पिता आदि से प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदि काल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा। अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ आदि गुरु परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के द्वारा नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तिसंगत ठहरता है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। वह क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में जितना भी ज्ञान है, उसका आदिमूल परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिए महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (१।२६) कहकर परमात्मा को 'गुरूणां गुरुः' अर्थात् गुरुओं का गुरु=आदि गुरु बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मनुष्यों का आविर्भाव हुआ तो उनके मार्गदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फुरित कर दीं। इस ज्ञानराशि को ही वेद के नाम से अभिहित किया गया है।

पुनर्जन्म न मानने से हानियाँ—इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म मानने पर अनेक समस्यायें पैदा हो जायेंगी। वास्तव में पुनर्जन्म के अभाव में कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें विश्वास हो जाये कि इस देह के साथ ही एक दिन हमारा भी अन्त हो जायेगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रह जायेगा? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सचाई, ईमानदारी,

१. नवम समुल्लास।

सुख-दुःख हानि-लाभ पहुँचाया होता है, वैसा उसका फल विना शरीर धारण किये प्राप्त नहीं होता।

दूसरा—पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना सुख-दुःख की प्राप्ति इस जन्म में क्योंकर होवे ? जो पूर्वजन्म के पापपुण्यानुसार न होवे तो परमेश्वर अन्यायकारी, और विना भोग किये नाश के समान कर्म का फल हो जावे। इसलिए यह भी बात आप लोगों की अच्छी नहीं।

[ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को देव न मानना भी ठीक नहीं]

१०. और एक यह कि—ईश्वर के विना दिव्यगुणवाले पदार्थों और विद्वानों को भी देव न

न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' के अनुसार ही जीवन बिताना ठीक समझा जायेगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें हुई होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार कर अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। परीक्षा में एक बार असफल रहने पर विद्यालय से सदा के लिए निकाल देना और उन्नति के अवसर से वंचित कर देना अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीव के प्रति अन्याय करना है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव है। इसलिए गीता में कहा है कि जन्मजन्मान्तर की साधना के बाद कहीं उस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गीता ६।४५)। अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास बन जाये तो क्या होगा ? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्म का पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं जायेगा ? आत्मा के अमर होने से उसके इस जन्म के संस्कार ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहाँ उसका अभ्यास छूटा है, वहाँ से आगे बढ़ने के लिए उसे फिर अवसर मिलेगा। एक बार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिए—'नात्मानमभिमन्येत पूर्वापरसमृद्धिभिः।'

जीव शाश्वत और नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य हैं। कर्त्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध है और कर्म का विना भोगे क्षय नहीं होता। इस कर्मफल की व्यवस्था करनेवाला परमेश्वर भी न्यायकारी है। पूर्वापर जन्म न मानने पर उसकी न्यायव्यवस्था में 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' दोष आता है और परमेश्वर 'नैर्घृण्य' तथा 'वैषम्य' का दोषी वनता है। किये हुए कर्म का फल न मिलना कृत-हानि और कर्म किए विना सुख-दुःख-रूप फल भोगना अकृताभ्यागम है। जो लोग परजन्म नहीं मानते, उनके गले कृतहानि दोष पड़ता है, क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये हुए कर्म बिना फल दिये रह जायेंगे, जबकि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मों का फल अनिवार्यरूप से भोगना पड़ता है। इसलिए कृतहानि दोष से वचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है। पूर्वजन्म न मानने पर अकृताभ्यागम (बिना कर्म किये फल प्राप्ति) दोष उत्पन्न होता है।

एक आत्मा अत्यन्त सुखसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा अतिदरिद्र परिवार में पैदा होकर जीवन भर दर-दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों ? पूर्वजन्म है नहीं, जिसमें पाप-पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे विठाये –बिना कर्म किए एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों ? बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिए इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म को मानना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्त्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और परजन्म के मानने से वहाँ इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दुःख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्याय-कारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते, पूर्वजन्म जैसे युक्तियुक्त तथा सार्वभौम सिद्धान्त को न मानना ब्राह्मसमाजियों की विवेकशून्यता का परिचायक है।

माननना ठीक नहीं। क्योंकि परमेश्वर महादेव, और जो देव न होता तो सब देवों का स्वामी होने से 'महादेव' क्यों कहाता ?

[अग्निहोत्र और शिखा-सूत्रादि को छोड़ बैठना अच्छा नहीं]

११. एक—अग्निहोत्रादि परोपकारक कर्मों को कर्त्तव्य न समझना अच्छा नहीं।

१२. ऋषि-महर्षियों के किये उपकारों को न मानकर ईसा आदि के पीछे झुक पड़ना अच्छा नहीं।

१३. और विना कारणविद्या वेदों के अन्य कार्यविद्याओं की प्रवृत्ति मानना सर्वथा असम्भव है।

यज्ञविरोध—मलमूत्रादि के विसर्जन, पदार्थों के गलने-सड़ने, श्वास प्रच्छ्वास की प्रक्रिया तथा वर्त्तमान में धूम्रपान, कलकारखानों की चिमनियों से निरन्तर निकलनेवाले धुएँ एवं दूषित पदार्थों तथा यातायात आदि के कारण उत्पन्न होनेवाले प्रदूषण के लिए स्वयं मनुष्य उत्तरदायी है। तब उसके निवारण का उपाय करना भी उसी का कर्त्तव्य है। इसका शास्त्रानुमोदित तथा विज्ञानसम्मत उपाय अग्निहोत्र है। द्युस्थानीय सूर्य का धरती पर प्रतिनिधित्व अग्नि करती है। अग्नि में पड़ते ही किसी पदार्थ का दूषण सर्वथा समाप्त हो जाता है। उसी के प्रभाव से उष्ण जल भी क्रिमिनाश में सहायक होता है। अग्नि में होम किए अनेक प्रकार के रोगनाशक तथा सुगन्धयुक्त पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुआँ जलवायु के दोषों तथा विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। जहाँ होम किया जाता है, उस स्थान के अन्दर वर्त्तमान अग्नि, वायु और सूर्यकिरणों की रोग दूर करने की शक्ति बढ़ जाती है। होम की सहायता से होनेवाली वर्षा का जल भी शुद्ध होता है और उस शुद्ध जलवायु से उत्पन्न ओषधि वनस्पति आदि भी शुद्ध और निर्दोष होते हैं। राममोहन राय ने यज्ञ के सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित मत नहीं दिया। परन्तु ब्राह्मणों ने इसे मूर्त्तिपूजा के अन्तर्गत मानकर इसे तिलांजलि दे दी और यज्ञ जैसे प्रत्यक्ष फल देनेवाली योजना से भी लोगों को विमुख कर दिया।

यज्ञोपवीत—ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय आजन्म यज्ञोपवीत धारण करते रहे। उनकी मृत्यु के समय तक यज्ञोपवीत उनके शरीर पर था। महर्षि देवेन्द्रनाथ भी इसे आर्योचित मानते थे। किन्तु केशव बाबू की बातों में आकर वे कुछ शिथिल हो गये। फिर भी उनके भीतर यज्ञोपवीत के लिए आस्था बनी रही। उन्होंने यज्ञोपवीतधारी पुरोहित और आचार्यों का ब्राह्मवेदी पर बैठ कर उपदेश देना रुकवा दिया। उधर केशव बाबू ने बहुत-से ब्राह्मणमित्रों के जनेऊ तुड़वा दिए। देवेन्द्रनाथ को यह बुरा लगा। उन्हीं दिनों ब्राह्मसमाज का मन्दिर गिर गया और समाज के साप्ताहिक सत्संग देवेन्द्रनाथ जी के मकान पर होने लगे। एक दिन उन्होंने पहले दो उपाचार्यों को, जो जनेऊ न तोड़ने के कारण उपाचार्य पद से च्युत कर दिए गये थे, वेदी पर चढ़ा दिया। केशव बाबू ने विरोध किया तो देवेन्द्रनाथ जी ने कहा—"यह मेरा घर है, मैं जैसा चाहूँगा करूँगा।" केशव बाबू बोले—"घर आपका अवश्य है, पर इस समय तो समाज का सत्संग हो रहा है। इस समय तो यह एक प्रकार का समाज मन्दिर ही है।" इसके बाद ब्राह्मसमाज 'आदि ब्राह्मसमाज' और 'भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज' नाम से दो दलों में विभक्त हो गया। देवेन्द्रनाथ पुनः प्राचीनता के पोषक ब्राह्मों के साथ हो लिये। यज्ञोपवीत के प्रति ब्राह्मों की धारणा से ग्रन्थकार को विशेष दुःख हुआ प्रतीत होता है, जो उन्होंने इस प्रकार की आक्रोशपूर्ण टिप्पणी की—"और जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान ईसाइयों के सदृश बन बैठना व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हो और तमग़ों (सरकार से पुरस्काररूप) की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था ?"

१४. और जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान-ईसाइयों के सदृश बन बैठना, यह भी व्यर्थ है । जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हो, और 'तमगों' की इच्छा करते हो, तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था ?

१५. और ब्रह्मा से लेकर पीछे-पीछे आर्यावर्त्त में बहुत से विद्वान् हो गये हैं । उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन ही की स्तुति में उतर पड़ना पक्षपात और खुशामद के बिना क्या कहा जाए ?

[जीवों को उत्पन्न मानना ठीक नहीं, वे तो अनादि हैं]

१६. और बीजांकुर के समान जड़-चेतन के योग से जीवोत्पत्ति मानना; उत्पत्ति के पूर्व जीव-तत्त्व का न मानना; और उत्पन्न का नाश न मानना पूर्वापरविरुद्ध है । जो उत्पत्ति के पूर्व चेतन और जड़ वस्तु न था, तो जीव कहां से आया ? और संयोग किनका हुआ ? जो इन दोनों को सनातन मानते हो, तो ठीक है । परन्तु सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना दूसरे किसी तत्त्व को न मानना, यह आपका पक्ष व्यर्थ हो जायगा ।

[उन्नति चाहो, तो आर्यसमाज के साथ मिलो]

इसलिए जो उन्नति करना चाहो, तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा । क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है आगे होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें ।[1] इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है,[2] वैसा दूसरा नहीं हो सकता । यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें तो बहुत अच्छी बात है । क्योंकि समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है, एक का नहीं ।

जीव की उत्पत्ति—जैसे पृथिव्यादि की उत्पत्ति-प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, वैसे जीवात्मा के ईश्वर द्वारा उत्पन्न किए जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता । इसके विपरीत उसके उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्यत्त्व करनेवाले प्रमाण यत्र-तत्र सर्वत्र देखने में आते हैं । बिना उपादान के कोई वस्तु नहीं बनती । जगत् में जो कुछ परिणाम है, सब जड़ प्रकृति का है । जड़ का परिणाम जड़ ही हो सकता है, चेतन नहीं । इसलिए ब्राह्मसमाजियों का जीवों की उत्पत्ति मानना किसी प्रकार उपपन्न नहीं होता ।

---

१. जो लोग सार्वभौमत्व के वर्तमान प्रवाह में बहकर दयानन्द का सम्बन्ध भारत से तोड़कर सार्वभौमत्व से जोड़ते हैं, उन्हें ऋषि दयानन्द के इस लेख पर ध्यान देना चाहिए । ऋषि दयानन्द पहले भारतीय हैं, पीछे सार्वभौम । उनका सारा प्रयत्न प्रथम भारत की उन्नति का है, पीछे सारे संसार की उन्नति का । यह बात दूसरी है कि वेदानुकूल जो सिद्धान्त ऋषि दयानन्द ने स्वीकार किए हैं, वे सार्वभौम हैं । क्योंकि वेद सार्वभौम है । परन्तु ऋषि दयानन्द के जो सिद्धान्त सार्वभौम होते हुए भी उनकी प्रक्रिया एतद्देशविशेष से ही सम्बद्ध है ,उनकी प्रक्रिया में देशकालानुसार परिवर्तन करना ही पड़ेगा । जैसे होम प्रत्येक को करना चाहिए, यह सिद्धान्त है । पर विदेशों में संस्कारविध्युक्त प्रक्रिया का पालन करना यदि सम्भव न हो, तो जैसे भी हो होम कर लेना चाहिए । कर्म और विधि में कर्म प्रधान होता है । विधि का परित्याग वा उसमें न्यूनाधिक्य किया जा सकता है ।

२. इस पङ्क्ति का भाव भी यही है । आर्यसमाज की स्थापना मुख्यरूप से भारतवर्ष की उन्नति के लिए की गई । भारत की उन्नति के पश्चात् आर्यसमाज की प्रवृत्ति अन्यत्र भी की जा सकती है । उसके द्वारा अन्य देशों की भी उन्नति होगा ।

[धर्म सबका एक ही होता है, अनेक नहीं]

प्रश्न—आप सबका खण्डन करते ही आते हो, परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिए। जो करते हो, तो आप इनसे विशेष क्या बतलाते हो ? जो बतलाते हो, तो क्या आपसे अधिक वा तुल्य कोई पुरुष न था और न है ? ऐसा अभिमान करना आपको उचित नहीं। क्योंकि परमात्मा की सृष्टि में एक-एक से अधिक तुल्य और न्यून बहुत हैं। किसी को घमण्ड करना उचित नहीं।

उत्तर—धर्म सबका एक होता है वा अनेक ? जो कहो अनेक होते हैं, तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध ? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं, तो एक के विना दूसरा धर्म नहीं हो सकता। और जो कहो कि अविरुद्ध हैं, तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिए धर्म एक ही है, अनेक नहीं।

यही हम विशेष कहते हैं कि जैसे सब सम्प्रदायों के उपदेशों को कोई राजा इकट्ठा करे, तो एक सहस्र से कम नहीं होंगे। परन्तु इनका मुख्य भाग देखो, तो 'पुरानी किरानी जैनी और कुरानी' चार ही हैं। क्योंकि इन चारों में सब सम्प्रदाय आ जाते हैं।

[धर्म-जिज्ञासा, और वाममार्गी से पूछताछ]

कोई राजा उनकी सभा करके वा कोई जिज्ञासु होकर प्रथम 'वाममार्गी' से पूंछे—'हे महाराज! मैंने आजतक न कोई गुरु और न किसी धर्म का ग्रहण किया है। कहिये, सब धर्मों में से उत्तम धर्म किसका है, जिसको मैं ग्रहण करूँ ?

वाममार्गी—हमारा है।

जिज्ञासु—ये नौ सौ निन्यानवें कैसे हैं ?

वाममार्गी—सब झूंठे और नरकगामी हैं। क्योंकि **'कौलात् परतरं नहि'** (कुलार्णव तन्त्र २।८) इस वचन के प्रमाण से हमारे धर्म से परे कोई धर्म नहीं है।

जिज्ञासु—आपका क्या धर्म है ?

वाममार्गी—भगवती का मानना, मद्य-मांसादि पञ्च मकारों का सेवन, और रुद्रयामल आदि चौसठ तन्त्रों का मानना, इत्यादि। जो तू मुक्ति की इच्छा करता है, तो हमारा चेला हो जा।

जिज्ञासु—अच्छा। परन्तु और महात्माओं का भी दर्शन कर पूंछ-पाँछ आऊँगा। पश्चात् जिसमें मेरी श्रद्धा और प्रीति होगी, उसका चेला हो जाऊँगा।

वाममार्गी—अरे ! क्यों भ्रान्ति में पड़ा है ? ये लोग तुझको बहकाकर अपने जाल में फँसा देंगे किसी के पास मत जावे। हमारे ही शरणागत हो जा, नहीं तो पछतावेगा। देख, हमारे मत में भोग। और मोक्ष दोनों हैं।

जिज्ञासु—अच्छा। देख तो आऊँ।

भोग और मोक्ष—दर्शनेषु च सर्वेषु चिराभ्यासेन मानवाः।
मोक्षं लभन्ते कौले तु सद्य एव न संशयः ॥२१॥
योगी चेन्नैव भोगी स्याद् भोगी चेन्नैव योगवित्।
भोगयोगात्मकं कौलं तस्मात् सर्वाधिकं प्रिये ॥२३॥
भोगो योगायते साक्षात्पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥२४॥ —कुलार्णव २३

[शैव मत-वाले से पूछताछ]

आगे चलकर 'शैव' के पास जाके पूछा, तो ऐसा ही उत्तर उसने दिया। इतना विशेष कहा कि—'विना शिव को माने, रुद्राक्ष-भस्म-धारण और लिङ्गार्चन के मुक्ति कभी नहीं होती'।

[नवीन वेदान्ती से पूछताछ]

वह उसको छोड़ नवीन वेदान्तीजी के पास गया।

जिज्ञासु—कहो महाराज ! आपका धर्म क्या है ?

वेदान्ती—हम धर्माऽधर्म कुछ भी नहीं मानते। हम साक्षात् ब्रह्म हैं। हममें धर्माऽधर्म कहाँ हैं ? यह जगत् सब मिथ्या है। और जो ज्ञानी शुद्ध चेतन हुआ चाहै, तो अपने को ब्रह्म मान, जीवभाव को छोड़, नित्यमुक्त हो जाएगा।

जिज्ञासु—जो तुम ब्रह्म नित्यमुक्त हो, तो ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव तुममें क्यों नहीं ? और शरीर में क्यों बँधे हो ?

वेदान्ती—तुझको शरीर दीखते हैं, इसीसे तू भ्रान्त है। हमको कुछ नहीं दीखता, विना ब्रह्म के।

जिज्ञासु—तुम देखनेवाले कौन, और किसको देखते हो ?

वेदान्ती—देखनेवाला ब्रह्म, और ब्रह्म को ब्रह्म देखता है।

जिज्ञासु—क्या दो ब्रह्म हैं ?

वेदान्ती—नहीं अपने आपको देखता है।

जिज्ञासु—क्या कोई अपने कन्धे पर आप चढ़ सकता है ? तुम्हारी बात कुछ नहीं, केवल पागलपने की है।

[जैनियों से पूछताछ]

वह आगे चलकर जैनियों के पास जाके पूछा। उन्होंने भी वैसा ही कहा। परन्तु इतना विशेष कहा कि—"जिणधर्म के विना सब धर्म खोटा; जगत् का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं; जगत् अनादि काल से जैसा का वैसा बना है और बना रहेगा। आ तू हमारा चेला हो जा। क्योंकि हम 'सम्यक्त्वी' अर्थात् सब प्रकार से अच्छे हैं, उत्तम बातों को मानते हैं। जैनमार्ग से भिन्न सब मिथ्यात्वी हैं"।

अर्थात्—सब दर्शनों में यह प्रतिपादित है कि मनुष्य को चिरकाल तक अभ्यास करने से मुक्ति प्राप्त होती है। यदि योगी हो तो भोगी नहीं हो सकता और भोगी हो तो योगी नहीं हो सकता। अतः हे प्रिये ! भोगयोगात्मक कौल सबसे अधिक है। हे कुलेश्वरि ! कुलधर्म में तो भोग योग बन जाता है, पाप पुण्य बन जाता है और संसार मोक्ष हो जाता है।

मिथ्यात्वी—जैन अपने से भिन्न सभी मतों को मिथ्यात्वी मानते हैं। उनके पर्वादि को भी मिथ्या मानते हैं। उदाहरणार्थ—पुराणियों का होली पर्व है। उनके सम्बन्ध में 'दिगम्बर जैन' वर्ष १९४९ अंक ५ के पृष्ठ १९६ के दूसरे स्तम्भ में सम्पादकीय का शीर्षक है—'हमारा अष्टाह्निक पर्व और मिथ्या-वादी पर्व होली।' इस लेख का कुछ अंश इस प्रकार है—"लेकिन इन दिनों में फाल्गुन सुदी १५ को एक मिथ्यात्वी पर्व होली आता है; जिसमें हमारे कई भोले जैनी भाई भी होली मानकर उसमें लकड़ी, कंडे, श्रीफल आदि चढ़ाते हैं और पूजते हैं; यह महामिथ्यात्व है। अतः जहाँ-कहीं भी होली की पूजा हमारे भाई-बहन करते हों, कतई नहीं करनी चाहिए अर्थात् धर्म के नाम पर अधर्म नहीं करना चाहिए।"

[ईसाई से पूछताछ]

आगे चलके ईसाई से पूछा। उससे वाममार्गी के तुल्य सब जवाब-सवाल किये। इतना विशेष बतलाया—"सब मनुष्य पापी हैं, अपने सामर्थ्य से पाप नहीं छूटता। विना 'ईसा पर विश्वास' के पवित्र होकर मुक्ति को नहीं पा सकता। ईसा ने सबके प्रायश्चित्त के लिए अपने प्राण देकर दया प्रकाशित की है। तू हमारा ही चेला होजा"।

[मौलवी साहब से पूछताछ]

जिज्ञासु सुनकर मौलवी साहब के पास गया। उनसे भी ऐसे ही जवाव-सवाल हुए। इतना विशेष कहा—'लाशरीक खुदा, उसके पैगम्बर, और कुरानशरीफ़ के विना माने कोई निजात नहीं पा सकता। जो इस मजहब को नहीं मानता, वह दोज़खी और क़ाफिर है, वाजिबुलक़त्ल है।'

[वैष्णवादि मत-वालों से पूछताछ]

जिज्ञासु सुनकर वैष्णव के पास गया। वैसा ही संवाद हुआ। इतना विशेष कहा कि—'हमारे तिलक छापे देखकर यमराज डरता है'। जिज्ञासु ने मन में समझा कि जब मच्छर-मक्खी पुलिस के सिपाही चोर-डाकू और शत्रु नहीं डरते, तो यमराज के गण क्यों डरेंगे ?

फिर आगे चला, तो सब मत-वालों ने अपने-अपने को सच्चा कहा। कोई—हमारा 'कबीर' सच्चा, कोई—नानक, कोई—दादू, कोई—वल्लभ, कोई—सहजानन्द, कोई—माध्व आदि को बड़ा और अवतार बतलाते सुना।

सहस्र से पूछ, उनके परस्पर एक-दूसरे का विरोध देख, विशेष निश्चय किया कि इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं। क्योंकि एक-एक की झूंठ में नौ सौ निन्यानवें गवाह हो गये। जैसे झूंठे दुकानदार वा वेश्या और भड़ुवा आदि अपनी-अपनी वस्तुओं की बड़ाई दूसरे की बुराई करते हैं, वैसे ही ये हैं। ऐसा जान:—

[आप्त विद्वान् द्वारा ही वास्तविकता का बोध]

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ॥१॥

'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' ॥२॥

—मुण्डके १।२।१२, १३

ला शरीक—जिसका कोई साझीदार नहीं। **निजात**—मुक्ति। **वाजिबुलक़त्ल**—हत्या के योग्य। **पैग़म्बर**=सन्देशवाहक—यहूदी, ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि परमेश्वर समय-समय पर विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा अपना सन्देश (पैग़ाम) भेजता है। ये सन्देश लानेवाला व्यक्ति 'पैग़म्बर' (सन्देशवाहक) कहलाता है। यहूदियों का पैग़म्बर मूसा, ईसाइयों का ईसा और मुसलमानों का मुहम्मद है। मुसलमान मुहम्मदसाहब को 'आख़रुलनबी' (अन्तिम पैग़म्बर) मानते हैं। मिर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी ने गत शताब्दी के अन्त में घोषणा की कि मुहम्मदसाहब के बाद खुदा ने मुझे पैग़म्बर बनाकर भेजा है। उनके अनुयायी अहमदी, मिर्ज़ईया क़ादियानी कहलाते हैं। पाकिस्तान में उन्हें मुसलमान नहीं माना जाता और वहाँ उनके मसजिद में जाकर नमाज़ पढ़ने पर प्रतिबन्ध है।

उस सत्य के विज्ञानार्थ वह 'समित्पाणि' अर्थात् हाथ जोड़, अरिक्तहस्त[1] होकर वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ परमात्मा को जाननेहारे गुरु के पास जावे। इन पाखण्डियों के जाल में न गिरे ॥१॥

जब ऐसा जिज्ञासु विद्वान् के पास जाए, उस शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, समीप-प्राप्त जिज्ञासु को यथार्थ ब्रह्मविद्या=परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का उपदेश करे। और जिस-जिस साधन से वह श्रोता धर्मार्थ-काम-मोक्ष और परमात्मा को जान सके, वैसी शिक्षा किया करे ॥२॥

जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि—'महाराज! अब इन सम्प्रदायों के बखेड़ों से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया। क्योंकि जो मैं इनमें से किसी एक का चेला होऊँगा, तो नौ सौ निन्न्यानवें से विरोधी होना पड़ेगा। जिसके नौ सौ निन्यानवें शत्रु और एक मित्र है, उसको सुख कभी नहीं हो सकता। इसलिये आप मुझको उपदेश कीजिए, जिसको मैं ग्रहण करूँ'।

आप्त विद्वान्—ये सब मत अविद्याजन्य विद्याविरोधी हैं। मूर्ख पामर और जङ्गली मनुष्य को बहकाकर अपने जाल में फँसाके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे[2] बिचारे अपने मनुष्यजन्म के फल से रहित होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ गमाते हैं। देख, जिस बात में ये सहस्र एकमत हों, वह वेदमत ग्राह्य है। और जिसमें परस्पर विरोध हो, वह कल्पित झूंठा अधर्म अग्राह्य है।

[उत्तम बातों में सब मत-वालों की सहमति]

जिज्ञासु—इसकी परीक्षा कैसे हो?

आप्त विद्वान्—तू जाकर इन-इन बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति हो जायेगी।

तब वह उन सहस्र की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि—'सुनो सब लोगो! सत्यभाषण में धर्म है, वा मिथ्याभाषण में?' सब एक स्वर से बोले कि—'सत्यभाषण में धर्म और असत्यभाषण में अधर्म है'। वैसे ही 'विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्यव्यवहार आदि में धर्म है, वा अविद्याग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसङ्ग, आलस्य, असत्यव्यवहार, छल-कपट, हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में'? सबने एकमत होके कहा कि—'विद्यादि के ग्रहण में धर्म, और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म।'

[फिर सब मिलकर एक ही मत को क्यों नहीं अपनाते?]

तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि—'तुम इसी प्रकार सब जने एकमत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो'? वे सब बोले—'जो हम ऐसा करें, तो हमको कौन पूछे? हमारे चेले हमारी आज्ञा में न रहें, जीविका नष्ट हो जाए। फिर जो हम आनन्द कर रहे हैं, सो सब हाथ से जाय। इसलिए हम जानते हैं, तो भी अपने-अपने मत का उपदेश और आग्रह करते ही जाते हैं। क्योंकि 'रोटी खाइये शक्कर से, और दुनिया ठगिये मक्कर से' ऐसी बात है। देखो, संसार में सूधे-सच्चे मनुष्य को कोई नहीं देता, और न पूछता। जो कुछ ढोंगबाजी और धूर्त्तता करता है, वही पदार्थ पाता है।

[ठगी करने पर भी राजा से दण्ड क्यों नहीं?]

जिज्ञासु—जो तुम ऐसा पाखण्ड चलाकर अन्य मनुष्यों को ठगते हो, तुमको राजा दण्ड क्यों नहीं देता?

---

१. अर्थात् हाथ में कुछ भेंट लेकर। उपनिषत्कार ने सबके लिए सुलभ तथा एकरूपता के लिए समिधा हाथ में लेकर जाने का विधान किया है।

२. वे=बहके हुए जन।

मत-वाले—हमने राजा को भी अपना चेला बना लिया है। हमने पक्का प्रबन्ध किया है, छूटेगा नहीं।

जिज्ञासु—जब तुम छल से अन्य मतस्थ मनुष्यों को ठग उनकी हानि करते हो, परमेश्वर के सामने क्या उत्तर दोगे? और घोर नरक में पड़ोगे। थोड़े जीवन के लिये इतना वड़ा अपराध करना क्यों नहीं छोड़ते?

मत-वाले—जब जैसा होगा, तब देखा जायेगा। नरक और परमेश्वर का दण्ड जब होगा तब होगा, अब तो आनन्द करते हैं। लोग हमको प्रसन्नता से धनादि पदार्थ देते हैं, कुछ बलात्कार से नहीं लेते। फिर राजा दण्ड क्यों देवे?

जिज्ञासु—जैसे कोई छोटे बालक को फुसलाके धनादि पदार्थ हर लेता है, जैसे उसको दण्ड मिलता है, वैसे तुमको क्यों नहीं मिलता? क्योंकि—

'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः'।—मनु० २।५३

जो ज्ञानरहित होता है वह बालक, और जो ज्ञान का देनेहारा है वह पिता और वृद्ध कहाता है। जो बुद्धिमान् विद्वान् है, वह तो तुम्हारी बातों में नहीं फँसता। किन्तु अज्ञानी लोग, जो बालक के सदृश हैं, उनको ठगने में तुमको राजदण्ड अवश्य होना चाहिए।

मत-वाले—जब राजा प्रजा सब हमारे मत में हैं, तो हमको दण्ड कौन देनेवाला है? जब ऐसी व्यवस्था होगी, तब इन बातों को छोड़कर दूसरी व्यवस्था करेंगे।

[वैसे ही लाखों रुपया मिले, तो श्रम क्यों करना?]

जिज्ञासु—जो तुम बैठे-बैठे व्यर्थ माल मारते हो, सो विद्याभ्यास कर गृहस्थों के लड़के-लड़कियों को पढ़ाओ, तो तुम्हारा और गृहस्थों का कल्याण हो जाए।

मत-वाले—जब हम बाल्यावस्था से लेकर मरण तक के सुखों को छोड़ें; बाल्यावस्था से युवावस्था-पर्यन्त विद्या पढ़ने में रहें; पश्चात् पढ़ाने में और उपदेश करने में जन्म-भर परिश्रम करें; हम को क्या प्रयोजन? हमको ऐसे ही लाखों रुपये मिल जाते हैं, चैन करते हैं, उसको क्यों छोड़ें?

जिज्ञासु—इसका परिणाम तो बुरा है। देखो, तुमको बड़े रोग होते हैं, शीघ्र मर जाते हो। बुद्धिमानों में निन्दित होते हो, फिर भी क्यों नहीं समझते?

[रुपया ही सब कुछ है]

मतवाले—अरे भाई!

> **टका[1] धर्मष्टका कर्म, टका हि परमं पदम्।**
> **यस्य गृहे टका नास्ति, हा! टका टकटकायते ॥१॥**
> **आना अंशकलाः प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम्।**
> **अतस्तं सर्व इच्छन्ति रूप्यं हि गुणवत्तमम् ॥२॥**

तू लड़का है, संसार की बातें नहीं जानता। देख, टके के विना धर्म, टका के विना कर्म, टका के विना परमपद नहीं होता। जिसके घर में टका नहीं है, वह हाय! टका-टका करता-करता उत्तम

---

१. टका = रुपया। इस अर्थ में आज भी मराठी, बंगाली आदि अनेक प्रान्तीय भाषाओं में यह शब्द प्रचलित है। हिन्दी में 'टका' शब्द का व्यवहार पुराने दो पैसों के सिक्के के लिए होता था। यह परिमाण में रुपये के बराबर होता था। पुराकाल में भी समान परिमाण के सुवर्ण-कार्षापण और ताम्र-कार्षापण प्रचलित थे।

पदार्थों को टक-टक देखता रहता है कि हाय ! मेरे पास टका होता, तो इस उत्तम पदार्थ को मैं भी भोगता ॥१॥

क्योंकि सब कोई सोलह कलायुक्त अदृश्य भगवान् का कथन-श्रवण करते हैं। सो तो नहीं दीखता, परन्तु सोलह आने और पैसे[1] कौड़ीरूप अंश कलायुक्त जो रुपैया है, वही साक्षात् भगवान् है। इसीलिये सब कोई रुपयों की खोज में लगे रहते हैं। क्योंकि सब काम रुपयों से सिद्ध होते हैं ॥२॥

[व्यापारादि में हानि की सम्भावना; पाखण्डों में लाभ ही लाभ]

जिज्ञासु—ठीक है। तुम्हारी भीतर की लीला बाहर आ गई। तुमने जितना यह पाखण्ड खड़ा किया है, वह सब अपने सुख के लिए किया है। परन्तु इसमें जगत् का नाश होता है। क्योंकि जैसा सत्योपदेश से संसार को लाभ पहुँचता है, वैसी ही असत्योपदेश से हानि होती है। जब तुमको धन का ही प्रयोजन था, तो नौकरी और व्यापारादि कर्म करके धन को इकट्ठा क्यों नहीं कर लेते हो ?

मतवाले—उसमें परिश्रम अधिक और हानि भी हो जाती है। परन्तु इस हमारी लीला में हानि कभी नहीं होती, किन्तु सर्वदा लाभ-ही-लाभ होता है। देखो, तुलसीदल डालके चरणामृत दें, कण्ठी बाँध देते। चेला मूड़ने से जन्मभर को पशुवत् हो जाता है। फिर चाहें जैसे चलावें, चल सकता है।

[इन पाखण्डों से तो नरक मिलेगा]

जिज्ञासु—ये लोग तुमको बहुत-सा धन किसलिए देते हैं ?

मत-वाले—धर्म स्वर्ग और मुक्ति के अर्थ।

जिज्ञासु—जब तुम ही मुक्त नहीं, और न मुक्ति का स्वरूप वा साधन जानते हो, तो तुम्हारी सेवा करनेवालों को क्या मिलेगा ?

मत-वाले—क्या इस लोक में मिलता है ? नहीं। किन्तु मरकर पश्चात् परलोक में मिलता है। जितना ये लोग हमको देते हैं और सेवा करते हैं, वह सब इन लोगों को परलोक में मिल जाता है।

जिज्ञासु—इनको तो दिया हुआ मिल जाता है, वा नहीं ? तुम लेनेवालों को क्या मिलेगा ? नरक वा अन्य कुछ ?

[पाखण्डियों का ईश-भजन केवल दिखावामात्र है]

मत-वाले—हम भजन करा करते हैं। इसका सुख हमको मिलेगा।

जिज्ञासु—तुम्हारा भजन तो टका ही के लिए है। वे सब टके यहीं पड़े रहेंगे। और जिस मांसपिण्ड को यहाँ पालते हो, वह भी भस्म होकर यहीं रह जाएगा। जो तुम परमेश्वर का भजन करते होते, तो तुम्हारा आतमा भी पवित्र होता।

---

१. भगवान् की सोलह कला पक्ष में १६ आने, और ६४ कला पक्ष में ६४ पैसे। इसी प्रकार १ पैसे के १६ गण्डे = ६४ कौड़ियाँ। १ पैसे की ६४ कौड़ियाँ हमारे बचपन में ('महेश्वर' इन्दौर राज्य में) प्रचलित थीं। सिक्कों के रूप में एक आने के चार पैसे (राज की व्ययवहार में एक आने की १२ पाइयाँ प्रचलित थीं, अर्थात् रुपया आना पाई); दो पैसे का एक टका (ताँबे का रुपये के आकार का सिक्का), एक पैसे की दो छदाम। व्यवहार में छदाम से नीचे कोई सिक्का तो नहीं था, फिर भी १ छदाम की २ दमड़ी (१ दमड़ी = ४ गण्डे = १६ कौड़ी) का प्रचलन था। उस समय बच्चे १ पैसे की एक-एक दमड़ी की चार चीजें खरीदते थे। वह काल कितना सुखद रहा होगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सब सिक्कों की व्यवस्था दशमलव पद्धति के सिक्कों में पूर्व की है।

[आन्तरिक शुद्धि-अशुद्धि]

मत-वाले—क्या हम अशुद्ध हैं ?

जिज्ञासु—भीतर के बड़े मैले हो ।

मत-वाले—तुमने कैसे जाना ?

जिज्ञासु—तुम्हारे चालचलन व्यवहार से ।

मत-वाले—महात्माओं का व्यवहार हाथी के दाँत के समान होता है। जैसे हाथी के दाँत खाने के भिन्न और दिखलाने के भिन्न होते हैं, वैसे ही भीतर-से हम पवित्र हैं, और बाहर से लीलामात्र करते हैं ।

जिज्ञासु—जो तुम भीतर से शुद्ध होते, तो तुम्हारे बाहर के काम भी शद्ध होते। इसलिए भीतर भी मैले हो।

मत-वाले—हम चाहें जैसे हों, परन्तु हमारे चेले तो अच्छे हैं।

जिज्ञासु—जैसे तुम गुरु हो, वैसे तुम्हारे चेले भी होंगे ।

[क्या सबका एकमत कभी नहीं हो सकता ?]

मत-वाले—एक मत कभी नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्यों के गुण-कर्म-स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

जिज्ञासु—जो बाल्यावस्थ में एकसी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्या-भाषणादि अधर्म का त्याग करें, तो एकमत अवश्य हो जाय। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा और अधर्मात्मा सदा रहते हैं, वे तो रहें। परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है। और जब अधर्मी अधिक होते हैं, तब दुःख। जब सब विद्वान् एक-सा उपदेश करें, तो एकमत होने में कुछ भी विलम्ब न हो ।

[कलियुग धर्मकार्य में बाधक नहीं होता]

मत-वाले—आजकल कलियुग है, सत्ययुग की बात मत चाहो ।

जिज्ञासु—'कलियुग' नाम काल का है। काल निष्क्रिय होने से कुछ धर्माधर्म के करने में साधक-

---

कलियुग—इसका अभिप्राय यह है कि यदि युगों पर धर्माधर्म निर्भर हो तो सत्ययुग में कोई दुष्ट नहीं होना चाहिए और कलियुग में कोई धर्मात्मा नहीं होना चाहिए। किन्तु इसमें इतिहास की साक्षी नहीं है। पुराणों के अनुसार सत्ययुग में हिरण्यकशिपु जैसे दुर्दान्त पापी हुए और कलियुग में शंकराचार्य जैसे धर्मात्मा विद्वान् हुए। वास्तव में जिस प्रकार दिनों, मासों आदि में विभाग किया जाता है, और वर्षों को जोड़कर दशाब्दियां और शताब्दियां बना ली जाती हैं, उसी प्रकार युग, चतुर्युगों और मन्वन्तरों में कल्प अथवा ब्रह्मदिन का विभाग किया जाता है, उसी क्रम में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग को समझना चाहिए। जिस प्रकार सोमवार या मंगलवार आदि न किसी को सुखी-दुःखी करते हैं और न किसी को धर्मात्मा या पापात्मा बनाते हैं, उसी प्रकार कलियुग आदि के कारण लोग अच्छे-बुरे नहीं होते। काल तो सबके लिए एक जैसा है, परन्तु किसी भी रूप में सब मनुष्य, सब जातियां और सब देश एकजैसे नहीं होते हैं। अपनी-अपनी योग्यता, पुरुषार्थ और चरित्र के अनुरूप सबकी उन्नति और अवनति होती रहती है।

बाधक नहीं। किन्तु तुम ही कलियुग की मूर्त्तियाँ बन रहे हो। जो मनुष्य ही सत्ययुग[1] कलियुग रूप न हों, तो कोई भी संसार में धर्मात्मा अधर्मात्मा नहीं होता। ये सब सङ्ग के गुण-दोष हैं, स्वाभाविक नहीं।

[जिज्ञासु की पुनः आप्त विद्वान् से भेंट]

इतना कहकर जिज्ञासु 'आप्त' के पास गया। उनसे कहा कि महाराज! तुमने मेरा उद्धार किया। नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फँसकर नष्टभ्रष्ट हो जाता। अब मैं भी इन पाखण्डियों का खण्डन, और वेदोक्त सत्यमत का मण्डन किया करूँगा।

आप्त—यही सब मनुष्यों का, विशेषकर विद्वान् और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन पढ़ा-सुनाके सत्योपदेश से उपकार पहुँचाना चाहिए।

[नामधारी ब्रह्मचारियों और संन्यासियों की समीक्षा]

प्रश्न—जो ब्रह्मचारी-संन्यासी हैं, वे तो ठीक हैं?

उत्तर—ये आश्रम तो ठीक हैं, परन्तु आजकल इनमें भी बहुत-सी गड़बड़ है। कितने ही नाम ब्रह्मचारी रखते हैं, और झूंठ-मूंठ जटा बढ़ाकर सिद्धाई करते, और जप-पुरश्चरणादि में फँसे रहते हैं। विद्या पढ़ने का नाम नहीं लेते, कि जिस हेतु से 'ब्रह्मचारी' नाम होता है, उस ब्रह्म अर्थात् वेद-पढ़ने में परिश्रम कुछ भी नहीं करते। वे ब्रह्मचारी बकरी के गले के स्तन के सदृश निरर्थक हैं[2]।

और जो वैसे ही संन्यासी विद्याहीन दण्ड-कमण्डलु ले भिक्षामात्र करते फिरते हैं; जो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते; छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते हैं; और विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी और संन्यासी इधर-उधर जल स्थल पाषाणादि मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते फिरते; विद्या जानकर भी मौन हो रहते। एकान्त देश में यथेष्ट खा-पीकर सोते पड़े रहते हैं, और ईर्ष्या-द्वेष में फँसकर निद्रा-कुचेष्टा करके निर्वाह करते; काषाय-वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते; और सर्वोत्कृष्ट जानकर उत्तम काम नहीं करते; वैसे ब्रह्मचारी वा संन्यासी भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं।[3] और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।

---

१. यह पौराणिकों की प्रसिद्धि के अनुसार कहा है। वे सतयुग में धर्म की प्रधानता और कलियुग में अधर्म की प्रधानता मानते हैं। अतः यहाँ अधर्मप्रधान को कलियुग की मूर्त्ति, और धर्मप्रधान को सतयुग का रूप कहा है।

ऐतरेयब्राह्मण में कलि आदि की व्याख्या इस प्रकार की है—

'कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥'

अर्थात् सोते रहना कलि है, निद्रा का परित्याग द्वापर है, बिस्तर का परित्याग त्रेता है, और गतिशील होना कृत=सतयुग है। वस्तुतः लोक-व्यवहार की दृष्टि से यह व्याख्या बहुत ही उपयुक्त है। कर्मशील व्यक्ति लोक में कुछ प्राप्त कर सकता है। अतः कर्मशील होना ही कृतयुग है।

२. धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥—चाणक्यनीति १३।१०

३. आजकल आर्यसमाज में भी नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की बढ़ती हो रही है। इन्हें प्रायः यही पता नहीं होता कि ब्रह्मचर्य की दीक्षा किस निष्ठा की पूर्ति के लिए ली है। ये साधनरूप ब्रह्मचर्य को ही साध्य समझते हैं। हाँ, इनमें कतिपय व्यक्ति पठन-पाठन उपदेश आदि कार्य में लगे हुए हैं, वे स्तुत्य हैं। इसी प्रकार संन्यासियों की भी ऐसी सेना खड़ी हो रही है, जो महामूर्ख हैं। समाज पर भार बन रहे हैं।

[गिरी पुरी आदि संन्यासी संसार में भाररूप]

प्रश्न—गिरी पुरी भारती आदि गुसाईं लोग तो अच्छे हैं। क्योंकि मण्डली बाँधकर इधर-उधर घूमते हैं। सैकड़ों साधुओं को आनन्द कराते हैं। और सर्वत्र अद्वैत मत का उपदेश करते हैं। और कुछ-कुछ पढ़ते-पढ़ाते भी हैं। इसलिए वे अच्छे होंगे?

उत्तर—ये सब दश[1] नाम पीछे से कल्पित किये हैं, सनातन नहीं। उनकी मण्डलियाँ केवल भोजनार्थ हैं। बहुत से साधु भोजन ही के लिए मण्डलियों में रहते हैं। दम्भी भी हैं, क्योंकि एक को महन्त बनाकर रहते हैं। सायंकाल में एक महन्त, जो कि उनमें प्रधान होता है, वह गद्दी पर बैठ जाता है। सब ब्राह्मण और साधु खड़े होकर हाथ में पुष्प ले—

'नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तम्०' ॥[2]

इत्यादि श्लोक पढ़के 'हर-हर' बोल उनके ऊपर पुष्पवर्षा कर साष्टाङ्ग नमस्कार करते हैं। जो कोई ऐसा न करे, उसका वहाँ रहना भी कठिन है। यह दम्भ संसार को दिखलाने के लिए करते हैं, जिससे जगत् में प्रतिष्ठा होकर माल मिले।

कितने ही मठधारी गृहस्थ[3] होकर भी संन्यास का अभिमानमात्र करते हैं, कर्म कुछ नहीं करते। 'संन्यास' का वही कम है, जो पाँचवें समुल्लास में लिख आये हैं। उसको न करके व्यर्थ समय खोते हैं। जो कोई अच्छा उपदेश करे, उसके भी विरोधी होते हैं। बहुधा ये लोग भस्म, रुद्राक्ष धारण करते, और कोई-कोई शैव सम्प्रदाय का अभिमान रखते हैं।

और जब कभी शास्त्रार्थ करते हैं, तो अपने मत अर्थात् शङ्कराचार्योक्त का स्थापन और चक्राङ्कित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं। वेदमार्ग की उन्नति, और यावत्[4] पाखण्ड मार्ग हैं तावत्[4] के खण्डन में प्रवृत्त नहीं होते। ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन? हम तो महात्मा हैं। ऐसे लोग भी संसार में भाररूप हैं।

[वेदानुयायियों का ह्रास होने पर भी उधर ध्यान नहीं]

जब ऐसे हैं, तभी तो वेदमार्गविरोधी वाममार्गादि सम्प्रदायी, ईसाई मुसलमान जैनी आदि बढ़ गये, अब भी बढ़ते जाते हैं। और इनका[5] नाश होता जाता है, तो भी इनकी आँख नहीं खुलती।

---

१. संन्यासियों के दश नाम यह हैं—१. तीर्थ, २. आश्रम, ३. सरस्वती, ४. पुरी, ५. भारती, ६. वन, ७. अरण्य, ८. गिरी, ९. पर्वत, १०. सागर।

२. पूरा पाठ इस प्रकार है—

'नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि॥

३. कुछ मठधारी विवाहित होते हैं। कुछ सेविका आदि के रूप में स्त्रियाँ रखते हैं। कुछ अन्य गृहस्थों के समान सांसारिक व्यवहार में लगे रहते हैं। यहाँ 'गृहस्थ होकर' पाठ से इन सभी की ओर संकेत है।

४. यावत् अर्थात् जितने। तावत् = उतने, अर्थात् उन सबके।

५. अर्थात् वेदमार्गी आर्यों का। भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् ईसाई मुसलमानों की संख्या बड़ी तीव्रता से बढ़ रही है।

खुले कहाँ से, जो कुछ उनके मन में परोपकार-बुद्धि और कर्त्तव्यकर्म करने में उत्साह होवे ? किन्तु ये लोग अपनी प्रतिष्ठा, और खाने-पीने के सामने अन्य अधिक कुछ भी नहीं समझते। और संसार की निन्दा से बहुत डरते हैं।

[त्रिविध एषणा-परित्याग के बिना संन्यास व्यर्थ]

पुनः **लोकैषणा**=लोक में प्रतिष्ठा, **वित्तैषणा**=धन बढ़ाने में तत्पर होकर विषयभोग, **पुत्रैषणा**=पुत्रवत् शिष्यों पर मोहित होना, इन तीन एषणाओं का त्याग करना उचित है। जब एषणा ही नहीं छूटी, पुनः संन्यास क्योंकर हो सकता है ? अर्थात् पक्षपातरहित वेदमार्गोपदेश से जगत् के कल्याण करने में अहर्निश प्रवृत्त रहना संन्यासियों का मुख्य काम है। जब अपने-अपने अधिकार-कर्मों को नहीं करते, पुनः संन्यासी आदि नाम धराना व्यर्थ है। नहीं तो जैसे गृहस्थ व्यवहार और स्वार्थ में परिश्रम करते हैं, उनसे अधिक परिश्रम परोपकार करने में संन्यासी भी तत्पर रहें, तभी सब आश्रम उन्नति पर रहें।

[संन्यासियो ! अपने उजड़ते घर को बचाओ]

देखो, तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं। ईसाई मुसलमान तक हो जाते हैं। तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों को मिलाना नहीं बन सकता। बने तो तब जब तुम करना चाहो। जबलों वर्त्तमान और भविष्यत् में उन्नतिशील नहीं होते, तबलों आर्य्यावर्त्त और अन्यदेशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण वेदादिसत्यशास्त्रों का पठन-पाठन;[1] ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान और सत्योपदेश होते हैं; तभी देशोन्नति होती है।

[तुम्हारी आँखों के सामने ही पाखण्ड पनप रहे हैं]

चेत रक्खो। बहुत-सी पाखण्ड की बातें तुमको सचमुच दीख पड़ती हैं—जैसे कोई साधु-दुकानदार[2] पुत्रादि देने की सिद्धियाँ बतलाता है, तब उसके पास बहुत स्त्री जाती हैं, और हाथ जोड़कर पुत्र माँगती हैं। और बाबाजी सबको पुत्र होने का आशीर्वाद देता है। उनमें से जिस-जिसको पुत्र होता है, वह-वह समझती हैं कि बाबाजी के वचन से ऐसा हुआ। जब उनसे कोई पूछे कि सुअरी कुत्ती गधी और कुक्कुटी आदि के बच्चे-कच्चे किस बाबाजी के वचन से होते हैं ? तब कुछ भी उत्तर न दे सकेंगी। जो कोई कहे कि मैं लड़के को जीता रख सकता हूँ, तो आप ही क्यों मर जाता है ?

[धनसारी के ठगों=सिद्ध-साधकों की लीलाएँ]

कितने ही धूर्त्त लोग ऐसी माया रचते हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी धोखा खा जाते हैं—जैसे 'धनसारी के ठग'। ये लोग पाँच-सात मिलके दूर-दूर देश में जाते हैं। जो शरीर से डौलडाल में अच्छा

---

१. आर्यसमाज में भी वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन प्रायः उठ गया है। किसी ने बहुत अधिक पढ़ा तो व्याकरण पढ़ लिया। आश्रमव्यवस्था पूर्व जैसी सुव्यवस्थित नहीं रही। जब तक आर्यसमाज में ऋषि दयानन्द की पाठविधि के अनुसार अधिक-से-अधिक वेदादि सत्य आर्षशास्त्रों का पठन-पाठन न बढ़ेगा, तबतक आर्यसमाज गिरता ही जायगा। आर्य-समाज के नेता लोग तो वेदादि सत्यशास्त्रों के पठन-पाठन की व्यवस्था करने के बदले अविद्या-प्रसारक दास-मनोवृत्ति उत्पन्न करनेवाले स्कूल-कालिजों के चलाने, नये-नये स्कूल-कालेज खोलने में अपना परम पुरुषार्थ समझे बैठे हैं। तब भला आर्यसमाज की वृद्धि अथवा दयानन्द का मन्तव्य कैसे पूरा होगा ?

२. यह शब्द उपमा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जैसे दुकानदार अपनी वस्तुओं की झूठी प्रशंसा करके ग्राहक को फँसाता है, उसी प्रकार साधु लोग भी अपनी झूठी सिद्धियों का बखान करके स्त्रियों को फँसाते हैं।

होता है, उसको सिद्ध बना लेते हैं। जिस नगर वा ग्राम में धनाढ्य होते हैं, उसके समीप जङ्गल में उस सिद्ध को बैठाते हैं।

उसके चार साधक नगर में जाके अजान बनके जिस किसी को पूछते हैं—'तुमने ऐसे महात्मा को यहाँ कहीं देखा, वा नहं'? वे ऐसा सुनकर पूछते हैं कि—'वह महात्मा कौन और कैसा है'? साधक कहता है—'बड़ा सिद्ध पुरुष है। मन की बातें बतला देता है। जो मुख से कहता है, वह हो जाता है। बड़ा योगीराज है। उसके दर्शन के लिए हम अपने घर-द्वार छोड़कर देखते-फिरते हैं। मैंने किसी से सुना था कि वे महात्मा इधर की ओर आये हैं'। गृहस्थ कहता है—'जब वह महात्मा तुमको मिले, तो हमको भी कहना। दर्शन करेंगे, और मन की बातें पूछेंगे'।

इसी प्रकार दिनभर नगर में फिरते, और हरएक को उस सिद्ध की बात कहकर रात्रि को इकट्ठे होकर सिद्ध-साधक खाते-पीते और सो रहते हैं। फिर भी प्रातःकाल नगर वा ग्राम में जाके उसी प्रकार दो-तीन दिन कहकर फिर चारों साधक किसी एक-एक धनाढ्य से बोलते हैं कि—'वह महात्मा मिल गये। तुमको दर्शन करना हो तो चलो'। वे जब तय्यार होते हैं, तब साधक उनसे पूछते हैं कि—'तुम क्या बात पूछना चाहते हो, हमसे कहो'। कोई पुत्र की इच्छा करता, कोई धन की, कोई रोग-निवारण की, और कोई शत्रु के जीतने की।

उनको वे साधक ले जाते हैं। सिद्ध-साधकों ने जैसा संकेत किया होता है, अर्थात् जिसको धन की इच्छा हो उसको दाहिनी ओर, जिसको पुत्र की इच्छा हो उसको सम्मुख, जिसको रोग-निवारण की इच्छा हो उसको बाईं ओर, और जिसको शत्रु के जीतने की इच्छा हो उसको पीछे से ले जाके सामने-वालों के बीच में बैठा लेते हैं। जब नमस्कार करते हैं, उसी समय वह सिद्ध अपनी सिद्धाई की झपट से उच्च स्वर से बोलता है—'क्या यहाँ हमारे पास पुत्र रक्खे हैं, जो तू पुत्र की इच्छा करके आया है'? इसी प्रकार धन की इच्छावाले से—'क्या यहाँ थैलियाँ रक्खी हैं, जो धन की इच्छा करके आया? फकीरों के पास धन कहाँ धरा है'? रोगवाले से—'क्या हम वैद्य हैं, जो तू रोग छुड़ाने की इच्छा से आया? हम वैद्य नहीं, जो तेरा रोग छुड़ावें। जा किसी वैद्य के पास।'

परन्तु जब उसका पिता रोगी हो, तो उसका साधक अँगूठा, जो माता रोगी हो तो तर्जनी, जो भाई रोगी हो तो मध्यमा, जो स्त्री रोगी हो तो अनामिका, जो कन्या रोगी हो तो कनिष्ठिका अँगुली चला[1] देता है। उसको देख वह सिद्ध कहता है कि—'तेरा पिता रोगी है। तेरी माता, तेरा भाई, तेरी स्त्री, और तेरी कन्या रोगी हैं'। तब तो वे चारों के चारों बड़े मोहित हो जाते हैं। साधक लोग उनसे कहते हैं—'देखो, जैसा हमने कहा था, वैसे ही हैं वा नहीं'?

गृहस्थ कहते हैं—'हाँ! जैसा तुमने कहा था, वैसे ही हैं। तुमने हमारा बड़ा उपकार किया। और हमारा भी बड़ा भाग्योदय था, जो ऐसे महात्मा मिले। जिनके दर्शन करके हम कृतार्थ हुए'।

साधक कहता है 'सुनो भाई! ये महात्मा मनोगामी हैं। यहाँ बहुत दिन रहनेवाले नहीं। जो कुछ इनका आशीर्वाद लेना हो, तो अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुकूल इनकी तन-मन-धन से सेवा करो। क्योंकि 'सेवा से मेवा मिलती है'। जो किसी पर प्रसन्न हो गये, तो जाने क्या वर दे दें? 'सन्तों की गति अपार है'।

गृहस्थ ऐसे लल्लो-पत्तो की बातें सुनकर बड़े हर्ष से उनकी प्रशंसा करते हुए घर की ओर जाते हैं। साधक भी उनके साथ ही चले जाते हैं। क्योंकि कोई उनका पाखण्ड खोल न देवे। उन धनाढ्यों का

१. अर्थात् अङ्गुली से संकेत कर देता है।

जो कोई मित्र मिला, उससे प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार जो-जो साधकों के साथ जाते हैं, उन-उनका वृत्तान्त सब कह देते हैं।

जब नगर में हल्ला मचता है कि अमुक ठौर एक बड़े भारी सिद्ध आये हैं, चलो उनके पास। जब मेला का मेला जाकर बहुत-से लोग पूछने लगते हैं कि—'महाराज! मेरे मन का वृत्तान्त कहिये।' तब तो व्यवस्था के बिगड़ जाने से सिद्ध चुपचाप होकर मौन साध जाता है। और कहता है कि—'हमको बहुत मत सताओ'। तब तो झट उसके साधक भी कहने लग जाते हैं—'जो तुम इनको बहुत सताओगे, तो चले जाएँगे'।

और जो कोई बड़ा धनाढ्य होता है, वह साधक को अलग बुलाके पूछता है कि—'हमारे मन की बात कहला दो, तो हम सच मानें'। साधक ने पूछा कि क्या बात है? धनाढ्य ने उससे कह दी। तब उसको उसी प्रकार के संकेत से ले जाके बैठाल देता है। उसे सिद्ध ने समझके झट से कह दिया। तब तो सब मेलाभर ने सुन ली कि अहो! बड़े ही सिद्ध पुरुष हैं।

कोई मिठाई, कोई पैसा, कोई रुपया, कोई अशर्फी, कोई कपड़ा, और कोई सीधा-सामग्री भेंट करता है। फिर जब तक मानता बहुत-सी रही, तब तक यथेष्ट लूट करते हैं। और किन्हीं-किन्हीं दो एक 'आँख के अन्धे गाँठ के पूरों' को पुत्र होने का आशीर्वाद वा राख उठाके दे देता है। और उससे सहस्र रुपये लेकर कह देता है कि—"जो तेरी सच्ची भक्ति होगी, तो पुत्र हो जायगा"।

[ठगों से बचने का उपाय—वेदाध्ययन और सत्सङ्ग]

इस प्रकार के बहुत-से ठग होते हैं, जिनकी विद्वान् ही परीक्षा कर सकते हैं, और कोई नहीं। इसलिए वेदादिविद्या का पढ़ना और सत्सङ्ग करना होता है। जिससे कोई उसको ठगाई में न फँसा सके, औरों को भी बचा सके। क्योंकि मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। विना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता। जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं, वे ही मनुष्य और विद्वान् होते हैं। जिनको कुसङ्ग है, वे दुष्ट पापी महामूर्ख होकर बड़े दुःख पाते हैं। इसीलिए ज्ञान को विशेष कहा है—'कि जो जानता है, वही मानता है'।

> **'न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति।**
> **यथा किराती करिकुम्भजाता, मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥'**
>
> —वृद्धचाणक्य ११।१२

जो जिसका गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे जंगली भील गज-मुक्ताओं को छोड़ गुञ्जा का हार पहिन लेता है, वैसे ही जो पुरुष विद्वान् ज्ञानी धार्मिक सत्पुरुषों का सङ्गी योगी पुरुषार्थी जितेन्द्रिय सुशील होता है, वही धर्मार्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त होकर इस जन्म और परजन्म में सदा आनन्द में रहता है।

[उपसंहार]

यह आर्यावर्त्त-निवासी लोगों के मत-विषय में संक्षेप से लिखा। इसके आगे जो थोड़ा-सा आर्य-राजाओं का इतिहास मिला है,[1] इसको सब सज्जनों को जनाने के लिए प्रकाशित किया जाता है।

अब आर्यावर्त्तदेशीय राजवंश; कि जिसमें श्रीमान् महाराज 'युधिष्ठिर' से लेके महाराज

---

१. आगे उद्धृत वंशावली लेखक ने पूरा ग्रन्थ लिखने के पीछे छपते समय जोड़ी है। द्र०—'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ४५८ (द्वि० सं०) भाद्रवदी ३० सं० १९४० का पत्र।

'यशपाल' पर्यन्त हुए हैं, उस इतिहास को लिखते हैं। और श्रीमान् महाराज 'स्वायंभुव मनु' से लेके महाराजा 'युधिष्ठिर' पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है।[1] और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्त्तमान विदित होगा।

यद्यपि यह विषय 'विद्यार्थी' सम्मिलित 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' और 'मोहनचन्द्रिका', जोकि पाक्षिकपत्र श्रीनाथद्वारे से निकलता था, जो राजपूताना देश मेवाड़राज उदयपुर चित्तौड़गढ़ में सबको विदित है, यह उससे हमने [2]अनुवाद किया है। यदि ऐसे ही हमारे आर्यसज्जन लोग इतिहास और विद्या-पुस्तकों का खोज[3] कर प्रकाश करेंगे, तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा।

उस पत्र के सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक, जोकि संवत् विक्रम के १७८२ सत्रह सौ बयासी का लिखा हुआ था, उससे उक्त पत्र के सम्पादक महाशय ने ग्रहण कर अपने संवत् १९३९ मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष १९-२० किरण अर्थात् दो पाक्षिक पत्रों में छापा है[4]। सो निम्नलिखे प्रमाणे जानिये—

आर्यावर्त्तदेशीय राजवंशावली

इन्द्रप्रस्थ में आर्य लोगों ने श्रीमन्महाराज "यशपाल" पर्यन्त राज्य किया, जिनमें श्रीमन्महाराज "युधिष्ठिर" से महाराजे "यशपाल तक वंश अर्थात् पीढ़ी अनुमान एक सौ चौबीस (१२४) राजा, वर्ष चार सहस्र एक सौ सत्तावन (४१५७) मास नौ (९) दिन चौदह (१४) समय में हुए हैं। इनका ब्योरा—

राजा	पीढ़ी	वर्ष	मास	दिन
आर्यराजा	१२४	४१५७	९	१४

श्रीमन्महाराजे युधिष्ठिरादि, वंश अनुमान पीढ़ी ३०, वर्ष १७७० मास ११ दिन १०। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. राजा युधिष्ठिर	३६	८	२५	२. राजा परीक्षित	६०[5]	०	०

१. महाराज स्वायंभुव मनु के पुत्र इक्ष्वाकु से लेकर भारत युद्धकाल तक महाभारतादि के लेखानुसार लगभग १०० एकसौ पीढ़ी होती हैं। इन पीढ़ियों के नामों में संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार पितृनाम से पुत्र-पौत्र नामों को कहने के लिए होनेवाले प्रत्ययों के कारण (दो तीन स्थानों को छोड़कर अन्यत्र) मध्य-मध्य में शृंखला के टूटने की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। अत: भारतीय इतिहास की कालगणना पर विशेष अनुसन्धान होना चाहिए। इसका पूरा वर्णन श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' द्वितीय भाग देखें।

२. अनुवाद अर्थात् उद्धृत।

३. ऋषि दयानन्द प्राचीन इतिहास के अनुसन्धान-कार्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते थे। पूना-प्रवचन (=उपदेशमंजरी) में निर्दिष्ट ५ इतिहास-सम्बन्धी भाषणों, और सत्यार्थप्रकाश के प्रस्तुत लेख से प्रेरणा प्राप्त करके इस दिशा में श्री प्रो० रामदेवजी, और पं० श्री भगवद्दत्त जी ने ऐतिहासिक शोध-कार्य में विशेष प्रयत्न किया। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य आर्य विद्वानों ने इतिहास की सदा उपेक्षा की। महद् आश्चर्य की बात तो यह है कि 'आर्यसमाज-स्थापना-दिवस' और 'परोपकारिणी-स्थापना-दिवस' सम्बन्धी भूलों को बार-बार सुझाने पर भी आर्यसमाज के विद्वानों ने उक्त भूलों का संशोधन नहीं किया।

४. इसी प्रकार की इन्द्रप्रस्थ के राजाओं की ३-४ वंशावलियाँ और भी मिलती हैं। उनके लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २२२-२२४ देखना चाहिए। श्री गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को भी काशी से एक वंशावली मिली थी। वह उन्होंने श्री पं० भगवद्दत्तजी को दे दी थी (द्र०—उक्त पृष्ठ)।

५. यह परीक्षित का जीवनकाल है। उसका शासनकाल २४ वर्ष था।—यु० मी०

३. राजा जनमेजय	८४	७	२३	४. राजा अश्वमेध	८२	८	२२
५. द्वितीय राम	८८	२	८	६. छत्रमल	८१	११	२७
७. चित्ररथ	७५	३	१८	८. दुष्टशैल्य	७५	१०	२४
९. राजा उग्रसेन	७८	७	२१	१०. राजा शूरसेन	७८	७	२१
११. भुवनपति	६९	५	५	१२. रणजीत	६५	१०	४
१३ ऋक्षक	६४	७	४	१४. सुखदेव	६२	०	२४
१५. नरहरिदेव	५१	१०	२	१६. सुचिरथ	४२	११	२
१७. शूरसेन (दू०)	५८	१०	८	१८. पर्वतसेन	५५	८	१०
१९. मेधावी	५२	१०	१०	२०. सोनचीर	५०	८	२१
२१. भीमदेव	४७	९	२०	२२. नहरिदेव	४५	११	२३
२३. पूर्णमल	४४	८	७	२४ करदवी	४४	१०	८
२५. अलंमिक	५०	११	८	२६. उदयपाल	३८	९	०
२७. दुवनमल	४०	१०	२६	२८. दमात	३२	०	०
२९. भीमपाल	५८	५	८	३०. क्षेमक	४८	११	२१

आजकल के ऐतिहासिकों के मत से यह सारा वंशक्रम जिस प्रकार से है, उसे हम राजपूताना म्यूजियम के संचालक ठाकुर जगदीशसिंह गहलौत (जो एक प्रतिष्ठित इतिहासज्ञ है) के शब्दों में दे रहे हैं। हमारी प्रार्थना पर उन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी कष्ट सहन कर लिख भेजा है। कई बातों में हमारा उनसे मतभेद है, किन्तु ऐतिहासिक शोध की भावना से हम सधन्यवाद कृतज्ञतापूर्वक उनका लेख दे रहे हैं—

"ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के एकादश समुल्लास के अन्त में राजवंशावली दी है। ऋषि दयानन्द को नाथद्वारा (मेवाड़) से किसी पुराने भाट (ब्रह्मभट्ट) की बही से उतारी यह वंशावली विक्रमी संवत् १९३९ भाद्रपद (सितम्बर १८८२ ई०) को मिली थी। जैसा उन्होंने लिखा है—'यह विषय विद्यार्थीसम्मिलित हरिश्चन्द्रचन्द्रिका और मोहनचन्द्रिका जो कि पाक्षिकपत्र श्रीनाथद्वारे से निकलता था (जो राजपूताना देश मेवाड़ राज उदयपुर, चित्तौड़गढ़ में सबको विदित है) उससे हमने अनुवाद किया है' (पृ० ३४४)। उस समय विद्वानों को भारत के प्राचीन इतिहास का ज्ञान बहुत कम था। ऋषि दयानन्द ने अपने अनुयायियों का ध्यान अपने देश के इतिहास की खोज की तरफ आकृष्ट करने के लिये उस वंशावली को सत्यार्थप्रकाश में छाप दिया था। यह महर्षि की अपने देश के पुराने इतिहास के पुनरुद्धार में तीव्र रुचि की केवल द्योतक मात्र है।

अयोध्या (कौसल) के राजवंश (सूर्यवंश) की वंशावली तो पुराणों में दी हुई है। उसमें इक्ष्वाकु से युधिष्ठिर के समयकालीन राजा तक, अयोध्या के राजाओं की लगभग ९४ पीढ़ियाँ दी हैं। उसके बाद अयोध्या राजवंश में प्रसेनजित् और विडूढक तक की दी हुई वंशावली भी ठीक मानी जाती है। प्रसेनजित् बुद्ध (५६६-४८६ विक्रम पूर्व तदनुसार ६२३-५४३ ईसा पूर्व) का समकालिक और मित्र था। उसके लड़के विडूढक के बाद अयोध्या (कौसल) को मगध के शिशुनागवंशी राजा अजातशत्रु (४३३ विक्रम पूर्व तदनुसार ४९० ईसा पूर्व) ने जीत लिया।

सम्राट् युधिष्ठिरवाला कुरुवंश (चन्द्रवंश) महाराजा जनमेजय के एक आध पीढ़ी बाद कुरुदेश में अकाल पड़ने और हस्तिनापुर (दिल्ली) के गंगा की बाढ़ में बह जाने के कारण वहाँ से हटकर

राजा क्षेमक के प्रधान विश्रवा ने क्षेमक राजा को मारकर राज्य किया। पीढ़ी १४, वर्ष ५००, मास ३, दिन १७। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. विश्रवा	१७	३	२९	२. पुरसेनी	४२	८	२१
३. वीरसेनी	५२	१०	७	४. अनङ्कशायी	४७	८	२३
५. हरिजित्	३५	९	१७	६. परमसेनी	४४	२	२३
७. सुखपाताल	३०	२	२१	८. कद्रुत	४२	९	२४
९. सज्ज	३२	२	१४	१०. अमरचूड़	२७	३	१६
११ अमीपाल	२२	११	२५	१२. दशरथ	२५	४	१२
१३. वीरसाल	३१	८	११	१४. वीरसालसेन	४७	०	१४

राजा वीरसालसेन को वीरमहा प्रधान ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १६, वर्ष ४४५, मास ५, दिन ३। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. राजा वीरमहा	३५	१०	८	२. अजितसिंह	२७	७	१९
३. सर्वदत्त	२८	३	१०	४. भुवनपति	१५	४	१०
५. वीरसेन	२१	२	१३	६. महीपाल	४०	८	७
७. शत्रुशाल	२६	४	३	८. संघराज	१७	२	१०
९. तेजपाल	२८	११	१०	१०. माणिकचन्द	३७	७	२१
११. कामसेनी	४२	५	१०	१२. शत्रुमर्दन	८	११	१३
१३. जीवनलोक	२८	९	१७	१४. हरिराव	२६	१०	२९
१५. वीरसेन (दू०)	३५	२	२०	१६. आदित्यकेतु	२३	११	१३

वत्स-देश की राजधानी कौशाम्बी में जो इलाहाबाद (प्रयाग) से ३५ मील पश्चिम की ओर जमना तट पर स्थित कौसम गाँव के स्थान पर थी, बस गया। कौशाम्बी के खण्डहरों की अब खुदाई हो रही है। कौशाम्बी का राजा उदयन महात्मा बुद्ध (सिद्धार्थ) का समकालिक था। इसके अलावा हस्तिनापुर, मगध, काशी, विदेह (उत्तर बिहार), अवन्ती (मालवा) आदि की वंशावलियाँ भी पुराणों में हैं, किन्तु पूरी नहीं हैं। हस्तिनापुर राजवंश की वंशावली राजा दुष्यन्त और उसके पुत्र भरत के समय से पुराणों में पूरी दी हुई है। उसी वंश में राजा वसु हुआ, जिसके वंश में काशी, मगध और चेदि (बघेलखण्ड) के राजवंश थे। अवन्ती की तरफ यदुवंशी राजाओं के राज्यों का उल्लेख है, जिनमें कुछ राजतन्त्र और कुछ प्रजातन्त्र थे।

पुराणों में महाभारत युद्ध के बाद मगध के राजवंशों का उल्लेख गुप्तों तक है, जो आधुनिक खोजों से सही सिद्ध हुआ है। उसके अनुसार मगध के राजवंशों में जरासंध का बृहद्रथ वंश, फिर शिशुनाग वंश, नवनन्द, फिर मौर्य, शुंग, काण्व और आंध्र (सातवाहन) वंश भारत में आर्य सम्राटों के वंश हुए। फिर शक मुरुण्डों का आधिपत्य हो गया। जिनमें कनिष्क आदि की गिनती है। इसके पश्चात् भारशिव या नाग वाकाटक और गुप्त राजवंशों के हाथ में भारत का साम्राज्य आया। गुप्तों के बाद के राजवंशों का उल्लेख पुराणों में नहीं है।

गुप्त साम्राज्य का ह्रास हूण आक्रमण के साथ हुआ और यशोधर्मा, जो कि किसी राजवंश का

राजा आदित्यकेतु मगधदेश के राजा को "धन्धर" नामक राजा प्रयाग के ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी ९, वर्ष ३७४, मास ११, दिन २६। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. राजा धन्धर	४२	७	२४	२. महर्षी	४१	२	२९
३. सनरच्ची	५०	१०	१९	४. महायुद्ध	३०	३	८
५. दुरनाथ	२८	५	२५	६. जीवनराज	४५	२	५
७. रुद्रसेन	४७	४	२८	८. आरीलक	५२	१०	८
९. राजपाल	३६	०	०				

राजा राजपाल को सामन्त महान्पाल ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष १४, मास ०, दिन ०। इनका विस्तार नहीं है।

राजा महान्पाल के राज्य पर राजा विक्रमादित्य ने 'अवन्तिका' (उज्जैन) से चढ़ाई करके राजा महान्पाल को मार के राज्य किया पीढ़ी १, वर्ष ३९, मास ०, दिन ०। इनका विस्तार नहीं है।

राजा विक्रमादित्य को शालिवाहन का उमराव समुद्रपाल योगी पैठण के ने मार कर राज्य किया। पीढ़ी १६, वर्ष ३७२, मास ४, दिन २७। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. समुद्रपाल	५४	२	२०	२. चन्द्रपाल	३६	५	४
३. साहायपाल	११	४	११	४. देवपाल	२७	१	२८
५. नरसिंहपाल	१८	०	२०	६. सामपाल	२७	१	१७
७. रघुपाल	२२	३	२५	८. गोविन्दपाल	२७	१	१७
९. अमृतपाल	३६	१०	१३	१०. बलीपाल	१२	५	२७
११. महीपाल	१३	८	४	१२. हरीपाल	१४	८	४
१३. सीसपाल[1]	११	१०	१३	१४. मदनपाल	१७	१०	१९
१५. कर्मपाल	१६	२	२	१६. विक्रमपाल	२४	११	१३

न होकर राजपूताना व मालवा की जनता का एक नेता था, ने हूणों का पराभव कर भारतसम्राट् का पद ग्रहण किया, किन्तु यशोधर्मा ने अपने पीछे कोई राजवंश नहीं छोड़ा। अतः उसका राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया, जिनमें मौखरी वंश प्रमुख था। इनकी राजधानी कन्नौज हुई। यशोधर्मा के बाद पटना के गुप्तों ने साम्राज्य पुनः संगठित करने का प्रयत्न किया पर मौखरियों के आगे उनकी न चली और भारत की राजधानी पटना (बिहार) से हटकर कन्नौज (उत्तर प्रदेश) में आ गई। अन्तिम मौखरी सम्राट् ग्रहवर्मा का विवाह थानेश्वर के बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री से हुआ। ग्रहवर्म्मा बंगाल के राजा शशांक के हाथों मारा गया, तब हर्ष की बहिन राज्यश्री भारत साम्राज्ञी बनी और उसका भाई हर्षवर्धन उसके संरक्षक रूप में भारत का सम्राट् हुआ। हर्ष के बाद यशोवर्मा तक मौखरी वंश ने ही भारत का साम्राज्य संभाला। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि सम्राट् यशोवर्मा को काश्मीर के राजा ललितादित्य (ईसा की ८वीं शताब्दी) से हारना पड़ा। उसके बाद हर्ष के मामा और सेनापति भंडी के वंशजों के अधिकार में कन्नौज की राजगद्दी आ गई। भंडियों से उत्तर भारत का साम्राज्य भीनमाल (राजस्थान) के प्रतिहार (पड़िहार) राजा मिहिर भोज ने छीन लिया। प्रतिहारों के राज्य

१. किसी इतिहास में भीमपाल भी लिखा है।

का अन्त सुल्तान महमूद गजनवी के हमलों के कुछ ही बाद (वि० सं० १०७५ तदनुसार ई० सन् १०१८) हो गया और बदायूँ के राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा गोपाल ने तत्कालीन भारत की राजधानी कन्नौज पर अधिकार कर लिया। परन्तु इन राठौड़ों का राज्य वहाँ अधिक दिनों तक न रहा। उनसे गाहड़वाल (सूर्यवंशी) महिचन्द्र के पुत्र चन्द्रदेव ने वि० सं० ११४२ (ई० सन् १०८५) में कन्नौज छीन लिया। इससे राठौड़ों का गाहड़वालों (गहरवारों) का सामन्त बनना पड़ा। गाहड़वाल वंशी सम्राट् गोविन्द चन्द्र और जयचन्द्र के समय उत्तर भारत का साम्राज्य उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहा किन्तु प्रतिहार साम्राज्य के पुराने सामन्तों में साँभर तथा अजमेर के चौहान, गुजरात के सोलंकी (बघेले) और मालवा के परमार (पवाँर) राज्य स्वतन्त्र होकर पर्याप्त प्रबल हो चुके थे। महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) के बड़े बाप (ताऊ) विग्रहराज (बीसल देव) ने विन्ध्याचल से हिमालय तक विजय कर अपनी राज्य सीमा उत्तरी गंगा, जमुना दोआब तक फैला दी, जो कन्नौज साम्राज्य का अपना देश था। अतः चौहानों व गाहड़वालों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। उधर पंजाब इस बीच में तुर्कों के अधिकार में आ चुका था। विग्रहराज (वि० सं० १२१०-२१ तदनुसार ई० सन् ११५३-६४) ने लुधियाना, जालंधर (पंजाब) तक जीतकर हिमालय की तराई 'साढोरा' में खड़े अशोक के स्तम्भ पर अपने उत्तराधिकारियों के लिए यह उपदेश खुदवाया था कि 'हिमालय व विन्ध्याचल के बीच का प्रदेश जीतकर हमने मलेच्छों (मुसलमानों) से आर्यावर्त्त का उद्धार किया है। अब हम अपने वंशजों से आशा करते हैं कि वे शेष कार्य (अर्थात् पंजाब को तुर्कों से छुड़ाने के कार्य) के प्रति उद्योगशून्य न हों।' किन्तु उसका भतीजा पृथ्वीराज चौहान अपने उस महान् पूर्वज की हिदायत को न मान पूर्व में जयचन्द्र गहरवार और उसके सामन्त महोबा के चन्देलों से साधारण झगड़ों में अपनी शक्ति नष्ट करता रहा। इस बीच पंजाब में गजनवियों का पुराना तुर्कराज्य समाप्त हो गया और गौर के नवमुस्लिम अफगान शाहाबुद्दीन गौरी द्वारा जीत लिया गया तब पृथ्वीराज चौहान की निद्रा खुली। सुलतान शहाबुद्दीन ने पहले रेगिस्तान के रास्ते गुजरात के सोलंकी राज्य को लेना चाहा पर वहाँ के अवयस्क (नाबालिग) राजा मूलराज द्वितीय की माँ के शासन में गुजराती वीरों ने आबू के पास 'कायद्रां' गाँव में उसकी सेना को बुरी तरह हराया। उधर सफलता होती न देख शहाबुद्दीन ने दिल्ली तथा अजमेर के चौहान राज्य की तरफ मुँह फेरा। एक बार तो पृथ्वीराज चौहान से भी उसे हारकर भाग जाना पड़ा। पर दूसरी बार पृथ्वीराज पानीपत के मैदान में उससे पराजित हुआ और वि० सं० १२४९ (ई० सन् ११९२) में मारा गया। अगले वर्ष दिल्ली, अजमेर पर कब्जा पक्का करने के पीछे शहाबुद्दीन ने कन्नौज साम्राज्य पर हमला किया। सम्राट् जयचन्द्र गहरवार इटावा के पास 'चन्दावर' में उसका मुकाबला करता हुआ (वि० सं० १२५० तदनुसार ई० सन् ११९३) में मारा गया। उसके बेटे सम्राट् हरिश्चन्द्र ने गंगा के उत्तर की ओर हटकर अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई जारी रखी। कन्नौज का किला सीमान्त पर हो जाने से गाहड़वालों ने अपने बदायूँ के सामन्त (चन्द्रवंशी) राठौड़ों को उसकी रक्षा का भार सौंप दिया। अन्त में सुल्तान अल्तमश के समय (वि० सं० १२८२ तदनुसार ई० सन् १२२५) में बड़ी लड़ाई के बाद कन्नौज भी तुर्कों के हाथ लग गया। तुर्क राज्य गंगा के दक्षिण-दक्षिण बिहार व बंगाल तक जा पहुँचा। गाहड़वालों की सेनायें एक तरफ गंगा के उत्तर की ओर हटकर अवध में और दूसरी तरफ विन्ध्यप्रदेश आदि में तुर्कों का मुकाबला बहुत समय तक करती रहीं पर भारत की साम्राज्य शक्ति इसके बाद मुख्यतर तुर्क मुसलमानों के हाथ में रही।

राजा विक्रमपाल ने पश्चिम दिशा का राजा (मलुखचन्द्र बोहरा था) इन पर चढ़ाई करके मैदान में लड़ाई की, इस लड़ाई में मलुखचन्द्र ने विक्रमपाल को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया। पीढ़ी १०, वर्ष १९१, मास १, दिन १६। इनका विस्तार :—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. मलुखचन्द्र	५४	२	१०	२. विक्रमचन्द	१२	७	१२
३. अमीनचन्द[1]	१०	०	५	४. रामचन्द	१३	११	८
५. हरीचन्द	१४	९	२४	६. कल्याणचन्द	१०	५	४
७. भीमचन्द	१६	२	९	८. लोवचन्द	२६	३	२२
९. गोविन्दचन्द	३१	७	१२	१०. रानी पद्मावती[2]	१	०	०

रानी पद्मावती मर गई। इसके पुत्र भी कोई नहीं था, इसलिए सब मुत्सद्दियों ने सलाह करके हरिप्रेम वैरागी को गद्दी पर बैठा के मुत्सद्दी राज्य करने लगे। पीढ़ी ४, वर्ष ५०, मास ०, दिन २१। हरिप्रेम का विस्तार :—

आर्यराज वंशावली

राजधानी सम्राट् का नाम राज्यकाल ज्ञात समय राजधानी सम्राट् का नाम राज्यकाल ज्ञात समय

पटना (विहार)

१—बृहद्रथवंश

जरासंध आदि नौ दस सम्राट् इस वंश में ९वीं तथा ८वीं शताब्दी ईसा पूर्व में हुए।

पटना

२—शिशुनागवंश

६२३—३०७ वि० पूर्व (६८०—३६४ ईसा पूर्व)

सम्राट् का नाम	राज्यकाल	ज्ञात समय	सम्राट् का नाम	राज्यकाल	ज्ञात समय
१. शिशुनाग	४० वर्ष	६२३ विक्रम पूर्व (६८० ईसा पूर्व)	२ काकवर्ण	३६ वर्ष	
३. क्षेमधर्मन्	२० वर्ष		४. शत्रुञ्जय	४० वर्ष	
५. बिम्बीसार	२८ वर्ष	४८७ वि० पूर्व (५४४ ईसा पूर्व)	६. अजातशत्रु	२५ वर्ष	४३६ वि० पूर्व (४९३ ईसा पूर्व)
७. दर्शक	२५ वर्ष		८. उदयन	२३ वर्ष	
९. नन्दिवर्धन	४० वर्ष		१०. महानन्दी	४३ वर्ष	

पटना

३—नवनन्दवंश

३०७—२६७ वि० पूर्व (३६४—३२४ ईसा पूर्व)

सम्राट् का नाम	राज्यकाल	ज्ञात समय	सम्राट् का नाम	राज्यकाल
१. महापद्म	२८ वर्ष	३०७ वि० पूर्व	२. सुमाल्य	१२ वर्ष

पटना

४—मौर्यवंश

२६४—१२२ वि० पूर्व (३२१—१७९ ईसा पूर्व)

सम्राट् का नाम	राज्यकाल	ज्ञात समय	सम्राट् का नाम	राज्यकाल
१. चन्द्रगुप्त	२४ वर्ष	२६४ वि० पूर्व (३२१ ईसा पूर्व)	२. बिन्दुसार	२५ वर्ष

---

१. इसका नाम कहीं मानकचन्द भी लिखा है।

२. यह पद्मावती गोविन्दचन्द की रानी थी।

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. हरिप्रेम	७	५	१६	२. गोविन्दप्रेम	२०	२	८
३. गोपालप्रेम	१५	७	२८	४. महाबाहु	६	८	२९

राजा महाबाहु राज्य छोड़ के वन में तपश्चर्या करने गये, यह बङ्गाल के राजा आधीसेन ने सुनके इन्द्रप्रस्थ में आके आप राज्य करने लगे। पीढ़ी १२, वर्ष १५१, मास ११, दिन २। इनका विस्तार—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. राजा आधीसेन	१८	५	२१	२. विलावलसेन	१२	४	२
३. केशवसेन	१५	७	१२	४. माधवसेन	१२	४	२
५. मयूरसेन	२०	११	२७	६. भीमसेन	५	१०	९
७. कल्याणसेन	४	८	२१	८. हरीसेन	१२	०	२५
९. क्षेमसेन	८	११	१५	१०. नारायणसेन	२	२	२९
११. लक्ष्मीसेन	२६	१०	०	१२. दामोदरसेन	११	५	१९

---

३. अशोक	३६ वर्ष	२१६—१७९ वि० पूर्व (२७३—२३६ ईसा पूर्व)	४. कुनाल	८ वर्ष	१७९—१७१ वि० पूर्व (२३६—२२८ ईसा पूर्व)
५. दशरथ	८ वर्ष	१७१—१६३ वि० पूर्व (२२८—२२० ईसा पूर्व)	६. संप्रति	९ वर्ष	१६३—१५४ वि० पूर्व (२२०—२११ ईसा पूर्व)
७. शालिशुक (सोमधर्मा)	८ वर्ष	१५३—१४६ वि० पूर्व (२१०—२०३ ईसा पूर्व)	८. शतधन्वा (शतधर)	८ वर्ष	१४६—१३८ वि० पूर्व (२०३—१९५ ईसा पूर्व)
९. बृहद्रथ	७ वर्ष	१३८—१३१ वि० पूर्व (१९५—१८८ ईसा पूर्व)			

५—शुंगवंश

पटना

१३०—१८ वि० पूर्व (१८७—७५ ईसा पूर्व)

१. पुष्यमित्र	३६ वर्ष	१३०—९४ वि० पूर्व (१८७—१५१ ईसा पूर्व)	२. अग्निमित्र	८ वर्ष
३ सुज्येष्ठा	७ वर्ष		४. वसुमित्र	१० वर्ष
५. अंधकं	२ वर्ष		६. पुलीन्दक	३ वर्ष
७. घोष	३ वर्ष		८. वज्रमित्र	९ वर्ष
९. भागवत	३२ वर्ष		१०. देवभूति	१० वर्ष

पटना

६—काण्ववंश

विक्रम की प्रथम शताब्दी (७५—३० ईसा पूर्व)

१. वासुदेव ९ वर्ष
२. भूमिमित्र १४ वर्ष
३. नारायण १२ वर्ष
४. सुशर्मन् १० वर्ष

पेठण

७—सातवाहन (आंध्र) वंश

विक्रम की प्रथम शताब्दी

१. वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी ५२ वर्ष

८—शकमुरुंड वंश (कनिष्क आदि)

वि० सं० १७६—२८२ (ई० सन् ११९—२२५)

९—भारशिव वंश

वि० सं० २८२ ई० सं० २२५)

१. पद्मावती (ग्वालियर)

१०—वाकाटकवंश

(ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी)

१—प्रवरसेन
२—पृथ्वीषेण
३—रुद्रसेन

पटना

११—गुप्तवंश

१—समुद्रगुप्त वि० सं० ३९७-४३७ (ई० सन् ३४०-३८०)
२—चन्द्रगुप्त (द्वि०) वि० सं० ४५८-४६९ (विक्रमादित्य)

इसके राज्य में मद्य व मांस का प्रचार न था। लोग स्वतन्त्र थे। प्राणदण्ड किसी को नहीं दिया जाता था।

३—कुमारगुप्त वि० सं० ४७२-५१२
४—स्कन्दगुप्त वि० सं० ५१२-५२४
५—कुमारगुप्त (द्वि०) वि० सं० ५३०
६—बुधगुप्त वि० सं० ५३३-५५६
७—भानुगुप्त वि० सं० ५६७ (ई० सन् ५१०)

मन्दसौर (मालवा)

१२—सम्राट् यशोधर्मा

वि० सं० ५८९ (ई० सन् ५३२)

कन्नौज

१३—मौखरी वंश

१—ईश्वरवर्मा वि० सं० ५९७ (ई० सन् ५४०)
२—ईशानवर्मा वि० सं० ६०७—६३३) (ई० सन् ५५०—५७६)
३—सर्ववर्म्म वि० सं० ६३३—६३७ (ई० सन् ५७६—५८०)
४—अवन्तीवर्मा वि० सं० ६३७—६५७ (ई० सन् ५८०—६००)
५—ग्रहवर्म्मा वि० सं० ६६३ (ई० सन् ६०६)
६—राज्यश्री (राणी हर्षवर्धन बैस वि० सं ६६४ ई० सन् ६०७)

यशोवर्म्मा (८ वीं शताब्दी का आरम्भ)

कन्नोज **१४—भण्डीवंश**

१—इन्द्रायुद्ध
२—चैक्रायुद्ध
३—वज्रायुद्ध

कन्नोज **१५—प्रतिहार (पड़िहार) वंश**

१—नागभट्ट वि० सं० ८१३ (ई० सन् ७५६)
२—ककुत्स्थ
३—देवराज
४—वत्सराज वि० सं० ८४०
५—नागभट्ट (द्वि०) वि० सं० ८७२—८९०
६—रामभद्र
७—भोजदेव वि० सं० ९००—९३८ (ई० सन् ८४३—८८१) (आदिवराह)
८—महेन्द्रपाल वि० सं० ९५०—९६४ (ई० सन् ८९३—९०७)
९—महीपाल वि० सं० ९७१ (ई० सन् ९१४)
१०—भोज
११—विनायकपाल वि० सं० ९८८ (ई० सन् ९३१)
१२—महेन्द्रपाल (द्वि०) वि० सं० १००३ (ई० सन् ९४६)
१३—देवपाल वि० सं० १००५ (ई० सन् ९४८)
१४—विजयपाल (राय जैपाल) वि० सं १०१६ (ई० सन् ९६०)
१५—राज्यपाल वि० सं० १०७५ मार्गशीर्ष सुदि १० (हिज्री सन् ४०९ ता० ८ शाबान) को सुल्तान महमूद गजनवी ने कन्नोज पर धावा किया।
१६—त्रिलोचनपाल वि० सं० १०७८—१०८४
१७—यशपाल वि० सं० १०९३ (ई० सन् १०३६)

कन्नोज **१६—गाहड़वाल (गहरवार) वंश**

१—चन्द्रदेव वि० सं० ११४८—११५६ (महीचन्द्रोत) (ई० सन् १०९१—११००)
२—मदनपाल वि० सं० ११५६—११६६
३—गोविन्दचन्द्र वि० सं० ११६६—१२११
४—विजयचन्द्र वि० सं० १२२१—१२२५
५—जयचन्द्र वि० सं० १२२६—१२५०
६—हरिश्चन्द्र जन्म १२३२ भादों वदि ८ (१० अगस्त सन् ११७५) रविवार, गद्दी सं० १२५० (ई० सन् ११९३) इसका अन्तिम दान पत्र वि० सं० १२५३ पौष सुदि १५ (५ जनवरी सन् ११९७) रविवार का मिला है।"

प्राचीन भारतीय इतिहास के शोधक श्री पं० भगवद्दत्त जी कहते हैं कि 'युधिष्ठिर से क्षेमक तक १५०० वर्ष काल बीता था। सुजानराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, टाड और हमारे पत्र के अनुसार इस काल की अवधि १७०० के लगभग है।'''संस्कृतराजावलि के अनुसार महाराज क्षेमक तक कलि के १८१२ वर्ष बीत चुके थे।' (भारतवर्ष का इतिहास पृ० २१६)।

राजा दामोदरसेन ने अपने उमराव को बहुत दुःख दिया, इसलिये राजा के उमराव दीपसिंह ने सेना मिला के राजा के साथ लड़ाई की, उस लड़ाई में राजा को मार कर दीपसिंह आप राज्य करने लगे। पीढ़ी ६, वर्ष १०७, मास ६, दिन २२। इनका विस्तारः—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. दीपसिंह	१७	१	२६	२. राजसिंह	१४	५	०
३. रणसिंह	६	८	११	४. नरसिंह	४५	०	१५
५. हरिसिंह	१३	२	२९	६. जीवनसिंह	८	०	१

इस वंश के निचक्षु 'राजा के काल में हस्तिनापुर राजधानी गङ्गा से बहाई गई। तब निचक्षु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया' (पृ० २५९)। इसके लिए उन्होंने वायुपुराण का एक वचन उद्धृत किया है—"गंगयापहृते तस्मिन् नगरे नागसाह्वये। त्यक्त्वा निचक्षुर्नगरं कौशाम्व्यां स निवत्स्यति" (९९।२७१) अर्थात् गङ्गा द्वारा हस्तिनापुर के बहाये जाने पर राजा. निचक्षु ने कौशाम्बी में वास किया।

युधिष्ठिरवंशी राजाओं के समकालिक अयोध्या के इक्ष्वाकुवंश, मगध के बृहद्रथवंश, मगध के बालकप्रद्योतवंश, शैशुनागवंश, अवन्ति के राजवंश, पांचालवंश, काशेयवंश, हैहयवंश, कालिङ्गवंश, अश्मकवंश, मैथिलवंश, शूरसेनवंश, वीतिहोत्रवंश, नन्दराज्य का वर्णन करने के पश्चात् वे लिखते हैं—'पुराणों के अनुसार परीक्षित के जन्म से महापद्म के अभिषेक तक १५०० वर्ष बीते। १०० वर्ष नन्दों का राज्य रहा। इस प्रकार भारतयुद्ध से नन्दों की समाप्ति तक सम्पूर्ण १६०० वर्ष बीते।' (पृ० २६०)।

इसके पश्चात् मौर्यराज्य के प्रसङ्ग में उसके राजत्वकाल की पाँच गणनायें दी हैं। सबसे न्यून-काल १३३ वर्ष है और अधिक-से-अधिक ३०६ बनता है। इसके पश्चात् पृ० २७४ पर लिखते हैं—'कलियुगराजवृत्तान्त में लिखा है कि पुष्यमित्र ने अतीव वृद्ध बृहद्रथ को मारा...भट्टबाण लिखता है कि सेनापति पुष्यमित्र ने सेनादर्शन के व्याज से बृहद्रथ स्वामी को मार दिया।'

'"शुंग साम्राज्य

१. पुष्यमित्र।
२. अग्निमित्र (पुष्यमित्रसुत)।
३. तज्जयेष्ठ (सुज्येष्ठ)।
४. वसुमित्र।
५. अन्ध्रक (भद्र, अन्तक)।
६. पुलिन्दक।
७. घोषसुत (घोष)।
८. विक्रमित्र (वज्रमित्र)।
९. भागवत।
१०. क्षेमभूमि (देवभूति=देवभूमि)"

इन राजाओं का राज्यकाल १०० से १४२ वर्ष पुराणानुसार दिखाकर, पुनः इसे सन्दिग्ध बताकर पृष्ठ २७६ पर लिखते हैं—'नारायण शास्त्री ने मत्स्य और कलियुगराजवत्तान्त से प्रत्येक शुङ्गराजा का जो राज्यकाल दिया है, उसका योग ३०० वर्ष ही बनता है।'

अन्तिम राजा क्षेमभूति वा देवभूति अपने अमात्य वसुदेव के हाथों मारा गया। इसके पश्चात् वसुमित्र के वंश (शुङ्गभृत्य अथवा काण्व साम्राज्य) के १. वसुदेव, २. भूमिमित्र, ३. नारायण और ४. सुशर्मा के राजत्वकाल ४५ अथवा ८५ वर्ष का निर्देश है। 'सुशर्मा अन्तिम काण्व राजा था। यह अपने भृत्य आन्ध्रजातीय सिमुक से मारा गया' (पृष्ठ २८४)। इस सिमुक ने आन्ध्रवंश चलाया, जिसमें विभिन्न पुराणों के अनुसार न्यून से न्यून १७ राजा और अधिक-से-अधिक तीस हुए। इस वंश का राज्य ४६० वर्ष रहा। इनके नाम तथा राज्यकाल इस प्रकार हैं—

१. सिमुक शिशुक)	२३ वर्ष	२. कृष्ण	१८ वर्ष
३. श्रीमल्लिकर्णि (श्रीमल्लिशातकर्णि)	१० वर्ष	४. पूर्णोत्सङ्ग	८ वर्ष
५. स्कन्धस्तम्भी	१८ वर्ष	६. शातकर्णि	५६ वर्ष
७. लम्बोदर	१८ वर्ष	८. आपीलक	१२ वर्ष
९. मेघस्वाति	१८ वर्ष	१०. स्वाति	१८ वर्ष
११. स्कन्दस्वाति	७ वर्ष	१२. मृगेन्द्रस्वातिकर्ण	३ वर्ष
१३. कुन्तलस्वातिकर्ण	८ वर्ष	१४. स्वातिकर्ण	१ वर्ष
१५. पुलोमावि	३६ वर्ष	१६. अरिष्टकर्ण	१६ वर्ष
१७. हाल=हालेय	५ वर्ष	१८. मन्तलक=पतलक	५ वर्ष
१९. पुरीन्द्रसेन=पुरिकषेण	२१ वा १२ वर्ष	२०. सुन्दरशातकर्णि	१ वर्ष
२१. चकोरशातकर्णि	६ मास	२२. शिवस्वाति	२८ वर्ष
२३. गौतमीपुत्र	२१ वर्ष	२४. पुलोमावि	२८ वर्ष
२५. शिवश्रीपुलोमाशातकर्णि	७ वर्ष	२६. शिवस्कन्धशातकर्णि	३ वर्ष
२७. यज्ञश्रीशातकर्णि	२९ वा १९ वर्ष	२८. विजय=विजयश्रीशातकर्णि	६ वर्ष
२९. चण्डश्रीशातकर्णि	३ वर्ष	३०. पुलोमावि (द्वि०)	७ वर्ष

पुराणों में अनेक स्थानों पर आता है कि यहाँ सुप्रसिद्ध अथवा प्रधान राजाओं के नाम दिये गए हैं। पं० भगवद्दत्त जी इसका भाव यह लेते हैं कि जिन राजाओं ने कुछ मास राज्य किया, उनके नामों का उल्लेख पुराणों में नहीं हुआ। ऊपर उद्धृत नामावलि में २१वें चकोर का राज्यकाल केवल ६ मास लिखा है। इससे पण्डित जी की स्थापना विस्थापित हो जाती है। हमारा विचार है कि पुराणों में दिये गए नाम उन राजाओं के हैं, जिन्होंने कि कोई विशेष कार्य अपने राज्यकाल में किये। अस्तु।

इसके पश्चात् अन्तिम आन्ध्रों के समकालीन निम्नलिखित राजवंशों का उल्लेख है।

वंशनाम	राजसंख्या	राज्यकाल	वंशनाम	राजसंख्या	राज्यकाल
१. आन्ध्रभृत्य (श्रीपार्वतीय)	७	५२(३००)	२. आभीर	१०	६७ वर्ष
३. गर्दभिल वा गर्दभिन	७	७२ वर्ष	४. शक	१८	३८० वर्ष
५ यवन	८	८७ (८२) वर्ष	६. तुषार	१४	७००० (५००) वर्ष
७. मुरुण्ड	१३	२०० वर्ष	८. हूण=म्लेच्छ	११	३०० वर्ष

इन वंशों का विभिन्न स्थानों पर राज्य रहा। इनमें प्रथम आन्ध्रभृत्य=श्रीपार्वतीय वंश को गुप्त वंश मानकर कलिराजवृत्तान्त के आधार पर इनका राज्यकाल इस भाँति दिया है—

१ चन्द्रगुप्त	७ वर्ष	२ समुद्रगुप्त	५१ वर्ष
३. चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य)	३६ वर्ष	४. कुमारगुप्त (महेन्द्रादित्य)	४० वर्ष
५. स्कन्दगुप्त (विक्रमादित्य)	२५ वर्ष	६. नृसिहगुप्त (बालादित्य)	४० वर्ष
७. कुमारगुप्त (विक्रमादित्य)	४४ वर्ष		

पूर्णयोग २४५ वर्ष (पृष्ठ ३५७)

गुप्त साम्राज्य के वर्णनप्रसङ्गों में ३५३ पृष्ठ पर पण्डित जी लिखते हैं—'कर्नल विल्फ़ोर्ड द्वारा प्रकाशित और सत्यार्थप्रकाशस्थ वंशावलि में समुद्रगुप्त का उल्लेख समुद्रपाल नाम से है। वहाँ समुद्रगुप्त उत्तरवर्त्तीय कई गुप्तराजाओं का भी उल्लेख है।

राजा जीवनसिंह ने कुछ कारण के लिये अपनी सब सेना उत्तर दिशा को भेज दी, यह खबर पृथिवीराज चौहाण वैराट के राजा सुनकर जीवनसिंह के ऊपर चढ़ाई करके आये और लड़ाई में जीवनसिंह को मार कर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया[1]। पीढ़ी ५, वर्ष ८६, मास ०, दिन २०। इनका विस्तार :—

आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१. पृथ्वीराज	१२	२	१९	२. अभयपाल	१४	५	१७
३. दुर्जनपाल	११	४	१४	४. उदयपाल	११	७	३
५ यशपाल	३६	४	२७				

'गुप्त' और 'पाल' शब्द पर्यायवाची हैं, अतः हमारा विचार है कि किसी ने 'गुप्त' के स्थान में 'पाल' लिख दिया और पश्चाद्वर्त्ती लेखकों ने 'पाल' शब्द का ही प्रयोग चालू रखा।

पण्डित जी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' के ३१४ पृष्ठ पर आन्ध्रभृत्य=श्री पार्वतीय, जिसे वे गप्त वंश मानते हैं, का राज्यकाल मत्स्य के अनुसार '५२ वर्ष ?' लिखा है और वायु के अनुसार २४३ वर्ष लिखा है, किन्तु अन्तिम पृष्ठ पर २४३ वर्ष दिखाये हैं।

हमने राजवंशावलियों के सम्बन्ध में दो आधुनिक मत यहाँ दिये हैं। इन दोनों मतों में पर्याप्त मतभेद है। अतः स्वामी दयानन्द की दी वंशावली को अशुद्ध कहना नितान्त साहसमात्र है। दोनों मतों में से किसी ने भी यह साहस नहीं किया कि उनका लेख अन्तिम है। दोनों अभी खोज की आवश्यकता को मानते हैं। चाहे जो भी हो, यह मानना ही पड़ता है कि इस समय में स्वा० दयानन्द सरस्वती पहले महामानव हैं, जिन्होंने भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से अनुशीलन करने का उपक्रम किया। उनके समय रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर आदि इतिहासान्वेषक यूरोपीयों के अन्धानुगामी थे, उनमें मौलिकता नाममात्र को भी न थी। दुर्भाग्य की बात है कि भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी जो इतिहास ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, उनमें भी वही दासवृत्ति कार्य कर रही है। शारीरिक दासता की अपेक्षा मानसिक बौद्धिक दासत्व अधिक भयंकर होता है। स्वामीजी ने इस दासत्व से छूटने का मार्ग दिखाया है, यह इनकी मौलिकता तथा बहुत बड़ी देन है।

श्रीगहलोत जी तथा पाश्चात्य पद्धति के इतिहासगवेषक गुप्तवंश का राज्य ईसा की तीसरी चौथी शती में मानते हैं। पण्डित भगवद्दत्त जी उसकी सत्ता का आरम्भ विक्रम से पूर्व मानते हैं। इसी प्रकार बुद्ध के काल के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में महान् भेद है। हमारे ऐसे इतिहासानभिज्ञ साधारणमति जन को किसी के विरुद्ध कहने का अधिकार नहीं किन्तु झुकाव हमारा पाश्चात्य के विरोध में है, क्योंकि भारतीय इतिहास लिखते समय उनका हृदय पक्षपात से कलुषित था। इसका एक उदाहरण यहाँ देना अप्रासङ्गिक न होगा। यवनराज सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त में भयंकर युद्ध हुआ। ये पाश्चात्य लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त हार गया। और उस हार का दण्ड उसे मिला यमुना से लेकर अफगानिस्तान की परली सीमा तक का यवनाधिकृतमहाप्रदेश तथा सेल्यूकस की कन्या। क्या जिसके मस्तिष्क में बुद्धि अणमात्र भी है, इस पर विश्वास कर सकेगा ? सीधी सी बात है कि सेल्यूकस बुरी तरह पराजित हुआ, उसने

१. इसके आगे और इतिहासों में इस प्रकार है कि महाराज पृथ्वीराज के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी चढ़कर आया और कई बार हारकर लौट गया, अन्त में संवत् १२४९ में आपस की फूट के कारण महाराज पृथ्वीराज को जीत अन्धा कर अपने देश को ले गया, पश्चात् दिल्ली (इन्द्रप्रस्थ) का राज्य आप करने लगा, मुसलमानों का राज्य पीढ़ी ४५ वर्ष ६१३ रहा।

राजा यशपाल के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी गढ़ गज़नी से चढ़ाई करके आया और राजा यशपाल को प्रयाग के किले में संवत् १२४९ साल में पकड़कर कैद किया पश्चात् इन्द्रप्रस्थ अर्थात् दिल्ली का राज्य आप (सुलतान शहाबुद्दीन) करने लगा। पीढ़ी ५३, वर्ष ७४५, मास १, दिन १७। इनका विस्तार वहुत इतिहास पुस्तकों में लिखा है, इसलिये यहाँ नहीं लिखा।

इसके आगे वौद्धजैनमत विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्द-सरस्वती-स्वामि-निर्मिते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित आर्य्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डनविषय
एकादशः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥११॥

देशविसर्जन तथा कन्यादान करके प्राणरक्षा की। जो अपने गौरव का मिथ्या बखान करने के लिए इतना अनर्गल झूठ लिख सकते हैं, उन पर विश्वास करना मंगलकारी नहीं हो सकता।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कलि संवत् का आरम्भ महाराजा युधिष्ठिर के राज्य के अन्त में श्रीकृष्ण के स्वर्गवास के पश्चात् हुआ था। विक्रम संवत् कलि संवत् ३०४४ के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। ये दोनों बातें भारतीय कालगणना के अनुसार सर्वसम्मत हैं। कलि संवत् ३०४४ में वि० संवत् १२४९ जोड़ने पर ४२९३ वर्ष बनते हैं। पूर्व उल्लिखित १२४ राजाओं का राज्यकाल ४१५७ वर्ष ९ मास १४ दिन लिखा है। यह जोड़ आगे लिखे वर्षों के अनुसार है। ४१५७ वर्ष ९ मास १४ दिन में से महाराजा युधिष्ठिर का राज्यकाल ३६ वर्ष ८ मास २५ दिन कम करने पर ४१२१ वर्ष १९ दिन का काल शेष रहता है। विक्रम संवत् १२४९ तक कलि संवत् ४२९३ होता है। इस प्रकार उक्त वंशावली के अनुसार मास और दिनों की उपेक्षा करने पर स्थलरूप से १७२ वर्ष का अन्तर आता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस वंशावली में कई स्थानों पर संशोधन अपेक्षित है। यह कार्य अन्य वंशावलियों के प्राप्त होने पर ही सम्भव है।--यु० मी०

यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थलिखक कोई इतिहास के पण्डित नहीं थे। इस विषय में उनका लेख अन्यथा हो सकता है। यह कोई ऐसी सैद्धान्तिक वात भी नहीं है, जिसे मानने न मानने से किसी आवश्यक सिद्धान्त का व्याघात होता हो। हम यह नहीं कहते कि ग्रन्थकार इतिहास के पण्डित थे या नहीं, पर इस विषय में उनकी सुरुचि के विषय में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। इतिहास के ज्ञान को वे कितना महत्त्व देते थे, यह उनके पूना में दिये गये इतिहासविषयक व्याख्यानों से स्पष्ट है। ग्रन्थकार ने वंशावली के प्रारम्भ में उन आधारों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जहाँ से इसकी प्रतिलिपि ली गई थी। नाथद्वारा उदयपुर राज्य में एक छोटा-सा नगर है, जहाँ वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मन्दिर है। ग्रन्थकार के अनुसार यहाँ दी गई वंशावली का आधार 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' तथा 'मोहनचन्द्रिका' नामक पाक्षिक पत्र है, जो उस समय नाथद्वारा से प्रकाशित होते थे। यह वंशावली विक्रम संवत् १९३९ के मार्गशीर्ष के अंकों में छपी थी। उस पत्र के सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक, जो संवत् १७८२ की लिखी हुई थी, लेकर उसके आधार पर लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार द्वारा यहाँ दी गई राजवंशावली का आधार उदयपुर राज्य से प्राप्त कोई हस्तलेख है। इतना निश्चित है कि यह कोरी कल्पना नहीं है।

□□

परिशिष्ट

ग्रन्थकार की मृत्यु के पश्चाद्वर्त्ती मत-मतान्तरों का विवरण

राधास्वामी मत—राधास्वामी मत के आदिप्रवर्त्तक श्री शिवदयालसिंहजी का जन्म सन् १८१८ में हुआ था और मत्यु १८७८ में। दूसरे गुरु सालिग्रामजी थे, जो हजूर साहब के नाम से जाने जाते थे। लोगों को बहकाने के लिए वे राधा शब्द के तरह-तरह से अर्थ निकालते हैं। पर सत्य यही है कि राधा श्री शिवदयालसिंह जी की पत्नी का ही नाम था। 'जीवनचरित्र स्वामीजी महाराज' में स्पष्ट लिखा है—

"बाद हु जब महाराज की शादी हो गई और राधाजी महाराज आगरे में आईं तो उनको भी स्वामीजी महाराज ऊँचे दर्जे के परमारथ की समभौती दिया करते थे।" (पृ० ११)।

जीवनचरित स्वामीजी महाराज वचन १४ में लिखा है—

"मेरा मत तो सत्तनाम और अनामी का था। राधास्वामी मत सालिग्राम हजूर महाराज साहब का चलाया हुआ है, इसको भी चलने देना।"

राधा और स्वामी दोनों शब्दों को मिलाकर राधास्वामी मत सालिग्रामजी का चलाया हुआ है। राधास्वामी मत के मान्य ग्रन्थ ये हैं—

सारवचन २ भाग, सारवचन बार्त्तिक, प्रेमवाणी ४ भाग, प्रेमपत्र ६ भाग, निज उपदेश, प्रेम उपदेश, सार उपदेश, जुगत प्रकाश, प्रश्नोत्तर सन्त मत।

वेदादि शास्त्रों की निन्दा—

वेदशास्त्र और स्मृति पुराना। पढ़ना इनका विरथा जाना॥

—सारवचन ८।१७।१२

षट्शास्त्र और स्मृति पुराना। लीक पीटें छाड़ें नहीं मन को॥

—सारवचन १६।६।६

षट्शास्त्र और चारों वेदा। यह सन्तन ने किये निषेधा॥

—सारवचन २४।१।६५

"सतजुग, त्रेता और द्वापर में इन शास्त्रों की पोल नहीं खुली, क्योंकि तब सन्त प्रकट नहीं हुए थे।" —सारवचन बार्त्तिक भाग दो, वचन १८१

"सन्तों के वचनों को जो वेद से मिलाते हैं, वह बड़े नादान हैं।" —सारवार्त्तिक वही १४८

वेद की निन्दा की है, वेद को बिना जाने, जैसाकि निम्न वचन से स्पष्ट है—

"वेद में अस्सी हजार कर्मकाण्ड के श्लोक हैं, यह प्रवृत्ति है और सोलह हजार उपासनाकाण्ड के और सिर्फ चार हजार निवृत्ति यानी ज्ञानकाण्ड के श्लोक हैं।"

—सारवचन बार्त्तिक भाग १, धारा ६८

राधास्वामियों को यह पता नहीं कि वेद में श्लोक नहीं, मन्त्र हैं और चारों वेदों में उनकी कुल संख्या लगभग बीस हजार है, ८०+१६+४= एक लाख नहीं। इससे स्पष्ट है कि पढ़ना तो दूर, शिवदयालसिंहजी ने वेदों को देखा तक नहीं था।

महापुरुषों की निन्दा—

"ब्रह्मा आदि जितने देवता हैं और राम, कृष्ण आदि जितने अवतार हुए हैं, इन सबका दर्जा सन्तों से नीचे है और सन्तों का दर्जा सबसे ऊँचा है। ये सब नौकर हैं और सन्त बादशाह हैं।"

—सारवचन वार्त्तिक भाग २, वचन ३४

यह तो अपने मुंह मिया मिट्ठू बननेवाली बात है। सच तो यह है कि शिवदयालसिंह तो ब्रह्मा और राम-कृष्ण आदि के नौकर बनने योग्य भी नहीं थे।

"ब्रह्मा को जब कबीर साहब ने समझाया तो उसको शोक हुआ कि सत्त पुरुष की खोज करूँ। पर काल ने बहका दिया।" —वही

अपने से लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व उत्पन्न ब्रह्मा को आज से ५०० वर्ष पूर्व पैदा होनेवाले कबीर कैसे समझा सकते थे ? इतना भी शिवदयालसिंह न सोच सके।

"शेष महेश रहे सब नीचे। ब्रह्म और पारब्रह्म रहे बीचे"—सारवचन ३८।४।१६

राधास्वामियों को इतिहास का ज्ञान नहीं तो पूर्व-पर के अन्तर को कैसे समझेंगे।

एक ओर तो राधास्वामी अपने मत में आने की सबको दावत देते हैं, दूसरी ओर हिन्दुओं और मुसलमानों को काफ़िर बताते हैं—

राम और रागनी मैंने सुने अन्तर जाकर।
मेरे नजदीक हुए हिन्दू मुसलमाँ काफ़र ॥ —सारवचन २१।१।८

राम-कृष्ण आदि की निन्दा—

राधास्वामी कहत बुझाई। त्यागो कृष्ण लबार।
यही हाल तुम राम विचारो। दोनों हैं इक तार ॥ —वही, २२।६।१७

राधा के स्वामी (शिवदयालसिंह) ने यह तो बता दिया कि राम और कृष्ण दोनों झूठे थे। पर उनके झूठ का एक भी नमूना न दिखा सके। उलटा अपना लबार होना सिद्ध कर दिया।

बिना सन्त हाथ नहिं आया। ऋषि मुनि सब धोखा खाया ॥
क्या वसिष्ठ क्या व्यास भुलाया। क्या शेष महेश भ्रमाया ॥
पारासर जोगी नारद। शृङ्गी ऋषि गोता खाया ॥
हम कहें कौन समझाई। परतीत न कोई लाया ॥

—सारवचन छन्द २२।४

सतजुग त्रेता द्वापर बीता। काहू न जानि शबद की रीता ॥
कलजुग में स्वामि दया विचारी। प्रगट भये और शब्द उचारी ॥ —वही ७।१।४, ५

'जुगतप्रकाश' राधास्वामियों की योग की पुस्तक है। किन्तु ईश्वर को किस नाम से स्मरण किया जाये, इसका कहीं उल्लेख नहीं है। नाम देते समय ध्यान के लिए पाँच नाम बताते हैं—ज्योति-निरंजन, ओंकार, रोरंकार, सोऽहं और सत्तनाम। इन नामों को लिखने नहीं दिया जाता, वहीं याद करा दिया जाता है।

घोर पक्षपात—

जो गुनहगार भी हैं और सतगुरु को पकड़ लिया है तो वह माफ़ हो जावेंगे और जो बेगुनाह हैं और सतगुरु को नहीं पकड़ा है तो वह बढ़के गुनहगारों में गिने जावेंगे।"

—सारवचन वार्तिक भाग २ धारा २०४

यह तो मुसलमानों और ईसाइयोंवाली बात हो गई कि जो मोहम्मद साहब और ईसामसीह पर ईमान लायेंगे, वे क्षमा कर दिए जावेंगे और शेष सबको नरक में डाला जायेगा। या मौलाना मुहम्मद अलीवाली बात हुई, जिनके कथनानुसार नीच-से-नीच मुसलमान भी महात्मा गांधी से अच्छा है।

विद्या के शत्रु—

सब विद्या और करमा धरमा। दूर बहाओ ये सब भरमा॥

—सार० २०।१।१३६

बुधि विद्या दोनों हारे। सन्त मते पर सिर धुन मारे॥

—सार० २०।१।१४५

विद्यावान् रहे सब मूरख। अन्तरो भेद न जानें कुछ॥

—सार० ३१।३।१५

हे विद्या तू बड़ी अविद्या। सन्तन की तैं क़दर न जानी।
विद्या पढ़-पढ़ बहुत पचे हैं। प्रेम बिना कुछ हाथ न आनी।
ताते विद्या सभी भुलाओ। सन्त सरन पकड़ो अब आनी।
सन्त न विद्या पढ़ते कोई। उनके अनुभव समुंद समानी॥ —सार० २४।३

विद्यावान् को मूर्ख कहनेवाले से बढ़कर मूर्ख कौन होगा? कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति राधास्वामी नहीं हो सकता। और राधास्वामियों के बच्चे स्कूल नहीं जा सकते।

गपोड़े—

"हजूर महाराज साहब (सालिग्रामजी) अठारह महीने बाद माताजी महारानी के गर्भ से निकले।"

—जीवन चरित्र धारा २

यह गपोड़ा केवल गुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिए गढ़ा गया है। आयुर्वेद में ऐसे गर्भ को मूढ़ गर्भ कहते हैं। क्या सालिग्रामजी ऐसे ही थे।

मेरी लाग लगे गुरु चरनन। नख सोभा क्या करूँ बरनन।
कोटिन रवि चन्द्र लजाई। उस नख की गति नहिं पाई॥

—सारवचन ८।१६।१२, १३

नाखून तो बढ़-बढ़कर कटते रहते हैं। यदि एक-एक टुकड़ा भी बड़े-बड़े शहरों में रख दिया जाये तो बिजली की आवश्यकता न पड़े।

पारिवारिक जीवन का विघटन—

गुरु सम और नहीं को रक्षक। कुल कुटुम्ब सब जानो तक्षक॥
ताते गुरु को कभी न छोड़ो। कनक कामिनी से मन मोड़ो॥

—सारवचन १८।४।१४,१५

मात-पिता डर छोड़ गँवाओ, जोरू लड़के मत डर इनसे।
भाई-भतीजों का डर मत कर, सास-ससुर डर मन से छोड़ो।
नातेदार कुटुम्बी जितने, ये बिगाड़ कुछ करें न तेरा।
इनका डर तज कर भक्ति, क्यों झिझके तू कर भक्ति।

ये बसे बसाये घरों को तोड़ने और पारिवारिक झगड़े बढ़ाना नहीं तो और क्या है? धर्म का काम सबको जोड़ना है, तोड़ना नहीं।

नारी निन्दा—जग बिच्छू तिरिया है नागन।

नारी धर्म—

बिन गुरु कोई और न मानूँ। बिन नाम ठौर नहिं जानूँ। —सार० ८।३।६
गुरु तो मेरे प्राण अधारा। गुरु ही मेरा करें उधारा॥ —सार० ८।३।६
करम धरम से दूर फटकना। सतगुरु चरनन माँहि लिपटना॥ —सार० ३५।१०
फूँक दिया घर लाज शरम का। काटा फन्दा नेम धरम का॥—सार० ३७।१६

न उन्हें कुल की लाज की चिन्ता है और न संसार की बदनामी की। सब स्त्रियाँ राधास्वामी बन जायें तो घर नरक बन जाय।

गुरुडम की पराकाष्ठा—

गुरु को तुम मानुष मत जानो। वे हैं सत्त पुरुष की जान॥—सार० १८।१२।३
गुरु बिन और न पूजो कोई। —सार० १६।१।१७
गुरु की कर तू हरदम पूजा। गुरु समान कोई देव न दूजा॥ —सार० १८।२।१

गुरुसेवा का निकृष्टतम रूप—स्त्रियों द्वारा—

चरन दबावे पंखा फेरे। चक्की पीसे पानी भरे॥
हाथ धुला दातन करवावे। काट पेड़ मे दातन लावे॥
बटना मल असनान करावे। अंग पोंछ धोती पहनावे॥
धोती धोय अंगोछा धोवे। कंघा करे बाल वल खोवे॥
जल अचवावे हुक्का भरे। पलंग बिछावे बिनती करे॥
पीकदान ले पीक करावे। फिर सब पीक आप पी जावे॥
नानाविधि की सेवा करे। ऊँच नीच जो जो आ पड़े॥
कोई टहल में आर न लावे। जो गुरु कहें सो कर कमावे॥

—सारवचन छन्द १२।१

पराई स्त्रियों से चरण दबवाना, उबटना लगवाना, स्नान करवाकर धोती पहनवाना, गुरु के मुख से निकली पीक पीना इत्यादि कितने निर्लज्जता व घृणा के कर्म हैं। यहीं तक बस नहीं है—

कुल्ली दई स्वामी कुल मेरा उधरा। जन्म सुफल और तन-मन सुधरा॥
सीत प्रसाद सभी मिल लीन्हा। जनम-जनम के पातक छीना॥—सार० ४१।१
ग्रोस दिया परसादी का जब ही। घट के परदे खुल गये तब ही॥

—सार० ४१।३।५

इससे भी भयंकर स्थिति आती है जब—

राधास्वामी जिस पर मेहर करें री। राधास्वामी उसको पकड़ धरें री॥ —३।५।१२

दुलहन करो पिया का संग, तू बसे नई हर रंग॥
गुरु के साथ चलो उस नगरी। चढ़े प्रेम का रंग॥
जीवन तेरा उतर जायेगा। फिर तू होगी तंग॥३।२०।२५
कैसे करूँ कसक उठि भारी। मेरी लागी गुरु संग यारी॥२७।३।१
वह तो ताड़ मार फटकारें। मैं चरनन पर सीस चढ़ाऊँ॥२७।२।३

मैं सत गुरु पै डालूँगी, तन मन को बार। मैं चरनन पै कुरबान हूँ बार बार॥

—निज उपदेश भाग ८

परस्त्रियों को गोद में बिठाना—

मैं प्यारी प्यारे राधास्वामी की। गुरु ने लीन्हा गोद बिठार॥३।१।६३

राधास्वामी लीला कहूँ छुपाय। लिया मोहे अपने अंग लगाय॥६।१०।११

लीन्हा मोहि भुजा पसारी। दीन्हि मोहि भक्ति करारी॥८।३।४

सत गुरु मोहि अंग लगाया।

किया राधा स्वामी मुझसे प्यार हुई मैं उन पर बलिहार॥३०।६।१३

मेरी धड़के छिन-छिन छाती। विरह अगिन मोहि नित्त जलाती।

मिले फिर राधास्वामी यार॥३३।१२, ३४।६

व्यास (जिला अमृतसर) की शाखा—अमृतसर जिले के डेरा बाबा जयमल सिंह (अब व्यास नाम से प्रसिद्ध) की राधास्वामी सम्प्रदाय की गद्दी मूलतः शिवदयालसिंह द्वारा आगरा में स्थापित राधास्वामी मत की ही शाखा है। इसके प्रथम गुरु बाबा सावनसिंह से हमारी (भाष्यकार की) भेंट पहली बार सन् १९३८ में हिमाचल प्रदेश में हुई थी। बाबा सावनसिंह के बाद सरदार चरणसिंह गद्दी पर बैठे। वर्त्तमान गुरु सरदार गुरदयालसिंह ढिल्लों जून १९९० में इस सम्प्रदाय के आचार्य हुए। व्यास की इस गद्दी के लाखों अनुयायी देश-विदेश में फैले हैं। पूर्ण अनुशासित रूप में इस मत के अनुयायी अपने गुरु का उपदेश सुनने के लिए लाखों की संख्या में उपस्थित होते हैं। व्यास में और अन्यत्र भी ये लोकोपकारक कार्यों तथा समाज सुधार की गतिविधियों में प्रवृत्त होते हैं। वाद-विवाद से परे रहकर अपने उपदेशों में वे प्रायः नैतिक मान्यताओं पर बल देते हैं। वेदादि शास्त्रों की चर्चा नहीं करते। इस सम्प्रदाय की एक विशेषता यह है कि इसके विभिन्न अनुयायियों में माँस-मदिरा का सेवन करनेवाले प्रायः नहीं मिलेंगे।

ब्रह्माकुमारी मत—दादा लेखराज के नाम से कुख्यात खूबचन्द कृपलानी नामक एक अवकाश प्राप्त व्यक्ति ने अपनी कामवासनाओं की तृप्ति के लिए सिन्ध में ओम् मण्डली नाम से एक संस्था की स्थापना की थी। सबसे पहले उसने कलकत्ता से मायादेवी नामक एक विधवा का अपहरण किया। उसी के माध्यम से उसने अन्य अनेक लड़कियों को अपने जाल में फँसाया। इलाहाबाद के एक साप्ताहिक के द्वारा पोल खुलने पर सन् १९३७ में लाहौर में श्री रफ़ीखाँ पी० सी० एस० की अदालत में मुकदमा चला। मायादेवी ने अपने बयान में बताया कि "गुरुजी ने हमसे कहा कि तुम जनता में जाकर कहो कि मैं गोपी हूँ और ये भगवान् कृष्ण हैं। मैं बड़ी पापिन हूँ। मैंने कितनी कँवारी लड़कियों को गुमराह

किया है। कितनी ही बहनों को उनके पतियों से दूर किया है'''।" (आर्य जगत् जालन्धर २३ जुलाई, १९९१)। कलियुगी कृष्ण ने अदालत में क्षमा माँगी और भाग निकला। १३ अगस्त, १९४० में उसने बिहार में डेरा डाल दिया। चेले-चेलियाँ आने लगे। एक दिन एक बूढ़े हरिजन की युवा पत्नी धनिया को लेकर भाग खड़े हुए। फिर मुकदमा चला। धनिया ने अपने बयान में कहा—"इस गुरु महाराज ने हमें कहा था कि मैं आपका पति हूँ। ब्रह्माजी ने मुझे आपके लिए भेजा है।" इसी प्रकार नाना प्रकार के अनैतिक कर्म करते हुए दादा लेखराज हैदराबाद (सिन्ध) में जम गये और देवियों को गोपियाँ बनाकर रासलीलाएँ रचाने लगे। रासलीलाओं की ओट में होनेवाले व्यभिचार का पता जब प्रसिद्ध विद्वान्, ओजस्वी वक्ता और समाजसेवी साधु टी० एल० वास्वानी को चला तो वे उसके विरुद्ध मैदान में कूद पड़े। इससे सामान्यत: देशभर में और विशेषत: सिन्ध में तहलका मच गया। ओम् मण्डली के काले कारनामे खुलकर सामने आने लगे। यहाँ पर भी मुकदमा चला। पटना के 'योगी' पत्र से उद्धृत 'सरस्वती' (भाग ३९, संख्या खण्ड ६१, मई १९३८) का यह विवरण द्रष्टव्य है—"ओम् मण्डली पर पिकेटिंग शुरू हो गई है। सी० पी० सी० की धारा १०७ के अनुसार सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में पिकेटिंग करनेवालों के साथ ओम् मण्डली के संस्थापक और चार अन्य सदस्यों पर मुकदमा चल रहा है।" दादा लेखराज को कारावास का दण्ड मिला।

भारत विभाजन के बाद से ब्रह्माकुमारी मत का मुख्यालय आबू पर्वत पर है। जनवरी १९६९ में दादा लेखराज की मृत्यु के बाद से दादी के नाम से चर्चित प्रकाशमणि इस सम्प्रदाय की प्रमुख हैं। वर्त्तमान में इस संस्था या सम्प्रदाय की लगभग २००० शाखाएँ संसार के ६४ देशों में स्थापित हैं। मैट्रिक तक पढ़ी प्रकाशमणि आबू से विश्व भर में फैले अपने धर्मसाम्राज्य का संचालन करती हैं। समस्त साधक या साधिकाएँ, प्रचारक एवं प्रचारिकाएँ ब्रह्मकुमार और ब्रह्मकुमारी कहाती हैं। प्रचारिकाएँ प्राय: कुमारी होती हैं। विवाहित स्त्रियाँ अपने पतियों को छोड़कर या छोड़ी जाकर इस सम्प्रदाय में साधिकाएँ बन सकती हैं। ये भी ब्रह्मकुमारी ही कहाती हैं। पुरुष, चाहे विवाहित हों अथवा अविवाहित, ब्रह्मकुमार ही कहाते हैं। ब्रह्माकुमारियों के वस्त्र श्वेत रेशम के होते हैं। आँखों में बहुत अधिक मात्रा में काजल लगाती हैं। प्रचारिकाएँ एक विशेष प्रकार का सुर्मा लगाती हैं, जो इनकी सम्मोहन शक्ति को बढ़ाने में सहायक होता है। सात दिन की साधना में ही वे साधकों को ब्रह्म का साक्षात्कार कराने का दावा करती हैं।

अनुभवी लोगों के अनुसार 'तप्तांगारसमा नारी घतकुम्भसम: पुमान्' स्त्री जलते हुए अंगारे के समान और पुरुष घी के घड़े के समान है। दोनों को पास-पास रखना खतरे से खाली नहीं है। गीता में लिखा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥

अर्थात्—यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनमानी की ओर खींच ले जाती हैं। भर्तृहरि ने कहा है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गता:।
अन्नं घृतदधिपयोयुतं भुञ्जन्ति ये मानवा:।
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥

अर्थात्--विश्वामित्र, पराशर आदि महर्षि जो पत्तों, वायु और जल का ही सेवन करते थे, वे भी स्त्री के सुन्दर मुखकमल को देखते ही मुग्ध हो गये थे। फिर घी, दूध, दही आदि से युक्त अन्न खाने वाले मनुष्य यदि इन्द्रियों को वश में कर लें तो विन्ध्यपर्वत समुद्र में तैरने लगे।

इसलिए भगवान् मनु ने एकान्त कमरे में भाई-बहन के भी सोने का निषेध किया है।

वस्तुतः ब्रह्मकुमारों और ब्रह्मकुमारियों का समागम मध्यकालीन वाममार्गियों के भैरवी चक्र जैसा हा प्रतीत होता है। दादा लेखराज तो ब्रह्माकुमारियों के साथ आलिंगन करते, मुख चूमते तथा उनका अधरामृतपान करते थे। भक्तों का कहना है कि ब्रह्माकुमारियाँ तो उनकी पुत्रियों के समान हैं और दादा उनके पिता के समान। जैसे बच्चे उचककर पिता की गोद में जा बैठते हैं, वैसे ही ब्रह्माकुमारियाँ दादा लेखराज की गोद में जा बैठती थीं और वे उन्हें पिता के समान प्यार करते थे--

बिठाकर गोद में हमको बनाकर वत्स सेते हैं, जरा सी बात है।
बनाने को हमें सच्चा समर्पण माँग लेते हैं।
हमें स्वीकार कर वे वस्तुतः सम्मान देते हैं।
लोकलाज कुल मर्यादा का, डुबा चलें हम कूल किनारा।
हमको क्या फिर और चाहिए, अगर पा सकें प्यार तुम्हारा॥

—भगवान् आया है, पृष्ठ ५०, ५१, ६६

इनके धर्मग्रन्थ 'सच्ची गीता' पृष्ठ ६६ पर लिखा है—

"बड़ों में भी सबसे बड़ा कौन है, जो सर्वोत्तम ज्ञान का सागर और त्रिकालदर्शी कहा जाता है। मेरे गुण सर्वोत्तम माने जाते हैं। इसीलिए मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।"

पुरुषोत्तम शब्द की दो निरुक्तियाँ होती हैं—एक है 'पुरुषेषु उत्तमः इति पुरुषोत्तमः'। जो व्यक्ति पर स्त्रियों के साथ रमण करता है, उन्हें अपनी गोद में बिठाता है और उनके अधरामृत का पान करता है, उसे इन अर्थों में तो पुरुषोत्तम नहीं कहा जा सकता। दूसरी निरुक्ति 'पुरुषेषु ऊतस्तेषु उत्तम इति पुरुषोत्तमः' के अनुसार दादा लेखराज को पुरुषोत्तम मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आश्चर्य की बात है कि अपनी सभाओं और सम्मेलनों में देश-परदेश के राजनेताओं, शासकों, न्यायाधीशों, पत्रकारों, शिक्षाशास्त्रियों तक को आमन्त्रित करनेवाली ब्रह्मकुमारी संस्था के मूल सिद्धान्तों, दार्शनिक मान्यताओं तथा कार्यकलापों को ये अभ्यागत लोग नहीं जानते। हो सकता है, वे ब्रह्माकुमारियों की आँखों में पड़े जादुई सुरमे के प्रभाव से ही वे अनजाने में खिचे चले आते हों। आज तक निश्चित रूप से यह भी पता नहीं चल सका कि इस संस्था के करोड़ों रुपये के बजट को पूरा करने के लिए यह अपार राशि कहाँ से आती है। कहा जाता है कि ब्रह्माकुमारियाँ ही अपने घरों से लूटकर लाती हैं। पर उतने से काम बनता समझ में नहीं आता। कुछ स्वकल्पित चित्रों और चार्टों तथा रटी रटाई शब्दावली में अपने मन्तव्यों का परिचय देनेवाली ब्रह्मकुमारियाँ और ब्रह्मकुमार राजयोग, शिव, ब्रह्मा, कृष्ण, गीता आदि की बातें तो करते हैं, परन्तु सुपठित व्यक्ति जल्दी ही भाँप जाता है कि महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित राजयोग तथा व्यासरचित गीता का तो ये क-ख-ग भी नहीं जानते। ये विश्वशान्ति और चरित्र निर्माण के लिए आडम्बरपूर्ण आयोजन करते हैं, शिविर लगाते हैं, कार्यशालाएँ संचालित करते हैं। किन्तु उनमें से किसी का भी कोई प्रतिफल दिखाई नहीं देता।

हंसा मत—हंसा मत के प्रवर्त्तक देहरादून के कोई रावत थे। कहा जाता है कि संसार का शायद ही कोई ऐसा दुर्गुण होगा, जो उनमें न रहा हो। माँस, मदिरा तथा परनारी के सेवन में वह कोई

दोष नहीं मानते थे। उनकी दो पत्नियां तो विवाहिता थीं, अविवाहिता उप-पत्नियों या रखेलों की संख्या तो शायद स्वयं उनको भी मालूम नहीं थी। उनकी चरित्रसम्बन्धी विशेष जानकारी इस पत्र से प्राप्त की जा सकती है, जो करौलबाग निवासी किन्हीं तुहीराम के सुपुत्र श्री रामफल ने १३।६।६२ को आर्यसमाज चाँदनी चौक दिल्ली के प्रधान को लिखा था। अपने मत के प्रचारार्थ उन्होंने 'दिव्य सन्देश परिषद्' नामक संस्था बनाई थी। 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा' जोड़कर उन्होंने 'हंसयोग' नाम से एक पुस्तक लिखवाई थी, जिसमें परस्पर विरोधी विचारों की भरमार है। उनका एकमात्र लक्ष्य अपने को गुरु के रूप में प्रतिष्ठित कर जनता को लूटकर मजे करमा था। गुरु के और अपने गुरुत्व के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण औरों से किञ्चिद् भिन्न था। उन्होंने लिखा है—

१. जब तक शिष्य में गुरु के प्रति ईश्वरभाव नहीं होता, तब तक सत् शिष्य नहीं होता और न उन्नत होनेवाले भगवत् ज्ञान की प्राप्ति होती है। (हंसयोग पृष्ठ १८३)

२. वेदमन्त्र सम कहना माने। गुरु को परमातम सम जाने ॥ (वही ७७)

३. सत्यासत्य विचार न कीजे। गुरु को कथन मान सब लीजे ॥ (वही ७८)

४. वेद, शास्त्र और पुराण इसी 'हंस' नाम की महिमा गा रहे हैं। (हंसयोग पृ० २६६)

अपने 'दिव्य सन्देश परिषद्' की ओर से एक बार उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन का भी आयोजन किया था। सार्वदेशिक सभा की ओर से मैं उसमें आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुआ था। उस अवसर पर मैंने उनसे एक ही बात पूछी थी कि ऐसी कौन सी बात है, जो आपसे पहले संसार को ज्ञात नहीं थी? इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया था।

अपने जीवन काल में उन्होंने अपने पुत्र प्रेमपाल को अपने उत्तराधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। अपनी किशोरावस्था में ही प्रेमपाल रावत उर्फ बालयोगेश्वर हंस देशी-विदेशी लाखों अनुयायियों का गुरु बन बैठा। अपने चेले-चाँटों को अध्यातम की शिक्षा देनेवाला वह सुदर्शन युवक कुछ ही दिनों में अपने से बड़ी अपनी अमरीकन सचिव के प्रेमजाल में फँस गया। ईसाई पद्धति से उससे विवाह करने के साथ ही हंसामत के गुरु का चोला भी उतार फेंका।

अब प्रेमपाल का छोटा भाई सतपाल महाराज पिता और भाई के समान साक्षात् भगवान् रूप में अपने अनुयायियों की श्रद्धा का भाजन बन गया है। साथ ही उसकी माता जगज्जननी बनी हुई भक्तजनों को आशीर्वाद प्रदान करती है। हंसामत का प्रधान कार्यालय हरिद्वार स्थित प्रेमनगर में है। अब तो सतपाल महाराज इन्दिरा कांग्रेस में हैं। उसी के टिकट पर उन्होंने पिछला (मई १९८९) का चुनाव लड़ा था। परन्तु जिसकी महिमा वेद, शास्त्र और पुराण सब गाते हैं, जनता ने उसे गाने से इनकार कर दिया। हो सकता है, कल वह किसी और दल के टिकट पर चुनाव लड़ें। भगवान् के लिए तो सब अपने हैं।

सत्य साईं बाबा—साईं बाबा के नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति का वास्तविक नाम सत्यनारायण पट्टी वेंकप्पा राजू है। यह आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर ज़िले के पुट्टपारथी ग्राम में २३ नवम्बर १९२६ को पैदा हुआ था। इसकी शिक्षा न किसी स्कूल में हुई और न कालिज में। यह मदारी की तरह तमाशे दिखा कर प्रतिष्ठित हो गया। बड़ी संख्या में शिक्षित एवं अशिक्षित लोग उसके भक्त और अनुयायी हैं। इसके भक्त इसे शिरडी (महाराष्ट्र) का एक मुस्लिम फ़क़ीर मानते हैं। कुछ लोग इसे ईश्वर का साक्षात् प्रति-रूप मानते हैं। अनेक नगरों में साईं बाबा के भक्तों के संगठन हैं, जो साप्ताहिक पूजा अर्चना का आयोजन करते हैं। बंगलौर यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर और विज्ञान के प्रोफेसर ने इसे अपने चमत्कारों को

विज्ञान से सिद्ध करने की चुनौती दी, किन्तु इस अहंकारी व्यक्ति ने उत्तर दिया कि चींटी की क्या मजाल जो वह हाथी की गुरुता की थाह पाना चाहती है। अन्ध श्रद्धा के सामने बुद्धि की कुछ नहीं चलती।

आनन्दमार्ग—आनन्दमार्ग का संस्थापक आनन्दमूर्त्ति (मूल नाम प्रभातरंजन सरकार) पूर्वी रेलवे में कर्मचारी था। आनन्दमार्ग की हिंसक प्रवृत्तियों और कलुषित कारनामों के कारण आनन्दमार्ग पिछले २० वर्षों से जनता की आँख की किरकिरी बन रहा है। बंगाल की मार्क्सवादी सरकार से आनन्दमार्ग की टक्कर का राजनैतिक चरित्र स्पष्ट हो चुका है। इसके अनेक अवधूत अनुयायियों को आनन्दमूर्त्ति द्वारा गुप्तरूप से मौत के घाट उतारने तथा मानव मुण्डों को हाथ में लेकर अवधूतों के नृत्य जैसे कृत्यों की कठोर आलोचना हुई है। भारत के विगत प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई पर आस्ट्रेलिया में एक विदेशी आनन्दमार्गी ने प्राणघाती आक्रमण किया था। इस घटना के कारण इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी आन्दोलन माना जाने लगा। संसार भर में फैले इसके अनुयायियों की संख्या लगभग ४५ लाख बताई जाती है। उसके जीवनकाल में उसकी पत्नी ने अनेक आरोप लगाये थे और बिहार सरकार ने अनेक अपराधों में आनन्दमूर्त्ति की भूमिका को देखते हुए उसे वर्षों तक नज़रबन्द रखकर उस पर मुक़द्दमा भी चलाया था। आनन्दमूर्त्ति की मृत्यु के पश्चात् से मार्ग का नेतृत्व ७२ वर्षीय श्रद्धानन्द अवधूत के हाथों में है। एम० ए० तक शिक्षित अवधूत महाशय का वास्तविक नाम एस० राय है। वह उत्तर प्रदेश के बलिया नगर का रहनेवाला है। वह आनन्दमूर्त्ति की तरह चमत्कार दिखाने का दावा नहीं करता।

महर्षि महेश योगी—इनका जन्म जबलपुर (मध्यप्रदेश) के एक दरिद्र कायस्थ परिवार में हुआ था। उनका मूल नाम महेशप्रसाद वर्मा है। इस समय उनकी अवस्था ७८ वर्ष है। उनकी स्कूली शिक्षा तो नाममात्र की हुई, किन्तु आज महेश योगी द्वारा संचालित सहस्रों वेद-विद्यालयों में लाखों विद्यार्थी वेद, संस्कृत तथा पुरातन शास्त्रों का अध्ययन करते हुए विज्ञान आदि के क्षेत्रों में शोध कर रहे हैं। संसार भर में फैले इनके शैक्षिक तथा आध्यात्मिक साम्राज्य का वित्तीय मूल्य ४००० करोड़ आँका गया है। उनके भावातीत ध्यान (Transcendental Meditation) का विश्वव्यापी प्रचार हुआ। देश-विदेश में उनके भक्तों और अनुयायियों की संख्या लाखों में है। उनका दावा है कि संसार की जटिल-से-जटिल समस्या का राजनैतिक हल उनके पास है। परन्तु इस दिशा में उनकी उपलब्धि शून्य है। कुछ अलौकिक यौगिक चमत्कारों को दिखाने में भी वह सफल नहीं हो सके।

एक बार उन्होंने हमें भी अपने पास बुलवाया था। वह एक वेदमन्दिर बनवाना चाहते थे, जिससे ऊँचा कोई भी भवन संसार में न हो। उन्होने हमें इस विषय में परामर्श देने के लिए बुलाया था कि प्रस्तावित वेदमन्दिर दिल्ली, काशी, उज्जैन और ऋषिकेश में से किस स्थान पर बनवाया जाये। हमने अपना मत दिल्ली के पक्ष में दिया। इसी बीच में उन्होने कहा कि वेदमन्दिर के सबसे ऊपर आदि शंकराचार्य की मूर्त्ति स्थापित की जायेगी। हम इससे सहमत नहीं थे। हमारा कहना था कि आदि शंकराचार्य प्रस्थानत्रयी (गीता-उपनिषद्-वेदान्तदर्शन) से आगे नहीं बढ़े। वेद पर उन्होंने कुछ काम नहीं किया। इसलिए वेदमन्दिर के ऊपर किसी की मूर्त्ति लगनी ही हो तो वह किसी वेदज्ञ (वेद के भाष्यकार या प्रचारक) की लगनी चाहिए। उस समय वहाँ हमारे अतिरिक्त महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक, आचार्य उदयवीर शास्त्री, आचार्य विश्वश्रवा, सुप्रीमकोर्ट के जस्टिस वी० के० कृष्णा अय्यर, उत्तर-प्रदेश के पूर्व राज्यपाल श्री विश्वनाथदास तथा काशी, उज्जैन एवं दक्षिण के अनेक विद्वान् उपस्थित थे। उनमें से हमारे अतिरिक्त प्रथम उल्लिखित तीन को छोड़कर शेष सबके मत में उपनिषद् भी वेद के

अन्तर्गत हैं। कुछ देर तक हम अपने पक्ष को प्रस्तुत करते रहे। अन्ततः चले आये। वेदमन्दिर का क्या हुआ, हमें मालूम नहीं।

माता अमृतानन्दमयी—केरल के क्विलोन जिले में सैंतीस वर्ष पूर्व एक मछुवारे के घर में सुधामणि का जन्म हुआ। इसकी शिक्षा मात्र चौथी कक्षा तक हुई। किन्तु आरम्भ से ही इसने आध्यात्मिक विषयों में रुचि दिखाई। अपनी अन्तः प्रेरणा से ही उसने एक धार्मिक आन्दोलन चलाया। आज वही सुधामणि माता अमृतानन्दमयी के नाम से जानी जाती है। प्यार से लोग इसे अम्मा कहते हैं। आज उसकी शाखाएँ और अनुयायी संयुक्तराज्य अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन, स्विट्ज़रलैंड तथा मारिशस में फैले हुए हैं। इसके शिष्यों का दावा है कि यह अपनी अलौकिक शक्तियों से लोगों के शारीरिक और मानसिक कष्टों को दूर कर देती है।

अथ द्वादशसमुल्लासारम्भः

उत्तरार्द्धः

अनुभूमिका (२)

जब आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों में सत्याऽसत्य का यथावत् निर्णय करानेवाली वेदविद्या छूटकर अविद्या फैलके मतमतान्तर खड़े हुए, तब यही जैन आदि के विद्याविरुद्ध मतप्रचार का निमित्त हुआ। क्योंकि वाल्मीकीय रामायण और महाभारतादि में जैनियों का नाममात्र भी नहीं लिखा। और जैनियों के ग्रन्थों में वाल्मीकीय रामायण और महाभारत में कथित 'रामकृष्णादि' की गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत इनके पीछे चला। क्योंकि जैसा अपने मत को बहुत प्राचीन जैनी लोग लिखते हैं, वैसा होता तो वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थों में उनकी कथा अवश्य होती। इसलिये जैनमत इन ग्रन्थों के पीछे चला है।

'क्योंकि वाल्मीकीय रामायण''कथा अवश्य होती'—इस पर जैनियों का कहना है कि रामायण और महाभारत में भले ही न हो, जब विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में जैनधर्म के तीर्थंकरों के नाम उपलब्ध हैं, तब उसके वेदों से भी पूर्ववर्त्ती और इस प्रकार प्राचीनतम धर्म होने में क्या सन्देह है? उदाहरणार्थ—यजुर्वेद के २५वें अध्याय के १९वें मन्त्र में 'अरिष्टनेमि' नाम उल्लेख है और अन्यत्र (यजुः० १४।९, १८।२७, १९।९१ आदि) आदितीर्थंकर 'ऋषभदेव' का नाम आया है। इस विषय में विचार करते समय हमें मनु के इस वचन को ध्यान में रखना आवश्यक है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ —मनु० १।२१

अर्थात्—सृष्टि के आदि में ज्ञान देते समय परमेश्वर ने सब पदार्थों के नाम, कर्म आदि बता दिए। उन्हीं नामों का लोग प्रयोग करने लगे। एतदनुसार ऐतिहासिक व्यक्तियों के माता-पिता ने वेद के इन शब्दों के आधार पर ही अपनी सन्तानों के ऐसे नाम रख दिए। इस प्रकार वेद से लोक में नाम आये, लोक से वेद में नहीं गये। इन व्यक्तियों के नामों की और वेद के शब्दों की ध्वनि या श्रवणमात्र की समानता है। इसके अतिरिक्त वेद का इन ऐतिहासिक व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी बात जिसे वेदार्थ करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है, वह यह है कि वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। आदिकाल में संस्कृत के समस्त नामपद यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। कालान्तर में उनके अर्थविशेष में सीमित हो जाने पर वे रूढ़ होने लगे। यतः वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ, अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक– धातु के अर्थों के अनुकूल होगा। यास्क ने बहुत पहले कह दिया था--'नामान्याख्यातजानि'—अर्थात् जितने भी नामवाची पद हैं, सब आख्यातज=धातुज हैं। जब सब नाम धातुज हैं, तो जिस धातु से उनकी उत्पत्ति हुई है, उसके अर्थ को तो वे अवश्य कहेंगे। यौगिकवाद का मूल आधार है धातुओं की अनेकार्थता। जब

कोई कहे कि जैनियों के ग्रन्थों में से कथाओं को लेकर वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थ बने होंगे। तो उनसे पूंछना चाहिये कि वाल्मीकीय रामायण आदि में तुम्हारे ग्रन्थों का नाम-लेख भी क्यों नहीं ? और तुम्हारे ग्रन्थों में क्यों है ? क्या पिता के जन्म का दर्शन पुत्र कर सकता है ? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन-बौद्ध-मत शैव-शाक्तादि मतों के पीछे चला है।

धातु अनेकार्थवाची हैं तो प्रकृति-प्रत्यय के योग से उन धातुओं से निष्पन्न शब्द भी अनेकार्थवाची होंगे और प्रकरणादि से उनका अर्थविशेष में पर्यवसान होगा।

यजुर्वेद के २५वें अध्याय के १९वें मन्त्र में आये 'अरिष्टनेमि' शब्द का अर्थ है—सुखों का प्रापक। इस प्रकार 'स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु' इस मन्त्रांश का अर्थ है—सुखप्रापक एवं तेजस्वी परमेश्वर हमारा कल्याण करे। यजुर्वेद के १४ वें अध्याय के नवें मन्त्र में शब्द हैं—'छन्दः ऋषभः।' संगीतशास्त्र में 'ऋषभ' सात स्वरों में दूसरा स्वर है। १८वें अध्याय के २७वें मन्त्र में कृषि का प्रसंग है, वहाँ वह सांड या बैल का वाचक है। १९वें अध्याय के ९१वें मन्त्र में 'ऋषभो बलाय' वह बल का प्रतीक है।

यजुर्वेद अध्याय ९ के २५वें मन्त्र में 'नेमि' शब्द का 'सनातन नीति से' इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद के ही १९वें अध्याय के १४वें मन्त्र में आये 'महावीर' शब्द का अर्थ 'बड़ा शक्तिशाली' समझना चाहिए। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८९वें सूक्त के छठे मन्त्र में आये 'अरिष्टनेमि' शब्द का वास्तविक अर्थ है—'अरिष्टानां दुःखानां नेमिर्वज्रवच्छेत्ता'—दुःखों का वज्र के समान विनाश करनेवाला। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के ३३वें सूक्त के १०वें मन्त्र के अन्तर्गत 'अर्हन्' शब्द का अर्थ स्पष्टतः 'योग्य' या 'समर्थ' है। वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड के १४ वें सर्ग के १२ वें श्लोक में महाराजा दशरथ के 'ब्राह्मणों, दासों, तपस्वियों तथा श्रमणों को भोज दिए जाने का उल्लेख है। 'श्रमण' शब्द अनेकार्थवाची हैं, जैसे—परिश्रमी, अधम, संन्यासी, भक्त, साधु (आप्टे-संस्कृत-हिन्दी कोश)। बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। उस अवस्था में बौद्ध तथा जैन साधुओं को समकालीन मानना होगा। जैनी महात्मा बुद्ध को महावीर स्वामी का शिष्य मानते हैं। तब जैन मत की प्राचीनता समाप्त होकर वह बौद्धमत का समकालीन सिद्ध होता है।

जैनियों द्वारा वेदों में अपने तीर्थङ्करों को वेदों में निर्दिष्ट बताना वैसा ही है जैसा मुसलमानों का 'शरदः शतमदीनाः स्याम' (यजु० ३६।२४) में अपने धर्मस्थान 'मदीना' का, कल्माषग्रीवो रक्षिता' (अथर्व० ३।२७।५) में अपने 'कलमा' का तथा ईसाइयों का 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (यजु० ४०।१) में 'ईसा' का वेदों में उल्लेख बताना। सन् १९८९ में हमें पंजाब के ज़िला गुरदासपुर के अन्तर्गत क़ादियां नामक नगर में जाने का अवसर मिला। यह स्थान मुसलमानों के 'अहमदी', 'मिर्ज़ई' तथा 'क़ादियानी' नामों से प्रसिद्ध सम्प्रदाय (वर्त्तमान में पाकिस्तान में प्रतिबन्धित) का केन्द्र है। लगभग सौ वर्ष पूर्व मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उनके इमाम (धार्मिक गुरु) का कहना था कि हमारे मत का उल्लेख तो वेदों में मिलता है। खुदा ने सृष्टि के आरम्भ में ही हमारे मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद साहब के पैदा होने की पेशीनगोई (भविष्यवाणी) कर दी थी। इसके लिए उन्होंने अथर्ववेद में आये एक शब्द 'अहमिद्धि' को खोज निकाला है जो 'अहम् + इत् + हि' इन तीन पदों में सन्धि होकर बना है। वस्तुतः वेदों की प्राचीनता तथा प्रतिष्ठा के कारण हर कोई अपने धर्म (मत) को वेदमूलक सिद्ध करने का प्रयास करता है।

अब इस १२ बारहवें समुल्लास में जो-जो जैनियों के मत-विषयक लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के पते पूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिये। क्योंकि जो-जो हमने इनके मत-विषय में लिखा है, वह केवल सत्याऽसत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ।

इस लेख को जब जैनी बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे, तब सब को सत्याऽसत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा, और बोध भी होगा। जबतक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय, तबतक सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं हो सकता।

जब विद्वान् लोगों में सत्याऽसत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो, तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।

और यह बौद्ध-जैन मत का विषय विना इनके अन्य मतवालों को अपूर्व लाभ और बोध करनेवाला होगा। क्योंकि ये लोग अपने पुस्तकों को किसी अन्य मतवाले को देखने-पढ़ने वा लिखने को भी नहीं देते। बड़े परिश्रम से मेरे और विशेष आर्य्यसमाज मुम्बई के **मन्त्री 'सेठ सेवकलाल कृष्णदास'** के पुरुषार्थ से ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। तथा काशीस्थ **'जैन प्रभाकर'** यन्त्रालय में छपने, और मुम्बई में **'प्रकरणरत्नाकर'** ग्रन्थ के छपने से भी सब लोगों को जैनियों का मत देखना सहज हुआ है।

भला यह किन विद्वानों की बात है कि अपने मत के पुस्तक आप ही देखना, और दूसरों को न दिखलाना तथा अन्यों के न देखना? इसी से विदित होता है कि इन ग्रन्थों के बनानेवाले को प्रथम ही शङ्का थी कि—'इन ग्रन्थों में असम्भव बातें हैं। जो दूसरे मत-वाले देखेंगे, तो खण्डन करेंगे। और हमारे मत-वाले दूसरों के ग्रन्थ देखेंगे, तो इस मत में श्रद्धा न रहेगी'।

'ये लोग अपने पुस्तकों को... नहीं देते'—ग्रन्थकार के इस लेख पर जैन बहुत बिगड़े और उन्हें लक्ष्य करके बहुत अपशब्द लिखे। किन्तु एक जैन विद्वान् ने उनके कथन की इन शब्दों में पुष्टि की है—"Worse than this, they were religiously averse to letting non—Jainas read, or see, or even touch their sacred books." (Outlines of Jainism, Preface page XII by Jagmandarlal Jain M. A.) अर्थात्—इससे भी बुरी बात यह है कि जैन लोग अजैनों को अपने पवित्र ग्रन्थ पढ़ना तो दूर रहा, देखने अथवा छूने के भी विरुद्ध थे। यह ग्रन्थ सन् १६४० ई० में इंगलैंड में छपा और जैन लिटरेचर सोसायटी की ओर से प्रकाशित हुआ। इसका लेखक कट्टर जैन है।

असम्भव बातें—सुजानगढ़ (बीकानेर) के निवासी श्री बच्छराज सिन्धी निष्ठावान् श्वेताम्बर जैन हैं। उन्होंने 'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक में लिखा है—"मेरे लेखों से यह भली प्रकार प्रमाणित हो चुका है कि वर्त्तमान जैनशास्त्रों में प्रत्यक्ष प्रमाणित होनेवाली असत्य, अस्वाभाविक तथा असम्भव बातें एक नहीं, अनेक हैं" (पृ० १८४)। कदाचित् जैन मतानुसार श्रावकों (जैन गृहस्थों) को जैनशास्त्र पढ़ने का अधिकार इसी कारण नहीं है। बच्छराजजी ने अपनी पुस्तक में श्री विजयवल्लभसूरिजी से अपने वार्त्तालाप का उल्लेख किया है। सूरिजी ने सिंधीजी की शंकाएँ सुनकर आवेश में आकर जो कुछ कहा, उसमें यह वाक्य बहुत महत्त्व का है—"तुमको शास्त्रों को पढ़ने का क्या अधिकार है? और प्रश्न पूछने का क्या अधिकार है?" जिस मत में गृहस्थ को प्रश्न पूछने तक का अधिकार नहीं है, वह कितना असार होगा, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

अस्तु, जो हो। परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में अति उद्युक्त रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं। क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकालके पश्चात् दूसरों के दोषों में दृष्टि देके निकालें।

अब इन बौद्ध-जैनियों के मत का विषय सब सज्जनों के सम्मुख धरता हूँ। जैसा है वैसा विचारें॥

किमधिकलेखेन बुद्धिमद्वर्येषु ॥

उत्तरार्द्धः

अथ द्वादश-समुल्लासारम्भः

अथ नास्तिकमतान्तर्गतचारवाक-बौद्ध-जैनमत-खण्डन-मण्डनविषयान् व्याख्यास्यामः

[अब नास्तिक मतों के अन्तर्गत चारवाक बौद्ध और जैनमत के खण्डन-मण्डन-विषयों को कथन करेंगे[1]।]

[चारवाक मत के प्रमुख सिद्धान्त, और उनकी आलोचना]

कोई एक बृहस्पति नामा पुरुष हुआ था, जो वेद ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। देखिये उसका मत—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥[2]

चारवाकमत-समीक्षा

चारवाक मत नास्तिकता का पर्यायवाची है। नास्तिक तो जैन और बौद्ध भी हैं, क्योंकि चारवाकों के समान वे भी ईश्वर और वेद की निन्दा करते और जगद्रचना के लिए किसी चेतन सत्ता के अस्तित्त्व को नहीं मानते हैं। परन्तु वे जीव चेतन, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति के साथ प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भी मानने हैं। अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति चारवाक दर्शन का अपना कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। इसके विषय में अपेक्षित जानकारी सायणाचार्य-विरचित सर्वदर्शनसंग्रह तथा अन्य दर्शनों में इसके खण्डन में उपलब्ध सामग्री से ही मिलती है। चारवाक अथवा चार्वाक का शब्दार्थ—'चारुः लोक-सम्मतो वाकोवाक्यं यस्य।' चारवाक दर्शन की बातें आपाततः चित्त को लुभाती हैं। लोकप्रिय और सर्वत्र फैला होने के कारण उसका अपर नाम लोकायत भी है। इस मत का प्रवर्त्तक बृहस्पति अथवा उसी का कोई शिष्य बताया जाता है, जिसने भौतिकवाद और नास्तिकता के स्थूलरूप का प्रवर्त्तन किया। परन्तु उसकी विचाराधारा न्यूनाधिकरूप में सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक है।

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'[3] तथा इसका हिन्दी रूपान्तर 'खाओ, पीयो, मौज करो' और अंग्रेज़ी रूपान्तर 'Eat, drink and be merry' कहीं भी सुने और प्रत्यक्ष व्यवहार में आते

---

१. इस समुल्लास में निर्दिष्ट चारवाक और बौद्धमत का निर्देश सायणाचार्य-विरचित 'सर्वदर्शनसंग्रह' पर ही प्रधानरूप से आश्रित है। क्योंकि उस समय इन दोनों के मत के अन्य पुस्तक उपलब्ध न थे। जैनमत के निर्देश में श्री 'सर्वदर्शन-संग्रह' ग्रन्थ से कुछ सहायता ली गई है।

२. 'सर्वदर्शनसंग्रह' (वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर कृत टीका सहित, सन् १९२४) के अन्तर्गत 'चार्वाकदर्शन' पृष्ठ २। आगे भी पृष्ठ संख्या इसी संस्करण की जाननी चाहिए।

३. 'यावज्जीवेत्' इत्यादि का अंग्रेजी में पद्यात्मक अनुवाद—

While life is yours, live joyously,
None can escape Death's searching eye.
When once this form of ours they burn,
How shall it e'er again return?
(Vide Radhakrishnan's Indian Philosophy, Vol. I, P. 281)

'कोई मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है, अर्थात् सबको मरना है। इसलिये जब तक शरीर में जीव रहे, तब तक सुख से रहे'। जो कोई कहे कि—'धर्माचरण से कष्ट होता है, किन्तु जो धर्म को छोड़ें तो पुनर्जन्म में बड़ा दुःख पावें'। उसको चारवाक उत्तर देता है कि—

'अरे भोले भाई! जो मरे के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है, कि जिसने खाया-पिया है, वह पुनः संसार में न आवेगा। इसलिये जैसे हो सके वैसे आनन्द में रहो। लोक में नीति से चलो, ऐश्वर्य को बढ़ाओ। और उससे इच्छित भोग करो। यही लोक समझो, परलोक कुछ नहीं'।[1]

'देखो, पृथिवी जल अग्नि वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है। इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे मादक द्रव्य खाने-पीने से मद=नशा उत्पन्न होता है,[2] इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है[3]। फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा'? ॥

'तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा, देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्' ॥[4]

देखे जा सकते हैं। सन् १५२६ में पानीपत के मैदान में बाबर द्वारा कहा गया 'बाबर ब ऐश कोश के आलम दुबारा नेस्त' मानो 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्... भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' का अक्षरशः फ़ारसी रूपान्तर है। कठोपनिषद् के यम-नचिकेता संवाद में नचिकेता यमाचार्य से कहता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेव वरस्तृतीयः ॥—कठ० १।२०

अर्थात्—मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो यह कहते हैं कि रहता है और कोई कहते हैं, नहीं रहता, मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ। यम उत्तर देता है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ —कठ० २।६

अर्थात्—धन के मोह से अन्धे हुए और प्रमाद करनेवाले उस मूर्ख को परलोक का साधन नहीं सूझता। ऐसे मूर्ख यही सोचते हैं कि यही लोक है, परलोक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि नचिकेता उस समय चारवाक की ही वाणी बोल रहा था। किसी-न-किसी रूप में यह ध्वनि अन्यान्य उपनिषदों, महाभारत, गीता आदि में भी यत्र-तत्र-अनेकत्र सुनाई पड़ती है। यहाँ तक कि रामायणकाल (जिसे हिन्दुओं में प्रचलित मान्यता के अनुसार नौ लाख वर्ष बीत चुके हैं) में भी महर्षि वाल्मीकि ने रावण के मुख से सीता को कहलवाया है—'भुंक्ष्व पिब रमस्व च' (सुन्दरकाण्ड २०।२३)।

---

१. धर्म के वास्तविक स्वरूप का और वैदिक मत के सिद्धान्तों का संसार को परिज्ञान न होने से सम्प्रति सारे भूमण्डलस्थ जनों में प्रायः यही धारणा उत्पन्न हो गई है। इसी से येनकेन प्रकारेण धन-संग्रह के लिए चोरी, डकैती और भ्रष्टाचार आदि का बोलबाला है।

२. चार्वाकदर्शन के अनुसार यहाँ 'जैसे किण्व आदि मद्य के उत्पादक पदार्थों में मूलतः मद=नशा न होने पर भी उनके यथावत् योग से मद=नशा उत्पन्न होता है' पाठ होना चाहिए (द्र०—इसी पृष्ठ की अगली टिप्पणी), तथा अगले पृष्ठ की पं० ८ में दिया गया मद दृष्टान्त।

३. 'तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।' चार्वाकदर्शन, पृष्ठ २। कम्युनिज्म के प्रवर्तक कार्लमार्क्स का भी यही मत है। भ० द०।

४. चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ३।

जो इस शरीर में भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही को मानते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमानादि होते ही नहीं। इसलिए मुख्य प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते[1]। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का करना पुरुषार्थ का फल है।[2]

[जड़ से चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती]

उत्तर—ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती[3]। जैसे अब माता-पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आदि-सृष्टि में मनुष्यादि-शरीरों की आकृति परमेश्वर कर्त्ता के बिना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। क्योंकि पद चेतन को होता है, जड़ को नहीं।

पश्चिम में एपिक्यूरस (Epicurus) द्वारा प्रवर्त्तित ऐसी विचारधारा को (Epicureanism) या (Epicurism) के नाम से जाना जाता है। इसके अर्थ में ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी में लिखा है—The philosophical system of Epicurus—The pursuit of pleasure, sensuality, gluttony, devotion to a life of ease and luxury. उसके अनुयायी का परिचय देते हुए लिखा है—One who gives himself to sensual pleasures; glutton, a sybarite. One who disbelieves in the divine government of the world and in a future life.

इससे चारवाक और ऐपिक्यूरियन दोनों समानधर्मी ठहरते हैं। ईश्वर और पुनर्जन्म में अनास्था तथा इन्द्रियलोलुपता के साथ-साथ जीवचेतन को भी जड़ तत्त्वों से उत्पन्न मानना चारवाक मत की मुख्य मान्यताएँ हैं।

जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं—भूतों का विश्लेषण करने पर किसी भी मूलभूत तत्त्व में चेतना की प्रतीति नहीं होती। भूतों का मूल उपादान तत्त्व सर्वथा जड़ है। जब उनमें प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है तब उनके संघात में चैतन्य कहाँ से आ जायेगा ? जो है ही नहीं वह व्यक्त कैसे होगा ? तिल के एक दाने में तेल है तो इन दानों के संघात से तेल की धार वह निकलेगी। बालू के एक कण में भी तेल नहीं तो बालू के ढेर में से भी उसकी एक बूँद न टपकेगी। इससे स्पष्ट है कि चेतना इन भूतों से बने शरीर से भिन्न है।

चारवाक का कहना है कि जिन अनेक द्रव्यों के मेल से मद की उत्पत्ति होती है, उनमें से किसी में भी पृथक् रूप में मादकता की प्रतीति नहीं होती। फिर भी सबके मेल से तैयार घोल में मादकता आ जाती है। वैसे ही जल मूल तत्त्वों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव है।

परन्तु वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जायेगा कि मद्य को तैयार करने में प्रयुक्त होनेवाले प्रत्येक पदार्थ में सूक्ष्म रूप में मादकता का अंश विद्यमान है। इसी कारण उनके सहित्य

---

१. 'प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयाऽनुमानादेरनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्'। चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ३।

२. 'अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः'। चार्वाकदर्शन, पृष्ठ ३। तथा फ्रायड इस कामवासना को संसार के सम्पूर्ण पुरुषार्थों का मूल मानता है। उसे यह ज्ञान नहीं हुआ कि—'कामः सङ्कल्पसम्भवः' (संकल्पमूलः कामो वै। मनु० २।३)। अर्थात् काम की उत्पत्ति संकल्प से होती है। अतः जीवन का मूलस्रोत संकल्प है। भ० द०। इसीलिए वेद में शिवसंकल्प की प्रार्थना की गई है। (यजुः० ३४।१-६)।

३. 'न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि'। (सांख्य ५।१२९)।

[पदार्थ अदृश्य होते हैं, उनका अभाव नहीं होता]

पदार्थ 'नष्ट' अर्थात् अदृष्ट होते हैं, परन्तु अभाव किसी का नहीं होता[1]। इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिए[2]। जब जीवात्मा सदेह होता है, तभी उसकी प्रकटता होती है। जब वह शरीर को छोड़ देता है, तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व था, वैसा नहीं हो सकता। यही बात बृहदारण्यक में कही है—

'नाहं मोहं ब्रवीमि, अनुच्छित्तिधर्मायमात्मेति[3]।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—'हे मैत्रेयि ! मैं मोह से बात नहीं करता, किन्तु आत्मा अविनाशी है। जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है' ॥

में मादकता उत्पन्न हो जाती है। यदि उन द्रव्यों में मादकता नहीं है तो उनके संघात से मादकता की जगह कुछ और उत्पन्न क्यों नहीं हो जाता ? अथवा मद्य बनाने में द्रव्यविशेष का ही प्रयोग क्यों किया जाता है ? मादक घोल के प्रत्येक द्रव्य में मादकता के अंश की तरह जगत् के मूल तत्त्वों में किसी भी रूप में चेतना का अंश नहीं पाया जाता। इसलिए इन तत्त्वों के संघात से भी चेतना नहीं आ सकती। इस विषय में ज्ञातव्य है कि वस्तुत: मद मद्य में उत्पन्न नहीं होता। मद तो मद्य के पीने से चेतन को होता है। मद में कारणरूप होने से ही मद्य को 'मद्य' कहते हैं। मद्य शब्द की व्युत्पत्ति है—'मदे साधु मद्यम्' (अष्टाध्यायी ४।४।९८ 'तत्र साधु:' सूत्र)।

इस पर चारवाक आपत्ति प्रस्तुत करता है कि चेतनायुक्त शरीर ही आत्मा है, क्योंकि मरे पीछे जीव का प्रत्यक्ष नहीं होता। वस्तुतस्तु किसी पदार्थ के न दीखने को नष्ट हुआ नहीं मानना चाहिए। 'नष्ट' शब्द 'णश् अदर्शने' (धातुपाठ ४।८३) धातु से बनता है। अत: इसका अर्थ 'अदर्शन' है। पाणिनि के अनुसार 'अदर्शनं लोप:' अदर्शन ही लोप कहाता है। सिद्धान्त भी यही है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:' (गीता २।१६) अर्थात् जैसे असत् का भाव नहीं होता वैसे ही सत् का अभाव नहीं हो सकता। इसलिए अदृश्य होने मात्र से जीव को नष्ट हुआ नहीं माना जा सकता। यदि पाँचभौतिक देह को आत्मा मान लिया जाये तो मरण आदि अवस्थाओं का भी अभाव हो जाना चाहिए। चेतन द्वारा शरीर को छोड़कर चले जाना ही मृत्यु है। यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है और समस्त देह स्वत: चेतन है तो किसी के छोड़कर चले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। जहाँ तक आत्मा के प्रत्यक्ष होने का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष सदा गुणों का होता है और गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के द्वारा ही गुणी का प्रत्यक्ष होता है। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ही उसका प्रत्यक्ष होना है।

---

१. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:। उभयोरपि दृष्टोऽन्तरस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:'। (गीता २।१६)

२. तुलना करो—'यथा हिमवत: पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा। न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ। अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता' ॥ महा० शान्तिपर्व अ० २०३। श्लोक ६, ७ ॥ भ० द०।

३. ग्रन्थकार ने अभिप्रायमात्र दिया है। मूलपाठ इस प्रकार है—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मा-ऽनुच्छित्तिधर्मा'। बृह० ४।५।१४।

[जीव शरीर से पृथक् तत्त्व है]

जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जो देह से पृथक् आत्मा न हो, तो मृत्यु होने पर शरीर में ज्ञान का अभाव न होवे। अतः जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है, वह देह से पृथक् है।

[प्रत्यक्ष के कर्त्ता को अपना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता]

जैसे आँख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करनेवाला अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे अपनी आँख से सब घट-पटादि पदार्थ देखता है, वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो द्रष्टा है वह द्रष्टा ही रहता है, दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार के आधेय, कारण के विना कार्य, अवयवी के विना अवयव, और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकते, वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

[स्त्री-समागम को ही पुरुषार्थ-फल मानना मूर्खता है]

जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम करने ही को पुरुषार्थ का फल मानो, तो क्षणिक सुख और उससे दुःख भी होता है, वह भी पुरुषार्थ ही का फल होगा। जब ऐसा है तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। जो कहो दुःख के छुड़ाने और सुख के बढ़ाने में यत्न करना चाहिये, तो मुक्तिसुख की हानि हो जाती है। इसलिए वह पुरुषार्थ का फल नहीं।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं। इसलिए जब तक शरीर में जीवात्मा रहता है, तब तक ये सब प्रत्यक्ष रहते हैं। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, पंचभूतों के संघात से बने शरीर के ज्यों के त्यों रहते हुए भी, इन सबका लोप हो जाता है। इसीसे जीवात्मा का प्रत्यक्ष है। यदि देह से भिन्न अन्य कुछ न हो तो देह के ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हुए ज्ञानादि का लोप क्यों हो ? अतः जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता आती है, वही जीवात्मा है।

देहादि समस्त पदार्थ परिणामी, जड़ एवं नश्वर हैं। शरीर का परिणामी होना हम सब हर समय अनुभव करते हैं। शरीर के परमाणु प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, यह विज्ञानसम्मत है। बुढ़ापे अथवा मृत्यु तक पहुंचते-पहुँचते शरीर बिल्कुल बदल जाता है। फिर भी हम यह कहते हैं कि यह वही व्यक्ति था, जिससे हम पहली बार आज से कोई ५० वर्ष पूर्व मथुरा में मिले थे। जब हम यह कहते हैं कि 'यह वही है' तो इस विश्वास के कारण कहते हैं कि नित्य बदलते हुए शरीर में कुछ ऐसा है, जो किंचिद् नहीं बदलता। जैसा वह जन्म के समय होता है, वैसा ही मृत्यु के समय होता है। यहाँ तक कि 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' शरीर से भिन्न आत्मा न हो तो मृत देह को जलाने में भी पाप होना चाहिए। हम देखते हैं कि जिस प्रकार जीवित देह को जलानेवाले को हत्या का अपराधी मानकर दण्ड दिया जाता है, वैसे मृत देह को जलानेवाले को नहीं। क्योंकि यह माना जाता है कि मरने के बाद तो मिट्टी (देहरचना में प्रयुक्त मुख्य तत्त्व) रह जाती है और तब उसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। इसलिए अब उसे जलाने में कोई दोष नहीं। स्पष्ट है कि चेतन (जीवात्मा से संयुक्त) देह को जलाना पाप है, जड़ को जलाना निर्दोष है। इस विवेचन से सिद्ध है कि जीवात्मा जड़ तत्त्वों के संघात से उत्पन्न नहीं है, उसकी शरीर से अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता है। [अधिक जानकारी के लिए देखें, हमारे लिखे 'अनादि तत्त्व दर्शन' में तृतीय अध्याय—जीवात्मा।].

शरीर नित्य परिवर्त्तनशील है। अतः यदि चेतना उसका गुण है तो उसे भी परिवर्त्तनशील

[चारवाक मत की कुछ अन्य बातें]

चारवाक—जो दुःख-संयुक्त सुख का त्याग करते हैं, वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और बुस का त्याग करता है, वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें। क्योंकि जो इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर धूर्तकथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिए करते हैं, वे अज्ञानी हैं।[1] जो परलोक है ही नहीं, तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि—

'अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः' ॥[2]

चारवाकमत-प्रचारक 'बृहस्पति' कहता है कि—'अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्ड और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थरहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।'

किन्तु काँटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम नरक, लोकसिद्ध राजा परमेश्वर, और देह का नाश होना मोक्ष है, अन्य कुछ भी नहीं है।[3]

[अग्निहोत्रादि वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्त्त-कर्म है]

उत्तर—विषयरूपी सुखमात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय-दुःख-निवारणमात्र में कृत-कृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। उसको न जानकर वेद ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है। जो 'त्रिदण्ड' और 'भस्मधारण' का खण्डन है, सो ठीक है।

होना चाहिए। यदि चेतना परिवर्त्तनशील है, तो बाल्यावस्था की घटनाएँ युवावस्था में कैसे स्मरण रह सकती हैं। इतना ही नहीं, कल-परसों का देखा-सुना भी कैसे स्मृत हो सकता है, क्योंकि जिस चेतना ने कल-परसों देखा-सुना था, वह तो आज रही नहीं और जो आज है, उसने कल-परसों देखा-सुना नहीं था। अतः पूर्वदृष्टश्रुत की स्मृति यह सिद्ध करती है कि शरीर से भिन्न व स्वतन्त्र कोई सत्ता है, जिसके कारण पूर्वावस्था की स्मृति सम्भव हो पाती है। उसी का नाम आत्मा है।

चार प्रकार के तत्त्वों से सृष्टि का निर्माण—जगत् और प्राणिशरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश—इन पाँच भूतों का परिणाम है। चारवाक आकाश की सत्ता को इसलिए स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी कारण वे अन्य अप्रत्यक्ष तत्त्वों (ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, परलोक अथवा पुनर्जन्म) की सत्ता से इनकार करते हैं। इस सबका कारण उनकी ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) सम्बन्धी विचारधारा है। उनकी ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण माना जाता है। उनका कहना है—

"प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण—ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन पदार्थों का प्रत्यक्ष होना है। एकमात्र उसी का प्रामाण्य है। यदि अनुमान को प्रमाण माना जाय तो उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान असन्दिग्ध होना चाहिए। परन्तु अनुमान इस शर्त को पूरा नहीं करता। पर्वत पर धुँआ देखकर अग्नि का अनुमान

---

१. द्रष्टव्य—'न चास्य दुःखसम्भिन्नतया' इत्यारभ्य 'पशुवन्मूर्खो भवेत्' इत्यन्तश्चार्वाकदर्शनस्य पाठः (पृष्ठ ३, ४)।
२. चार्वाक-दर्शन, पृष्ठ ५।
३. 'कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते। लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः ॥ देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते' ॥ चार्वाकदर्शन, पृष्ठ ६, ७।

[कण्टकादिजन्य दुःख को नरक, और मृत्यु को मुक्ति कहना मूल है]

यदि कण्टकादि से उत्पन्न ही दुःख का नाम नरक हो, तो उससे अधिक महारोगादि नरक क्यों नहीं ? यद्यपि राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ मानें तो ठीक है। परन्तु जो अन्यायकारी पापी राजा हो, उसको भी परमेश्वरवत् मानते हो, तो तुम्हारे जैसा कोई भी मूर्ख नहीं। शरीर का विच्छेद होना मात्र मोक्ष है, तो गदहे कुत्ते आदि और तुममें क्या भेद रहा ? किन्तु आकृति ही मात्र भिन्न रही।

[चारवाक मत की कुछ और सत्याऽसत्य बातें]

चारवाक—अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥१॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥२॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥४॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥५॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥६॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥७॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि च त्वन्यद् विद्यते क्वचित् ॥८॥
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥९॥
अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्त्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम् ॥१०॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥११॥[1]

किया जाता है। इस अनुमान में हम ज्ञात से अज्ञात अथवा प्रकाश से अन्धकार की ओर जाते हैं।" नैयायिक व्याप्ति के आधार पर इसे ठीक ठहराते हैं, परन्तु चारवाक दार्शनिकों के अनुसार व्याप्ति असम्भव है। उनकी आपत्ति है कि कुछ स्थानों पर अग्नि के साथ धुँआ देखने से यह सामान्य सिद्धान्त कैसे बनाया जा सकता है कि जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। सामान्य नियम तभी बनाया जा सकता है जब हमने उस प्रकार की सब घटनाओं का प्रत्यक्ष कर लिया हो। किन्तु किसी भी मनुष्य के

---

१. चार्वाकदर्शन, पृष्ठ १३, १४, १५।

लिए यह सम्भव नहीं कि वह सब समय (भूत-वर्त्तमान-भविष्यत्) और सब स्थानों (पृथिवी-अन्तरिक्ष-आकाश वा द्युलोक) की अग्नि और धूम्र को देख सके। और ऐसा किये बिना यह सामान्य नियम बनाया नहीं जा सकता कि जहाँ-जहाँ धुँआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। अतः व्याप्ति असम्भव है। शब्द द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नहीं हो सकती, क्योंकि शब्दों की प्रामाणिकता भी तो अनुमान पर निर्भर है।

यदि चारवाक से कहा जाय कि प्रत्यक्ष को भी अप्रामाणिक क्यों न माना जाये, क्योंकि उसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है, जो अनेक बार यथार्थ ज्ञान नहीं करातीं। पीलिया के रोगी को सब कुछ पीला दिखाई देता है, जबकि यथार्थ में वह वैसा नहीं होता। इसलिए न्यायसूत्रकार को प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए लिखना पड़ा—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। १।१।४॥

अर्थात्--जो इन्द्रियों के साथ मन का, और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, किन्तु वह अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि तथा निश्चयात्मक हो। यदि प्रत्यक्ष की मान्यता उसकी असन्दिग्धता एवं निश्चयात्मकता के कारण है तो वही नियम अनुमान और शब्द पर भी क्यों न लागू कर लिया जाये। यदि यह कहा जाय कि अनुमान तथा शब्द द्वारा कभी-कभी भ्रम उत्पन्न हो जाता है, तो, जैसा कि हम ऊपर लिख आये है, ऐसा तो प्रत्यक्ष द्वारा भी हो सकता है। व्याप्ति को सोपाधिक बतलाते हुए चारवाक का कहना है कि भविष्यत् काल में अथवा किसी अन्य स्थान पर, सम्भव है, वैसा न हो। पर यह तर्क स्वयं अनुमान पर आधारित है, क्योंकि भविष्य अथवा अन्य स्थान की बात प्रत्यक्ष पर नहीं, अनुमान पर निर्भर है।

अग्निरुष्णः—ग्रन्थकार ने यहाँ भावमात्र दिया है। शब्दार्थ इस प्रकार जानना चाहिए—अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु शीतस्पर्शवाला है। इस वैविध्य को किसने चित्रित किया है? इसलिए स्वभाव से ही इनकी तत्तद् गुणयुक्त स्थिति जाननी चाहिए। इस प्रकार चारवाक ने यहाँ स्वभाव से ही जगदुत्पत्ति का निर्देश किया है।

For doctrines of Charvaka Cf.—

"The substance of this doctrine is summed up by a character in the allegorical play of Prabodha Chandrodaya, 'Lokayata is always the only Shastra; in it only perceptual evidence is authority; the elements are earth, water, fire and air; wealth and enjoyment are the objects of human existance. Matter can think. There is no other world. Death is the end of all.' (Act ii). The Shastra is called Lokayata, for it holds that this world or loka is. The materialists are called Lokayatikas. They are also called Charvakas, after the name of the founder."

(Radhakrishnan's Indian Philosophy, Vol. I, P. 278-79).

स्वभाव से सृष्ट्युत्पत्ति—जड़ तत्त्व का स्वभाव सदा एक सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर, यान्त्रिक क्रिया की भाँति, सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी। तब संसार सदा इसी रूप में बना रहना चाहिए। सर्ग के विपरीत उसकी प्रलयावस्था कभी नहीं आनी चाहिए। किन्तु संसार में बनी हुई वस्तुओं को बिगड़ते हुए देखा जाता है। यदि प्रकृति उपादान किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं रखता तो जड़ होने से वह अपने प्रवृत्ति स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता। इसलिए यदि उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति मान ली जाय तो उसमें निवृत्ति असम्भव होगी। यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का होगा तो स्वभाव से विनाश होते रहने पर उत्पत्ति कभी नहीं होगी। किन्तु पदार्थों को बनते देखा जाता है।

चारवाक आभाणक बौद्ध और जैन भी जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं। जो-जो स्वाभाविक गुण हैं, उस-उससे द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं। कोई जगत् का कर्त्ता नहीं ॥१॥[1]

परन्तु इनमें से 'चारवाक' ऐसा मानता है। किन्तु परलोक और जीवात्मा बौद्ध जैन मानते हैं, चारवाक नहीं। शेष इन तीनों का मत कोई-कोई बात छोड़के एकसा है।

न कोई स्वर्ग, न कोई नरक, और न कोई परलोक में जानेवाला आत्मा है। और न वर्णाश्रम की क्रिया फलदायक है ॥२॥

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाये तो, यदि संयोग स्वभाववाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी और यदि वियोग स्वभाववाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा विनाश ही विनाश होगा। एक धर्मी में दो परस्पर विरुद्ध धर्म एक समय में नहीं रह सकते। किन्तु यदि दुर्जनतोषन्याय से प्रत्येक परमाणु में दोनों स्वभाव युगपत् मान लिए जायें तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि उत्पत्ति और विनाश दोनों का एक समय में प्रत्यक्ष होता है।

वस्तुतः उत्पत्ति और विनाश--उपादान तत्त्व की ये दो परस्पर विपरीत अवस्थाएँ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रियाओं को इच्छानुसार उत्पन्न करना चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् में बनना और बिगड़ना दोनों देखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से परिणाम पाकर कार्यरूप में परिणत होता और समय पाकर पुनः उसी में विलीन होता है। समुद्र से प्राप्त जल से मेघ बनता और मेघ से बरसकर वही जल पुनः समुद्र में जा मिलता है। यह क्रम जैसे पुनः-पुनः पिण्डों में देखने में आता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड की मर्यादा में देखने में आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समय तथा मर्यादापूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असंभव है। सृष्टि होते-होते प्रलय और प्रलय होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती। इसके लिए किसी नियामक चेतन सत्ता का होना अनिवार्य है।

जगत् का कर्त्ता नहीं—चेतननिरपेक्ष प्रकृति जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि जड़ होने के कारण वह स्वयं कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती। 'सकर्तृकैव क्रिया'—इस न्याय के अनुसार कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती और न क्रियाजन्य किसी पदार्थ की रचना हो सकती है। जैसे कुम्भकार के बिना घड़ा नहीं बन सकता, वैसे ही जड़ प्रकृति के परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से मिलाये बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। घी, सूजी, चीनी आदि को पास-पास रख देने पर भी हलवाई के बिना हलवा नहीं बन सकता। हल्दी, चूना और नींबू को एक साथ रख देने से रोली नहीं बन जाती। इसी प्रकार कागज़, ब्रुश और रंग रख देने से कलाकार के बिना चित्र नहीं बनता और कागज़, स्याही और लेखनी एकत्र रख देने से ग्रन्थ तैयार नहीं होता। कुछ लोगों का कहना है कि जैसे दूध स्वयमेव दही में परिणत हो जाता है, वैसे ही जगद्रचना में प्रकृति की स्वयं प्रवृत्ति हुआ करती है। वस्तुतः दूध का दही में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को आप ही आप दही बनने के लिए छोड़ दिया जाये तो कालान्तर में वह विकृत भले ही हो जाये, दधि रूप में परिणत नहीं होगा। दूध को दही रूप में परिणत होने के लिए उसे ठीक तरह उबालना, यथासमय उचित मात्रा में जामन देना तथा अपेक्षित तापमान में उसे

---

१. यह भावमात्र है। शब्दार्थ इस प्रकार जानना चाहिए—'अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु शीतस्पर्शवाला है। इस वैचित्र्य को किसने चित्रित किया है? इसलिए स्वभाव से ही इनकी उस-उस गुण से युक्त स्थिति जाननी चाहिए।' यद्यपि श्वेताश्वतर उपनिषद् के आरम्भ १।२ में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा०' वचन में स्वभाव सृष्ट्युत्पत्ति पक्ष का भी निर्देश किया है। परन्तु आगे इसका खण्डन किया है।

जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो, तो यजमान अपने पितादि को मार होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता ? ।।३।।

जो मरे हुए जीवों का श्राद्ध और तर्पण तृप्तिकारक होता है, तो परदेश में जानेवाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न वस्त्र और धनादि को क्यों ले जाते हैं ? क्योंकि जैसे मृतक के नाम से अर्पण किया हुआ

सुरक्षित रखना आवश्यक है । यह सब प्रक्रिया चेतन के सहयोग के बिना सम्भव नहीं । किसी चेतन सत्ता के ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया के बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती । घुणाक्षरन्याय से कोई एक अक्षर भले ही बन जाये, किसी काव्य या नाटक की रचना संभव नहीं । आकाश में उड़ते बादलों से किसी आकार विशेष की क्षणिक प्रतीति हो सकती है, किन्तु किसी जीते-जागते प्राणी की सृष्टि नहीं हो सकती ।

जो संयोग से बनता है उसका संयोग करनेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा होता है । सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं । लोक-लोकान्तर की रचना में जो आश्चर्यजनक कौशल दीख पड़ता है, वह किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की प्रेरणा की अपेक्षा रखता है । अनादि काल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य आज तक स्वयं अपने शरीर को भी नहीं समझ पाया । जिस माता के गर्भ में नौ मास तक उसका निर्माण होता है, वह भी इस विषय में सर्वथा अनभिज्ञ है ।

उत्पन्न होनेवाली वस्तु समय पाकर बिगड़ जाती है । सृष्टि की प्रलय करके उसे पुनः कारण-रूप में ले जानेवाला भी कोई चाहिए । अतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है । वस्तुतः जिस प्रकार अचेतन तत्त्वों से बने शरीर में जीवात्मा के बिना कोई क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार जड़ प्रकृति से बने जगत् में परमात्मा के बिना किसी प्रकार का कार्य नहीं हो सकता ।

मानवी सृष्टि में निर्माण के बाद कर्त्ता अपनी कृति के साथ नहीं रहता । न घड़ी बनानेवाला घड़ी में या घड़ी के साथ रहता है और न मकान बनानेवाला कारीगर मकान में या मकान के आस-पास रहता है । किन्तु ईश्वरीय सृष्टि में उसका रचयिता परमेश्वर सृष्टि में ओत-प्रोत रहकर उसकी स्थिति और संचालन का अधिष्ठाता बना रहता है ।

वर्णाश्रमव्यवस्था के बिना कोई समाज नहीं चल सकता । भले ही ब्राह्मण को बुद्धिजीवी, अध्यापक, विधायक, उपदेशक, पुरोहित (Intellectuals, teachers, clergy, judge, doctor) आदि नामों से पुकारा जाय; क्षत्रिय को पुलिस, सेना आदि नाम दे दिये जायें; वैश्य को व्यापारी (Businessman) आदि नामों से अभिहित कर दिया जाय और शूद्र को श्रमिक, मज़दूर या लेबरर (Labourer) कहा जाय । इसी प्रकार ब्रह्मचारी को विद्यार्थी, गृहस्थ को (House-holder) और वानप्रस्थ और संन्यासी को अवकाश प्राप्त (Retired or Pensioner) जैसे नाम दे दिये जायें । प्राचीन ऋषियों ने इस प्रकार के विभाजन को ही वर्णाश्रम के रूप में व्यवस्थित और मर्यादित कर दिया था । इसके पालन से होनेवाले लाभों से कौन इनकार कर सकता है ?

यज्ञ में हुत पश्वादि की मुक्ति—इस आशय के वचन पौराणिकों के परम मान्य ग्रन्थ विष्णु-पुराण (३।१८।८५) में मिलते हैं । तद्यथा—

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन तदा किं न निहन्यते ।।
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः ।
दद्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः ।।

पदार्थ स्वर्ग में पहुँचता है, तो परदेश में जानेवालों के लिए उनके सम्बन्धी भी घर में उनके नाम से अर्पण करके देशान्तर में पहुँचा देवें। जो यह नहीं पहुँचता, तो स्वर्ग में वह क्योंकर पहुँच सकता है ? ॥४॥

जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं, तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता ? ॥५॥

इसलिए जबतक जीवे, तब तक सुख से जीवे। जो घर में पदार्थ न हो तो ऋण लेके आनन्द करे, ऋण देना नहीं पड़ेगा। क्योंकि जिस शरीर ने खाया-पीया है, उसका पुनरागमन न होगा। फिर किससे कौन माँगेगा, और कौन देवेगा ? ॥६॥

जो लोग कहते हैं कि मृत्युसमय जीव निकलके परलोक को जाता है, यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो ऐसा होता, तो कुटुम्ब के मोह में बद्ध होकर पुनः घर में क्यों नहीं आ जाता ? ॥७॥

इसलिए यह सब ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का उपाय किया है। जो दशगात्रादि मतक-क्रिया करते हैं, यह सब उनकी जीविका की लीला है ॥८॥

ये श्लोक महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर ने सर्वदर्शनसंग्रह की स्वकृत दर्शनाङ्कुर नामक टीका में पृष्ठ १३ पर उद्धृत किये हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—यज्ञ में मारे गये पशु की यदि स्वर्ग प्राप्ति मानते हो तब यजमान अपने पिता को (यज्ञ में) क्यों नहीं मार देता ? यदि दूसरे का खाया अन्न दूसरे की तृप्ति का साधन हो सकता है, तो श्राद्ध कर दो, प्रवास में जानेवाले अन्न उठाने का कष्ट क्यों करें ?

यज्ञ में की जानेवाली हिंसा के निषेधक श्लोक भी महामहोपाध्याय जी ने पृष्ठ १४ पर उद्धृत किये हैं—

नैतद्युक्तमिदं वाक्यं हिंसाऽधर्माय नेष्यते। हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्।
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते। सस्यादि च समित्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक् पशुः॥

—वि० पु० ३।१८

अर्थात्—'हिंसा अधर्म का कारण नहीं है'—ऐसा वाक्य उचित नहीं है। 'अग्नि में जले हवि फल देंगे' ऐसा कथन बालकों का है। अनेक यज्ञों के द्वारा देवत्व प्राप्त करके इन्द्र सस्य=अन्नादि तथा समिधाओं के काष्ठ खाता है, इससे तो पत्ते खानेवाला पशु ही भला है।

बैल और कुतिया की कहानी—पुनर्जन्म और मृतक श्राद्ध के प्रसंग में भविष्यपुराण के अन्तर्गत यह कथा द्रष्टव्य है—"विदर्भ देश का श्येनजित् राजर्षि राजा था। उसके राज्य में सुमित्र नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जयश्री था। कुछ दिनों के बाद वे दोनों मर गये। सुमित्र को बैल का और जयश्री को कुतिया का जन्म मिला। सुमित्र के बेटे का नाम सुमति तथा पुत्रवधू का नाम चन्द्रावती था। वे बैल और कुतिया अपने बेटे के घर में ही रहते थे। एक दिन सुमति के यहाँ पिता का श्राद्ध था। सुमति बैल को लेकर खेत में हल जोतने गया। चन्द्रावती ने ब्राह्मणों के लिए खीर बनाई। एक साँप आकर खीर में ज़हर डाल गया। कुतिया ने यह देख लिया। कुतिया ने यह सोचकर कि विष-युक्त खीर को खाकर ब्राह्मण मर जायेंगे, खीर में मुँह डाल दिया। चन्द्रावती ने उस कुतिया को जलती हुई लकड़ी से इतना मारा कि उसकी कमर टूट गई। भोजन फिर से बनाना पड़ा। ब्राह्मणों को भोजन खिला दिया, किन्तु कुतिया को जूठन भी न दी। आधी रात को कुतिया बैल के पास गई और अपनी व्यथा-कथा सुना कर कहा कि मैं भूख से मरी जा रही हूँ। आज तो जूठा टकड़ा भी नहीं मिला। यह सुन कर बैल बोला—यह तो हमारे पूर्वकर्मों का ही फल है—

वेद के बनानेहारे भांड धूर्त्त और निशाचर अर्थात् राक्षस ये तीन हैं। 'जर्फरी' 'तुर्फरी'[1] इत्यादि पण्डितों के धूर्त्ततायुक्त वचन हैं ॥६॥

किं करोमि अशक्तोऽहं भारवाहत्वमागतः।
अद्याहमात्मनः क्षेत्रे वाहितः सकलं दिनम् ॥४०॥
मारितश्चात्मजेनाहं मुखं बद्ध्वा बुभुक्षितः।
वृथा श्राद्धं कृतं तेन जाताऽद्य मम कष्टता ॥४१॥

—भविष्योत्तरपुराणोक्त ऋषिपंचमी कथा, अध्याय ७८

अर्थात्—मैं क्या कहूँ, असमर्थ हूं। मैं बोझ ढोनेवाला बैल बन गया। आज सारा दिन अपने ही खेत में हल जोतता रहा हूँ। मेरे ही पुत्र ने मुझे मेरा मुख बांध कर खूब मारा। मैं भी बहुत भूखा हूँ। इसने वृथा ही श्राद्ध किया है, जिससे मुझे कष्ट हुआ है।"

यह कथा हूबहू पद्मपुराण उत्तरखण्ड ६, अ० ७८ में विद्यमान है। इस कथा से इतना तो स्पष्ट है कि श्राद्धों में खिलाया हुआ भोजन मृत पितरों को नहीं पहुँचता, अपितु ब्राह्मण ही डकार जाते हैं। इस सन्दर्भ में ११वें समुल्लास में वह कथा भी द्रष्टव्य है, जिसमें एक जाट को बहका कर उसके पिता को वैतरणी नदी पार कराके स्वर्ग में पहुँचाने के नाम पर उससे गाय ले ली थी और फिर गाय को ब्राह्मण के घर में बँधी देखकर जाट गाय वापस ले आया था।

भस्मीभूत देह—देह भौतिक है, जबकि आत्मा अभौतिक है। भौतिक देह के भस्म होने पर भी अभौतिक आत्मा बना रहता है और मोक्षलाभपर्यन्त जन्म-मरण के नित्य आवर्त्तमान चक्र में फँसा रहता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि देह के भस्म हो जाने पर आत्मा का संसार में आना नहीं होगा।

प्रकृति का परिणाम जगत् भोग्य है। उसके भोक्ता का चेतन होना आवश्यक है। यह चेतन तत्त्व ही जीवात्मा है, जो अनादि अनन्त है। उसके बिना जगत् निरर्थक है।

वेदों के कर्त्ता धूर्त्त—यजुर्वेद के २३वें अध्याय के १९ से ३१ तक के मन्त्रों का महीधर ने इतना अश्लील अर्थ किया है कि उसे देख कर कोई भी यही कहेगा कि "त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्डधूर्त्त-निशाचराः"। वैसा करने पर महीधर स्वयं ग्लानि अनुभव कर ३२वें मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं—"अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि अस्माकं मुखानि सुरभीणि करोत्वित्यर्थः।" अर्थात्—इस अश्लील भाषण से जो हमारे मुख अश्लील हो गये हैं, उन्हें यज्ञ सुगन्धित कर दे। मन्त्रों में न अश्लील शब्द हैं और न मन्त्रार्थ में कोई अश्लीलता है। स्वयं ही पहले जानबूझ कर अश्लीलता आरोपित कर दी और स्वयं ही उस अपराध के लिए प्रायश्चित्त की बात कह दी। महीधर का अर्थ मात्र इसलिए त्याज्य नहीं कि वह अश्लील और बेहूदा है, अपितु इसलिए कि मन्त्रों का अर्थ है ही नहीं।

जर्फरी तुर्फरी—इन शब्दों से निर्दिष्ट मन्त्र इस प्रकार है—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरु ता मे जराय्वजरं मरायु ॥ —ऋ० १०।१०६।६

यह मन्त्र निरुक्त १३।५ में इस प्रकार व्याख्यात है—

(सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू) हे द्यावापृथिवी के स्वामी जगदीश्वर! तू दात्री की तरह भर्ता और हन्ता है, (नैतोशा इव तुर्फरी पर्फरीका) तू शत्रुहन्ता राजकुमार की तरह दुष्टों को शीघ्र नष्ट

---

1 ऋ० १०।१०६।६।

देखो, धूर्त्तों की रचना—'घोड़े के लिङ्ग को स्त्री ग्रहण करे'। उसके साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना, कन्या से ठट्ठा करना आदि लिखना, धूर्त्तों के विना नहीं हो सकता ॥१०॥

और जो मांस का खाना लिखा है, वह वेदभाग राक्षस का बनाया है ॥११॥

[विना परमेश्वर के सृष्टि स्वयं नहीं बन सकती]

उत्तर—विना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये जड़ पदार्थ स्वयं आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। जो स्वभाव से ही होते हों, तो द्वितीय सूर्य चन्द्र पृथिवी और नक्षत्रादि लोक आपसे आप क्यों नहीं बन जाते हैं? ॥१॥

करनेवाला और उन्हें फाड़नेवाला है, (उदन्यजा इव जेमना मदेरु) और तू चान्द्रमस अथवा सामुद्र रत्न की तरह मन को जीतनेवाला अर्थात् अपनी ओर खींचनेवाला तथा प्रसन्नताप्रद है। (ता मे मराय्‌ जराय्‌) हे अश्वी! वह तू मेरे मरणधर्मा शरीर को (अजरम्) बुढ़ापे से रहित कर।

जर्भरी=भर्ता, यङ्‌लुगन्त 'भृञ्' धातु से 'इ' प्रत्यय। 'तुर्फरीतू'=हन्ता, 'तृफ' हिंसायाम् से 'अरीतु' प्रत्यय। अन्य शब्दों के लिए देखें—निरुक्त ३।५।६।

दात्री दो तरह की होती है—भर्त्री और हन्त्री अर्थात् वह दो काम करती है। चने आदि की खेती में पूर्वावस्था में शाक को काटने से कृषि की वृद्धि होती है, परन्तु उत्तरावस्था में काटने से उपज नष्ट हो जाती है। एवं, दात्री भरण तथा हनन, दोनों काम करती है। इसी प्रकार परमेश्वर दोनों काम करता है—सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों का नाश (परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्—गीता ४।७)।

इससे स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थों को न जाननेवाले ही वेदों के रचयिताओं को धूर्त्तादि नामों से पुकार सकते हैं। मांसाहार के सम्बन्ध में महाभारत की घोषणा है—सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशमौदनम्। धूर्त्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते॥

कन्या से ठट्ठा करना—इस प्रसंग में चारवाकों का लक्ष्य यजुर्वेद के निम्न दो मन्त्र हैं—

१. यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्तिगभे पसो निगल्गलीति धारका॥—यजु० २३।२२

२. माता च ते माता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयत्॥—यजु० २३।२४

महीधर ने इन दोनों मन्त्रों के जो अर्थ किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं—इस प्रकार से कि योनि को अंगुलि से दिखाके हँसते हैं। (आहलगीति०) जब स्त्री लोग जल्दी जल्दी चलती हैं, तब उनकी योनि में हलाहल शब्द और जब भग-लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलाहल शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वीर्य झरता है।

२. अब ब्रह्मा हास करता यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ कर तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला, तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है; इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है।

महीधर के इन अर्थों को देखकर जितनी भी निन्दा और घृणा का भाव किसी के भी मन में पैदा हो, थोड़ा है। परन्तु इसके लिए वेद नहीं, महीधर आदि वाममार्गी भाष्यकार दोषी हैं, जिन्होंने अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए अर्थ का अनर्थ किया और वेदों को लांछित किया। यदि चारवाक मत या

[यदि जीव न होवे, तो सुख-दुःख का भोग कौन करे ?]

'स्वर्ग' सुखभोग, और 'नरक' दुःखभोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता, तो सुख-दुःख का भोक्ता कौन हो सके ? जैसे इस समय सुख-दुःख का भोक्ता जीव है, वैसे परजन्म में भी होता है। क्या सत्यभाषण और परोपकारादि क्रिया भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होगी ? कभी नहीं ॥२॥

[मृतक श्राद्ध और यज्ञ में पशु मारने का खण्डन ठीक है]

पशु मार के होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। और मृतकों का श्राद्ध-तर्पण करना कपोलकल्पित है। क्योंकि यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराण मतवालों का मत है। इसलिये इस बात का खण्डन अखण्डनीय है ॥३-५॥

[जीव नित्य है, वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता]

जो वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। विद्यमान जीव[1] का अभाव नहीं हो सकता। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है। इसलिये जो कोई ऋणादि कर विराने[2]

उसके संस्थापक बृहस्पति ने वेदों का प्रामाणिक अर्थ शतपथब्राह्मणादि के आधार पर किया गया देखा होता तो वेदों के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा इतनी दूषित न होती। यहाँ हम इन मन्त्रों का शतपथ-ब्राह्मण में किया गया अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

१. यकासकौ शकुन्तकेति। विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद् राष्ट्री विशं घातुकः ॥—श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ३। कं० ६॥

२. माता च ते पिता च त इति। इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रं श्रियमेवैन ꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति। प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमत-ꣳ सयदिति विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी। राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥—शत० १३।२।३।७ ॥

अब हम इन मन्त्रों का शतपथ के आधार पर किया गया अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

१. (यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज़ के सामने छोटी-छोटी चिड़ियों की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है। (आहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम 'गभ' और राज्य का नाम 'पस' है। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिए राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिए, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन राज्यप्रबन्ध होना चाहिए।

२. (माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार से मान्य करनेवाली, और सूर्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं। क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सबके पालन करनेवाला है। इन्हों दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार सुख प्राप्त कराते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम 'गभ'

---

१. शरीर की चेतना-अचेतना से जीव की विद्यमानता सिद्ध है।

२. विराने अर्थात् दूसरे के।

पदार्थों से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं, वे निश्चय पापी होकर दूसरे जन्म में दुःख-रूपी नरक भोगते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥६॥

[देह से निकल कर जीव देहान्तर को प्राप्त होता है]

देह से निकलकर जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है, और उसको पूर्वजन्म तथा कुटुम्बादि का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। इसलिये पुनः कुटुम्ब में नहीं आ सकता ॥७॥

हां, ब्राह्मणों ने प्रेत-कर्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है। परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है ॥८॥

[वेदादि सत्यशास्त्रों की निन्दा करना ठीक नहीं]

अब कहिए, जो चारवाक आदि ने वेदादि सत्यशास्त्र देखे-सुने वा पढ़े होते, तो वेदों की निन्दा कभी न करते कि—'वेद भाँड धूर्त्त और निशाचरवत् पुरुषों ने बनाये हैं,' ऐसा वचन कभी न निकालते। हाँ, भाँड धूर्त्त निशाचरवत् महीधरादि[1] टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्त्तता है, वेदों की नहीं।

[चारवाक बौद्ध तथा जैनियों ने वेद न पढ़े न सुने]

परन्तु शोक है चारवाक आभाणक बौद्ध और जैनियों पर, कि इन्होंने मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना न देखा, और न किसी विद्वान् से पढ़ा। इसीलिये नष्टभ्रष्टबुद्धि होकर ऊट-पटांग वेदों की निन्दा करने लगे। दुष्ट वाममार्गियों की प्रमाणशून्य कपोलकल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देखकर वेदों से विरोधी होकर अविद्यारूपी अगाध समुद्र में जा गिरे ॥९॥

भला विचारना चाहिए कि स्त्री से अश्व के लिङ्ग का ग्रहण कराके उससे समागम कराना; और यजमान की कन्या से हाँसी ठट्ठा आदि करना, सिवाय वाममार्गी लोगों के अन्य मनुष्यों का काम नहीं है। विना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट वेदार्थ से विपरीत अशुद्ध व्याख्यान कौन करता?

अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है, जो कि विना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। तनिक तो अपनी बुद्धि से काम लेते। क्या करें बिचारे? उनमें इतनी विद्या ही नहीं थी, जो सत्याऽसत्य का विचार कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करते ॥१०॥

अर्थात् ऐश्वर्य के देनेवाली और राज्य का नाम 'मुष्टि' है। क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहाँ अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह पक्षपात से अपने सुख के लिए जो-जो प्रजा की श्रेष्ठ सुख देनेवाली लक्ष्मी है, उसको हर लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिए एक को राजा कभी न मानना चाहिए। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा में ही रहना चाहिए। (ग्रन्थकार की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—'भाष्यकरण-शंका-समाधान विषय' से उद्धृत)।

इस प्रकार इन मन्त्रों में स्त्री के घोड़े के समागम तथा कुमारी कन्याओं से ऋत्विजों के ठठ्ठा करने जैसी बातों का लेशमात्र भी न होकर अधिनायकवाद या एकतन्त्र के विरुद्ध लोकतन्त्र पर आधारित शासन व्यवस्था की स्थापना की बात कही गई है, जिससे कोई राजा प्रजा का शोषण न कर सके।

---

१. यहां 'आदि' शब्द प्रकारवाची है। क्योंकि महीधर का काल संवत् १६४५ के समीप है। उससे बहुत पूर्व से ही वेद के ऐसे भ्रष्टभाष्य होने लगे थे। भ० द०।

[वाममार्गी टीकाकारों द्वारा वेदों में मांसादि का विधान]

और जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। इसलिए उनको 'राक्षस' कहना उचित है। परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा। इसलिये इत्यादि मिथ्या बातों का पाप उन टीकाकारों को, और जिन्होंने वेदों के जाने-सुने बिना मनमानी निन्दा की है, निःसन्देह उनको लगेगा।

सच तो यह है कि जिन्होंने वेदों से विरोध किया और करते हैं और करेंगे, वे अवश्य अविद्या-रूपी अन्धकार में पड़के सुख के बदले दारुण दुःख जितना पावें, उतना ही न्यून है। इसलिये मनुष्यमात्र को वेदानुकूल चलना समुचित है ॥११॥

[चारवाक बौद्ध जैनादि द्वारा विना विचारे वेद-निन्दा]

जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोलकल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना, अर्थात् यथेष्ट मद्यपान मांस खाने और परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्क लगाया। इन्हीं बातों को देखकर चारवाक बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे। और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया। जो चारवाकादि वेदों का मूलार्थ विचारते, तो झूंठी टीकाओं को देखकर सत्य वेदोक्त मत से क्यों हाथ धो बैठते? क्या करें विचारे? 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'[1] जब नष्ट-भ्रष्ट होने का समय आता है, तब मनुष्य की उल्टी बुद्धि हो जाती है।

[चारवाक का बौद्धों और जैनों से मतभेद]

अब जो चारवाकादिकों में भेद है, सो लिखते हैं। ये चारवाकादि बहुत-सी बातों में एक हैं, परन्तु चारवाक देह की उत्पत्ति के साथ जीवोत्पत्ति, और उसके नाश के साथ ही जीव का भी नाश मानता है। पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण के विना अनुमानादि प्रमाणों को भी नहीं मानता। चारवाक शब्द का अर्थ—'जो बोलने में प्रगल्भ, और विशेषार्थ वैतण्डिक होता है।'

और बौद्ध जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं। इतना ही चारवाक से बौद्ध और जैनियों का भेद है। परन्तु नास्तिकता, वेद-ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष, और छः यतना[2], जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही हैं। यह 'चारवाक' का मत संक्षेप से दर्शा दिया।

प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण—यह वचन जैनों की अपेक्षा से है, क्योंकि वे चार प्रमाण मानते हैं।

अनादि जीव—किसी समय बौद्धों में आत्मा की सत्ता मानी जाती थी, जैसाकि शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ के ३३६वें श्लोक में लिखा है—"केचित्तु सौगतं मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते।" अपने को बौद्ध माननेवाले कई (वात्सीपुत्र आदि) आत्मा को मानते हैं। परन्तु उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक आत्मा की सत्ता को नहीं मानते। वे उसे चेतना के प्रवाह (Stream of Consciousness) के रूप में मानते हैं। अर्थात् जैसे एक नदी निरन्तर बहती रहती है, जल बह-बहकर आगे निकलता जाता है और उसके स्थान पर दूसरा जल आता रहता है, पर यह क्रम निरन्तर प्रवहमान रहता है। इस प्रवहमान नदी का अन्त कभी नहीं होता। परन्तु वे आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करते।

१. चाणक्यनीति १६।५

२. अर्थात् आगे कहे छः कर्म। भ० द०

[बौद्ध मत की आलोचना]

अब बौद्धमत[1] के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

कार्य्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमो दर्शनान्तरदर्शनात् ॥[2]

'कार्यकारणभाव'=अर्थात् कार्य्य के दर्शन से कारण, और कारण के दर्शन से कार्य्यादि का साक्षात्कार प्रत्यक्ष से, शेष में अनुमान होता है। इसके बिना प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार पूर्ण नहीं हो सकते। इत्यादि लक्षणों से अनुमान को अधिक[3] मानकर चारवाक से भिन्न शाखा बौद्धों की हुई है।

बौद्ध मत की समीक्षा

कार्यकारणभावाद्वा०—यह श्लोक चित्सुखकृत 'तत्त्वप्रदीपिका' (नवीन वेदान्त का एक प्रौढ़ ग्रन्थ) में धर्मकीर्त्ति के नाम से उद्धृत है। महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री ने इसे न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ का वचन माना है। किन्तु न्यायविन्दु की उपलब्ध प्रतियों में यह नहीं मिलता। चित्सुख ने इसे धर्मकीर्ति का बताया है। हो सकता है, उसके रचे किसी अन्य ग्रन्थ में यह हो।

कार्यकारण का दर्शन (प्रत्यक्ष)—सामान्यतया विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' संज्ञा है। परन्तु इन्द्रियों द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं, इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतियाँ होती हैं। अलग-अलग होनेवाली ये अनुभूतियाँ केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की सूचनामात्र हैं। मन में इस सब सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उसके गुणों का प्रत्यक्ष होता है। गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध या अविनाभाव (एक के बिना दूसरे का न रहना) होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से हो रही है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जिस प्रकार भौतिक जगत् में गुणों को देखकर गुणी का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार परमात्मा के लिङ्गों को देखकर लिङ्गी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि की विशालता, सुव्यवस्थित रचना, कार्य-कारण शृङ्खला, नियमबद्धता, प्रयोजनवत्ता तथा कर्मफलापत्ति आदि को देखकर उसके रचयिता तथा नियामक परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि के रचयिता तथा नियामक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा बग़ीचे की शोभा और सौन्दर्य की सराहना करना, किन्तु माली की सत्ता को स्वीकार न करना। सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से किसी नियम का ज्यों ही वैज्ञानिकों को पता चलता है, त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है—"मैं तो वहाँ पहले से विद्यमान था, मेरा निर्माता ईश्वर है,

---

१. बौद्धमत का जो यहाँ वर्णन किया गया है, वह प्रधानरूप से 'सर्वदर्शन-संग्रह' के अन्तर्गत 'बौद्धदर्शन' के अनुसार है। ग्रन्थकार के काल में बौद्धदर्शन के ग्रन्थ दुर्लभ थे।

२. सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्धमत, पृष्ठ.१६। तथा चित्सुखकृत तत्त्वदीपिका में कीर्ति (=धर्मकीर्ति) के नाम से उद्धृत।

३. अधिक=प्रधान। प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा अनुमान का क्षेत्र अधिक होने से अनुमान की प्रधानता बौद्धों ने स्वीकार की है।

[बौद्धों के चार भेद, और उनके सिद्धान्त]

बौद्ध चार प्रकार के हैं[1]। एक—'माध्यमिक'; दूसरा—'योगाचार'; तीसरा—'सौत्रान्तिक'; और चौथा—'वैभाषिक'। 'बुद्ध्या निर्वर्त्तते स बौद्धः' जो बुद्धि से सिद्ध हो, अर्थात् जो-जो बात अपनी बुद्धि में आवे, उस-उसको माने। और जो-जो अपनी बुद्धि में न आवे, उस-उसको नहीं माने।

तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है। इससे तुम्हारी अल्पज्ञता अथवा अज्ञता का एक और प्रमाण मिल गया है।"

अनुमान—अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट।

पूर्ववत् अनुमान—जब कार्योन्मुख कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है तो वह पूर्ववत् अनुमान होता है; जैसे बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है, इसलिए उसे पूर्ववत् कहते हैं। यहाँ बादल (कारण) पहले और वर्षा (कार्य) बाद में है।

शेषवत् अनुमान—कार्य को देखकर कारण का अनुमान होना शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे—वर्षा को देखकर बादलों का अनुमान, पुत्र को देखकर पिता का और धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान। इसी प्रकार सृष्टि को देखकर उसके रचयिता ईश्वर का अनुमान। पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य शेष समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है।

सामान्यतो दृष्ट—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट का अनुमान कराता है, वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है। यात्रा के बिना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए किसी समय दिल्ली में देखे गये देवदत्त को कालान्तर में बम्बई में देखकर दिल्ली से बम्बई तक की अदृष्ट यात्रा का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण है।

बुद्ध—'बुद्ध्या निवर्त्तते स बुद्धः'—जो बात बुद्धि में आये अर्थात् बुद्धि (तर्क) से सिद्ध हो, उसे माने। परन्तु 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'—परन्तु जितने मनुष्य उतनी ही मतियाँ। परिणामतः थोड़े ही समय में बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये। मनुस्मृति में भी कहा गया है—'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (१२।१०६) अर्थात् जो तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है। परन्तु वहाँ 'तर्केण' के साथ 'वेदशास्त्राऽविरोधिना' कहकर उसे (तर्क को) वेद के खूंटे से बाँध दिया। अतः वह उच्छृङ्खल नहीं हो सका। मनु के अनुसार तर्क के आधार पर वेद निर्भ्रान्त है। फलस्वरूप वेदोक्त धर्म पर तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। बुद्ध ने तर्क को खुला छोड़ दिया तो उसके नाम पर मनमानी होने लगी। कालान्तर में बौद्ध धर्म में तान्त्रिक साधना का समावेश होकर वज्रयान के नाम से वाममार्ग घुस गया। बुद्ध के एक सहस्र वर्ष के बाद नाना सम्प्रदायों में विभक्त होकर बौद्धमत इतना विकृत और अनाचारप्रधान हो गया कि उसकी पहचान ही जाती रही। जिस आचार या नैतिकता के सहारे बुद्ध ने अपने धर्म और संघ को खड़ा किया था, वह उससे विदा हो गया। हिन्दुओं में भी उस समय जो नाना सम्प्रदाय उभर कर सामने आये, वे बौद्धों में व्याप्त अनाचार की ही देन थे। तथापि उसके दार्शनिक सिद्धान्त पुस्तकों में सुरक्षित रहे।

ते च बौद्धाश्चतुर्विधया—यह वाक्य "यद्यपि भगवान् बुद्धः एक एव बोधयता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा गतोऽस्तमर्क इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणाभिसरणपरस्व-

---

१. 'ते बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षवादान् आतिष्ठन्ते'। बौद्धदर्शन, पृष्ठ १९।

इनमें से पहला 'माध्यमिक'—'सर्वशून्य' मानता है। अर्थात् जितने पदार्थ हैं, वे सब शून्य। अर्थात् आदि में नहीं होते, अन्त में नहीं रहते। मध्य में जो प्रतीत होता है, वह भी प्रतीति समय में है, पश्चात् शून्य हो जाता है। जैसे—उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था, प्रध्वंस के पश्चात् नहीं रहता, और घट-ज्ञानसमय में भासता, और पदार्थान्तर में ज्ञान जाने से घटज्ञान नहीं रहता। इसलिये 'शून्य' ही एक तत्त्व है।

दूसरा 'योगाचार'—जो 'बाह्य-शून्य' मानता है। अर्थात् पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते हैं, बाहर नहीं।[1] जैसे—घटज्ञान आत्मा में है, तभी मनुष्य कहता है कि 'यह घट है'। जो भीतर ज्ञान में न हो, तो नहीं कह सकता, ऐसा मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक'—जो 'बाहर अर्थ का अनुमान' मानता है। क्योंकि बाहर कोई पदार्थ साङ्गोपाङ्ग प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु एक देश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान किया जाता है। इसका ऐसा मत है।

चौथा 'वैभाषिक' है—उसका मत 'बाहर पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, भीतर नहीं। जैसे—'अयं नीलो घटः' इस प्रतीति में नीलयुक्त घटाकृति बाहर प्रतीत होती है। यह ऐसा मानता है।

[शिष्यों के बुद्धिभेद से चार शाखायें]

यद्यपि इनका आचार्य बुद्ध एक है, तथापि शिष्यों के बुद्धिभेद से चार प्रकार की शाखा हो गई हैं। जैसे सूर्यास्त होने में जारपुरुष परस्त्रीगमन, और विद्वान् सत्यभाषणादि श्रेष्ठ कर्म करते हैं। समय

हरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते" (सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धप्रकरण, पृष्ठ १६) इस वाक्य का अनुवाद प्रतीत होता है। द्रष्टव्य—

(1) There are four Chief Buddhist schools, of which two belong to the Hinayana and two to the Mahayan. The Hinayana schools are the Vaibhashikas and the Sautrantikas, who are realists or sarvastivadins, believing that there is a self-existent universe, actual in space and time, where mind holds a place on equal terms with other finite things. The Mahayana schools are the Yogacharas who are idealists and the Madhyamikas (nihilists or sarvavaibhashikas).

(2) The Vaibhashikas are so called because they consider the language of other schools to be absurd, viruddhabhasa or because they attached themselves to the vibhasa or the commentary on the Abhidharma. They reject the authority of the Sutras altogether and acknowledge only the Abhidharma.

(3) The Sautrantikas are so called because of their adherance to the Suttapitaka (Sutras). They admit the extra-mental existance of the phenomenal world—not by direct perception, but through mental presentation, through which they infer the existence of external objects.

(4) The Vaibhashikas are presentationists. The Sautrantikas are representationists. The Yogacharas are idealists. The Madhyamikas are Nihilists.

(Vide S. Radhakrishnan's Indian Philosophy, Vol. I, pp. 613-630)

मूल सिद्धान्त—बौद्धमत के मूलसिद्धान्त हैं—'क्षणिकं-क्षणिकं, दुःखं-दुःखं, स्वलक्षणं-स्वलक्षणं,

---

१. अर्थात् कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है, केवल ज्ञानमात्र में उनकी स्थिति है।

एक, परन्तु अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टा करते हैं।

अब[2] इन पूर्वोक्त चारों में प्रथम 'माध्यमिक'—सबको क्षणिक मानता है। अर्थात् क्षण-क्षण में बुद्धि के परिणाम होने से जो पूर्व क्षण में ज्ञात वस्तु था, वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता। इसलिये सबको क्षणिक मानना चाहिए।' ऐसे मानता है।

दूसरा 'योगाचार'—'जो प्रवृत्ति है, सो सब दु:खरूप है। क्योंकि प्राप्ति में सन्तुष्ट कोई भी नहीं रहता। एक की प्राप्ति में दूसरे की इच्छा बनी रहती है।' इस प्रकार मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक'—'सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते हैं। जैसे गाय के चिह्नों से गाय और घोड़े के चिह्नों से घोड़ा ज्ञात होता है। वैसे लक्षण लक्ष्य में सदा रहते हैं।' ऐसा कहता है।

शून्यं शून्यम्।' माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक सभी इन चारों भावनाओं को मानते हैं।

माध्यमिक—प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में बदलता रहता है। जो पदार्थ जैसा अब है, दूसरे क्षण ठीक वैसा नहीं रहेगा। अपने कलकत्ता प्रवास में महात्मा बुद्ध ने कहा था कि जिस गंगा में मैंने कल स्नान किया था, आज उसी में स्नान नहीं किया है, क्योंकि आज न कल वाला जल है, न कल वाला रेत और न कल वाला किनारा है। आगन्तुक ने कहा—फिर भी आपने प्रारम्भ में यही कहा था कि गंगा में स्नान करके आया हूँ। स्पष्ट है कि सब कुछ बदल जाने पर भी कुछ है, जो नहीं बदलता। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, हर सात वर्ष में शरीर का एक-एक परमाणु बदल जाता है। ७० वर्ष के होते-होते १० बार पूरा शरीर बदल जाता है, फिर भी हम कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है, जिसे हमने पहली बार पैदा होने के १ घण्टे बाद देखा था। श्री अमर स्वामीजी ने एक अत्यन्त रोचक किन्तु सटीक आख्यान प्रस्तुत किया है—एक बौद्ध ने किसी अन्य बौद्ध की हत्या कर दी। न्यायाधीश भी बौद्ध था।

---

१. 'यद्यपि भगवान् बुद्ध एक एव बोधयिता, तथापि बौद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा गतोऽस्तमर्क इत्युक्ते जार-चोरानूचानादय: स्वेष्टचेष्टानुसारेणाभिसरण-परस्वहरण-सदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते।' बौद्धद०, पृष्ठ १६।

२. यहाँ से आगे पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है। वस्तुत: अगला प्रकरण माध्यमिक आदि बौद्ध-भेदों का नहीं है। अपितु पूर्व संकेतित बुद्ध की उन भावनाओं का है, जिन्हें उनके शिष्यों ने अन्यथा ग्रहण किया। वह बुद्ध का उपदेश इस प्रकार है—'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, दु:खं दु:खम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्, शून्यं शून्यम्'। बौद्धद०, पृष्ठ १६। इन चारों तत्त्वों की भाषा में लिखी गई व्याख्या ठीक है। केवल इस व्याख्या में से बारीक टाइप में छपा अंश यहाँ नहीं होना चाहिए। उक्त चार भावनाओं की व्याख्या माध्यमिक आदि पद बोधित आचार्यों ने इस प्रकार समझी—

माध्यमिक—'आचार्य ने क्षणिक उपदेश के द्वारा यह दर्शाया है कि स्थायित्व अनुकूलवेदनीयत्व अनुगतत्व सत्यत्व का स्वीकार करना भ्रम है। इस भ्रम को दूर करने के लिए क्षणिकत्व का सर्वशून्य में पर्यवसान जानना चाहिए।' (बौ० द०, पृ० २६)।

योगाचार—'बुद्धोपदिष्टभावना-चतुष्टय को स्वीकार करते हुए बाह्यार्थशून्यत्व को भी मानना चाहिए। सर्व-शून्य पक्ष में यदि अन्त:शून्य भी मान लिया जाये, तो सारा जगत् ही अन्ध हो जाये, उसे पदार्थ की प्रतीति ही न होवे। इसलिए पदार्थ बाहर नहीं हैं भीतर हैं, इसमें बुद्ध का तात्पर्य है।' (बौद्धद०, पृ० ३०)

वैभाषिक—'क्षणिकत्व का उपदेश होने पर भी बाह्यवस्तु की स्थिति माननी चाहिए। अन्यथा प्रत्यक्ष ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता है।' (बौद्धद०, पृष्ठ ३३)।

सौत्रान्तिक—'प्रत्यक्षबल से पदार्थ को बाहर मानना ठीक नहीं है। पदार्थ के एकदेश के प्रत्यक्ष से अनुमान द्वारा उस पदार्थ का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान होता है। अत: साङ्गोपाङ्ग बाह्यपदार्थ अनुमान-गम्य है।'

चौथा 'वैभाषिक'—'शून्य ही को एक पदार्थ मानता है।'

प्रथम माध्यमिक सबको शून्य मानता था। उसी का पक्ष वैभाषिक का भी है। इत्यादि बौद्धों में बहुत से विवाद पक्ष हैं। इस प्रकार चार प्रकार की भावना मानते हैं।

[चारों बौद्ध-शाखाओं के सिद्धान्त का खण्डन]

उत्तर—जो सब शून्य हो, तो शून्य का जाननेवाला शून्य नहीं हो सकता। और जो सब शून्य होवे, तो शून्य को शून्य नहीं जान सके। इसलिये शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।

न्यायाधीश ने अपराधी से पूछा—तुमने अमुक व्यक्ति की हत्या की? उसने उत्तर दिया—नहीं की। न्यायाधीश ने कहा—कई लोगों ने साक्षी दी है कि तुमने उनके सामने हत्या की। अभियुक्त ने कहा—न्यायाधीश महोदय! मैं बौद्ध हूँ; आप भी बौद्ध है; जिसको मारा गया बताया जाता है, वह भी बौद्ध था और जिन्होंने साक्षी दी है, वे भी बौद्ध हैं। हमारा सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है। इसलिए न मैं अब वह रहा हूँ, न वे साक्षी अब रहे। सब कुछ बदल गया। यदि मैंने कभी किसी को मारा भी होगा तो उस समय में और रहा हूँगा, इस समय और हूँ। साक्षी भी और रहे होंगे, इस समय और हैं। यदि इनकी साक्षी मानी जायेगी तो अन्य के देखे हुए का अन्य साक्षी होगा। और यदि मुझे मृत्युदण्ड दिया जायेगा तो अन्य के किए अपराध का अन्य को फल भोगना पड़ेगा और वह सरासर अन्याय होगा। सोचिए, न्यायाधीश कैसे किसी को दण्ड देगा।

यदि सब कुछ क्षणिक माना जायेगा तो प्रत्यभिज्ञा नहीं रहेगी। अर्थात् किसी को कोई बात कहकर कोई काम करके यह स्मरण नहीं होना चाहिए कि मैंने यह बात कही थी या वह काम किया था। क्योंकि—पदार्थ भी क्षण-क्षण में और हो जाता है। बात कहने या करनेवाला व्यक्ति भी क्षण भर में कुछ का कुछ हो जाता है और ज्ञान भी क्षण-क्षण में बदलता है, तो फिर स्मरण कैसे रह सकता है? किन्तु स्मरण होता है, जिससे उनका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

माध्यमिक सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य नागार्जुन थे। उनकी एक कारिका में, जिसमें कि आठ नकार हैं, माध्यमिक मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वे आठ नकार हैं—

अनिरोधम् अनुत्पादम्, अनुच्छेदम् अशाश्वतम्। अनेकार्थम् अनानार्थम् अनागमम् अनिर्गमम्॥

इसका अर्थ यह है—न नाश, न उत्पत्ति, न विध्वंस, न नित्यता, न एकार्थ, न नानार्थ, न आगमन, न गमन।

साधक इस शब्द जाल में उलझकर रह जाता है।

माध्यमिकों के यहाँ शून्यता का अर्थ अभाव नहीं है। व्यावहारिक जगत् की निरन्तर परिवर्त्तनशीलता का नाम शून्यता है। शून्यता का दूसरा अर्थ है कि दृश्यमान पदार्थों में न सार है, न सत्यता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि न वे उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। न उनका आविर्भाव होता है, न तिरोभाव। वह केवल भ्रम और प्रपञ्च है। प्रत्येक पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व नहीं था, विध्वंस के पश्चात् नहीं रहेगा, शून्य था, शून्य हो जायेगा और वर्त्तमान में जो कुछ दीखता है, स्वप्नवत् ही दीखता है। आदि शंकराचार्य ने अपने वेदान्तदर्शन में बौद्धमत के कतिपय अंशों का समावेश किया था। शंकर के दादागुरु गौड़पादाचार्य की कारिका में बौद्धमत की छाया है—विशेषतः विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सम्प्रदाय की। गौड़पाद ने माध्यमिक कारिका पर टीका लिखी है। ऐसे लोग भी हैं, जिनका विश्वास है कि गौड़पाद अपने आप में बौद्धमतावलम्बी था तथा उसकी सम्मति में बौद्धमत

और जो 'योगाचार' बाह्यशून्यत्व मानता है, तो पर्वत इसके[1] भीतर होना चाहिए। जो कहे कि पर्वत भीतर है, तो उसके हृदय में पर्वत के समान अवकाश कहाँ है? इसलिये बाहर पर्वत है, और पर्वतज्ञान आत्मा में रहता है।

उपनिषदों की पद्धति के समान है। (दासगुप्ता—हिस्ट्री आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी, पृष्ठ ४२३-२८) गौड़पाद की निम्न कारिका माध्यमिकों के शून्यवाद के निकट पहुँच जाती है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।—माण्डूक्यकारिका ३१

अर्थात् जो पहले न हो और अन्त में न रहे, वह वर्त्तमान में भी नहीं होता।

परन्तु जो प्रत्यक्ष है—जिसे प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि कोई पदार्थ वर्त्तमान में है ही नहीं तो फिर उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'यह' पहले नहीं था, या फिर नहीं रहेगा। उसके पहले न होने और फिर न रहने का कथन ही इस बात का प्रमाण है कि वह इस समय यहाँ है। मैं जिस कुर्सी पर बैठकर लिख रहा हूँ, वह बनने से पहले नहीं थी। यह भी ठीक है कि एक दिन ऐसा भी होगा, जब वह नहीं रहेगा। तो क्या यह समझकर कि वह अब भी नहीं है, मैं उस पर से उठ बैठूँ? रोटी बनने से पहले नहीं होती और कुछ समय बाद नहीं रहती तब क्या इस कारण उसे असत् मानकर खाने से इनकार कर दूँ? वस्तुतः संसार में जितनी भी क्रियायें हैं, वे सब आदि और अन्त में नहीं होतीं, मध्य में होती हैं। स्वप्न भी पूर्वदृष्टश्रुत का ही होता है, शून्य का नहीं। जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं आता।

नागार्जुन की मान्यता है कि किसी पदार्थ की प्रतीति हमें उसके गुणों से अर्थात् उसके गुणों का ज्ञान होने पर होती है। किन्तु गुणाधान से पूर्व पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता। तब फिर वे गुण कहाँ रहते हैं? न वे अपने आप में रहते हैं और न गुणरहित पदार्थ में रह सकते हैं। पदार्थ भी गुणों के बिना नहीं रह सकता—कम-से-कम हमें उसका ज्ञान नहीं हो सकता। गुणों को द्रव्य और द्रव्य को गुण भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शून्य ही एक तत्त्व है।

परन्तु शून्य का ज्ञाता और शून्य (ज्ञेय) के उत्पन्न होने से सर्वशून्य कैसे हो सकता है? यदि सभी शून्य है तो उसके जाननेवाला भी शून्य है। जब दोनों शून्य हैं तो किसी ने किसी को नहीं जाना अथवा शून्य को शून्य ने जाना। किन्तु शून्य को शून्य कैसे जान सकता है? तब शून्यत्व की सिद्धि कैसे हुई? जब सब शून्य है तो किसी का 'सब शून्य है' जानना भी शून्य है। इस प्रकार शून्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए शून्य के ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थों का होना सिद्ध है।

योगाचार—योगाचार के अनुसार निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति तो योग के द्वारा ही सम्भव है। यह विषयीगतदर्शन का प्रतिपादक है। उसके मत में बाह्य जगत् की सत्ता मात्र कल्पना है—Matter is an idea and nothing more. जैसे स्वप्न में वस्तु न होने पर भी दिखाई देती है, वैसे ही संसार में सब कुछ दिखाई देता है, पर वास्तव में होता कुछ भी नहीं। और यदि उसकी सत्ता यथार्थ है तो उसे जाना नहीं जा सकता। डा० राधाकृष्णन का कथन है—"We can never get behind the screen and know what causes the ideas. And if we draw conclusions from the testimony which the premises do not suppose, we will be deceiving ourselves." इस विषय में इसकी बर्कले के सिद्धान्त से समानता है। योगाचार का सिद्धान्त विज्ञानवाद के नाम से जाना जाता है, क्योंकि वह चेतना या विज्ञान से भिन्न किसी भी यथार्थ सत्ता का निषेध करता है। उसे निरालम्बनवाद भी कह सकते हैं।

---

१. इसके=ज्ञाता के।

यह मन्तव्य भी मिथ्या है। हम प्रकृति की सचाइयों को पूरी तरह भले ही न जान सकें, तब भी उसकी सत्ता से इनकार नहीं कर सकते। स्वप्न में भी वही वस्तु दिखाई देती है, जो कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी वास्तविक रूप में देखी होती है। जन्मान्ध को कभी रूप का स्वप्न इसीलिए नहीं आता, क्योंकि वास्तविक रूप उसने कभी देखा ही नहीं। जाग्रत् और स्वप्न में क्रम का भेद तो हो जाना सम्भव है। जाग्रत् में सब कुछ क्रमबद्ध देखा गया स्वप्न में कभी कुछ दिखाई देने लगता है, कभी कुछ।

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।१४) में कहा है—"यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः"। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में मनुष्य जिन वस्तुओं को देखता है, उन्हीं को स्वप्न में (सोता हुआ) देखता है। "Aristotle refers dreams to the impressions left by the objects seen with the eyes of the body." (Encyclopedia Britt Ed. 1911, Vol. 8, on Dreams). "Plato connects dreaming with the normal working operations of the mind." (गंगाप्रसाद उपाध्याय—अद्वैतवाद)। स्वप्न में पूर्णरूप में न होने का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश व काल में उचितनिमित्तों से न होना। स्वप्न में शरीर के अन्दर बड़े-बड़े जंगल, पहाड़ व नगर दीख पड़ते हैं। छोटे से देह में इन सबका होना असम्भव है—इनके दीखने का यह उचित देश नहीं है। रात्रि में सूर्य नहीं होता। इसलिए यदि स्वप्न में दिन और दिन में होने-वाले कार्य दीख पडते हैं, यह उनके लिए उचित काल न होने से विपरीत ज्ञान मात्र है। परन्तु सृष्टि में इन सबकी वास्तविक सत्ता होने से कौन इनकार कर सकता है? जगत् में हाथी की सवारी न करने पर भी स्वप्न दशा में हाथी पर सवारी करने का यह अर्थ नहीं कि स्वप्न में एक नवीन मानस सृष्टि की रचना होती है, जिसका जाग्रत् से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वास्तव में स्वप्न में जाग्रत् ही कुछ अस्त-व्यस्त होकर प्रतिभासित हो उठता है। हमने जाग्रत् में हाथी को भी देखा है और उस पर सवार होकर लोगों को आते-जाते भी देखा है। स्वप्न में इतना ही विशेष है कि दूसरों की जगह हम अपने आपको हाथी पर बैठा देखते हैं। हाथी पर सवारी करने की भावना हमारी भी थी, जिसे हम जाग्रत् में पूरी न कर सके। उसी भावनावश हमारी तीव्र वासना ने हमें हाथी पर जा बिठाया। इस प्रकार योगाचार का दृष्टान्त विषम है और उनके सिद्धान्त का खण्डन ही करता है।

भ्रम भी उसी वस्तु का होता है, जो कभी-न-कभी और कहीं-न-कहीं देखी होती है। जिसने कभी वास्तविक सर्प नहीं देखा, उसे रस्सी में साँप का भ्रम कभी नहीं होगा। योगाचार के मतानुसार बाह्य शून्य होने से पर्वत बाहर नहीं होता है और भीतर उसके लिए अपेक्षित स्थान या अवकाश नहीं है। जो वस्तु बाहर भी नहीं और भीतर भी नहीं, फिर भी दिखाई देती है, तो उसका दिखाई देना मिथ्या होने से उसका ज्ञान मिथ्या है। इस प्रकार योगाचार का बाह्यशून्यत्व का मन्तव्य भी सर्वथा मिथ्या है।

वास्तव में बाह्यार्थशून्य होने पर भीतर ज्ञान हो ही नहीं सकता। बाहर घट न होने पर कोई नहीं कहता कि 'यह घट है'। यदि पदार्थ का अस्तित्व भीतर ही हो तो उसमें तथाकथित बाह्य पदार्थ के सभी गुण होने चाहिए। व्याप्य से व्यापक का सूक्ष्म होना अनिवार्य है। तब विशालकाय पर्वत (व्यापक) छोटे से हृदयदेश (व्याप्य) में कैसे समा सकता है? बाहर स्थित अग्नि के सम्पर्क में आने पर तो शरीर भस्म हो जाता है। यदि वास्तव में अग्नि का अस्तित्व भीतर ही है तो वह शरीर को क्यों नहीं जला डालती? बाहर से जिह्वा पर शक्कर रक्खे बिना ही हृदय में अवस्थित शक्कर के ज्ञानमात्र से हमारी वासना की तृप्ति क्यों नहीं हो जाती? यदि सब कुछ भीतर ही हो तो सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति और प्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ किए बिना ही संकल्पमात्र से मनुष्य की सब आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करें। वस्तुतः पर्वत, अग्नि, शक्कर आदि पदार्थ तो बाहर ही हैं, केवल उनका ज्ञान आत्मा में

'सौत्रान्तिक' किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानता, तो वह आप स्वयं और उसका वचन भी अनुमेय होना चाहिए, प्रत्यक्ष नहीं। जो प्रत्यक्ष न हो, तो 'अयं घटः' यह प्रयोग भी न होना चाहिए। किन्तु 'अयं घटैकदेशः' 'यह घट का एक देश है' ऐसा प्रयोग होना चाहिए। और एकदेश का नाम घट नहीं, किन्तु समुदाय का नाम घट है। 'यह घट है' यह प्रत्यक्ष है, अनुमेय नहीं। क्योंकि सब अवयवों में अवयवी एक है। उसके प्रत्यक्ष होने से सब घट के अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं। अर्थात् सावयव घट प्रत्यक्ष होता है।

है। पदार्थों की सत्ता बाह्य जगत् में न हो तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से आत्मा में उनके ज्ञान का प्रश्न ही पैदा न हो। ज्ञेय पदार्थ के बिना न ज्ञाता हो सकता है, न ज्ञान।

सौत्रान्तिक—की मान्यता है कि बाहर कोई पदार्थ साङ्गोपाङ्ग पूरा नहीं दिखाई देता है, किन्तु पदार्थ के देश वा एक अङ्ग का प्रत्यक्ष होने से शेष का अनुमान कर लिया जाता है। वस्तुतस्तु एक अंग के प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष मानना ही भूल है। प्रत्यक्ष का अर्थ ही पदार्थ का सांगोपांग दीखना है। जिसे हम घट का प्रत्यक्ष कहते हैं, यथार्थ में वह मात्र रूप या आकार का प्रत्यक्ष है, उसमें घटत्व अनुमान पर आधारित है। अनुमान में भूल सम्भव है, प्रत्यक्ष में नहीं। इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों के सन्निकर्ष अर्थात् निकट सम्बन्ध से अव्यपेदश्य=संज्ञा का नहीं संज्ञी का अव्यभिचारी=सन्देहरहित व्यवसायात्मक=निश्चयात्मक ज्ञान का नाम ही प्रत्यक्ष है। सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषण भाव। किस अर्थ के प्रत्यक्ष में कौन-सा सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, यह इस प्रकार समझना चाहिए—

द्रव्य के प्रत्यक्ष में संयोग; गुण, कर्म और द्रव्यगत जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय; गुण-समवेत तथा कर्मसमवेत जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय; शब्द के प्रत्यक्ष में समवाय; शब्दगत जाति के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय और अभाव के प्रत्यक्ष में विशेष्यविशेषणभाव।

इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष उक्त छह विधाओं में होता है। इस प्रकार सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' कहाता है। [इस छह प्रकार के सन्निकर्ष की विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य आचार्य उदयवीरशास्त्रीकृत न्यायदर्शनभाष्य]

जो प्रत्यक्ष देखा जाता है, वह सदा सत्य होता है। जब कोई झुटपुटे में रज्जु को देखता है तो वह उसे सर्प जान पड़ती है। यदि उस समय साथ ही एक सर्प पड़ा होता तो दोनों एक जैसे जान पड़ते। कारण ? इस देखने में आधा प्रत्यक्ष है, आधा अनुमान। आँख ने केवल कुण्डलियाँ देखीं। कुण्डलियाँ रस्सी में भी होती हैं, और साँप में भी। प्रत्यक्ष के द्वारा केवल आकार का ज्ञान हुआ। यदि आकार ही सब कुछ होता तो दोनों रस्सी भी हो सकते थे और साँप भी। प्रत्यक्ष में कोई भूल नहीं। किन्तु प्रत्यक्ष साँप का नहीं हुआ, केवल उसके आकार का हुआ। साँप चलता भी है। यदि किसी लकड़ी से उसे छुआ गया होता और उसमें गति न होती या किसी टार्च के प्रकाश में उसे देखा गया होता तो स्पष्ट हो जाता कि वह साँप नहीं, रस्सी है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया तब पूरी होती। तभी पदार्थ का पूरा ज्ञान होता।

यदि प्रत्यक्ष केवल एकदेशी होता है तो सौत्रान्तिक और उसके मत के भी केवल एकदेश के प्रत्यक्ष होने और शेष का अनुमान होने से उसकी वास्तविकता सन्दिग्ध हो जायेगी। सब अवयवों में अवयवी एक है। अवयवी के प्रत्यक्ष होने से अवयवों का और अवयवों के प्रत्यक्ष होने से अवयवी का प्रत्यक्ष होता है। सावयव घट प्रत्यक्ष होता है। इसलिए हम 'अयं घटैकदेशः' न कह कर 'अयं घटः' कहते हैं। प्रत्येक अवयव भी अपने आप में एक अवयवी है। क्योंकि उसे भी उससे छोटे अनेक अवयवों

चौथा 'वैभाषिक' बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है। वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जहां ज्ञाता और ज्ञान होता है, वहीं प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है, तथापि तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है।

[पूर्वोक्त चार प्रकार की भावनाओं की समीक्षा]

'[1]जो क्षणिक **पदार्थ और उसका ज्ञान क्षणिक हो, तो 'प्रत्यभिज्ञा'** अर्थात् मैंने वह बात की थी, ऐसा स्मरण **न होना चाहिये।** परन्तु पूर्वदृष्टश्रुत का स्मरण होता है। इसलिये **क्षणिकवाद भी ठीक नहीं।**

जो सब दुःख ही हो, और सुख कुछ भी न हो, तो **सुख की अपेक्षा के विना दुःख सिद्ध नहीं हो सकता।** जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन, और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है। इसलिये **सब दुःख मानना ठीक नहीं।**

जो स्वलक्षण ही मानें, तो नेत्र[2] रूप का लक्षण है, और रूप लक्ष्य है। जैसे घट का रूप घट के रूप का लक्षण चक्षु लक्ष्य से भिन्न है, और गन्ध पृथिवी से अभिन्न है। इसी प्रकार **भिन्नाभिन्न लक्ष्य लक्षण मानना चाहिये।**

शून्य का जो उत्तर पूर्व दिया है, वही अर्थात् **शून्य का जाननेवाला शून्य से भिन्न होता है।**

[संसार दुःखरूप है—जैन बौद्ध सिद्धान्त]

'सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थंकरसंमतम्।[3]'

(परमाणुओं) में विभक्त किया जा सकता है। हाथ शरीर का एक अवयव है। किन्तु अँगुलियों, हड्डियों, नस-नाड़ियों आदि की अपेक्षा से वह अवयवी है अर्थात् इन अवयवों से युक्त अवयवी है। इसलिए यदि हम छोटे-छोटे अवयवों से बने एक अवयवी का प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो उस बड़े अवयवी का प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर सकते, जिसका वह अवयवी स्वयं अवयव है।

वैभाषिक—इसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। प्रत्यक्ष से पदार्थों की सत्ता सिद्ध है। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान की बात करना मूर्खता है। परन्तु प्रत्यक्ष का विषय बाहर होने पर भी उसका ज्ञान आत्मा में होने से केवल बाह्य प्रत्यक्ष का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

दुःखमीमांसा—बुद्ध के मत में दुःख के स्वरूप प्रधानतः जरा, व्याधि और मरण हैं। जन्म ही से ये त्रिविध दुःख उत्पन्न होते हैं। इसलिए जन्म भी दुःख के अन्तर्गत है। दुःख की सत्ता से कोई इनकार नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष सत्य है। बुद्धदेव ने इनका नाम 'आर्य सत्य चतुष्टय' रक्खा है। कहा है—

"इदं थी पन भिक्खवे दुःखं अरिय सच्चम, जातिपि सच्चम, जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खा, मरणंपि दुक्खम्"। (महावग्ग १।६।१६)

"भिक्षुगण, यही दुःख है—यह आर्य सत्य—परम सत्य है। जन्म भी दुःख, जरा भी दुःख, मृत्यु भी दुःख और व्याधि भी दुःख"।

बौद्धमत में चार आर्यसत्य हैं—१ दुःख; २. दुःख समुदय (दुःख हेतु); ३. दुःख निरोध;

---

१. यहाँ से पूर्वोक्त चार भावनाओं की समीक्षा जाननी चाहिए।

२. यहाँ पाठ कुछ व्यस्त हुआ है। श्री स्वामी वेदानन्द जी ने इस पाठ का शोधन इस प्रकार किया है—'नेत्रग्राह्यत्व रूप का लक्षण है, और रूप लक्ष्य है। जैसा घट का रूप लक्ष्य, चक्षुर्ग्राह्यत्व लक्षण से भिन्न है और गन्ध।'

३. बौद्धदर्शन पृष्ठ २८, पं० ३।

४. दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपदा (दु:ख नाश का मार्ग)।

'सब संसार में दु:खरूप, दु:ख का घर, दु:ख का साधनरूप भावना करके संसार से छूटना बौद्ध मानते हैं। चारवाकों में अधिक[2] मुक्ति और अनुमान तथा जीव को न मानना है।

दु:खनाश के मार्ग को भी बुद्ध ने आर्य अष्टाङ्ग मार्ग का नाम दिया है। यह अष्टाङ्गक मार्ग है—

१. सम्मा दिट्ठी (सम्यग् दृष्टि), २. सम्मा संकल्प (सम्यक् संकल्प), ३. सम्मा वाचा (सम्यक् वचन), ४. सम्मा कम्मन्त (हिंसा आदि दुराचार से विरति), ५. सम्मा जीव (सच्ची आजीविका), ६. सम्मा व्यायाम (सत्याचरण के लिए दृढ़ निश्चय व अभ्यास), ७. सम्मा सति (सम्यक् स्मृति), ८. सम्मा समाधि (वितर्क विचार के शमित हो जाने पर चित्त की एकाग्रता एवं समाधि)

दु:ख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। परन्तु आनन्दस्वरूप परमात्मा की सृष्टि में दु:ख ही दु:ख हो—सुख कहीं हो ही नहीं—यह कैसे सम्भव है। सुख-दु:ख सापेक्ष होने से सुख का अस्तित्व माने बिना दु:ख की कल्पना कैसे की जा सकती है? मनुष्य का स्वभाव है कि वह सुख को बड़ी जल्दी भूल जाता है, जबकि दु:ख की स्मृति देर तक बनाये रखता है। सुख में बीते महीने क्षण भर में बीत गये लगते हैं, किन्तु दु:ख की एक रात काटे नहीं कटती। वस्तुत: संसार में सुख-दु:ख दोनों हैं। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दु:ख का मिश्रण रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय और चिरस्थायी है। अत: अपवर्ग की अपेक्षा हेय है और भोग की अपेक्षा अपवर्ग ग्राह्य है। ऐसा जानकर और 'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्' के सिद्धान्त को मानकर, भोग को अपवर्ग के साधनरूप में अपनानेवाले के लिए संसार दु:खरूप नहीं रह जाता। दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष है और इसका उपाय है विवेकख्याति, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार। इस प्रकार दु:ख का कारण संसार नहीं, अपितु उसके यथार्थस्वरूप को न समझना है। संसार की सब विभूतियाँ जीवात्मा के लिए हैं। आत्मा का यह अपना प्रयास है कि वह उनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। सुख-दु:ख तो आत्मा की अपनी कमाई है।

प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमें प्रवृत्त होता और दु:ख जानकर उससे विरत होता है। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। कोई भी संसार को छोड़ना नहीं चाहता। सर्वथा दु:खी दीखनेवाला भी यहाँ बना रहना चाहता है। किसी कवि ने कहा था—"अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा बलीयसी" अर्थात् जीवों में जीने का आशा (जिजीविषा) बड़ी प्रबल होती है। एक अन्य विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया—"देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदमपि न वाञ्छति" अर्थात् मनुष्य इन्द्रपद के बदले भी शरीर का परित्याग करना नहीं चाहता। जहाँ शरीर दु:खों का कारण है, वहाँ सुख और आनन्द की प्राप्ति का साधन भी है। मानवशरीर प्राप्त होने पर ही जीवात्मा उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है, जिनके फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति संभव है। यदि संसार में दु:ख ही दु:ख होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करते रहने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने यथा सुखोपभोग

१. यह तीन पंक्तियों का पाठ वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'पञ्च स्कन्धों' के वर्णन के अन्त में और 'देशना लोकनाथानां' से पूर्व मिलता है। परन्तु ये पंक्तियाँ पूर्व पंक्ति की व्याख्यारूप होने से इनका निर्देश भी यहीं होना उचित है। 'उत्तर' में भी यही क्रम विवक्षित है।

'अधिक' यह क्रियाविशेषण है। 'अत: चारवाकों में मुक्ति अनुमान तथा जीव को न मानना अधिक है' ऐसा समझें।

जिनको बौद्ध तीर्थङ्कर मानते हैं, उन्हीं को जैन भी मानते हैं। इसीलिये ये दोनों एक हैं और पूर्वोक्त **'भावनाचतुष्टय'** अर्थात् चार भावनाओं से सकल वासनाओं की निवृत्ति से शून्यरूप निर्वाण अर्थात् मुक्ति मानते हैं।

[पांच स्कन्ध और उनकी व्याख्या]

अपने शिष्यों को योग आचार का उपदेश करते हैं। गुरु के वचन का प्रमाण करना, अनादि बुद्धि में वासना होने से बुद्धि ही अनेकाकार भासती है। उनमें ये पाँच स्कन्ध[1] हैं—

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकः ॥[2]

[3]**प्रथम**—जो इन्द्रियों से रूपादि विषय ग्रहण किया जाता है, वह **'रूपस्कन्ध'**। **दूसरा**—

की सामग्री जुटाने के लिए अपेक्षित साधनोपायों के चिन्तन में सदा प्रवृत्त रहता है। 'जीवेम शरदः शतम्' से सन्तुष्ट न होकर 'भूयश्च शरदः शतात्' की कामना करता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने तथा असह्य कष्ट अनुभव करते हुए भी येन-केन-प्रकारेण मौत को भगाकर कुछ और काल तक यहां बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि उसे विश्वास है कि संसार में दुःख की तुलना में सुख की मात्रा कहीं अधिक है।

पूर्वोक्त भावनाचतुष्टय—"तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति" (बौ० द० पृ० ३०) इस वाक्य का अनुवादमात्र यह वाक्य है।

अपने शिष्यों को—"शिष्यैस्तावद् योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम्। तत्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः।" (बौ० द० पृष्ठ ३०) अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए गुरु से पूछना योग है और गुरु के कहे पदार्थ को स्वीकार करना आचार है।

उनमें ये पाँच स्कन्ध—इसके आगे दिया गया सारा सन्दर्भ सर्वदर्शनसंग्रह के इस वाक्य-समुदाय का अनुवाद है—"तत्र रूप्यन्ते एभिर्विषया इति रूप्यन्ते इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्धद्वयसंबन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः तदिदं सर्वं दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं सम्पादयेत्"। (स० द० सं० बौ० द० पृष्ठ ३६) ये पाँचों स्कन्ध दुःखात्मक हैं। इसीलिए बौद्ध और बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय और उनके समर्थक संसार को दुःखरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं।

रूपविज्ञानवेदना—

The five skandhas constitute the component parts of a personality...the word means heap, collection or group. Vasubandhu cites the following passage from the sutras—"All things

१. उनमें = बुद्धि के अनेकाकार भासने में।

२. बौद्धदर्शन, पृष्ठ ३६, पं० ११।

३. यहां से आगे की भाषा का मूलपाठ इस प्रकार है—'तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति, रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्धद्वयसंबन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः तदिदं सर्वं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं सम्पादयेत्।' बौद्धद०, पृ० ३६, ४०।

possessed of form, whether past, present or future, whether internal or external, whether course or fine, whether mean or great, whethere distant or near—all such things constitute one skandha, called the rupa skandha."

1. RUPA literally means form or shape (sometimes colour also) and corresponds roughly to our matter, and in the personality implies the physical body.

2. VEDENA, the first of the four immaterial skandhas, is sometimes translated sensation, but it corresponds more closely to our own term feeling, for in the first place, sensation in the sense of awareness is not Vedana, but vijnana, and secondly the fundamental division of vedana into pleasant and unpleasant, joyful, sorrowful and neutral (the first two physical, the next two mental and the last both) shows that the hedonistic side of vedana is emphasized. It may be more adequately defined as 'sense feeling occasioned by sense impressions, which is almost word for word the definition given to it by Vasubandhu.

3. SANJNA is sometimes rendered 'perception' and sometimes 'Conception.' Vasubandhu defines it as 'the grasping of the differences of characteristics'. And again sanjna skandha has for its essence the grasping of images, i. e. it seizes hold of the attributes, blue or yellow, long or short, male or female, pleasant or unpleasant, antipathetic or sympathetic etc. Personally I favour the term 'idea' for sanjna.

4. SAMSKARA...'Confections' which is perhaps the most correct etymologically, though personally I should prefer 'Co-efficient'. The definition of, samskara as volition would have rounded off the Buddhist list of the five skandhas very well, but as psychological analysis continued and further factors in the mental process were formulated a place had to be made for them in the classification of the factions of personality Thus Mrs. Rhys Davids, speaking of this matter, says, "The constructive aspect of this skandha was reserved for volition. The other fifty one factors (of the pali enumeration) are rather co-efficients of any conscious state than pre-eminently active or constructive functioning." (Bud. Psy., P. 51)

Samskara thus came to be used as a term denoting all the mental concommitants which are at any time associated with the arising of vijnana or consciousness.

5. VIJNANA—Consciousness or cognition.

(Mc-Govern's manual of Buddhist philosophy, pp. 83-94)

S. Radhakrishnan's following note to be added—

"While the five skandhas are said to constitute an exhanstive account of the nature of man, so long as he is looked apon as a unit of the empirical world, we get a slight modification of this view when we turn to the Buddhist emphasis on entuitive knowledge called prajna. The theory of knowledge base on the skandhas is sensationalism. The concept of prajna compels a change in it. Prajna stands for the highest activity of the human mind and has supreme valve from the religious point of view. Attempts are no doubt made in the Pali canon and Vishuddha-magga to bring prajna under one of the skandhas. In the sutta-pitaka it is allied to vijnana. in the Abhidharma it is brought under Samskara. The kathavattu refers to and refutes a heretical view which would class one form of prajna, divyachakshu or the divine eye, under the rupa skandha. In Buddha ghosha's day Sanjna, Vijnana and Prajna represented simple and complex modes of human insight."

(Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 423)

आलयविज्ञान, प्रवृत्ति की जाननारूप व्यवहार को '**विज्ञानस्कन्ध**'। **तीसरा**—रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से उत्पन्न हुआ सुख-दुःख आदि प्रतीतिरूप व्यवहार को '**वेदनास्कन्ध**'। **चौथा**—गौ आदि संज्ञा का सम्बन्ध नामी के साथ माननेरूप को '**संज्ञास्कन्ध**'। **पाँचवाँ**—वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधातृषादि उपक्लेश, मद प्रमाद अभिमान, धर्म और अधर्मरूप व्यवहार को '**संस्कारस्कन्ध**' मानते हैं।

[तीर्थङ्करों पर विश्वास, और द्वादशायतन पूजा]

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः पुनः ॥१॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा ॥२॥[1]

'द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धा मन्यन्ते'—

अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः ॥३॥
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ॥४॥[2]

अर्थात् जो ज्ञानी विरक्त जीवनमुक्त लोकों के नाथ बुद्ध आदि तीर्थङ्करों के पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाला, जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का उपदेशक है, जिसको बहुत से भेद और बहुत से उपायों से कहा है, उसको मानना ॥१॥

देशना लोकनाथानाम्—सर्वदर्शनसंग्रह (पृष्ठ ४५) में यह और इससे अगला श्लोक 'बोधि-चित्तविवरण' नामक ग्रन्थ के बताये गये हैं। गम्भीरोत्तानभेदेन—भाव यह है कि बौद्धों का उपदेश कहीं गम्भीर, कहीं सरल और कहीं सरल-गम्भीर होने से भिन्न-भिन्न है, तथापि शून्यत्वरूप अद्वैत दृष्टि से भिन्न है।

जीवनमुक्त—अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति देह रहते ही होती है। मुक्ति का अर्थ है—अब आगे जन्म न होना। जब यह निश्चित है कि देह रहते ही अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है तब यह भी निश्चित है कि अज्ञान की निवृत्ति होते ही देहपात नहीं हो जाता। ब्रह्मप्राप्ति से पूर्व आत्मा के लिए प्रारब्ध कर्मों का फल भोग लेना आवश्यक है। इसलिए मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से मुक्ति की योग्यता (Eligibility) प्राप्त कर लेने पर भी कुछ नियत काल तक देह बना रहता है। परन्तु उस अवधि में जीवात्मा ऐसा कोई कर्म नहीं करता, जिसका फल भोगने के लिए उसे देह धारण करना पड़े। यही जीवनमुक्ति की अवस्था है।

तीर्थङ्कर—इसका शाब्दिक अर्थ है—तीर्थ अर्थात् संसार सागर से सुगमतापूर्वक पार उतरने के लिए मार्ग बनानेवाले—"Tirtha is a ford or that part of a riwer which is easily crossable. As such Tirthankaras are the ford-makers, i. e., those high souls who make it easy for worldy people to cross the ocean of warldly life and attain salvation." मूर्त्तियों की तरह ही पूजा करते हुए भी जैनमतावलम्बी तीर्थङ्कर-पूजा को मूर्त्तिपूजा नहीं मानते।

---

१. बौद्धदर्शन, पृष्ठ ४५।
२. बौद्धदर्शन, पृष्ठ ४६।

बड़े गम्भीर और प्रसिद्ध भेद से कहीं-कहीं गुप्त और प्रकटता से भिन्न-भिन्न गुरुओं के उपदेश, जो कि न्यून लक्षणयुक्त पूर्व कह आये, उनको मानना ।।२।।

जो **द्वादशायतन** पूजा है, वही मोक्ष करनेवाली है । उस पूजा के लिये बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त होके '**द्वादशायतन**' अर्थात् बारह प्रकार के स्थान-विशेष बनाके सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये । अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन ? ।।३।।

इनकी **द्वादशायतन पूजा** यह है—पाँच ज्ञान इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा और नासिका । [1]पाँच कर्मेन्द्रिय अर्थात् वाक् हस्त पाद गुह्य और उपस्थ ये १० इन्द्रियाँ, और मन बुद्धि इन ही का सत्कार, अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना इत्यादि बौद्ध का मत है ।।४।।

[संसार दुःखरूप हो, तो उसमें प्रवृत्ति क्यों ?]

उत्तर—जो सब **संसार दुःखरूप होता, तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिये ।** संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये सब संसार दुःखरूप नहीं हो सकता । किन्तु **इसमें दुःख-सुख दोनों हैं ।** और जो बौद्ध लोग ऐसा ही सिद्धान्त मानते हैं, तो खानपानादि करना और पथ्य तथा ओषध्यादि सेवन करके शरीर-रक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते हैं ? जो कहैं कि हम प्रवृत्त तो

द्वादशायतन पूजा—'द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम्' (बौ० द० पृष्ठ ४६) ।

"According to mrs. Rhys Davids Ayatana (आयतन) means 'Place or sphere of meeting or of origins or the ground of happening' (Vide Buddlist psychology). Vasubandhu renders it as 'the gate of production of the Chitta or Chaitasiea dharmas'.

The Ayatanas are twelve in number—six sense objects, namely, the objects of sight, hearing, smell, taste, touch and thought; and six sense organs, namely, organs of sight etc. Dhatus i. e. factors of consciousness or, more correctly, the elements of existence. They are 18:6 sense objects, six sense organs (i. e. twelve Ayatanas) and consciousness dependent upon sight, sound, smell, taste, touch and thought.

(Mc Govern's Manual of Buddhist philosophy, pp. 95-96)

द्वादशायतन पूजा के अन्तर्गत उपदिष्ट, इन्द्रियों को अपने भोगों में प्रवृत्त करने का ही कालान्तर में यह परिणाम हुआ कि नैतिक मूल्यों में ह्रास होकर बौद्धमत वाममार्ग का ही अपर नाम बन गया । परवर्त्ती बौद्ध धर्म और विभिन्न तान्त्रिक मतों में आचार और दर्शन की इतनी समानता है कि उनमें भेदक रेखा खींचना कठिन है । जब तक महात्मा बुद्ध जीवित रहे तब तक शास्ता के स्वयं विद्यमान रहने के कारण सब ठीक-ठाक चलता रहा । महात्मा बुद्ध ने अपने मन्तव्यों को लेखबद्ध नहीं किया था । इसलिए उनके महानिर्वाण के पश्चात् उनके उपदेशों की मनमानी व्याख्या होने लगी । कुछ काल के पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया—एक महासांघिक और दूसरा स्थविर । बुद्ध के विचारों में जो किसी भी प्रकार के परिवर्त्तन के विरोधी थे, वे स्थविरवादी और जो परिवर्त्तन के पक्षपाती थे, वे संख्या में अधिक होने के कारण महासांघिक कहलाए । आगे जाकर अपरिवर्त्तनवादी हीनयान और परिवर्त्तनवादी महायान कहलाए । हीनयान आडम्बर का विरोधी और धर्म की शुद्धता का पक्षपाती था, परन्तु महायान आडम्बर और परिस्थिति के माँग के अनुसार परिवर्त्तन का पक्षपाती था ।

१. आगे उद्ध्रियमाण चौथे श्लोक और उसकी व्याख्या में पाँच कर्मेन्द्रियों के स्थान में पाँच शब्दादि विषय 'द्वादशायतन' में गिने हैं ।

होते हैं, परन्तु इसको दुःख ही मानते हैं। तो यह कथन ही सम्भव नहीं। क्योंकि जीव सुख जानकर प्रवृत्त, और दुःख जानके निवृत्त होता है। **संसार में धर्मक्रिया विद्या सत्सङ्गादि श्रेष्ठ व्यवहार सब सुखकारक हैं।** इनको कोई भी विद्वान् दुःख का लिङ्ग नहीं मान सकता, विना बौद्धों के।

जो पांच स्कन्ध हैं, वे भी पूर्ण अपूर्ण हैं। क्योंकि जो ऐसे-ऐसे स्कन्ध विचारने लगें, तो एक-एक के अनेक भेद हो सकते हैं।

[यदि तीर्थङ्कर ही ईश्वर हैं, तो उन्हें उपदेश किससे मिला ?]

जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं, और अनादि जो नाथों का नाथ परमात्मा है उसको नहीं मानते, तो उन **तीर्थङ्करों ने उपदेश किससे पाया ?** जो कहैं कि स्वयं प्राप्त हुआ, तो ऐसा कथन सम्भव नहीं। क्योंकि कारण के विना कार्य्य नहीं हो सकता। अथवा उनके कथनाऽनुसार ऐसा ही होता, तो अब भी उनमें विना पढ़े-पढ़ाये सुने-सुनाये, और ज्ञानियों के सत्सङ्ग किये विना ज्ञानी क्यों नहीं हो जाते ? जब नहीं होते, तो ऐसा कथन सर्वथा निर्मूल और युक्तिशून्य सन्निपात-रोगग्रस्त मनुष्य के बड़ने के समान है।

[विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं हो सकती]

जो शून्यरूप ही अद्वैत[1] उपदेश बौद्धों का है, तो विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं हो सकती। हाँ, सूक्ष्म कारणरूप तो हो जाती है। इसलिये यह भी कथन भ्रमरूपी है।

[द्वादशायतन पूजा मुक्ति का नहीं, भोग का साधन है]

जो द्रव्यों के उपार्जन से ही पूर्वोक्त द्वादशायतन पूजा को मोक्ष का साधन मानते हैं, तो दश प्राण और ग्यारहवें जीवात्मा की पूजा क्यों नहीं करते ? जब इन्द्रिय और अन्तःकरण की पूजा भी मोक्ष-प्रद है, तो इन बौद्धों और विषयीजनों में क्या भेद रहा ? जो उनसे ये बौद्ध नहीं बच सके, तो वहाँ मुक्ति

विपुल आडम्बर के साथ शोभायात्रा निकालना, बड़े-बड़े मन्दिर, विशाल विहार और चैत्य बनवाना महायान बौद्धों की पहचान बन गई। बौद्धों का महायान ही मन्दिर और मूर्त्तिप्रधान पौराणिक हिन्दू-धर्म का पूर्वरूप है। बुद्ध की सबसे पहली मूर्त्ति कदाचित् यूनानियों के सम्पर्क से गान्धार देश में बनाई गई थी। आज भी बुद्ध की प्राचीनतम मूर्त्तियाँ ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में ही पाई जाती हैं। बौद्धों की देखादेखी हिन्दुओं ने भी अपने अवतारों और देवी-देवताओं की कल्पना करके उनकी मूर्त्तियाँ और मन्दिर बनाने प्रारम्भ कर दिए। धीरे-धीरे महायान की लोकप्रियता के कारण हीनयान भी उसी मार्ग के अनुगामी हो गए।

---

१ नवीन वेदान्त के आद्य प्रवर्तक शङ्कराचार्य के गुरु के गुरु गौडपादाचार्य पर बौद्धमत का विशेष प्रभाव था। उनके शून्यवाद को ही गौड़पादाचार्य ने वैदिक रूप देकर 'अद्वैतवाद' को प्रतिष्ठित किया था। उनके 'माण्डूक्यकारिका' ग्रन्थ में पठित अनेक कारिकांश बौद्ध-ग्रन्थों में शब्दतः वा अर्थतः उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, बुद्ध के लिए बौद्ध ग्रन्थों में व्यवहृत 'द्विपदांवरः' 'तथागतः' जैसे विशिष्ट शब्दों का भी निर्देश मिलता है। यदि शङ्कराचार्य की टीका को छोड़ दिया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि गौड़पादाचार्य की बुद्ध के प्रति महती भक्ति थी। सम्भवतः इसीलिए 'विज्ञान-भिक्षु' ने 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य में नवीन वेदान्तियों के लिए बहुधा प्रच्छन्न बौद्ध शब्द का प्रयोग किया है। 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' के आरम्भ में 'पद्मपुराण' के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें एक श्लोकार्ध है—' 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च'। इस विषय में विशेष देखें—वेदवाणी वर्ष २४ अंक १२, अक्टूबर १९७२ में पं० हंसराजजी रिसर्चस्कालर का लेख—'वैदिकों में नवीन वेदान्त का प्रचार' शीर्षक से।

भी कहाँ रही ? जहाँ ऐसी बातें हैं, वहाँ मुक्ति का क्या काम ? क्या ही इन्होंने अपनी अविद्या की उन्नति की है, जिसका सादृश्य इनके विना दूसरों से नहीं घट सकता।

[वेद और ईश्वर से विरोध का फल]

निश्चय तो यही होता है कि इनको वेद-ईश्वर से विरोध करने का यही फल मिला। पूर्व तो सब संसार को दुःखरूपी भावना की, फिर बीच में द्वादशायतनपूजा लगा दी। क्या इनकी द्वादशायतन-पूजा संसार के पदार्थों से बाहर की है, जो मुक्ति की देनेहारी हो सके ? तो भला कभी आँख मींचके कोई रत्न ढूंढ़ा चाहे वा ढूंढ़े, कभी प्राप्त हो सकता है ? ऐसी ही इनकी लीला वेद-ईश्वर को न मानने से हुई। अब भी सुख चाहें, तो वेद-ईश्वर का आश्रय लेकर अपना जन्म सफल करें।

['विवेकविलास' में निर्दिष्ट बौद्ध-सिद्धान्त]

'विवेकविलास' ग्रन्थ में बौद्धों का इस प्रकार का मत लिखा है—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥१॥
दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ॥२॥
दुःखसंसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्त्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥३॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु ॥४॥
रागादीनां गणोऽयं स्यात् समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात् समुदयः पुनः ॥५॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥६॥

इसी महायान से बौद्धों के दो और परवर्त्ती सम्प्रदाय निकले—वज्रयान और सहजयान। द्वादशायतनपूजा में वाममार्ग के बीज विद्यमान थे। बौद्धधर्म में तान्त्रिकता का समावेश करनेवाला आचार्य असंग था या नागार्जुन, यह विवादास्पद है, किन्तु इतना निश्चित है कि ईसा की छठी शताब्दी तक मन्त्र, यन्त्र, कुंडलिनी, मण्डल, शक्तितत्त्व और पञ्चमकार आदि तान्त्रिक बातें महायान में सम्मि-लित हो चुकी थीं और सातवीं शताब्दी तक वज्रयान के रूप में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। जिस देश में बौद्ध धर्म ने जन्म लिया, उसी देश में वह नामशेष हो गया—इतिहास की इस विचित्र घटना की व्याख्या यही है कि जब तान्त्रिक मतों में और बौद्ध सम्प्रदायों में कोई भेद न रहा तब बौद्धों के अलग अस्तित्व की भी आवश्यकता न रही।

विवेकविलास—यह ग्रन्थ गुजराती अनुवाद सहित ग्रन्थकार के समय में प्रकाशित हो चुका था। यहाँ उसके अष्टम विलास के २६५ से २७५ तक श्लोक उद्धृत हैं।

मोक्ष का स्वरूप—जब सभी कुछ क्षणिक है तो बौद्धों का मोक्ष भी क्षणिक होगा। मिला और गया। ऐसे मोक्ष को पाने के लिए जन्मजन्मान्तर तक साधना (अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं द्वितयं तथा ।
चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥७॥
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥८॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता ।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥९॥
रागादिज्ञानसन्तानवासनाच्छेदसम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥१०॥
कृत्तिः कमण्डलुमौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥११॥[1]

गतिम्– गीता)करने के लिए कौन तैयार होगा। वैदिक धर्म के अनुसार मोक्ष के स्वरूप को महर्षि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में इस प्रकार सूत्रवद्ध किया है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।

—न्याय० १।१।२

अर्थात्—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान के उत्तर-उत्तर के, अगले-अगले के नष्ट हो जाने पर उसके अनन्तर के—अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से मोक्ष होता है।

सूत्र में समस्त-असमस्त (समासयुक्त व समासरहित) चार पद हैं। पहले समस्त पद में—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान—ये पाँच पदार्थ कहे हैं। इनमें उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। यह तर्कसंगत व्यवस्था है कि कारण का नाश हो जाने पर कार्य का नाश हो जाता है। फलतः मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःखों का नाश हो जाता है। और सब प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छूट जाना मोक्ष है—'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।'

जिसका आदि है, उसका अन्त अनिवार्य है। मुक्ति का आदि होने से वह अनन्त नहीं हो सकती। एक-न-एक दिन उसका अन्त अवश्यंभावी है। उसकी अवधि सृष्टि की छत्तीस सहस्र बार उत्पत्ति और प्रलय में लगनेवाले समय के बराबर होती है। एक बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में आठ अरब ६४ करोड़ वर्ष का समय लगता है। इस प्रकार छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष लगेंगे। इतने समय तक किसी प्रकार दुःख न होकर आनन्द-ही-आनन्द में रहना साधारण बात नहीं है। बौद्धमत में मिलनेवाली मुक्ति की अवधि मात्र एक क्षण है—खोदा पहाड़ और निकली चुहिया।

बौद्धमत भारत से विलुप्तप्रायः हो चुका है। ग्रन्थकार के समय में बौद्धों के ग्रन्थ प्रायः अलभ्य थे। पण्डितमण्डली में ही बौद्धों के वैभाषिकादि चार दार्शनिक सम्प्रदायों की चर्चा थी। ग्रन्थकार के समय न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य का पठन-पाठन भी लुप्त था। उन्होंने ही विद्वानों का ध्यान इसकी ओर दिलाया। उस भाष्य पर लिखे न्यायवार्त्तिक आदि ग्रन्थों एवं न्यायमञ्जरी का नाम भी कदाचित् लोग भूल चुके थे। अतः बौद्धों के दार्शनिक विचारों को जानने के आधार वेदान्तदर्शन पर शाङ्करभाष्य,

---

१. विवेकविलास ८।२६५-२७५। सर्वद० सं०, बौद्धदर्शन, पृष्ठ ४६, ४७ पर उद्धृत।

बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव और जगत् क्षण-भंगुर, आर्य पुरुष और आर्या स्त्री, तथा तत्त्वों की आख्या=संज्ञादिप्रसिद्धि, ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ हैं ॥१॥

इस विश्व को 'दु:ख', और शरीर को 'दु:ख का घर' जाने। तदनन्तर 'समुदय' अर्थात् रागादि की उत्पत्ति होती है, और 'मार्ग' इनकी व्याख्या क्रम से सुनो ॥२॥

संसार में दु:ख ही है। जो पञ्च स्कन्ध पूर्व कह आये हैं, उनको जानना ॥३॥

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके शब्दादि विषय[1] पाँच, और मन बुद्धि=अन्त:करण, धर्म का स्थान ये 'द्वादश आयतन' हैं ॥४॥

जो मनुष्यों के हृदय में रागद्वेषादि-समूह की उत्पत्ति होती है वह 'समुदय'। और जो आत्मा, आत्मा के सम्बन्धी, और स्वभाव है वह 'आख्या' इन्हीं से फिर समुदय होता है ॥५॥

सब संस्कार क्षणिक हैं। जो यह वासना का स्थिर होना, वह बौद्ध का 'मार्ग' है। और वही शून्य तत्त्व=शून्यरूप हो जाना 'मोक्ष' है ॥६॥

बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। चार प्रकार के इनमें भेद हैं—'वैभाषिक', 'सौत्रान्तिक', 'योगाचार' और 'माध्यमिक' ॥७॥

इनमें वैभाषिक—ज्ञान में जो अर्थ है, उसको विद्यमान मानता है। क्योंकि जो ज्ञान में नहीं है, उसका होना सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता। और सौत्रान्तिक—भीतर को प्रत्यक्ष पदार्थ मानता है, बाहर नहीं ॥८॥

योगाचार—आकार-सहित विज्ञानयुक्त बुद्धि को मानता है। और माध्यमिक—केवल अपने में पदार्थों का ज्ञानमात्र मानता है, पदार्थों को नहीं मानता ॥९॥

और रागादि ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश से उत्पन्न हुई मुक्ति चारों बौद्धों की कही गई है ॥१०॥

मृगादि का चमड़ा कमण्डलु, मुण्ड-मुण्डाये, वल्कल वस्त्र, पूर्वाह्ण अर्थात् १२ बजे से पूर्व भोजन, अकेला न रहे, रक्त वस्त्र का धारण, यह बौद्धों के साधुओं का वेश है ॥११॥

[क्षणिकवाद के सिद्धान्त में अनेक दोष]

उत्तर—जो बौद्धों का सुगत बुद्ध ही देव है, तो उसका गुरु कौन था? और जो विश्व क्षण-भंगुर हो, तो चिरदृष्ट पदार्थ का 'यह वही है' ऐसा स्मरण न होना चाहिए। जो क्षणभंगुर होता, तो वह पदार्थ ही नहीं रहता, पुन: स्मरण किसका होवे? जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है, तो इनका मोक्ष भी क्षणभंगुर होगा।

सर्वदर्शनसंग्रह एवं जैन ग्रन्थ थे। जैन लोग अपने ग्रन्थ अजैनों को दिखाते नहीं थे। अत: ग्रन्थकार के लिए बौद्धदर्शन पर विचार के लिए दो ही आधार शेष रह गये। शाङ्करभाष्य को आधार न बनाकर उन्होंने अपनी आलोचना के लिए सर्वदर्शनसंग्रह को ही सामने रक्खा।

इस समय बौद्ध धर्म पर विचार करने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्धमत और बौद्धमत में पर्याप्त अन्तर है। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—"स्मरण रहे कि बुद्ध के निर्वाण के चार सदियों बाद तक बुद्ध का उपदेश लिखा नह गया था" (द० दि० पृष्ठ ४८९),

---

१. उद्धृत चौथे श्लोक में पाँच शब्दादि विषयों के स्थान में कर्मेन्द्रियों का निर्देश है। यह बौद्धग्रन्थों का विरोध ध्यान में रखने योग्य है।

[जो बाहर दीखता है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ?]

जो ज्ञान से युक्त अर्थ द्रव्य हो, तो जड़ द्रव्य में भी ज्ञान होना चाहिए। और वह चालनादि क्रिया किस पर करता है ? भला जो बाहर दीखता है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? जो आकार से सहित बुद्धि होवे, तो दृश्य होना चाहिए।

[ज्ञेय पदार्थ के विना ज्ञान नहीं हो सकता]

जो केवल ज्ञान ही हृदय में आत्मस्थ होवे, बाह्य पदार्थों को केवल ज्ञान रूप ही माना जाय, तो ज्ञेय पदार्थ के विना ज्ञान ही नहीं हो सकता। जो वासनाच्छेद ही मुक्ति है, तो सुषुप्ति में भी मुक्ति माननी चाहिए। ऐसा मानना विद्या से विरुद्ध होने के कारण तिरस्करणीय है।

इत्यादि बातें संक्षेपतः बौद्धमतस्थों की प्रदर्शित कर दी हैं। अब बुद्धिमान् विचारशील पुरुष अवलोकन करके जान जायेंगे, कि इनकी कैसी विद्या और कैसा मत है ? इसको जैन लोग भी मानते हैं।

स्पष्ट है कि आचार्य के उपदेशों में उनके शिष्यों ने काफी गोलमाल किया होगा। इस गोलमाल का एक निदर्शन यहाँ देना अतीव उपयोगी है। आजकल बौद्धलोग बुद्ध को 'सर्वज्ञ' मानते हैं, किन्तु बुद्ध के उपदेशों में जैनों के तीर्थङ्कर श्री महावीर के सर्वज्ञ होने के अभिमान का इन शब्दों में उपहास किया गया है—"एक शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी...होने का दावा करते हैं...(तो भी) वह सूने घर में जाते हैं (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाते हैं, कुक्कुर भी काट खाता है, चंड घोड़े...चंड हाथी...चंड बैल से भी सामना हो जाता है। (सर्वज्ञ होने पर) स्त्री, पुरुषों के नाम-गोत्र को पूछते हैं। गाँव कसबे का नाम और रास्ता पूछते हैं। (आप सर्वज्ञ हैं, फिर) क्यों पूछते हैं...पूछने पर कहते हैं—"सूने घर में जाना" भिक्षा न मिलनी...कुक्कुर का काटना...हाथी...घोड़ा...बैल से सामना बदा था..." (दर्शनदिग्दर्शन पृष्ठ ४९६)। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बुद्ध को आरम्भ में उनके शिष्य सर्वज्ञ नहीं मानते थे। जैनों के प्रभाव से हो, अथवा जिस किसी हेतु से हो, बौद्धों ने बुद्ध को सर्वज्ञ बना दिया और उसकी पूजा होने लगी।

बौद्धों के आचारिक विचारों की आलोचना ग्रन्थकार ने नहीं की। अशोक के समय तक ही बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों में बँट चुका था। पहले दो प्रधान शाखाएँ हुईं—स्थविर और महासांघिक। महासांघिकों के पुनः दो भेद—गोगुलिक और एकव्यावहारिक हुए। गोकुलिकों के प्रज्ञप्तिवाद तथा बाहुलिक (बाहुश्रुतिक) और बाहुलिकों के उत्तराधिकारी चैत्यवादी हुए। उधर स्थविरवाद की दो शाखाएँ महीशासक तथा वृजिपुत्रक (वात्सीपुत्रीय) हुईं। महीशासकों के उत्तराधिकारी सर्वास्तिवाद तथा धर्मगुप्तिक हुए। सर्वास्तिवाद से काश्यपीय तथा काश्यपीय से सांक्रान्तिक और उनसे सूत्रवादी (सौत्रान्तिक) हुए। उधर वृजिपुत्रक के चार उत्तराधिकारी हुए—१. धर्मोत्तरी, २. भद्रयानिक, ३. छन्नागरिक (षाण्णागरिक) तथा ४. सम्मितीय। इन सभी सम्प्रदायों के अपने-अपने त्रिपिटक आदि धर्मग्रन्थ पृथक्-पृथक् थे। राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं—"बुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०) के बाद के वर्षों (३८० ई० पू०) में स्थविरवाद (वृद्धों के रास्तेवाला=अपरिवर्त्तनवादी) और महासांघिक जो दो निकाय (सम्प्रदाय) हुए, वे अपने सवा सौ वर्षों में बँटकर महासांघिक के छह और स्थविरवाद के बारह कुल अठारह निकाय हो गये...सर्वास्तिवाद स्थविरवाद के अन्तर्गत था। इन अठारह निकायों के त्रिपिटक (सुत्त=सूत्र, अभिधम्म=अभिधर्म और विनय) भी थे, जो सूत्र और विनय में बहुत-कुछ समानता रखते थे, किन्तु अभिधर्मपिटक में भेद ही नहीं, बल्कि उनके पुस्तकें भी भिन्न थीं" (द० दि० पृष्ठ ४९६-९७)। आवश्यक नहीं कि त्रिपिटक में दिया हुआ विवरण प्रामाणिक हो, दीर्घनिकाय के तेविज्जसुत्त में ऋग्वेद

[जैन और बौद्धों की एक समान बातें]

यहाँ से आगे बौद्ध और जैनमत का वर्णन है। प्रकरण-रत्नाकर, १ भाग, नयचक्रसार[1] में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—

बौद्ध लोग समय-समय[2] में नवीनपन से—१. आकाश, २. काल, ३. जीव, ४. पुद्गल, ये चार द्रव्य मानते हैं। और जैनी लोग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और काल इन छः द्रव्यों को मानते हैं। इनमें काल को अस्तिकाय[3] नहीं मानते, किन्तु ऐसा कहते हैं कि काल उपचार से द्रव्य है[4], वस्तुतः नहीं।

उनमें से प्रथम 'धर्मास्तिकाय'—जो गतिपरिणामीपन से परिणाम को प्राप्त हुआ जीव और पुद्गल, इसकी गति के समीप से स्तम्भन करने का हेतु है, वह 'धर्मास्तिकाय'। और वह असंख्य प्रदेश परिमाण और लोक में व्यापक है[5]।

दूसरा 'अधर्मास्तिकाय'—यह है कि जो स्थिरता से परिणामी हुए जीव तथा पुद्गल की स्थिति के आश्रय का हेतु है[6]।

तीसरा 'आकाशास्तिकाय'—उसको कहते हैं कि जो सब द्रव्यों का आधार, जिसमें अवगाहन प्रवेश निर्गम आदि क्रिया करनेवाले जीव तथा पुद्गलों को अवगाहन का हेतु और सर्वव्यापी है[7]।

के ऋषियों के प्रसंग में 'वामक एवं अङ्गिरा' का भी उल्लेख है, किन्तु वे किसी मन्त्र के द्रष्टा नहीं हैं। कट्टर बौद्ध रा० सां० को भी यह बात माननी पड़ी कि "ऋग्वेद के ऋषियों में वामक का नाम नहीं है। अङ्गिरा का भी अपना मन्त्र नहीं है।" (द० दि० पृष्ठ ५२७, टि० २)।

बौद्धों के माध्यमिक तथा योगाचार सम्प्रदायों का महायान से सम्बन्ध है और सर्वास्तिवाद तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदायों का हीनयान (स्थविरवाद) से सम्बन्ध है।

द्रव्यविवेचन—बौद्धों द्वारा मान्य द्रव्यों से सम्बन्धित 'बौद्ध लोग···चार द्रव्य मानते हैं' इस वाक्य का मूल सन्दर्भ "अने बौद्धदर्शन ते समय-समय नवानवापणे १. आकाश, २. काल, ३. जीव, ४. पुद्गल ए चार द्रव्य माने छे" (प्र० र०, नयनसार पृ० १७६) इस गुजराती वचन का अनुवाद है।

धर्मास्तिकायादि—'अस्ति कायते इति अस्तिकायः' जो 'अस्ति' शब्द से कहा जाय, वह अस्तिकाय है। यह जैनग्रन्थों में पदार्थवाची पारिभाषिक शब्द है।

---

१. 'नयचक्रसार' प्रकरणरत्नाकर का टीका-ग्रन्थ है।

२. क्षणिकवादियों के मत में प्रत्येक द्रव्य के पूर्व अवयव प्रतिक्षण नष्ट होते हैं, और नये-नये उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण नया होता है।

३. सं० २ में 'आस्तिकाय' अपपाठ है।

४. 'तत्र पञ्चानां प्रदेशपिण्डत्वाद् अस्तिकायत्वम्, कालस्य प्रदेशाभावाद् अस्तिकायता नास्ति। तत्र काल उपचारतयैव द्रव्यम्, न वस्तुवृत्या।' प्र० र० पृष्ठ १७७।

५. 'तत्र गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकायः। स चासंख्येयप्रदेशलोकप्रदेशपरिमाणः।' प्र० र० पृ० १७७।

६. 'स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थित्युपष्टम्भहेतुरधर्मास्तिकायः। स चासंख्येयप्रदेशलोकपरिमाणः।' प्र० र० पृष्ठ १७८।

७. 'सर्वद्रव्याणामाधारभूतोऽव्यगाहकत्वभावानां जीवपुद्गलानाम् अवगाहोपष्टम्भक आकाशास्तिकायः। स चानन्तप्रदेशो लोकालोकपरिमाणः। यत्र जीवादयो वर्तन्ते स लोकः, ततः परमलोकः, केवलाकाशप्रदेशव्ययरूपः स चानन्तप्रदेशपरिमाणः।' प्र० र० पृष्ठ १७८।

चौथा 'पुद्गलास्तिकाय'—यह है कि जो कारणरूप सूक्ष्म, नित्य एक रस वर्ण गन्ध स्पर्श, कार्य का लिङ्ग, पूरने और गलने के स्वभाववाला होता है।[1]

पुद्गलास्तिकाय—तदनुसार 'पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्गला:'—जो पूर्ण हों और गल जाएँ, वे पुद्गल हैं। यह लक्षण पृथिवी आदि चार भूत, स्थावर (वृक्षादि) और जङ्गम (मनुष्य, पश्वादि) इन छ: में घटता है। अत: ये पुद्गल कहलाते हैं। परमाणु से लेकर स्थूल या अति स्थूल सभी पदार्थ पुद्गल हैं। अथवा जो कुछ हम पाँचों इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं, सब पुद्गल हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पुद्गल के विशेष गुण हैं। इस प्रकार हमारा शरीर और पांचों इन्द्रियाँ भी पुद्गल हैं। अनन्त परमाणुओं से मिलकर स्कन्ध बनता है—'Pudgal or matter is the basis of physical world. It exists in two forms—Anu or atom and skandha or aggregate.'

धर्मास्तिकाय—सम्यक् प्रवृत्ति से अनुमेय धर्म है। संसार में इस नाम का एक लोकव्यापी अमूर्त्तिक या अरूप द्रव्य है। जीव और अजीव (पुद्गल=जड़) की गति में सहायक होना इसका कार्य है। यद्यपि जीव और पुद्गल दोनों में चलने का सामर्थ्य है किन्तु धर्मास्तिकाय की सहायता के बिना वह फलीभूत नहीं होता। जैसे—मछली में चलने का सामर्थ्य है, किन्तु जल के बिना वह चल नहीं सकती, वैसे ही यह पदार्थ जीव और पुद्गल की चलन क्रिया में सहायक होता है।

"Dharma is the principle of motion. It is devoid of the qualities of taste, colour, smell, sound or contact. It pervades the whole world and is continuous because of inseparability; has extension because of co-extensiveness with space. It is non-corporeal and is continuous and non-composite. Itself being unaffected by movement, it conditions the movement of things that can move; even as water, itself being indifferent or neutral, is the condition of the movements of fish. Dharma has nothing of the specific properties of matter and get it is a self-subsisting reality devoid of all sensible qualities."

(Radhakrishnan's Indian Philosophy, Part I, PP. 314-319).

अधर्मास्तिकाय—ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह में स्थिति का हेतु अधर्म है। यह भी एक लोकव्यापी अमूर्त्तिक द्रव्य है, जिसका विशेष गुण जीव और पुद्गल के अपने सामर्थ्य से स्थिर होने में सहायता करना है। जैसे पथिक को ठहराने में वृक्ष की छाया सहायक होती है, वैसे ही जीव और पुद्गल के स्थिर होने में यह पदार्थ सहायक होता है। इन्हीं दो पदार्थों के अवलम्बन करने पर जैनशास्त्रों में लोक और अलोक की व्यवस्था बताई गई है। अर्थात्—जहाँ तक ये दो पदार्थ विद्यमान हैं, वहीं तक लोक और उससे परे अलोक है। अलोक में आकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसी कारण मोक्ष में जानेवालों की गति लोक के अन्त तक बताई गई है, उससे आगे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन दो पदार्थों का अभाव होने से जीव की गति नहीं हो सकती और फलत: मोक्षस्थान की व्यवस्था भी ठीक नहीं हो सकती।

"Adharma is the principle of rest. It is also devoid of sense qualities, is non-corporeal and co-extensive with 'lokakasha'. The two principles (Dharma and Adharma) are neutral conditions, 'udasinhetu' of movement and rest.... It is to be carefully noted that Dharma and

---

१. 'एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्श: कार्यलिङ्गी च। पूरणगलनस्वभाव: पुद्गलास्तिकाय:। स च परमाणुरूप:।' प्र० र० पृष्ठ १७८। इस पाठ की भाषा इस प्रकार होनी चाहिए—जिसमें एक रस वर्ण गन्ध हो, दो प्रकार का स्पर्श हो, और कार्य जिसका लिङ्ग है, तथा पूरण और गलन के स्वभाववाला है, वह 'पुद्गलास्तिकाय' कहाता है। वह परमाणुरूप है।

पाँचवाँ 'जीवास्तिकाय'—जो चेतना लक्षण, ज्ञान दर्शन में उपयुक्त अनन्त पर्यायों से परिणामी होनेवाला कर्त्ता भोक्ता है।

और छ:ठा 'काल'—यह है कि जो पूर्वोक्त पञ्चास्तिकायों का परत्त्व अपरत्त्व नवीनता प्राचीनता का चिह्नरूप प्रसिद्ध वर्त्तमानरूप पर्यायों से युक्त है, वह 'काल' कहाता है।'

[पूर्वोक्त चार द्रव्यों को प्रतिसमय नवीन मानना ठीक नहीं]

समीक्षक—जो बौद्धों ने चार द्रव्य प्रतिसमय में नवीन-नवीन माने हैं,[२] वे झूठे हैं। क्योंकि आकाश काल जीव और परमाणु, ये नये वा पुराने कभी नहीं हो सकते। क्योंकि ये अनादि और कारण-रूप से अविनाशी हैं। पुन: इनमें नया और पुरानापन कैसे घट सकता है?

[वैशेषिक में प्रोक्त ६ द्रव्यों को मानें, तो ठीक है]

और जैनियों का मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि धर्माऽधर्म द्रव्य नहीं, किन्तु गुण हैं। ये दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं। इसलिये आकाश परमाणु जीव और काल मानते तो ठीक था।

Adharma in Jain philosophy do not stand for merit and demerit for which it has different terms–punya and papa. They are the forces that cause or help movement and rest." (Radhakrishnan's Indian Philosophy part I, PP. 314-19).

आकाशास्तिकाय—यह सबसे बड़ा अनन्त अमूर्त्तिक द्रव्य है, जिसका विशेष गुण सर्वद्रव्यों को उदासीनभाव से स्थान देना है—'Space with Dharma forms the condition for subsistence for all things, soul and matter.... Thus space gives room to subsist, Dharma makes it possible for things to move or be moved and Adharma to rest' (Ibid).

जीवास्तिकाय:—'चेतनालक्षणो जीव:, चेतना च ज्ञानदर्शनोपयोगी अनन्तपर्यायपरिणामिक-कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणो जीवास्तिकाय:' (प्र० र० भा० १, पृ० १७६)। इसी आशय का अन्य लक्षण है—

य: कर्त्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्माता स ह्यात्मा नान्यलक्षण:॥

कर्मों का करनेवाला, उनके फलों को भोगनेवाला, कर्मानुसार शुभाशुभ गतियों में जानेवाला और सम्यक् ज्ञानादि के कारण कर्मसमूह को नाश करनेवाला आत्मा-जीव है। इससे अतिरिक्त जीव का लक्षण नहीं।

काल—'पंचास्तिकायानां परत्वापरत्वे नवपुराणादिलिङ्गव्यक्तवृत्तिवर्त्तनारूपपर्याय: काल:' (प्र० र० भा० १ पृ० १८०) 'काल' पदार्थ कल्पित है, औपचारिक द्रव्य है। अतद्भाव में तद्भाव का ज्ञान उपचार कहाता है। मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, मास, वर्ष आदि काल के विभाग हैं। गया (बीता हुआ) समय नष्ट हुआ और भविष्य का समय अभी असद्रूप है, केवल वर्त्तमान क्षण ही सद्भूत काल है। किन्तु एक क्षणमात्र में काल की कल्पना की नहीं जा सकती। इससे 'काल' के साथ 'अस्तिकाय' का प्रयोग नहीं किया जाता।

१. 'पञ्चास्तिकायानां परत्वापरत्वे नवपुराणादिलिङ्गव्यक्तवृत्तिवर्त्तरूपपर्यायकाल:।' प्र० र० पृष्ठ १८०।

२. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ४०६।

और जो नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं, वे ही ठीक हैं। क्योंकि पृथिव्यादि पाँच तत्त्व, काल दिशा आत्मा और मन ये नव पृथक्-पृथक् पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना, यह जैन-बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।

[सप्तभङ्गी और स्याद्वाद सिद्धान्त]

अब जो **जैनी** लोग **सप्तभङ्गी** और **स्याद्वाद** मानते हैं, सो यह है कि—

'सन् घटः' इसको **प्रथम भङ्ग** कहते हैं। क्योंकि घट अपनी वर्त्तमानता से युक्त अर्थात् घड़ा है। इसने अभाव का विरोध किया है।

दूसरा भङ्ग—**'असन् घटः'** घड़ा नहीं है। प्रथम घट के भाव से, यह घड़े के असद्भाव से दूसरा भङ्ग है।

तीसरा भङ्ग यह है कि—**'सन्नसन्न घटः'** अर्थात् यह घड़ा तो है, परन्तु पट नहीं। क्योंकि उन दोनों से पृथक् हो गया।

चौथा भङ्ग **'घटोऽघटः'** जैसे **'अघटः पटः'** दूसरे पट के अभाव की अपेक्षा अपने में होने से घट अघट कहाता है। युगपत् उसकी दो संज्ञा अर्थात् घट और अघट भी है।

पांचवां भङ्ग यह है कि—घट को पट कहना अयोग्य, अर्थात् उसमें घटपन वक्तव्य है, और पटपन अवक्तव्य है।

सप्तभंगी—सर्वदर्शनसंग्रह के आर्हतदर्शन में सप्तनिरूपण विधि के निम्नलिखित श्लोक दिये हैं—

> तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
> स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात् तन्निषेधे विवक्षिते॥
> क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
> युगपत् तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः॥
> आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
> अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः॥
> समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते॥

अर्थात्—सप्तभङ्गी के विधान के कथन की इच्छा में 'स्यादस्ति' यह पहली चाल है। उसका निषेध कहना अभीष्ट हो तो 'स्यान्नास्ति' दूसरा भङ्ग होता है। क्रम से दोनों के कथन की इच्छा में समुदाय हो जाता है अर्थात् 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' यह तृतीय भङ्ग का रूप होता है। एक साथ उन दोनों की विवक्षा में अशक्ति के कारण 'स्यादवक्तव्यः' यह चौथा भङ्ग बनता है। प्रथम की अवक्तव्य-विवक्षा में 'स्यादस्ति च अवक्तव्यः' पञ्चम भङ्ग बनता है। दूसरे की अवक्तव्यविवक्षा में 'स्यान्नास्ति च अवक्तव्यः' से षष्ठ भङ्ग की उत्पत्ति होती है। सबके समुच्चय में 'अस्ति नास्ति अवक्तव्य' सप्तम भङ्ग बनता है। देवेन्द्रसूरिकृत नयचक्रसार में सप्तभङ्गी का जो क्रम दिया हुआ है, उसके अनुसार जो ऊपर तीसरा बनता है वह चौथा होना चाहिए और चौथा तीसरा होना चाहिए। ग्रन्थकार ने 'अनित्य घट' और 'नित्य जीव' की जो सप्तभङ्गी दर्शायी है, वह नयचक्रसार के अनुसार है। वहाँ इन दोनों की सप्तभङ्गी का साथ-साथ प्रयोग किया है। यथा—उष्ट्रग्रीवाकपोलकुक्षिबुध्नादिभिः स्वपर्यायैः सद्भावे-नार्पितः विशेषतः कुम्भः—कुम्भो भण्यते 'सन् घट' इति प्रथमो भङ्गो भवति, एवं जीवः स्वपर्यायैः

छठा भङ्ग यह है कि—जो घट नहीं है वह कहने योग्य भी नहीं, और जो है वह है, और कहने योग्य भी है।

और **सातवाँ भङ्ग** यह है कि—जो कहने को इष्ट है परन्तु वह नहीं है, और कहने के योग्य भी घट नहीं। यह सप्तम भङ्ग कहाता है।

इसी प्रकार—

स्यादस्ति जीवोऽयं प्रथमो भङ्गः ॥१॥
स्यान्नास्ति जीवो द्वितीयः भङ्गः ॥२॥
[1]स्यादवक्तव्यो जीवस्तृतीयो भङ्गः ॥३॥
[1]स्यादस्ति नास्तिरूपो जीवश्चतुर्थो भङ्गः ॥४॥
स्यादस्ति च अवक्तव्यो जीवः पञ्चमो भङ्गः ॥५॥
स्यान्नास्ति च अवक्तव्यो जीवः षष्ठो भङ्गः ॥६॥
स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यो जीव इति सप्तमो भङ्गः ॥७॥

अर्थात् 'है जीव' ऐसा कथन होवे, तो जीव के विरोधी जड़ पदार्थों का जीव में अभावरूप भङ्ग प्रथम कहाता है ॥१॥

दूसरा भङ्ग यह है कि—'नहीं है जीव जड़ में' ऐसा कथन भी होता है, इससे यह दूसरा भङ्ग कहाता है ॥२॥

[2]'जीव कहने[2] योग्य नहीं,' यह तीसरा भङ्ग है ॥३॥

'जब जीव शरीर धारण करता है तब प्रसिद्ध, और जब शरीर से पृथक् होता है तब अप्रसिद्ध रहता है,' ऐसा कथन होवे, उसको चतुर्थ भङ्ग कहते हैं ॥४॥

[3]'जीव है परन्तु कहने योग्य नहीं' जो ऐसा कथन है, उसको पञ्चम भङ्ग कहते हैं ॥५॥

'जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से कहने में नहीं आता, इसलिये चक्षुप्रत्यक्ष नहीं है,' जो ऐसा व्यवहार है, उसको छठा भङ्ग कहते हैं ॥६॥

'एक काल में जीव का अनुमान से होना, और अदृश्यपन में न होना, और एकसा न रहना, किन्तु क्षण-क्षण में परिणाम[4] को प्राप्त होना, अस्ति नास्ति न होवे, और नास्ति अस्ति व्यवहार भी न होवे', यह सातवाँ भङ्ग कहाता है ॥७॥

ज्ञानादिभिः अर्पितः सन् जीवः। शंख की ग्रीव, कपोल, बुध्न आदि अपने पर्यायों के साथ सत्ता से समर्पित घट 'घट' कहाता है, इससे 'सन् घटः' यह प्रथम भङ्ग है। ऐसे ही जीव भी अपने ज्ञानादि पर्यायों के साथ सत्ता से समर्पित 'जीव' कहाता है। इससे 'सन् जीवः' यह प्रथम भङ्ग है। इस प्रकार प्रकरण-रत्नाकर

---

१. यहाँ तृतीय और चतुर्थ भङ्ग का लेख आगे-पीछे हो गया है। क्रमानुसार स्यादस्तिनास्तिरूपो जीवस्तृतीयो भङ्गः ॥३॥ स्यादवक्तव्यो जीवश्चतुर्थो भङ्गः ॥४॥ यह पाठ होना चाहिए।

२. संस्कृतपाठ के अनुसार यहाँ भी पौर्वापर्यक्रमभेद हो गया है।

३. सं० २—३५ तक 'जीव है परन्तु कहने' पाठ है। यहाँ 'है परन्तु' इतना भाग व्यर्थ है। क्योंकि यदि इस पाठ ही को ठीक मानें, तो तीसरे और पाँचवें भङ्ग में कुछ अन्तर नहीं रहता।

४. 'जीव का एक-सा न रहना, क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होना' का संकेत सम्भवतः जैनमत में जीव को शरीर में व्यापक मानने की दृष्टि से लिखा है। शरीर में व्यापक मानने पर शरीर-भेद से जीव के आकार में भी संकोच-विकास मानना पड़ता है।

इसी प्रकार नित्यत्व सप्तभङ्गी और अनित्यत्व सप्तभङ्गी, तथा सामान्य धर्म विशेष धर्म गुण और पर्यायों की प्रत्येक वस्तु में सप्तभङ्गी होती है[1]। वैसे द्रव्य गुण कर्म स्वभाव और पर्यायों के अनन्त होने से सप्तभङ्गी भी अनन्त होती है[2]। ऐसा जैनियों का 'स्याद्वाद' और 'सप्तभङ्गी न्याय' कहाता है।

[स्याद्वाद और सप्तभङ्गी न्याय व्यर्थ का प्रपञ्च है]

समीक्षक—यह कथन एक अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रक्रिया को छोड़कर कठिन रचना केवल अज्ञानियों के फँसाने के लिये होती है। देखो, जीव का अजीव में और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्त्तमान होने से साधर्म्य, और चेतन तथा जड़ होने से वैधर्म्य, अर्थात् जीव में चेतनत्व 'अस्ति'=है, और जड़त्व 'नास्ति' =नहीं है। इसी प्रकार जड़ में जड़त्व है, और चेतनत्व नहीं है। इससे गुण कर्म स्वभाव के समान धर्म और विरुद्ध धर्म के विचार से इनका सब सप्तभङ्गी और स्याद्वाद सहजता से समझ में आता है। फिर इतना प्रपञ्च बढ़ाना किस काम का है?

[जैनमत के कुछ और सिद्धान्त]

अब इसके आगे केवल जैनमत के विषय में लिखा जाता है—

'चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः॥१॥

के प्रथम भाग के पृष्ठ १८६ से १९३ तक सप्तभङ्गी का निरूपण है। ग्रन्थकार ने घट और जीव की सप्तभङ्गी दिखाते हुए जो भाषा लिखी है, वह प्रकरणरत्नाकरान्तर्गत नयचक्रसार के संस्कृत तथा यथापेक्ष उसके गुजराती अनुवाद का भाषान्तर है।

'इसी प्रकार···सप्तभङ्गी भी अनन्त होती है' का मूल इस प्रकार है—"एवं नित्यत्वसप्तभङ्गी अनित्यत्वसप्तभंगी एवं सामान्यधर्माणां विशेषधर्माणां गुणानां पर्यायाणां प्रत्येकं सप्तभङ्गी" (प्र० र० पृ० १९३)।..."एवं पंचास्तिकाये प्रत्यस्तिकायमनन्ताः सप्तभंग्यो भवन्ति" (प्र० र० पृ० १९३)।

अन्योऽन्याभाव—अभाव चार प्रकार का है। उनमें से एक अन्योऽन्याभाव है, जिसे इतरेतराभाव भी कहते हैं। घट में घटपन तो है, किन्तु पटपन नहीं है। इसी प्रकार पट में पटपन तो है, किन्तु घटपन नहीं है। अर्थात् घट में पटत्व का अभाव है और पट में घटत्व का अभाव है। इस प्रकार एक में दूसरे का अभाव होना अन्योऽन्याभाव कहाता है। तात्पर्य यह है कि घट में घटत्व से अतिरिक्त अन्य सभी का अभाव है। यही स्थिति पटादि की है। गाय घोड़ा नहीं और घोड़ा गाय नहीं अर्थात् एक में दूसरे का अभाव है।

साधर्म्य-वैधर्म्य—किन्हीं पदार्थों में किन्हीं विषयों की समानता को साधर्म्य कहते हैं और एक दूसरे से भेद करानेवाले विशेषत्व को वैधर्म्य कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु जड़ होने के कारण सधर्मा हैं, क्योंकि उनमें जड़त्व समान है। इसके विपरीत अग्नि का उष्णत्व उसे जलादि से और जल का द्रवत्व उसे पृथिवी आदि से पृथक् कराने से वैधर्म्य है।

चिदचिद्—"The whole universe of being is traced to the two ever-lasting uncreated co-existing but independent categories of Jiva and a-Jiva. The Jiva is the enjoyer and the a-Jiva

१. 'एवं नित्यत्वसप्तभङ्गी अनित्यत्वसप्तभङ्गी, एवं सामान्यधर्माणां विशेषधर्माणां गुणानां पर्यायाणां प्रत्येकं सप्तभङ्गी।' प्र० र० पृष्ठ १९३।

२. 'एवं पञ्चास्तिकाये प्रत्यस्तिकायमनन्ताः सप्तभङ्ग्यो भवन्ति।' प्र० र० पृष्ठ १९३।

हेयं हि कर्तृरागादि तत् कार्यमविवेकिनः ।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्' ॥२॥[1]

जैन लोग 'चित्' और 'अचित्' अर्थात् चेतन और जड़ दो ही परतत्त्व मानते हैं। उन दोनों के विवेचन का नाम 'विवेक'। जो-जो ग्रहण के योग्य है उस-उस का ग्रहण, और जो-जो त्याग करने योग्य है, उस-उसका[2] त्याग करनेवाले को 'विवेकी' कहते हैं ॥१॥

जगत् का कर्त्ता और रागादि, तथा ईश्वर ने जगत् किया है, इस अविवेकी मत का त्याग, और योग से लक्षित परमज्योतिस्वरूप जो जीव है, उसका ग्रहण करना उत्तम है ॥२॥

अर्थात् जीव के विना दूसरा चेतन तत्त्व ईश्वर को नहीं मानते। 'कोई भी अनादि सिद्ध ईश्वर नहीं' ऐसा बौद्ध-जैन लोग मानते हैं।

[बौद्ध और जैन एक ही हैं; राजा शिवप्रसाद का मत]

इसमें[3] राजा शिवप्रसादजी 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ में लिखते हैं कि—"इनके दो नाम हैं—एक जैन और दूसरा बौद्ध। ये पर्यायवाची शब्द हैं। परन्तु बौद्धों में वाममार्गी मद्यमांसाहारी बौद्ध हैं। उनके साथ जैनियों का विरोध है। परन्तु जो महावीर और गौतम गणधर हैं, उनका नाम बौद्धों ने 'बुद्ध' रखा है। और जैनियों ने 'गणधर और जिनवर'"।

इसमें[4] जिनकी परम्परा जैनमत है, उन राजा शिवप्रसादजी ने अपने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में लिखा है कि—'स्वामी शङ्कराचार्य से पहले, जिनको हुए कुल हजार वर्ष के लगभग गुजरे हैं, सारे भारतवर्ष में बौद्ध अथवा जैन धर्म फैला हुआ था'।

इस पर नोट—"बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है, जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय से शङ्कर स्वामी के समय तक वेदविरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा। और जिसको अशोक और सम्प्रति महाराज ने माना। उससे जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते। 'जिन' जिससे 'जैन' निकला, और 'बुद्ध' जिससे 'बौद्ध' निकला, दोनों पर्याय शब्द हैं। कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है। और 'गौतम' को दोनों मानते हैं। वर्ना दीपवंश इत्यादि पुराने बौद्ध-ग्रन्थों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध को अकसर 'महावीर' ही के नाम से क्यों लिखा है? बस उसके समय में एक ही उनका मत रहा होगा। हमने जो 'जैन' न लिखकर गौतम के मतवालों को 'बौद्ध' लिखा, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि उनको दूसरे देशवालों ने बौद्ध ही के नाम से लिखा है"।

[बौद्ध और जैन एक ही हैं; अमरकोश का मत]

ऐसा ही अमरकोश में भी लिखा है—

---

or jada is the enjoyed. That which has consciousness is Jiva and which has non-consciousness, but can be touched, tasted, seen and smelt is a-Jiva."

(Radhakrishnan : Indian Philosophy, Part I, PP. 319-34)

जैन और बौद्ध एक—विदेशियों के मतानुसार—Barth writes—

"The legend of Vardhaman, or to apply to him the name which is most in use, Maha-

---

1. 'सर्वदर्शनसंग्रह' के 'आर्हत' (=जैन) दर्शन पृष्ठ ६७ में इन्हें 'पद्मनन्दी' के नाम से उद्धृत किया है।
2. सं० २ में 'के' अपपाठ है। 3. अर्थात् इसके विषय में। 4. अर्थात् बौद्ध-जैन में।

'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः ।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥१॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः ।
मुनीन्द्रः श्रीधनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु सः ॥२॥
स शाक्यसिंहः सर्वार्थः सिद्धः शौद्धोदनिश्च सः ।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः ॥३॥

—अमरकोश का० १, वर्ग १, श्लोक ८ से १० तक

---

vira, the great hero, the Jin of the present age, presents so many and so peculiar points of contact with that of Gautama Buddha, that we are instinctively led to conclude that one and the same person is subject of both. Both are of royal birth; the same name recurs among their relations and disciples. They were born and they died in the same country and at the same period of time. According to the accepted reports, the Nirvana of the Jin took place in 526. B C., that of Buddha in 543 B.C. and if we make allowance for the incertainty inherent in these data, the two dates may be considered to be indentical. Coincidents quite similar occur in the course of the two traditions. Live the Buddhists, the Jains claim to have been patronised by the Maurya princes. A district which is a holy land for one is almost always a holy land for the other, and their sacred places adjoin each other in Bihar, in peninsula of Guzerat, on Mount Abu in Rajputana, so well as elsewhere. If we collate together all these correspondences in doctrine, organisation, religious observances, and traditions, the inference seems inevitable that one of the two religions is a sect, and in some degree the copy of the other."

(Vide Barth : The Religions of India PP. 148—149 and Radhakrishnan's Indian Philosophy, Vol. I, P. 290).

बौद्ध तथा जैन मतों में भेद—ब्रह्मसूत्र (२।२।३३) के भाष्य में आदि शंकराचार्य ने लिखा है—"निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय इदानीं निरस्यते" अर्थात् बौद्धों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका, अब जैनों (विवसन=दिगम्बर) के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। यहाँ शंकराचार्य ने बौद्धमत तथा जैनमत में भेद को स्पष्टतः स्वीकार करते हुए दोनों की स्वतन्त्र-पृथक् सत्ता को मान्यता प्रदान की है। सर्वदर्शनसंग्रह में भी दोनों का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। स्वयं ग्रन्थकार ने भी यहाँ 'अब बौद्ध-मत के विषय में संक्षेप से लिखते हैं' यह निर्देश करके ६ पृष्ठों में बौद्धमत का विवेचन करने के पश्चात् 'यहाँ से आगे जैनमत का वर्णन है' इस प्रकार निर्देश करके ५३ पृष्ठों मे केवल जैनमत का विस्तार से विवेचन किया है। यदि दोनों मत एक ही हैं तो इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। बौद्धमतानुयायी जैनों के सप्तभंगी तथा स्याद्वाद को नहीं मानते। बौद्धों के क्षणिकवाद तथा जैनों के स्याद्वाद में सदा से ३६ का सम्बन्ध रहा है। जैन-दर्शन चेतन (आत्म) तत्त्व को जहाँ संकोच-विकासशील (मध्यम परिमाण) बताता है, वहाँ बौद्ध दर्शन उसे चेतना का प्रवाहरूप (Stream of consciousness) एवं क्षणिक मानते हुए उसके निर्विकार रूप को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। अर्थात् जहाँ बौद्धमत का सिद्धान्त क्षणिकवाद है, वहाँ जैनमत की मान्यता के अनुसार पदार्थ स्वभाव से नित्य, किन्तु अवस्थाओं के बदलते रहने की अपेक्षा से क्षणभंगुर है। जैनमत में किसी भी अवस्था में मांसाहार की अनुमति नहीं है। बौद्धों के यहाँ इस विषय में वैसी कड़ाई नहीं थी। वे स्वयं मरे हुए पशु का मांस खाने में दोष नहीं समझते थे। स्वयं

अब देखो, बुद्ध जिन और बौद्ध तथा जैन एक के नाम हैं वा नहीं ? 'क्या अमरसिंह भी बुद्धजिन के एक लिखने में भूल गया है' ?

जो अविद्वान् जैन हैं, वे तो न अपना जानते और न दूसरे का। केवल हठमात्र से बर्ड़ाया करते हैं। परन्तु "जो जैनों में विद्वान् हैं, वे सब जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' पर्याय-वाची हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं"।

बुद्ध की मृत्यु चुन्द कम्मारपुत्त (लोहार) द्वारा परोसे गये सूअर का मांस खाने से उत्पन्न उदररोग (रक्तातिसार) से हुई थी। मृत्यु से पूर्व बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से कहा था— "आनन्द, शायद कोई चुन्द कम्मारपुत्त के मन में यह शंका पैदा करदे कि तू कैसा अभागा है, जो तेरी भिक्षा खाकर बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया, सो तुम चुन्द की इस शंका को दूर करना। उससे कहना 'मेरे लिए सुजाता की खीर और चुन्द का दिया मांस एक समान हैं। क्योंकि एक को खाकर बोध हुआ और दूसरे को खाकर परिनिर्वाण हुआ।" 'कइयों का कहना है कि चुन्द ने शूकरकन्द परोसा था। वह हो सकता है; बुद्ध को मांस से परहेज़ न था' (देखो—तेलोवाद जातक, पृ० २४६)। इस शिथिलता का ही यह परिणाम है कि आज चीन,जापान, ब्रह्मा और लंका आदि में करोड़ों बौद्ध मांसाहारी हैं।

बौद्धमत के सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक अथवा हीनयान महायान आदि अवान्तर भेदों का वर्णन करते हुए जैनमत को इनके अन्तर्निविष्ट नहीं किया गया।

बौद्ध चार द्रव्य मानते हैं और जैन छह द्रव्य मानते हैं।

जैनमत में सृष्टि के रचयिता, प्रलयकर्त्ता तथा कर्मफलप्रदाता ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु अपने ज्ञान और चरित्र के बल पर कर्मों का क्षय होने पर कोई भी जीवात्मा परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। बुद्ध ने इस विषय में अपना कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया है। त्रिपिटक (विनयपिटक, सुत्तपिटक व अभिधर्म्मपिटक) बौद्धों के धर्मग्रन्थ हैं, पर जैनों को ये बिल्कुल मान्य नहीं हैं। जैनों के धर्मग्रन्थ तीर्थङ्करों के उपदेश हैं, जिन्हें उनके मुख्य शिष्य गणधर ऋषि ने बारह अङ्गों में ग्रथित किया है—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग, दृष्टि-प्रवादाङ्ग। बौद्धमतानुयायी ईश्वर को न मानकर बुद्ध को लोकनाथ (परमेश्वर) तथा सर्वज्ञ मानकर उसकी पूजा करते हैं तो जैनमतानुयायी ईश्वर को न मानकर ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ मानकर उनकी पूजा-अर्चना करते हैं। दोनों ने अपने आराध्यों को 'समन्तभद्र' (सर्वथा निर्दोष) कहा है, किन्तु स्वामी वेदानन्द जी के अनुसार "बुद्ध तथा महावीर दोनों रोगाक्रान्त हुए। रोगक्रान्ति दोष निश्चय ही भूल का फल है।" इससे जहाँ उनके समन्तभद्रत्व का निरास होता है, वहाँ उनकी सर्वज्ञता पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है और नामोल्लेखपूर्वक दोनों के रोगाक्रान्त बताये जाने से उनके एक ही व्यक्ति के दो नाम होने का भी खण्डन हो जाता है।

राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं—"आजकल बौद्ध लोग बुद्ध को 'सर्वज्ञ' मानते हैं, किन्तु बुद्ध के उपदेशों में जैनों के तीर्थङ्कर श्री महावीर के सर्वज्ञ होने के अभिमान का इन शब्दों में उपहास किया गया है—'एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी···होने का दावा करते हैं···(तो भी)वह सूने घर में जाते हैं (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाते, कुक्कुर भी काट खाता है, चंड हाथी···चंड घोड़े···चंड बैल से भी सामना हो जाता है। (सर्वज्ञ होने पर) स्त्री पुरुषों के नाम-गोत्रों को पूछते हैं, गाँव क़सबे का नाम और रास्ता पूछते

हैं। सर्वज्ञ हैं तो क्यों पूछते हैं ?" (द० दि० द० पृ० ४९६)। इस उद्धरण से तो बुद्ध और महावीर एक न होकर स्पष्टतः परस्पर प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होते हैं।

दिगम्बर व श्वेताम्बर भेद—श्री महावीर के समय में जैनमत को निर्ग्रन्थ मत कहा जाता था, जैसा कि बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों से प्रकट है। उस समय दिगम्बर या श्वेताम्बर नाम प्रसिद्ध नहीं हुए थे। 'जैनधर्मप्रकाश' के अनुसार संवत् १३६ विक्रमी से कुछ साधुओं के श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण श्वेताम्बर नाम पड़ा। तब से प्राचीन निर्ग्रन्थ मत के अनुयायी दिगम्बर कहलाने लगे। चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देवर्द्धिगण नाम के एक श्वेताम्बर आचार्य ने दोनों में भेद स्पष्ट करने के लिए श्वेताम्बर यतियों के लिए एक आचारसंहिता बनाई, जिसके अनुसार आवश्यक हो गया—

१. सवस्त्र साधु होकर महाव्रत पालना।

२. भिक्षा माँगकर पात्र में लाना व एक नियत स्थान पर खाना।

३. स्त्री को भी मुक्तिपद का अधिकारी मानना। दृष्टान्त में १९वें तीर्थङ्कर मल्लिनाथ (२४ तीर्थङ्करों में एक मात्र महिला तीर्थङ्कर) को मल्लि तीर्थङ्करी लिखना। प्राचीन जैन आम्नाय में स्त्री उस ध्यान की योग्यता नहीं रखती, जिससे केवलज्ञान हो सके। इसलिए स्त्री का जीव आगे पुरुष भव पाकर ही महाव्रत पालकर मोक्ष लाभ कर सकता है।

४. मूर्त्तियों को लंगोट सहित ध्यानाकार बनाकर भी उनके गृहस्थ के समान मुकुट आदि आभूषण पहनाना। दिगम्बर जैन मूर्त्तियाँ नग्न ध्यानाकार खड़े या बैठे आसन होती हैं।

५. काल द्रव्य को कोई-कोई श्वेताम्बर ग्रन्थकार निश्चय से स्वीकार नहीं करते। केवल घंटा, घड़ी आदि व्यवहार काल मानते हैं। दिगम्बर जैन काल द्रव्य को द्रव्यों के परिवर्त्तन का निमित्त कारण मानकर अवश्य उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं।

६. भगवान् महावीर का पहले ब्राह्मणी के गर्भ में आना और फिर इन्द्र द्वारा गर्भ हरण कर त्रिशला के गर्भ में स्थापन करना। दिगम्बर जैन ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार वे सीधे त्रिशला के गर्भ में ही आये थे।

७. श्री महावीर का विवाह हुआ था। दिगम्बरों के अनुसार वे कुंवारे ही रहे और तप धारण किया।

श्वेताम्बरों में से ही स्थानकवासी १५वीं शताब्दी में हुए। ये लोग मूर्त्तिपूजा नहीं करते। मुँह पर पट्टी बांधते हैं और भोजन, ऊँच-नीच, जो भी देवे, उसी से ले लेते हैं।

गौतम बुद्ध—महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध सिद्धार्थ गौतम (गौतम प्रत्येक शाक्य का उपनाम होता था) का जन्म ईसा पूर्व ६२५ में कपिल वस्तु (वत्थु) के शाक्य वंश में राजा शुद्धोदन शाक्य की पत्नी महामाया के गर्भ से अपनी ननसाल देवदह की ओर जाते हुए मार्ग में ही लुम्बिनी के सुन्दर वन में हुआ था। पावा से कुसीनार जाते हुए हिरण्यवती नदी के पार मल्लों के सालवन में ८० वर्ष की आयु में ईसा पूर्व ५४५ में उनका देहावसान हुआ।

महावीर स्वामी—गौतम बुद्ध के समकालीन वर्धमान महावीर का जन्म ईसा पूर्व ५९९ में वृजिगण के ज्ञात्रिक कुल के एक राजा सिद्धार्थ के घर लिच्छवी वंश की कन्या त्रिशला के गर्भ से वेसालि के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। राजगृह के निकट पावापुरी में ईसा पूर्व ५२७ में कार्त्तिक अमावस की रात्रि में उनका निर्वाण हुआ। जिस प्रकार सिद्धार्थ गौतम ज्ञान प्राप्त करने के बाद बुद्ध, तथागत आदि नामों से पुकारे जाने लगे थे, उसी प्रकार वर्धमान ज्ञानप्राप्ति के बाद से अर्हत्(पूज्य)जिन(विजेता)निर्ग्रन्थ

(बन्धनहीन) और महावीर कहलाने लगे। प्रारम्भ में उनके अनुयायी भी निर्ग्रन्थ कहलाते थे, जैन बहुत बाद में कहलाये।

महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध का जीवनवृत्त (Bio-data) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। दोनों का दर्शन, विचारधारा, धार्मिक मान्यताएँ, पूजा-पद्धति, संघटन-व्यवस्था आदि किसी भी बात में समानता नहीं है। फिर भी ग्रन्थकार ने दोनों को विभिन्न नामधारी एक ही व्यक्ति और उनके द्वारा प्रवर्त्तित मतों को भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध एक ही मत बताया है। उनकी इस स्थापना का आधार है—

१. अमरसिंह विरचित अमरकोश में 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' नामों का पर्यायवाची होना।

२. राजा शिवप्रसाद का स्वरचित इतिहासतिमिरनाशक में दोनों को एक बताना।

अमरकोश में लिखा है—

स शाक्यसिंहः सर्वार्थः सिद्धश्शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥

(अमरकोश [सन् १८७९, मेडिकल हाल बनारसमुद्रित, कां० १ वर्ग १, श्लोक १०)

प्रस्तुत श्लोक में किसी ऐसे पुरुष का वर्णन हुआ है, जिसका जन्म शाक्य वंश में हुआ था, जिसका गोत्र गोतम था और जिसके पिता का नाम शुद्धोदन और माता का महामाया था। निश्चय ही वह इतिहास में महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति था, जिसने बौद्धमत की स्थापना की थी। शुद्धोदन और महामाया की सन्तान के रूप में महावीर नामवाले व्यक्ति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। यह ठीक है कि बुद्ध और जिन पर्यायवाची नामपद हैं, परन्तु इतने मात्र से दो व्यक्तियों को एक नहीं माना जा सकता। 'कृपाराम' और 'दयाराम' और इसी प्रकार 'ज्ञानानन्द' और 'विद्यानन्द' अथवा 'वेदानन्द' पर्यायवाची हैं। परन्तु यदि उनके माता-पिता, जन्मस्थान, जन्म तथा मृत्यु का समय (वर्ष-मास), योग्यता, विचार सब कुछ भिन्न है, तो केवल नामपदों के संयोगवश पर्यायवाची होने से उनके एक व्यक्ति के वाचक होना आवश्यक नहीं है। अमरकोश में अन्यत्र कहा है—'धर्मराजो जिनयमौ' और इसकी व्याख्या में लिखा है—'धर्मराजो यमे बुद्धे युधिष्ठिरनृपे पुमान्' (इति मेदिनी) अर्थात् बुद्ध, धर्मराज और युधिष्ठिर—ये धर्मराज कहलाते हैं। इससे बुद्ध, यमराज और युधिष्ठिर तीनों किसी एक ही व्यक्ति के नाम कैसे हो सकते हैं? वस्तुतः इतिहास विषय में अमरकोश को प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। उसका विषय शब्द-अर्थ है, इतिवृत्त नहीं।

पृष्ठ ३८५ (वै० य० मु०) पर ग्रन्थकार लिखते हैं—"अब बौद्धमत के विषय में लिखते हैं।" तत्पश्चात् पृष्ठ ३९१ (वही) पर लिखते हैं—'यहाँ से आगे जैनमत का वर्णन है'। यह ठीक वैसा ही है जैसा स्वामी शंकराचार्य का यह कथन कि "बौद्धों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका, अब जैनों के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।"

'इतिहासतिमिरनाशक' में अपनी टिप्पणी में राजा शिवप्रसाद कहते हैं कि "बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है, जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय से शंकर स्वामी के समय तक वेद के विरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा···।" परन्तु शंकर स्वामी ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में पूर्व सूत्रों में बौद्धों के क्षणिकवाद, बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन करने के बाद ब्रह्मसूत्र २।२।३३ के भाष्य में "निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय इदानीं निरस्यते" (सुगत=बौद्ध) मत का

खण्डन किया गया, अब विवसन=दिगम्बर जैन मत का खण्डन किया जाता है) लिखकर केवल जैनों को मान्य "सप्त चैषां पदार्थाः समता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम" इस प्रकार सात पदार्थों का निर्देश करके जैनों को अभिमत 'जीवास्तिकाय' आदि पाँच अस्तिकायों तथा 'स्यादस्ति' आदि सप्त-भंगी नयनामक न्याय का विवेचन किया है। यदि बौद्धमत तथा जैनमत शंकराचार्य से पूर्व ही दो भिन्न व्यक्तियों द्वारा संस्थापित तथा प्रसारित दो परस्पर भिन्न मत न होते तो शंकराचार्य को उनका पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन अपेक्षित न होता। बुद्ध-महावीर तथा शंकर के काल में मात्र लगभग एक सौ वर्ष का अन्तर है, जबकि राजा शिवप्रसाद उनके २५०० वर्ष बाद हुए। अतएव इस विषय में शंकराचार्य का कथन कहीं अधिक प्रामाणिक है, जिसके अनुसार बौद्ध तथा जैन दोनों मतों का एक समय में होना सिद्ध है।

यहीं ('सामि अणाइ अणन्ते' इत्यादि गाथा की व्याख्या में) ग्रन्थकार लिखते हैं—"प्रकरण-रत्नाकर, भाग २ नामक ग्रन्थ के 'राम्यक्त्वप्रकाश' प्रकरण में गौतम और महावीर का संवाद है।" इस पर स्वामी वेदानन्द जी की टिप्पणी है—"गौतम महावीर स्वामी के गणधर थे। प्रकरणरत्नाकर के अन्तर्गत सम्यक्त्वस्वरूपस्तव' की पहली गाथा की गुजराती व्याख्या में महावीर स्वामी और गौतम गणधर का संवाद आया है। स्वयं ग्रन्थकार ने भी राजा शिवप्रसाद के प्रमाण से गौतम बुद्ध को महावीर स्वामी का गणधर माना है।

संवाद सदा दो भिन्न व्यक्तियों के बीच वैमत्य के कारण होता है, एक ही व्यक्ति में परस्पर संवाद का होना उपपन्न नहीं होता।

ग्रन्थकार द्वारा बाबू शिवप्रसाद के 'इतिहासतिमिरनाशक' से सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत कथन को पढ़कर सकल जैन पंचायत गुजराँवाला ने बाबू शिवप्रसाद को इसके विरोध में एक पत्र लिखा। उसके उत्तर में राजा शिवप्रसाद ने लिखा—

१. "जैन और बौद्ध एक नहीं हैं, सनातन से भिन्न चले आये हैं। जर्मन देश के एक विद्वान् ने इनका ग्रन्थ छापा है।

२. चार्वाक और जैन से कुछ सम्बन्ध नहीं है। जैन को चार्वाक कहना ऐसा है, जैसा स्वामी दयानन्द जी महाराज को मुसलमान कहना।

३. इतिहासतिमिरनाशक का आशय स्वामी जी की समझ में नहीं आया। उसकी भूमिका की एक नकल इसके साथ दी जाती है। उससे विदित होगा कि यह संग्रह है। बहुत बात खण्डन के लिए लिखी गई। मेरे निश्चय के अनुसार उसमें कुछ भी नहीं है।

४. जो स्वामी जी जैन को इतिहासतिमिरनाशक के अनुसार मानते हैं तो वेदों को भी उसके अनुसार क्यों नहीं मानते।

बनारस १ जनवरी, ईसवी सन् १८७६ आपका दास—शिवप्रसाद"

(पण्डित हंसराज शास्त्री द्वारा रचित 'स्वामी दयानन्द और जैन धर्म' में 'अज्ञानतिमिर भास्कर' प्रथम खण्ड से उद्धृत)

राजा शिवप्रसाद ने अपने उपर्युक्त पत्र में अपने ग्रन्थ की जिस भूमिका का उल्लेख किया है, उसमें उन्होंने लिखा है—"यह तो संग्रह है, कुछ किसी मत के खण्डन या स्थापन करने के निमित्त नहीं लिखा गया है" (शिवप्रसाद, १ जनवरी १८७३ ई०)।

इस प्रकार यह ग्रन्थ (इतिहासतिमिरनाशक) सन् १८७३ में अर्थात् सत्यार्थप्रकाश से लगभग

[जैनियों के कुछ अन्य सिद्धान्त]

जैन लोग कहते हैं कि—'जीव ही परमेश्वर हो जाता है। वे जो अपने तीर्थङ्करों को ही केवली मुक्तिप्राप्त और परमेश्वर मानते हैं। अनादि परमेश्वर कोई नहीं। सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थकृत्, जिन ये छः नास्तिकों[1] के देवताओं के नाम हैं।

[जैन प्रोक्त आदि देव का स्वरूप]

'आदि देव' का स्वरूप चन्द्रसूरि ने 'आप्तनिश्चयालंकार' ग्रन्थ में लिखा—

'सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः' ॥१॥[2]

[सर्वज्ञ ईश्वर के खण्डन में जैनियों के कुतर्क]

वैसे ही तौतातितों[3] ने भी लिखा है कि—

'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥२॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्पते ॥३॥
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥४॥[4]

जो रागादि दोषों से रहित, त्रैलोक्य में पूजनीय, यथावत् पदार्थों का वक्ता, सर्वज्ञ अर्हन् देव है, वही परमेश्वर है ॥१॥

दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इसकी मूल प्रति हमें परोपकारिणी सभा में सुरक्षित महर्षि दयानन्द के निजी पुस्तकालय में से प्राप्त हुई।

---

१. अर्थात् जैनियों के।

२. 'सर्वदर्शन-संग्रह' के अन्तर्गत 'आर्हत दर्शन', पृष्ठ ५६। वहाँ 'वीतराग' के स्थान में 'जितराग' पाठ है।

३. 'तुतातित' यह कुमारिल का नामान्तर है। देखो, 'तुतातितमततिलक भूमिका' पृष्ठ २। मुद्रणकाल—सन् १९३९। भ० द०। 'सर्वदर्शन-संग्रह' के टीकाकार वासुदेव अभ्यङ्कर ने 'तौतातितैः' का अर्थ 'बौद्धैः' किया है (पृष्ठ ५६), वह अशुद्ध है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' के पृष्ठ ३०२ पर तौतातितों की 'यावन्तो यादृश्या ये च' कारिका उद्धृत की है, वह 'भट्ट कुमारिल' के 'श्लोकवार्त्तिक' पृष्ठ ५२७ (चौखम्बा सीरिज काशी) में यथावत् मिलती है। इसी प्रकार 'सर्वद० सं०' पृष्ठ ४३८ पर 'तौततितमतमवलम्ब्य विधिविवेकं व्याकुर्वाणै...' लिखा है। 'विधिविवेक' ग्रन्थ भी भाट्टमतानुसारी मीमांसा का ग्रन्थ है। आगे जो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें से 'सर्वज्ञो दृश्यते...' श्लोकार्ध 'श्लोकवार्त्तिक' पृष्ठ ८२ पर मिलता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस प्रसंग (पृष्ठ ५५-५७) में जो १० श्लोक उद्धृत हैं, वे 'श्लोकवार्तिक' के उक्त प्रसंग के ही संक्षेप रूप हैं। अतः 'तुतातित' निश्चय ही भट्ट कुमारिल का नामान्तर है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' २।३ में लिखा है—'नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं तौतातिकं दर्शनम्।' यहाँ गुरु=‘प्रभाकर' के प्रतिपक्ष में 'तौतातिक' का निर्देश होने से कुमारिल भट्ट का ही नामान्तर विदित होता है। संभव है 'प्रबोधचन्द्रोदय' में 'तौतातित' के स्थान में 'तौतातिकं' पाठ-भ्रंश हो।

'आर्हत-दर्शन' पृष्ठ ५६।

'जिसलिए हम इस समय परमेश्वर को नहीं देखते, इसलिए कोई सर्वज्ञ अनादि परमेश्वर प्रत्यक्ष नहीं। जब ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, तो अनुमान नहीं घट सकता, क्योंकि एकदेश प्रत्यक्ष के विना अनुमान नहीं हो सकता ॥२॥

जब प्रत्यक्ष अनुमान नहीं, तो आगम अर्थात् नित्य अनादि सर्वज्ञ परमात्मा का बोधक शब्द-प्रमाण भी नहीं हो सकता। जब तीनों प्रमाण नहीं, तो 'अर्थवाद'=अर्थात् स्तुति, निन्दा 'परकृति' अर्थात् पराये चरित्र का वर्णन, और 'पुराकल्प'[2] अर्थात् इतिहास का तात्पर्य भी नहीं घट सकता ॥३॥

और अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुव्रीहि समास[3] के तुल्य परोक्ष परमात्मा की सिद्धि का विधान भी नहीं हो सकता। पुनः ईश्वर के उपदेष्टाओं से सुने विना अनुवाद भी कैसे हो सकता है ? ॥४॥

वास्तव में स्वामी जी के समय में प्राचीन भारतीय धर्मों का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भिक दशा में था। बौद्ध धर्म का कुछ अनुशीलन अवश्य हुआ था। पर जैन धर्म तथा उसके दर्शन व साहित्य का सम्यक् अध्ययन अभी नहीं हुआ था। इसमें मुख्य कारण यह था कि जैन आचार्य अपने धर्मग्रन्थों को दूसरों को देखने का अवसर नहीं देते थे। यह सर्वविदित है कि कुमारिल-भट्ट अपने को जैन बताकर ही अध्ययन कर सके थे। स्वामी जी के देहान्त के पर्याप्त पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उनका प्रकाश में आना प्रारम्भ हुआ था। प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वान् बौद्ध और जैन धर्मों को एक ही कक्ष की दो शाखाएँ मानते थे। जब जैनों के कुछ ग्रंथ प्रकाश में आये और जैकोबी तथा बूल्हर जैसे विद्वानों ने जैन धर्म का विवेचनात्मक अनुशीलन प्रारम्भ किया, तो उन्होंने इस धर्म की पृथक् सत्ता प्रतिपादित की। इस स्थिति में यदि स्वामी दयानन्द ने जैन और बौद्ध धर्मों को एक माना तो उन्हें विशेष दोषी नहीं माना जा सकता।

स्वामी जी सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहते थे। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में चार्वाकों के श्लोकों को जैन मत के नाम से उद्धृत किया गया था। यह उस समय उपलब्ध सामग्री के आधार पर लिखा गया था। जैन विद्वानों द्वारा इस ओर स्वामीजी का ध्यान आकृष्ट किये जाने पर दूसरे संस्करण में उन्हें चार्वाकों के नाम से ही उद्धृत किया गया, जैनों के नाम से नहीं। इसी प्रकार दूसरे संस्करण में उन्होंनें जैन और बौद्ध धर्मों की समीक्षा भी पृथक्-पृथक् की। और उनके मन्तव्यों में भेद का भी निरूपण किया।

---

१. तौतातित (=भट्ट कुमारिल के अनुयायी) मीमांसक भी किसी सर्वज्ञ ईश्वर को नहीं मानते। अतः तौतातितों के सर्वज्ञ के खण्डन में उक्त श्लोक हैं। तौतातित मतवाले वेदानुयायी होते हुए भी जैसे सर्वज्ञ ईश्वर को नहीं मानते, वैसे ही हम जैनी भी नहीं मानते। यह अभिप्राय मन में रखकर जैन-प्रकरण में मीमांसकों का मत उद्धृत किया है।

२. 'स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्पः इत्यर्थवादः'। न्याय २।१।६४॥

३. उपरि उद्धृत श्लोक में 'अन्यार्थप्रधानैः' का प्रकरणानुसारी अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए—'अन्यतात्पर्यबोधक किसी अर्थवाद-वाक्य में सर्वज्ञ के अस्तित्व का अनुवाद होने पर भी अन्य पांच प्रमाणों से अबोधित अर्थ (=सर्वज्ञत्व) का अनुवाद कैसे हो सकता है ? क्योंकि अनुवाद सिद्ध वस्तु का होता है'। ऋ० द० ने यहाँ बहुव्रीहि समास का जो निर्देश किया है, वह भी ठीक है। क्योंकि बहुव्रीहि समास 'शबला गावो यस्य स शबलगुः' में जो अन्यार्थ बोधित होता है, वह न शबलपद से बोधित होता है न गो शब्द से। अतः जैसे शबलगु से अन्यार्थ परोक्षभूत अर्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार परोक्षभूत परमात्मा की 'परम आत्मा' दोनों पदों के सामान्य अर्थ से भिन्न विशेषणार्थ विशिष्ट आत्मारूप अन्यार्थक 'परमात्मा' आदि शब्दों से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि शबलगु शब्द से वाच्य व्यक्ति तो प्रत्यक्ष माना जाता है, परन्तु 'परमात्मा' आदि का वाच्य किसी के द्वारा भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

[विना ईश्वर के 'अर्हन्' के माता-पिता की रचना किसने की ?]

इसका प्रत्याख्यान अर्थात् खण्डन—जो अनादि ईश्वर न होता, तो 'अर्हन्' देव के माता-पिता आदि का शरीर का साँचा कौन बनाता ? विना संयोगकर्त्ता के यथायोग्य सर्वावयवसम्पन्न यथोचित कार्य करने में उपयुक्त शरीर बन ही नहीं सकता। और जिन पदार्थों से शरीर बना है, उनके जड़ होने से स्वयं इस प्रकार की उत्तम रचना से युक्त शरीररूप नहीं बन सकते। क्योंकि उनमें यथायोग्य बनने का ज्ञान ही नहीं।

अनादि परमेश्वर कोई नहीं—जीव के सभी प्रयत्न व भोग आदि शरीर के द्वारा सम्भव हैं। इसलिए सृष्टि के क्रम को आरम्भ करने के लिए पूर्वसृष्टि के कर्मफल को भोगनेवाले जीवों के पास देहों का होना नितान्त आवश्यक है। अशरीर अवस्था में जीव स्वयं उसका निर्माण करने में असमर्थ है। फलतः सर्ग का चालू काल ईश्वरीय व्यवस्थाओं के अनुसार संचालित होता है और अयोनिज शरीरों का निर्माण होता है। तदनन्तर सजातीय प्रजनन का नियम चालू होता है। जो कार्य प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार जीव से अतिरिक्त सत्ता के द्वारा होता था, वह अब नर-मादा के संयोग से होकर योनिज शरीरों की सृष्टि के रूप में स्वयं प्राणियों द्वारा होने लगता है। आरम्भ में साँचा बनाना कठिन होता है। साँचा तैयार होने पर उसके अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। 'अर्हन्' देव का शरीर अपने माता-पिता के शरीर से और उनके शरीर का निर्माण अपने माता-पिता के शरीर से हुआ होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी तो मानवोत्पत्ति के लिए अपेक्षित उस साँचे के निमित्त कारण के रूप में (क्योंकि उसके विना जड़प्रकृति स्वतः कार्यरूप में प्रवृत्त नहीं हो सकती) परमेश्वर ही मिलेगा।

सृष्टि के आदिकाल में समस्त सृष्टि अमैथुनी होती है—अर्थात् नर-नारी के संयोग के विना ही जीव शरीर धारण करते हैं। ईश्वरीय व्यवस्थाओं के अनुसार रज-वीर्य के मूलतत्त्व किसी विशिष्ट खोल में संकलित हो जाते हैं और उनसे शरीररचना प्रारम्भ हो जाती है। कालान्तर में देह के परिपुष्ट हो जाने पर वे खोल फट जाते हैं और बने-बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं। इस प्रकार की देहरचना 'अयोनिज' कहाती है, क्योंकि इसमें गर्भाशय से बाहर निकलने के योनि नामक मार्ग का उपयोग नहीं होता। प्राणी के प्रजनन की जिस स्थिति को मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्रस्तुत करता है, अमैथुनी सृष्टि में वही स्थिति प्राकृत नियमों व ईश्वरीय व्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृति के गर्भ में प्रस्तुत हो जाती है। वर्त्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा ट्यूब में मानवशरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है। यहाँ ग्रन्थकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार 'अर्हन्' देव की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित मूल साँचे का निर्माण ईश्वर के विना सम्भव नहीं, उसी प्रकार जगत् की रचना भी निमित्तकारण के रूप में ईश्वर के विना सम्भव नहीं।

जगत् की रचना इतनी सुविचारपूर्ण है कि किसी चेतन सत्ता की योजना के विना जड़ भूत-तत्त्वों द्वारा उसका स्वयमेव सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। सृष्टि का संचालन किन्हीं नियमों के आधार पर हो रहा है। नियमबद्धता ही प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। विश्व के बृहद् आकार, ग्रहों-नक्षत्रों की अगणित संख्या और उन सब पर अनुशासन करनेवाले नियमों के वैविध्य को देखकर बुद्धिपूर्वक नियोजन करनेवाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है। प्रकृति की सूक्ष्मशक्तियों और नियमबद्धता से अनुशासित विश्व परमेश्वर के अस्तित्व और उसके कर्तृत्व का साक्षी है।

[रागादि दोषयुक्त जीव 'ईश्वर' नहीं हो सकता]

और जो रागादि दोषों से सहित होकर पश्चात् दोषरहित होता है, वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिस निमित्ति से वह रागादि से मुक्त होता है, वह मुक्ति उस निमित्त के छूटने से उसका कार्य मुक्ति भी अनित्य होगी।

[अल्प और अल्पज्ञ जीव सर्वव्यापक और सर्वज्ञ नहीं हो सकता]

जो अल्प और अल्पज्ञ है, वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का स्वरूप एकदेशी, और परिमित गुण-कर्म-स्वभाववाला होता है। वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थ-वक्ता नहीं हो सकता। इसलिए तुम्हारे तीर्थङ्कर परमेश्वर कभी नहीं हो सकते ॥१॥

[योगाभ्यास से परमात्मा का भी प्रत्यक्ष होता है]

क्या तुम जो प्रत्यक्ष पदार्थ हैं उन्हीं को मानते हो, अप्रत्यक्ष को नहीं? जैसे कान से रूप और चक्षु से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तःकरण विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे विना पढ़े विद्या के प्रयोजनों की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही योगाभ्यास और विज्ञान के विना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता।

[रचना-विशेष लिङ्गों से ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है]

जैसे भूमि के रूपादि गुण ही को देख जानके गुणों से अव्यवहित सम्बन्ध से पृथिवी प्रत्यक्ष होती है, वैसे इस सृष्टि में परमात्मा के रचना-विशेष लिङ्ग देखके परमात्मा प्रत्यक्ष होता है। और जो पापाचरणेच्छा-समय में भय शङ्का लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है। इससे भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता है। फिर अनुमान के होने में क्या सन्देह हो सकता है? ॥२॥

मुक्ति भी अनित्य—जीवात्मा स्वभाव से शुद्ध है, किन्तु अल्पज्ञ तथा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड़ जाता है और कभी ब्रह्म के साथ। जब प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो बन्धन में पड़ जाता है और जब ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। जैसे धूल-मिट्टी लगने से वस्त्र मैला हो जाता और जल से धोने पर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मोह मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेषादि के कारण जीव बन्धन में पड़ता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव निमित्त से बद्ध और मुक्त होता है। फिर, जिसका आदि है, उसका अन्त अनिवार्य है। जैसे एक किनारे की नदी की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही ऐसी मुक्ति भी नहीं हो सकती, जिसका आदि तो हो, किन्तु अन्त कभी न हो। इसलिए दोषरहित होने से मुक्ति प्राप्त करनेवाले तीर्थङ्करों का एक-न-एक दिन सांसारिक बन्धन में आना अपरिहार्य है। कोई भी वस्तु अपने स्वाभाविक गुणों का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकती। जीव स्वभाव से एकदेशी, अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है। इसलिए वह कितना ही प्रयत्न करे, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् कदापि नहीं हो सकता। फलतः तीर्थङ्कर कभी भी ईश्वरत्व को प्राप्त नहीं कर सकते।

ईश्वर-प्रत्यक्ष—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जिस प्रकार घ्राण

[प्रत्यक्ष और अनुमान होने से शब्दप्रमाण भी ईश्वर में है]

और प्रत्यक्ष तथा अनुमान के होने से आगम प्रमाण भी नित्य अनादि सर्वज्ञ ईश्वर का बोधक होता है। इसलिए शब्दप्रमाण भी ईश्वर में है। जब तीनों प्रमाणों से ईश्वर को जीव जान सकता है, तब 'अर्थवाद' अर्थात् परमेश्वर के गुणों की प्रशंसा करना भी यथार्थ घटता है। क्योंकि जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य होते हैं। उनकी प्रशंसा करने में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं ॥३॥

आदि के द्वारा गन्धादि गुणों का ज्ञान होने से गुणी पृथिवी का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार सृष्टि में रचनाविशेष आदि गुणों=लिङ्गों को देखकर लिङ्गी परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वर के बाह्येन्द्रियों का विषय न होने से उसका प्रत्यक्ष आन्तरेन्द्रिय मन से होता है।

वस्तुतस्तु बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध न आत्मा का होता है, न मन का। चेतन होने से आत्मा ज्ञाता व अनुभविता है। मन उसका आन्तर साधन है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाह्य साधन हैं। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों का होता है। आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। मन अभिलषित विषय को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को उस अर्थ (विषय) की ओर प्रेरित करता है। अब बाह्य विषय का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रिय से, बाह्य इन्द्रिय का आन्तर साधन मन से और मन का ज्ञाता आत्मा से है। इस प्रकार आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा बाह्य को जान लेता है। आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान इसी प्रक्रिया से होता है। योगाभ्यासी शुद्धान्तःकरण से सर्वव्यापी परमेश्वर को देख लेता है।

बुरा काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा उसके विपरीत अच्छा काम करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह के भाव उत्पन्न होते हैं। ये परमात्मा की ओर से ही होते हैं। इसमें भी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके भीतर कोई ऐसा मार्गदर्शक बैठा है, जो उसे भले-बुरे का ज्ञान कराता है। वह मार्गदर्शक हृदयस्थित ब्रह्म (ईश्वर) है—'एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म' (बृहद्० ५।३।१)। विषय-वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोक में 'हृदय की पुकार' या 'अन्तरात्मा की आवाज़' (Voice of the conscience) कहानेवाली हृदयस्थित आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम नहीं सुन पाते। परन्तु इसमें तनिक सन्देह नहीं कि बुरी-से-बुरी अवस्था में भी और कभी न सुननेवाला व्यक्ति भी, यदि चाहे तो, भीतर कान लगाकर उस आवाज़ को सुन सकता है। बड़े-से-बड़े पापी के हृदय में भी बुरा काम करते समय भय, शंका और लज्जा का अनुभव हुए विना नहीं रहता। डॉ० राधाकृष्णन ने इस विषय में कहा है—

"The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put out, though he may try to stiffle it and turn away from it. God holds us, fallen though he may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts." (Hindu View of Life).

अर्थात्—बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी बुरा काम करते समय एक ज्योति दिखाई देती है, जिसकी उपेक्षा वह भले ही कर दे किन्तु जिसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें संभालता है और हमारे अन्धेरे और विद्रोही मन में भी अपने प्रकाश की किरणें डाले विना नहीं रहता।

शब्दप्रमाण—"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजुः० ४०।८) ॥१॥ अर्थात्—परमात्मा

[सृष्टि-रचना जैसे कार्य ईश्वर के विना सम्भव नहीं]

जैसे मनुष्यों में कर्त्ता के विना कोई भी कार्य नहीं होता, वैसे ही इस महत्कार्य का कर्त्ता के विना होना सर्वथा असम्भव है। जब ऐसा है, तो ईश्वर के होने में मूढ़ को भी सन्देह नहीं हो सकता। जब परमात्मा के उपदेश करनेवालों से सुनेंगे, पश्चात् उसका अनुवाद करना भी सरल है ॥४॥

इससे जैनों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर का खण्डन करना आदि व्यवहार अनुचित है।

[अनादि नित्य पदार्थों में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता]

प्रश्न—**अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।**
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥१॥
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते।
प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योऽन्याश्रययोस्तयोः ॥२॥
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तराद्वृतेः ॥३॥[1]

बीच में सर्वज्ञ हुआ अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं हो सकता[2]। क्योंकि किये हुए असत्य वचन से उसका प्रतिपादन किस प्रकार से हो सके ? ॥१॥

और जो परमेश्वर ही के वचन से परमेश्वर सिद्ध होता है, तो अनादि ईश्वर से अनादि शास्त्र

शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित, शुद्ध, निष्पाप, क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अनादि है और वह अपनी सनातन प्रजा के लिए वेद द्वारा पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान कराता है और कर्मानुसार पदार्थों का निर्माण करता है। "अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्" (अथर्व० १०।८।४४) ॥२॥ अर्थात् परमात्मा स्वार्थकामनारहित, महाबुद्धिमान्, अविनाशी, अनादि, आनन्द से भरपूर, किसी भी प्रकार की त्रुटि से रहित है। उस सर्वव्यापक, धीर, अजर, युवा (सदा जवान) को जानकर ही ज्ञानी मृत्यु के भय से रहित है। इस प्रकार के सहस्रों मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं।

अनुवाद—अनुवाद और पुनरुक्त दोनों में शब्द का अभ्यास (एकाधिक बार प्रयोग) समान रहता है। परन्तु जहाँ अनुवाद में शब्द का अभ्यास सार्थक होता है, वहाँ पुनरुक्त में वह निरर्थक होता है। जैसे—जाने में शीघ्रता करने के लिए 'शीघ्रं गम्यताम्'—'जल्दी-जल्दी चलो' इस वाक्य में 'चलना' क्रिया में अतिशय लाने के लिए 'शीघ्र' या 'जल्दी' पद का पुनः प्रयोग किया गया है। अतः यह 'अनुवाद' है, पुनरुक्त नहीं।

जैनों का—'और तौतातितों का' इतना पाठ और चाहिए।

अनादेरागमस्य—आदिमान् सर्वज्ञ अनादि शास्त्र का विषय नहीं हो सकता। और यदि शास्त्र को कालान्तर में बना माना जाय तो इस प्रकार कृत्रिम असच्छास्त्र से उस सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? जैनों के तीर्थङ्कर सृष्टि के आदि में न होकर बीच में हुए। अतः नित्य शास्त्र से उनकी सर्वज्ञता को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

१. 'आर्हत-दर्शन' पृष्ठ ५६, ५७।
२. यहाँ प्रकरणानुसार प्रथम श्लोक का अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए—'अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं जाना जा सकता। क्योंकि कोई सर्वज्ञ माना भी जाये, तो वह आदिमान् अर्थात् अनादि नहीं हो सकता। इसलिए कल्पित किसी के कृत्रिम

की सिद्धि, और अनादि शास्त्र से अनादि ईश्वर की सिद्धि, अन्योऽन्याश्रय दोष आता है ॥२॥

क्योंकि सर्वज्ञ के कथन से वह वेदवाक्य सत्य, और उसी वेद-वचन से ईश्वर की सिद्धि करते हो, यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? उस शास्त्र और परमेश्वर की सिद्धि के लिए तीसरा कोई प्रमाण चाहिए। जो ऐसा न मानोगे, तो अनवस्था दोष आवेगा ॥३॥

[ईश्वरप्रणीत वेद में अनवस्था दोष नहीं आता]

उत्तर—हम लोग परमेश्वर और परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव को अनादि मानते हैं। अनादि नित्य पदार्थों में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आ सकता। जैसे कार्य से कारण का ज्ञान, और कारण से कार्य का बोध होता है, कार्य में कारण का स्वभाव और कारण में कार्य का स्वभाव नित्य है, वैसे परमेश्वर और परमेश्वर के अनन्त विद्यादि गुण नित्य होने से ईश्वरप्रणीत वेद में अनवस्था दोष नहीं आता ॥ १, २, ३॥

[माता-पिता से उत्पन्न तीर्थङ्कर कभी ईश्वर नहीं हो सकते]

और तुम तीर्थङ्करों को परमेश्वर मानते हो, यह कभी नहीं घट सकता। क्योंकि विना माता-पिता के उनका शरीर ही नहीं होता, तो वे तपश्चर्या ज्ञान और मुक्ति को कैसे पा सकते हैं ? वैसे ही संयोग का आदि अवश्य होता है। क्योंकि बिना वियोग के संयोग हो ही नहीं सकता। इसलिए अनादि सृष्टिकर्त्ता परमात्मा को मानो।

[परिच्छिन्न सामर्थ्यवाले अल्पज्ञ जीव को ईश्वर मानना भूल है]

देखो, चाहे कितना ही कोई सिद्ध हो, तो भी शरीर आदि की रचना को पूर्णता से नहीं जान सकता। जब सिद्ध जीव सुषुप्ति दशा में जाता है, तब उसको कुछ भी भान नहीं रहता। जब जीव दुःख को प्राप्त होता है, तब उसका ज्ञान भी न्यून हो जाता है। ऐसे परिच्छिन्न सामर्थ्यवाले एकदेश में रहने-वाले को ईश्वर मानना विना भ्रान्तबुद्धियुक्त जैनियों से अन्य कोई भी नहीं मान सकता।

जो तुम कहो कि वे तीर्थङ्कर अपने माता-पिताओं से हुए, तो वे किनसे ? और उनके माता-पिता किनसे ? फिर उनके भी माता-पिता किनसे उत्पन्न हुए ? इत्यादि अनवस्था आवेगी।

अनवस्थादोष—अर्थात् उसके लिए अन्य प्रमाण, फिर उसके लिए अन्य प्रमाण—इस प्रकार कहीं भी ठिकाना न रहेगा। यह अनवस्था दोष कहलाता है।

आस्तिक-नास्तिक संवाद : कर्मफल विवेचन—संसार में बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन प्रत्यक्ष देखा जाता है। जैसे दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का तथा सुषुप्ति के बाद जागरण और जागरण के बाद सुषुप्ति का आना अवश्यंभावी है, वैसे ही मुक्ति के पश्चात् बन्धन और बन्धन के पश्चात् प्रयत्नपूर्वक मुक्ति का आना अनिवार्य है। स्वभाव के न रहने पर वस्तु का

=असत्यवचन से अनादि सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती।" म० भ० अभ्यङ्कर शास्त्री ने इन वचनों को जैनियों के सर्वज्ञ माने गये तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के खण्डनपरक माना है, वह अशुद्ध है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि ये 'तौतातित' मत के वचन मीमांसक भट्ट कुमारिल के अनुयायियों के हैं। अतः यहाँ सर्वज्ञ ईश्वर के खण्डन में इनका तात्पर्य है। ऋ० द० का अर्थ इस दृष्टि से उचित ही है। जैन मतवाले भी सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन करते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में जैनदर्शन में तौतातितों के वचनों के उल्लेख का प्रयोजन पृष्ठ ४२०, टि० ३ में लिख चुके हैं।

[आस्तिक और नास्तिक का संवाद]

इसके आगे 'प्रकरणरत्नाकर' के दूसरे भाग से 'आस्तिक-नास्तिक के संवाद' के प्रश्नोत्तर[1] यहाँ लिखते हैं। जिसको बड़े-बड़े जैनियों ने अपनी सम्मति के साथ माना, और मुम्बई में छपवाया है।[2]

[ईश्वरीय व्यवस्था से ही जीव कर्मफलों को भोगते हैं]

नास्तिक—ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, वह कर्म से।

आस्तिक—जो सब कर्म से होता है, तो कर्म किससे होता है? जो कहो कि जीव आदि से होता है, तो जिन श्रोत्रादि साधनों से कर्म जीव करता है, वे किनसे हुए? जो कहो कि अनादिकाल और स्वभाव से होते हैं, तो अनादि का छूटना असम्भव होकर तुम्हारे मत में मुक्ति का अभाव होगा। जो कहो कि प्रागभागवत् अनादि सान्त[3] है, तो विना यत्न के सबके कर्म निवृत्त हो जायेंगे।

यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो, तो पाप का फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा। जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते, किन्तु राज्यव्यवस्था से भोगते हैं, वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं। अन्यथा कर्मसंकर हो जायेंगे, अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।

[जीव अपने जीवत्व स्वभाव को छोड़ ईश्वर नहीं बन सकता]

नास्तिक—ईश्वर अक्रिय है। क्योंकि जो कर्म करता होता, तो कर्म का फल भी भोगना पड़ता। इसलिए जैसे हम कैवली-प्राप्त मुक्तों को अक्रिय मानते हैं, वैसे तुम भी मानो।

अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी प्रकार जो अनादि है, वह अनन्त भी होगा। इसलिए यदि कर्म करने के साधन और उनसे उत्पन्न कर्मबन्धन अनादि और स्वभाव से होगा तो उससे छुटकारा असम्भव होने से मोक्षलाभ कभी न हो सकेगा। उत्पत्ति से पहले वस्तु का न होना 'प्रागभाव' कहलाता है। वस्तु के उत्पन्न हो जाने पर वह नहीं रहता। नास्तिक का कहना है कि मोक्षलाभ होने पर सबके कर्म स्वतः निवृत्त हो जायेंगे। उसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा। इस पर आस्तिक का तर्क है कि यदि कर्मफल की व्यवस्था करनेवाला जीव से भिन्न कोई नहीं होगा तो स्वेच्छापूर्वक दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए कोई तैयार नहीं होगा। कोई सराहनीय कार्य करने पर पुरस्कार पाने की आशा में भले ही कोई शासनाधिकारी के पास चला जाय, परन्तु पापकर्म करने के बाद उसके फलस्वरूप दुःख पाने लिए थाने में जाकर खड़ा नहीं होगा। शंकराचार्य ने लिखा है—"नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति" (शा० भा० २।१।२१)। अर्थात् कोई भी स्वतन्त्र व्यक्ति अपने लिए कारागार बनाकर उसमें

---

१. यहाँ स्वामी वेदानन्दजी की टिप्पणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो इस प्रकार है—'प्र० रत्नाकर भाग २, पृष्ठ १७७ से २११ तक यह संवाद है। जैन अपने को आस्तिक तथा ईश्वरवादियों को नास्तिक कहते हैं। सत्यार्थप्रकाशकार ने उसका यहाँ संक्षेप दिया है। और आस्तिक के स्थान पर नास्तिक, और नास्तिक के स्थान पर आस्तिक कर दिया है। अर्थात् प्रकरणरत्नाकर के पूर्वपक्ष को उत्तरपक्ष और उत्तरपक्ष को पूर्वपक्ष कर दिया है।' स्वामी वेदानन्द सम्पादित स० प्र० पृष्ठ ३८७ टि०।

२. 'प्र० रत्नाकर, भाग २' शाह भीमसिंह माणक द्वारा निर्णयसागर प्रेस बम्बई में वि० सं० १९३३ में प्रकाशित हुआ था।

३. घट आदि पदार्थ का उत्पत्ति से पूर्व अभाव होता है, और वह अभाव अनादि है। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर उसका अनादि काल से चला आया अभाव समाप्त हो जाता है। अतः कार्य का प्रागभाव अनादि होते हुए भी सान्त होता है।

आस्तिक—ईश्वर अक्रिय नहीं, किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है, तो कर्त्ता क्यों नहीं ? और जो कर्त्ता है, तो वह क्रिया से पृथक् कभी नहीं हो सकता। जैसा तुम्हारा कृत्रिम बनावट का ईश्वर तीर्थङ्कर है, जिसको जीव से बने हुए मानते हो, इस प्रकार के ईश्वर को कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता। क्योंकि जो निमित्त से ईश्वर बने, तो अनित्य और पराधीन हो जाय। क्योंकि वह ईश्वर बनने के प्रथम जीव था; पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना, तो फिर भी जीव हो जायगा। अपने जीवत्व स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकता। क्योंकि अनन्तकाल से जीव है, और अनन्तकाल तक रहेगा। इसलिए इस अनादि स्वतःसिद्ध ईश्वर को मानना योग्य है।

[यदि ईश्वर निष्क्रिय होता, तो जगत् को कैसे बनाता ?]

देखो, जैसे वर्तमान समय में जीव पाप-पुण्य करता, सुख-दुःख भोगता है, वैसे ईश्वर कभी नहीं होता। जो ईश्वर क्रियावान् न होता, तो इस जगत् को कैसे बना सकता ? जैसाकि कर्मों को प्रागभाववत् अनादि सान्त मानते हो, तो कर्म समवाय सम्बन्ध से नहीं, वह संयोगज होके अनित्य होता है।

अपने आप नहीं जा बैठेगा। फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्टे (Descarte) का कहना है—"If I were myself the author of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea, and I should thus be God." (Meditations, P. iii).

अचेतन होने से कर्म तो फलकाल में यह भी नहीं पहचान सकते कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध हो जाने से वर्णसंकर हो जायेगा। फलतः अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे। अराजकता की ऐसी अवस्था में 'कृतहानि' (करनेवाले को फल न मिलना) और 'अकृताभ्यागम' (न करनेवाले को फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी। इसलिए जिस प्रकार लोक में राजकीय व्यवस्था से न्याय होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ, दयालु, न्यायकारी तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अधीन ही पाप-पुण्य के फलोपभोग की समुचित व्यवस्था सम्भव है। चेतन अक्रिय नहीं हो सकता। ईश्वर चेतन तत्त्व है, इसलिए वह अक्रिय नहीं हो सकता।

ईश्वर कर्मफलभोक्ता नहीं– ईश्वर के स्वरूप का निर्देश करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में लिखा है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ॥१।२४॥ अर्थात्—क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से असम्पृक्त विशेष चेतनतत्त्व ईश्वर है। कर्म—वे कार्य हैं, जिन्हें जीवात्म-चेतन देहबन्धन में आकर पुण्य-पाप के रूप में किया करता है। विपाक—उन कर्मों के फल-परिणाम का नाम है, जिन्हें कर्म करनेवाला अवसर आने पर सुख-दुःख के रूप में भोगा करता है। जब तक कर्मफल भोगा नहीं जाता, तब तक पूर्वकृत कर्मों के संस्कार आत्मा में बने रहते हैं; इन्हीं संस्कारों को 'आशय' अथवा वासना कहते हैं। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—ईश्वर संसार को जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग के लिए बनाता है, अपने लिए नहीं। इसी कारण वह देहादि बन्धन में कभी नहीं आता। सूत्र में निर्दिष्ट क्लेश आदि चारों स्थितियाँ देहबन्धन में आने पर ही सम्भव हैं। इसलिए कर्म करने पर भी परमेश्वर सुख-दुःख नहीं भोगता। जीवात्म-पुरुषों से यह उसकी विशेषता है।

संयोग—दार्शनिक दो प्रकार का संयोग मानते हैं—संयोगज तथा सामवायिक। संयोग दो द्रव्यों में ही होता है और वह अनित्य होता है। समवाय-सम्बन्ध गुण-गुणी में, अवयव-अवयवी में, जाति-व्यक्ति में, क्रिया-कियावान् में होता है। वह नित्य होता है।

[मुक्ति में जीव क्रिया न करें, तो पाषाणवत् हो जायें]

जो मुक्ति में क्रियाहीन मानते हो, तो वे मुक्त जीव ज्ञानवाले होते हैं वा नहीं ? जो कहो होते हैं, तो अन्तःक्रियावाले हुए। क्या मुक्ति में पाषाणवत् जड़ हो जाते, एक ठिकाने पड़े रहते, और कुछ भी चेष्टा नहीं करते ? तो मुक्ति क्या हुई, किन्तु अन्धकार और बन्धन में पड़ गये !!

[ईश्वर के व्यापक होनेमात्र से सब जगत् चेतन नहीं हो सकता]

नास्तिक—ईश्वर व्यापक नहीं है। जो व्यापक होता, तो सब वस्तु चेतन क्यों नहीं होती ? और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि की उत्तम मध्यम निकृष्ट अवस्था क्यों हुई ? क्योंकि सबमें ईश्वर एक-सा व्यापक है, तो छुटाई-बड़ाई न होनी चाहिये।

आस्तिक—व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते। किन्तु व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। जैसे आकाश सबमें व्यापक है, और भूगोल और घटपटादि सब व्याप्य एकदेशी हैं। जैसे पृथिवी और आकाश एक नहीं, वैसे ईश्वर और जगत् एक नहीं। जैसे सब घटपटादि में आकाश व्यापक है, और घटपटादि आकाश नहीं[1], वैसे परमेश्वर चेतन सबमें है, और सब चेतन नहीं होता।

[अपने गुण-कर्मों से मनुष्य छोटा बड़ा होता है]

जैसे सब विद्वान् अविद्वान् और धर्मात्मा अधर्मात्मा बराबर नहीं होते। विद्यादि सद्गुण और सत्यभाषणादि कर्म, सुशीलतादि स्वभाव के न्यूनाधिक होने से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और अन्त्यज बड़े छोटे माने जाते हैं। वर्णों की व्याख्या जैसी 'चतुर्थ समुल्लास' में लिख आये हैं, वहाँ देख लो।[2]

[जीवों के कर्त्तव्य कर्म ईश्वर नहीं करता, उनके कर्म अन्य हैं]

नास्तिक—जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती, तो माता-पिता का क्या काम ?

मुक्ति का स्वरूप—वेद में मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार है—यत्र ज्योतिरजस्रं (ऋ० ९।११३।७); यत्रानुकामं चरणम्…लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः (ऋ० ९।११३।९); स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र (ऋ० ९।११३।१०); यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामाः (ऋ० ९।११३।११) अर्थात् जिस दशा में अजस्र प्रकाश है, जिसमें इच्छानुसार विचरण होता है, जिसमें स्थिति फलभोग प्रकाशयुक्त है। जहाँ आनन्द, प्रसन्नता, हर्ष और पूर्ण उल्लास है और जिसमें सब प्रकार की कामनाएँ स्वतः प्राप्त हैं।

---

१. अर्थात् जैसा आकाश अदृश्य अस्पर्श है, वैसा घट अदृश्य अस्पर्श नहीं होता है।

२. यहाँ से आगे वैयमुद्रित संस्करण ३४-३५ में पृष्ठ ३९९ पर [ ] कोष्ठक में निम्न पाठ अधिक है—

[नास्तिक—ईश्वर ने जगत् का अधिपतित्व और जगत्‌रूप ऐश्वर्य किस कारण स्वीकार किया ?

आस्तिक—ईश्वर ने कभी अधिपतित्व न छोड़ा था, न ग्रहण किया है, किन्तु अधिपतित्व और जगत्‌रूप ऐश्वर्य ईश्वर ही में है। न कभी उससे अलग हो सकता है, तो ग्रहण क्या करेगा ? क्योंकि अप्राप्त का ग्रहण होता है। व्याप्य से व्यापक और व्यापक से व्याप्य पृथक् कभी नहीं हो सकता। इसलिए सदैव स्वामित्व और अनन्त ऐश्वर्य अनादिकाल से ईश्वर में है। इसका ग्रहण और त्याग जीवों में घट सकता है, ईश्वर में नहीं।]

३४वें संस्करण के आरम्भ में दी गई सूचना के अनुसार [ ] इस प्रकार के कोष्ठक में मुद्रित पाठ सम्पादक द्वारा परिवर्धित हैं। तब प्रश्न होता है कि सम्पादक ने किस आधार पर बढ़ाया ? यदि यह पाठ मूल हस्तलेख में था, तो जैसे अन्यत्र हस्तलेखानुसार बढ़ाये गये पाठ बिना कोष्ठक के बढ़ाये, तो यहाँ कोष्ठक देने का क्या अभिप्राय है ?

आस्तिक—ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्त्ता है, जैवी सृष्टि का नहीं। जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं, उनको ईश्वर नहीं करता, किन्तु जीव ही करता है। जैसे वृक्ष फल ओषधि अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किया है, उसको लेकर मनुष्य न पीसें, न कूटें, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें, तो क्या ईश्वर उसके बदले इन कामों को कभी करेगा? और जो न करें, तो जीव का जीवन भी न हो सके। इसलिए आदिसृष्टि में जीव के शरीरों और साँचे को बनाना ईश्वराधीन, पश्चात् उनसे पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है।

[परमात्मा जगत् को न बनावे, तो अन्य कौन बना सके?]

नास्तिक—जब परमात्मा शाश्वत अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरूप है, तो जगत् के प्रपञ्च और दुःख में क्यों पड़ा? आनन्द छोड़ दुःख का ग्रहण ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता, फिर ईश्वर ने क्यों किया?

आस्तिक—परमात्मा किसी प्रपञ्च और दुःख में नहीं गिरता न अपने आनन्द को छोड़ता है। क्योंकि प्रपञ्च और दुःख में गिरना, जो एकदेशी हो उसका हो सकता है, सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे, तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं, और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता, और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है, वैसे माता-पितारूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध का नियम उसी ने किया है।

[ईश्वर जगत् का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता होकर भी बन्धनमुक्त है]

नास्तिक—ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् की सष्टिकरण धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा?

आस्तिक—ईश्वर सदा मुक्त होने से, तुम्हारे साधनों से सिद्ध हुए तीर्थङ्करों के समान एकदेश में रहनेहारे बन्धपूर्वक मुक्ति से युक्त सनातन परमात्मा नहीं है। जो अनन्तस्वरूप गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा है, वह इस किंचिन्मात्र[1] जगत् को बनाता धरता और प्रलय करता हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता। क्योंकि बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं। जैसे मुक्ति की अपेक्षा से बन्ध, और बन्ध की अपेक्षा

ऐश्वरी सृष्टि—मूल कारण से सृष्टि की उत्पत्ति करने, उसे धारण करने और यथासमय प्रलय करने तथा स्थिति काल में समस्त चराचर जगत् की समुचित व्यवस्था करनेवाला परमेश्वर सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण है। किन्तु उसकी बनाई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर कर अपने काम में लेना जीव का कर्त्तव्य है। सृष्टि के आदि में वृक्ष, फल, ओषधि, वनस्पति, अन्नादि परमेश्वर ने उत्पन्न कर दिये। किन्तु कृषि कर्म के द्वारा इन पदार्थों को बनाये रखना तथा आवश्यकतानुसार उनका विकास और वृद्धि करना मनुष्य का काम है। परमेश्वर प्रारम्भिक कार्य करता है और जीव को समर्थ बनाकर उसे कार्य करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है। ईश्वर द्वारा निर्मित साँचों में ढाल-ढालकर नित नये शरीर बनाते रहना जीव का काम है।

बन्ध और मोक्ष—जिस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है, उसी प्रकार बन्ध के पश्चात् मोक्ष और मोक्ष के पश्चात् बन्ध का क्रम भी लगातार बना

---

[1] अपने एकदेश में वर्तमान। द्र०—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यजु० ३१।२।

से मुक्ति होती है। जो कभी बद्ध नहीं था, वह मुक्त क्योंकर कहा जा सकता है ? और जो एकदेशी जीव हैं, वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं। अनन्त सर्वदेशी सर्वव्यापक ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में, जैसेकि तुम्हारे तीर्थङ्कर हैं, कभी नहीं पड़ता। इसलिए वह परमात्मा सदैव मुक्त कहाता है।

[कोई भी जीव अपने कुकर्मों का फल भोगना नहीं चाहता]

नास्तिक—जीव कर्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं, जैसे भाँग पीने के मद को स्वयमेव भोगता है। इसमें ईश्वर का काम नहीं।

आस्तिक—जैसे विना राजा के डाकू लम्पट चोरादि दुष्ट मनुष्य स्वयं फाँसी वा कारागृह में नहीं जाते, न वे जाना चाहते हैं, किन्तु राज की न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ाकर यथोचित राजा दण्ड देता है, इसी प्रकार जीव को भी ईश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से स्व-स्व-कर्मानुसार यथायोग्य दण्ड देता है। क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्मों के फल भोगना नहीं चाहता। इसलिए अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिए।

रहता है। दो मुक्तियों के अन्तराल में बन्धन और दो बन्धनों के अन्तराल में मुक्ति का यह सिलसिला अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। मुक्ति को प्राप्त हुआ तीर्थङ्कर मुक्ति को प्राप्त करने से पूर्व बन्धन में था तो यह भी मानना होगा कि बन्धन में आने से पूर्व मुक्त था, क्योंकि यदि मुक्त न होता तो बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही कैसे उठता ? यदि बन्धन से पूर्व की मुक्तावस्था के पश्चात् तीर्थङ्कर बन्धन में पड़ सकता था तो कोई कारण नहीं कि बन्धन के पश्चात् प्राप्त हुई वर्त्तमान मुक्ति के पश्चात् वह बन्धन में नहीं पड़ेगा। जो नीचे गिर कर ऊपर उठ सकता है, वह ऊपर उठकर नीचे भी गिर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता कि बन्धन से मुक्ति में तो चला जाये, पर मुक्ति से बन्धन में न आये। यह स्थिति जीवमात्र की है, तीर्थङ्कर इसका अपवाद नहीं हो सकते। परमात्मा कभी बन्धन में नहीं आता, इसलिए वह सदा मुक्त रहता है।

भाँग पीने का दृष्टान्त—नास्तिक को इस युक्ति का तर्कसंगत उत्तर आगे चलकर इस प्रकार दिया है—"जो ऐसा हो (जैसे) नित्य मदपान करनेवालों को मद कम चढ़ता है और अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है, वैसे नित्य बहुत पाप-पुण्य करनेवालों को न्यून, और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करनेवालों को अधिक फल होवे।" तात्पर्य यह कि पूर्वपक्षी (नास्तिक) के दृष्टान्त के अनुसार महापापी पाप के फल भोगने से बच सकता है। वस्तुतस्तु मद मद्य में नहीं होता, क्योंकि वह जड़ है। मद तो मद्य पीनेवाले चेतन को होता है। यदि ऐसा न होता तो समान मात्रा में मादक द्रव्य का सेवन करनेवालों को समानरूप में मद होता। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। मद्यपान के अभ्यस्त व्यक्ति को जहाँ एक तोला शराब या दो रत्ती अफ़ीम का पता भी नहीं चलता, वहाँ अनभ्यस्त व्यक्ति पागल हो जाता है, यहाँ तक कि जीवन तक संकट में पड़ जाता है। पूर्वपक्षी भी कर्म के अनुपात से फल की मात्रा मानता है, जो उसके दृष्टान्त के अनुसार ठीक नहीं बैठता। अतः कर्म की मात्रा के अनुसार फल की व्यवस्था के लिए किसी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् न्यायकारी फलप्रदाता का मानना आवश्यक है। जैसे दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई (जामन) मिलाने के लिए तीसरा चेतन अपेक्षित होता है, इसी प्रकार जीवों को अपने-अपने कर्मफल से संयुक्त करने के लिए सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकारी ईश्वर की सत्ता सर्वथा अपेक्षित है।

[ईश्वर अनेक हों, तो जीववत् परस्पर लड़ा-भिड़ा करेंगे]

नास्तिक—जगत् में एक ईश्वर नहीं, किन्तु जितने मुक्त जीव हैं, वे सब ईश्वर हैं।

आस्तिक—यह कथन सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि जो प्रथमबद्ध होकर मुक्त हो, तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े। क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं। जैसे तुम्हारे चौबीस तीर्थङ्कर पहिले बद्ध थे, पुनः मुक्त हुए, फिर भी बन्ध में अवश्य गिरेंगे। और जब बहुत से ईश्वर हैं, तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते-भिड़ते फिरते हैं, वैसे ईश्वर भी लड़ा-भिड़ा करेंगे।

[कर्त्ता के विना कोई कार्य जगत् में नहीं होता]

नास्तिक—हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, किन्तु जगत् स्वयंसिद्ध है।

आस्तिक—यह जैनियों की कितनी बड़ी भूल है। भला विना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के विना कोई कार्य जगत् में होता दीखता है? यह ऐसी बात है कि जैसे गेंहूँ के खेत में स्वयंसिद्ध पिसान रोटी बनके जैनियों के पेट में चली जाती हो। कपास सूत कपड़ा अङ्गरखा दुपट्टा धोती पगड़ी आदि बनके कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के विना यह विविध जगत्, और नाना प्रकार की रचना विशेष कैसे बन सकती?

जो हठधर्म से स्वयंसिद्ध जगत् को मानो, तो स्वयंसिद्ध उपरोक्त वस्त्रादिकों को कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कर दिखलाओ। जब ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते, पुनः तुम्हारे प्रमाणशून्य कथन को कौन बुद्धिमान मान सकता है?

[ईश्वर न विरक्त है न मोही; ये तो जीव के धर्म हैं]

नास्तिक—ईश्वर विरक्त है, वा मोहित? जो विरक्त है तो जगत् के प्रपञ्च में क्यों पड़ा? जो मोहित है तो जगत् के बनाने को समर्थ नहीं हो सकेगा।

यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीर-धारण में निमित्त होते तो कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में और मनुष्ययोनि में भी किसी दरिद्र के यहाँ जन्म न लेता। अपने अशुभ कर्मों का फल कोई नहीं भोगना चाहता, यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी। जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती, जब तक जीवेतर कोई चेतन शक्ति उसकी व्यवस्था न करे।

एक ही ईश्वर—मुक्त जीव ईश्वर नहीं बन जाते। छान्दोग्य उपनिषद् के शब्दों में 'परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां० ८।३।४)—ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा उस परम ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप में बना रहता है। ग्रन्थकार के समान शंकराचार्य को भी अनेक ईश्वर होने पर उनके परस्पर लड़ने-झगड़ने की आशंका थी। ब्रह्मसूत्र ४।४।१७ के भाष्य में उन्होंने लिखा—"एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।" अर्थात् उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में विरोध खड़ा हो सकता है—कोई संसार को बनाये रखना चाहेगा और कोई प्रलय करना चाहेगा।

विरक्त या मोहित—इस विषय में ग्रन्थकार ने सप्तम समुल्लास में इस प्रकार विचार प्रस्तुत किया है—

"**प्रश्न**—परमेश्वर रागी है या विरक्त?

आस्तिक—परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता। क्योंकि जो सर्वव्यापक है, वह किसको छोड़े और किसको ग्रहण करे? ईश्वर से उत्तम वा उसको अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए किसी में मोह भी नहीं होता। वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है, ईश्वर में नहीं।

[न्यायाधीश के समान ईश्वर निर्लिप्त रहता है]

नास्तिक—जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता, और जीवों के कर्मों के फलों का दाता मानोगे, तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दुःखी हो जाएगा।

आस्तिक—भला अनेकविध कर्मों का कर्त्ता, और प्राणियों को फलों का दाता, धार्मिक न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फसता, न प्रपञ्ची होता है, तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्यवाला प्रपञ्ची और दुःखी क्योंकर होगा? हाँ, तुम अपने और अपने तीर्थङ्करों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो, सो तुम्हारी अविद्या की लीला है। जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो, तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय लेओ। क्यों भ्रम में पड़े-पड़े ठोकरें खाते हो?

[जैनियों का संसार को अनादि और अनन्त मानना भूल है]

अब जैन लोग जगत् को जैसा मानते हैं, वैसा इनके सूत्रों के अनुसार दिखलाते हैं। और संक्षेपतः मूलार्थ के किये पश्चात् सत्य झूठ की समीक्षा करके दिखलाते हैं—

मूल—सामि अणाइ अणन्ते, चउगई संसारघोरकान्तारे।
मोहाइ कम्मगुरुठिइ, विवागवसउ भमइ जीवो॥

—प्रकरणरत्नाकर, भाग दूसरा २। सम्यक्त्वस्वरूपस्तव। सूत्र २॥[1]

उत्तर—दोनों ही नहीं। क्योंकि 'राग' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से पृथक् वा उत्तम कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए उसमें राग सम्भव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए विरक्त भी नहीं।"

विरक्त वह हो सकता है जो रक्त हो। जब ईश्वर कभी रक्त ही नहीं हुआ तो विरक्त कैसे होगा? दूसरे, मोहादि धर्म अन्तःकरण के हैं, अन्तःकरणरहित ईश्वर में वे नहीं घट सकते। कहा जा सकता है कि मोहादि दोष अज्ञान के कारण होते हैं। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य इन दोषों से छूटता जाता है। ऐसा है तो सिद्ध है कि ईश्वर के नित्यज्ञानस्वरूप होने से उसमें मोहादि का लवलेश भी नहीं हो सकता। इस पर कहा जाता है कि प्रकृति से सम्पर्क होने से ईश्वर में मोहादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। हमारा कहना है कि सिद्धशिला आकाश में है और तीर्थङ्करों का भी सम्पर्क आकाश से है तो व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से आकाशगत प्रकृति के अचेतनत्व, अज्ञत्व, अशुद्धि आदि दोष तीर्थङ्करों में होने चाहिएँ। इन दोषों के होते हुए वे ईश्वर कैसे हो सकते हैं?

सामि अणाइ, संसार अनादि-अनन्त नहीं—संयोग से बननेवाला पदार्थ अनादि नहीं होता। जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के पश्चात् नहीं रहता। अतः जो संयोग से बनता है वह न अनादि होता है और न अनन्त। संसार में पदार्थों का बनते-बिगड़ते रहना प्रत्यक्ष है। कठोर से कठोर पाषाण, हीरा या फ़ौलाद तोड़ने, गलाने या भस्म कर देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि ये सब परमाणुओं के संयोग से बने हैं। जो संयुक्त हैं, वे समय पाकर पृथक्-पृथक् भी अवश्य होंगे।

---

१. पृष्ठ ५७८। यहाँ तथा आगे भी जो पृष्ठसंख्या दी है, वह प्रकरणरत्नाकर ग्रन्थ भाग २ की है।

यह प्रकरणरत्नाकर, भाग २ नामक ग्रन्थ के 'सम्यक्त्वप्रकाश' प्रकरण में गौतम और महावीर का संवाद है[1]। इसका संक्षेप से उपयोगी यह अर्थ[2] है कि—'यह संसार अनादि अनन्त है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होता है। अर्थात् किसी का बनाया जगत् नहीं। सो ही आस्तिक-नास्तिक के संवाद में—'हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, न कभी बना, और न कभी नाश होता'।

समीक्षक—जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता। और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता। जगत् में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब संयोगज उत्पत्ति विनाशवाले देखे जाते हैं। पुनः जगत् उत्पन्न और विनाशवाला क्यों नहीं? इसलिए तुम्हारे तीर्थङ्करों को सम्यक् बोध नहीं था। जो उनको सम्यक् ज्ञान होता, तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिखते?

[जैनियों की असम्भव बातें; पल्योपमादि काल की व्याख्या]

जैसे तुह्मारे गुरु हैं, वैसे तुम शिष्य भी हो। तुह्मारी बातें सुननेवाले को पदार्थ-ज्ञान कभी नहीं हो सकता। भला, जो प्रत्यक्ष संयुक्त पदार्थ दीखता है, उसकी उत्पत्ति और विनाश क्योंकर नहीं

जिन पृथिवी आदि पदार्थों की रचना संयोगविशेष से हुई है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो अनादि नहीं, वे अनन्त भी नहीं हो सकते। अतः संयोगज होने से इस सृष्टि का कभी न कभी बना होना निश्चित है और समय आने पर उसका विनाश भी अवश्यंभावी है, किन्तु जैसे वर्त्तमान संसार सदा बना नहीं रह सकता, वैसे ही सदा के लिए इसका उच्छेद भी नहीं हो सकता। सृष्टि का प्रवाह निरन्तर बना रहता है।

प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस कारण यह बनता भी है और बिगड़ता भी है। सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। वह सत् है तो 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' के सिद्धान्तानुसार वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा। परन्तु उसका अपने वर्त्तमान रूप में सदा बने रहना आवश्यक नहीं। प्रत्येक दिन और रात्रि का अन्त देखने में आता है। किन्तु दिन के बाद रात और रात के बाद दिन और इसी प्रकार दिन से पूर्व रात और रात से पूर्व दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न तो आदि है और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त तो होता रहता है, किन्तु सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न कभी अन्त होगा।

गौतम व महावीर का संवाद—गौतम श्री महावीर स्वामी के गणधर थे। प्रकरणरत्नाकर द्वितीयभागान्तर्गत सम्यक्त्वस्वरूपस्तव पुस्तक की पहली गाथा की गुजराती व्याख्या में इस प्रकार महावीर स्वामी और गौतम गणधर का संवाद आया है। —स्वामी वेदानन्द

जैनमतानुसार कालपरिमाण—जैनाचार्यों के भूगोल खगोल विषयक अज्ञान तथा असम्भव बातों के विषय में आगे चलकर एक निष्ठावान् जैन विद्वान् के प्रमाण दिये गये हैं। एक का उल्लेख यहाँ भी कर रहे हैं, जिसका सम्बन्ध गति से है। यहाँ हम इस विषय में बहस नहीं कर रहे हैं कि सूर्य गति

---

१. गौतम महावीर स्वामी के गणधर थे। प्र० रत्नाकर भाग २ के अन्तर्गत 'सम्यक्त्वस्वरूपस्तव' की पहली गाथा की गुजराती व्याख्या में महावीर स्वामी और गौतम गणधर का संवाद बताया है।—स्वामी वेदानन्द

२. गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है—'हे स्वामी! इस अनादि अनन्त चार गतियोंवाले संसाररूपी घोर जंगल में मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के विपाक = फल के वश में हुआ जीव भ्रमण कर रहा है।'—स्वामी वेदानन्द

मानते ? अर्थात् इनके आचार्य वा जैनियों को भूगोल-खगोल विद्या भी नहीं आती थी, और न अब यह विद्या इनमें है। नहीं तो निम्नलिखित ऐसी असम्भव बातें क्योंकर मानते और कहते ?

देखो, इस सृष्टि में पृथिवीकाय अर्थात् पृथिवी भी जीव का शरीर है, और जलकायादि भी जीव मानते हैं। इसको कोई भी नहीं मान सकता। और भी देखो इनकी मिथ्या बातें। जिन तीर्थङ्करों को जैन लोग सम्यक्ज्ञानी और परमेश्वर मानते हैं, उनकी मिथ्या बातों के ये नमूने हैं—

रत्नासार भाग [१] के पृष्ठ १४५—इस ग्रन्थ को जैन लोग मानते हैं, और यह ईसवी सन् १८७९ अप्रैल तारीख २८ में बनारस जैन प्रभाकर प्रेस में नानकचन्द जती ने छपवाकर प्रसिद्ध किया है। उसके पूर्वोक्त पृष्ठ में काल की इस प्रकार व्याख्या की है—

'अर्थात् समय का नाम सूक्ष्म काल है, और असंख्यात समयों को 'आवलि' कहते हैं। एक क्रोड़ सर्सठ लाख सत्तर सहस्र दो सौ सोलह आवलियों का एक 'मुहूर्त्त' होता है। वैसे तीस मुहूर्त्तों का एक 'दिवस', वैसे पन्द्रह दिवसों का एक 'पक्ष', वैसे दो पक्षों का एक 'मास', वैसे बारह महीनों का एक 'वर्ष' होता है। वैसे सत्तर लाख क्रोड़, छप्पन सहस्र क्रोड़ वर्षों का एक 'पूर्व' होता है। ऐसे असंख्यात पूर्वों का एक 'पल्योपम' काल कहते हैं'[1]। असंख्यात इसको कहते हैं कि—एक चार कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुआँ खोदकर उसमें जुगुलिये मनुष्य के शरीर के निम्नलिखित बालों के टुकड़ों से भरना। अर्थात् वर्त्तमान मनुष्य के बाल से जुगुलिये मनुष्य का बाल चार हजार छानवें भाग सूक्ष्म होता है। जब जुगुलिये मनुष्यों के चार सहस्र छानवें बालों को इकट्ठा करें, तो इस समय के मनुष्यों का एक बाल होता है।

ऐसे जुगुलिये मनुष्यों के एक बाल के एक अंगुल बाल के सात वार आठ-आठ टुकड़े करने से २०९७१५२ अर्थात् बीस लाख सत्तानवें सहस्र एक सौ बावन टकड़े होते हैं। ऐसे टुकड़ों से पूर्वोक्त

करता है या पृथिवी। इस समय हम केवल गति की रफ्तार पर ही विचार कर रहे हैं। जैन-शास्त्रों में बताया है कि सूर्य मकरसंक्रान्ति में ५३०५$\frac{१}{६०}$ योजन की गति एक मुहूर्त में करता है, यानि २१२२००६६ (दो करोड़ बारह लाख बीस हज़ार छियासठ) मील की। एक मुहूर्त्त ४८ मिनट का माना गया है। इस हिसाब से एक मिनट में सूर्य की गति ४४२,०८४$\frac{३}{४}$ मील के लगभग होती है, जबकि वर्त्तमान में इसकी प्रमाणित गति १७$\frac{३}{५}$ मील ही है। हम कलकत्ता से अपनी जेबी घड़ी सूर्योदय से मिलाकर रवाना होंगे और उसी घड़ी को पश्चिम की ओर लगभग १०४० मील चलकर सूर्योदय पर देखेंगे तो पूरा ६० मिनट का अन्तर मिलेगा। अर्थात् जो सूर्योदय उस घड़ी में कलकत्ता में ६ बजे हुआ था वह १०४० मील पश्चिम आ जाने पर उसी घड़ी में ७ बजे होगा। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि सूर्य की गति एक मिनट में लगभग १७ मील बैठती है। कहाँ ४४२०८४ मील और कहाँ केवल १७ मील ! (बच्छराज सिन्धीकृत जैनशास्त्रों की असंगत बातें, पृष्ठ ८-९)। ग्रन्थकार को काल की इस बेढब गणना पर भी इतनी आपत्ति नहीं जितनी कि इस काल की संख्या के मूल में 'असंख्यात' पद पर है। बाल के असंख्यात टुकड़े कैसे होंगे ? परिमित सीमित बाल के टुकड़े संख्यात ही होंगे। अत: कालपरिमाण संख्यात ही रहेगा। 'पल्योपम' और 'सागरोपम' परिमाण में भी अन्तर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि दोनों के मूल में असंख्यात है। इसी प्रकार 'पुद्गलपरावृत' का परिमाण अनन्तकालचक्र बताया गया है। अनन्त का अन्त तो कोई नहीं पा सकता। इसलिए यह सब व्यर्थ है।

---

१. यहाँ लिखी हुई काल की गणना याद रखें। आगे इसका बहुत्र निर्देश आयेगा।

कुआँ को भरना। उसमें से सौ वर्ष के अन्तरे एक-एक टुकड़ा निकालना। जब सब टुकड़े निकल जावें, और कुआँ खाली हो जाय, तो भी वह 'संख्यात काल' है। और जब उनमें से एक-एक टुकड़े के असंख्यात टुकड़े करके उन टकड़ों से उसी कुएँ को ऐसा ठस के भरना कि उसके ऊपर से चक्रवर्ती राजा की सेना चली जाय, तो भी न दबे। उन टुकड़ों में से सौ वर्ष के अन्तरे एक टुकड़ा निकाले। जब वह कुआँ रीता हो जाय, तब उसमें असंख्यात पूर्व पड़ें, तब एक-एक 'पल्योपम' काल होता है। वह 'पल्योपम' काल कुआँ के दृष्टान्त से जानना।

जब दश क्रोडान् क्रोड पल्योपम काल बीतें, तब एक 'सागरोपम' काल होता है। जब दश क्रोडान् क्रोड़ सागरोपम काल बीत जाय, तब एक 'उत्सर्पणी'[1] काल होता है। और जब[2] एक उत्सर्पणी और एक अवसर्पणी[1] काल बीत जाय, तब एक 'कालचक्र' होता है। जब अनन्त कालचक्र बीत जावें, तब एक 'पुद्गल परावृत्त' होता है।

अब अनन्तकाल किसको कहते हैं? जो सिद्धान्त-पुस्तकों में नव दृष्टान्तों से काल की संख्या की है, उससे उपरान्त 'अनन्तकाल' कहाता है। वैसे अनन्त पुद्गल परावृत्त काल जीव को भ्रमते हुए बीते हैं, इत्यादि।

[पूर्वोक्त कालगणना सब अनर्गल है]

समीक्षक—सुनो भाई गणित विद्यावाले लोगो! जैनियों के ग्रन्थों की काल-संख्या कर सकोगे वा नहीं? और तुम इसको सच भी मान सकोगे वा नहीं? देखो, इन तीर्थङ्करों ने ऐसी गणित विद्या पढ़ी थी। ऐसे-ऐसे तो इनके मत में गुरु और शिष्य हैं, जिनकी अविद्या का कुछ पारावार नहीं।

काल-विभाग—असंख्यात समय = आवलि
१६७७०२१६ आवलि = १ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्त = १ दिवस
१५ दिवस = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
१२ मास = १ वर्ष
७०००००० × १०००००००० + ५६ × १००००००००] वर्ष = १ पूर्व
असंख्यात पूर्व = १ पल्योपम काल
दस करोड़ पल्योपम = १ सागरोपम
दस करोड़ सागरोपम काल = १ उत्सर्पिणी
१ उत्सर्पिणी + १ अवसर्पिणी काल = १ कालचक्रम्
अनन्तकालचक्रम् = पुद्गलपरावृत्तम्

तीर्थङ्करों की गणितविद्या—जैन-शास्त्रों में जहाँ-कहीं किसी वस्तु का आकार गोल बताकर उसके व्यास का निर्देश किया है और फिर जो उस व्यास की परिधि बताई है, वह सबकी सब कल्पित

---

१. ये शब्द आयुर्वेद की काश्यपसंहिता में भी हैं। पर वहाँ उनका अर्थ दूसरा है। भ० द०

२. यहाँ आगे 'अवसर्पणी काल' का परिमाण निर्दिष्ट नहीं है। प्रतीत होता है इससे आगे यह पाठ छूट गया है—'उतना ही काल बीत जाय तब एक 'अवसर्पणी' काल होता है। और जब

[जैनियों की अन्य असम्भव बातें]

और भी इनका अन्धेर सुनो—रत्नसार भाग १, पृष्ठ १३४ से लेके जो कुछ 'बूटाबोल' अर्थात् जैनियों के सिद्धान्त ग्रन्थ, जोकि उनके तीर्थङ्कर अर्थात् ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्यन्त चौबीस हुए हैं, उनके वचनों का सारसंग्रह है। ऐसा रत्नसार भाग १ पृष्ठ १४८ में लिखा है कि—

[पृथिवीकाय जीवों का परिमाण और आयुमान]

"पृथिवीकाय के जीव मट्टी पाषाणादि पृथिवी के भेद जानना। उनमें रहनेवाले जीवों के शरीर का परिमाण एक अंगुल का असंख्यातवाँ समझना अर्थात् अतीव सूक्ष्म होते हैं। उनका आयुमान अर्थात् वे अधिक-से-अधिक २२ सहस्र वर्ष पर्यन्त जीते हैं।"

[साधारण वनस्पति के जीवों का आयुमान]

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १४९—"वनस्पति के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। वे साधारण वनस्पति कहाती हैं, जोकि कन्दमूलप्रमुख और अनन्तकायप्रमुख होते हैं, उनको साधारण वनस्पति के जीव कहने चाहिए। उनका आयुमान अनन्तमुहूर्त्त होता है।"[1] परन्तु यहाँ पूर्वोक्त इनका 'मुहूर्त' समझना चाहिए।

होने से मिथ्या है। सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम—इन चार सूत्रग्रन्थों में प्रायः सैकड़ों जगह गोलाई में व्यास बताकर उनकी परिधियाँ बताई हैं, वे सभी बिल्कुल ग़लत हैं। इनमें से लगभग ५६० परिधियों की जाँच की गई तो वे सबकी सब ग़लत निकलीं। कारण? जैनशास्त्रों में व्यास की परिधि निकालने का जो नियम (Formula) बताया गया है, जब वही गलत है तो उससे प्राप्त निष्कर्ष भी गलत ही होंगे। मूल में भूल जो ठहरी। वह फ़ार्मूला इस प्रकार है—

"जिस व्यास की परिधि निकालनी हो, उसका वर्गमूल करके दस गुना करो और फिर उसका वर्गमूल निकालो। वही परिधि होगी।" यह गुर किस गुरु से प्राप्त किया, यह तो सर्वज्ञ ही जाने। पर परीक्षा करने पर यह गुर सर्वथा असत्य प्रमाणित होता है। जिस गणित का गुर ही झूठा हो, वहाँ सच्चे उत्तर का मिलना असम्भव से भी असम्भव होगा। इस प्रकार गणित के अधूरे ज्ञान पर सर्वज्ञता की मोहर लगाना सर्वज्ञता का उपहास नहीं तो क्या है? जैनशास्त्रों के गणित में परिधियाँ ही असत्य हैं, ऐसी बात नहीं हैं, इनके तो क्षेत्रफल भी ऐसे ही निकलते हैं। एक लाख योजन लम्बे व्यासवाले जम्बू द्वीप का क्षेत्रफल बताते हुए सर्वज्ञों ने कहा है कि जम्बू द्वीप के एक-एक योजन के समचौरस खण्ड किये जाएँ तो ७९०५६९४१५० खण्ड होकर ३५१३ धनुष्य ६० अंगुल क्षेत्र रह जायेगा। यह कथन सर्वथा असत्य है। वर्त्तमान गणित के हिसाब से एक लाख योजन लम्बे व्यासवाले गोलाकार क्षेत्र के यदि एक-एक योजन के समचौरस खण्ड किए जाएँ तो ७८५३९८१६२५ खण्ड होते हैं और यही इसका क्षेत्रफल है। यदि हम जैनशास्त्रों के बताये हुए धनुष्यों और अंगुलों की सूक्ष्मता को किनारे रख दें तो भी ७९०५६९४१५० और ७८५३९८१६२५ के बीच ५१७१२५२५ योजन अर्थात् २०६८५०१००००० मील का बहुत बड़ा अन्तर पड़ता है, जो किसी के भी सर्वज्ञता के दावे को झुठलाने के लिए काफी है। जब किसी स्थान का क्षेफफल निकालने में दो ख़रब मील से भी अधिक अन्तर पड़ रहा हो तब उसके अक्षर-अक्षर पर 'सत्यागित' की मोहर लगाना और सर्वज्ञता का दावा करना कहाँ तक संगत है? (जैन-

1. यह ग्रन्थकार का मुहूर्तकाल परिमाण का स्मारक वाक्य है।

"और एक शरीर में जो एकेन्द्रिय अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय इनमें है, और उसमें एक जीव रहता है, उसको प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। उसका देहमान एक सहस्र योजन[1] अर्थात् 'पुराणियों का योजन ४ कोश का, परन्तु 'जैनियों का योजन' १०००० दश सहस्र कोशों का होता है।' ऐसे चार सहस्र कोश का शरीर होता है। उसका आयुमान अधिक-से-अधिक दश सहस्र वर्ष का होता है।"

[शंख कौड़ी जूं आदि का शरीर-परिमाण और आयुमान]

'अब दो इन्द्रियवाले जीव, अर्थात् एक उनका शरीर और एक मुख, जो शंख कौड़ी और जूं आदि होते हैं। उनका देहमान अधिक-से-अधिक अड़तालीस कोश का स्थूल शरीर होता है। और उनका आयुमान अधिक-से-अधिक बारह वर्ष का होता है।'

[और का ऐसा भाग्य कहाँ कि इतनी बड़ी जूं को देखे !!]

समीक्षक—यहाँ बहुत ही भूल गया। क्योंकि इतने बड़े शरीर का आयु अधिक लिखता। और अड़तालीस कोश की स्थूल जूं जैनियों के शरीर में पड़ती होगी, और उन्होंने देखी भी होगी? और का भाग्य ऐसा कहाँ, जो इतनी बड़ी जूं को देखे !!!

शास्त्रों की असंगत बातें, पृष्ठ ९१-९३)। इसके लेखक श्री बच्छराज सिन्धी एक प्रतिष्ठित जैन विद्वान् हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक में जगह-जगह लिखा है कि उनके आक्षेपों का उत्तर आज तक किसी विद्वान् ने नहीं दिया। अपने सम्बन्ध में उन्होंने पुस्तक के पृष्ठ १०५ पर लिखा है—"लेखक जैनधर्म और जैन-शास्त्रों का विरोधी नहीं, अपितु हितचिन्तक है।"

ग्रन्थकार ने जैनों की कालगणना पर आक्षेप किया है तो श्री सिन्धी ने अपनी पुस्तक में उससे कहीं अधिक कड़ी आलोचना की है। जैनशास्त्र जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कालाधिकार प्रकरणानुसार लिख कर वे कहते हैं—"ऊपर दिये गये आँकड़ों में कई स्थान विचारणीय हैं। सबसे पहले जहाँ एक मुहूर्त्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास बताये हैं, वह असत्य प्रतीत होता है। शास्त्र में बताया है कि '३७७३ श्वासो-च्छ्वास हृष्टपुष्ट बलवन्त रोगरहित पुरुष के जानना।' एक मुहूर्त्त के ४८ मिनट माने गये हैं। वर्त्तमान समय में एक हृष्टपुष्ट रोगरहित मनुष्य के एक मिनट में १५ श्वासोच्छ्वास माने जाते हैं। इस हिसाब से एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनट में ७२० श्वासोच्छ्वास हुए। इसलिए ३७७३ श्वासोच्छ्वास बताना गलत है।" पृष्ठ १०१-१०२)।

"इन आँकड़ों में विचार करने का दूसरा स्थान है—चौरासी लाख वर्ष पूर्व का एक त्रुटितांग बताना। भगवान् ऋषभदेव स्वामी की आयु जैनशास्त्रों में सब जगह चौरासी लाख वर्ष पूर्व की बताई है: हम ५९२७०४००००००००००००००० वर्ष की भी कह सकते हैं और सुविधा से बोलने के लिए एक त्रुटितांग भी कह सकते हैं। व्यावहारिक ज्ञान से एक त्रुटितांग ही कहना मुनासिब समझना चाहिए। कारण, जैसे राम ने श्याम को दस रुपये दिये तो व्यावहारिक भाषा में राम यह नहीं कहेगा कि मैंने श्याम को ६४० पैसे दिये या १९२० पाई दीं। यदि वैसा कहेगा तो मूर्ख कहलायेगा। भगवान् ऋषभदेव की आयु को त्रुटितांग न बताकर चौरासी लाख वर्ष पूर्व के नाम से बताना यह साफ जाहिर करता है कि तिल को ताड़ कहने की भावना उनके हृदय में काम कर रही थी। दस रुपये को ६४० पैसे कहने की तरह इस बात को हम अस्वाभाविक कह सकते हैं। इन आँकड़ों में विचार करने का तीसरा स्थान

---

१ 'अर्थात्' से लेकर 'दश सहस्र कोशों का होता है' पर्यन्त योजन-परिमाण बोधक लेख ग्रन्थकार का है।

[जैन मतानुसार बिच्छू आदि के शरीरों का परिमाण]

और देखो इनका अन्धाधुन्ध। रत्नसार भाग १ पृष्ठ १५०—"बीछू, बगाई, कसारी और मक्खी एक योजन के शरीरवाले होते हैं। इनका आयुमान अधिक-से-अधिक छह महीने का है।"

समीक्षक—देखो भाई ! चार-चार कोश का बीछू अन्य किसी ने देखा न होगा। जो आठ मील तक का शरीरवाला बीछू और मक्खी भी जैनियों के मत में होती हैं। ऐसे बीछू और मक्खी उन्हीं के घर में रहते होंगे ? और उन्होंने देखे होंगे, अन्य किसी ने संसार में नहीं देखे होंगे ? कभी ऐसे बीछू किसी जैनी को काटें, तो उसका क्या होता होगा ?

[एक सहस्र योजन परिमाण की मक्खियाँ !!]

जलचर मक्खी आदि के शरीर का मान एक सहस्र योजन अर्थात् १०००० कोश के योजन के हिसाब से १,००,००,००० एक करोड़ कोश का शरीर होता है। और एक करोड़ 'पूर्ववर्षों' का इनका आयु होता है।

समीक्षक—वैसा स्थूल जलचर सिवाय जैनियों के अन्य किसी ने न देखा होगा ?

[हाथी आदि का देहमान वा आयुमान]

और चतुष्पात् हाथी आदि का देहमान दो कोश से नव कोशपर्यन्त, और आयुमान चौरासी सहस्र वर्षों का, इत्यादि।

समीक्षक—ऐसे बड़े-बड़े शरीरवाले जीव भी जैनी लोगों ने देखे होंगे, और मानते हैं। और कोई बुद्धिमान् नहीं मान सकता।

[गर्भज जलचर जीवों का देहमान और आयुमान]

रत्नसार भाग १ पृष्ठ १५१—'जलचर गर्भज जीवों का देहमान उत्कृष्ट एक सहस्र योजन अर्थात् १,००,००,००० एक करोड़ कोशों का, और आयुमान एक करोड़ 'पूर्ववर्षों' का होता है।'

है—चौरासी लाख पूर्व से लगाकर आखिरी शीर्षप्रहेलित तक की प्रत्येक संख्या को चौरासी लाख गुना अधिक करते हुए उनके नामकरण की रचना और ऐसी असम्भव कल्पना का करना। त्रुटितांग, त्रुटित अडडांग, अडड-अववांग, अववहुहुतांग, हुहुत आदि ऐसे निरर्थक और ऊटपटांग शब्द हैं, जिनका कोई अर्थ तो है नहीं, सुननेवाले को खिलवाड़-सा मालूम पड़ता है। हम जैनी लोग बड़े गर्व के साथ कहा करते हैं कि जैनशास्त्रों की नामावली का क्या कहना ? अन्य सबों की संख्या की नामावली के नाम तो १९ अंकों तक ही समाप्त हैं, मगर हमारी संख्या के नाम तो १९४ अंक तक हैं। श्वेताम्बर जैन के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के तीन-चार विद्वान् मुनिराजों से मैंने पूछा कि 'महाराज, त्रुटांग से लगाकर शीर्ष-प्रहेलित तक की संख्या के सब नामों का जैनशास्त्रों में क्या आपने व्यवहार होता हुआ देखा है ?' तो सबने यही कहा कि हमने तो कहीं नहीं देखा। त्रुटितांग से शीर्षप्रहेलित तक की संख्या का जब कहीं व्यवहार ही नहीं हुआ है तो १९४ अंकों पर गर्व करने और बड़ाई बखारने का मूल्य ही क्या है ? हम इस बार-बार २८ बार गुना होने वाली चौरासी लाख की संख्या को कखख, गगघां, गगघ, चचछां, चचछ की तरह ऊटपटाँग शब्दों से सैकड़ों हजारों नाम रचकर संख्या बना दें तो चौरासी लाख से बार-बार गुना होकर संख्या के अंक बढ़कर करोड़ों-अरबों हो सकते हैं। बेचारे १९४ अंकों की हस्ती क्या

समीक्षक—इतने बड़े शरीर और आयुवाले जीवों को भी इन्हीं के आचार्यों ने स्वप्न में देखे होंगे। क्या यह महाझूठ बात नहीं, कि जिसका कदापि सम्भव न हो सके ?

[जैनियों का भूगोल-ज्ञान; भूमि का परिमाण]

अब सुनिये भूमि के परिमाण को। रत्नसार भाग १, पृष्ठ १५२—"इस तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। इन असंख्यात का प्रमाण—अर्थात् जो अढ़ाई 'सागरोपम' काल में जितना समय हो, उतने द्वीप तथा समुद्र जानना"।

अब इस पृथिवी में एक 'जम्बूद्वीप' प्रथम सब द्वीपों के बीच में है। इसका प्रमाण एक लाख योजन अर्थात् एक अरब कोश[1] का है। और इसके चारों ओर लवण समुद्र है। उसका प्रमाण दो लाख योजन का है, अर्थात् दो अरब कोश का।

इस जम्बूद्वीप के चारों ओर जो 'धातकीखण्ड' नाम द्वीप है, उसका चार लाख योजन अर्थात् चार अरब कोश का प्रमाण है। और उसके पीछे 'कालोदधि' समुद्र है। उसका आठ लाख योजन अर्थात् आठ अरब कोश का प्रमाण है। उसके पीछे 'पुष्करावर्त्त' द्वीप है। उसका प्रमाण सोलह लाख योजन अर्थात् सोलह अरब कोश का है। उस द्वीप के भीतर की ओर कोरें हैं। उस द्वीप के आधे में मनुष्य वसते हैं, और उसके उपरान्त असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें तिर्यग् योनि के जीव रहते हैं।

है ? फिर जितना चाहें उतना गर्व करते रहें। यह है हमारे १६४ अंकों का रहस्य, जिसके आधार पर सर्वज्ञता आरोपित है।" (जैनशास्त्रों की असंगत बातें, पृ० १०२-१०५)

भूगोल-खगोल विद्या—जैनाचार्यों के भूगोल-खगोल सम्बन्धी ज्ञान का चित्र श्री वच्छराज सिन्धी के अनुसार इस प्रकार है—"गत मास के 'तरुण जैन' में मैंने अपने लेख मे यह दिखाने का प्रयास किया था कि जैनशास्त्रों में भौगोलिक विषयों पर बहुत-सी ऐसी बातें लिखी हुई हैं, जो भौगोलिक अन्वेषणों से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता के मुक़ाबले में ग़लत साबित हो रही हैं, जो मनुष्यों के अन्धविश्वासों की खिल्ली उड़ा रही हैं। उस लेख में मैंने पृथिवी की लम्बाई-चौड़ाई की बावत केवल जम्बूद्वीप की लम्बाई-चौड़ाई बतलाकर वर्त्तमान की बताई हुई पृथिवी की माप से मुक़ाबला करके दिखाया था। मगर जैन-सूत्रों में बताया गया है कि ऐसे-ऐसे असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र इस पृथिवी पर स्थित हैं" (जैनशास्त्रों की असंगत बातें पृ० १२)। 'ऐसी सूरत में बूजबुजगर की तरह सवाल का जवाब देना आवश्यक समझकर ऐसी-ऐसी बेबुनियाद बातें की गई हों तो क्या आश्चर्य है' (पृ० १६) ? 'पिछले महीने के लेख में और इसमें मैंने केवल वे ही भौगोलिक बातें पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया है, जिनको लेकर जैनशास्त्रों की इस सम्बन्ध में बताई गई बातों को हम गणना और युक्ति से ग़लत साबित होती हुई देख रहे हैं'''भौगोलिक विषयों के अलावा अन्य अनेक विषयों में भी ऐसे-ऐसे प्रसंग हैं, जिन्हें हम असत्य या असम्भव और अस्वाभाविक की श्रेणी में रख सकते हैं' (पृ० १८)। 'ऊँचाई-चौड़ाई सर्वपर्वतों से ज्यादह इस मेरु पर्वत की है। परन्तु जैनशास्त्रों के छोटे पर्वत भी हजारों लाखों मील से कम ऊँचाई के नहीं हैं' (पृ० २३)। 'शास्त्रों में बताई हुई महाविदेह क्षेत्र की सीता और सीतोदा नाम की महानदियों

---

१. सं० २,३,४ में 'चार लाख कोश' पाठ है। सं० ५ में 'एक अरब कोश' पाठ बनाया है। इसका कारण यह है कि पूर्व पृष्ठ ६७४ पं० १२ में जैनियों का योजन १०००० दश सहस्र कोश बताया है। अतः १००००० एक लाख योजन को १०००० दश सहस्र से गुणा करने पर एक लाख योजन = १ अरब कोश होता है।

रत्नसार भाग १ पृ० १५३—'जम्बूद्वीप में एक हिमवन्त, एक ऐरण्यवन्त, एक हरिवर्ष, एक रम्यक, एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु ये छः क्षेत्र हैं।'[1]

[जैन आचार्य भूगोल-खगोलादि विद्या नहीं जानते थे]

समीक्षक— सुनो भाई भूगोलविद्या के जाननेवाले लोगो। भूगोल के परिमाण करने में तुम भूले वा जैन ? जो जैन भूल गये हों, तो तुम उनको समझाओ। और जो तुम भूले हो, तो उनसे समझ लेओ। थोड़ा-सा विचार कर देखो तो यही निश्चय होता है कि जैनियों के आचार्य और शिष्यों ने भूगोल खगोल और गणितविद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी। जो पढ़े होते, तो महा असम्भव गपोड़ा क्यों मारते ?

की लम्बाई तो दरकिनार, केवल चौड़ाई ही पाँच-पाँच सौ योजन यानी बीस-बीस लाख मील की बताई गई है। इन बड़ी-बड़ी नदियों को जाने दीजिए, हमारे भारतक्षेत्र (जिसमें हम आबाद हैं) में बहनेवाली गंगा नदी जो चुल्ल हेमवन्त पर्वत के पद्मह्रद से निकलकर लवण समुद्र में जाकर गिरी है, पद्मह्रद के पास ६¼ योजन यानी १२५००० कोस चौड़ी है। इस गंगा नदी की लम्बाई जब हम अढाई द्वीप के नक़शे पर दृष्टि डालकर देखते हैं तो मालूम होता है कि पद्मह्रद से मनुष्येतर पर्वत तक इसने क़रीब २५ अरब मील लम्बा भू-भाग घेर लिया है। यह है आपकी छोटी-सी गंगा नदी, जिसकी चौड़ाई १२००० कोस और लम्बाई २५ अरब मील है' (पृष्ठ २३-२४)। 'अब लीजिए कुछ नगरों का वर्णन—जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में विजया राजधानी का वर्णन आता है। वहाँ इस विजया राजधानी को १२००० योजन यानी दो करोड़ चालीस लाख कोस लम्बी और इतनी ही चौड़ी तथा ३७९४८ योजन से कुछ अधिक इसकी परिधि बतलाई है। क्या इतने लम्बे-चौड़े नगर भी आबाद हो सकते हैं' (पृ० २४)। 'कल्पना की भी कोई हद होती है। पर्वत, समुद्र, नदियाँ, नगर आदि के इन लम्बे-चौड़े मापे के आँकड़ों को बताते हुए इस बीसवीं सदी में जी तक नहीं चाहता। मगर क्या करें, इन शास्त्रों के अमृत वचनों की सत्यता की तलाश में उझक पटककर भी यदि सत्यता निकाली जा सके तो मानव जाति का बड़ा भारी उपकार होगा' (पृ० २५)। 'मैंने पहले ही कहा है कि मेरे ख़याल से जैनशास्त्रों में असत्य, असम्भव और अस्वाभाविक कल्पनाएँ बहुत हैं' (पृ० २६)। 'सर्वप्रथम हम सूर्य का ही वर्णन करेंगे। जैन-शास्त्रों में जम्बूद्वीप में हमारे यहाँ पर दो सूर्य प्रकाश का कार्य करते हुए बताये गये हैं…। हमारे यहाँ की वर्त्तमान स्थिति में स्पष्टतया एक ही सूर्य का होना प्रत्यक्ष है। इसलिए दो सूर्य बतलाना असत्य है' (पृ० २७)। 'जम्बूद्वीप में दिन और रात को इस प्रकार बड़े-से-बड़ा (उत्कृष्ट) १८ मुहूर्त्त यानी १४ घंटे २४ मिनट बड़ा और छोटे-से-छोटा (जघन्य) १२ मुहूर्त्त यानी ९ घंटा ३६ मिनट का बतलाना अच्छी तरह से यह साबित कर रहा है कि इन सर्वज्ञों के ब्रह्मज्ञान की दौड़ हमारे भारतवर्ष के बाहर की नहीं थी। अगर उन्हें भारत से बाहर के दिन-रात के बड़े-छोटेपन का ज्ञान होता तो (दक्षिण और उत्तर ध्रुवों की बात तो छोड़ दीजिए, जहाँ छह-छह और तीन-तीन महीने बड़े रात और दिन होते हैं) इंगलैंड की राजधानी लन्दन, जिस जगह जून महीने में क़रीब २२½ मुहूर्त यानी १८ घंटे का बड़ा दिन और ७½ मुहूर्त यानी ६ घंटे की रात तथा दिसम्बर में ७½ मुहूर्त्त यानी ६ घंटे का दिन और २२½ मुहूर्त्त यानी १८ घंटे की रात होती है, के समय का तो वे सही-सही लेखा बतलाते। जैनशास्त्रों के अक्षर-अक्षर को सत्य माननेवाले विद्वान् सज्जनों से मैं विनम्र शब्दों से यह पूछना चाहता हूँ कि क्या यह लन्दन शास्त्रों

---

१. जैन ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक' ३।१० में भी कुछ नाम हैं। विष्णुपुराण में भी इनमें से कुछ नाम मिलते हैं। इन दोनों में हैरण्यवत और ऐरावत नाम हैं। भ० द०

[जैन-ग्रन्थों में अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं]

भला ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत् को अकर्तृक, और ईश्वर को न मानें, इसमें क्या आश्चर्य है इसलिए जैनी लोग अपने पुस्तकों को किन्हीं विद्वान् अन्य मतस्थों को नहीं देते। क्योंकि जिनको ये लोग प्रामाणिक तीर्थङ्करों के बनाये हुए सिद्धान्त-ग्रन्थ मानते हैं, उनमें इसी प्रकार की अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं। इसलिये नहीं देखने देते। जो देवें तो पोल खुल जाय। इनके विना जो कोई मनुष्य कुछ भी बुद्धि रखता होगा, वह कदापि इस गपोड़ाध्याय को सत्य नहीं मान सकेगा।

से बताये इस जम्बूद्वीप से कहीं बाहर का क्षेत्र है कि जहाँ के दिन रात के बड़े-छोटेपन में चार-चार पाँच-पाँच मुहूर्त्त का अन्तर पड़ रहा है' (पृ० २९-३०)। 'इस लन्दन में १८ घंटे यानी २२½ मुहूर्त्त (जैन-शास्त्रों के विरुद्ध) बड़े होनेवाले दिन और रात के लिए शंका करने की गुंजाइश इसलिए भी नहीं रही कि अनेक सज्जन वहाँ रहकर आये हैं, जो इन बड़े अहोरात्रों (दिन और रात्रि) को अच्छी तरह अनुभव कर चुके हैं। सच बात तो यह है कि उस वक्त इन विषयों को जानने के लिए कोई साधन मौजूद नहीं थे, जिस वक्त ये शास्त्र रचे गये, इसलिए बुजबुजागरजी की तरह सवाल का जवाव पूरा करने का प्रयास किया गया मालूम होता है' (पृ० ३०)। '...मगर मैं कहूँगा कि ऐसा ख़याल करनेवालों को यह सोचना ज़रूरी है कि मनोविकारों को शुद्ध करने का विधान देनेवालों के लिए क्या इस प्रकार अंटसंट असत्य ख़ानापूरी करना क्षम्य है ? जिन विषयों का उन्हें ज्ञान नहीं था, उन पर चुप ही रहते। मगर चुप रहते कैसे ? चुप रहने से सर्वज्ञता में बट्टा जो लगता !' (पृ० ३१)। 'इस विज्ञानयुग में यह कहना कि सूर्यदेव के सूर्यावतंसक विमान को १६००० देव, हाथी, घोड़ा, बैल और सिंह का रूप बनाये आकाश में उड़ाये फिर रहे हैं; सूर्यदेव के चार पटरानियाँ और १६००० रानियाँ हैं, जिनके साथ सूर्यदेव भोगोपभोग भोग रहे हैं और चार हज़ार सामन्तिक देव उनकी चाकरी बजा रहे हैं और १६००० देव उनके अंगरक्षक (Bodyguards) हैं और उनके हाथी, घोड़े, गवैये, बजैये हैं, सभ्य समाज में अपने को हँसी का पात्र बनाना है। अब वह ज़माना लद गया, जब प्राकृतिक वस्तुओं को देव बतलाकर साधारण जनता को भुलाया जा सकता था। जैसे-जैसे विज्ञान के आविष्कारों द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान होता गया, वैसे-वैसे इन कल्पित देवों का असली रूप प्रकाश में आता गया' (पृ० ३१)। 'इस विज्ञान-युग में जबकि सैकड़ों बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में रात-दिन इन खगोलवर्त्ती पिण्डों को बड़े-बड़े दूरदर्शक यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष देखा जाकर इनका ब्यौरेवार वर्णन हमारे सामने आ रहा है और बताये हुए वर्णन का प्रत्येक अक्षर सत्य साबित हो रहा है, तो यह कैसे माना जा सकता है कि ऊपर बताया हुआ सूर्य के बाबत शास्त्रीय वर्णन सत्य है' (पृ० ३५)। 'गत मई से 'तरुण जैन' में मेरे लेख लगातार निकल रहे हैं। इन चार महीने के लेखों में जैनशास्त्रों में वर्णित कतिपय विषय, जो कि प्रत्यक्ष के मुक़ाबले में सत्य साबित नहीं हो रहे हैं, मैंने प्रश्नों के रूप में समाधान के लिए जैन जगत् के सामने रक्खे थे। मगर खेद है कि अभी तक समाधान के रूप में किसी का उत्तर प्राप्त नहीं हुआ' (पृ० ३६)। 'इस प्रकार चन्द्र और राहु के बाबत की तथा ग्रहणों की जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल की कल्पना को देखकर ऐसी कल्पना करनेवाले सर्वज्ञों की सर्वज्ञता पर तरस और आश्चर्य उत्पन्न होता है। ग्रहणों में जघन्य और उत्कृष्ट काल की कल्पना किस आधार पर की गई है, यह तो करनेवाले ही जानें; परन्तु यह कल्पना सम्पूर्णतया निराधार और असत्य साबित हो रही है। सर्वज्ञों ने कहा है कि सूर्यग्रहण के पश्चात् दूसरा सूर्यग्रहण कम-से-कम छः मास पहले नहीं होता; मगर इस कथन के विरुद्ध दो वाक्ये तो मैं पेश करता हूँ, जो इस प्रकार हैं—विक्रमाब्द की १९५९ की कार्त्तिक वदि अमावस्या को पहला सूर्यग्रहण होकर पाँच ही महीने बाद

चैत बदि अमावस्या को फिर दूसरा सूर्यग्रहण हुआ, जिसको लोगों ने अच्छी तरह अवलोकन किया है। और ईसवी सन् १९३१ का नाविक पञ्चाङ्ग (The Nautical Almanac), जो लन्दन से प्रकाशित होता है, मेरे पास है। उसमें तीन सूर्यग्रहणों और दो चन्द्रग्रहणों का उल्लेख इस प्रकार है पहला सूर्यग्रहण, तारीख १८ अप्रैल १९३१; दूसरा सूर्यग्रहण, तारीख १२ सितम्बर १९३१; तीसरा सूर्यग्रहण, तारीख ११ अक्तूबर १९३१। पहला चन्द्रग्रहण, तारीख २ अप्रैल १९३१; दूसरा चन्द्रग्रहण, तारीख २६ सितम्बर १९३१। इस प्रकार जैनशास्त्रों की दो ग्रहणों के बीच कम-से-कम ६ मास का अन्तराल होने की धारणा के विरुद्ध अनेक ग्रहण हो चुके हैं और होते रहेंगे। मैंने तो केवल उन्हीं का उल्लेख किया है, जिनका प्रमाण मेरे पास मौजूद है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि Nautical Almanac के उपलब्ध अंक मँगाकर देखे जाएँ तो ऐसे अनेक ग्रहण मिलेंगे, जो ६ मास से पहले हुए हैं और इस प्रकार जैनशास्त्रों के कथन को मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं।

अन्वेषणों से यह पता चला है कि एक वर्ष में ५ सूर्यग्रहण और २ चन्द्रग्रहण हो सकते हैं और प्रत्येक १८ वर्ष २२८ दिन ६ घंटे के पश्चात् सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण फिर पहले क्रम से होने लगते हैं। सर्वज्ञों ने कहा है कि सूर्यग्रहण का उत्कृष्ट यानी ज़्यादह-से-ज़्यादह अन्तराल हो तो ४८ वर्ष का हो सकता है। वर्त्तमान विज्ञान के अनुसार प्रत्येक १८ वर्ष २२८ दिन ६ घंटे के पश्चात् सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण फिर पहले क्रम से होने लगते हैं तो इन सर्वज्ञों का सूर्यग्रहण के उत्कृष्ट अन्तरकाल को ४८ वर्ष बतलाना सर्वथा असत्य सिद्ध होता है। सर्वज्ञ और अनन्त ज्ञानी कहलानेवालों के वचन यदि इस प्रत्यक्ष के सामने असत्य साबित हो रहे हैं तो शास्त्रों के अक्षर-अक्षर की सत्यता का मोह रखनेवाले सज्जनों को चाहिए कि अपने विचारों को अच्छी तरह प्रमाण की कसौटी पर कसके देखें अथवा सत्यता को साबित करके दिखाएँ' (पृ० ४२-४३)। 'कृष्ण और शुक्ल पक्ष के लिए होनेवाली चन्द्रमा की कलाओं के बाबत सर्वज्ञों ने ध्रुव राहु की कल्पना करके इस मसले को जैसे हल करने का मिथ्या प्रयास किया है, उस पर विचार करने से तो यही साबित हो रहा है कि व्यावहारिक ज्ञान भी शायद ही काम में लाया गया हो··· इस राहु ग्रह के विमान के माप के बाबत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के ज्योतिष चक्राधिकार में लिखा है—'दो कोसयगहाणं' यानी ग्रह का दो कोस का विमान है और जीवीभगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में लिखा है—'ग्रहविमाणोवि अद्धजोयणं' यानी ग्रह का विमान आधे योजन का है। इस प्रकार दोनों सूत्रों में भिन्न-भिन्न कथन हैं, जो सर्वज्ञता के नाते क़तई नहीं होना चाहिए। कहीं कुछ और कहीं कुछ कह देना सर्वज्ञता नहीं, अल्पज्ञता का द्योतक है' (पृ० ४४)। 'यह है सर्वज्ञता के व्यावहारिक ज्ञान का नमूना' (पृ० ४५)। 'यह है सर्वज्ञ की सूझ ! चन्द्रमा के $\frac{५६}{६१}$ योजन के व्यास के चमकते हुए गोल चक्कर पर कलाएँ दिखलाने के लिए राहु के गोल काले विमान के व्यास की (दो कोस के विमान की कल्पना करके तो मूर्खों के सामने भी हास्यास्पद बनना है) आधे योजन की कल्पना करने में उसके होनेवाले असर को विचारने में एक साधारण दिमाग़ जितना भी काम नहीं लिया गया' (पृ० ४६)। 'चन्द्रमा की कलाओं के बराबर राहु की निराधार कल्पना के खण्डन में ऊपर कही हुई बातें तो हैं ही, मगर चन्द्रमा पर पार्थिव (Earthshine) से दिखाई देनेवाले इस धुंधले भाग को जब हम देखते हैं तो सर्वज्ञों के बताये हुए राहु के गोल चक्कर की कल्पना काफ़ूर हो जाती है यानी नहीं टिकती। यदि ध्रुव राहु (नित्य राहु) का कोई विमान गोल चक्कर का होता और चन्द्रमा को ढके हुए होता (कुछ) तो क्या हम चन्द्रमा के पिण्ड की सम्पूर्ण गोलाई की शक्ल देख पाते ? कदापि नहीं। जितने भाग पर राहु का गोल चक्कर आ जाता, चन्द्रमा की गोल रेखा को दबा देता। धुंधला प्रकाश हम देख ही नही पाते। पाठक वृन्द ! इस राहु के

[यह सब प्रपञ्च जगत् को अनादि मानने के लिए है]

यह सब प्रपञ्च जैनियों ने जगत् को अनादि मानने के लिए खड़ा किया है, परन्तु यह निरा झूंठ है। हाँ, जगत् का कारण अनादि है। क्योंकि वह परमाणु आदि तत्त्वस्वरूप अकर्तृक है। परन्तु उनमें नियमपूर्वक बनने वा बिगड़ने का सामर्थ्य कुछ भी नहीं। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसी का नाम है, और स्वभाव से पृथक्-पृथक् रूप और जड़ हैं, वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते। इसलिए इनका बनानेवाला चेतन अवश्य है, और वह बनानेवाला ज्ञानस्वरूप है।

विमान की कल्पना ने तो सर्वज्ञों की सूझ पर अच्छी तरह प्रकाश डालकर दिखा दिया कि व्यावहारिक ज्ञान शायद ही काम में लाया गया हो' (पृ० ४७)। 'ऊपर बतलाये गये हिसाब से पाँच वर्ष में दो मास अधिक हुए, इस प्रकार मानने से ९५ वर्षों में तीन अधिक मास का अन्तर पड़ता है। अगर जैनशास्त्रों के अनुसार कई शताब्दियों तक अधिक मास का बर्ताव किया जाये तो नतीजा यह होगा कि वैशाख-जेठ के महीने में सख्त सर्दी और पौष-माघ में सख्त गर्मी की ऋतु का भी अवसर आ जायेगा। यह है सर्वज्ञों के गणित के असर का नमूना' (पृ० ५२-५३)। 'सही-सही बातें जाने हुए ऐसे पिण्ड के बाबत बैल, हाथी, घोड़े के रूपों द्वारा आकाश में उठाये फिरने आदि नाना तरह की अर्थहीन कल्पना करके सर्वज्ञता का परिचय देना कहाँ तक सत्य है, यह तो विचारशील पाठकों के खुद के समझने का विषय है; मगर ग्रहणों के अन्तरकाल और नित्य, पूर्ण राहु की कल्पना द्वारा बताये गये प्रसंगों के असत्य साबित होने के लिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि इन सर्वज्ञ वचनों को सत्य साबित करना एक विचारशील मनुष्य के लिए तो असम्भव है' (पृ० ५६)। इस लेख पर तरुण जैन के सम्पादक की टिप्पणी में का यह वाक्य अत्यन्त मनन करने योग्य है—'हम तो सवाल यह पूछते हैं कि आज हम अपने जीवन में भौगोलिक विषय में किस आधार पर चलते हैं? यदि शास्त्रों में बताई हुई दृष्टि से हमारा आज काम नहीं चलता तो वाजिब यही है कि हम अपनी दृष्टि में परिवर्त्तन करें, न कि जीवन में दूसरी बात पर चलते हुए भी केवल शास्त्रों के अक्षर मानने की ज़िद कर अपने को हास्यास्पद बनायें' (पृ० ४९)। 'गत लेखों में आपने देखा ही है कि जैन शास्त्रों में कही हुई एक-आध नहीं, बल्कि अनेक बातें प्रत्यक्ष और वर्त्तमान विज्ञान के अन्वेषणों से बताये हुए वर्णन के सामने असत्य प्रमाणित हो रही हैं। 'पिछले लेखों में मैंने कहा है कि जैन शास्त्रों में लिखी बहुत-सी बातें असत्य, असम्भव और अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं। अभी तक मैंने केवल थोड़े-से उन्हीं प्रसंगों पर लिखने का प्रयास किया है, जो प्रत्यक्ष में असत्य प्रमाणित हो रहे हैं। यदि देखा जाय तो खगोल भूगोल विषय की जैन शास्त्रों की सारी कल्पनायें सर्वथा कल्पित मालूम होती हैं···मगर सर्वज्ञता के दावे में ऐसी निराधार कल्पनाओं का होना शोभा की बात नहीं' (पृ० ५७ तथा तरुण जैन नवम्बर, १९४१ ई०)। 'मगर जहाँ तक मेरा अनुभव है, वर्त्तमान भारतीय ज्योतिष के वर्णन और आँकड़ों का मुक़ाबला किया जाय तो इन सूत्रों की बहुत-सी बातें असत्य प्रमाणित हो जायेंगी' (पृ० ५८)।

जगत् का अनादित्व—जैसाकि हम पहले कह आये हैं, वर्त्तमान जगत् को अनादि-अनन्त कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं है। वह प्रवाह से अनादि अवश्य है। जगत् के मूल कारण परमाणु आदि किसी के बनाये न होने से अकर्तृक हैं, परन्तु उनसे बननेवाला यह जगत् अकर्तृक नहीं है। 'सकर्तृकैव क्रिया'—कर्त्ता के विना क्रिया नहीं होती। जड़ प्रकृति को गति देनेवाली चेतन सत्ता का होना आवश्यक है। नियमबद्धता प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों और नियमबद्धता से अनुशासित विश्व ही परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है। विश्व के बृहद् आकार, ग्रहों, नक्षत्रों की

[सूर्यादि लोकों को नियम में रखना ईश्वर का काम है]

देखो, पृथिवी सूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त अनादि चेतन परमात्मा का काम है। जिसमें संयोग रचना-विशेष दीखता है, वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता। जो कार्यजगत् को नित्य मानोगे, तो उसका कारण कोई न होगा। किन्तु वही कार्यकारणरूप हो जायेगा। जो ऐसा कहोगे, तो अपना कार्य और कारण आप ही होने से अन्योऽन्याश्रय और आत्माश्रय दोष आवेगा। जैसे अपने कन्धे पर आप चढ़ना, और अपना पिता-पुत्र आप नहीं हो सकता। इसलिए जगत् का कर्त्ता अवश्य ही मानना है।

[कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण नहीं होता]

प्रश्न—जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो, तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है?

उत्तर—कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य होता है। जिसमें संयोग-वियोग नहीं होता, जो प्रथम संयोग-वियोग का

अगणित संख्या और उन सब पर शासन करनेवाले नियमों के वैविध्य को देखकर बुद्धिपूर्वक नियोजन करनेवाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है। यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उसकी संगति को प्रकट करने के लिए नियम खोजने पड़ते हैं। इन नियमों की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य की सारी बुद्धि इसी में लगी है।

किसी सेना में सौ-दो-सौ की टुकड़ी भी ऐसी नहीं मिलेगी, जो निदेशक के विना एक साथ पाँव उठाती-धरती हो या क्रमबद्ध अंगसंचालन करती हो। परन्तु सृष्टि में असंख्य ग्रह, उपग्रह हैं, जो अपनी-अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं। परन्तु लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी एक-दूसरे के मार्ग में आकर नहीं टकराये। सब अपने-अपने रास्ते चले जा रहे हैं। इसीलिए सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सदियों पहले की जा सकती है। ज्वार-भाटे के निश्चित समय की पहले से ही जानकारी रहने के कारण यथासमय जहाज़ चलाये जाते हैं। चक्रवर्त्ती राज के कार्यालय में नियमपूर्वक जानेवाले कर्मचारी भी कभी-कभी देर से पहुँच पाते हैं। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम में कभी एक पल भी इधर-उधर नहीं हो पाता। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओं का क्रम घूमता रहता है। पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है। ऐसा कभी नहीं होता कि पहले फल आ जाये और फिर फूल खिले। गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज से गेंदा ही पैदा होता है। इस प्रकार की क्रमबद्धता और कार्य-कारण शृंखला का बने रहना प्रभुसत्तासम्पन्न विश्वात्मा के विना सम्भव नहीं। इस व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि यह सृष्टि स्वतः उद्भूत न होकर किसी चेतन सत्ता द्वारा रचित है।

कारण का कारण नहीं—मूल कारण का कारण नहीं होता अर्थात् जो केवल कारणरूप है, वह किसी का कार्य नहीं होता। अर्थात् जो किसी का कारण हो और स्वयं किसी का कार्य भी हो, वह मूल कारण नहीं कहाता। समस्त चराचर अचेतन जगत् का उपादान कारण सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। यही जगत् का मूल कारण है। अखिल विश्व इसका परिणाम है, परन्तु यह किसी का परिणाम नहीं है। यदि इसका भी कोई उपादान माना जायेगा तो आगे उसका भी कोई अन्य उपादान मानना होगा। इस प्रकार इस कारण-परम्परा का कहीं अन्त न होने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। वस्तुतः सब कार्यों का मूल कारण अकारण होता है। यही स्थिति संसार के निमित्तकारण अर्थात् कर्त्ता की है।

कारण है, उसका कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसकी विशेष व्याख्या 'आठवें समुल्लास' में सृष्टि की व्याख्या में लिखी है, देख लेना।

[द्रव्यपर्यायों को अनादि अनन्त मानना बुद्धिविरुद्ध है]

इन जैन लोगों को स्थूल बात का भी यथावत् ज्ञान नहीं, तो परम सूक्ष्म सृष्टिविद्या का बोध कैसे हो सकता है ? इसलिए जो जैनी लोग सृष्टि को अनादि अनन्त मानते, और द्रव्यपर्यायों को भी अनादि अनन्त मानते हैं, और प्रतिगुण प्रतिदेश में पर्यायों और प्रतिवस्तु में भी अनन्त पर्याय को मानते हैं, यह प्रकरणरत्नाकर के प्रथम भाग में लिखा है।[1]

यह भी बात कभी नहीं घट सकती। क्योंकि जिनका अन्त अर्थात् मर्यादा होती है, उनके सब सम्बन्धी अन्तवाले ही होते हैं। यदि अनन्त को असंख्य कहते, तो भी नहीं घट सकता। किन्तु जीवापेक्षा में यह बात घट सकती है, परमेश्वर के सामने नहीं। क्योंकि एक-एक द्रव्य में अपने-अपने एक-एक कार्य-करण सामर्थ्य को अविभाग पर्यायों से अनन्त-सामर्थ्य मानना केवल अविद्या की बात है।

जब एक परमाणु द्रव्य की सीमा है, तो उसमें अनन्त विभागरूप पर्याय कैसे रह सकते हैं ? ऐसे ही एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण, और एक गुण प्रदेश में अविभागरूप अनन्त पर्यायों को भी अनन्त मानना केवल बालकपन की बात है। क्योंकि जिसके अधिकरण का अन्त है, तो उसमें रहनेवालों का अन्त क्यों नहीं ? ऐसी ही लम्बी-चौड़ी मिथ्या बातें लिखी हैं।

[जड़ पुद्गल पाप-पुण्य-युक्त नहीं हो सकते]

अब जीव और अजीव इन दो पदार्थों के विषय में जैनियों का निश्चय ऐसा है—

'चेतनालक्षणो जीवः स्यादजोवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः' ॥[2]

यदि कर्त्ता-का-कर्त्ता और फिर कर्त्ता-का-कर्त्ता माना जायगा तो इस कार्य-कारण शृंखला का भी कहीं अन्त नहीं होगा। इसलिए जगत् के कर्त्ता ईश्वर का कर्त्ता नहीं हो सकता।

जैनी सृष्टि को अनादि-अनन्त मानते हैं—गुणभद्रसूरिकृत उत्तरपुराण में पृथिवी आदि का नाश माना है। तद्यथा—"एवं गच्छति कालेऽस्मिन्नेतस्य परमावधौ। निःशेषशोषमेताम्बुशरीरमिव संक्षयम् ॥४४७॥ अतिरौक्ष्या धरा तत्र भाविनी स्फुटिता स्फुटम्। विनाशचिन्तयेवांध्रिपाश्च प्रम्लानयष्टयः ॥४४८॥ प्रलयः प्राणिनामेवं प्रायेणोपजनिष्यते ॥४४९॥" (पर्व ७६)। इसका अनुवाद पं० पन्नालाल ने इस प्रकार सम्पादित किया है—'इस प्रकार समय बीतने पर जब अति दुःषमा काल का अन्तिम समय आवेगा तब समस्त पानी सूख जावेगा। और शरीर के समान ही नष्ट हो जावेगा ॥४४७॥ पृथिवी अत्यन्त सूखी होकर जगह-जगह फट जायेगी। इन सब चीज़ों के नाश हो जाने की चिन्ता से सब वृक्ष सूख कर मलिनकाय हो जावेंगे ॥४४८॥ इस तरह सब प्राणियों का प्रलय हो जावेगा ॥४४९॥ जब जल, वृक्ष और प्राणियों का प्रलय मान लिया तो सृष्टि अनन्तकाल तक रहनेवाली कैसे कही जा सकती है ?

---

१. 'तत्रैकस्मिन् द्रव्ये प्रतिप्रदेशे स्वस्व एककार्यकरणसामर्थ्यरूपा अनन्ता अविभागरूपपर्यायाः। तेषां समुदायो गुणः। भिन्नकार्यकरणे सामर्थ्यरूपा भिन्नगुणस्य पर्यायाः, एवं गुणा अप्यनन्ताः। प्रतिगुणं प्रतिप्रदेशं पर्याया अविभागरूपा अनन्तास्तुल्याः प्रायी (?) इति ते चास्तिरूपाः प्रतिवस्तुनि अनन्ताः, ततोऽनन्ता गुणा सामर्थ्यपर्यायाः'। प्र० रत्ना०, भाग १, पृष्ठ १७४।

२. आर्हत-दर्शन, पृष्ठ ८७।

यह 'जिनदत्तसूरि' का वचन है, और यही 'प्रकरणरत्नाकर' भाग पहिले में 'नयचक्रसार' में भी लिखा है कि—"चेतना-लक्षण जीव, और चेतना-रहित अजीव अर्थात् जड़ है। सत्कर्मरूप पुद्गल पुण्य, और पापकर्मरूप पुद्गल पाप कराते हैं।'

समीक्षक—जीव और जड़ का लक्षण तो ठीक है, परन्तु जो जड़रूप पुद्गल हैं, वे पापपुण्ययुक्त कभी नहीं हो सकते। क्योंकि पाप-पुण्य करने का स्वभाव चेतन में होता है। देखो, ये जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब पाप-पुण्य से रहित हैं। जो जीवों को अनादि मानते हैं, यह तो ठीक है। परन्तु उसी अल्प और अल्पज्ञ जीव को मुक्तिदशा में सर्वज्ञ मानना झूंठ है। क्योंकि जो अल्प और अल्पज्ञ है, उसका सामर्थ्य भी सर्वदा ससीम रहेगा।

[जगत् जीव के कर्म और बन्ध अनादि नहीं हो सकते]

जैनी लोग जगत्, जीव, जीव के कर्म और बन्ध अनादि मानते हैं। यहां भी जैनियों के तीर्थङ्कर भूल गये हैं। क्योंकि संयुक्त जगत् का कार्यकारण, प्रवाह से कार्य, और जीव के कर्म, बन्ध भी प्रवाह से अनादि है, स्वरूप से अनादि नहीं हो सकता। जब ऐसा मानते हो, तो कर्म और बन्ध का छूटना क्यों मानते हो? क्योंकि जो अनादि पदार्थ है, वह कभी नहीं छूट सकता।

जो अनादि का भी नाश मानोगे, तो तुम्हारे सब अनादि पदार्थों के नाश का प्रसङ्ग होगा। और तब सब कर्मों के नाश का प्रसङ्ग होगा। और जब अनादि को नित्य मानोगे, तो कर्म और बन्ध भी नित्य होगा। और जब सब कर्मों के छूटने से मुक्ति मानते हो, तो सब कर्मों का छूटनारूप मुक्ति का निमित्त हुआ। तब नैमित्तिकी मुक्ति होगी, तो सदा नहीं रह सकेगी।

जड़पदार्थ पाप-पुण्यरहित—पाप-पुण्य का कर्त्ता व भोक्ता नहीं हो सकता है, जिसमें पाप-पुण्य में भेद करने का सामर्थ्य हो और कर्म करने में स्वतन्त्र हो। पाणिनि के अनुसार 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (अष्टा० (१।४।५४)—कर्त्ता वह है जो 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्तुम्' अर्थात् करने, न करने अथवा उलटा करने में स्वतन्त्र हो। यन्त्र के जड़ होने से उसकी गति में एकरूपता होती है। जहाँ इच्छा नहीं, वहाँ इच्छानुसार कर्म करने का प्रश्न ही नहीं उठता और जहाँ इच्छानुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ राग-द्वेष और सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होगी। स्वतन्त्र वह है, जिसके प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन हैं। जड़ पदार्थ में इन सबका अभाव है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान चेतन (आत्मा) के चिह्न या परिचायक हैं। इसलिए ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व जीव-चेतन के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिए पाप-पुण्य करने का स्वभाव चेतन में ही होता है, जड़रूप पुद्गल में नहीं। नयनचक्रसार के अनुसार 'चेतनालक्षणो जीवः' (पृष्ठ १७९) चेतना जीवात्मा का गुण है। फलतः वही पाप-पुण्य का कर्त्ता है।

जीव की अल्पज्ञता—कोई अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। जीवात्मा चाहे जब तक और चाहे जितना अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ाता जाय, उसका ज्ञान परिमित और सामर्थ्य सीमित ही रहेगा, क्योंकि वह स्वभाव से एकदेशी, अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है। अल्पज्ञता अपने में अज्ञान को रखती है और अज्ञानता के कारण ही जीव अपवित्रता में पवित्रता, दुःख में सुख, अनित्य में नित्य और अनात्म में आत्मा की भावना करके आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने पर जन्म लेता, पाप-कर्मों के फल-भोगरूप बन्धन में फँसता और उससे छूटने का प्रयत्न करता रहता है। वह तीर्थङ्करों के तथाकथित सर्वज्ञता आदि गुणों को कभी प्राप्त नहीं कर सकता।

और कर्म-कर्त्ता का नित्य सम्बन्ध होने से कर्म भी कभी न छूटेंगे। पुनः जो तुमने अपनी मुक्ति और तीर्थङ्करों की मुक्ति नित्य मानी है, सो नहीं बन सकेगी।

[साधनों से सिद्ध मुक्ति नित्य कभी नहीं हो सकती]

प्रश्न—जैसे धान्य का छिकला उतारने, वा अग्नि के संयोग होने से वह बीज पुनः नहीं उगता, इसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्ममरणरूप संसार में नहीं आता।

उत्तर—जीव और कर्म का सम्बन्ध छिलके और बीज के समान नहीं है। किन्तु इनका समवाय सम्बन्ध है। इससे अनादि काल से जीव और उसमें कर्म और कर्तृत्व शक्ति का सम्बन्ध है। जो उसमें कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे, तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे। और मुक्ति को भोगने का भी सामर्थ्य नहीं रहेगा।

जैसे अनादि काल का कर्मबन्धन छूटकर जीव मुक्त होता है, तो तुम्हारी नित्य-मुक्ति से भी छूटकर बन्धन में पड़ेगा। क्योंकि जैसे कर्मरूप मुक्ति के साधनों से भी छूटकर जीव का मुक्त होना मानते हो, वैसे ही नित्य-मुक्ति से भी छूटके बन्धन में पड़ेगा।

साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो साधन-सिद्ध के विना मुक्ति मानोगे, तो कर्मों के विना ही बन्ध प्राप्त हो सकेगा। जैसे वस्त्रों में मैल लगता, और धोने से छूट जाता है, पुनः मैल लग जाता है, वैसे मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेषादि के आश्रय से जीव को कर्मरूप फल लगता है।

मुक्ति नित्य नहीं—मुक्ति जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति नहीं है। निमित्त से प्राप्त मुक्ति का एक दिन आरम्भ होने से एक-न-एक दिन उसका अन्त होना निश्चित है। नैमित्तिक तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। उसके फलस्वरूप मुक्तात्मा आनन्द का उपभोग करता रहता है। मुक्ति-काल में भविष्य के लिए अतिरिक्त संग्रह करने का अवसर नहीं होता। पिछली कमाई चुक जाती है। पूर्वप्राप्त ज्ञान का क्रमशः ह्रास हो जाता है। उधर जिस मुक्ति का रसास्वादन वह कर चुका है, उसे खोना नहीं चाहता। पर यह उसके वश की बात नहीं। अब उसके लिए नये सिरे से प्रयास करना होगा। जिस तत्त्वज्ञान के द्वारा उसे पहले मोक्षलाभ हुआ था, उसे पुनः प्राप्त करना होगा। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'--मुक्ति की प्राप्ति में सहायक साधन एतदर्थ निर्मित इस सृष्टि में ही उपलब्ध हैं। अतः मुक्तात्मा को पुनः इस सृष्टि में जन्म लेना पड़ता है। जहाँ से जाता है, कालान्तर में लौटकर वहीं आ जाता है और अभीष्ट को पाने के लिए यथापूर्व प्रयास का अवसर पा जाता है। इसलिए जैनों का तीर्थङ्करों की मुक्ति को नित्य मानना तर्कसंगत नहीं है। ग्रन्थकार ने यहाँ की मान्यताओं का उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के आधार पर बड़ा सटीक विवेचन किया है, जैसे—"जब सब कर्मों के छूटने से मुक्ति को मानते हो तो सब कर्मों का छूटनारूप मुक्ति का निमित्त हुआ। तब नैमित्तिकी मुक्ति होगी तो सदा नहीं रहेगी।" जीव और कर्म का समवाय सम्बन्ध है, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। तद्यथा—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ गीता ३।५
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्त्तमपि लभ्यते। अनुगीता, अश्व० २।७
अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन। महा० वनपर्व ३२।८
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः। गीता ३।८

और जो सम्यक्ज्ञान दर्शन चारित्र से निर्मल होता है, और मल लगने के कारणों से मलों का लगना मानते हो, तो मुक्त जीव का संसारी और संसारी जीव का मुक्त होना अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे निमित्तों से मलिनता छूटती है, वैसे निमित्तों से मलिनता लग भी जायगी। इसलिये जीव को बन्ध और मुक्ति प्रवाहरूप से अनादि मानो, अनादि अनन्तता से नहीं।

[राग-द्वेषादि के आश्रय से जीव मलिन होता है]

प्रश्न—जीव निर्मल कभी नहीं था, किन्तु मलसहित है।

उत्तर—जो कभी निर्मल नहीं था, तो निर्मल भी कभी नहीं हो सकेगा। जैसे शुद्ध वस्त्र में पीछे से लगे हुए मैल को धोने से छुड़ा देते हैं, उसके स्वाभाविक श्वेत वर्ण को नहीं छुड़ा सकते। मैल फिर भी वस्त्र में लग जाता है, इसी प्रकार मुक्ति में भी लगेगा।

[कोई भी जीव स्वयं दुःखरूप फल भोगना नहीं चाहता]

प्रश्न—जीव पूर्वोपार्जित कर्म ही से शरीर धारण कर लेता है। ईश्वर का मानना व्यर्थ है।

उत्तर—जो केवल कर्म ही शरीरधारण में निमित्त हो, ईश्वर कारण न हो, तो वह जीव बुरा जन्म कि जहाँ बहुत दुःख हो, उसको धारण कभी न करे। किन्तु सदा अच्छे-अच्छे जन्म धारण किया करे। जो कहो कि कर्म प्रतिबन्धक है, तो भी जैसे चोर आपसे आके बन्धीगृह में नहीं जाता, और स्वयं फांसी भी नहीं खाता, किन्तु राजा देता है, इसी प्रकार जीव को शरीर धारण कराने, और उसके कर्मानुसार फल देनेवाले परमेश्वर को तुम भी मानो।

कार्लाइल के शब्दों में यह संसार 'कृ' (करना) धातु के विविध रूपों के सिवा कुछ नहीं है—"What is this universe? but an infinite conjugation of the verb 'to do'." जीवात्मा के लिङ्गों में एक प्रयत्न है। इसलिए वह निष्क्रिय कभी नहीं रह सकता।

जीवात्मा स्वतः शुद्ध है, किन्तु वह अल्पज्ञ तथा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड़ जाता है और कभी ब्रह्म के साथ। जब विकारी प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो विकारों से ग्रस्त हुआ बन्धन में पड़ जाता है और जब वह नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परमेश्वर की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परन्तु साधनों से सिद्ध पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। जैसे मिट्टी लगने से वस्त्र मैला और जल से धोने पर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मोह, मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेष आदि के कारण जीव बन्धन में पड़ता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार निमित्त से बद्ध और मुक्त होता रहता है।

कर्मफल जीव के अधीन नहीं—अपने सामर्थ्यानुसार कर्म में जीव स्वतन्त्र है किन्तु जब कर्म कर चुकता है तब वह ईश्वर के अधीन होकर फल भोगता है। आत्मा अल्पज्ञ है, इसलिए स्वयं फल पाने का अधिकार मिल जाने पर भी उसका समुचित प्रयोग न कर सकेगा। वह नहीं जानता कि कर्मफल कैसे दिया जा सकता है। न उसके पास कर्मों को नापने तोलने के साधन हैं, जिनकी सहायता से वह पाप-पुण्य का ठीक-ठीक लेखा-जोखा कर सके। विद्यार्थी को परीक्षा भवन में अपनी इच्छा, ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार लिखने की तो छूट है, किन्तु यदि इसके बाद मूल्यांकन का अधिकार भी उसे दे दिया जाय तो वह न्याय नहीं कर सकेगा—अज्ञान और स्वार्थ के कारण। इसी प्रकार एक चोर अपने लिए कम-से-कम दण्ड की व्यवस्था करेगा। कभी-कभी तो उसके लिए यह निश्चय करना भी कठिन होगा कि जिस

[कर्मफल स्वयं प्राप्त हो, तो पापी मजे में रहेंगे]

प्रश्न—मद=नशा के समान कर्म फल स्वयं प्राप्त होता है, फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं।

उत्तर—जो ऐसा हो, तो जैसे मदपान करनेवालों को मद कम चढ़ता, अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है, वैसे नित्य बहुत पाप-पुण्य करनेवालों को न्यून, और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करने वालों को अधिक फल होना चाहिये। और छोटे कर्मवालों को अधिक फल होवे।

कर्म के फल की वह व्यवस्था करना चाहता है, वह पुण्य है या पाप और यदि मिश्र है तो दोनों का क्या अनुपात है। डाके से प्राप्त राशि से मन्दिर या धर्मशाला बनवानेवाला अपने प्रति न्याय कैसे कर सकेगा? इस प्रकार जैसे लोक में राजकीय व्यवस्था से न्याय होता है, वैसे ही सर्वज्ञ, दयालु, न्यायकारी तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अधीन ही पाप-पुण्य के फलोपभोग की समुचित व्यवस्था सम्भव है। जीव का इसमें कुछ भी हाथ नहीं हो सकता।

वस्तुतः फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा के विना पुरुषकर्म विफल रहते हैं। जीवों को कर्मों के फल से संयुक्त करनेवाले ईश्वर का होना आवश्यक है। अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा करके तदनुसार व्यवस्था करना अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीव के सामर्थ्य से बाहर है। कर्म करनेवाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह स्वकृत कर्मों की सफलता के लिए अपेक्षित साधन भी जुटा सके। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—कर्मफल भोगने के लिए साधनभूत यह सृष्टि है, जिसकी रचना जीव के नहीं,-ईश्वर के अधीन है। यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीर धारण करने में निमित्त हों तो कोई भी बुरा जन्म—निकृष्ट योनि, विकलांग, अशोभन, निर्धन परिवार आदि—धारण न करे। सब जीवों के पाप-पुण्य के फलों की यथावत् व्यवस्था करने से परमात्मा को 'अर्यमा' कहते हैं। इसी प्रकार 'सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः' सब प्राणियों के कर्मफल का नियमन करने के कारण उसकी 'यम' संज्ञा है। 'रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः' अन्यायकारी मनुष्यों को दण्ड देकर रुलाने के कारण वह 'रुद्र' कहाता है। किस कर्म का फल कब, किस रीति से, किन साधनों के द्वारा भोगा जा सकता है—इसकी समुचित व्यवस्था सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के अन्य कोई नहीं कर सकता।

जैसे ईश्वर के विना फल नहीं मिल सकता, वैसे ही कर्मों की उपेक्षा करके, केवल अपने सामर्थ्य से ईश्वर भी फल नहीं दे सकता। फलसिद्धि के लिए कर्मों की अपेक्षा अनिवार्य है। न्यायकारी होने से ईश्वर सुख-दुःख देने में मनमानी नही कर सकता। वह किसी को पाप किए विना दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि दुःख पापकर्मों का फल है। इसी न्याय के अनुसार पुण्य न करनेवाला सुख नहीं पा सकता क्योंकि पुण्य का फल ही सुख होता है। यदि कर्मनिरपेक्ष भूततत्त्व ही कर्मरचना में निमित्त हों तो पति-पत्नी संयोग के अनन्तर नियमपूर्वक सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु सदा ऐसा नहीं होता। तब यही मानना पड़ता है कि जब माता-पिता के कर्म सन्तानोत्पत्ति के अनुकूल होते हैं, तभी सम्भोग होने पर गर्भाधान एवं सन्तानप्रसव की सम्भावना रहती है। अनुकूल न होने पर मात्र ईश्वर का आशीर्वाद व अनुग्रह (लोक-व्यवहार के अनुसार) होने से भी संयोग निष्फल जाता है। फलोत्पत्ति के लिए ईश्वर के विना कर्म और कर्म विना ईश्वर व्यर्थ हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

कर्मफल की प्राप्ति में ईश्वर को निमित्त न मानने में एक तर्क यह दिया जाता है कि मद की तरह कर्मफल स्वयं प्राप्त हो जाता है। वस्तुतस्तु अचेतन सत्ताएँ अपने आप में न अच्छी हैं, न बुरी। यदि वस्तुओं के परिणाम केवल अपने स्वभाव पर निर्भर करते तो प्रत्येक वस्तु हर समय सब मनुष्यों

[स्वभाव से कर्मफल का मिलना वा छूटना नहीं हो सकता]

प्रश्न—जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसको वैसा ही फल हुआ करता है।

उत्तर—जो स्वभाव से है, तो उसका छूटना वा मिलना नहीं हो सकता। हाँ, जैसे शुद्ध वस्त्र में निमित्तों से मल लगता है, उसके छुड़ाने के निमित्तों से छूट भी जाता है, ऐसा मानना ठीक है।

प्रश्न—संयोग के विना कर्म परिणाम को प्राप्त नहीं होता। जैसे दूध और खटाई के संयोग के विना दही नहीं होता। इसी प्रकार जीव और कर्म के योग से कर्म का परिणाम होता है।

[जीव स्वयं अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकता]

उत्तर—जैसे दही और खटाई का मिलानेवाला तीसरा होता है, वैसे ही जीवों को कर्मों के फल के साथ मिलानेवाला तीसरा ईश्वर होना चाहिये। क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं नियम से संयुक्त नहीं होते। और जीव भी अल्पज्ञ होने से स्वयं अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि विना ईश्वरस्थापित सृष्टिक्रम के कर्मफलव्यवस्था नहीं हो सकती।

[जीव को कर्म-बन्धन से सदा के लिए मुक्ति नहीं]

प्रश्न—जो कर्म से मुक्त होता है, वही ईश्वर कहाता है।

उत्तर—जब अनादि काल से जीव के साथ कर्म लगे हैं, तो उनसे जीव मुक्त कभी नहीं हो सकेंगे।

प्रश्न—कर्म का बन्ध सादि है।

उत्तर—जो सादि है, तो कर्म का योग अनादि नहीं। और संयोग की आदि में जीव निष्कर्म होगा। और जो निष्कर्म को कर्म लग गया, तो मुक्तों को भी लग जायगा। और कर्म-कर्त्ता का समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध होता है। वह कभी नहीं छूटता। इसलिये जैसा ९वें समुल्लास में लिख आये हैं, वैसा ही मानना ठीक है।

को समानरूप से सुख अथवा दुःख पहुँचानेवाली होती। वस्तुतः मद मद्य में नहीं होता, क्योंकि वह जड़ है। मद तो मद्य पीनेवाले चेतन को होता है। यदि ऐसा न होता तो समान मात्रा में मादक द्रव्य का सेवन करनेवालों को समानरूप में मद होता। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मद्यपान के अभ्यस्त व्यक्ति को जहाँ दो रत्ती अफ़ीम या एक तोला शराब या एक गिलास भांग का पता भी नहीं चलता, वहाँ अनभ्यस्त व्यक्ति पागल हो जाता है या होश खो बैठता है या चक्कर खाने लगता है। यदि मद्यपान से उत्पन्न मद के समान कर्मों के फलीभूत होने की बात मान ली जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि नित्य-प्रति बहुत अधिक पाप-पुण्य करनेवालों को कम और कभी-कभी थोड़ा-बहुत पाप-पुण्य करनेवालों को बहुत अधिक फल मिलना चाहिए। परन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से यह सर्वथा असंगत है। जैसे दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई मिलानेवाला तीसरा चेतन होता है, इसी प्रकार जीवों को अपने-अपने कर्मफल से संयुक्त करने के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकारी ईश्वर की सत्ता सर्वथा अपेक्षित है।

कर्म से मुक्त ईश्वर—जैनों का सिद्धान्त है कि ईश्वर नाम की कोई सत्ता नहीं है। कर्मों से मुक्त जीवों की ही ईश्वर संज्ञा है। उन्हीं को वे तीर्थङ्कर कहते हैं। परन्तु जीव और कर्म में समवाय सम्बन्ध होने से न जीव कर्म के विना रह सकता है और न कर्म जीव के विना रह सकता है। इसलिए

[जीव ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता]

जीव चाहै जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे, तो भी उसमें परिमित ज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हाँ जितना सामर्थ्य बढ़ना उचित है, उतना ही योग से बढ़ा सकता है।

[योनिभेद से जीव का परिमाण मानना मूर्खता है]

और जो जैनियों में आर्हत लोग देह के परिमाण से जीव का भी परिमाण मानते हैं,[1] उनसे पूंछना चाहिये कि जो ऐसा हो, तो हाथी का जीव कीड़ी में, और कीड़ी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा? यह भी एक मूर्खता की बात है। क्योंकि जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है, जो कि एक परमाणु में भी

जीव के कर्म से छूटकर ईश्वर बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि न मानकर सादि माना जायगा तो यह मानना पड़ेगा कि जिस दिन जीव के साथ पहली बार कर्म लगा, उस दिन और उससे पहले जीव निष्कर्म था। जब निष्कर्म को कर्म लग सकता है तो मुक्तात्मा को क्यों नहीं लग सकता? इसलिए कर्म और कर्त्ता जीव का समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध मानना ही युक्तियुक्त है?

जीव का परिमाण—परिमाण तीन प्रकार के माने जाते हैं—विभु, मध्यम और अणु। जो सर्वत्र व्याप्त हो वह विभु, जो शरीरमात्र में व्याप्त हो वह मध्यम तथा जो नियत स्थान में वर्त्तमान हो वह अणुपरिमाण कहाता है।

जीवात्मा के विभु होने की अवस्था में 'कौन शरीर किस आत्मा का है' यह निश्चय नहीं हो सकेगा, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में रहेंगे। परिणामतः कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सारी व्यवस्था चौपट हो जायेगी। जीवात्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानने पर जीवात्मा के शास्त्र में वर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामंजस्य न हो सकेगा, जबकि उसका एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाना सर्ववादिसम्मत है।

मध्यम-परिमाण होने पर प्रत्येक शरीर के साथ जीव का परिमाण बदलेगा। इस प्रकार जीव का अपना कोई परिमाण न रहेगा। जिस शरीर में जायेगा, उसी के बराबर उसका परिमाण हो जायेगा। जैन दार्शनिकों ने जीव को मध्यम-परिमाण स्वीकार किया है, अर्थात् देह के अनुरूप जीव का परिमाण माना है। आत्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः चैतन्यरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद् भोक्ता स्वदेहपरिमाण; (प्रकरणरत्नाकर भा० १, पृ० २३१ नयचक्रसार)। अर्थात् आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध, चैतन्य-स्वरूप, परिणामी, कर्त्ता, भोक्ता और अपने देह के परिमाणवाला है।

एतदनुसार हाथी के शरीर में जीव हाथी जितना विशाल और चींटी के शरीर में चींटी जितना सूक्ष्म होता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुरूप आत्मा को मध्यम-परिमाण मानने पर उसमें संकोच-विकास के आवश्यक होने पर वह अनित्य हो जायेगा। हाथी का जीव जब चींटी के शरीर में जायेगा, तो अवश्य उसमें संकोच होगा और जब चींटी का जीव हाथी के शरीर में जायेगा, तो अवश्य उसमें विकास= प्रसारण होगा। संकोच-विकासशील द्रव्य विनाशी, अनित्य होता है। मध्यम परिमाणवाले समस्त पदार्थ अनित्य होते हैं, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

---

१. 'आत्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः चैतन्यरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः'। प्र० र० भाग १, नयसार।

रह सकता है। परन्तु उसकी शक्तियाँ शरीर में प्राण बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं। उनसे सब शरीर का वर्त्तमान जानता है। अच्छे सङ्ग से अच्छा और बुरे सङ्ग से बुरा हो जाता है।

[जैन धर्म, देव और गुरु ही को उत्तम मानना पक्षपात]

अब जैन लोग धर्म इस प्रकार का मानते हैं—

मल—रे जीव भव दुहाइं इक्कं चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं परमंतो सुहकय्ये मूढ मुसिओसि॥

—प्रकरणरत्नाकर, भाग २। षष्टीशतक ६०। सूत्राङ्क ३॥

संक्षेप से अर्थ—'रे जीव! एक ही जिनमत श्रीवीतरागभाषित धर्म संसार-सम्बन्धी जन्म-जरा-मरणादि दुःखों का हरणकर्त्ता है। इसी प्रकार सुदेव और सुगुरु भी जैनमत-वाले को जानना। इतर जो वीतराग ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्य्यन्त वीतराग देवों से भिन्न अन्य हरि हर ब्रह्मादि कुदेव हैं, उनकी अपने कल्याणार्थ जो जीव पूजा करते हैं, वे मनुष्य ठगाये गये हैं'।

इसका यह भावार्थ है कि जैनमत के सुदेव सुगुरु तथा सुधर्म को छोड़के अन्य कुदेव कुगुरु तथा कुधर्म को सेवने से कुछ भी कल्याण नहीं होता।

यदि जीव का परिमाण शरीर के अनुसार होगा तो मनुष्य शरीर में ही वह जन्म के समय छोटा होगा और जैसे-जैसे शरीर का विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे शरीर में जीवात्मा भी फैलता जायेगा। बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा; कृशकाय व्यक्ति का छोटा और स्थूलकाय पहलवान का जीव बड़ा होगा। इससे जीव अवयवी हो जायेगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ में घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होने पर अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जायेगा। जो पदार्थ विकारी अथवा परिवर्त्तनशील होगा, वह नाशवान् होगा। अतः जीव को मध्यम-परिमाण मानने पर उसे नश्वर मानना होगा। मैं छोटे कमरे में भी रह सकता हूँ और बड़े में भी। हाँ, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बड़ा और मेरा शरीर कमरे से छोटा हो। अणु-परिमाण मानने से जीव चींटी और हाथी दोनों के शरीर में रह सकता है। ऐसा न मानकर जीव को शरीर-परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समायेगा और चींटी का जीव हाथी के शरीर में कैसे कार्य करेगा? मध्यम-परिमाण मानने पर पुनर्जन्म की व्यवस्था भी न हो सकेगी।

पुनर्जन्म का अर्थ है—एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाना। यह जीवात्मा को अणु-परिमाण मानने पर ही सम्भव है। एक स्थान को छोड़कर दूसरे में जाना उत्क्रान्ति है। गति का नियम है कि कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहाँ वह है और उस स्थान पर भी गति नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है। कोई वस्तु जहाँ वह है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है [A thing does not move where it is; it cannot move where it is not; it moves from where it is to where it is not.] गति-विधान का यह नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापक (विभु) में नहीं। जीवात्मा को विभु मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा आकाश की भाँति सर्वत्र ओत-प्रोत है। तब, एक ही आत्मा के सर्वत्र वर्त्तमान होने से वह एक समय में सब शरीरों में वर्त्तमान होगा और सब जीवों के सुख-दुःख और समस्त क्रियाओं में समानता होगी। उस अवस्था में जन्म-मरण, संयोग-वियोग कुछ भी न होगा। परन्तु यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। ये सब युक्तियाँ आत्मा के अणु-परिमाण को सिद्ध करती हैं।

रे जीव—प्रकरणरत्नाकर द्वितीय भाग के पृष्ठ ३२७ पर यही पाठ है। किन्तु सन् १९२४ में

[हरिहर ब्रह्मादि को कुदेव कहना उचित नहीं]

समीक्षक—अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि कैसे निन्दायुक्त इनके धर्म के पुस्तक हैं?

[क्या केवल जैनधर्म से ही प्राणियों का उद्धार होगा?]

मूल—अरिहं देवो सुगुरु सुद्धं धम्मं च पंच नवकारो।
धन्नाणं कयच्छाणं निरन्तरं वसइ हिययम्मि॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० ६०। सू० १

सं० अर्थ-जो अरिहन् देवेन्द्रकृत पूजादिकन के योग्य दूसरा पदार्थ उत्तम कोई नहीं। ऐसा जो देवों का देव शोभायमान अरिहन्त देव ज्ञान क्रियावान्, शास्त्रों का उपदेष्टा, शुद्ध कषाय मलरहित सम्यक्त्व विनय दयामूल श्री जिनभाषित जो धर्म है, वही दुर्गति में पड़नेवाले प्राणियों का उद्धार करने वाला है। और अन्य हरिहरादि का धर्म संसार से उद्धार करनेवाला नहीं। और पञ्च अरिहन्तादिक परमेष्ठी तत्सम्बन्धी उनको नमस्कार ये चार पदार्थ धन्य हैं, अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अर्थात् दया, क्षमा, सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह जैनों का धर्म है।

[जैनियों की दया कथनमात्र है, वह दया नहीं]

समीक्षक—जब मनुष्यमात्र पर दया नहीं, वह न दया, न क्षमा, ज्ञान के बदले अज्ञान, दर्शन के बदले अन्धेर और चारित्र के बदले भूखे मरना कौनसी अच्छी बात है?

यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु है, तथापि पक्षपात में फसने से दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाती है। इसका प्रयोजन यह है कि किसी जीव को दुःख न देना। यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि दुष्टों को दण्ड देना भी दया में गणनीय है। जो एक दुष्ट को दण्ड न दिया जाय, तो सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त हो। इसलिये वह दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाय।

[केवल जल छानकर पी लेना ही 'दया' नहीं]

यह तो ठीक है कि सब प्राणियों के दुःखनाश और सुख की प्राप्ति का उपाय करना 'दया' कहाती है। केवल जल छान के पीना, क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही 'दया' नहीं कहाती। किन्तु इस प्रकार

अहमदाबाद से प्रकाशित 'षष्ठीशतक' में 'सुहकय्ये' के स्थान में 'सुहकज्जे' पाठ है। सत्यार्थप्रकाश में इन वचनों के अर्थ प्रकरणरत्नाकर में दिए गये गुजराती अनुवाद का भाषान्तरमात्र है। यदि सत्यार्थप्रकाश में यहाँ दिए अर्थों पर किसी को आपत्ति हो तो उसका उत्तरदायित्व प्रकरणरत्नाकर के कर्त्ताओं पर है। इन वचनों का जैनों के अनेकान्तवाद या स्याद्वाद से कैसे सामंजस्य हो सकता है?

हिंसा-अहिंसा—विचारकर देखा जाय तो ऐसी अवस्था में किसी का भी विना जीवों की हिंसा किए किसी भी कार्य को कर सकना असम्भव है। मुँह से शब्द और श्वास निकलने पर वायुकाय के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा, पानी पीने में जलकाय के असंख्यात जीवों की हिंसा, अग्नि जलाकर काम में लाने पर अग्निकाय के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा और पृथिवी के ऊपर का कुछ भाग छोड़कर (दस-पाँच अँगुल ऊपर की सतह का भाग) अन्य सब भाग पर चलने-फिरने आदि किसी प्रकार का स्पर्श करने से पृथिवीकाय के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा! इस हिंसा से मनुष्य को पाप लगाने का जिन शास्त्रों में कथन हो, उन शास्त्रों के माननेवालों का इस संसार में विना हिंसा किए एक क्षण भी ज़िन्दा रह सकना असम्भव है, चाहे वह कितना भी त्यागी और धर्मात्मा क्यों न हो जाय। यदि

की दया जैनियों के कथनमात्र ही है, क्योंकि वैसा वर्त्तते नहीं। क्या मनुष्यादि पर, चाहे किसी मत में क्यों न हो, दया करके उसको अन्नपानादि से सत्कार करना, और दूसरे मत के विद्वानों का मान्य और सेवा करना दया नहीं है ?

[जैनियों की दया सच्ची होती, तो वे ६ यतना न मानते]

जो इनकी सच्ची 'दया' होती, तो 'विवेकसार'[1] के पृष्ठ २२१ में देखो क्या लिखा है—

एक 'परमतों की स्तुति'—अर्थात् उनका गुणकीर्तन कभी न करना। दूसरा उनको 'नमस्कार' अर्थात् वन्दना भी न करनी। तीसरा 'आलपन' अर्थात् अन्य मतवालों के साथ थोड़ा बोलना। चौथा 'संलपन'—उनसे वार-वार न बोलना। पाँचवाँ 'उनको अन्न वस्त्रादि दान'—अर्थात् उनको खाने-पीने की वस्तु भी न देनी। छःठा 'गन्धपुष्पादि दान'—अन्य मत की प्रतिमा-पूजन के लिये गन्धपुष्पादि भी न देना। ये छः यतना=अर्थात् इन छः प्रकार के कर्मों को जैन लोग कभी न करें।

समीक्षक—अब बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इन जैनी लोगों को अन्य मत-वाले मनुष्यों पर कितनी अदया, कुदृष्टि और द्वेष है। जब अन्य मतस्थ मनुष्यों पर इतनी अदया है, तो फिर जैनियों को दयाहीन कहना सम्भव है। क्योंकि अपने घरवालों ही की सेवा करना विषेष धर्म नहीं कहाता। उनके मत के मनुष्य उनके घर के समान हैं। इसलिये उनकी सेवा करते, अन्य मतस्थों की नहीं। फिर उनको दयावान् कौन बुद्धिमान् कह सकता है ?

उसे ऐसी हिंसा से बचना है तो अपना शरीर त्याग किए विना ऐसा होना असम्भव है (जैनशास्त्रों की असंगत बातें, पृष्ठ १८२)।

अन्नपानादि से सत्कार—इस विषय में कट्टर, किन्तु विवेकी, जैनश्रावक श्री बच्छराज सिन्धी 'जैन शास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक में लिखते हैं—"मगर समाज के साधनों पर कुठाराघात करनेवाले भावों से उत्पन्न होने की गुँजायश जिस प्रकार जैनशास्त्रों से प्राप्त हुई है, वैसी संभवतः अन्य शास्त्रों से हुई नजर नहीं आती। अन्य किसी भी शास्त्र के आधार पर सामाजिक मनुष्य को यह उपदेश नहीं मिल रहा है कि शिक्षा प्रचार करने में पाप है; भूख-प्यास से तड़पते मनुष्य को अन्न पानी की सहायता करने में पाप है; दुःखी, गरीब, अनाथ, अपंग की सहायता और रक्षा करने में पाप है; अस्वस्थ माता-पिता आदि की सेवा-शुश्रूषा करने में पाप है, यानी सामाजिक जीवन में सहूलियतें एवं उन्नति करनेवाले जितने भी सुकार्य हैं, सब पाप-ही-पाप हैं।...इसके अलावा गृहस्थ चाहे समाजहित के और परोपकारी कार्य स्वार्थरहित होकर भी करे, सब एकान्त पाप और अधर्म है" (पृ० ८३)। "सामाजिक प्राणी के लिए ऐसे उपदेशों के अक्षर-अक्षर सत्य मान लेने के नतीजे पर विचार करके मेरे हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि सर्वज्ञों ने समाजहित के ऐसे परोपकारी कार्यों को क्या वास्तव में ही एकान्त पाप और अधर्म बताया है। ज़रा शास्त्रों के रहस्य को देखना तो चाहिए। इसी विचार से शास्त्रों का अध्ययन किया तो कई बातें ऐसी देखने में आईं, जिन्हें सर्वज्ञ तो क्या अल्पज्ञ भी अपने मुँह से कहने में अपने आपको असत्यभाषी महसूस करने लगेंगे" (पृष्ठ ८४)। इसी पुस्तक में आगे चलकर फिर लिखा है—"एक मित्र जो जैन श्वेताम्बर तेरापन्थ के माननेवाले हैं, मुझसे पूछने लगे कि 'शास्त्रों की असत्य बातों को इस प्रकार लेखों द्वारा आप क्यों दे रहे हैं ?' मैंने कहा कि समाजहित के साधनों पर कुठाराघात करनेवाले भावों के उत्पन्न होने की गुँजाइश इन जैनशास्त्रों से ही प्राप्त हुई, वरना संसार में ऐसा कोई मजहब नहीं है, जिसके शास्त्रों से यह भाव उत्पन्न हुए हों कि सामाजिक मनुष्य को भी शिक्षा प्रचार करने, भूख-प्यास से तड़पकर मरते को अन्न-पानी की सहायता करने, अनाथों की रक्षा करने, अस्वस्थ माता-पिता, पति

---

1. प्रथम संस्करण, सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण।

[अन्य मत-वालों से वैर-बुद्धि रखना कहाँ की दया है ?]

विवेक० पृ० १०८ में लिखा है कि—'मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैन यतियों ने अपना विरोधी समझकर मार डाला, आलोयणा[1] करके शुद्ध हो गये।

समीक्षक—क्या यह भी दया और क्षमा का नाशक कर्म नहीं है ? जब अन्य मत-वालों पर प्राण लेने पर्य्यन्त वैर-बुद्धि रखते हैं, तो इनको दयालु के स्थान पर हिंसक कहना ही सार्थक है।

[जैनियों के मोक्ष के चार साधन]

अब सम्यक्त्वदर्शनादि के लक्षण 'आर्हतप्रवचनसंग्रह'; 'परमागमनसार' में कथित हैं—"सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये चार मोक्षमार्ग के साधन हैं"। इनकी व्याख्या योगदेव ने की है—जिस रूप से जीवादि द्रव्य अवस्थित हैं, उसी रूप से जिन-प्रतिपादित ग्रन्थानुसार विपरीत अभिनिवेशादिरहित जो श्रद्धा अर्थात् जिन-मत में प्रीति है, सो 'सम्यक् श्रद्धान' और 'सम्यक् दर्शन' है—

'रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते' ।।[2]

जिनोक्त-तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये। अर्थात् अन्यत्र कहीं नहीं ।।

'यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा।
यो बोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः' ।।[3]

जिस प्रकार के जीवादि तत्त्व हैं, उनका संक्षेप वा विस्तार से जो बोध होता है, उसी को 'सम्यक्ज्ञान' बुद्धिमान् कहते हैं ।।

की सेवा-शुश्रूषा करने आदि सत्कार्यों के करने में एकान्त पाप और अधर्म होता है" (पृ० ९४-९५)। "जिन शास्त्रों से ये सिद्धान्त निकल रहे हों कि भूख-प्यास से मरते हुए को अन्न-पानी की सहायता से बचाना, शिक्षा-प्रचार करना, माता-पिता, पति आदि की सेवा शुश्रूषा करना, जलते हुए मकान के बन्द द्वारों को खोलकर अन्दर के मनुष्यों को बचा देना, बाढ़, भूकम्प आदि दुर्घटनाओं से पीड़ित विपत्तिग्रस्त लोगों की सहायता करना आदि सार्वजनिक लाभ के परोपकारी कार्यों को निःस्वार्थ भाव से करने पर भी सामाजिक व्यक्ति को एकान्त पाप और अधर्म होता है, तो ऐसे शास्त्रों को अक्षर-अक्षर सत्य मानकर अमल में लाने का परिणाम मानवसमाज के लिए अत्यन्त घातक है" (पृ० १४२)। समाज जिसकी बुनियाद ही एक-दूसरे के सहयोग और सहायता की पूर्त्ति के लिए की गई हो, उसमें ऐसे विचारों का प्रसार होना कि एक-दूसरे की सेवा-सहायता करना एकान्त पाप है, अभाव और विपत्ति में कोई किसी की निःस्वार्थ भाव से सेवा करे तो भी एकान्त पाप है, तो ऐसे भावों का प्रसार करना उसके उद्देश्य के मूल पर कुठाराघात करना है। हम ऐसे शास्त्रों को मानवसमाज की व्यवस्था बिगाड़नेवाला समझते हैं और समाज की व्यवस्था को बिगाड़नेवाले शास्त्रों का न रहना ही उचित समझते हैं।

'अब सम्यक्त्व···सम्यक् दर्शन है'—यह सन्दर्भ सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत आर्हतदर्शन की इन पंक्तियों का अनुवादमात्र है—"सम्यग्दर्शनादित्रितयमार्हतप्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति। विवृतं च योगदेवेन। येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेणार्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहिततत्त्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।"

---

१. अर्थात् प्रायश्चित्त।
२. आर्हतदर्शन, पृष्ठ ६२।
३. आर्हतदर्शन, पृष्ठ ६३।

'सर्वथाऽवद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्त्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः ॥'[1]

सब प्रकार से निन्दनीय अन्य मतसम्बन्ध का त्याग 'चारित्र' कहाता है। और अहिंसादि भेद से 'पांच प्रकार का व्रत' है। एक 'अहिंसा'—किसी प्राणि-मात्र को न मारना। दूसरा 'सूनृता'—प्रिय-वाणी बोलना। तीसरा 'अस्तेय'—चोरी न करना। चौथा 'ब्रह्मचर्य्य'—उपस्थ इन्द्रिय का संयमन। और पाँचवाँ 'अपरिग्रह'—सब वस्तुओं का त्याग करना ॥

[पर-निन्दा आदि अच्छी बातें भी दोषयुक्त हो गईं]

समीक्षक—इनमें बहुत सी बातें अच्छी हैं। अर्थात् अहिंसा और चोरी आदि निन्दनीय कर्मों का त्याग अच्छी बात है। परन्तु ये सब अन्य मत की निन्दा करनी आदि दोषों से सब अच्छी बातें भी दोष-युक्त हो गई हैं। जैसे प्रथम सूत्र में लिखी है—"अन्य हरिहरादि का धर्म संसार से उद्धार करनेवाला नहीं।" क्या यह छोटी निन्दा है कि जिनके ग्रन्थ देखने से ही पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाई जाती है, उसको बुरा कहना ? और अपने महा असम्भव जैसा कि पूर्व लिख आये, वैसी बातों के कहनेवाले अपने तीर्थङ्करों की स्तुति करना, केवल हठ की बातें हैं।

[दूसरे इनकी बुराई करें, तो क्या इन्हें बुरा न लगेगा ?

जैनमत की प्रशंसा—

मूल—जइ न कुणसि तव चरणं न पढसि न गुणेसि देसि नो दाणम् ।
ता इत्तियं सक्किसि जं देवो इक्क अरिहन्तो ॥
—प्रकरण भा० २ षष्टी० ६० । सू० २

सं० अर्थ—हे मनुष्य ! जो तू तप चारित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ़ सकता, न प्रकरणादि का विचार कर सकता, और सुपात्रादि को दान नहीं दे सकता, तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त ही हमारे आराधना के योग्य सुगुरु, सुधर्म जैनमत में श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है।

समीक्षक—भला जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके, न पढ़ सके, न दान देने का सामर्थ्य हो, तो भी 'जैनमत सच्चा है' क्या इतना कहने ही से वह उत्तम हो जाये ? और अन्य मत-वाले श्रेष्ठ भी अश्रेष्ठ हो जायें ? ऐसे कथन करनेवाले मनुष्यों को भ्रान्त और बालबुद्धि न कहा जाय, तो क्या कहें ?

इसमें यही विदित होता है कि इनके आचार्य स्वार्थी थे, पूर्ण विद्वान् नहीं। क्योंकि जो सबकी निन्दा न करते, तो ऐसी झूठी बातों में कोई न फसता, न उनका प्रयोजन सिद्ध होता। देखो, यह तो सिद्ध होता है कि जैनियों का मत डुबानेवाला, और वेदमत सबका उद्धार करनेहारा, हरिहरादि देव सुदेव और इनके ऋषभदेवादि सब कुदेव दूसरे लोग कहें, तो क्या वैसा ही उनको बुरा न लगेगा ?

जैनमत सच्चा है—यह पीछे आ चुकी 'जइ न कुणसि तवचरण···' गाथा का प्रसंगोपात्त पुनः अनुवाद है। ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि विचार की अपेक्षा आचार का आसन ऊँचा है (आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः) किन्तु इस गाथा में विचार को आचार से उत्तम कहा गया है।

---

१. आर्हतदर्शन, पृष्ठ ६५।

[स्वयं अपनी प्रशंसा करना मूर्खता है]

और भी इनके आचार्य और माननेवालों की भूल देख लो—

मूल—जिणवर आणा भंगं उमग्ग उस्सुत्त लेस देसणउ।
आणा भगे पावंता जिणमय दुक्करं धम्मम्॥

—प्रकर० भाग २। षष्टीश० ६०। सू० ११

सं० अर्थ—उन्मार्ग उत्सूत्र के लेख दिखाने से जो जिनवर अर्थात् वीतराग तीर्थङ्करों की आज्ञा का भङ्ग होता है, वह दुःख का हेतु पाप है। जिनेश्वर के कहे सम्यक्त्वादि धर्म ग्रहण करना बड़ा कठिन है। इसलिये जिस प्रकार जिन-आज्ञा का भंग न हो, वैसा करना चाहिये॥

समीक्षक—जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा, और अपने ही धर्म को बड़ा कहना, और दूसरे की निन्दा करनी है, वह मूर्खता की बात है। क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है कि जिसकी दूसरे विद्वान् करें। और अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं। तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं? इस प्रकार की इनकी बातें हैं।

[जैनियों जैसा पक्षपाती दूसरा न होगा]

मूल—बहुगुणविज्झा निलओ उस्सुत्तभासी तहावि मुत्तवो।
जह वरमणिजुत्तो विहु विग्घकरो विसहरो लोए॥

—प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० १८

सं० अर्थ—जैसे विषधर सर्प में मणि त्यागने योग्य है, वैसे जो जैनमत में नहीं वह चाहै कितना बड़ा धार्मिक पण्डित हो, उसको त्याग देना ही जैनियों को उचित है॥

समीक्षक—देखिये, कितनी भूल की बात है। जो इनके चेले और आचार्य विद्वान् होते, तो विद्वानों से प्रेम करते। जब इनके तीर्थङ्कर-सहित अविद्वान् हैं, तो विद्वानों का मान्य क्यों करें? क्या सुवर्ण को मल वा धूड़ में पड़े को कोई त्यागता है? इससे यह सिद्ध हुआ कि विना जैनियों के वैसे दूसरे कौन पक्षपाती हठी दुराग्रही विद्याहीन होंगे?

[जिसका मत सच्चा है, उसे किसी से डर नहीं]

मूल—अइसय पाविय पावा धम्मिअ पव्वेसु तोवि पावरया।
न चलन्ति सुद्ध धम्मा धन्ना किविपाव पव्वेसु॥

—प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० २६

सं० अर्थ—अन्यदर्शनी कुलिंगी अर्थात् जैनमत-विरोधी, उनका दर्शन भी जैनी लोग न करें॥४॥[1]

समीक्षक—बुद्धिमान् लोग विचार लेंगे कि यह कितनी पामरपन की बात है। सच तो यह है

अन्य दर्शनी कुलिंगी—यह वाक्य गुजराती व्याख्या का सारमात्र है। अन्यमती के दर्शन का निषेध षष्ठी शतक की इसी गाथा की विवृत्ति में गुणरत्नाकर सूरि ने भी किया है—"ततोऽयमभिप्रायः, यद्यपि धर्म्मे स्थिराणां पापपर्वस्वपि न चलति धर्माच्चित्तं तथापि सर्वथा तदनुवृत्त्यादि परिहर्त्तव्यमेव, अन्यथा तस्य तथा च दर्शनेनान्येषामभिनवधर्म्मादीनां तेषां प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः।" अर्थात् यह अभिप्राय है कि धर्म में दृढ़ लोगों का चित्त पापपर्वों में धर्म से विचलित नहीं होता है। तथापि सर्वथा उनके

१. यह गुजराती व्याख्या का सारमात्र है।

कि जिसका मत सत्य है, उसको किसी से डर नहीं होता। इनके आचार्य जानते थे कि हमारा मत पोल-पाल है। जो दूसरे को सुनावेंगे, तो खण्डन हो जायगा। इसलिये सबकी निन्दा करो, और मूर्खजनों को फसाओ।

[अन्य धर्मवालों की निन्दा करना शठता है]

मूल—नामंपि तस्स असुहं जेण निदिठाई मिच्छ पव्वाइ।
जेसिं अणुसंगाउ धम्मीणवि होई पाव मइ॥

—प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० २७॥

सं० अर्थ—जो जैनधर्म से विरुद्ध धर्म हैं, वे सब मनुष्यों को पापी करनेवाले हैं। इसीलिये किसी के अन्य धर्म को न मानकर जैनधर्म ही को मानना श्रेष्ठ है॥[1]

अनुगमनादि से बचना ही चाहिए। अन्यथा वैसा करने और उन (पापपर्ववालों) के दर्शन से नये जैनों की उनमें प्रवृत्ति हो सकती है। 'सम्यक्त्वसित्तरी' ग्रन्थ में इस बात को खोलकर लिखा है—"इसका संग करने से सम्यक्त्व मलिन हो जाता है, अतः उसका दर्शन भी वर्जन करना चाहिए। जैसे काजल के संग से अच्छे और उज्ज्वल वस्त्र काले हो जाते हैं, उसके पश्चात् टलते नहीं, अतः कुमति (अजैन) आदि के साथ व्यापार, सेठ साहूकारी, विवाह, उजाणी आदि परिचय नहीं करना, एक स्थान पर बैठना नहीं, साथ आना-जाना नहीं, उसके साथ लेन-देन करना नहीं, इत्यादि उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार करना नहीं" (पृ० १३६)। यहाँ हमने मूल गुजराती का आर्यभाषान्तर कर दिया है। यदि जैन लोग इस उपदेश पर आचरण करें तो कुमति लोगों का परम कल्याण हो। दिगम्बर जैन भी ऐसा ही मानते हैं। दिगम्बरों के मत से भावी तीर्थङ्कर होनेवाले समन्तभद्रजी कहते हैं—"भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमालिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं च नैव कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥" जैनमत के प्रचार के लिए सर्वात्मना समर्पित, वीरसेवामन्दिर के संस्थापक श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"शुद्ध सम्यग्दृष्टियों को चाहिए कि वे (भय से) लौकिक अनिष्ट की आशंका को लेकर उससे बचने के लिए, (आशा से) भविष्य की किसी इच्छापूर्ति को ध्यान में रखकर, (स्नेह से) लौकिक प्रेम के वश होकर तथा (लोभ से) धनादिक का कोई लौकिक लाभ स्पष्ट सधता देखकर भी—कुदेव, कुआगम, कुलिङ्गियों को—प्रणाम (शिरोनति) तथा विनय आदि के (अभ्युत्थान हस्ताञ्जलि आदि के) रूप में आदर-सत्कार न करें।" व्याख्या-कुदेवादिकों को प्रणामादिक करने से अपने निर्मल सम्यग्दर्शन में मलिनता आ जाती है और दूसरों के सम्यग्दर्शन को भी ठेस पहुँचती है तथा जो धर्म से चलायमान हों, उनका स्थितिकरण भी नहीं हो पाता (समीचीन-धर्मशास्त्र, पृ० ६५-६६)।

नामंपि तस्स०—इस गाथा का अर्थादि लिखकर लिखा है—**एनो भावार्थ**—होली, धुलेंडी, विजयादशमी, गणेशचौथ, नागपंचमी, पापनवमी, बच्छ बारस तथा धनतेरस इत्यादि मिथ्यात्वना पर्वो ने दिव से घणा पाप, उपद्रव, हास्य, कुतूहल थाय छे। जेना प्रसंग थी धर्मी पुरुषोंनी पणपापमति थाय छे त्यारे अधर्मी लोकोंनी ते शी बात कहेवी। माटे जे पुरुष मिथ्यात्व पर्वोनी स्थापना करी छे ते पुरुष नूं नाम पण अशुभ जाणंवु। एटले तेनुं नाम लीवाथी पण पाप लागे छे (पृ० ६३८-३९) इसका अर्थ—होली, धुलेंडी, विजयादशमी, गणेशचौथ, नागपंचमी, पापनवमी, वत्सद्वादशी तथा धनत्रयोदशी इत्यादिक

---

1. यह भावमात्र है। शब्दार्थ है—'नाम भी उसका अशुभ, जिसने कथन किये मिथ्यापर्व (होली आदि)। जिनके अनुसंग से धर्मियों की भी होती है पापमति।'

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे वैर-विरोध निन्दा-ईर्ष्या आदि दुष्ट कर्मरूप सागर में डूबानेवाला जैनमार्ग है। जैसे जैनी लोग सबके निन्दक हैं, वैसा कोई भी दूसरा मतवाला महानिन्दक और अधर्मी न होगा। क्या एक ओर से सबकी निन्दा, और अपनी अति प्रशंसा करना शठ मनुष्यों की बातें नहीं हैं। विवेकी लोग तो चाहें किसी मत के हों, उनमें अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहते हैं।

[क्या अपने ही धर्म और गुरुओं को अच्छा कहना उचित है ?]

मूल—हा हा गुरुअ अकज्झ सामी न हु अत्थि कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु सावया कह इय अकज्झं॥

—प्रकर० भा० २। षष्टी०। सू० ३५॥

सं० अर्थ—सर्वज्ञभाषित जिन-वचन, जैन के सुगुरु और जैन धर्म कहाँ ? और उनसे विरुद्ध कुगुरु अन्य मार्गों के उपदेशक कहाँ ? अर्थात् हमारे सुगुरु सुदेव सुधर्म, और अन्य के कुदेव कुगुरु कुधर्म हैं॥

समीक्षक—यह बात बेर बेचनेहारी कूँजड़ी के समान है। जैसे वह अपने खट्टे बेरों को मीठा, और दूसरी के मीठों को खट्टा और निकम्मे बतलाती है, इसी प्रकार की जैनियों की बातें हैं। ये लोग अपने मत से भिन्न मत-वालों की सेवा में बड़ा अकार्य अर्थात् पाप गिनते हैं।

[दूसरे मतवालों को साँप से भी बुरा बताना ठीक नहीं]

जैसे प्रथम लिख आये कि सर्प्प में मणि का भी त्याग करना उचित है, वैसे अन्य मार्गियों में श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों का भी त्याग कर देना। अब उससे भी विशेष निन्दा अन्य मत-वालों की करते हैं—

मूल—सप्पो इक्कं मरणं कुगुरु अणंताइ देह मरणाइ।
तो वरिसप्पं गहियुं मा कुगुसेवणं भद्दम्॥

—प्रकर० भा० २। षष्टी० सू० ३७॥

सं० अर्थ—जैनमत से भिन्न सब कुगुरु अर्थात् वे सर्प से भी बुरे हैं। उनका दर्शन सेवा सङ्ग कभी न करना चाहिये। क्योंकि सर्प के सङ्ग से एक वार मरण होता है, और अन्यमार्गी कुगुरुओं के संग

मिथ्यात्व (झूठे मतवालों के पर्वों के दिनों पर बहुत पाप, उपद्रव, हास्य कुतूहल होता है, जिसके प्रसंग से धर्मी (जैनी) पुरुषों की भी पापमति हो जाती है, अधर्मी लोगों की तो बात ही क्या कहनी। जिन लोगों ने मिथ्यात्व पर्वों की स्थापना की है, उनका नाम भी अशुभ जानो। इतने से उनका नाम लेने से भी पाप लगता है।

ह हा—अह० में 'अकज्झ' के स्थान मे 'अकज्जं' तथा 'अच्छी' के स्थान में 'अत्थि' है। गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है—(हाहा) हाय हाय ! (गुरुअ अकज्झं) न करने योग्य गुरु ! (सामी नहु अच्छी) राजा नहीं है (कस्स) किस के आगे (पुक्करिमो) पुकार करें। (कह) कहाँ (जिनवयण) जिन=सर्वज्ञ-भाषितवचन ! (कह सुगुरुसावया) कहाँ सुगुरु और सुश्रावक ! (कह) कहाँ (इय) यह (अकज्झं) कहाँ यह अकार्य।

सप्पो इक्कं मरणम्—शब्दार्थ—'साँप से एक बार मरना होता है, कुगुरु से अनन्त बार मरना होता है। अतः साँप को पकड़ना अच्छा है, कुगुरु का सेवन अच्छा नहीं।' गुजराती अनुवाद के अन्त में यह वाक्य द्रष्टव्य है—'हे भद्र ! रखे कुगुरुनी सेवा करे कदापि करवी नहीं, अर्थात्—हे भद्र ! कुगुरु की सेवा कभी नहीं करनी।' कुगुरु का अर्थ अजैन गुरु है।

से अनेक बार जन्म-मरण में गिरना पड़ता है। इसलिये हे भद्र अन्य-मार्गियों के कुगुरुओं के पास भी मत खड़ा रह। क्योंकि जो तू अन्यमार्गियों की कुछ भी सेवा करेगा, तो दुःख में पड़ेगा॥

समीक्षक—देखिये, जैनियों के समान कठोर भ्रान्त द्वेषी निन्दक भूला हुआ दूसरे मत-वाले कोई भी न होंगे। इन्होंने मन से यह विचारा है कि जो हम अन्य की निन्दा और अपनी प्रशंसा न करेंगे, तो हमारी सेवा और प्रतिष्ठा न होगी। परन्तु यह बात उनके दौर्भाग्य की है। क्योंकि जब तक उत्तम विद्वानों का सङ्ग सेवा न करेंगे, तबतक इनको यथार्थ ज्ञान और सत्यधर्म की प्राप्ति कभी न होगी। इसलिये जैनियों को उचित है कि अपनी विद्याविरुद्ध मिथ्या बातें छोड़ वेदोक्त सत्य बातों का ग्रहण करें, तो उनके लिये बड़े कल्याण की बात है।

विद्याविरुद्ध मिथ्या बातें—जैनशास्त्रों में प्रत्यक्ष प्रमाणित होनेवाली असत्य, अस्वाभाविक एवं असम्भव बातें एक-दो नहीं, यत्र तत्र-सर्वत्र भरी पड़ी हैं। इस विषय में 'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक में लिखा है—"गत लेखों में जैनशास्त्रों के सर्वज्ञों की सर्वज्ञता आप देख चुके हैं कि पृथिवी, सूर्य और चन्द्रमा के सम्बन्ध का उनको कितना ज्ञान था और सर्वज्ञता की दृष्टि में कितनी शक्ति थी। यदि हम अन्ध श्रद्धा से काम न लेकर विवेक, तर्क और न्याय से बात को निष्पक्षभाव से विचारें तो जैनशास्त्रों में एकाध नहीं, ऐसी हज़ारों बातें मिलेंगी, जो मेरे बताये असत्य, असम्भव और अस्वाभाविक की कोटि में दृष्टिगोचर होंगी। चन्द्रमा की तरह बुध और शुक्र में कलाएँ तथा रवि-बुध और रवि-शुक्र के होनेवाले संक्रमण और शनि के चौगिर्द अलग दिखाई देनेवाले वलय (छल्ले) इस सर्वज्ञों की दिव्य दृष्टि से ओझल रह गये। सर्वज्ञों ने तो अपनी दिव्य दृष्टि से सब ग्रहों को हर दृष्टि से समान देखा। इसीलिए तो वे समदृष्टि कहलाते हैं। सच है, गुड़ और खल के मूल्य में अन्तर न देखना भी तो एक प्रकार का समदृष्टिपन है। ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका जैनशास्त्रों से सामंजस्य नहीं होता। उदाहरणार्थ—

१. पृथिवी को समतल (Flat) बताना, जबकि वह नारंगी की तरह एक गोल पिण्ड के सदृश है।

२. पृथिवी पर प्रकाश देनेवाले दो सूरज बतलाना, जबकि एक ही सूर्य होना प्रत्यक्षतः सिद्ध है।

३. पृथिवी को असंख्यात योजन लम्बी-चौड़ी बतलाना, जबकि प्रत्यक्ष में वह केवल २४८५६ मील की परिधि में स्थित है।

४. पृथिवी पर एक ही समय में कहीं पर गर्मी और कहीं पर सर्दी का होना प्रत्यक्ष है, जबकि सर्वज्ञों ने ऋतुओं के अनुसार एक समय में सारी पृथिवी पर एकसा बर्ताव बताया है।

५. सूर्य की गति एक मिनट में ४४२०८४$\frac{३}{४}$ मील की बताना जबकि वास्तव में वह १७$\frac{१}{२}$ मील ही है।

६. सूर्य को समभूमि से ३२००००० मील की ऊँचाई पर बताना, जबकि सूर्य हम से ९२९६५००० मील की दूरी पर है।

७. सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के लिए राहु के पिण्ड की कल्पना करना, जबकि राहु का कोई पिण्ड है ही नहीं।

८. सब ग्रहों के व्यास एक समान बताना, जबकि बड़ा अन्तर है।

९. चन्द्रमा को सूर्य से बड़ा बताना।

[क्या अन्य मार्गियों के उपकार से अपना नाश होगा ?]

मूल—किं भणिमो किं करिमो ताण हयासाण धिट्ठ दुट्ठाणं।
जे दंसिऊण लिंगं खिवंति नरयम्मि मुद्धजणं॥
—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ४०

सं० अर्थ—जिसकी कल्याण की आशा नष्ट हो गई, ढीठ, बुरे काम करने में अति चतुर, दुष्ट दोषवाले से क्या कहना और क्या करना ? क्योंकि जो उसका उपकार करो, तो उल्टा उसका नाश करे। जैसे कोई दया करके अन्धे सिंह की आँख खोलने को जाय, तो वह उसी को खा लेवे। वैसे ही कुगुरु अर्थात् अन्यमार्गियों का उपकार करना अपना नाश कर लेना है। अर्थात् उनसे सदा अलग ही रहना।

समीक्षक—जैसे जैन लोग विचारते हैं, वैसे दूसरे मत-वाले भी विचारें, तो जैनियों की कितनी दुर्दशा हो ? और उनका कोई किसी प्रकार का उपकार न करे, तो उसके बहुत से काम नष्ट होकर कितना दु:ख प्राप्त हो ? वैसा अन्य के लिए जैनी क्यों नहीं विचारते ?

[जैनियों में जितना ईर्ष्या-द्वेष है, उतना अन्यों में नहीं]

मूल—जह जह तुट्टइ धम्मो जह जह दुट्ठाण होइ अइ उदउं।
समद्दिट्ठि जियाणं तह तह उल्लसइ समत्तं॥
—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ४२

सं० अर्थ—जैसे-जैसे दर्शन-भ्रष्ट, निह्नव, पासच्छा, उसन्ना, तथा कुसीलियादिक, और अन्य-दर्शनी त्रिदण्डी परिव्राजक, तथा विप्रादिक दुष्ट लोगों का अतिशय बल सत्कार पूजादिक होवे, वैसे-वैसे सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व विशेष प्रकाशित होवे, यह बड़ा आश्चर्य है॥

समीक्षक—अब देखो, क्या इन जैनों से अधिक ईर्ष्या-द्वेष वैर-बुद्धियुक्त दूसरा कोई होगा ? हाँ दूसरे मत में भी ईर्ष्या-द्वेष है, परन्तु जितनी इन जैनियों में है, उतनी किसी में नहीं। और द्वेष ही पाप का मूल है। इसलिए जैनियों में पापाचार क्यों न हो ?

---

१०. चन्द्रमा को ३५२०००० मील की ऊँचाई पर बतलाना, जबकि वह केवल २२१६१० मील की दूरी पर है। (पृ० ७८-८१)

ग्रन्थकार को कुवाच्य कहनेवाले अपने ही विद्वान् द्वारा प्रस्तुत इन विसंगतियों का समाधान आज तक नहीं कर पाये।

किं भणिमो—शब्दार्थ—(किं भणिमो) क्या कहें ? (किं करिमो) क्या करें ? (ताण हयासाण) उन हताशों और (धिठदुठायं) ढीठ दुष्टों को ? (जे) जो (ऊण) तो (लिंगं) लिंग=चिह्न (दसि) देखकर, दिखाकर (मुग्धजणं) भोले लोगों को (नरयम्मि) नरक में (खिवंति) फेंकते हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ इस गाथा की गुजराती की व्याख्या का भाषान्तरमात्र दिया है।

जह जह—शब्दार्थ—(जह जह) जैसे-जैसे (तुट्टई) टूटता है (धम्मो) धर्म=जिनभाषित धर्म (जह जह) जैसे-जैसे (दुठाण) दुष्टों की (होइ अई) होता है (उदउं) उदय, उन्नति (तह तह) वैसे-वैसे (समदिट्ठिजियाणं) समदृष्टि जीवों की (समत्वं) सम्यक्त्व (उल्लसई) चमकती है। ग्रन्थकार द्वारा यहाँ दिया अर्थ गुजराती का भाषान्तर है।

[अन्य मतों को चोर-मत कहना अनुचित है]

मूल—संगोवि जाण अहिउ तेसिं धम्माइजे पकुव्वन्ति।
मुत्तूण चोरसंगं करन्ति ते चोरियं पावा ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ७५

सं० अर्थ—इसका मुख्य प्रयोजन इतना ही है कि—जैसे मूढजन चोर के सङ्ग से नासिकाछेदादि दण्ड से भय नहीं करते, वैसे जैनमत से भिन्न चोर धर्मों में स्थित जन अपने कल्याण से भय नहीं करते ॥

समीक्षक—जो जैसा मनुष्य होता है, वह प्रायः अपने ही सदृश दूसरों को समझता है। क्या यह बात सत्य हो सकती है कि अन्य सब चोरमत, और जैन का साहूकार मत है? जब तक मनुष्य में अति अज्ञान और कुसंग से भ्रष्टबुद्धि होती है, तब तक दूसरों के साथ अति ईर्ष्या-द्वेषादि दुष्टता नहीं छोड़ता। जैसा जैनमत पराया द्वेषी है, ऐसा अन्य कोई नहीं।

[अन्य धर्मों के व्रत-उपवासों की निन्दा करना मूर्खता है]

मूल—जच्छ पसुमहिसलरका पव्वं होमन्ति पाव नवमीए।
पूअन्ति तंपि सढ्ढा हा हीला वीयरायस्स ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ७६

सं० अर्थ—पूर्व सूत्र में जो मिथ्यात्वी अर्थात् जैनमार्ग-भिन्न सब मिथ्यात्वी और आप सम्यक्त्वी, अर्थात् अन्य सब पापी, जैन लोग सब पुण्यात्मा हैं, ऐसा कहा है। इसलिये जो कोई मिथ्यात्वी के धर्म का स्थापन करे, वह पापी है ॥

समीक्षक—जैसे अन्य के स्थानों में चामुण्डा, कालिका, ज्वाला प्रमुख के आगे पापनौमी अर्थात् दुर्गानौमी तिथि आदि सब बुरे हैं, वैसे क्या तुम्हारे पजूषण[1] आदि व्रत बुरे नहीं हैं? जिनसे महाकष्ट होता है। यहाँ वाममार्गियों की लीला का खण्डन तो ठीक है, परन्तु जो 'शासनदेवी'[2] और 'मरुतदेवी'[3] आदि को मानते हैं, उनका भी खण्डन करते तो अच्छा था।

जो कहें कि हमारी देवी हिंसक नहीं, तो इनका कहना मिथ्या है। क्योंकि 'शासनदेवी' ने एक पुरुष और दूसरे बकरे की आँखें निकाल ली थीं। पुनः वह राक्षसी और दुर्गा कालिका की सगी बहिन क्यों नहीं? और अपने पच्चखाण आदि व्रतों को अतिश्रेष्ठ, और नवमी आदि को दुष्ट कहना मूढ़ता की बात है। क्योंकि दूसरों के उपवासों की तो निन्दा, और अपने उपवासों की स्तुति करना मूर्खता की बात

संगोवि जाण—शब्दार्थ—(संगोवि) संग भी (जाण) जान (अहिउ) अहित=अहितकारी (तेसिं) उनका (धम्माइ) धर्मों को=पापनवमी=चामुण्डापूजादिक को (जे) जो (पकुव्वन्ति) भले प्रकार करते हैं, (मुत्तूण) छोड़कर (चोरसंगं) चोरसंग को (करन्ति) करते हैं (ते) वे (चोरियं) चोरी (पावा) पापी। यहाँ दिया अर्थ भी गुजराती भाव का अनुवाद है।

जच्छ पसुमहिस—अह० में 'जच्छ' के स्थान में 'जत्थ' और 'लरका' के स्थान में 'लक्खा' है। अर्थ की दृष्टि से यही उचित है। 'पव्वं' के स्थान में 'पव्वे' है, 'होमन्ति' के स्थान में 'हम्मंति' है, 'पुअन्ति' के स्थान में 'पुजन्ति' और 'सट्ठा' के स्थान में 'सडढा' है। गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है—(जत्थ) जिस (पावनवमी पव्वे) पापनवमी पर्व में (पसुमहिसलरका) लाखों पशु महिष आदि (होमंति) होमे

---

१. पाठ भ्रष्ट है। सम्भवतः 'पजूषण के आगे' ठीक पाठ होवे।

२. अर्थात् पर्यूषण।

३. विशेष—देखो अगली गाथा की समीक्षा।

है। हाँ जो सत्याभाषणादि व्रत धारण करने हैं, वे तो सबके लिये उत्तम हैं। जैनियों और अन्य किसी का उपवास सत्य नहीं है।

[अन्य मत के देवताओं की निन्दा करना पक्षपात है]

मूल—वेसाण वंदियाणय माहण डुंबाण जरकसिरकाणं। भत्ता भरकट्ठाणं वियाणं जन्ति दूरेणं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ८२

सं० अर्थ—इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जो वेश्या, चारण-भाटादि लोगों, ब्राह्मण यक्ष गणेशादिक, मिथ्यादृष्टि देवी आदि देवताओं का भक्त है, जो इनके माननेवाले हैं, वे सब डूबने और डूबानेवाले हैं। क्योंकि उन्हीं के पास वे सब वस्तुएँ माँगते हैं। और वीतराग पुरुषों से दूर रहते हैं॥

समीक्षक—अन्य मार्गियों के देवताओं को झूंठ कहना, और अपने देवताओं को सच कहना, केवल पक्षपात की बात है। और अन्य वाममार्गियों की देवी आदि का निषेध करते हैं, परन्तु जो 'श्राद्ध-दिनकृत्य' के पृष्ठ ४६ में लिखा है कि—'शासनदेवी ने रात्रि में भोजन करने के कारण एक पुरुष के थपेड़ा मारा। उसकी आँख निकाल डाली। उसके बदले बकरे की आँख निकालकर उस मनुष्य के लगा दी।' इस देवी को हिंसक क्यों नहीं मानते ? रत्नसार, भाग १, पृष्ठ ६७ में देखो क्या लिखा है—'मरुतदेवी पथिकों को पत्थर की मूर्त्ति होकर सहाय करती थी।' 'इसको भी वैसी क्यों नहीं मानते ?'

[अन्य मत-वालों के नाश की इच्छा, क्या यही दया धर्म है ?]

मूल—किं सोपि जणणि जाओ जाणो जणणी किं गओ विद्धि।
जइ मिच्छरओ जाओ गुणेसु तह मच्छरं वहइ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ८१

सं० अर्थ—जो जैनमत विरोधी मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्या धर्मवाले हैं, वे क्यों जन्मे ? जो जन्मे तो बढ़े क्यों ? अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते, तो अच्छा होता॥

समीक्षक—देखो, इनके वीतरागभाषित दया-धर्म। दूसरे मत वालों का जीवन भी नहीं चाहते। केवल इनका दया-धर्म कथनमात्र हैं। और जो है, सो क्षुद्र जीवों और पशुओं के लिये है। जैन-भिन्न मनुष्यों के लिये नहीं।

जाते हैं (पुअन्ति) पूजते हैं (तं पि) उसको भी (सट्ठा) शठ (हा) हाय (हीला) तिरस्कार (निन्दा) (वीतरागस्य) वीतराग=जिनकी। गुणरत्नाकर लिखता है कि जो नये जैन बने हैं, वे अपने पुराने संस्कारों के वश चामुंडा आदि के दर्शन करते हैं, और उस पुजारी के देवी कहते हैं कि हमारी देवी वीतराग से वढ़िया है। पर इस तिरस्कार के करानेवाले जैन ही हैं। शासनदेवी और मसतदेवी का परिचय अगली गाथा में मिलता है।

वेसाण—अह० में 'जरसिरकाणं' के स्थान में 'जक्खसिक्खाणं' तथा 'भरकठाणं' के स्थान में 'भक्खट्ठाणं' पाठ है। अर्थ की दृष्टि से अह० के पाठ उपयुक्त हैं। सौराष्ट्र में जैनों की देवनागरी लिपि थोड़ी सी भिन्न है। उसके कारण बहुधा भ्रम होता है। शब्दार्थ इस प्रकार है—(वेसाण) वेश्या (वंदियाण) वंदी, भाट, चारण आदि (य) और (माहणडंबाण) ब्राह्मण तथा डोम (जक्खसिक्खाण) यक्ष और शेषों के (भत्ता) भक्त ही (भक्खट्ठाण) उनके भक्ष्यस्थान हैं (वियाणं) विरतों से (जंति) जाते हैं (दूरेणं) दूर। गाथा का यहाँ दिया अर्थ प्रकरणरत्नाकर में के गुजराती अर्थ का सार है।

किं सोपि—शब्दार्थ—(किं) क्यों (सो) वह (जणणी जाओ) माता से उत्पन्न हुआ (पि) ही (जणणी इ) माता से (जाणो) उत्पन्न वह (किं) क्यों (गओ) प्राप्त हुआ (विद्धि) वृद्धि को (जइ) यदि

[मुक्ति केवल जैनियों को मिलेगी, यह कहना पागलपन है]

मूल—सुद्धे मग्गे जाया सुहेण गच्छत्ति सुद्ध मग्गंमि।
जे पुण अमग्गजाया मग्गे गच्छंति ते चुय्यं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ८३

सं० अर्थ—इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जो जैनकुल में जन्म लेकर मुक्ति को जाय, तो कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु जैन-भिन्न कुल में जन्मे हुए मिथ्यात्वी अन्यमार्गी मुक्ति को प्राप्त हों, इसमें बड़ा आश्चर्य है। इसका फलितार्थ यह है कि जैनमत वाले ही मुक्ति को जाते हैं, अन्य कोई नहीं। जो जैनमत का ग्रहण नहीं करते, वे नरकगामी हैं॥

समीक्षक—क्या जैनमत में कोई दुष्ट वा नरकगामी नहीं होता? सब ही मुक्ति में जाते हैं, और अन्य कोई नहीं? क्या यह उन्मत्तपन की बात नहीं है? विना भोले मनुष्यों के ऐसी बात कौन मान सकता है?

[मूर्त्तिपूजा तो जैसी दूसरों की मिथ्या, वैसी ही जैनियों की]

मूल—तिच्छयराणं पूआ संमत्त गुणाणकारिणी भणिया।
साविय मिच्छत्तयरी जिण समये देसियापूआ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ६०

सं० अर्थ—एक जिन मूर्त्तियों की पूजा सार, और इससे भिन्नमार्गियों की मूर्त्तिपूजा असार है। जो जिन-मार्ग की आज्ञा पालता है, वह तत्त्वज्ञानी। जो नहीं पालता है, वह तत्त्वज्ञानी नहीं॥

समीक्षक—बाहजी! क्या कहना!! क्या तुह्मारी मूर्त्ति पाषाणादि जड़ पदार्थों की नहीं, जैसी कि वैष्णवादिकों की हैं? जैसी वैष्णवादिकों की मिथ्या है, वैसी ही मूर्त्तिपूजा तुम्हारी भी मिथ्या है। जो तुम तत्त्वज्ञानी बनते हो, और अन्यों को अतत्त्वज्ञानी बनाते हो, इससे विदित होता है कि तुह्मारे मत में तत्त्वज्ञान नहीं है।

(मिच्छरओ) मिथ्यात्वरत (जाओ) उत्पन्न हुआ तो वह (गुणेषु) गुणी मनुष्यों के प्रति (मच्छरं) मत्सर, परगुणासहिष्णुता को (वहइ) धारण करता है। इस गाथा की विवृति में गुणरत्नाकर ने लिखा है—एतेनायमभिप्रायः— "यो मिथ्यात्वरतस्तस्मिन् सर्वे दोषाः संभवन्ति" अर्थात् इस गाथा का यह अभिप्राय है कि जो मिथ्यात्वरत (अजैन) है, उसमें सब दोष होते हैं।

सुद्धे मग्गे०—अह० में 'अमग्गा०' के स्थान में 'उम्मग्गा०' पाठ है। 'जे' के स्थान में 'ज' 'चुय्य' के स्थान में 'चुज्ज' है। गाथा का शब्दार्थ है—(सुद्धे मग्गे) शुद्ध मार्ग में अर्थात् जैन कुल में (जाया) उत्पन्न मनुष्य (सुहेण) सुख से (सुद्धमग्गमि) शुद्ध मार्ग में (गच्छति) चलते हैं। (पुण) किन्तु (जे) जो (अमग्गजाया) अमार्ग में उत्पन्न (अजैन कुल में उत्पन्न) होकर (मग्गे) मोक्षमार्ग में चलते हैं (त) वे (चुय्यं) आश्चर्य है।

तिच्छयराणं०—अह० में 'तिच्छयराणं' के स्थान में 'तित्थराणं' तथा 'पूआ' के स्थान में पूया 'संमत्तगुणाणकारिणी' के स्थान में 'संमतं गुणाणकारणं' पाठ है। गाथा का शब्दार्थ—(तिच्छयराणं) तीर्थङ्करों (ऋषभदेव से महावीरपर्यन्तों) की (पूआ) पूजा (सम्मत्तगुणाणकारिणी) सम्यक्त्व के गुणों के करनेवाली (भणिया) कही गई है। (साविय) वह भी यदि (मिच्छत्तयरी) मिथ्यात्वंकरी है (जिणसमये) जिन सिद्धान्तों में वह (अपूआ) अपूजा (देसिय) कही गई है।

[क्या जैनी ही धर्मात्मा हैं, अन्य नहीं ?]

मूल—जिण आणाए धम्मो आणारहि आण फुडं अहमुत्ति ।
इय मुणिऊणय तत्तं जिण आणाए कुणहु धम्मं ॥

--प्रक० भा० २ । षष्टी० । सूत्र ९२

सं० अर्थ—जो जिनदेव की आज्ञा दया-क्षमादिरूप धर्म है, उससे अन्य सब आज्ञा अधर्म हैं ॥

समीक्षक—यह कितने बड़े अन्याय की बात है ? क्या जैनमत से भिन्न कोई भी पुरुष सत्यवादी धर्मात्मा नहीं है ? क्या उस धार्मिक जन को न मानना चाहिये ? हाँ, जो जैनमतस्थ मनुष्यों के मुख जिह्वा चमड़े की न होती, और अन्य की चमड़े की होती, तो यह बात घट सकती थी । इससे अपने ही मत के ग्रन्थ वचन साधु आदि की ऐसी बड़ाई की है कि जानो भाटों के बड़े भाई ही जैन लोग बन रहे हैं।

[अन्य मतस्थों के ऐश्वर्य और बढ़ती से ईर्ष्या]

मूल—वन्नेमि नारयाउवि जेसि दुरकाइ सम्भरं ताणम् ।
भव्वाण जणइ हरिहर रिद्धि समिद्धी वि उद्घोसं ॥

—प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० ९५

सं० अर्थ—इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि जो हरिहरादि देवों की विभूति है, वह नरक का हेतु है । उसको देखके जैनियों के रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। जैसे राजाज्ञा[1] भङ्ग करने से मनुष्य मरण तक दुःख पाता है, वैसे जिनेन्द्र आज्ञा-भङ्ग से क्यों न जन्म-मरण-दुःख पावेगा ? ॥

समीक्षक—देखिये, जैनियों के आचार्य आदि की मानसी वृत्ति, अर्थात् ऊपर के कपट और ढोंग की लीला । अब तो इनके भीतर की भी खुल गई । हरिहरादि और उनके उपासकों के ऐश्वर्य और बढ़ती को देख भी नहीं सकते । उनके रोमाञ्च इसलिये खड़े होते हैं कि दूसरे की बढ़ती क्यों हुई ? बहुधा वैसे चाहते होंगे कि इनका सब ऐश्वर्य हमको मिल जाय, और ये दरिद्र हो जायें तो अच्छा । और राजाज्ञा का दृष्टान्त इसलिये देते हैं कि जैन लोग राज्य के बड़े खुशामदी झूँठे और डरपुकने हैं। क्या झूंठी बात भी राजा की मान लेनी चाहिये ?[2] जो ईर्ष्याद्वेषी हो, तो जैनियों से वढ़के दूसरा कोई भी न होगा ।

जिण आणाए—अह० में यह ९१वीं गाथा है । प्रक० रत्न० की ९१वीं इसमें ९२वीं गाथा है। उसमें 'आणारहिआण' के स्थान में 'आणारहियाण' तथा 'फुडं अहमुत्ति' के स्थान में 'फुडमहम्मति' पाठ है । गाथा का शब्दार्थ—(जिण आणाए) जिन आज्ञा से (धम्म:) धर्म है (आणा रहिआण) आज्ञारहितों का (धम्मं अहमुत्ति) अहंकारोक्ति (फुडं) व्यर्थ है । (इय मुणिऊणय) इस मुनित्व को (तत्तं) तत्त्व समझो और (जिण आणाए) जिनाज्ञा से युक्त (कुणहु) करो (धम्मं) धर्म को ।

वन्नेमि—अह० में 'नारयाउ' के स्थान में 'नारयाओ', 'दुरकाइ' के स्थान में 'दुक्खाइ', 'उद्घोसं' के स्थान में 'उद्घोषं' पाठ है । गाथा का शब्दार्थ—(वन्नेमि) वर्णन करता हूँ (नारयाओ) (नारकों) नरक में पड़े हुओं का (जेसि) जिनके (दुक्खाइ) दुःखों का (संभरंताणं) चिन्तन करके (भव्वाण) भव्य (जणइ) जनों (हरिहररिद्धिसमिद्धी) हरिहर की ऋद्धि की वृद्धि से (उद्घोसं) घबराकर चिल्ला पड़ते हैं और सम्यक्त्व को धारण करते हैं । दिगम्बर जैनों के मान्य आचार्य अमितगति अपने श्रावकाचार में लिखते हैं—'आर्यास्कन्दानलादित्यसमीरणपुरःसराः । निगद्यन्ते कथं देवाः सर्वदोषपयोधयः' (४।९२) । अर्थात् 'समस्त दोषों के समूह देवी, स्कन्द, अग्नि, सूर्य और वायु आदि को मूढ़ लोग देव कैसे कहते हैं ?'

---

१. राजाज्ञा का दृष्टान्त मूल गाथा में नहीं है । सम्भवतः गुजराती अनुवाद, जिसके आधार पर ऋषि दयानन्द की भाषा है, उसमें दिया होगा ।

२. ऋषि दयानन्द सरस्वती की निर्भीकता सुस्पष्ट है । भ० द०

[जैनधर्म से भिन्न को मूर्ख कहना मूढ़ता है]

**मूल—जो देइ सुद्ध धम्मं सो परमप्पा जयम्मि न हु अन्नो।
किं कप्पद्दुम्म सरिसो इयर तरू होइ कइयावि ॥**

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १०१ ॥

सं० अर्थ—वे मूर्ख लोग हैं, जो जैन-धर्म से विरुद्ध हैं। और जो जिनेन्द्रभाषित धर्मोपदेष्टा साधु वा गृहस्थ अथवा ग्रन्थकर्त्ता हैं, वे तीर्थङ्करों के तुल्य हैं। उनके तुल्य कोई भी नहीं ॥[1]

समीक्षक—क्यों न हो ? जो जैनी लोग छोकर-बुद्धि न होते, तो ऐसी बातें क्यों मान बैठते ? जैसे वेश्या विना अपने के दूसरी की स्तुति नहीं करती, वैसे ही यह बात भी दीखती है।

[जैनियों की थोड़ी बातें छोड़ सब त्यक्तव्य हैं]

**मूल—मूल जिणिदं देवो तव्वयणं गुरुजणं महासयाणं।
सेसं पावट्ठाणं परमप्पाणं च वज्जेमि ॥**

—प्र० भा० २। षष्टी०। सू० १०३ ॥

सं० अर्थ—जिनेन्द्रदेव, तदुक्त सिद्धान्त, और जिन-मत के उपदेष्टाओं का त्याग करना जैनियों को उचित नहीं है।

समीक्षक—यह जैनियों का हठ पक्षपात और अविद्या का फल नहीं तो क्या है ? किन्तु जैनियों की थोड़ी-सी बात छोड़के अन्य सब त्यक्तव्य हैं। जिसकी कुछ थोड़ी-सी भी बुद्धि होगी, वह जैनियों के देव सिद्धान्तग्रन्थ और उपदेष्टाओं को देखे-सुने-विचारे, तो उसी समय निःसन्देह छोड़ देगा।

यह अनुवाद जैन पण्डित परमेष्ठीदास न्यायतीर्थकृत है। अनुवाद में 'मूढ़ लोग' शब्द मूल से अधिक है तथा 'सर्वदोषपयोधयः' का अर्थ 'सब दोषों के सागर' के स्थान में 'सब दोषों के समूह' किया है।

जो देइ—शब्दार्थ—(जो) जो (देइ) देता है (सुद्ध धम्मं) शुद्ध धर्म को (सो) वह (परमप्पा) परमात्मा है, तीर्थङ्कर के तुल्य है। (जयम्मि) जगत् में (नहु) नहीं (अन्नो) दूसरा उसके समान। (किं) क्या (कप्पद्दुम्मसरिसो) कल्पवृक्ष के समान (इयर तरू) दूसरा वृक्ष (होइ) होता है (कइयावि) कहीं भी।

मूल जिणिदं०—गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है—मेरा (मूलं) मूल आश्रय (जिणिदं देवो) जिनेन्द्रदेव है। (तव्वयणं) उसका वचन धर्म है। (गुरुजणं) गुरुजन (महासयाणं) महासुजन हैं। (सेसं) शेष अर्थात् जिनेन्द्रदेव, तद्वचन तथा जैन साधुओं के अतिरिक्त (पावट्ठाणं) पापस्थान हैं। (परम्) दूसरों के (अप्पाणं) कुल क्रमागत आत्मीय देवों को त्यागता हूँ।

दूसरों के आराध्य देवों, उनके धर्मग्रन्थों तथा गुरुओं को पापस्थान कहने में कहाँ की मधुरता है ?

संस्करण २ से ३३ तक इस गाथा के स्थान में 'जे अमुणिय···' (प्र० भा० २, षष्टी०, सू० १०२) गाथा छपती रही, किन्तु अर्थ अगली गाथा १०३ का बना रहा। हमने इस विसंगति को दूर करने के लिए ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत अर्थ के अनुकूल गाथा १०३ का पाठ दे दिया है।

---

१. यह पूर्वार्ध का भाव है। उत्तरार्ध का भाव यह है कि—'क्या कल्पवृक्ष के समान दूसरा वृक्ष कहीं भी होता है' ?

[केवल जैनमतस्थों को पूज्य मानना पक्षपात है]

मूल—वयणे वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसिं न उल्लसइ सम्मं।
अह कह दिणमणि तेयं उलुआणं हरइ अंधत्तं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १०८॥

सं० अर्थ—जो जिनवचन के अनुकूल चलते हैं वे पूजनीय, और जो विरुद्ध चलते हैं वे अपूज्य हैं। जैन गुरुओं को मानना, अर्थात् अन्यमार्गियों को न मानना॥

समीक्षक—भला जो जैन लोग अन्य अज्ञानियों को पशुवत् चेले करके न बांधते, तो उनके जाल में से छूटकर अपनी मुक्ति के साधन कर जन्म सफल कर लेते। भला जो कोई तुमको कुमार्गी कुगुरु मिथ्यात्वी और कूपदेष्टा कहैं, तो तुमको कितना दुःख लगेगा? वैसे ही जो तुम दूसरे को दुःखदायक हो, इसीलिये तुह्मारे मत में असार बातें बहुत-सी भरी हैं।

[कृषि-व्यापारादि नरक के हेतु हैं, तो क्यों नहीं छोड़ते?]

मूल—जे रज्जधनाईणं कारणभूय हवंति वावारा।
ते विहु अइपावजुया धन्ना छड्डंतिभवभिया॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० ११९॥

सं० अर्थ—जो मृत्युपर्यन्त दुःख हो, तो भी कृषि-व्यापारादि कर्म जैनी लोग न करें। क्योंकि ये कर्म नरक में ले जानेवाले हैं॥

समीक्षक—अब कोई जैनियों से पूंछे कि तुम व्यापारादि कर्म क्यों करते हो? इन कर्मों को क्यों नहीं छोड़ देते? और जो छोड़ देओ, तो तुह्मारे शरीर का पालन-पोषण भी न हो सके। और जो तुह्मारे कहने से सब लोग छोड़ दें, तो तुम क्या वस्तु खाके जीओगे? ऐसा अत्याचार का उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है। क्या करें बिचारे? विद्या सत्सङ्ग के विना जो मन में आया, सो बक दिया।

वयणे वि सुगुरु०—अह० में 'उल्लसइ' के स्थान में 'उल्हसइ' पाठ है; 'उलुआणं' के स्थान में 'उल्लुयाणं' है। शब्दार्थ इस प्रकार है—(सुगुरु जिणवल्लहस्स) सुगुरु जिनवल्लभ के (वयणे) वचन से (केसिं) कइयों का (सम्मं) सम्यक्त्व (न उल्लसइ) नहीं चमकता है। (अह) अथ=तो (कह) क्या (दिणमणितेयं) सूर्य का तेज (उलुआणं) उल्लुओं के (अन्धत्तं) अन्धेपन को हरता है?

जे रज्जधनाईणं०—यहाँ भी पूर्वोल्लिखित (गाथा १०३) प्रकार की भूल हुई। ग्रन्थकार द्वारा दिया गया 'जो मृत्युपर्यन्त...' अर्थ ११९वीं गाथा का है। परन्तु सं० २ से ३५ तक इसके स्थान में १०९वीं गाथा छपती रही, जबकि अर्थ ११९वीं गाथा का ही बना रहा। इस विसंगति को दूर करने के लिए हमने ग्रन्थकार द्वारा दिये अर्थ के अनुकूल ११९वीं गाथा का ही पाठ दिया है।

गाथा का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(जे) जो (रज्जधनाइणं) राज्यधनादिकों के (कारणभूय) कारणभूत (वावारा) व्यापार होते हैं (ते वि) वे भी (अईपावजुया) अतिपापयुक्त (हु) ही हैं। (धन्ना) धन्य जन (भवभिया) जन्ममरण के भय से उनको (छड्डंति) छोड़ देते हैं। गुणरत्नाकर इसकी विवृति में लिखता है—'व्यापारा व्यवसायाः शत्रुहनन-राजसेवाकृषिवाणिज्यादयो बाह्याः, आन्तरास्तु पंचाग्निसाधनादयः तेपि तानपि व्यापारान् हु निश्चयेन धन्याः पुण्यावन्तश्छर्दयन्ति त्यजन्ति संयमस्वीकारेण भवभीताः संसारादुद्विग्नाः। कुतस्त्यजन्ति तान् व्यापारान्, यतोऽतिपापयुक्तास्तेऽतिदुरन्तपापहेतवः।' अर्थः—व्यापार अर्थात् व्यवसाय शत्रुमारण, राजसेवा, कृषि, वाणिज्य आदि बाह्य, और पंचाग्निसाधन आदि आन्तरिक, उन व्यापारों को निश्चित

ही, धन्य पुण्यवान् छोड़ देते हैं, संयम स्वीकार करने से, संसार से घबराये हुए। क्यों उन व्यापारों को छोड़ते हैं ? यत: वे अतिपापयुक्त हैं। दुरन्त पापों के कारण हैं। इतना ही नहीं, कुछ जैन लोग चिकित्सालय आदि सार्वजनिक हित के कार्यों को पाप मानते हैं। जैसा कि 'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक के जैन लेखक ने लिखा है—'...एक दूसरे की सेवा और सहायता करना एकान्त पाप है, अभाव और विपत्ति में कोई किसी की निस्स्वार्थभाव से सेवा करे तो भी उसे एकान्त पाप होता है'' विपत्तिग्रस्त को सहायता करने, माता, पिता, पति आदि पूज्य जनों की सेवा शुश्रुषा करने, शिक्षा के लिए शिक्षालयों का प्रबन्ध करने आदि सार्वजनिक परोपकार के सब कामों को निस्स्वार्थभाव से करने पर भी एक सद्गृहस्थ को एकान्त पाप होने के भावों की पुष्टि जैनशास्त्रों से होती है—इससे इनकार नहीं किया जा सकता' (पृ० १८०,१८१)। यह उद्धरण पूर्व भी दिया जा चुका है। दिगम्बर जैन भी कृषि आदि को वर्जनीय मानते हैं, जैसा समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड उपासकाध्ययन) ग्रन्थ के ११३वें श्लोक की व्याख्या में जुगुलकिशोर जी मुखतार लिखते हैं:—'दान के पात्रों के विषय में यह खास तौर से उल्लेख किया गया है कि वे सूनाओं तथा आरम्भों से रहित होने चाहियें। आरम्भों में सेवा कृषि, वाणिज्यादि शामिल हैं, जैसा कि इसी ग्रन्थ की 'सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति' इत्यादि कारिका नं० १४४ से प्रकट है। ...इससे स्पष्ट है कि वे पात्र सेवा-कृषि-वाणिज्यादि कार्यों से ही रहित न होने चाहियें बल्कि ओखली, चक्की, चूल्ही, पानी भरकर रखना तथा बुहारी देने जैसे कामों को करनेवाले भी न होने चाहियें' (पृष्ठ १५१-१५२)। उपरिनिर्दिष्ट १४४ कारिका में मुखतार जी लिखते हैं—'हो सकता है उनमें शिल्प और पशु-पालन जैसे आरम्भों का भी समावेश हो, क्योंकि कथनक्रम को देखते हुए प्राय: आजीविकासम्बन्धी आरम्भ यहाँ विवक्षित जान पड़ते हैं। मिलों के महारम्भों का तो उनमें सहज ही समावेश है और इसलिए वे इस व्रतधारी के लिये सर्वथा त्याज्य ठहरते हैं (पृष्ठ १८८)। ये लोग तो भूमि, गौ, सुवर्ण आदि का दान भी पापजनक मानते हैं, यथा—'हलैर्विदार्यमाणयां गर्भिण्यामिव योषिति। म्रियते प्राणिनो यस्यां सा भू: किं ददते फलम्' (आचार्य अमितगतिकृत श्रावकाचार ८।४६)। जैन प० परमेष्ठीदास ने इसका भावार्थ यह दिया है—'गर्भिणी स्त्री की भाँति हलके द्वारा विदारण की गई पृथिवी में प्राणियों का नाश होता है। तब वह दान की गई पृथिवी क्या फल दे सकती है अर्थात् भूमिदान देना फलदायक नहीं, किन्तु पाप का कारण है।' अब लीजिये गोदान का निषेध:—'गोदानं योऽतिमूढात्मा दत्ते पुण्यादिहेतु वधबंधादिघातादिजातं पापं लभेत स:' (सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचार २०।१५०, पृष्ठ २३०)। अर्थ—'जो अत्यन्त अज्ञानी पुरुष पुण्यसंपादन करने के लिए गाय का दान देता है, वह बन्धनादि में घात से उत्पन्न हुए अनेक पापों को उत्पन्न करता है (जैन पं० लालाराम शास्त्रिकृत अनुवाद)। अब सुवर्णदान-निषेध का प्रमाण लीजिये:—'तद्येनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया स तस्याष्टापदमादत्ते जीवितशान्तये' (अमितगतिकृत श्रावकाचार ९।५०)। जैन पं० परमेष्ठीदास ने इसका यह अर्थ किया है:—'जैसे कोई किसी को हिंसक दृष्टि से हिंसक अष्टापद (सिंह) देता है और वह उसका जीवन नाश कर देता है, उसी प्रकार अष्टापद (सुवर्ण) दान करना भी जीवननाश के लिए पाप का कारण है।' इनके मान्यग्रन्थ गौतम चरित में लिखा है—'शस्त्रं लोहं तथा रज्जुगोमहिषीभ्यहया: भूमिकनकरुप्याणि स्वर्णनिर्मितगोस्त्रिय: ॥ दु:खसागरपूर्णेषु महानर्थरता: सदा। एषां कुर्वन्ति दानं ये ते पतन्ति कुयोनिषु' (४।२२७-२२८)। जैन पं० लालारामशास्त्री इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:—'अनेक प्रकार के अनर्थ करने में तत्पर रहनेवाले जो मनुष्य शस्त्र, लोहा, रस्सी, गाय, भैंस, घोड़ा, पृथिवी, सोना, चाँदी, सोने की बनी हुई गाय और स्त्रियाँ आदि पाप करनेवाले पदार्थों को दान देते हैं, वे महासागर के समान अनेक दु:खों से हुई नरकादि

[अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए सब कुछ कर लेते हैं]

मूल—तइया हमाण अहमा कारणरहिया अनाणगव्वेण ।
जे जपंति उस्सुत्तं तेसिं द्धिद्धिच्छ पंडिच्चं ।।

—प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० १२१

सं० अर्थ—जो जैनागम से विरुद्ध शास्त्रों के माननेवाले हैं, वे अधमाऽधम हैं। चाहे कोई प्रयोजन भी सिद्ध होता हो, तो भी जैन मत से विरुद्ध न बोले, न माने। चाहे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, तो भी अन्य मत का त्याग करदे ।।

समीक्षक—तुह्मारे मूलपुरुषों से लेके आजतक जितने हो गये और होंगे, वे विना दूसरे मत को गालीप्रदान के अन्य कुछ भी दूसरी बात न किये थे और न करेंगे। भला जहाँ-जहाँ जैनी लोग अपना प्रयोजन सिद्ध होना देखते हैं, वहाँ-वहाँ चेलों के भी चेले बन जाते हैं। तो ऐसी मिथ्या लम्बी-चौड़ी बातों के हाँकने में तनिक भी लज्जा नहीं आती। यह बड़े शोक की बात है।

[समन्वय की भावना को छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं]

मूल—जं वीरजिणस्स जिओ मिरई उस्सुत्त लेसदेसणओ ।
सागर कोडाकोडिं हिंडइ अइभीमभववरण्णे ।।

—प्रक० भा० २ । षष्टी० । सू० १२२ ।।

सं० अर्थ—जो कोई ऐसा कहे कि जैन साधुओं में धर्म है, हमारे और अन्य में भी धर्म है। तो वह मनुष्य क्रोड़ान क्रोड़ वर्ष तक नरक में रहकर फिर भी नीच जन्म पाता है ।।

समीक्षक—वाह रे ! वाह !! विद्या के शत्रुओ ! तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों का कोई खण्डन न करे। इसीलिये यह भयङ्कर वचन लिखा है, सो असम्भव है। अब कहाँ तक तुमको समझावें ? तुमने तो झूंठ निन्दा और अन्य मतों से वैर-विरोध करने पर ही कटिबद्ध होकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना मोहनभोग के समान समझ लिया है।

दुर्गतियों में पड़ते हैं।'

तइया—गा० श०—(तइया) तीसरे (अहमाण अहमा) अधमों में अधम, अधमाधम (कारण-रहिया) कारण के (अनाणगव्वेण) अज्ञान से गर्व से (जे) जो (जपंति) जपते अथवा बोलते (उस्सुत्तं) उत्सूत्र, जैनसूत्रों के विरुद्ध, (तेसिं) उनके (पंडिच्चं) पाण्डित्य को, ज्ञान को (दिद्धिच्छ) धिक् धिक्, धिक्कार धिक्कार है।

अन्य मतस्थों के प्रति जैनों की गालियों का दिग्दर्शन—इसी षष्ठी शतक की १४६वीं गाथा में अन्यमतियों को 'संनिपातग्रहग्रस्त' इसकी गुजराती व्याख्या में 'संनिपातमिथ्यात्वहत' कहा गया है।

जं वीर—अह० में 'मिरइ' के स्थान में 'मरियभ' पाठ है, जो अधिक शुद्ध है। 'रण्णे' के स्थान में 'गहने' पाठ है। अर्थ में कोई भेद नहीं गा० श०:—(जं) जो (जिणवीरस्स) जिनवीर, वर्धमान महावीर (मरियभव) मरीचिभव में (उस्सुत्तलेसदेसणओ) तनिकसा सूत्रविरुद्ध कथन करने से (सागर-कोडाकोडिं) सागरकोटान्कोटी (अइभीमभवरण्णे) अतिभयानक संसार वन में (हिंडइ) घूमता है। गुण-रत्नाकर इसकी विवृति में लिखता है:—इदमत्र तात्पर्यं चरमजिनजीवो मरीचिभवे श्रीऋषभनाथपार्श्वे प्रतिपन्नसंयमः पठितैकादशाङ्गश्रुतो भगवता सह विहरन् ग्रीष्मे उष्णपरिषहजितं स्वमतिविकल्पितं त्रिदण्ड-छत्रोपानत्कषायवस्त्रादिलिङ्गं पारिव्रज्यं प्रतिपद्य पुनर्भगवतैव सह विहरन् धर्मकथया च प्रतिबोधयान् प्रतिबोध्य भगवत्पार्श्वे प्रेषयन् स्वासामर्थ्यं च संयमे प्रकटयन् प्रभूतकालं निनाय। अन्यदा भगवति सिद्धे

[जैनधर्म को सच्चा माननेमात्र से दुःखसागर तरना झूठ है]

मूल—दूरे करणं दूरम्मि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिणधम्म सद्दहाणं पि तिरकदुरकाइ निट्ठवइ ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १२७॥

सं अर्थ—जिस मनुष्य से जैनधर्म का कुछ भी अनुष्ठान न हो सके, तो भी जो 'जैनधर्म सच्चा है, अन्य कोई नहीं' इतनी श्रद्धामात्र ही से दुःखों से तर जाता है॥

समीक्षक—भला इससे अधिक मूर्खों को अपने मतजाल में फसाने की दूसरी कौन-सी बात

साधुभिः सह तथैव विहरन् ग्लानो जातोऽसंयमी इति तैर्न परिचरितः। ततश्च कपिलं भगवद्धर्ममश्रद्धान स्वपरिचर्योचितमालोच्य तत्र पार्श्वेपि किं कोपि धर्म्मोस्तीति पुनः पुनः पृच्छतस्तस्याग्रे कपिलः मुख्यतोऽत्र साधुपार्श्वे एव धर्मः, स्वल्पस्तु इह मम पार्श्वेप्यस्तीत्याचख्यौ। तेन सागरकोटाकोटीमानः संसारः समजनि। ···ततश्च यदि भगवतो जिनस्यापि जीव ईषदुत्सूत्रादेव भवकान्तारे भ्रान्तः, तत्किमन्येषां पण्डितमानिनां वाच्यमिति। अर्थात् "यह तात्पर्य है कि अन्तिमजिन (महावीरवर्धमान) के जीव ने मरीचिभव में श्री ऋषभ-नाथ के पास संयम को प्राप्त करके, एकादशाङ्ग पढ़कर भगवान् के साथ विहार करते हुए, ग्रीष्मऋतु में उष्णपरिषह से हारकर अपने बुद्धि से विकल्पित त्रिदण्ड, छाता जूता और कषायवस्त्र संन्यास को धारण करके फिर भगवान् के साथ ही विहार करते हुए, धर्मकथा के द्वारा जिज्ञासुओं को प्रतिबोधन करके भगवान् के पास भेजते हुए संयम में अपनी अशक्ति को प्रकट करते हुए बहुत समय बिताया। दूसरे समय भगवान् के सिद्ध होने पर साधुओं के साथ वैसे ही विहार करता हुआ (महावीर का जीव) रुग्ण हो गया। साधुओं ने 'यह असंयमी है' यह कहकर सेवा न की। तब भगवान् के धर्म में अश्रद्धा करनेवाले कपिल को अपनी सेवा योग्य समझकर, (उससे पूछा) तेरे पास भी कोई धर्म है। इस प्रकार बार-बार पूछने से कपिल ने कहा। इस संसार में मुख्यतः धर्म साधुओं के पास है, थोड़ा-सा तो मेरे पास भी है। इतने वचन से सागरकोटान्कोटि संसार उत्पन्न हुआ।···तो यदि भगवान् जिनका भी जीव थोड़े से उत्सूत्र से संसार वन में घूमा तो अन्य पाण्डित्याभिमानियों के विषय में क्या कहें।" जैनों के ग्रन्थों में आता है कि जैनों का चौबीसवाँ तीर्थङ्कर ऋषभदेव का पोता मरीचि था, यह चक्रवर्ती भरत का पुत्र था। एक बार भरत ने पूछा इस समय जो आपके पास साधु हैं, क्या इनमें से कोई जिन अर्थात् तीर्थङ्कर बनेगा। ऋषभदेव-जी ने उत्तर में कहा कि यह तेरा पुत्र मरीचि (जो साधु हो चुका था) अनेक जन्मों के पश्चात् अन्तिम तीर्थङ्कर बनेगा। मरीचि को अभिमान हो गया। उसके पश्चात् जो कुछ उसने किया, वह गुणरत्नाकर ने संक्षेप से कह दिया है। इस कथा में सबसे अधिक आक्षेपयोग्य बात यह है कि दया की मूर्त्ति, क्षमा के सागर और भगवान् ऋषभदेव के सत्संगी साधुओं को भी मरीचि पर दया न आयी। उस दया के न आने का कारण यह था कि वह पक्का जैन न रहा था। यद्यपि विचारों में वह जैन ही था। स० प्र० के कर्त्ता ने स्थान-स्थान पर जैनों को दयाहीन लिखा है, उसके अनेक प्रमाणों में से सबसे प्रबल प्रमाण यह है।

दूरे करणं—अह० में 'दुरंमि साहणं' के स्थान में 'दूरे पसाहणं' पाठ है। तिरकदुरकाइ के स्थान में 'तिक्ख-दुक्खाइं' पाठ है। गा० श०:—(करणं) करना जिन धर्म का अनुष्ठान (दूरे) दूर रहे (साहणं) जिन धर्म का प्रचार (दूरंमि) दूर रहे (तह) तथा (पभावणा) धर्म की प्रभावना भी (दूरे) दूर रहे। (जिणधम्मसद्दहाणं) जिन धर्म पर श्रद्धा (पि) ही (तिक्खदुक्खाइं) तीक्ष्ण दुःखों को (निठवइ) भगा देती है। अन्धविश्वास इसे कहते हैं।

होगो ? क्योंकि कुछ कर्म करना न पड़े, और मुक्ति हो ही जाय। ऐसा भूंदू[1] मत कौन-सा होगा ?

[जिनागम श्रवणेच्छामात्र से दुःखसागर तरना असम्भव]

मूल—कइया होही दिवसो जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उत्सुत्त लेसविसलव रहिओ निसुणेसु जिणधम्मं ।।

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १२८ ॥

सं० अर्थ—जो मनुष्य, जिनागम अर्थात् जैनों के शास्त्रों को सुनूंगा, उत्सूत्र अर्थात् अन्य मत के ग्रन्थों को कभी न सुनूंगा, इतनी इच्छा करे, वह इतनी इच्छामात्र ही से दुःखसागर से तर जाता है॥

समीक्षक—यह भी बात भोले मनुष्यों को फँसाने के लिये है। क्योंकि इस पूर्वोक्त इच्छा से यहाँ के दुःखसागर से भी नहीं तरता और पूर्वजन्म के भी संचित पापों के दुःखरूपी फल भोगे विना नहीं छूट सकता। जो ऐसी-ऐसी झूंठ अर्थात् विद्याविरुद्ध बात न लिखते, तो इनके अविद्यारूप ग्रंथों को वेदादि-शास्त्र देख सुन सत्याऽसत्य जानकर इनके पोकल[2] ग्रन्थों को छोड़ देते। परन्तु ऐसा जकड़कर इन अविद्वानों को बाँधा है कि इस जाल से कोई एक बुद्धिमान् सत्सङ्गी चाहे छूट सके, तो सम्भव है। परन्तु अन्य जड़बुद्धियों का छूटना तो अति कठिन है।

[भूखे मरना आदि कष्ट-सहन को चारित्र कहना ठीक नहीं]

मूल—जह्मा जेणहिं भणियं सुय ववहारं विसोहियं तस्स।
जाइय विसुद्ध बोही जिणआणा राहगत्ताओ ।।

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १३८ ॥

सं० अर्थ—जो जिनाचार्यों के कहे सूत्र निरुक्ति वृत्ति भाष्य चूर्णी मानते हैं, वे ही शुभ व्यवहार और दुःसह व्यवहार के करने से चारित्रयुक्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं। अन्य मत के ग्रन्थ देखने से नहीं।

समीक्षक—क्या अत्यन्त भूखे मरने आदि कष्ट सहने को 'चारित्र' कहते हैं ? जो भूखा-प्यासा मरना आदि ही चारित्र है, तो बहुत से मनुष्य अकाल वा जिनको अन्नादि नहीं मिलते, भूखे मरते हैं, वे

कइया होही०—अह० में जइया के स्थान से 'जइयाह' पाठ है। 'निसुणेसु' के स्थान में 'निसृणेमि' पाठ है। 'सुगुरूण' के स्थान में 'सुगुरु' है। शब्दार्थ इस प्रकार है—(कइया) कब (होही) होगा (दिवसो) वह दिन (जइया) जब मैं (सुगुरूण) सुगुरु के (पापमूलंमि) चरणमूल में स्थिर होकर (उस्सुत्त-लेसविसलवरहिओ) तनिक से उत्सूत्ररूपी विष के लव से रहित (जिणधम्मं) जिनभाषित धर्म को (निसुणेसु) सुनूंगा।

जम्हा जेणहिं—अह० में 'जेणहिं' के स्थान में 'जिणेहिं' पाठ है। यह उचित है। शब्दार्थ—(जम्हा) जिसने (जिणेंहि) जिनों से (भणियं) कहे हुए(सुयववहारं)श्रुतव्यवहार को (विसोहियं) विशेषरूप से शुद्ध किया है (तस्स) उसको (जाइय) होती है (बोही) बोधी (जिणआणाराहगत्ताओ) जिनाज्ञा के आराधक होने से। गाथा में आये 'सुय' अर्थात् 'श्रुत' शब्द का अर्थ है—सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति, भाष्य, चूर्णि ये पाँच ग्रन्थसमुदाय। गुजराती में लिखा है—"श्रुतव्यवहारे करी ने एटले सूत्र 'निर्युक्ति, वत्ति, भाष्य, चूर्णि ए पंचने श्रुत कहिए'। जैन लोग निरुक्ति को निर्युक्ति कहते हैं।

१. भुंदू=भोंदू=अज्ञानयुक्त।
२. पोकल=फोकल=सारहीन। 'पोकल' शब्द गुजराती भाषा का है।

शुद्ध होकर शुभ फलों को प्राप्त होने चाहिएँ। सो न ये शुद्ध होवें, और न तुम। किन्तु पित्तादि के प्रकोप से रोगी होकर सुख के बदले दुःख को प्राप्त होते हैं।

'धर्म' तो न्यायाचरण, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि है। और असत्याभाषण अन्यायचरणादि 'पाप' है। और सब से प्रीतिपूर्वक परोपकारार्थ वर्त्तना 'शुभ चरित्र' कहाता है। जैनमतस्थों का भूखा-प्यासा रहना आदि धर्म नहीं। इन सूत्रादि को मानने से थोड़ा-सा सत्य, और अधिक झूंठ को प्राप्त होकर दुःख-सागर में डूबते हैं।

[क्या अन्य मतों में श्रेष्ठ प्रारब्धी नहीं हैं ?]

मूल—जइ जाणिसि जिणनाहो लोयायारा विपरकए भूओ।
ता तं तं मन्नंतो कह मन्नसि लोअ आयारं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १४८

सं० अर्थ—जो उत्तम प्रारब्धवान् मनुष्य होते हैं, वे ही जिन-धर्म का ग्रहण करते हैं। अर्थात् जो जिन-धर्म का ग्रहण नहीं करते, उनका प्रारब्ध नष्ट है॥

समीक्षक—क्या यह बात भूल की, और झूंठ नहीं है? क्या अन्य मत में श्रेष्ठप्रारब्धी और जैनमत में नष्टप्रारब्धी कोई भी नहीं है?

जइ०—अह० में 'जाणिसि' के स्थान में 'जाणसि' तथा 'लोयायारा विपरकएभूओ' के स्थान में 'लोयायाराण पक्खओ हूओ' पाठ है और 'लोअ आयारं' के स्थान में 'लोयमासारो' पाठ है। गा० श०—(जइ) यदि (जाणिसि) तू जानता है कि (जिणनाहो) जिननाथ (लोयायारा विपरकएभूओ) लोकाचार के विपक्ष हैं (ता) तो (तं तं) उसको (मन्नंतो) मानता हुआ तू (कह) कैसे (लोअआयारं) लोकाचार को मानता है। इस गाथा के 'लोयायारा' पद की व्याख्या में प्रक० र० दूसरे भाग के ६९२ पृष्ठ पर लिखा है—लोयायारा—दर्शनभ्रष्ट, पाच्छत्तादिक तथा चतुदर्शनी ब्राह्मण परिव्राजक, त्रिदंडी, तापसादिक जे लोक ते ओना आचार।

प्रारब्ध नष्ट—प्रतीत होता है कि यह भाग १४९ की गाथा का है। समीक्षा से यही सिद्ध होता है। वह गाथा यह है—जि मन्न वि जिणंदं पुणो वि पणमंति इयरदेवाणं। मिच्छत्तसंनिवायगघत्थाणं ताण को विज्जो। अर्थात् जो कोई जिनेन्द्र देव को मानते हैं और फिर दूसरे देवों को नमस्कार करते हैं, उन मिथ्यात्वसंनिपातग्रहग्रस्तों का कौन वैद्य हो सकता है। इस मूल गाथा में अजैनों को मिथ्यात्व-संनिपातग्रहग्रस्त बताया गया है। इसकी विवृति में गुणरत्नाकर ने भी गुण दिखाये हैं—"संनिपाततुल्यता च मिथ्यात्वस्य सुन्दरासुन्दरवस्तुनः साम्यापादनाद् भवति। हि सांनिपातिकस्य कर्पूरादौ सुन्दरद्रव्ये पुरीषादौ वाऽसुन्दरद्रव्ये समाना बुद्धिः।···तथा मिथ्यात्विनोपि भगवति जिने सर्वदोषरहिते इतरदेवेषु च समाना मतिः।···तत्साधूक्तं ये जिनेन्द्रं मानयित्वा पुनरितरदेवान् प्रणमन्ति, मिथ्वात्वसंनिपातग्रस्तानां तेषां न कोपि वैद्य इति। ते दुश्चिकित्स्याः। अन्यथैवंविधं सुधारसायमानं जिनधर्म्ममवाप्य कथं पुनस्तादृशे हरिहरगोत्रदेवतापूजनश्राद्धकरणादिके जाड्ये रज्यन्ते। यतः कर्पूरप्रकरकाव्येः—विज्ञाय धन्या जिनधर्म्म-मर्मं रज्यन्ति शय्याभववन्न जाड्ये। पीता सिताभावितधेनुदुग्धं को वाम्लतक्रार्कपयांसि पश्येत्।" अर्थात् "मिथ्यात्व की संनिपात के साथ समानता सुन्दर और असुन्दर वस्तुओं की समानता करने से होती है। क्योंकि संनिपातग्रस्त की, कर्पूर आदि सुन्दर द्रव्य और पुरीष=टट्टी आदि असुन्दर द्रव्य में एक-सी मति होती है। वैसे ही मिथ्यात्वी की सर्वदोषरहित भगवान् जिन तथा अन्य देवों के विषय में एक-सी मति

[जैनी दूसरों से कलह करना बुरा नहीं मानते]

और जो कहा कि—'साधर्मी अर्थात् जैनधर्मवाले आपस में क्लेश न करें, किन्तु प्रीतिपूर्वक वर्त्तें ॥' इससे यह बात सिद्ध होती है कि दूसरे के साथ कलह करने में बुराई जैन लोग नहीं मानते होंगे। यह भी इनकी बात अयुक्त है। क्योंकि सज्जन पुरुष सज्जनों के साथ प्रेम और दुष्टों को शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं।

[जब सबको शत्रु समझा, तो दयाधर्म समाप्त]

और जो यह लिखा कि[1]—'ब्राह्मण त्रिदण्डी परिव्राजकाचार्य अर्थात् संन्यासी और तापसादि अर्थात् वैरागी आदि सब जैनमत के शत्रु हैं ॥'

सो अब देखिये कि सबको शत्रुभाव से देखते और निन्दा करते हैं, तो जैनियों की दया और क्षमारूप धर्म कहाँ रहा? क्योंकि जब दूसरे पर द्वेष रखना, दया क्षमा नाश, और इसके समान कोई दूसरा हिंसारूप दोष नहीं। जैसे द्वेषमूर्त्तियाँ जैनी लोग हैं, वैसे दूसरे थोड़े ही होंगे।

[अन्य मतस्थों को अपशब्द कहना अच्छी बात नहीं]

[2][और जो यह लिखा कि—'हरिहरादि मिथ्यात्वी, अन्य मत-वाले सन्निपात रोग-ग्रस्त और उनके धर्म विष के समान हैं' ॥]

जो ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्यन्त २४ तीर्थङ्करों को रागी द्वेषी मिथ्यात्वी कहें, और जैन-मत माननेवालों को सन्निपातज्वर में फसे हुए मानें, और उनका धर्म नरक और विष के समान समझें, तो जैनियों को कितना बुरा लगेगा? इसलिए जैनी लोग निन्दा और परमतद्वेषरूप नरक में डूबकर महाक्लेश भोग रहे हैं। इस बात को छोड़ दें तो बहुत अच्छा होवे।

होती है। तो यह ठीक कहा है कि जो जिनेन्द्र को मानकर भी अन्य देवों को प्रणाम करते हैं, मिथ्यात्व-रूप संनिपात से ग्रस्त उनका कोई वैद्य नहीं है। उनकी चिकित्सा कठिन है। अन्यथा इस प्रकार के अमृतरस समान जिनधर्म्म को प्राप्त करके कैसे वे हरिहर (विष्णु-महादेव) के समान देवों के पूजन और श्राद्ध करने आदि में प्रीति करते हैं। यत: कर्पूरप्रकरकाव्य में कहा है—शय्याभव नामक ब्राह्मण की भाँति धन्य जन जिनधर्म्म के मर्म को जानकर जाड्य=जिनेन्द्र से भिन्न देवों की पूजादि मूर्खता में अनुराग नहीं करते, मिश्री मिला गोदुग्ध पीकर कौन खट्टी लस्सी और आक के दूध को देखे।" दूसरे मत वालों के प्रति कैसे पुष्प बिखेरे हैं। स्वामी दयानन्द ने उनके ये पुष्प स्वीकार न करके उनको ही लौटा दिये हैं।

परमतद्वेष—परमतद्वेष की तो इनमें पराकाष्ठा है। वैदिकधर्मसम्बन्धी साहित्य का खण्डन करते हुए गणितादि विज्ञान विषयक ग्रन्थों को भी मिथ्या कहने से ये नहीं चूके। 'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक में हम पढ़ते हैं—"जैनशास्त्रनन्दीसूत्र में सत्य-सत्य शास्त्रों की नामावली सुन लेने के पश्चात् श्री गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—हे भगवन्! मिथ्याशास्त्र कौन-कौन से हैं, तो श्री भगवान् ने फरमाया :—चार वेद, छह वेदांग (शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, छन्द और व्याकरण)

---

१. यह प्रकरण भाग २ गाथा १४८ की 'गुणरत्नाकर' की टीका में लिखा है।
२. अगली समीक्षा का समीक्ष्य अंश यहाँ छूट गया है। उसे पूर्ण किया है।

[मूर्त्ति-पूजा का पाखण्ड जैनियों से चला]

मूल— एगो आगुरू एगो विसावगो चेद अणि विवहाणि ।
तच्छ य जं जिणदव्वं परुप्परं तं न विच्चन्ति ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी०। सू० १५० ॥

सं० अर्थ—सब श्रावकों का देव गुरु धर्म एक है। चैत्यवन्दन अर्थात् जिन-प्रतिबिम्ब मूर्त्ति देवल और जिन-द्रव्य की रक्षा और मूर्त्ति की पूजा करना धर्म है ॥

समीक्षक—अब देखो, जितना मूर्त्तिपूजा का झगड़ा चला है, वह सब जैनियों के घर से। और पाखण्डों का मत भी जैनमत है।

[मूर्त्तिपूजा का प्रकार]

श्राद्धदिनकृत्य, पृष्ठ १ में मूर्त्तिपूजा के प्रमाण—

नवकारेण विवोहो ॥१॥ अनुसरणं सावउ ॥२॥ वयाइं इमे ॥३॥ जोगो ॥४॥ चिय वन्दणगो ॥५॥ यच्चरखाणं तु विहि पुव्वं ॥६॥ इत्यादि।

श्रावकों पहिले द्वार में नवकार का जप कर जाना ॥१॥ दूसरा नवकार जपे पीछे 'मैं श्रावक हूँ' स्मरण करना ॥२॥ तीसरे अणुव्रतादिक हमारे कितने हैं ॥३॥ चौथे द्वारे चार वर्ग में अग्रगामी मोक्ष है, उसका कारण ज्ञानादिक है सो योग, उसका सब अतीचार निर्मल करने से छः आवश्यक कारण सो भी उपचार से योग कहाता है, सो योग कहेंगे ॥४॥ पांचवें चैत्यवन्दन अर्थात् मूर्त्ति को नमस्कार द्रव्य-भाव पूजा कहेंगे ॥५॥ छःठा प्रत्याख्यान द्वार नवकारसीप्रमुख विधिपूर्वक कहूँगा इत्यादि ॥६॥

और इसी ग्रन्थ से आगे-आगे बहुत-सी विधि लिखी हैं। अर्थात् संध्या के भोजन समय में

सहित पुराण, भागवत, रामायण, महाभारत, वैशेषिकादिदर्शन, पातञ्जल व्याकरण, गणित आदि। इस प्रकार मिथ्याशास्त्रों के अनेक नाम बताए हैं। विचारना यह है कि अन्यों के शास्त्रों को मिथ्या बतलाते हुए तो उनकी व्याकरण और गणित (जिनका मिथ्या और सत्य क्या बतलाना, यह तो भाषा और गणना के केवल नियम बतलानेवाले ग्रन्थ हैं),तक को मिथ्या कहने में सर्वज्ञों ने संकोच नहीं किया। और अपनी साधारण गणित में—सही-सही बताने में भी अनेक स्थलों में असमर्थ रह गये। इन शास्त्रों में अनेक स्थानों में गणित की गलतियाँ देखने में आ रही हैं। प्रत्येक जगह जहाँ जैनशास्त्रों में किसी वस्तु का आकार गोल बतलाकर उसका व्यास बताया है और फिर उस व्यास की परिधि बताई है, वे सब-की-सब परिधियाँ असत्य और गलत हैं" (पृष्ठ ८५-८६)। अपनी अशुद्ध, असत्य बात की रक्षा करने के लिए दूसरों की सत्य बात को मिथ्या कहने में परमतासहिष्णुता ही कारण हुआ है और उसका कारण द्वेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस द्वेषानल से दग्ध होकर वैदिकों के गणित जैसे विषय को, जिसकी यथार्थता अब तक अक्षुण्ण चली आ रही है, मिथ्या कहने का दुस्साहस करने में संकोच नहीं किया।

एगो आगुरु०—अह० में 'आगुरु' के स्थान में 'सुगुरु' 'सावगो' के स्थान में 'सावगा' 'विवहाणि' के स्थान में 'विविहाणि' 'तच्छ' के स्थान में 'तत्थ' पाठ है।

शब्दार्थ—(एगो आ) एक ही (गुरु) गुरु (एगो वि) एक ही (सावगो) श्रावक हैं (चेदअणि) चैत्य=मूर्त्ति मन्दिर (विवहाणि) विविध हैं, (तच्छ) तो (यजं) जो (जिणदव्वं) जिनकी पूजा का द्रव्य है (तं) उसको परस्पर (न विच्चन्ति) नहीं बेचते हैं।

जिनबिम्ब अर्थात् तीर्थङ्करों की मूर्त्ति पूजना', और द्वार पूजना। और द्वारपूजा में बड़े-बड़े बखेड़े हैं। मन्दिर बनाने के नियम, पुराने मन्दिरों को बनवाने और सुधारने से मुक्ति हो जाती है।[२] मन्दिर में इस प्रकार जाकर बैठे,[३] बड़े भाव प्रीति से पूजा करे। 'नमो जिनेन्द्रेभ्य:' इत्यादि मन्त्रों से स्नानादि कराना[४]। और 'जलचन्दनपुष्पधूपदीपनै:' इत्यादि से गन्धादि चढ़ावे।

[मूर्त्ति-पूजा द्वारा तथा कथित असम्भव फलों की प्राप्ति]

रत्नसार भाग १ के १२वें पृष्ठ में मूर्त्तिपूजा का फल यह लिखा है कि—'पुजारी को राजा वा प्रजा कोई भी न रोक सके।'

समीक्षक—ये बातें सब कपोलकल्पित हैं। क्योंकि बहुत से जैन पुजारियों को राजादि रोकते हैं।

रत्नसार भाग १ पृष्ठ ३ में लिखा है—'मूर्त्तिपूजा से रोग पीड़ा और महादोष छूट जाते हैं। एक किसी ने ५ कौड़ी का फूल चढ़ाया। उसने १८ देश का राज पाया। उसका नाम कुमारपाल[५] हुआ था, इत्यादि।'

समीक्षक—सब बातें झूँठी और मूर्खों को लुभाने की हैं। क्योंकि अनेक जैनी लोग पूजा करते-करते रोगी रहते हैं। और एक बीघे का भी राज्य पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा से नहीं मिलता। और जो पाँच कौड़ी का फूल चढ़ाने से राज मिले, तो पाँच-पाँच कौड़ी के फूल चढ़ाके सब भूगोल का राज क्यों नहीं कर लेते? और राजदण्ड क्यों भोगते हैं? और जो मूर्त्तिपूजा करके भवसागर से तर जाते हो, तो ज्ञान सम्यग्दर्शन और चारित्र क्यों करते हो?

रत्नसार, भाग १ पृष्ठ १३ में लिखा है कि—'गोतम के अंगूठे में अमृत, और उसके स्मरण से मनवांछित फल पाता है।'

समीक्षक—जो ऐसा हो, तो सब जैनी लोग अमर हो जाने चाहियें, सो नहीं होते। इससे यह इनकी केवल मूर्खों के बहकाने की बात है। दूसरा इसमें कुछ भी तत्त्व नहीं।

तारापन्थ और मूर्त्तिपूजा—तारापन्थ जैनियों का मूर्त्तिपूजाविरोधी सम्प्रदाय है। श्री चम्पालाल जैन ने स्वरचित 'तारापन्थ-समर्थन' नामक पुस्तक में 'अनावश्यक दिगम्बर जैन मूर्त्तिपूजा' शीर्षक के अन्तर्गत मूर्तिपूजकों से १३६ प्रश्न किये हैं, जिन्हें हम यहाँ अविकल रूप में दे रहे हैं—

१. गुण वन्दनीय हैं या प्रकार? यदि गुण वन्दनीय हैं तो प्रतिमा की, जो गुणरहित है, वन्दना क्यों करते हो? जो आकार वन्दनीय है तो फिर 'गुणा: पूजास्थानम्' यह वाक्य असत्य सिद्ध होता है। गुणों की वन्दना करनेवाले के लिए मूर्त्ति की कोई ज़रूरत नहीं है। यदि ज़रूरत है तो वह गुणों का पुजारी नहीं है, सिर्फ आकार का या जड़ का ही पुजारी कहा जावेगा।

२. पाषाणादि के कल्पित देव बड़े हैं या तीर्थङ्करों के गुण बड़े हैं। जो तीर्थङ्करों के गुण बड़े हैं तो वे गुण तो कल्पित मूर्ति में हैं नहीं फिर गुण-हीन की वन्दना करना मिथ्यात्त्व है या नहीं।

३. आप मूर्ति में कौन-सी अवस्था की कल्पना करके उसका पूजन वन्दन करते हैं, अरहन्त या सिद्ध, या गृहस्थ।

---

१. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ १।
२. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ २०।
३. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ २४।
४. श्रा० दि० कृ०, पृष्ठ ५-६।
५. कुमारपाल (विक्रम की १३वीं शती के आरम्भ में) गुजरात और उसके आसपास के थोड़े से भाग का राजा था। उसे १८ देश का राजा कहना मिथ्या है।

४. आप प्रतिमा वन्दन के अवसर पर किसे नमस्कार करते हैं ? जो प्रतिमा को नमस्कार करते हो तो उस समय वीतराग-वन्दन नहीं होता है, और वीतराग को वन्दन करते हो तो सामने प्रतिमा को वन्दन नहीं होता। क्योंकि वीतराग और प्रतिमा ये दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं।

५. तीर्थङ्करों के नाम से पाषाणमूर्त्ति स्थापित करते हो तो यह बताओ कि तीर्थङ्करों के समस्त अतिशय और गुण लक्षण सहित स्थापना करते हो, या अतिशयादि को छोड़कर कोरे तीर्थङ्कर भगवान् की स्थापना करते हो।

६. आपकी दि० जैन मूर्त्तिपूजा में कितनी बातें कल्पित तथा असत्य व कितनी बातें सत्य हैं ?

७. आपने चार निक्षेप में से स्थापना को तो ग्रहण करके मूर्त्ति-पूजा का प्रचार किया, किन्तु भावनिक्षेप को क्यों छोड़ दिया ? यदि नहीं छोड़ा है तो दोनों एक साथ एक ही वस्तु में कैसे व्यवहृत होंगे ?

८. दि० जैन मूर्त्तियों में जो चिह्न होते हैं, उनका क्या मतलब है, क्या मूर्त्ति की पूजा होते समय वे चिह्न भी पुजते हैं, यदि नहीं तो क्यों ? चिह्न तथा मूर्त्ति में कितना अन्तर है ? इसके लिये श्री महावीर स्वामी की आज्ञा क्या है ?

९. मूर्त्ति में पूजन के समय कौन-सा निक्षेप तथा पूजन के बाद कौन-सा निक्षेप रहता है ?

१०. दिगम्बर मुनियों को मूर्त्तिवन्दन करना चाहिये या नहीं ? यदि दि० मुनि मूर्त्ति को वन्दन करते हैं तो फिर मूर्त्ति का दर्जा मुनियों से बड़ा हुआ। फिर मुनियों द्वारा पूज्य इस मूर्त्ति का णमोकार मन्त्र या चत्तारि-दण्डक में नाम क्यों नहीं ?

११. श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्त्ति जो फणसहित होती है, वह किस अवस्था की है, अरहन्तावस्था या छद्मस्थावस्था की ? यदि अरहन्तावस्था की है तो उस पर फण क्यों ? क्या अरहन्त के सिर पर फण होना उचित है ? तथा पार्श्वनाथ के पूजन के समय उसकी भी पूजन होती है या नहीं ?

१२. हमारे दि० जैन मूर्त्ति-पूजक भाई अपनी मूर्त्ति-पूजा की प्राचीनता को पद्म-पुराण, हरिवंश पुराण, उत्तरपुराणादि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध करते हैं किन्तु उक्त प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में पूर्वापरविरोध भरा है। एक पद्मपुराण सीता जी को जनक की पुत्री और दूसरा उत्तरपुराण उन्हीं सीता जी को रावण की पुत्री कहता है। आदि-आदि ऐसी अनेक बातें परस्पर विरोध रूप से सिद्ध हैं। तब ऐसे परस्परविरोधी ग्रन्थों के आधार को कैसे प्रमाण माना जावे ?

जो ग्रन्थ अपने चरित्रनायकों के विषय में मतभेद रखते हैं, वे ग्रन्थ मूर्त्ति-पूजा सरीखे बाह्य विषय पर कहाँ तक अपना प्रामाणिकपना दे सकते हैं। आप पद्मपुराण को प्रमाण मानते हैं या उत्तर पुराण को; या दोनों को ?

१३. अकृत्रिम चैत्यालयों में कौन-से तीर्थङ्कर की प्रतिमा है, अकृत्रिम चैत्यालयों की प्रतिमाओं की पूजन कितने द्रव्यों के कौन-से द्वारा होती है ? उक्त० चै० प्रतिमाओं में चिह्न हैं या नहीं, नहीं तो क्यों ? हैं तो किस प्रतिमा के किस चीज का चिह्न है ?

१४. अकृत्रिम चैत्यालयों में जो प्रतिमाएँ हैं, वे तीर्थङ्करों की हैं या किनकी ? तथा वे प्रतिष्ठित हैं या अप्रतिष्ठित ?

१५ प्रतिमापूजन करनेवाला सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ?

१६. स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देवों के विमानों की प्रतिमाओं का पूजन कौन करता है ?

१७. अकृत्रिम चै० में प्रतिमाओं की पूजन प्रतिदिन होती है या कभी-कभी ?

१८. तीर्थङ्कर अपनी गृहस्थावस्था में प्रतिमापूजन करते थे या नहीं ? नहीं तो क्यों ? हाँ, तो प्रमाण दो।

१९. मुनियों को प्रतिमापूजन करना चाहिये या नहीं ?

२०. प्रतिमापूजन करने का अधिकार किन-किन को है तथा किनको नहीं है ?

२१. पाँचों पापों का करनेवाला प्रतिमापूजन कर सकता है या नहीं ?

२२. सप्त व्यवसन का सेवन करनेवाला भी प्रतिमापूजन कर सकता है या नहीं ?

२३. जैसे श्रीपाल राजा का कुष्ठ गन्धोदक लगाने से मैना सुन्दरी ने ठीक किया, क्या यह बात सत्य है। यदि सत्य है तो आजकल के कुष्ठ रोग वालों को गन्धोदक देकर हमारे मूर्त्ति-पूजक भाई उपकार करके उनकी रक्षा क्यों नहीं करते ?

२४. प्रतिमा में कितने अतिशय होने चाहिये ? उनके नाम बतावें ?

२५. आजकल अतिशययुक्त प्रतिमाएँ कितनी हैं तथा उनका चमत्कार क्या है ?

२६. दीपावली को निर्वाण लाडू क्यों चढ़ाया जाता है ? क्या महावीर स्वामी कह गये थे ?

२७. किसी वर की इच्छा से पूजन विधान करना कौन-सी मूढ़ता है ?

२८. जंगल, खेत, बगीचादि कई स्थानों की गढ़ी हुई मूर्त्तियाँ क्या स्वप्न देकर निकल सकती हैं ?

२९. मूर्त्ति-पूजन करना लोकव्यवहार की रूढ़िमात्र है या धर्म ? यदि धर्म है तो दशधर्मों में कौन-सा है ?

३०. पंचामृताभिषेक क्यों किया जाता है ? उसके करनेवालों को क्या फल मिलेगा ?

३१. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की कौन-कौन-सी क्रियाएँ हैं ? उनमें सत्य कितनी तथा असत्य कितनी हैं ? नाम सहित गिनाइये।

३२. खारे कुँवाँ के खारे पानी में क्षीर सागर के जल की कल्पना करके चढ़ाना पुण्य है या पाप ?

३३. खोपड़ा की एक चिटक में नाना प्रकार के व्यंजनों की कल्पना करके चढ़ाने में झूठ का पाप लगेगा या पूजन का पुण्य ?

३४. सत्य भाषण करना बड़ा या मूर्त्ति के भगवान् की पूजा करना बड़ा ? आपकी मूर्त्ति-पूजन में पुजारी को सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है या असत्य का ?

३५. यदि सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है तो कुँए के पानी में क्षीर सागर का जल, चिटकों में घेवर बाबर कहकर चढ़ाना उसका यह सत्य व्यवहार है या असत्य ?

३६. पूजन में भावनिक्षेप की जरूरत है या नहीं ? यदि है तो आप एक दो भावनिक्षेपवाली पूजन, जो रोज होती हो, बताइये।

३७. क्या आपके यहाँ पूजन में शासन देवताओं का भी आह्वानन स्थापनादि होता है ?

३८. विसर्जन में जो "लब्धभागा यथाक्रमम्" है, उसका क्या मतलब है ?

३९. आपके यहाँ प्रतिमा के समक्ष प्रतिदिन कितनी पूजनें होती हैं ? उनका फल अलग-अलग है या एक सा ?

४०. जब आपके यहाँ प्रतिमापूजन में सभी कल्पित बातें मानी जाती हैं, फिर रेवती रानी ने कल्पित महावीर के उस कल्पित समवशरण में क्यों नहीं जाकर वहाँ के परीक्षार्थी क्षुल्लक को नमस्कार किया। उस समवशरण में जैनधर्म के विरुद्ध क्या बात थी ?

४१. रेवती रानी प्रतिमापूजन करती थी या नहीं ? यदि करती थी तो कल्पित मूर्त्ति और कल्पित समवशरण में उसने क्या भेद समझकर समवशरण में जाना अस्वीकार किया ?

४२. समन्तभद्र स्वामी ने जो शिवपिण्डी में से चन्द्रप्रभ जी की मूर्त्ति निकाली थी, वह आजकल कहाँ है।

४३. प्रतिमा से कौन-कौन से गुणों का लाभ होता है, वे गुण आत्मीय हैं या पौद्गलिक।

४४. अछूत लोग दि० जैन मन्दिर में जाकर वहाँ की मूर्त्ति का अभिषेक पूजनादि कर सकते हैं या नहीं, यदि नहीं तो क्यों ? क्या मूर्त्ति के कल्पित अरहन्तों पर किसी का अधिकार भी रहता है ?

४५. दि० जैन मन्दिरों में जो क्षेत्रपालादि की मूर्त्तियाँ द्वार पर रहती हैं, उनका क्या प्रयोजन तथा उन पर सेन्दूर वगैरह लगाने का क्या कारण है, क्या उनकी भी पूजन होती है ?

४६. खण्डित मूर्त्ति पूज्य है या अपूज्य ? यदि अपूज्य है तो क्यों ?

४७. वह कौनसी बात है, जिसकी पूर्ति जिनवाणी से न होकर मूर्त्ति द्वारा होती है ? विस्तार से ठीक-ठीक समझाइये।

४८. जब कि सब जिनेन्द्र एक से हैं फिर उनकी मूर्त्ति और मन्दिरों में भेद क्यों ? यदि नहीं तो मूल-नायक की मुख्यता और अन्य मूर्त्तियों की गौणता क्यों की जाती है ?

"मूलनायक" की व्याख्या आप क्या करते हैं ?

४९. आजकल के अतिशय क्षेत्रों में आप कौन से अतिशय क्षेत्र का क्या-क्या चमत्कार का साक्षात्कार करा सकते हैं ?

५०. आपके यहाँ नौकरी से पूजा करनेवाला पुजारी जैन ही होता है या अजैन भी ?

५१. नौकरी से पूजा करनेवाले को पूजन का क्या फल मिलेगा, खाली वेतन या मरने पर स्वर्ग भी ?

५२. क्या तीर्थङ्करों की "दिव्य-ध्वनि" द्वारा "मूर्त्ति-पूजा" का उपदेश हुआ है ?

५३ दि० जैन मूर्त्तिपूजा का जैनसिद्धान्त के अनुसार मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है ?

५४. दि० जैन मूर्त्ति की पूजा करते समय जो आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण तथा विसर्जनादि क्रियाएँ की जाती हैं, इनका पूज्य के प्रति कितना व कौनसा सम्बन्ध कब तक के लिये क्यों किया जाता है तथा उक्त क्रियाएँ अपने-अपने नाम के अनुसार क्या वास्तविक अर्थ रखती हैं, या कल्पनामात्र हैं ?

५५. जैन सिद्धान्त के अनुसार जब कि मोक्ष गया हुआ जीव वापिस संसार में नहीं आता फिर आह्वाननादि क्रियाओं के द्वारा किसको बुलाया जाता है, किसका स्थापन किया जाता है व किसका सन्निधिकरण, विसर्जन किया जाता है ?

५६. दिगम्बर जैन मूर्त्तियों के समक्ष रहते हुये, फिर आह्वाननादि की क्या आवश्यकता है ? यदि मूर्त्ति के सामने रहते हुए फिर भी आह्वाननादि करने की जरूरत है तो फिर मूर्त्ति की क्या आवश्यकता है, कहीं भी आह्वाननादि होकर पूजन हो सकती है ?

५७. आह्वाननादि क्रियाओं के द्वारा क्या मुक्त जीव या अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु आदि पुजारी की आज्ञानुसार पूजन के समय उपस्थित हो जाते हैं, तथा विसर्जन के समय क्या चले भी जाते हैं ? यदि उक्त पूज्य पुरुषों का आगमन नहीं होता तो फिर आह्वाननादि क्रियाएँ क्या झूठी नहीं हैं ?

५८. कल्पित मूर्त्ति के सामने कल्पित इन्द्र-पुजारी बनकर कल्पित आह्वाननादि करके, कल्पित द्रव्यों से, कल्पित पूजा करके पजा करनेवाले को कल्पित स्वर्ग मोक्ष मिलेंगे या वास्तविक ?

५९. दि० जैन मूर्त्तियों की पूजा जैसे प्रायः भाड़े से ही होती है, क्या मोक्ष भी भाड़े से (किराये पर) मिल सकेगा, यदि नहीं तो ये भाड़े के पुजारी द्वारा कराई गई भाड़े की पूजा कहाँ तक व किसको मोक्षफल दे देगी ?

६०. पूजन के बाद विसर्जन क्रिया हो जाने पर फिर दि० जैन मूर्त्ति को आप पूज्य मानते हैं या नहीं ? यदि फिर भी वह पूज्य है तो पूजन के समय विना आह्वानन के पूजा क्यों नहीं की जाती ?

६१. आह्वाननादि करके पूज्य का विसर्जन कर देना क्या यह उनका अपमान नहीं है ?

६२. यह सब उक्त पूजन की कल्पित क्रियाएँ छद्मस्थों द्वारा चलाई गई हैं या केवलियों द्वारा ?

६३. क्या मूर्त्ति के सामने जल चढ़ा देने से जन्म, जरा, मृत्यु का विनाश हो सकता है ?

६४. क्या मूर्त्ति के सामने चन्दन चढ़ा देने से संसारताप का विनाश हो सकता है ?

६५. क्या मूर्त्ति के सामने चावलों के अक्षत चढ़ा देने से अक्षय पद मिल सकता है ?

६६. क्या मूर्त्ति के सामने पुष्प चढ़ा देने से कामवाणों का नाश हो सकता है ?

६७. क्या मूर्त्ति के सामने नैवेद्य चढ़ा देने से क्षुधारोग का विनाश हो सकता है ?

६८. क्या मूर्त्ति के सामने दीप चढ़ा देने से मोहरूपी अन्धकार का नाश हो सकता है ?

६९. क्या मूर्त्ति के समक्ष धूप चढ़ाने से अष्ट कर्मों का नाश हो सकता है ?

७०. क्या मूर्त्ति के सामने फल चढ़ाने से मोक्षफल की प्राप्ति हो सकती है ?

७१. क्या मूर्त्ति के सामने अर्घ्य चढ़ाने से अनर्घ्यपद की प्राप्ति हो सकती है ?

७२. उक्त आठ द्रव्यों के चढ़ाने से जब मोक्षमार्गसम्बन्धी आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं फिर अष्ट कर्मों का विनाश करने के लिये जिनेन्द्र ने तप, त्याग आदि तथा मुनिमार्ग आदि का निर्देश क्यों किया ?

७३. मोक्षमार्ग की पूर्ण सिद्धि मूर्त्तिपूजा से होते हुए भी मुनि-दीक्षा आदि लेकर तप करना क्या भूल नहीं है ? जबकि मूर्त्तिपूजा ही गृहस्थावस्था में मात्र आठ द्रव्य के बदले घर बैठे मोक्ष दे देती है ?

७४. मूर्त्ति के सामने चढ़ाया हुआ द्रव्य निर्माल्य समझा जाता है तथा उसको खानेवाला नरक निगोद का पात्र समझा जाता है, फिर भारतवर्ष के दि० जैन मूर्त्तिपूजक मन्दिरों में निर्माल्यद्रव्य देकर ही मालियों को नौकर रखा जाता है, उनको यह द्रव्य खिलाई जाती है, यह पाप मूर्त्तिपूजा करनेवालों को लगता है या मालियों को ? नरक निगोद का पात्र वह निर्माल्य खानेवाला माली है या खिलानेवाले जैनी हैं, या दोनों हैं ? इसका ज़रा खूब खुलासा कीजिये।

७५. माली जब अपने से बचा हुआ निर्माल्य द्रव्य बेचने के लिये बाजार में लाता है तब मांसभक्षी लोग उस माली से वेअरहन्त मूर्त्ति के सामने चढ़े हुए केशरिया चावलादि खरीद कर ले जाते हैं और उन्हें मांस के साथ पकाकर खाते हैं, बतलाइये यह पाप माली को, या भगवान् को, या मूर्त्ति को, या जैनियों को, या किसको, या सबको लगता है ? और इस प्रकार आप स्वयं निर्माल्य-भक्षण से बचकर दूसरों को खिलाकर क्या हमारे मूर्त्ति-पूजक भाई अहिंसाधर्म के पालक कहे जा सकते हैं ?

७६. कहीं-कहीं माली लोग चढ़ी हुई द्रव्य कठरया (किराने के दुकानदारों) को बेच देते हैं और उनसे वह निर्माल्य द्रव्य जेनी लोग खरीद कर फिर से पूजन में व खुद के इस्तेमाल में लाते हैं, तो क्या इसका दोष मूर्त्तिपूजकों को नहीं लगता है ?

७७. मूर्त्ति और उसकी पूजन का यह कपोलकल्पित मार्ग यदि जिनेन्द्र के द्वारा प्रणीत होता तो इतनी भूलें इसमें नहीं होतीं। मत्तिपूजा में प्रारम्भ से ही असत्य कल्पनाओं से काम लिया जाता है

और अन्त तक सत्य का नाम नहीं, तो क्या ऐसे असत्यमार्ग के उपदेष्टा जिनेन्द्रदेव हो सकते हैं ? यह छद्मस्थों द्वारा स्वार्थवश चलाया हुआ कपोल-कल्पित मार्ग क्योंकर उपादेय हो सकता है ?

७८. चौबीस तीर्थङ्कर परस्पर एक दूसरे से नहीं मिल सकते, ऐसा उनका नियोग है फिर उनकी चौबीस मूर्त्तियों को साक्षात् अरहन्त तीर्थङ्कर कहते हुए भी एक ही जगह परस्पर मिलाकर रख देना उक्त नियोग को भंग करके जैन सिद्धान्त को झूठा बनाना है या नहः ?

७६. मूर्त्ति को अरहन्त कहकर उसका अरहान्तावस्था में अभिषेक करना क्या जिनेन्द्राज्ञा है या मनमानी ?

८०. तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे चौथे अध्याय में श्री उमास्वामी ने तीन लोक का समस्त भूगोल बता दिया है किन्तु अकृत्रिम चैत्यालयों के सम्बन्ध में एक भी सूत्र बनाने का कष्ट नहीं किया सो क्यों ? क्या अकृत्रिम चैत्यालय नहीं हैं, यदि हैं तो भरतक्षेत्र में भी कहीं पर हैं, या भरतक्षेत्र के सब बाहर ही हैं ?

८१. कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने अपने अष्टपाहुड़ में मूर्त्ति, प्रतिमा, प्रतिबिम्ब का क्या स्वरूप कहा है और वह किनके लिये पूज्य हैं ?

८२. समन्तभद्र आदि आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहते हुए श्रावक के कर्त्तव्यों में मूर्त्ति-पूजा क्यों नहीं बतलाई ?

८३. पं० जुगलकिशोर जी ने जो मेरी द्रव्य-पूजा नाम की पुस्तक बनाई है, वह क्या मुनियों को पाठ करने के लिये या श्रावक को अमल में लाने के लिये ?

८४. श्रावक के कुल बारह व्रत होते हैं, उनमें मूर्त्तिपूजा कौनसा व्रत है या किस व्रत में गर्भित है ?

८५. मूर्त्तिपूजा किसके लिये किसने निर्दिष्ट की है ?

८६. क्या मूर्त्ति में पसीना आना सत्य बात है, यदि नहीं तो अभी खुरई में देवगढ़ के रथों के समय एक मूर्त्ति को पसीना आने की पूजकों द्वारा अफ़वाह क्यों उड़ाई गई थी ? अठारह दोषों में पसेव दोष है या नहीं ?

८७. पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में जो मूर्त्ति के अन्दर पाँचों कल्याणकों की कल्पना करके प्रतिष्ठा की जाती है और मूर्त्ति को आहारादि की चर्या कराई जाती है तो क्या यह सब जिनेन्द्र की आज्ञानुसार ही होता है ?

८८. क्या नक्शे के नदी तालाब आदि में नाव चल सकती है या कागज के फूलों से खुशबू आ सकती है ? यदि उक्त कागज के फूल खुशबू दे दें तब तो मूर्त्ति भी मोक्षमार्ग दे सकती है अन्यथा नहीं।

८६. जिनेन्द्र देव ने व्यवहार और निश्चय यह दो नय बताये हैं। निश्चय तो निश्चय ही है किन्तु व्यवहार भी निश्चय का अनुगामी सत्यार्थ है, यह नहीं हो सकता कि निश्चय तो मोक्ष-मार्ग (साक्षात्) देवे व व्यवहार उससे एकदम उल्टा असत्य का व कल्पना का पाठ पढ़ाकर धोखे में डाले। झूठा व्यवहार निश्चय के पास तक पहुँचाने में क्या समर्थ हो सकता है ?

६०. सिद्धक्षेत्रों पर, पहाड़ों के ऊपर चरण-पादुका तथा यहाँ मन्दिरों में मूर्त्ति रखी जाती है, तो ऐसा क्यों किया जाता है जबकि मूल-स्थान सिद्धक्षेत्र की टोंकों पर ही मूर्त्ति नहीं रखी जाती, फिर मन्दिरों में चरणपादुका न रखकर मूर्त्ति क्यों रखी जाती है ? सिद्धक्षेत्रों पर चरणपादुका तथा मन्दिरों में मूर्त्ति रखने की क्या यह जिनेन्द्राज्ञा है ?

९१. सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है, उसका मूर्त्ति से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है ? यदि सम्बन्ध है तो नरकों में कौन-से तीर्थंकर की मूर्त्ति को देखकर नारकी जीव सम्यक्त्व लाभ करता है, यदि नरक में विना मूर्त्ति के सम्यक्त्व हो जाता है तो फिर यहाँ पर भी मूर्त्ति अनावश्यक ही है।

९२. वर्तमान संसार के मूर्त्ति-पूजक दि० जैन मूर्त्ति की पूजा से कितना व कौन-सा लाभ उठा रहे हैं ?

९३. यदि मूर्त्ति के देखने से वैराग्य होता है तथा वह इतने से कारण से ही पूज्य मानी जाती है तो अभ्रपटल, उल्कापात, श्मशानभूमि आदि क्यों न पूज्य माने जावें, जिनसे मूर्त्ति से कई गुना वैराग्य तीर्थङ्करों तक को होता है ?

९४. क्या किसी तीर्थङ्कर को मूर्त्ति के देखने से वैराग्य हुआ है ?

९५. यह दि० जैन मूर्त्ति-पूजा कब से, किसके द्वारा व क्यों प्रचलित हुई है ?

९६. मूर्त्ति-पूजा से पुण्य मिलता है या मोक्ष, यदि मात्र पुण्य ही मिलता है तो फिर द्रव्य चढ़ाते समय मोक्षसम्बन्धी सिद्धियाँ माँगकर पूजन क्यों की जाती है ? पुण्य क्यों नहीं माँगते ?

९७. मूर्त्ति-पूजन का सम्बन्ध पूज्य से है, या पूजक से ? या दोनों से ?

९८. मूर्त्ति-पूजक दि० जैन समाज की ओर से यह कहा जाता है कि "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" अर्थात् प्रतिमा-पूजन में थोड़ा पाप होता है किन्तु पुण्य की राशियाँ लग जाती हैं, जब ऐसा है तो क्या ? जिनेन्द्र देव ने लेशमात्र सावद्य क्रिया करके पुण्यराशि को लूटने की आज्ञा अपने मुखारबिन्द से स्वयं ही दी है, तो क्या जिनेन्द्र देव अपने सर्वज्ञपद से पाप क्रिया करने का उपदेश दे सकते हैं ? चाहे वह पापलेश हो या विशाल हो किन्तु जिनेन्द्र देव सावद्य क्रिया का उपदेश कदापि नहीं कर सकते। यदि पाप क्रिया करने का उपदेश जिनेन्द्र स्वयं दे सकते हैं, तो हमारे मूर्त्ति-पूजक भाइयों को यह बात प्रामाणिक ग्रन्थों से सिद्ध करनी चाहिए। तथा यदि जिनेन्द्र देव के वचन बिलकुल निर्दोष ही होते हैं, तो फिर इस "मूर्त्ति-पूजन की वृथा की आज्ञा जिनेन्द्र देव की नहीं है" ऐसा दृढ़ श्रद्धान करके उक्त बन्धु जिनेन्द्र-आज्ञानुसार जैन धर्म का पालन करें, तभी उनका कल्याण हो सकता है।

९९. जो पुण्य और पाप दोनों से विरक्त होगा, वही आत्मकल्याण का वास्तविक मार्ग पा सकेगा, किन्तु इससे उल्टा जो थोड़ा पाप करके बहुत-सी पुण्यराशि लूटने की फिक्र में रहेगा, वह क्या आत्मकल्याण करेगा ? तथा जैन धर्म का तो सिद्धान्त यही है कि पुण्य पाप के चक्कर में नहीं पड़नेवाला सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग का पथिक है, हाँ उदय में आये कर्मफल को उसे भोगना यह बात तो दूसरी ही है। जब प्रारम्भिक सम्यग्दृष्टि पद में ही जिनेन्द्र की शिक्षा है कि सम्यग्दृष्टि वही है जो 'जल में भिन्न कमलवत्' संसार में रहे, जो इस तरह के अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन दीपक के प्रकाश से युक्त होगा, क्या उसे पुण्यराशि लूटने का चाव हो सकता है ? उसे तो यह उपमा देंगे कि—

चक्रवर्ति की सम्पदा इन्द्र सरीखे भोग,
काकवीट सम लखत हैं सम्यग्दृष्टी लोग।

जब ऐसी बात है तो फिर आत्मरस का दीवाना यह सुदृष्टि (पुण्य और पाप को एक निगाह से देखनेवाला) मूर्त्ति-पूजा से प्राप्त होनेवाली पुण्यराशि जो कि— "सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं।" (यह समस्त पुण्य भी भोगों का मूल है) उसे क्योंकर लेने का लोभ करेगा और अपना समय व्यर्थ व्यतीत क्यों करेगा। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि को पुण्य की चाह नहीं, तथा पुण्य चाहनेवाला सम्यग्दृष्टि नहीं। तब मूर्त्ति-पूजा से पुण्यलाभ सिद्ध करके हमारे मूर्त्ति-पूजक भाई पुण्य चाहनेवाले मिथ्यादृष्टियों

[जैन किन पदार्थों से तीर्थङ्करों की पूजा करें ?]

इनकी पूजा करने का श्लोक रत्नसार भाग १ पृष्ठ ५२ में—

'जलचन्दनपुष्पधूपनैरथ दीपाक्षतकैर्नैवेद्यवस्त्रैः ।
उपचारवरैर्वयं जिनेन्द्रान् रुचिरैरद्य मुदा यजामहे ॥

'हम जल चन्दन चावल पुष्प धूप दीप नैवेद्य वस्त्र और अतिश्रेष्ठ उपचारों से जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थङ्करों की पूजा करें ॥'

समीक्षक—इसी से हम कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा जैनियों से चली है ।

[जैनमतानुसार मूर्त्तिपूजा से तथाकथित फल-प्राप्ति]

विवेकसार, पृष्ठ २१—'जिन-मन्दिर में मोह नहीं आता, और भवसागर के पार उतारनेवाला है ।'

विवेकसार, पृष्ठ ५१ से ५२—'मूर्त्तिपूजा से मुक्ति होती है, और जिन-मन्दिर में जाने से सद्-गुण आते हैं । जो जल-चन्दनादि से तीर्थङ्करों की पूजा करे, वह नरक से छूट स्वर्ग को जाय ।'

को ही अपनी मूर्त्ति-पूजा के आडम्बर जाल में फँसा सकते हैं, यह बोझ सम्यग्दृष्टि के सिर पर तो लद ही नहीं सकता । इतने पर भी क्या हमारे मूर्त्ति-पूजक भाई सम्यग्दृष्टि के कर्त्तव्य में मूर्त्ति-पूजा को खींच-तान कर प्रविष्ट कर सकते हैं ?

१००. आजकल जो भारतवर्ष में दि० जैन मूर्त्तियां विद्यमान हैं, क्या वे तदाकार हैं या अतदाकार हैं ? क्या आँख, कान, नाक, हाथ, पैर, आदि बना देने से ही तदाकार मूर्त्ति हो जाती है, या मूर्त्तिमान् के समान ही आकारवाली (हूबहू) मूर्त्ति तदाकार हो सकती है ? क्या हमारे तीर्थङ्कर आजकल की मूर्त्तियों जैसे ही, उस समय थे ?

यदि नहीं तो फिर यह मूर्त्तियां तदाकार कैसे हो सकती हैं ? तथा अतदाकार से फिर तदाकार का ज्ञान भी कैसे हो सकता है ?

१०१. प्रतिमा-पूजन में जो आरम्भ-जनित हिंसादि पाप होते हैं, उनका फल किस प्रकार का (या कौन-सा) मिलता है ? क्या कहीं शास्त्रों में उस पाप के फल के भी भोगने का वर्णन दिया है, या नहीं ?

१०२. खण्डित मूर्त्तियों को आप द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा पूज्य मानकर उनकी पूजा क्यों नहीं करते हैं ?

१०३. द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा क्या संसार के समस्त पाषाण या पहाड़ आदि भी आपके द्वारा पूज्य हो सकते हैं ? क्योंकि सम्भव है इनके परमाणु कभी प्रतिमारूप रहे हों या आगे प्रतिमारूप बन जावें ?

१०४. स्थापनानिक्षेप से जैसे पाषाण आपके द्वारा पूज्य हो सकता है, क्या नामनिक्षेप द्वारा भी उसी प्रकार कोई जीवधारी या पुद्गल पूज्य हो सकता है ? जैसे "जैनेन्द्र देव" नाम का व्यक्ति आपके द्वारा पूज्य है या अपूज्य ? यदि अपूज्य है तो क्यों ? उसकी भी मूर्त्ति के समान ही नामनिक्षेप की अपेक्षा से पूजा कर लेने में आपको कौन-सा पाप लगेगा ? और स्थापनानिक्षेप से एक पाषाण को पूज लेने में कौन-सा पुण्य लगेगा ? ज़रा खूब खुलासा करें ।

१०५. मूर्त्ति में एकसाथ कितने निक्षेपों को मानकर आप उसकी पूजा करते हैं ?

विवेकसार, पृष्ठ ५५—'जिन-मन्दिर में ऋषभदेवादि की मूर्त्तियों के पूजने से धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होती है।'

विवेकसार, पृष्ठ ६१—'जिन-मूर्त्तियों की पूजा करे, तो सब जगत् के क्लेश छूट जायें।'

[फिर जैनी सब फलों की प्राप्ति क्यों नहीं कर लेते ?]

समीक्षक—अब देखो, इनकी अविद्यायुक्त असम्भव बातें। जो इस प्रकार से पापादि बुरे कर्म छूट जाएं; मोह न आवे; भवसागर से पार उतर जायें; सद्‌गुण आ जायें; नरक को छोड़ स्वर्ग में जायें; धर्म अर्थ काम मोक्ष को प्राप्त होवें; और सब क्लेश छूट जायें, तो सब जैनी लोग सुखी और सब पदार्थों की सिद्धि को प्राप्त क्यों नहीं होते ?

इसी विवेकसार के ३ पृष्ठ में लिखा है कि—'जिन्होंने जिनमूर्त्ति का स्थापन किया है, उन्होंने अपनी और अपने कुटुम्ब की जीविका खड़ी की है।'

---

१०६. प्रतिमा-पूजन में आप भावनिक्षेप का भी आह्वान करके उसे वहाँ स्थान देते हैं, या विसर्जन करके बिदा कर देते हैं ? भावनिक्षेप की अपेक्षा मूर्त्ति पूज्य है वा अपूज्य ?

१०७. स्थापनानिक्षेप का मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है ? क्या विना स्थापनानिक्षेप के कोई मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा ?

१०८. स्याद्वाद के सप्तभंगों में से कौन-से भंग द्वारा आप मूर्त्ति-पूजा को जिनेन्द्र-प्रतिपादित सिद्ध कर सकते हैं ?

१०९. सप्तभंगों में से कौन-सी भंग द्वारा आप मूर्त्ति-पूजन में जिनेन्द्र का आह्वान आदि करके बुलाते बिठाते हैं ? आपका मनमाना स्याद्वाद क्या मुक्तजीवों को यहाँ बुलाकर साक्षात्कार करा देने की भी शक्ति रखता है या मनमाना ही है ?

११० आप किस नय की सिद्धि करने के लिये किस नय के द्वारा मूर्त्ति-पूजन करके अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करते हैं ? जिनागम की साक्षी से उसी के अनुकूल बतावें।

१११. यदि मूर्त्ति-पूजन करते समय वहाँ के पंचेन्द्रियों को लुभानेवाले सामान से मूर्त्ति-पूजक का मन लुभा जावे तो उसे कौन-से पाप का बंध होकर कौन-सी गति मिलेगी ?

११२. मूर्त्ति-पूजन में खूब राग रंग की जरूरत है या वीतरागता की ? यदि वीतरागता की जरूरत है, तो फिर पेटी, तबले पर पूजन किसको खुश करने के लिये की जाती है ? इसमें भी पुण्य है या पाप ?

११३. अपने मनोनीत वीतरागियों के सामने रागयुक्त क्रियायें करना उन वीतरागियों की अवज्ञा है या उनका ही आज्ञापालन ?

११४. भक्त, भक्तिरस में कौन-कौन से कार्य अपने भगवान् के प्रति करने का अधिकारी है ? या मनमानी भी करके भक्त कहा जा सकता है ?

११५. समवशरण आदि के माड़नों के धुले हुवे चावलादि जब तक माड़ने का विसर्जन न हो तब तक क्या प्रासुक ही रहते हैं ? कौन-कौन से माड़नों को कितने-कितने दिन रखा जाता है ?

११६. पंच कल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ आदि में "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" के अनुसार पाप अधिक होता है ? या पुण्य, या बराबर-बराबर ?

११७. आपकी दि० जैन सम्प्रदाय की मूर्त्ति-पूजनसम्बन्धी कौन-कौन-सी व कितनी क्रियाएँ

[मूर्त्तिपूजा सब मतों की व्यर्थ है]

विवेकसार, पृष्ठ २२५—'शिव विष्णु आदि की मूर्त्तियों की पूजा करनी बहुत बुरी है, अर्थात् नरक का साधन है।'

समीक्षक—भला जब शिवादि की मूर्त्तियाँ नरक के साधन हैं, तो जैनियों की मूर्त्तियाँ क्या वैसी नहीं ? जो कहें कि हमारी मूर्त्तियाँ त्यागी शान्त और शुभमुद्रायुक्त हैं, इसलिये अच्छी हैं। और शिवादि की मूर्त्ति वैसी नहीं, इसलिये बुरी हैं। तो इनसे कहना चाहिए कि तुम्हारी मूर्त्तियाँ तो लाखों रुपयों के मन्दिर में रहती हैं, और चन्दन केशरादि चढ़ता है, पुनः त्यागी कैसी ? और शिवादि की मूर्त्तियाँ तो विना छाया के भी रहती हैं, वे त्यागी क्यों नहीं ? और जो शान्त कहो, तो जड़ पदार्थ सब निश्चल होने से शान्त हैं। सब मतों की मूर्त्तिपूजा व्यर्थ है।

हिन्दू सम्प्रदाय आदि की मूर्त्ति-पूजन से मिलती-जुलती है ?

यदि अधिकांश क्रियाएँ समान हैं तो फिर बताइये आपने उनकी नकल करके अपनी मूर्त्ति-पूजा कायम की, या उन्होंने आपकी नकल करके अपनी मूर्त्ति-पूजा कायम की ?

११८. स्वामी दयानन्दजी के सत्यार्थप्रकाश में जो यह निम्नलिखित प्रश्नोत्तर लिखे हैं, क्या ये सत्य हैं या झूठ ?

प्रश्न—मूर्त्ति-पूजा कहाँ से चली ?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहाँ से चलाई ?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

आदि-आदि। यदि यह उक्त प्रश्नों के उत्तर झूठ हैं तो फिर आपने सत्यार्थप्रकाश को माननेवालों के सामने उनको निरुत्तर करनेवाला कौन-सा प्रमाण पेश किया ?

११९. जिस चीज़ को श्रावक छूने में भी आगम के अनुसार पाप समझता है, उन चीजों का पूजनादि में उपयोग करना क्या मोक्षमार्ग है ? जैसे गोरोचन कस्तूरी आदि।

१२० यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रपाल, देवी, देवता, नवग्रह आदि की पूजन करना क्या जैनसिद्धान्त के अनुकूल है ?

१२१. मूर्त्ति में आह्वान करने पर जब देव आ जाते हैं और उनकी पूजनादि करने से आपको वह स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता है तथा आप इन्द्र तक भी बन जाते हैं, जिसके आनन्द का पारावार नहीं, तब कुछ समय के बाद ही, भगवान् का अपने हाथों विसर्जन करके आप उस आनन्द से क्यों हाथ धो बैठते हैं ? मेरी समझ से ऐसे आनन्द को छोड़कर फिर संसार में संसारियों जैसी हाय-हाय करना वैसा ही होगा, कि जैसे कोई चिन्तामणि रत्न को पाकर उसे अपने हाथों समुद्र में फेंक दे। यदि चिन्तामणि को समुद्र में फेंक देना फेंक देनेवाले की भूल या अज्ञान है तो फिर उपर्युक्त पूजन को प्रारम्भ करके इन्द्र बनकर फिर संसारी बन जानेवालों की क्या बुद्धिमानी है ?

१२२. जबकि आप प्रतिमा को देव कहकर पूजते हैं और उससे वीतरागता मिलती है, ऐसा भी आप मानते हैं, फिर आप एक गुण वीतरागत्व की मूर्त्ति में घटाकर केवल एक ही गुण से देव मान बैठे, यह कैसा अन्धेर है ! जबकि आप्त का स्वरूप वीतरागीपने के साथ सर्वज्ञत्व और हितोपदेशीपना भी है। तो क्या प्रतिमा में सर्वज्ञत्व और हितोपदेशी-पन भी पाया जाता है ? यदि नहीं तो फिर यह शास्त्र-विरुद्ध

[मूर्त्तियों की पूजा से जड़ता आती है]

प्रश्न—हमारी मूर्त्तियाँ वस्त्र-आभूषणादि धारण नहीं करतीं। इसलिये अच्छी हैं।

उत्तर—सबके सामने नङ्गी मूर्त्तियों का रहना और रखना पशुवत् लीला है।

प्रश्न—जैसे स्त्री का चित्र वा मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे साधु और योगियों की मूर्त्तियों को देखने से शुभ गुण प्राप्त होते हैं।

उत्तर—जो पाषाण मूर्त्तियों के देखने से शुभ परिणाम मानते हो, तो उनके जड़त्वादि गुण भी तुह्मारे में आ जायेंगे। जब जड़बुद्धि होगे, तो सर्वथा नष्ट हो जाओगे। दूसरे—जो उत्तम विद्वान् हैं, उनके सङ्ग-सेवा से छूटने से मूढ़ता भी अधिक होगी। और जो-जो दोष ग्यारहवें समुल्लास में लिखे हैं, वे सब पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा करनेवालों को लगते हैं। इसलिये जैसा जैनियों ने मूर्त्तिपूजा में झूंठा कोलाहल चलाया है, वैसे इनके मन्त्रों में भी बहुत-सी असम्भव बातें लिखी हैं।

बात क्यों की जाती है। जैन शासन के अनुसार देव वही हो सकता है, जो वीतरागी, हितोपदेशी, और सर्वज्ञ हो। इन तीन गुणों में से एक भी कम हो, वह आप्त नहीं कहला सकता है, फिर मूर्त्ति में यह उक्त तीन गुण नहीं हैं, तो वह "देव" कैसे कहला सकती है?

१२३. मूर्त्ति-पूजन करते समय किन कर्मों का आस्रव, बंध होता है? तथा किन-किन कर्मों की निर्जरा होती है?

१२४. पञ्चकल्याणकों की प्रतिष्ठाओं में गर्भ कल्याणक के दिन भगवान् को किस माता के गर्भ में लाया जाता है? वहाँ माता की स्थापना किसमें की जाती है? तथा पिता भी कोई उस समय माना जाता है या नहीं?

१२५. प्रतिमा के कल्पित अरहन्तों को जबकि प्रतिदिन स्नान कराया जाता है, नाना प्रकार के पक्वान्न-व्यञ्जन भोजन उनको समर्पण किया जाता है, जब उक्त सांसारिक क्रियायें उनके साथ नित्यप्रति होती हैं तो फिर और भी अन्य क्रियायें जो बाकी रह जाती हैं, वे उनके साथ की जाती हैं, या नहीं? यदि नहीं तो क्यों? तथा उक्त राग-पूर्ण क्रियायें होने पर भी क्या आपके कल्पित अरहन्त फिर भी वीतरागी कहला सकेंगे?

१२६. इसी प्रकार महावीरजी (चान्दन गाँव) में भी यह कहा जाता है कि भगवान् की प्रतिमा जिस जगह ज़मीन में थी, वहाँ एक गाय का दूध झर जाता था। तो वह दूध क्या वह प्रतिमा झरा लेती थी? और यह घटना सत्य है? तो उस मूर्त्ति को दूध झरा लेने की क्या आवश्यकता थी? इसी प्रकार और भी अनेक अतिशय क्षेत्रों के महत्त्व को बताने के लिये अनेक प्रकार की कपोल-कल्पनायें जो गढ़ी जाती हैं, क्या उनमें से किसी एक का भी वर्तमान में सत्य साक्षात् हो सकता है, यदि नहीं तो उक्त बातें कौन-से आधार से प्रमाण मानी जावें?

१२७. मूर्त्ति-पूजक भाई यह कहते हैं, कि कुण्डलपुर के महावीर स्वामीजी की प्रतिमा को जब यवन बादशाह ने खण्डित करने के हेतु अँगुली में टाँकी मारी, तब उसमें से दूध की धारा बह निकली, क्या यह घटना सत्य है? या बनाई हुई बात है? यदि सत्य है तो क्या अभी भी दूध की धारा बहानेवाली प्रतिमा आप बता सकते हैं? या कुण्डलपुर की ही उक्त मूर्त्ति से दूध झरने का साक्षात्कार करा सकते हैं?

१२८. मूर्त्ति में आह्वान करने से जब मुक्त आत्मा उसमें आ जाती है, तो फिर मूर्त्ति सजीव होकर उपदेशादि क्यों नहीं देती?

१२९. भगवान् को अपना पूजन कराना आवश्यक है ? अथवा भक्तों को उनका पूजन करना आवश्यक है ? यदि भक्तों का कर्त्तव्य नित्य पूजन करने का है तो पाली, पाली से या पुजारी रखकर भगवान् की पूजा कराना श्रावक का कर्त्तव्य कैसा ? पाली से अथवा पुजारी द्वारा पूजन कराना, इससे तो यही मालूम होता है कि पूजन करना श्रावकों का कर्त्तव्य नहीं, किन्तु भगवान् अपना पूजन नित्य नियम से किसी के भी द्वारा करा लेना चाहते हैं। तब क्या किसी दिन भगवान् की मूर्त्ति-पूजा न होने से भगवान् का उस दिन नुकसान या अपमान समझा जावे ?

१३०. निश्चयनय से मूर्त्ति पूज्य है या अपूज्य ?

१३१. व्यवहारनय से मूर्त्ति पूज्य है या अपूज्य ?

१३२. यदि व्यवहारनय से मूर्त्ति पूज्य है तो आप मूर्त्ति को मूर्त्ति समझकर पूजते हैं या और कुछ ? यदि आप मूर्त्ति को मूर्त्ति समझकर पूजते हैं तो पाषाण-पूजन से क्या लाभ ? तथा यदि मूर्त्ति को भगवान् समझकर पूजते हैं तो—

'जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव-बंधरु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको ज्यों-को-त्यों सरधानो॥'

इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के मुआफ़िक़ मूर्त्ति को भगवान् मानकर पूजने से "ज्यों-को-त्यों सरधानो" कहाँ रहा ? "मूर्त्ति में भगवान् और भगवान् को मूर्त्ति में" क्या इस प्रकार उल्टे-सीधे व्यवहार का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है ? अब व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा जब मूर्त्ति-पूजा अनावश्यक है तो आप फिर व्यवहार व निश्चय के अतिरिक्त कौन-से तीसरे नय से मूर्त्ति मानते हैं ?

१३३. नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं भूत, इन सात नयों में से कितने नय मूर्त्ति के पूजक हैं ?

१३४. आपने अपनी नाटक लीला, तथा कल्पना को ही धर्म का जामा क्यों पहना दिया है ? यदि नहीं तो इन सब आपकी कल्पनाओं का धार्मिकता से क्या सम्बन्ध है ? जैसे मूर्त्ति से भगवान् का पार्ट अदा कराते हैं वैसे ही चाहे जिस स्त्री-पुरुष को इन्द्राणी और इन्द्र बनाकर उनसे भी पार्ट अदा कराते हैं, आदि-आदि ऐसी इन सब लीलाओं का धर्म से क्या सम्बन्ध है ? यदि इन्हीं नाटक, लीला कल्पना को ही धर्म का जामा पहना दिया जावेगा तो "वत्थुसहाबो धम्मो" इसे कौन पूछेगा तथा आप इसका क्या अर्थ करेंगे ? इस प्रश्न का खूब विचारकर सप्रमाण उत्तर देने की कृपा करें।

१३५. मूर्त्ति-पूजक दि० जैन समाज के अच्छे-अच्छे विद्वान् भी कहते हैं कि "तारणसमाज जो शास्त्र या जिनवाणी को मानती है तो यह जिनवाणी-उपासना भी मूर्त्ति-पूजा ही है। हम पूछते हैं जब आपने शास्त्र (जिनवाणी) मानने में तारणपंथियों को मूर्त्ति-पूजक ठहरा दिया तब फिर पाषाण-मूर्त्ति की पूजा को तारणपंथियों के सिर पर लादने की व्यर्थ कोशिश आप लोग क्यों करते हैं ? आप तो अपने मन में सन्तोष कर लें कि जिनवाणी-उपासक तारणसमाज की मूर्त्ति-पूजा जिनवाणी-उपासना ही है। परन्तु देखते हैं कि आपको सन्तोष न होकर उल्टा क्रोध आता है और आप लोग विचारते हैं कि इन तारण-पंथियों के सिर पर भी कब यह भार लद जावे। पर अब आप ही अपने सिर पर से इस भार को दूर करने की कोशिश कीजिए।

१३६. "मूर्त्ति-पूजा" इस शब्द की व्याख्या क्या है ? मूर्त्ति-पूजा के सामने मूर्त्ति (पाषाण) की पूजा है या भगवान् की। क्या मूर्त्ति शब्द का अर्थ भगवान् या देव हो सकता है ? "मूर्त्ति-पूजा" इस शब्द से ही साफ जाहिर होता है कि मूर्त्ति की पूजा यानी पाषाण निर्मित जो प्रतिमा, मात्र उसकी पूजा।

जब यह स्पष्ट है फिर मूर्त्ति शब्द का अर्थ जबरदस्ती खींचतान कर देव या भगवान् क्यों किया जाता है ? बात करते हैं जिनेन्द्र भगवान् की और दौड़ पड़ते हैं मूर्त्ति की तरफ, यह क्या तमाशा है ?

—तारणपंथ-समर्थन, पृष्ठ ८१-१२०

इनमें से कई पन्थ ऐसे हैं, जो दिगम्बर मूर्त्ति की उपचारसहित पूजा करना आवश्यक बतलाते हैं। आचार्य शान्ति सागर के, जिन्हें दिगम्बर चारित्र्यचक्रवर्त्ती मानते हैं, संघ में 'चर्चासागर' नामक ग्रन्थ की कथा आदि होती रही है। उस ग्रन्थ के २९३ पृष्ठ पर लिखा है—'भव्य जीवों को सबसे पहले जलगन्ध अक्षत पुष्पादि से भगवान् की पूजा करनी चाहिए।' भले ही आज कुछ दिगम्बर इस ग्रन्थ का खण्डन करने लगे हैं, किन्तु जो लोग इस ग्रन्थ को मानते हैं, वह अपने को किसी से कम दिगम्बर जैन नहीं मानते; इसी भावना से हमने उक्त उद्धरण यहाँ दिया है। वसुनन्दिश्रावकाचार में, जो दिगम्बर जैनों का प्रामाणिक ग्रन्थ है, लिखा है—

सहिरण्ण पंचकलसे पुरओ वित्थारिउण वत्थमुहे।
पक्कण्णं वहुभेयं फलानि विविहाणि तह चेव ॥३५७॥
दाणं च जहाजोग्गं दाऊण चउव्विहस्स संघस्य।
उज्जवणविहि एवं कायव्वा देसविरयेण ॥३५८॥

अर्थः—'हिरण्य (सुवर्ण) सहित अर्थात् जिनके भीतर सोना, चाँदी, मणिक आदि रखे गये हैं, और जिनके मुख वस्त्र से बँधे हुए हैं, ऐसे पाँच कलशों को जिनेन्द्र-वेदिका के सामने रखकर, तथैव नाना प्रकार के पकवान और विविध फ़लों को भी रखकर और संघ को यथायोग्य दान देकर देशविरतश्रावकों को इस प्रकार व्रत उद्यापन विधि करना चाहिये।' (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, द्वारा प्रकाशित, पं० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ के लिये अनुवाद सहित; पृ० ११९)। ये सुवर्णादि से भरे कलश जिनपूजा के लिए हैं। सुवर्णादि के सम्बन्ध में जो दिगम्बरों की मान्यता है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी ग्रन्थ के १२१ पृष्ठ पर गाथा है—

जिण-सिद्ध-सूरि-पाठय-साहूणं जं सुयंस्स विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाणं तं पूजणविहाणं ॥३८०॥

अर्थ—'अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्धभगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की तथा शास्त्र की जो वैभव से नाना प्रकार की पूजा की जाती है, उसे पूजन-विधान कहना चाहिये।' यह उद्धरण हमने यहाँ इस दृष्टि से दिये हैं कि कई दिगम्बरी विद्वान् यह कहने लग गये हैं कि हमारे यहाँ मूर्त्ति की पूजा आडम्बर-रहित की जाती है, वे बतायें कि जिनेन्द्र-वेदिका के पास सोना चाँदी मणिक से भरपूर कलश रखने का क्या प्रयोजन है ? तथा अर्हन्त जिनेन्द्र आदि की 'वैभव से नाना प्रकार की पूजा' का क्या तात्पर्य है ? यहाँ वैभव पद मनन करने योग्य है। इतना ही नहीं, इनके यहाँ तो सोना, चाँदी, मणि आदि की मूर्त्तियाँ बनाने का आदेश है—

मणि-कणय-रयण-रुप्पय-पित्तल-मुत्ताहलोवलाईहिं।
पडिमालक्खणविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा ॥३९०॥

अर्थ—'मणि,स्वर्ण, रत्न, चाँदी, पीतल, मुक्ताफल (मोती) और पाषाण आदि से प्रतिमा की लक्षण विधिपूर्वक अर्हन्त सिद्ध आदि की प्रतिमा बनवाना चाहिये' (पृ० १२३ वही पुस्तक)। क्या दिगम्बर जैनों को मोती प्राप्ति की विधि का ज्ञान है ? क्या मणि मुक्ता आदि से बनी मूर्त्तियाँ शान्तरस-प्रसारक हैं ? अनुवादक ने यहाँ टिप्पणी में 'वसुविन्दुप्रतिष्ठापाठ' का श्लोक भी इसी आशय का उद्धृत किया है—

[जैनियों का प्रसिद्ध नवकार मन्त्र और उसका महत्त्व]

यह इनका मन्त्र है। रत्नसार, भाग १ पृष्ठ १ में—

'नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं। एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो मंगलाचाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलम्' ॥१॥

इस मन्त्र का बड़ा माहात्म्य लिखा है। और सब जैनियों का यह गुरुमन्त्र है। इसका ऐसा माहात्म्य धरा है कि तन्त्र पुराण भाटों की भी कथा को पराजय कर दिया है।

श्राद्धदिनकृत्य, पृष्ठ ३—

नमुक्कारं तउ पढ़े ॥९॥
जउ कव्वं मंताणमंतो परमो इमुत्ति धेयाणधेयं परमं इमुत्ति।
तत्ताणतत्तं परमं पवित्तं संसार सत्ताण दुहाइयाणं ॥१०॥
ताणं अंनंतु नो अत्थि जीवाणं भवसायरे।
बुड्डु ताणं इमं मुत्तुं नमुक्कारं सुपोययम् ॥११॥
कव्वं अणेगजम्मंतरसं चिआणं दुहाणं सारीरिअमाणुसाणुसाणं।
कत्तोय भव्वाणभिवज्जनासो न जावपत्तो नवकारमन्तो ॥१२॥

स्वर्णरत्नमणिरौप्यनिर्मितं स्फाटिकामलशिलाभवं तथा।
उत्थिताम्बुजमहासांगितं जैनबिम्बमिह शस्यते बुधैः ॥६९॥

इस श्लोक में स्फटिक (बिल्लोर) तथा अमलशिला (हमारे विचारों में संगमरमर) से भी मूर्त्ति बनाने का आदेश है। प्रतिष्ठाविधि (३९३ से ४०१ तक गाथाओं) में तो पुष्पमालिका, चाइना-सिल्क आदि के वस्त्रों से मण्डप सजाने का विधान है। क्या चाइना-सिल्क हत्या के विना प्राप्त होता है? ४४१-४४२ तक की गाथाओं में प्रतिमाप्रतिष्ठापन के विधान में लिखा है—'शुभ मुहूर्त्त में प्रतिमा के चन्दन का तिलक लगावे।···और विविध प्रकार के पुष्पों से नाना पूजनों को करे।···अक्षत, चरु, दीप से, विविध धूप और फलों से बलिवर्त्तिकाओं अर्थात् पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियों से।··· पूर्ण वैभव के साथ या अपनी शक्ति के अनुसार पूजा रचे' (पृ० १२६)। ४२५ से ४४५ तक की गाथाओं में अनेक अति बहुमूल्य पदार्थों के नाम लेकर उनसे जिनेन्द्र बिम्ब की पूजा का विधान विद्यमान है। ४८१ और उससे आगे जिनप्रतिमा के पूजन के काल्पनिक अबुद्धिगम्य फलकथन में एक फल यह भी लिखा है—

"विजयपडाएहिं णरो संग्राममुहेसु विजइओ होइ।
छक्खंडाविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी य" ॥४६॥

अर्थात्—"जिनमन्दिर में विजयपताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है। तथा षट्खण्डरूप भारतवर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है" (पृ० १३६)। सहस्रों जैनों ने मन्दिर में पताकाएँ चढ़ाई हैं, किन्तु···। ये गपोड़े नहीं तो क्या हैं?

इस (णमो अरिहन्ताणं) मन्त्र का माहात्म्य—इसका उदाहरण लीजिए। दिगम्बरों के महापुराण-उत्तरपुराण के ७५वें पर्व में नवकार मन्त्र के सुनने से देव बनने का वर्णन है—

"अथात्र नागरेष्वात्मवाञ्छया क्रीडनं वने।
कुर्वत्स्वेकं समालोक्य कुक्कुरं खलबालकाः ॥३५९॥
भर्त्सयन्ति स्म चापल्यात् सोपि धावन् भयाकुलः।
ह्रदे निपत्य तत्रैव प्राणमोक्षोन्मुखोऽभवत् ॥३६०॥

जो यह मन्त्र है, पवित्र और परममन्त्र है। वह ध्यान के योग्य में परम ध्येय है, तत्त्वों में तत्त्व है। दुःखों से पीड़ित संसारी जीवों को नवकार मन्त्र ऐसा है कि जैसी समुद्र के पार उतारने की नौका होती है ॥९-१०॥

जो यह नवकार मन्त्र है, वह नौका के समान है। जो इसको छोड़ देते हैं, वे भवसागर में डूबते हैं। और जो इसका ग्रहण करते हैं, वे दुःखों से तर जाते हैं। जीवों को दुःखों से पृथक् रखनेवाला, सब पापों का नाशक, मुक्तिकारक इस मन्त्र के विना दूसरा कोई नहीं ॥११॥

अनेक भवान्तर में उत्पन्न हुआ शरीर और मनसम्बन्धी दुःख भव्य जीवों को भवसागर से तारनेवाला यही है। जबतक नवकार मन्त्र नहीं पाया, तबतक भवसागर से जीव नहीं तर सकता ॥१२॥

यह अर्थ सूत्र में कहा है। और जो अग्निप्रमुख अष्ट महाभयों में सहाय एक नवकार मन्त्र को छोड़कर दूसरा कोई नहीं। जैसे महारत्न वैडूर्य नामक मणि ग्रहण करने में आवे, अथवा शत्रुभय में अमोघ शस्त्र के ग्रहण करने में आवे, वैसे श्रुतकेवली का ग्रहण करे। और सब द्वादशांगी का नवकार मन्त्र रहस्य है।

इस मन्त्र का अर्थ यह है—(नमो अरिहन्ताणं) सब तीर्थङ्करों को नमस्कार। (नमो सिद्धाणं) जैनमत के सब सिद्धों को नमस्कार। (नमो आयरियाणं) जैनमत के सब आचार्यों को नमस्कार। (नमो उवज्झायाणं) जैनमत के सब उपाध्यायों को नमस्कार। (नमो लोए सव्वसाहूणं) जितने जैन मत के साधु इस लोक में हैं, उन सब को नमस्कार है॥

यद्यपि मन्त्र में जैन पद नहीं है, तथापि जैनियों के अनेक ग्रन्थों में विना जैनमत के अन्य किसी को नमस्कार भी न करना लिखा है, इसलिये यही अर्थ ठीक है।

[लकड़ी पत्थर को देवबुद्धि से पूजना व्यर्थ]

तत्वविवेक, पृष्ठ १६६—'जो मनुष्य लकड़ी पत्थर को देवबुद्धि कर पूजता है, वह अच्छे फलों को प्राप्त होता है।'

समीक्षक—जो ऐसा हो, तो सब कोई दर्शन करके सुखरूप फलों को प्राप्त क्यों नहीं होते?

रत्नसार, भाग १ पृष्ठ १०—'पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं।'

कल्प सूत्र भाष्य, पृष्ठ ५१ में लिखा है कि—'सवा लाख मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया।'

इत्यादि मूर्त्तिपूजा विषय में इनका बहुत-सा लेख है। इसीसे समझा जाता है कि मूर्त्तिपूजा का मूल कारण जैनमत है।

भृत्यस्ततस्तमानाय्य जीवन्धरकुमारकः।
कर्णे तस्य नमस्कारपदैः सपर्यपूरयत् ॥३६१॥
प्रतिगृह्य नमस्कारं चन्द्रोदयगिरावभूत्।
यक्षः सुदर्शनो नाम स्मृतपूर्वभवस्तदा ॥३६२॥
प्रत्यागत्य कुमारं तं त्वत्प्रसादान्मयैदृशी।
लब्ध्वा विभूतिरित्युच्चैः स्तुत्या सम्पाद्य विस्मयम् ॥३६३॥"

पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—"तदनन्तर उधर नगरवासी लोग वन में अपनी इच्छानुसार क्रीडा करने लगे, इधर कुछ दुष्ट बालकों ने एक कुत्ते को

[दुष्टकर्म करके भी स्वर्ग-प्राप्ति]

अब इन जैनियों के साधुओं की लीला देखिये—

विवेकसार, पृष्ठ २२८—'एक जैनमत का साधु कोशा वेश्या से भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्गलोक को गया।'

विवेकसार, पृष्ठ १०१, १०६-१०७—'अर्णकमुनि चारित्र से चूककर कई वर्ष पर्यन्त दत्त सेठ के घर में विषयभोग करके पश्चात् देवलोक को गया। श्रीकृष्ण के पुत्र ढंढण मुनि को स्यालिया[1] उठा ले गया, पश्चात् देवता हुआ।'

[चरित्रहीन भी जैन साधु पूजनीय हैं]

विवेकसार, पृष्ठ १५६—'जैनमत का साधु लिङ्गधारी अर्थात् वेशधारीमात्र हो, तो भी उसका सत्कार श्रावक लोग करें। चाहें साधु शुद्धचरित्र हो, चाहें अशुद्धचरित्र, सब पूजनीय हैं।'

विवेकसार, पृष्ठ १६८—'जैनमत का साधु चरित्रहीन हो, तो भी अन्य मत के साधुओं से श्रेष्ठ है।'

विवेकसार, पृष्ठ १७१—'श्रावक लोग जैनमत के साधुओं को चरित्ररहित भ्रष्टाचारी देखें, तो भी उनकी सेवा करनी चाहिए।'

विवेकसार, पृष्ठ २१६—'एक चोर ने पाँच मूठी (केश) लोंचकर चारित्र ग्रहण किया, बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किया। छ:ठे महीने में केवल ज्ञान पाके सिद्ध हो गया।'

समीक्षक—अब देखिये, इनके साधु और गृहस्थों की लीला। इनके मत में बहुत कुकर्म करनेवाला साधु भी सद्गति को गया। और—

[जैनमतस्थ न होने से अनेक महापुरुष भी नरक में]

विवेकसार, पृष्ठ १०६ में लिखा है कि—'श्रीकृष्ण तीसरे नरक में गया।'

विवेकसार, पृष्ठ १४५ में लिखा है कि—'धन्वन्तरि नरक में गया।'

विवेकसार, पृष्ठ ४८ में—'जोगी, जंगम काजी, मुल्ला कितने ही अज्ञान से तप कष्ट करके भी कुमति को पाते हैं।'

रत्नसार भा० १ पृष्ठ १७०-१७१ में लिखा है कि—"नव वासुदेव अर्थात् १. त्रिपृष्ठ वासुदेव, २. द्विपृष्ठ वासुदेव, ३. स्वयंभू वासुदेव, ४. पुरुषोत्तम वासुदेव, ५. सिंहपुरुष वासुदेव, ६. पुरुषपुण्डरीक वासुदेव, ७. दत्त वासुदेव, ८. लक्ष्मण वासुदेव और ९. श्रीकृष्ण वासुदेव ये सब ग्यारहवें बारहवें चौदहवें पन्द्रहवें अठारहवें बीसवें और बाईसवें[2] तीर्थङ्करों के समय में नरक को गये।" "और नव प्रतिवासुदेव[3]

देखकर चपलतावश मारना शुरू कर दिया। भय से व्याकुल होकर वह कुत्ता भागा और एक कुण्ड में गिरकर मरणोन्मुख हो गया। जब जीवन्धरकुमार ने यह हाल देखा तो उन्होंने अपने नौकरों से कुत्ते को वहाँ से निकलवाया और उसके दोनों कान पञ्चनमस्कार मन्त्र से भर दिये। नमस्कार मन्त्र को ग्रहण कर वह कुत्ता चन्द्रोदय पर्वत पर सुदर्शन नाम का यक्ष हुआ। पूर्वभव का स्मरण होते ही वह

१. स्यालिया=सियार=गीदड़।

२. वासुदेव ९ गिनाये हैं। उनके नरक-गमन की काल-गणना में ११, १२, १४, १५, १८, २०, २२ सात तीर्थङ्करों का ही निर्देश है। सम्भवत: यहाँ दो तीर्थङ्करों का निर्देश छूट गया है।

३. प्रतिवासुदेव=विष्णु के प्रतिद्वन्द्वी, जिन्हें विष्णु ने मारा या मरवाया।

अर्थात् १. अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव, २. तारक प्रतिवासुदेव, ३. मोदक प्रतिवासुदेव, ४. मधु प्रतिवासुदेव, ५. निशुम्भ प्रतिवासुदेव, ६. बली प्रतिवासुदेव, ७. प्रह्लाद प्रतिवासुदेव, ८. रावण प्रतिवासुदेव, और ९. जरासिंधु प्रतिवासुदेव, ये भी सब नरक को गये।"

और कल्पसूत्रभाष्य[1] में लिखा है कि—"ऋषभदेव से लेके महावीर पर्यन्त २४ तीर्थङ्कर सब मोक्ष को प्राप्त हुए।"

[श्रीकृष्णादि महापुरुष नरक में गये, यह कहना बुरी बात है]

समीक्षक—भला कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारे कि इनके साधु गृहस्थ और तीर्थंकर, जिनमें बहुत से वेश्यागामी परस्त्रीगामी चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये। और श्रीकृष्णादि महाधार्मिक महात्मा सब नरक को गये। यह कहना कितनी बड़ी बुरी बात है।

प्रत्युत विचार के देखें तो अच्छे पुरुष को जैनियों का सङ्ग करना वा उनको देखना भी बुरा है। क्योंकि जो इनका सङ्ग करे, तो ऐसी ही झूंठी-झूंठी बातें उसके भी हृदय में स्थित हो जायेंगी। क्योंकि इन महाहठी दुराग्रही मनुष्यों के सङ्ग से सिवाय बुराइयों के अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। हां, जो जैनियों में उत्तमजन[2] हैं, उनसे सत्सङ्गादि करने में कुछ भी दोष नहीं।

जीवन्धरकुमार के पास वापस आया और कहने लगा कि मैंने यह उत्कृष्ट विभूति आपकी कृपा से ही पाई है।"

जैनों के घरों में कुत्ते तो अवश्य आते होंगे और वह नवकार (नमस्कार) मन्त्र भी सुनते होंगे। मरकर-किस योनि में जाते होंगे, यह खोज का विषय है। कुत्ते को गढ़े में से निकलवाकर जीवनदान देना सराहनीय है। किन्तु कुत्ते के कान में नवकार मन्त्र पढ़ना अन्धविश्वासजनित भावुकता से अधिक कुछ नहीं है। और कथा गढ़नेवाले का कुत्ते को यक्ष बनाना और उसे जतिस्मरण द्वारा जीवन्धर के पास वापस पहुँचाना भक्तों पर मिथ्याग्रह की पकड़ को और दृढ़ करना है। कुत्ते भी जैनों से उच्चारित मन्त्रों को सुनते और उनसे सम्भाषण करते हैं, इससे बड़ी गप्प और क्या होगी ?

श्रीकृष्ण नरक में—त्रिपृष्ठ नारायण आदि को दिगम्बरों ने भी नरक में भेजा है। देखिये—महापुराण के अन्तर्गत उत्तरपुराण (गुणभद्राचार्यप्रणीत) के ५७वें पर्व में त्रिपृष्ठ के नरकगामित्व का वर्णन—

"स संरम्य चिरं ताभिर्बह्वारम्भपरिग्रहः।
सप्तमीं पृथिवीं प्राप केशवश्चाश्वकन्धरः ॥६५॥
कृत्वा राज्यममूं सहैव सुचिरं भुक्त्वा सुखं तादृशम्।
पृथिवीमूलमगात् किलाखिल महादुःखालयं केशवः ॥६७॥
प्राग् विश्वनन्दीति विशामधीशस्ततो महाशुक्रमधिष्ठितोऽमरः।
पुनस्त्रिपृष्ठो भरतार्द्धचक्री चिताघकः सप्तमभूमिमाश्रयत् ॥६८॥"

अर्थ—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह को धारण करनेवाला त्रिपृष्ठ नारायण उन स्त्रियों के साथ चिर काल तक रमण कर सातवीं पृथिवी को प्राप्त हुआ (सप्तम नरक गया)। इसी प्रकार अश्वग्रीव प्रतिनारायण भी नरक को गया ॥६५॥ देखो, त्रिपृष्ठ और विजय ने साथ-ही-साथ राज्य किया,

---

१. मोक्षकल्पानक।
२. जो उत्तम जन होगा, वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा। स० दा०

[जैन तीर्थों की प्रशंसा, अन्यों की निन्दा करना मूर्खता है]

विवेकसार, पृष्ठ ५५ में लिखा है कि—'गङ्गादि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्रों के सेवने से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता' और 'अपने गिरनार पालीटाणा आबू आदि तीर्थ और क्षेत्र मुक्तिपर्यन्त के देनेवाले लिखे हैं।'

समीक्षक—यहाँ विचारना चाहिये कि जैसे शैववैष्णवादि के तीर्थ और क्षेत्र, जल स्थल जड़ स्वरूप हैं, वैसे जैनियों के भी हैं। इनमें से एक की निन्दा और दूसरे की स्तुति करना मूर्खता का काम है।

और चिरकाल तक अनुपम सुख भोगे, परन्तु नारायण त्रिपृष्ठ समस्त दुःखों के महान् गृह स्वरूप सातवें नरक में पहुँचा ॥९७ पू०॥ त्रिपृष्ठ, पहले तो विश्वनन्दी नाम का राजा हुआ फिर महाशुक्रस्वर्ग में देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नाम का अर्धचक्रीनारायण हुआ फिर पापों का संचय कर सातवें नरक गया ॥९८॥

अब द्विपृष्ठ नारायण को खोजिये—

'पुरेऽत्र कनकादिके प्रथितवान् सुषेणो नृपः ततोऽनु तपसि स्थितोऽजनि चतुर्दशस्वर्गभाक्।
त्रिखण्डपरिपालकोऽभवदतो द्विपृष्ठाख्यया परिग्रहमहाभरादुपगतः क्षितिं सप्तमीम्॥'

—५८ पर्व, १२२ श्लोक

अर्थ—राजा त्रिपृष्ठ पहले इसी भरतक्षेत्र के कनकपुर नगर में सुषेण नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ, फिर तपश्चरण कर चौदहवें स्वर्ग में देव हुआ, तदनन्तर तीन खण्ड की रक्षा करनेवाला द्विपृष्ठ नाम का अर्धचक्री हुआ उसके बाद परिग्रह के महान् भार से सातवें नरक गया ॥१२२॥

अब स्वयं नारायण की नरक प्राप्ति लीजिये—

केशवोपि तमन्वेष्टुमिव वैरागनुबन्धनात्। तदेव नरकं पश्चात्प्राविक्षत् पापपाकतः॥५९।१००॥
द्यूतेन मोहविहितेन विधिः स्वयंभूः यातो मधुश्च नरकं दुरिती दुरन्तम्॥१०४ पू०॥
कुणालविषये सुकेतुरधिराडभूद् दुर्मतिस्ततः कृततपाः सुरोऽजनि सुखालये लान्तवे।
कृतान्तसदृशो मधोरनुबभूव चक्रेश्वरस्ततश्च दुरितोदयात् क्षितिमगात्स्वयंभूरधः॥१०७॥

अर्थ—और नारायण स्वयंभू भी वैर के संस्कार से उसे खोजने के लिए ही मानो अपने पापोदय के कारण पीछे से उसी नरक में प्रविष्ट हुआ ॥१००॥ देखो, मोहवश किये जुआ से मूर्ख स्वयंभू और राजा मधु पाप का संचय कर दुःखदायी नरक में पहुँचे। १०४ पू०॥ स्वयंभू पहले कुणाल देश का मूर्ख राजा सुकेतु हुआ, फिर तपश्चरण कर सुख के स्थानस्वरूप लान्तव स्वर्ग में देव हुआ, फिर राजा मधु को नष्ट करने के लिए यमराज के समान चक्रवर्ति नारायण हुआ और तदनन्तर पापोदय से नीचे सातवीं पृथिवी में गया ॥१०७॥

अब पुरुषोत्तमनारायण का नरकगमन—

सम्भूय पोदनपुरे वसुषेणनामा कृत्वा तपः सुखरोऽजनि शुक्ललेश्यः।
तस्माच्च्युतोऽर्धभरताधिपतिर्हतारिः प्रापान्तिमां क्षितिमधः पुरुषोत्तमाख्यः॥६०।८२॥

अर्थ—पुरुषोत्तम पहले पोदनपुर नगर में सुषेण नामक राजा हुआ, फिर तप कर शुक्ललेश्या का धारक देव हुआ, फिर वहाँ से चलकर अर्धभरतक्षेत्र का स्वामी, तथा शत्रुओं का नष्ट करनेवाला पुरुषोत्तम नाम का नारायण हुआ, एवं उसके बाद अधोलोक में सातवीं पृथिवी में उत्पन्न हुआ ॥८२॥

---

१. द्र०—रत्नसार, भाग १, पृष्ठ २९।

[जैनों की मुक्ति का वर्णन]

रत्नसार, भाग १, पृष्ठ २३-२४—"महावीर तीर्थंकर गौतमजी से कहते हैं कि —ऊर्ध्वलोक में एक 'सिद्धशिला' स्थान है। स्वर्गपुरी के ऊपर पैंतालीस लाख योजन लम्बी और उतनी ही पोली है, तथा ८ योजन मोटी है'। जैसे मोती का श्वेत हार वा गोदुग्ध है, उससे भी उजली है। सोने के समान प्रकाशमान और स्फटिक से भी निर्मल है।[2] यह 'सिद्धशिला' चौदहवें लोक की शिखा पर है। और उस सिद्धशिला के ऊपर शिवपुर धाम उसमें भी मुक्त पुरुष अधर रहते हैं। वहां जन्म-मरणादि कोई दोष नहीं, और आनन्द करते रहते हैं। पुनः जन्म-मरण में नहीं आते, सब कर्मों से छूट जाते हैं। यह जैनियों की मुक्ति है।"

अब सिंह नारायण की नरकप्राप्ति—

दुरितपरवशत्वं केशवस्यैव मोहात् (६१।८४)।। प्राग्भूभुजः (?) प्रथितराजगृहे सुमित्रो माहेन्द्रकल्पजसुरश्च्युतवांस्ततोऽस्मिन्। भूपोऽभवत् खगपुरे पुरुषादिसिंहः पश्चात् स सप्तममहीं च जगाम भीमाम् ।।८५।।'

अर्थ—मोह के उदय से पापों का फल नारायण को ही प्राप्त हुआ'''।।८४।। पुरुषसिंह नारायण, पहले प्रसिद्ध राजगृह नगर में सुमित्र नाम का राजा था, फिर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर इस खगपुर नगर में पुरुषसिंह नाम का नारायण हुआ और उसके पश्चात् भयङ्कर सातवें नरक में नारकी हुआ ।।८५।।

अब पुरुष पुण्डरीक की नरकप्राप्ति—

पुण्डरीकश्चिरं भुक्त्वा भोगांस्तत्रातिसक्तितः।
बध्वायुर्नारकं घोरं बह्वारम्भपरिग्रहः ।।३५।१८८।।
प्राप्ते रौद्राभिसन्धानाद्रूढमिथ्यात्वभावनः।
पापैस्तमः प्रभां मृत्वा प्राविशत्पापपाकवान् ।।१८९।।

अर्थ—पुण्डरीक ने चिरकाल तक भोग भोगे और उनमें अत्यन्त आसक्ति के कारण नरक की भयङ्कर आयु का बन्ध कर लिया। वह बहुत आरम्भ और परिग्रह का धारक था, अन्त में रौद्रध्यान के कारण उसकी मिथ्यात्व रूप भावना भी जागृत हो उठी, जिससे मरकर वह पापोदय से तमः प्रभा नामक छठवीं नरक में प्रविष्ट हुआ ।।१८८-१८९।।

अब दत्त नारायण का नरकगमन—

चिरं राज्यसुखं भुक्त्वा स्वायुरन्ते स चक्रभृत्।
बद्ध्वायुर्नारकं घोरमवधिस्थानमेयिवान् ।।६६।१२२।।

अर्थ—चिरकाल तक राज्यसुख भोगने के बाद चक्रवर्त्ती-नारायणदत्त, नरकगतिसम्बन्धी भयङ्कर आयु का बन्ध कर सातवें नरक गया ।।१२२।।

अब लक्ष्मण नारायण का नरकप्रापण—

श्रीमन्तौ बलकेशवौ क्षितिमिमां सम्पाल्य सार्धं चिरम् ।।६६।७२६।।
एकस्त्रिलोकशिखरं सुखमध्यतिष्ठदन्यश्चतुर्थनरकावनिनायकोऽभूत्।
भोग्ये समेपि परिणामकृताद्विशेषात् ।।६६।७२७।।

---

१. ८ योजन मोटी शिला ४५ लाख योजन पोली कैसे हो सकती है?

२. यही बात आगे भी प्रकरणरत्नाकर भाग ४, संग्रणीसूत्र २६८ का उद्धरण देकर कही है।

[जैनियों की मुक्ति एक प्रकार का बन्धन है]

समीक्षक—विचारना चाहिए कि जैसे अन्य मत में वैकुण्ठ कैलाश गोलोक श्रीपुर आदि पुराणी; चौथे आसमान में ईसाई; सातवें आसमान में मुसलमानों के मत में मुक्ति के स्थान लिखे हैं, वैसे ही जैनियों की सिद्धशिला और शिवपुर भी है। क्योंकि जिसको जैनी लोग ऊँचा मानते हैं, वही नीचेवालों[1] की, जोकि हमसे भूगोल के नीचे रहते हैं, उनकी अपेक्षा से नीचा है। ऊँचा-नीचा व्यवस्थित पदार्थ नहीं है। जिसे आर्य्यावर्त्तवासी जैनी लोग ऊँचा मानते हैं, उसी को अमेरिकावाले नीचा मानते हैं। और आर्य्यावर्त्तवासी जिसको नीचा मानते हैं, उसको अमेरिकावाले ऊँचा मानते हैं।

अर्थ—'ऐसे श्रीमान् बलभद्र और नारायण पदवी के धारक रामचन्द्र और लक्ष्मण चिरकाल तक साथ-ही-साथ इस पृथिवी का पालन करते रहे ॥७२६॥ उन दोनों में से एक भोगों की समानता होने पर भी परिणामों के द्वारा की हुई विशेषता से तीन लोक के शिखर पर सुख से विराजमान हुआ और दूसरा चतुर्थ नरक की भूमि का नायक हुआ।' लक्ष्मण पर एक कृपा भी की है, उन्हें नरक से निकालकर मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति की सान्त्वना दी है—

लक्ष्मणश्चागतः क्रमात्। नरकात्संयमं प्राप्य मोक्षलक्ष्मीमवाप्स्यति ॥६८।७२२॥

अर्थ—'लक्ष्मण नरक से निकलकर क्रम से संयम धारण कर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त होगा। ॥७२२॥'

अब लीजिये श्रीकृष्ण नारायण का नरकयान—

प्रागासीदमृतरसायनस्तृतीये श्वभ्रेऽभूदनुभववारिधौ भ्रमित्वा।
भूयोऽभूद् गृहपतिरत्र यक्षनामा निर्नामा नृपतिसुतस्ततोऽमृताशीः ॥७२।२८०॥
तस्मादभून्मुररिपुः कृतदुर्निदानाच्चक्रेश्वरो हतविरुद्धजरादिसन्धः।
धर्म्मोद्भवादभवन् बहुदुःखमस्मान्निर्गत्य तीर्थकृदनर्थविघातकृत्सः ॥२८१॥
द्रोहान्मुनेः पलपचः स कुधीरधोगाद् तद् बीज एव तपसाऽथ च चक्रलक्ष्मीम् ।...२८२॥
बध्वायुरा दृशमग्र्यमथान्त्यनाम चास्मादधोऽगमदसी धृतराज्यभारः ॥ ७२।२८६ ॥

अर्थ—'कृष्ण का जीव पहले अमृतरसायन हुआ, फिर तीसरे नरक में गया, उसके बाद संसार-सागर में बहुत भारी भ्रमण कर यक्ष नाम का गृहस्थ हुआ, फिर निर्नामा नाम का राजपुत्र हुआ, उसके बाद देव हुआ और उसके बाद बुरा निदान करने के कारण अपने शत्रु जरासन्ध को मारनेवाला, चक्ररत्न का स्वामी कृष्ण नाम का नारायण हुआ, इसके बाद प्रथम नरक में उत्पन्न होने के कारण बहुत दुःखों का अनुभव करता रहा है और अन्त में वहाँ से निकलकर समस्त अनर्थों का विघात करने वाला तीर्थङ्कर होगा ॥२८०-२८१॥ कृष्ण के जीव ने चाण्डाल अवस्था में मुनि के साथ द्रोह किया था इसलिए वह दुर्बुद्धि नरक गया और उसी कारण से तपश्चरण के द्वारा राज्यलक्ष्मी पाकर...॥२८२॥ देखो, श्रीकृष्ण ने पहले नरक आयु का बन्ध कर लिया था और उसके बाद सम्यग्दर्शन तथा तीर्थङ्कर नाम कर्म प्राप्त किया था, इसलिए उन्हें राज्य का भार धारण करने के बाद नरक जाना पड़ा।' अब प्रतिवासुदेवों (प्रतिनारायणों) का नरकयान भी निहारिये। त्रिपृष्ठ का विरोधी अश्वग्रीव (हयग्रीव) प्रतिनारायण—

विशाखनन्दी विहतप्रतापो व्यसुः परिभ्रम्य भवे चिरं ततः।
खगाधिनाथो हयकन्धराह्वयो रिपुस्त्रिपृष्ठस्य ययावधोगतिम् ॥ ५७।१००॥

---

1. अर्थात् अमेरिका देशवालों की।

चाहे वह शिला पेंतालीस लाख से दूनी नब्बे लाख कोश की होती, तो भी वे मुक्त बन्धन में हैं। क्योंकि उस शिला वा शिवपुर के बाहर निकलने से उनकी मुक्ति छूट जाती होगी। और सदा उसमें रहने की प्रीति, और उससे बाहर जाने में अप्रीति भी रहती होगी। जहाँ अटकाव प्रीति और अप्रीति है, उसको मुक्ति क्योंकर कह सकते हैं? मुक्ति तो जैसी नवमे समुल्लास में वर्णन कर आये हैं, वैसी माननी ठीक है।

और यह जैनियों की मुक्ति भी एक प्रकार का बन्धन है। ये जैनी भी मुक्ति-विषय में भ्रम में फँसे हैं। यह सच हैं कि विना वेदों के यथार्थ अर्थबोध के मुक्ति के स्वरूप को भी नहीं जान सकते।

अर्थात्—'प्रतिनारायण पहले विशाखनन्दी हुआ, फिर प्रतापरहित हो मरकर चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहा। फिर अश्वग्रीव नाम का विद्याधर हुआ, जो कि त्रिपृष्ठ नारायण का शत्रु होकर अधोगति (नरक गति) को प्राप्त हुआ ॥१००॥'

अब तारक प्रतिनारायण का नरकगमन—

विख्यातविन्ध्यनगरेऽजनि विन्ध्यशक्तिर्भ्रान्त्वा चिरं भववने चितपुण्यलेशः।
श्रीभोगवर्धनपुराधिपतारकाख्यः प्राप द्विपृष्टरिपुरन्त्यमहीं महांहाः ॥५८।१२४॥

अर्थात्—'प्रतिनारायण तारक, पहले प्रसिद्ध विन्ध्य नगर में विन्ध्यशक्ति नाम का राजा हुआ और अन्त में द्विपृष्ठ नारायण का शत्रु होकर—उनके हाथ से मारा जाकर—महापाप के उदय से अन्तिम पृथिवी में नारकी उत्पन्न हुआ ॥१२४॥'

अब मधु (मोदक) प्रतिनारायण की नरकगति—

मधुः सत्त्वं समुत्सृज्य भूयः संश्रितवान् रजः।
बद्ध्वायुर्नारकं प्रापन्निरयं स तमस्तमः ॥५९।९९॥

अर्थात्—'राजा मधु ने प्राण छोड़कर बहुत भारी पाप का संचय किया, जिससे नरकायु बांधकर तमस्तम नामक सातवें नरक में गया ॥९९॥'

अब मधु (मधुसूदन) का नरकप्रयाण—

मलयाधिपचण्डशासनो नृपतिः पापमतिर्भ्रमंश्चिरम्।
भववारिनिधावभूदधः खलु गन्ता मधुसूदनाभिधः ॥६०।८३॥

अर्थात्—'मलयदेश का पापी राजा चण्डशासन चिरकाल तक भ्रमण करता हुआ मधुसूदन हुआ और तदनन्तर संसाररूपी सागर के अधोभाग में निमग्न हुआ ॥८३॥'

अब मधुक्रीड (निशुम्भ) प्रतिनारायण का नरकप्रवास—

प्रोद्दर्पदन्तिसुमनोऽजनि राजसिंहो भ्रान्त्वा चिरं भववनेषु विनष्टमार्गः।
दृष्टानुमार्गमजनिष्ट स हस्तिनाख्ये क्रीडाक्षरान्तमधुराप गतिं दुरन्ताम् ॥६१।८६॥

अर्थात्—'मधुक्रीड प्रतिनारायण पहले मदोन्मत्त हाथियों को वश में करनेवाला राजसिंह नाम का राजा था। फिर मार्गभ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसाररूपी वन में भ्रमण करता रहा, तदन्तर धर्ममार्ग का अवलम्बन कर हस्तिनापुर नगर में मधुक्रीड हुआ और उसके पश्चात् दुर्गति को प्राप्त हुआ ॥८६॥'

अब बलि (निशुम्भ) प्रतिनारायण का नरकनिवास—

अथ दर्पी दुराचारः सुकेतुः प्राक्तनो रिपुः।
निजोपार्जितकर्मानुरूपेण भवसन्ततौ ॥६५।१८०॥

भ्रान्त्वा क्रमेण संचित्य शुभं तदनुरोधतः ।
भूत्वा चक्रपुराधीशो वशीकृतवसुन्धरः ॥१८१॥
ग्रीष्मार्कमण्डलाभत्वादसोढा परतेजसाम् ।
तद्विवाहश्रुतेः क्रुद्धः सन्नद्धाशेषसाधनः ॥१८२॥
निशुम्भो मारकोऽरीणां नारकेभ्योपि निर्दयः ।
प्रास्थिताखण्डविक्रान्तः पुण्डरीकं जिघांसुकः ॥१८३॥
युद्ध्वा बहुविधेनामा तेनोद्यत्तेजसा चिरम् ।
तच्चक्राशनिघातेन घातितासुरयादधः ॥१८४॥

अर्थात्—'अथानन्तर पहले भव में जो सुकेतु नाम का राजा था, वह अत्यन्त अहङ्कारी दुराचारी और पुण्डरीक का शत्रु था। वह अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के अनुसार अनेक भवों में घूमता रहा। अन्त में उसने क्रम-क्रम से कुछ पुण्य का संचय किया था। उसके अनुरोध से वह पृथिवी को वश में करनेवाला चक्रपुर का निशुम्भ नाम का अधिपति हुआ। उसकी आभा ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के मण्डल के समान थी। वह इतना तेजस्वी था कि दूसरे के तेज को बिलकुल ही सहन नहीं करता था। जब उसने पुण्डरीक और पद्मावती के विवाह का समाचार सुना तो वह बहुत ही कुपित हुआ। उसने सब सेना तैयार कर ली, वह शत्रुओं को मारनेवाला था, नारकियों से भी कहीं अधिक निर्दय था, और अखण्ड पराक्रमी था। पुण्डरीक को मारने की इच्छा से वह चल पड़ा। जिसका तेज निरन्तर बढ़ रहा है, ऐसे पुण्डरीक के साथ उस निशुम्भ ने चिरकाल तक बहुत प्रकार का युद्ध किया और अन्त में उसके चक्ररूपी वज्र के घात से निष्प्राण होकर वह अधोगति में गया (नरक में जाकर उत्पन्न हुआ) ॥१८०-१८४॥'

अब प्रह्लाद (बलीन्द्र) नारायण का नरकगमन—

मन्त्री चिरं जननवारिनिधौ भ्रमित्वा पश्चाद् बलीन्द्र इति नामधरः खगेशः ।
दत्तादवाप्तमरणो नरकं दुरन्तं प्रापत्...॥६६।१२५॥

अर्थात्—'मन्त्री का जीव चिरकाल तक संसार सागर में भ्रमण कर बलीन्द्र नाम का विद्याधर हुआ और दत्त नारायण के हाथ से मरकर भयङ्कर नरक में पहुँचा...॥१२५॥' (यद्यपि इस बलीन्द्र के साथ मूल और अनुवाद में प्रतिनारायण शब्द नहीं है तथापि यह है प्रतिनारायण, क्योंकि इस पर्व की समाप्तिपुष्पिका में और उसके भाषानुवाद में बलीन्द्र के साथ प्रतिनारायण शब्द विद्यमान है—

"इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे मल्लितीर्थंकर-पद्मचक्रि-नन्दिमित्र-बलदेव-दत्तनाम-वासुदेव-बलीन्द्राख्यप्रतिवासुदेवपुराणं परिसमाप्तम् ।"

अर्थात्—"इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रह में मल्लिनाथ तीर्थङ्कर, पद्मचक्रवर्ती, नन्दिमित्र, बलदेव, दत्तनारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायण के पुराण का वर्णन करनेवाला छयासठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥" यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है कि मूल में 'दत्त' के साथ 'वासुदेव' और 'बलीन्द्र' के साथ 'प्रतिवासुदेव' शब्द का व्यवहार हुआ है। इसके अनुवाद ने भाषा में 'वासुदेव' के स्थान में 'नारायण' और 'प्रतिवासुदेव' के स्थान में 'प्रतिनारायण' लिखा है। तात्पर्य यह कि जैनों के यहाँ ये शब्द पर्यायवाची हैं। (प्रह्लाद और बलीन्द्र भी पर्याय माने जाते हैं)।

अब रावणप्रतिवासुदेव का नरक जाना—

देशे सारसमुच्चये नरपतिर्देवो नरादितस्ततः,
सौधर्मेऽनिमिषोऽभवत्सुखनिधिस्तस्माच्च्युतोऽस्मिन्नभूत् ।

[जैनियों की कुछ और असम्भव बातें]

अब और थोड़ी-सी असम्भव बातें इनकी सुनो—

विवेकसार, पृष्ठ ७८—"एक करोड़ साठ लाख कलशों से महावीर को जन्म समय में स्नान कराया।"

विवेकसार, पृष्ठ १३६—"दशार्ण राजा महावीर के दर्शन को गया। वहाँ कुछ अभिमान किया। उसके निवारण के लिए १६,७७,७२,१६,००० इतने इन्द्र के स्वरूप, और १३,३७,०५,७२,८०,००,००,०००[1] इतनी इन्द्राणी वहाँ आईं थीं। देखकर राजा आश्चर्य हो गया।"

समीक्षक—अब विचारना चाहिए कि इतने इन्द्र और इन्द्राणियों के खड़े रहने के लिए ऐसे-ऐसे कितने ही भूगोल चाहिए।

[कुआ तालाब आदि बनवाने का निषेध मूर्खतापूर्ण]

श्राद्धदिनकृत्य, आत्मनिन्दा भावना, पृष्ठ ३१ में लिखा है कि—"बावड़ी कुआ और तालाब न बनवाना चाहिए"।

समीक्षक—भला जो सब मनुष्य जैनमत में हो जायें, और कुआ तालाब बावड़ी आदि कोई भी न बनवावें, तो सब लोग जल कहाँ से पियें?

आक्रान्ताखिलखेचरोज्ज्वलशिरोमाली विनम्यन्वये,
स्त्रीलोलो निजवंशकेतुरहिता चाग्रणी: रावण: ॥६८।७२८॥

अर्थात्—'रावण का जीव पहले सारसमुच्चय नाम के देश में नरदेव नाम का राजा था। फिर सौ धर्म स्वर्ग में सुख का भण्डारस्वरूप देव हुआ। तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर इसी भरतक्षेत्र के राजा विनमि विद्याधर के वंश में समस्त विद्याधरों के देदीप्यमान मस्तकों की माला पर आक्रमण करनेवाला, स्त्रीलम्पट, अपने वंश को नष्ट करने के लिए केतु (पुच्छल तारा) के समान तथा दुराचारियों में अग्रसर रावण हुआ ॥७२८॥' जरासन्ध की मृत्यु पर्व ७१ के ११५वें श्लोक में श्रीकृष्ण के द्वारा कथित है। इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण नारायण या वासुदेव हैं और जरासंध प्रतिनारायण या प्रतिवासुदेव हैं। प्रतिवासुदेव जैनसिद्धान्तानुसार अवश्य नरकगामी होते हैं। ७२वें पर्व की पुष्पिका में जरासन्ध को प्रतिवासुदेव और अनुवाद में प्रतिनारायण लिखा गया है। यहाँ मूल के साथ जो अनुवाद दिया गया है, वह इस पुराण के सम्पादक पं० पन्नालाल जैनसाहित्याचार्य का किया हुआ है। जैनाचार्यों को दूसरों के पूर्वापर जन्म का ज्ञान कैसे होता था, यह अन्वेष्य है।

असम्भव बातें—(क) ऋषभदेव (जैनों के आदिम तीर्थङ्कर) को सुवर्णकलशों से इन्द्रों ने स्नान कराया था। एक-एक कलश का प्रमाण पढ़िये और खोजिये—

अष्टयोजनगंभीरै: मुखे योजनविस्तृतै:।
प्रारेभे काञ्चनै: कुम्भै: जन्माभिषवणोत्सव: ॥

—जिनसेन प्रणीत महापुराण त्रयोदश पर्व श्लोक ११३

श्री पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'आठ योजन गहरे, मुख पर एक योजन चौड़े (और उदर में चार योजन चौड़े) सुवर्णमय कलशों से भगवान् के जन्माभिषेक का उत्सव प्रारम्भ किया गया था।'

१. पाठक इन इन्द्र-इन्द्राणियों की संख्याओं में भाग देकर देखें। प्रति इन्द्र ७९६९४८ इन्द्राणियों के पश्चात् ६३२३२००० इन्द्राणियाँ बचती हैं। उन्हें प्रति इन्द्र कैसे बाँटा जायेगा? यह है जैनियों के आचार्यों का गणितज्ञान!

प्रश्न—तालाब आदि बनवाने से जीव पड़ते हैं। उससे बनवानेवाले को पाप लगता है। इसलिए हम जैनी लोग इस काम को नहीं करते।

उत्तर—तुम्हारी बुद्धि नष्ट क्यों हो गई? क्योंकि जैसे क्षुद्र-क्षुद्र जीवों के मरने से पाप गिनते हो, तो बड़े-बड़े गाय आदि पशु और मनुष्यादि प्राणियों के जल पीने आदि से महापुण्य होगा, उसको क्यों नहीं गिनते?

(ख) सत्यार्थप्रकाश में थोड़ा-सा आगे चलकर ढूँढ़िया मत का उल्लेख है। उसके सम्बन्ध में कैराना निवासी दि० जैन ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जैन ने 'ढूँढक मत का गप्पाष्टक' नामक लघु पुस्तिका लिखी है। हम उनमें से सात गप्पों को यहाँ उद्धृत करते हैं। ब्रह्मचारीजी ने जो टिप्पणी की है, वह हमने छोड़ दी है।

(१) गप्प नम्बर १, मनुष्य गर्भ में बारह वर्ष तक रहे। भगवतीसूत्र के दूसरे शतक पाँचवें उद्देश्य के चौथे सूत्र में ३३१ पृष्ठ पर लिखा है कि—'अहो भगवन्! मनुष्य का गर्भ कितने काल तक रहता है।?' 'अहो गौतम मनुष्य का गर्भ जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट बारह वर्ष' (पृष्ठ २)।

(२) गप्प नम्बर २, एक भव में एक मनुष्य नौ सौ पिताओं का पुत्र हो। भगवतीसूत्र दूसरा शतक पाँचवाँ उद्देश्य पृष्ठ ३३२ पर लिखा है—'अहो भगवन्! एक जीव एक भव आश्रित कितने पिताओं का पुत्र होवे।' 'अहो गौतम! जघन्य एक दो तीन का पुत्र होवे। उत्कृष्ट प्रत्येक नव सौ पिताओं का पुत्र होवे, क्योंकि २२ मुहूर्त्त तक योनि सचित्त रहती है। उस समय नव सौ का बीज योनि में प्रविष्ट होने से उस समय का वह पुत्र नौ सौ का पुत्र कहाता है।'

(३) गप्प नम्बर ३, गर्भस्थ जीव शत्रुसेना से युद्ध करे। भगवतीसूत्र पहला शतक सातवाँ उद्देश्य १९ सूत्र पृष्ठ १८२-१८३ 'अहो भगवन्! किस तरह से गर्भस्थ जीव नारकी में उत्पन्न होते हैं।' 'अहो गौतम! कोई संज्ञी पंचेन्द्री जीव राणी की कुक्षि में उत्पन्न होवे, अर्थात् राजपुत्र होवे, वहाँ उसको पूर्ण पर्य्याप्ति बाँधकर प्राप्त हुवे पीछे पूर्व करणी के प्रभाव से वीर्यलब्धि व वैक्रियक लब्धि की प्राप्ति होवे। वह गर्भस्थ जीव ऐसी बात सुने कि परचक्र की सेना आई है और अपने को दुःखी करेगी। ऐसी बात सुनकर अवधार कर जीव के प्रदेश गर्भ के बाहिर निकले और वैक्रेय समुद्घात से तथाविधि-पुद्गलों को ग्रहण कर हाथी, घोड़े, रथ, पायदल वगैरह सेना की विकुर्वाण करे, विकुर्वाण करके पराचक्र की सेना के साथ संग्राम करे। द्रव्य की अभिलाषावाला, राज-ऋद्धि की अभिलाषावाला, गन्ध स्पर्श रूप भोग की अभिलाषावाला, शब्द रूपादि काम की अभिलाषावाला धन की इच्छा से आसक्त बना हुआ तीन अशुद्ध लेश्या से ध्यानयुक्त काम भोग की भावना भावता हुआ व करण करावण अनुमोदन रूप अध्यवसाय की प्रबलता करता हुआ वह जीव यदि उसी समय काल करी जावे अर्थात् आयुष्य पूरी करके जावे तो वह नरक गती में उत्पन्न होवे' (पृष्ठ ४)।

(४) गप्प नम्बर ४, कायभवस्थ मनुष्य २४ वर्ष तक गर्भ में रहे। भगवतीसूत्र दूसरा शतक पाँचवाँ उद्देश्य पृष्ठ ३३१ में लिखा है—'अहो भगवन्! कायभवस्थ जीव (माता के उदर में रहा हुआ निज देहरूप भव में रहनेवाला सो कायभवस्थ) कायभवस्थ में कितने काल तक रहे।' 'अहो गौतम! कायभवस्थ जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट २४ वर्ष स्त्री के गर्भ में, एक जीव बारह वर्ष रहकर चवा हुआ (मरे हुए) जीव के शरीर में अन्य जीव आकर बारह वर्ष रहे ॥५५॥' (पृष्ठ ५)।

(५) गप्प नम्बर ५, तेजोलेश्या के धुआँ से सारा नगर भर गया। उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्याय में २३१ पृष्ठ पर लिखा है—'एकदा (चित्र और संभूति साध) हस्तिनापुर नगर में आये, वहाँ

[महावीर की मिथ्या और असम्भव बात]

तत्त्वविवेक, पृष्ठ १९६-१९८—"एक नगरी में एक नन्दमणिकार सेठ ने बावड़ी बनवाई। उससे धर्मभ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुए। मरके उसी बावड़ी में मेंडुका हुआ। महावीर के दर्शन से उसको जातिस्मरण हो गया।" महावीर कहते हैं कि—"मेरा आना सुनकर वह पूर्वजन्म के धर्माचार्य जान, वन्दना को आने लगा। मार्ग में श्रेणिक के घोड़े की टाप से मरकर शुभध्यान के योग से दर्दुरांक नाम महर्द्धिक देवता हुआ। अवधिज्ञान से मुझको यहाँ आया जान वन्दनापूर्वक ऋद्धि दिखाके गया।"

समीक्षक—इत्यादि विद्याविरुद्ध असम्भव मिथ्या बात के कहनेवाले महावीर को सर्वोत्तम मानना महाभ्रान्ति की बात है।

नमुचि प्रधान ने उनको देखकर अपना औगुन छिपाने के लिए उनको गाँव से बाहिर निकलवा दिया। दोनों ने गाँव के बाहिर साँथरा (बिस्तरा) किया। सम्भूति को क्रोधाग्नि प्रदीप्त होने से तेजोलेश्या प्रगट हुई और मुख से ज्वालासहित धूम्र के गोटे-गोटे निकलने लगे। चित्र मुनि ने अपने हाथ से उनको दाब रक्खा, इससे ज्वाला तो रुक गई परन्तु धूम्र (धुआँ) से सारा नगर आच्छादित हो गया। यह देखकर सनत्कुमार भयभीत हुए और अपनी श्रीदेवीसहित तत्काल गाँव से बाहर आये और साधु को नमस्कार कर अपराध खमावने लगे।'

(६) गप्प नम्बर ६, एकसाथ एक पेट में साठ हजार पुत्रों का जन्म। उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्याय में २७९वें पृष्ठ पर लिखा है कि—'सगर राजा के पुत्र न होने से हरिणगवेसी देवता की आराधना की, देव ने साठ हजार गोलियाँ दीं, वह गोलियाँ उसने अपनी रानी 'मानेंती' को दीं, उसने ऐसा विचार किया कि यदि मैं यह गोली दूसरी (रानी) को दूंगी तो उसके पुत्र होगा, जिससे उसका भी सम्मान बढ़ेगा। जिससे अन्य किसी को नहीं दीनी, ईर्ष्याग्नि से आप ही खा गई। उसके प्रभाव से उसकी कुक्षि में एकसाथ ही ६० हजार जीव गर्भ पने उत्पन्न हुए, उस रानी को महावेदना हुई, जिससे राजा ने पुन: देव का आराधन किया। उसके योग से ६० हजार कुमारों का एक कुख्य (पेट) से जन्म हुआ' (पृष्ठ ७-८)।

(७) गप्प नम्बर ७, पशुपक्षी माता के पेट में आठ वर्ष तक रहे। भगवतीसूत्र के दूसरे शतक के पाँचवें उद्देश्य में ३३०वें पृष्ठ पर लिखा है—'अहो भगवन्! तिर्यंच योनि में तिर्यंच का गर्भ कितने काल तक रहता है।' 'अहो गौतम! तिर्यंच का गर्भ जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट आठ संवत्सर (वर्ष) तक रहता है' (पृष्ठ ८)। एक जैन द्वारा दूसरे जैनसम्प्रदाय का खण्डन है, हम अपनी ओर से कुछ नहीं कहते।

मैंडुका—नन्दमणिकार की कथा तेरापन्थ के आचार्य जीतमलजी के बनाये 'भ्रमविध्वंस' नामक ग्रन्थ की द्वितीय आवृत्ति पृष्ठ ७४ पर इस प्रकार दी गई है—'नन्दन मणियारो दानशालादिक नो घणे आरम्भ करी मरी ने देड़की थयो। जो सावद्य दान थी पुण्य होवे तो दानशालादिक थी घणा असंयती जीवों ने शान्ति उपजाई तो साता का फल क्यां गयो घणा असंयती जीवों ने शान्ति उपजाई तेना अशुभ फल ए प्रत्यक्ष दीसे छै।" यह उद्धरण हमने 'तेरहपन्थ पन्थ क्या है' नामक मुनि अमृतकृत पुस्तक से लिया है। इसका भाव यह है कि नन्दन मणिकार ने जो बहुत से दानशालादिक बनवाये, उससे वह मैंडक हुआ। जो सावद्य (दोषयुक्त) दान से पुण्य होवे तो दानशालादिक से असंयती (सांसारिक) जीवों को शान्ति उपजाई, तो साता का फल कहाँ गया। (नन्दमणिकार ने) बहुत-से असंयती (संसारी) जीवों को शान्ति उपजाई, उसका यह अशुभ फल प्रत्यक्ष दीखता है।

[जैन साधुओं के महाब्राह्मणों जैसे काम]

श्राद्धदिनकृत्य, पृष्ठ ३६ में लिखा है कि—'मृतक-वस्त्र साधु ले लेवें।'

समीक्षक—देखिये, इनके साधु भी महाब्राह्मण के समान हो गये। वस्त्र तो साधु लेवें, परन्तु मृतक के आभूषण कौन लेवे ? बहुमूल्य होने से घर में रख लेते होंगे, तो आप कौन हुए ?

[अन्न पीसने वा पकाने में पाप मानना मूर्खता]

रत्नसार, भाग १ पृष्ठ १०५—'भूँजने कूटने पीसने अन्न पकाने आदि में पाप होता है।'

समीक्षक—अब देखिये इनकी विद्याहीनता। भला ये कर्म न किये जायें, तो मनुष्यादि प्राणी कैसे जी सकें ? और जैनी लोग भी पीड़ित होकर मर जायें।

[अच्छे कामों को बुरा बताना भी अज्ञानता]

रत्नसार, भाग १ पृष्ठ १०४—'बागीचा लगाने से एक लक्ष पाप माली को लगता है।'

समीक्षक—जो माली को लक्ष पाप लगता है, तो अनेक जीव पत्र-फल-फूल और छाया से आनन्दित होते हैं, तो करोड़ों गुणा पुण्य भी होता ही है। इस पर कुछ ध्यान भी न दिया। यह कितना अन्धेर है !!

[जैन साधु द्वारा वेश्या के घर में अशर्फियों की वर्षा !!]

तत्त्वविवेक, पृष्ठ २०१-२०२—"एक दिन लब्धि[1] साधु भूल से वेश्या के घर में चला गया, और धर्म से भिक्षा माँगी। वेश्या बोली कि यहाँ धर्म का काम नहीं, किन्तु अर्थ का काम है। तो उस लब्धि साधु ने साढ़े बारह लाख अशर्फी की वर्षा उसके घर में कर दी।'

समीक्षक—इस बात को सत्य विना नष्टबुद्धि पुरुष के कौन मानेगा ?

[पाषाण-मूर्त्ति घोड़े पर कैसे चढ़ सकती है ?]

रत्नसार, भाग १ पृष्ठ ६७ में लिखा है कि—'एक पाषाण की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़ी हुई, उसका जहाँ स्मरण करे, वहाँ उपस्थित होकर रक्षा करती है।'

समीक्षक—कहो जैनीजी ! आजकल तुम्हारे यहाँ चोरी डाँका आदि, और शत्रु से भय होता ही है। तो तुम उसका स्मरण करके अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते हो ? क्यों जहाँ-तहाँ पुलिस आदि राजस्थानों में मारे-मारे फिरते हो ?

[जैन साधुओं के दो भेद—श्वेताम्बर और दिगम्बर]

अब इनके साधुओं के लक्षण—

सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः॥१॥
लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः॥२॥
भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥३॥

---

१. लब्धि अर्थात् सिद्ध। इसका नाम नन्दिषेण था।

जैन के साधुओं के लक्षणार्थ 'जिनदत्तसूरी' ने ये श्लोक कहे हैं। सरजोहण=चमरी रखना, और भिक्षा माँग के खाना, शिर के बाल लुञ्चित कर देना, श्वेत वस्त्र धारण करना, क्षमायुक्त रहना, किसी का सङ्ग न करना, ऐसे लक्षणयुक्त जैनियों के 'श्वेताम्बर' साधु होते हैं, जिनको 'जती' कहते हैं।

दूसरे 'दिगम्बर' अर्थात् वस्त्र धारण न करना, शिर के बाल उखाड़ डालना, 'पिच्छिका'= एक ऊन के सूतों का झाड़ू लगाने का साधन बगल में रखना, जो कोई भिक्षा दे तो हाथ में लेकर खा लेना। ये 'दिगम्बर' दूसरे प्रकार के साधु होते हैं। और भिक्षा देनेवाला गृहस्थ जब भोजन कर चुके, उसके पश्चात् भोजन करें, वे 'जिनर्षि' तीसरे प्रकार के साधु होते हैं ॥२॥

[दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में मतभेद]

दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का [1]अपवर्ग नहीं कहते और श्वेताम्बर कहते हैं। और इनमें केवली भोजन नहीं करता इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इनके साधुओं का भेद है ॥३॥

दिगम्बरों के भेद—दिगम्बर जैनों में कई भेद हैं—१. तेरहपन्थ, जो अपने को शुद्धाम्नायी कहते हैं; २. बीसपन्थ; ३. तरणतारण।

स्त्री का मोक्ष—स्त्री का मोक्ष न होने में तो इतना विवाद है कि श्वेताम्बरों के अनुसार चौबीस तीर्थङ्करों में से एक स्त्री है। दिगम्बर स्त्रियों के इतने विरोधी हैं कि पवित्र से पवित्र स्त्री में भी वे दोषों की सत्ता मानते हैं। प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण (महापुराण के तृतीय-खण्ड) के ७२वें पर्व में लिखा है—

योषित्सु व्रतशीलादिसत्क्रियाश्चाप्नुवन्ति चेत्।
न शुद्धिं ताः स्वपर्यन्तं कथं नायान्त्वसत्क्रियाः ॥६२॥
सर्वदोषमयो भावो दुर्लक्ष्यो सर्वयोषिताम्।
दुःसाध्यश्च महामोहावहोऽसौ संनिपातवत् ॥६३॥

पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं—'जिन किन्हीं स्त्रियों में व्रत शील आदि सत्क्रियायें रहती हैं, वे भी शुद्धि को प्राप्त नहीं होतीं, फिर जिनमें सत्क्रियायें नहीं हैं, वे अपनी अशुद्धता के परम प्रकर्ष को क्यों न प्राप्त हों? ॥६२॥ सब स्त्रियों के सब दोषों से भरे भाव दुर्लक्ष्य रहते हैं—कष्ट से जाने जा सकते हैं। ये संनिपात के समान दुःसाध्य तथा बहुत भारी मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं' ॥६४॥

केवली के भोजन करने न करने तथा स्त्री के मुक्ति प्राप्त करने न करने के अतिरिक्त अन्य अनेक भेद इनमें हैं। उनमें से थोड़ों-सा का यहाँ दिग्दर्शन कराते हैं—

१. श्वेताम्बर मानते हैं कि आदिम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अपनी सहोदरा भगिनी सुमङ्गला से विवाह किया था। सुमङ्गला का जन्म ऋषभदेव के साथ ही हुआ। ऋषभदेव के पिता नाभिराजा ने भी अपनी सगी बहिन मरुदेवी से विवाह किया था। ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत ने भी अपनी सगी बहिन से विवाह किया था। दिगम्बर इसे नहीं मानते।

---

१. 'अपवर्ग ···श्वेताम्बर कहते हैं' पाठ सं० ५ में परिशोधित हुआ, जो उक्त श्लोकानुसार ठीक है। सं० २, ३, ४, ३४, ३५ में 'स्त्री का संसर्ग नहीं करते, और श्वेताम्बर करते हैं' पाठ मिलता है। यह भ्रष्ट पाठ है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही प्रकार के साधुओं में स्त्री-संसर्ग सर्वथा वर्जित है।

[केश-लुञ्चन में कष्ट होने से वह हिंसा है]

इससे जैन लोगों का 'केश-लुञ्चन' सर्वत्र प्रसिद्ध है। और पाँच मुष्टि लुञ्चन करना इत्यादि भी लिखा है। विवेकसार, पृष्ठ २१६ में लिखा है कि—"पाँच मुष्टि लुञ्चन कर चारित्र ग्रहण किया। अर्थात् पाँच मुठी शिर के बाल उखाड़के साधु हुआ।" कल्पसूत्रभाष्य, पृष्ठ १०८—"केशलुञ्चन करे, गौ के बालों के तुल्य रखे।"

---

२. दिगम्बर मानते हैं कि तीर्थङ्कर नग्न रहते हैं। श्वेताम्बर इसके विपरीत उनको वस्त्रधारी मानते हैं।

३. श्वेताम्बरों की मान्यता है कि उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्लीनाथ जी स्त्री थे। दिगम्बर उन्हें पुरुष मानते हैं, क्योंकि वे तो स्त्री की मुक्ति ही नहीं मानते, स्त्री का तीर्थङ्कर होना कैसे मान सकते हैं।

४. श्वेताम्बर मानते हैं कि चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर पहले ब्राह्मणी के गर्भ में आये, किन्तु तीर्थङ्कर का नीच (ब्राह्मण) के घर आना अनुचित जान उनको एक क्षत्रिया के पेट में डाल दिया गया। अमरचन्द्ररचित चतुर्विंशति जिनेन्द्रसंक्षिप्तचरित में चतुर्विंशतितम श्रीमहावीरजिनचरित्र के १६५ से १८४ तक यह सब वृत्तान्त है। गर्भ बदलने का कार्य सौधर्मा स्वर्ग के अधिपति के आदेश से उसके सेनापति नैगमेषी ने किया। [१७१ श्लोक में ब्राह्मण कुल को रोरकुल, भिक्षावृत्ति, तुच्छकुल कहा है, १७३ में नीचकुल कहा है] दिगम्बर इसे नहीं स्वीकारते।

५. श्वेताम्बरों के ग्रन्थों में महावीर स्वामी द्वारा कुक्कुट मांस खाने का वर्णन आता है। दिगम्बर इसका विरोध करते हैं। श्वेतांबर भी आजकल इसका विरोध करने लग गये हैं, जो शुभ बात है। भगवतीसूत्र के उस प्रसङ्ग में आये मार्जार तथा कुक्कुट शब्दों के अर्थ बदले जा रहे हैं, जिसे बुरा नहीं कहा जा सकता। (प्रायः सभी मतप्रवर्त्तकों के जीवनचरितों में अन्धभक्तों ने कई असंगत प्रसंग डालने की कुचेष्टा की है) किन्तु कई विवेकशील श्वेताम्बर जैन इन परिवर्त्तित अर्थों को स्वीकार नहीं करते। यथा श्री बच्छराजसिंघी ने 'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' के पृष्ठ १६२-१६४ तक इस प्रकरण तथा जैनमुनि का तद्विषयक समाधान भी देकर इस समाधान से अपना असन्तोष इस प्रकार व्यक्त किया है—"सबसे बड़ी विचारने की तो बात यह है कि क्या बिजोरा और कूष्माण्ड (कोला) फलों का नाम उस समय भारतवर्ष में प्रचलित नहीं थे अथवा बिजोरे को कपोत शरीर और कूष्माण्ड (कोले) को कुक्कुड मांस ही कहा जाता था। इन ही शास्त्रों में माऊलिङ्ग या बिजपुर और कोले का नाम कूष्मांड कहा हुआ मिल रहा है, फिर इसी स्थल में बिजोरे को कपोत शरीर और कोले को कुक्कुड़मांस कहने की कौन-सी आवश्यकता थी, यह विचारने की बात है" पृ० १६४-१६५।

६. दिगम्बर मुनियों के लिए माँसाहार को सर्वथा वर्जित मानते हैं, किन्तु श्वेताम्बरग्रंथों में कुछ गोलमाल है। 'जैन शास्त्रों की असंगत बातें' पुस्तक में लिखा है—"आचाराङ्ग सूत्र के कई स्थानों में ऐसे पाठ आते हैं, जिनमें मुनियों के भोजन व्यवहारों के साथ 'मद्यं वा मांसं वा मच्छं वा' शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे—आचारांगसूत्र के १०वें अध्ययन के चौथे उद्देश्य में इस प्रकार है—

'संति तत्थेपतियस्स्व''' पिंडं वा, लोयं वा खीरं वा दधिं वा नवणीयं वा घयं वा, गुलं वा, तेल्लं वा, महुं वा, मज्जं वा, मासं वा,''' वेसियं पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहातेज्जा'।

भावार्थ—"किसी गाँव में किसी मुनि का अपने तथा अपने ससुराल के गृहस्थ पुरुष, गृहस्थ स्त्री,

समीक्षक—अब कहिये, जैन लोगो ! तुम्हारा दया धर्म कहाँ रहा ? क्या यह हिंसा अर्थात् चाहें अपने हाथ से लुञ्चन करे, चाहें उसका गुरु करे वा अन्य कोई, परन्तु कितना बड़ा कष्ट उस जीव को होता होगा ? जीव को कष्ट देना ही 'हिंसा' कहाती है।[1]

पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, धाय, नौकर, नौकराणी, सेवक, सेविका रहते हों, उस गाँव में जाते हुए वह मुनि ऐसा विचार करे कि मैं एक दफा अन्य सब साधुओं से पहले अपने रिश्तेदारों में भिक्षा के लिए जाऊँगा, और मुझे वहाँ अन्न, पान, दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल, मधु (शहद), मद्य (शराब), माँस, तिलपापड़ी, गुड़ का पानी, बूंदी या श्रीखण्ड मिलेगा—उसे मैं सबसे पहले खाकर अपने पात्र साफ करके पीछे दूसरे मुनियों के साथ गृहस्थों के घर भिक्षा लेने जाऊँगा। (यदि वह मुनि ऐसा करे) तो मुनि के लिए यह दोष की बात है। इसलिये मुनि को ऐसा नहीं करना चाहिए। किन्तु अन्य मुनियों के साथ समय पर अलग-अलग कुलों में भिक्षा के लिए जाकर मिला हुआ निर्दूषण आहार लेकर खाना चाहिए।" (पृष्ठ १६५-१६६)। हमने मूल प्राकृत का अपेक्षित अंश दिया है। इस सन्दर्भ पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—

"...अकेला न जाकर यदि साधु अन्य साधुओं के साथ जाकर दूध, दही, मद्य, माँस आदि पाठ में आई हुई कोई भी वस्तु लाकर अपने ही हिस्से के अनुसार खावे तो शास्त्रकार के अभिप्राय के अनुसार कोई दोष प्रमाणित नहीं होता। शास्त्रकार की दृष्टि में इस स्थान पर मद्य, मांस साधु के लिए त्याज्य वस्तु होती तो पाठ में इन शब्दों का प्रयोग ही नहीं होता" (पृष्ठ १६६-१६७)। आचारांग के ९वें तथा १०वें उद्देश्यों में माँसाहार की चर्चा है। एक पाठ का भावार्थ देते हुए सिंघी जी लिखते हैं—

"यदि कदाचित् वह गृहस्थ उस बहुत हड्डियोंवाले मांस को मुनि के पात्रों में झट डाल देवे तो मुनि गृहस्थ को कुछ न कहे, किन्तु लेजाकर एकान्त स्थान में पहुँचकर जीव जन्तुरहित बाग या उपाश्रय के भीतर बैठकर उस माँस या मछली को खा लेवे और उस माँस मछली के काँटे तथा हड्डियों को निर्जीव स्थान में रजोहरण से साफ करके परठ दे" (पृष्ठ १७०-१७१)। इसके आगे सिंघीजी लिखते हैं—

"इस पाठ पर टीका करते हुए टीकाकार फरमाते हैं कि अनिवार्य कारणों पर अपवाद मार्ग में मत्स्य माँस का साधु बाह्य परिभोग कर सकता है" (पृष्ठ १७१)। इसके आगे टीकाकार के समाधान से असन्तोष प्रकट करके पृष्ठ १७६ पर वे लिखते हैं—

'बुलेटिन नम्बर २ के गत लेख में सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति के भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के भोजन से कार्यसिद्धि के कथन में जो भिन्न-भिन्न नौ दस माँसों के नाम आए हैं, उनके विषय में यह कहना कि वनस्पति विशेष के नाम हैं, किसी प्रकार से भी नहीं बन सकता।...सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति में आये हुए भिन्न-भिन्न बसभमंस, मिगमंस, दीवगमंस, मेढगमंस, णक्खिमंस, वाराहमंस, जलयरमंस, तित्तरमंस, वट्टकमंस और विपाकसूत्र में आए हुए माँसों के नाम प्रायः एक ही हैं। इसलिए, एक सूत्र में उन माँसों को माँस समझ लेना और दूसरे सूत्रों में उन्हीं माँसों को वनस्पति समझ लेना, यह तो अपनी समझ की स्वच्छन्दता है'। हमें सिंघी जी का यह तर्क दुर्बल ही नहीं, निस्सार दीखता है। प्रकरणवश शब्दों के

---

१. ऋ० द० ने 'संस्कारविधि' के संन्यास-प्रकरण पृष्ठ २९५ में शिखा के ५-७ केशों के उखाड़ने का निर्देश किया है। इस पर अनेक व्यक्ति यही आक्षेप करते हैं, जो यहाँ किया गया है। यदि तत्त्वत: देखा जाय, तो दोनों में महान् अन्तर है। जैनियों के मत में सभी केशों का लुञ्चन विहित है, जबकि संन्यासकर्म में शिखा के ५-७ केशों का। शिखा और यज्ञोपवीत पूर्व आश्रमों के चिह्न हैं। उन्हें संन्यास-ग्रहण करनेवाला स्वयं अपने हाथ से दूर करे। इतने मात्र तात्पर्य के लिए ५-७ केशों का उखाड़ना लिखा है। ५-७ केश उखाड़ने में कोई कष्ट नहीं होता।

[ढूंढिया और तेरहपन्थी; तथा मुख पर पट्टी बांधना]

विवेकसार, पृष्ठ ७-८—"संवत् १६३३ के साल में श्वेताम्बरों में से 'ढूंढिया' और ढूंढियों में से 'तेरहपन्थी' आदि ढोंगी निकले हैं। ढूंढिये लोग पाषाणादि मूर्त्ति को नहीं मानते। और वे भोजन-स्नान को छोड़ सर्वदा मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं। और 'जती'[1] आदि भी जब पुस्तक बांचते हैं, तभी मुख पर पट्टी बांधते हैं। अन्य समय नहीं"।

अर्थों में भेद हो जाना सर्वथा युक्त है। किन्तु इस के आगे जो उन्होंने लिखा है, वह वज्र से भी प्रबल है—

"सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति में टीकाकार ने सारे ग्रन्थ की टीका की है, परन्तु जिस स्थान में इन माँसों के भोजन का कथन है, केवल उसी स्थल की टीका करनी छोड़ दी और टब्बाकार ने भी ऐसा ही किया है।···टीकाकार और टब्बाकार का इस स्थान में मौन रहना साफ बता रहा है कि ऐसे निकृष्ट विधान में कलम चलाने की उनकी इच्छा नहीं हुई" पृष्ठ १७७)। इसके आगे सिंघी जी ने जैनसमाज के आगे एक सुझाव दिया है, जिसे यदि वह मान ले तो उनका अत्यन्त मंगल हो। वे लिखते हैं—

'मद्य, मच्छ और कपोतशरीर, कुक्कुड़माँस तथा सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि जिन-जिन शास्त्रों में जिस-जिस स्थान में ऐसे मद्य, माँसादि शब्दों के साथ भोजन व्यवहारों का सम्बन्ध है, उन वाक्यों तथा पाठों के शब्दों को क्यों नहीं उन स्थलों से सर्वथा हटा दिया जाता और उनके स्थान में वनस्पतिविशेष के शब्द रख दिये जाते? यह तो मानी हुई बात है कि वर्तमान शास्त्रों के सब भाग को हम सर्वज्ञप्रणीत नहीं कह सकते और न इनको कोई सर्वज्ञप्रणीत सिद्ध ही कर सकता है, क्योंकि यदि यह सर्वज्ञप्रणीत होते तो इनमें असत्य, अस्वाभाविक और असम्भव प्रतीत होनेवाली बातें सैंकड़ों तथा हजारों की संख्या में नहीं पाई जातीं' (पृष्ठ १७७-१७८)। 'इसलिये प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्माचार्य महाराज तथा जैन धर्म्म के हितेच्छुओं से मेरी विनयपूर्वक नम्र प्रार्थना है कि इन सब शास्त्रों का प्रारम्भ से आखिर तक सबका संशोधन होना चाहिए और इनमें से असत्य, अस्वाभाविक और असम्भव प्रमाणित होनेवाले तथा मानवहितों के विरुद्ध पड़नेवाले वाक्यों तथा पाठों को हटा देना चाहिए। केवल उन वचनों को रखना चाहिए जो मानव-जीवन का निर्माण तथा कल्याण करनेवाले हों।' पृ० १७८-१७९। ऋषि दयानन्द भी यही चाहते थे। श्वेतांबरों तथा दिगम्बरों का अन्य अनेक बातों में मतभेद है।

'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' पुस्तक में लिखा है—

'सूत्रों की रचना के कुछ ही समय पश्चात् बड़गच्छ की स्थापना हुई। उसके पश्चात् विक्रम-संवत् ११३९ में षट्कल्याण मत, १२०४ में खरतर गच्छ, १२१३ में आंचलिक मत, १२३६ में सार्ध-पौर्णिमेयकमत, १२५० में आगमिक मत, १२८५ में तपागच्छ, १५३१ में लुंकागच्छ, १५६२ में कटुकमत, १५७० में बिजागच्छ, १५७२ में पाय चन्द्रसूरिगच्छ, १७०९ में लवजी का मत (जिसके स्थानकवासी हुए हैं) और १८१६ में तेरापन्थ मत चालू हुए। इनके अतिरिक्त और भी अनेक मत चालु हुए हैं' (पृ० १५२-१५३)। जैनों के ये विभिन्न मत किस प्रकार प्रचलित हुए, इसका एक निदर्शन 'जैन शास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया है—

'जैन-श्वेताम्बर मान्यता के इस समय तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं। सम्वेगी वा मूर्त्तिपूजक, बाईस टोले या स्थानकवासी और तेरापन्थी। सम्वेगी या मूर्त्तिपूजक भगवान् महावीर के पाट से अपने आपको

---

१. जती=श्वेताम्बर साधु।

[मुख पर पट्टी बाँधने की समीक्षा]

प्रश्न—मुख पर पट्टी अवश्य बाँधना चाहिये। क्योंकि 'वायुकाय' अर्थात् जो वायु में सूक्ष्म

पाट-दर-पाट अनुक्रम से चले आते हुए बतला रहे हैं और ८४ आगमों को मानते हैं, परन्तु इनका यह कथन है कि ८४ में से अनुक्रम से ४५ ही आगम इस समय उपलब्ध हैं, बाकी में से अनेक आगम लोप हो गये। स्थानकवासी और तेरापन्थ के विषय में 'जिनाज्ञाप्रदीप' नामक ग्रन्थ का ऐतिहासिक कथन यह है कि विक्रम संवत् १५३१ के लगभग लुङ्का के नाम का एक व्यक्ति जैन धर्म की पुस्तकों के लिखने का व्यवसाय करता था। श्री रत्नशेखरसूरि नामक तपागच्छ के आचार्य ने लुङ्का से भगवतीसूत्र की एक प्रति लिखवाई। श्रीलुङ्का ने भगवतीसूत्र में, जङ्घाचरण विद्याचरण मुनि, जो लब्धि द्वारा शाश्वत अशाश्वत जिनमन्दिर वन्दन करने गये थे, उनके विषय में ७ पृष्ठ नहीं लिखने की गलती कर दी। इस पर आचार्य महाराज ने भगवतीसूत्र की यह प्रति लेने से इन्कार किया। आचार्य महाराज के इन्कार कर देने पर श्रीसंघ ने लुङ्का को लिखवाई के रुपये नहीं दिये। इसी बात को लेकर परस्पर बहुत विवाद बढ़ गया और लुङ्का को उपाश्रय से धक्का देकर निकाल दिया। लुङ्का ने इस अपमान का बदला लेने की ठान ली और इसी प्रयत्न में रहा कि किसी तरह से इन मूर्त्तिपूजकों को अपमानित कर सकूं तो ठीक हो। इसी दृष्टि से उसने मूर्त्तिपूजकों के माने हुए ४५ सूत्रों में से केवल ३२ सूत्रों के मूल पाठ को मान्य रखकर बाकी के १३ सूत्रों में स्वार्थी लोगों के कथन प्रक्षेप किये हुए हैं, कहकर अमान्य ठहराया। कारण इन तेरह सूत्रों में मूर्त्तिपूजा के पक्ष अनेक स्थानों में स्पष्ट तौर पर विधान दिया हुआ है और पूजा को आत्मकल्याण का उत्तम साधन बताया गया है। इसीलिये ३२ सूत्रों पर लिखे हुए भद्रबाहु स्वामी, मलयगिरि, शिलङ्काचार्य, अभयदेव सूरि आदि अनेक आचार्यों के भाष्य चूर्णि, वृत्ति, अवचूरि, टीका, निर्युक्ति आदि के विषय में भी यह कह दिया कि जो बातें इनमें बताई हुई हमारे विचारों के अनुकूल नहीं हैं, वे हमें मान्य नहीं हैं। लुङ्का ने अपने प्रचार में अथक परिश्रम करके लुँपक मत के नाम से अपना सम्प्रदाय चालू कर दिया। इस लुँपक मत में से विक्रम संवत् १७०९ में लवजी नाम के एक साधु ने अपना टोला कायम किया, जिसके बढ़ते-बढ़ते २२ टोले बन गये। वही बाईस टोले अथवा स्थानकवासियों के नाम से इस समय प्रसिद्ध हैं। इन बाईस टोलों में से एक टोला श्री रघुनाथजी नाम के आचार्य का था, जिसमें से विक्रम संवत् १८१८ में श्रीभीखमजी ने अलग होकर तेरहपन्थ नाम का अपना मत चालू किया। तेरापन्थी भी स्थानकवासियों की तरह ३२ सूत्रों के केवल मूल पाठ को ही मानते हैं। परन्तु इन दोनों के विचारों और प्रचार में रात-दिन का अन्तर है। मूर्त्तिपूजक और स्थानकवासियों के विचारों में केवल मूर्त्तिपूजा के विषय को छोड़कर दान, दया आदि विषयों में पूर्ण सादृश्य है। तेरापन्थ मत स्थानकवासियों में से निकला हुआ है, इसलिए मूर्त्तिपूजा के विषय में इनके विचार स्थानकवासियों जैसे ही हैं, परन्तु दान दया के विषय में सर्वथा भिन्न हैं। स्थानकवासी भूख-प्यास से मरते प्राणी को सामाजिक व्यक्ति द्वारा अन्न पानी की सहायता से बचाने में पुण्य मानते हैं और तेरापन्थी ऐसा करने में एकान्त पाप मानते हैं। स्थानकवासी सार्वजनिक लाभ के कामों को निस्स्वार्थभाव से करने में सामाजिक व्यक्ति को पुण्य हुआ मानते हैं और तेरापन्थी एकान्त पाप मानते हैं। स्थानकवासी श्रावक माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करने में पुण्य मानते हैं और तेरापन्थी एकान्त पाप मानते हैं' (पृ० १३०-१३२)।

इनके मुखपट्टी बाँधने में भी विवाद है। ये ढूंढ़िये जैसा बतलाया जा चुका है, श्वेतांबरमतान्तर्गत हैं। ढूंढ़िया साधु हर समय मुख पर पट्टी बाँधने के पक्षपाती हैं, दूसरे संवेगी (मूर्त्तिपूजक) साधु मुंह पर पट्टी के अनुकूल नहीं हैं। वे एक पट्टी हाथ में रखते हैं। कोई-कोई अब भी व्याख्यान देते समय उस पट्टी

शरीरवाले जीव रहते हैं, वे मुख के बाफ को उष्णता से मरते हैं। और उसका पाप मुख पर पट्टी न बाँधनेवाले पर होता है। इसीलिए हम लोग मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा समझते हैं।

उत्तर—यह बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणादि की रीति से अयुक्त है। क्योंकि जीव अजर अमर हैं। फिर वे मुख की बाफ से कभी नहीं मर सकते। इनको तुम भी अजर-अमर मानते हो।

प्रश्न—जीव तो नहीं मरता, परन्तु जो मुख के उष्ण वायु से उनको पीड़ा पहुँचती है। उस पीड़ा पहुँचानेवाले को पाप होता है। इसीलिए मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा है।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात सर्वथा असम्भव है। क्योंकि पीड़ा दिये विना किसी जीव का किंचित् भी निर्वाह नहीं हो सकता है। जब मुख के वायु से तुम्हारे मत में जीवों को पीड़ा पहुँचती है, तो चलने फिरने बैठने हाथ उठाने और नेत्रादि के चलाने में भी पीड़ा अवश्य पहुँचती होगी। इसलिए तुम भी जीवों को पीड़ा पहुँचाने से पृथक् नहीं रह सकते।

प्रश्न—हाँ, जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जीवों की रक्षा करनी चाहिए। और जहाँ हम नहीं बचा सकते, वहाँ अशक्त हैं। क्योंकि सब वायु आदि पदार्थों में जीव भरे हुए हैं। जो हम मुख पर कपड़ा न बाँधें, तो बहुत जीव मरें। कपड़ा बाँधने से न्यून मरते हैं।

[मुख पर पट्टी बाँधने में अनेक दोष]

उत्तर—यह भी तुम्हारा कथन युक्तिशून्य है। क्योंकि कपड़ा बाँधने से जीवों को अधिक दुःख पहुँचता है। जब कोई मुख पर कपड़ा बाँधे, तो उसका मुख का वायु रुकके नीचे वा पार्श्व, और मौन-समय में नासिका द्वारा इकट्ठा होकर वेग से निकलता है। उससे उष्णता अधिक होकर जीवों को विशेष पीड़ा तुम्हारे मतानुसार पहुँचती होगी।

को हाथ के साथ मुख के आगे कर लेते हैं। ऋषि दयानन्द के समय सभी संवेगी साधु मुख पर पट्टी बाँधते थे, अब प्रायः सभी ने उसका त्याग कर दिया है, केवल ढूंढ़िया साधु रखते हैं। इस विषय पर परस्पर चर्चा करते हुए विना प्रसंग के आर्यसमाज को भी गाली देने से नहीं चूकते। जो जैन साधु मुख पर पट्टी बाँधने के विरोधी हैं, उन्होंने प्रायः वही युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जो ऋषि ने यहाँ प्रस्तुत की हैं। इससे ऋषि का प्रभाव स्पष्ट है।

पीड़ा दिये विना निर्वाह नहीं—"विचार के देखा जाये तो ऐसी अवस्था में किसी का भी विना जीवों की हिंसा किये किसी भी कार्य का कर सकना अशक्य है। मुँह से शब्द और श्वास निकलने पर वायुकाय के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा, पानी पीने में अप्काय यानी जल के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा, अग्नि जलाकर काम में लाने पर अग्निकाय के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा और पृथिवी के ऊपर के कुछ भाग (दस-पाँच अंगुल ऊपर की सतह का भाग) को छोड़कर अन्य सब भाग पर चलने फिरने आदि किसी प्रकार का स्पर्श करने से पृथिवीकाय के असंख्यात जीवों के मरने की हिंसा! इस हिंसा से मनुष्य को पाप लगने का जिन शास्त्रों में कथन हो, उन शास्त्रों को माननेवालों का इस संसार में विना हिंसा किए एक क्षण भी जीवित रह सकना असम्भव है—चाहे वह कितना ही त्यागी और धर्मात्मा क्यों न हो जाये। यदि उस त्यागी को ऐसी हिंसा और पाप से बचना है तो अपना शरीर त्याग करे, तो भले ही अहिंसक रहने की आशा कर ले, वरना सर्वथा असम्भव बात है" (जैन शास्त्रों की असङ्गत बातें, पृ० १८२)। ये एक निष्ठावान् जैन के शब्द हैं। ग्रन्थकार के ऊपर लिखे शब्दों की ही मानो यह विस्तृत व्याख्या है। इससे यह न समझा जाये कि दिगम्बर जैन हिंसा से बच जाते हैं। उन्हें

देखो, जैसे घर वा कोठरी के सब दरवाजे बन्ध किये वा परदे डाले जायें, तो उसमें उष्णता विशेष होती है, खुला रखने से उतनी नहीं होती, वैसे मुख पर कपड़ा बाँधने से उष्णता अधिक होती है, और खुला रखने से न्यून। वैसे तुम अपने मतानुसार जीवों को अधिक दुःखदायक हो। और जब मुख बन्ध किया जाता है, तब नासिका के छिद्रों से वायु रुक इकट्ठा होकर वेग से निकलता हुआ जीवों को अधिक धक्का और पीड़ा करता होगा।

देखो, जैसे कोई मनुष्य अग्नि को मुख से फूंकता और कोई नली से, तो मुख का वायु फैलने से कम बल, और नली का वायु इकट्ठा होने से अधिक बल से अग्नि में लगता है, वैसे ही मुख पर पट्टी बाँधकर वायु को रोकने से नासिका द्वारा अतिवेग से निकलकर जीवों को अधिक दुःख देता है। इससे मुख-पट्टी[1] बाँधनेवालों से, नहीं बाँधनेवाले धर्मात्मा हैं। और मुख पर पट्टी बाँधने से अक्षरों का यथा-योग्य स्थान प्रयत्न के साथ उच्चारण भी नहीं होता। निरनुनासिक अक्षरों को सानुनासिक बोलने से तुमको दोष लगता है।

तथा मुख-पट्टी बाँधने से दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है। क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध भरा है। शरीर से जितना वायु निकलता है, वह दुर्गन्धयुक्त प्रत्यक्ष है। जो वह रोका जाय, तो दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ जाय। जैसाकि बन्ध 'जाजरूर'[2] अधिक दुर्गन्धयुक्त, और खुला हुआ न्यून दुर्गन्धयुक्त होता है, वैसे ही मुखपट्टी बाँधने, दन्तधावन मुखप्रक्षालन और स्नान न करने, तथा वस्त्र न धोने से तुम्हारे शरीरों से अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होकर संसार में बहुत रोग करके जीवों को जितनी पीड़ा तुम्हारे शरीर पहुँचाते हैं, उतना ही पाप तुमको अधिक होता है।

जैसे मेले आदि में अधिक दुर्गन्ध होने से 'विसूचिका' अर्थात् हैजा आदि बहुत प्रकार के रोग उत्पन्न होकर जीवों को दुःखदायक होते हैं। और न्यून दुर्गन्ध होने से रोग भी न्यून होकर जीवों को बहुत दुःख नहीं पहुँचता। इससे तुम अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने में अधिक अपराधी, और जो मुख-पट्टी नहीं बाँधते, दन्तधावन मुखप्रक्षालन स्नान करके स्नान-वस्त्रों को शुद्ध रखते हैं, वे तुमसे बहुत अच्छे हैं।

जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से पृथक् रहनेवाले बहुत अच्छे हैं। जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से निर्मल बुद्धि नहीं होती, वैसे तुम और तुम्हारे संगियों की भी बुद्धि नहीं बढ़ती। जैसे रोग

भी ग्रन्थकार का सिद्धान्त स्वीकार है, अर्थात् हिंसा से सर्वथा छुटकारा पाना असम्भव है। जैनियों के मान्य महापुराण (उत्तरपुराण) ३९वें पर्व के १४३-१४४ श्लोकों को देखिये—

स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्। हिंसादोषोऽनुषंगी स्याज्जैनानां द्विजन्मनाम्॥१४३॥
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यम् अल्पसावद्यसङ्गतिः। तत्रास्त्येव तथाथैषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता॥१४४॥

इसका अर्थ साहित्याचार्य पं० पन्नालाल ने इस प्रकार किया है—'अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो असि, मसी आदि छह कर्मों से आजीविका करनेवाले जैन, द्विज अथवा गृहस्थ हैं, उनके भी हिंसा-दोष लग सकता है। इस विषय में हमारा कहना है कि आपने जो कहा सो ठीक है। आजीविका करने में जैन गृहस्थों के थोड़ीसी हिंसा की संगति अवश्य होती है, परन्तु शास्त्रों में उन दोषों की शुद्धि

---

१. इस प्रकरण में 'मुख पर पट्टी' और 'मुखपट्टी' दो प्रयोग मिलते हैं। प्रथम स्पष्टार्थक है। दूसरे में 'मुख की पट्टी = मुख-पट्टी' समास जानना चाहिए।
२. अर्थात् शौचालय।

की अधिकता और बुद्धि के स्वल्प होने से धर्मानुष्ठान की बाधा होती है, वैसे ही दुर्गन्धयुक्त तुम्हारा और तुम्हारे सङ्गियों का भी वर्तमान होता होगा।

दन्तधावनादि न करने से तुम्हारे मुखादि अवयवों से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलता है। और जब तुम किसी के पास, वा कोई तुम्हारे पास बैठता होगा, तो विना दुर्गन्ध के अन्य क्या आता होगा? इत्यादि।

[बाहर के वायु के योग विना मनुष्यादि प्राणी जी नहीं सकते]

प्रश्न—जैसे बन्ध मकान में जलाये हुए अग्नि की ज्वाला बाहर निकलके बाहर के जीवों को दुःख नहीं पहुँचा सकती, वैसे ही हम मुख-पट्टी बाँधके वायु को रोककर बाहर के जीवों को न्यून दुःख पहुँचानेवाले हैं। मुखपट्टी बाँधने से बाहर के वायु के जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचती। और जैसे सामने अग्नि जलाता है, उसको आड़ा हाथ देने से आँच कम लगती है। और वायु के जीव शरीरवाले होने से उनको पीड़ा अवश्य पहुँचती है।

उत्तर—यह तुह्मारी बात लड़कपन की है। प्रथम तो देखो, जहाँ छिद्र और भीतर के वायु का योग बाहर के वायु के साथ न हो, तो वहाँ अग्नि जल ही नहीं सकता। जो इसको प्रत्यक्ष देखना चाहो, तो किसी फानूस में दीप जलाकर सब छिद्र बन्ध करके देखो, तो दीप उसी समय बुझ जायेगा। जैसे पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्यादि प्राणी बाहर की वायु के योग के विना नहीं जी सकते, वैसे अग्नि भी नहीं जल सकता। जब एक ओर से अग्नि का वेग रोका जाय, तो दूसरी ओर अधिक वेग से निकलेगा। और हाथ की आड़ करने से मुख पर आँच न्यून लगती है, परन्तु वह आँच हाथ पर अधिक लग रही है। इसलिये तुह्मारी बात ठीक नहीं।

[मुख पर पल्ला रखकर बात करने के अन्य प्रयोजन हैं]

प्रश्न—इसको सब कोई जानता है कि जब किसी बड़े मनुष्य से छोटा मनुष्य कान में वा निकट होकर बात कहता है, तब मुख पर पल्ला वा हाथ लगाता है। इसलिये कि मुख से थूँक उड़कर वा दुर्गन्ध उसको न लगे। और जब पुस्तक बाँचता है, तब अवश्य थूक उड़कर उस पर गिरने से उच्छिष्ट होकर वह बिगड़ जाता है। इसलिये मुख पर पट्टी का बाँधना अच्छा है।

उत्तर—इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव-रक्षार्थ मुख-पट्टी बाँधना व्यर्थ है। और जब कोई बड़े मनुष्य से बात करता है, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये रखता है कि उस गुप्त बात को दूसरा कोई न सुन लेवे। क्योंकि जब कोई प्रसिद्ध बात करता है, तब कोई भी मुख पर हाथ वा पल्ला नहीं धरता। इससे क्या विदित होता है कि गुप्त बात के लिये यह बात है।

मुख के आड़ा हाथ वा पल्ला देने के प्रयोजन अन्य बहुत हैं। जैसे बहुत मनुष्यों के सामने गुप्त बात करने में जो हाथ वा पल्ला न लगाया जाय, तो दूसरों की ओर वायु के फैलने से बात भी फैल जाय। जब वे दोनों एकान्त में बात करते हैं, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये नहीं लगाते कि वहाँ तीसरा कोई सुननेवाला नहीं।

जो बड़ों ही के ऊपर थूक न गिरे, इससे क्या छोटों के ऊपर थूक गिरना चाहिए? और उस थूक से बच भी नहीं सकता। क्योंकि हम दूरस्थ बात करें, और वायु हमारी ओर से दूसरे की ओर जाता

भी तो बतलाई है'—१४३-१४४। दूसरे मतवाले भी जिन्हें जैन हिंसावादी कहते हैं, यही समाधान देते हैं। इसका यथार्थ समाधान वही है, जो ऋषि ने ऊपर दिया है।

हो, तो सूक्ष्म होकर उसके शरीर पर वायु के साथ त्रसरेणु अवश्य गिरेंगे। उसका दोष गिनना अविद्या की बात है।

[मुख की उष्णता से जीव नहीं मर सकते]

जो मुख की उष्णता से जीव मरते वा उनको पीड़ा पहुँचती हो, तो वैशाख वा ज्येष्ठ महीने में सूर्य की महा उष्णता से वायुकाय के जीवों में से मरे विना एक भी न बच सके। सो, उस उष्णता से भी वे जीव नहीं मर सकते, क्योंकि जीव अजर अमर है। इसलिये यह तुह्मारा सिद्धान्त झूंठा है। क्योंकि जो तुह्मारे तीर्थङ्कर भी पूर्ण विद्वान् होते, तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों करते ?

[किन अवस्थाओं में जीव को पीड़ा नहीं पहुँचती ?]

देखो, पीड़ा उसी जीव को पहुँचती है, जिसकी वृत्ति[1] सब अवयवों के साथ विद्यमान हो। इसमें प्रमाण—

'पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥' यह सांख्यशास्त्र (५।२७) का सूत्र है ॥

जब पाँचों इन्द्रियों का पाँचों विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है ॥

पञ्चावयवयोगात्०—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग से सुखादि का अनुभव होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण के पाँच अवयवों के समान हैं। यथाविषय उनके योग अर्थात् सन्निकर्ष से सुखसंवित्ति—सुख की अनुभूति आत्मा को होती है। आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोगसामग्री बाह्यजगत् में ही उपलब्ध होती है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख-दुःख होता है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है, बाहर उसकी गति नहीं। इसलिए उसे मन की सहायता लेनी पड़ती है। पर मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। उसे भी अपने कार्यसम्पादन के लिए ऐसे सहायकों की अपेक्षा होती है, जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्यजगत् से सीधा सम्बन्ध रखते हों। इन्हीं को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ सम्पर्क कर सकती है। इसीलिए सूत्र में 'अवयव' पद से उनका संकेत किया गया है। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध (सन्निकर्ष) इन्द्रिय का रहता है, विषयाकार परिणत होकर वह उस विषय को मन तक पहुँचा देती है, मन अहंकार को और अहंकार बुद्धि को देता है। इस प्रकार अन्तःकरण के अवयवभूत पाँच इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को सुख की अनुभूति होती है। वस्तुतः सुख प्रत्येक अन्य भाव का उपलक्षण है। अनुकूल-प्रतिकूल समस्त अनुभूतियों में यही क्रम समझना चाहिये।

अनेक व्याख्याकारों ने सूत्र के 'पञ्चावयव' पद का अनुमान के पाँच अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन—अर्थ किया है। सुखादि की अनुभूतिया संवित्ति में प्रतिज्ञा आदि अवयवों की कोई प्रासंगिकता नहीं है। पञ्चम अध्याय का यह २७वाँ सूत्र है। इससे पूर्व 'अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्' इस २५वें सूत्र में धर्म-अधर्म आदि भावों के अन्तःकरण के धर्म होने का उपपादन किया गया। अतः प्रकरणनुसार आत्मा को सुखादि की अनुभूति के प्रतिपादन से सुखादि कारणभूत सत्त्व आदि गुणों का अनुमान द्वारा अस्तित्व सुतरां सिद्ध हो जाता है, ऐसा सूत्रार्थ करना तर्कसंगत है। प्रतिज्ञा आदि

---

१. अर्थात् आत्मा-इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध।

जैसे बधिर को गालीप्रदान; अन्धे को रूप वा आगे से सर्प व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चला जाना; शून्य बहिरीवाले[1] को स्पर्श; पिन्नस रोगवाले को गन्ध; और शून्य जिह्वावाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।

देखो, जब मनुष्य का जीव सुषुप्ति दशा में रहता है, तब उसको सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है, परन्तु उसका बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

और जैसे वैद्य वा आजकल के डाक्तर लोग नशा की वस्तु खिला और सुंघाके रोगी पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं, उसको उस समय कुछ भी दुःख विदित नहीं होता, वैसे वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीरवाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता।

जैसे मूर्च्छित प्राणी सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे वे वायुकायादि के जीव भी अत्यन्त मूर्च्छित होने से सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकते। फिर उनको पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो सकती है? जब उनको सुख-दुःख की प्राप्ति ही प्रत्यक्ष नहीं होती, तो अनुमानादि यहाँ कैसे युक्त हो सकते हैं?

[सुख-दुःख की प्राप्ति का हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है]

प्रश्न— जब वे जीव हैं, तो उनको सुख-दुःख क्यों नहीं होगा?

उत्तर— सुनो भोले भाइयो! जब तुम सुषुप्ति में होते हो, तब तुमको सुख-दुःख प्राप्त क्यों नहीं होते? सुख-दुःख की प्राप्ति का हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है। अभी हम इसका उत्तर दे आये हैं कि नशा सुंघाके डाक्तर लोग अङ्गों को चीड़ते-फाड़ते और काटते हैं। जैसे उनको दुःख विदित नहीं होता, इसी प्रकार अतिमूर्च्छित जीवों को सुख-दुःख क्योंकर प्राप्त होवें? क्योंकि वहाँ सुख-दुःख की प्राप्ति होने का साधन कोई भी नहीं।

न्यायसूत्र के पञ्चावयव के प्रयोग से अनायास ही अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध होता है। इस प्रकरण से आत्मा द्वारा सुखादि भावों की अनुभूति का प्रतिपादन करके उनके कारणभूत धर्माधर्म तथा सत्त्व-रजस्-तमस् के वास्तविक अस्तित्व को स्पष्ट किया गया है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों का सम्बन्ध होने पर ही जीव को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है।

आलोचना का आधार—ऋषि ने जैनमत की आलोचना प्रायः श्वेताम्बर आम्नाय के ग्रन्थों के आधार पर की है। उस समय दिगम्बरों के ग्रन्थ मुद्रित नहीं मिलते थे, और हस्तलिखित ग्रन्थ ये किसी को दिखलाते भी नहीं थे। श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों में अनेक विषयों में महान् भेद हैं, किन्तु कई बातों में समता भी है। यथा ऋषभदेव आदि तीर्थङ्करों के शरीर की लम्बाई और आयु आदि के विषय में। यति वृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णति (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) के चउत्तथोमहाधियारो (चतुर्थमहाधिकार) की ५७९ से ५८२ गाथाओं में इनकी आयु का उल्लेख इस प्रकार है—

उसहादिदससु आऊ चुलसीदी तह बहत्तरी सट्ठी।
पण्णासतालतीसा वीसं दसदुइ गिपुव्वलक्खाइं ॥५७९॥
तत्तो य वरिसलक्खं चुलसीदी तह बहत्तरी सट्ठी।
तीसदसएक्कमांऊ सेयंसप्पहुदिछक्कस्स ॥५८०॥

---

१. अर्थात् शून्यत्वगिन्द्रियवाले को।

[हरे शाक वा कन्दमूल के भक्षण न करने की समीक्षा]

प्रश्न—देखो, 'निलोति' अर्थात् जितने हरे शाक पात और कन्दमूल हैं, उनको हम लोग नहीं खाते। क्योंकि निलोति में बहुत और कन्दमूल में अनन्त जीव हैं। जो हम उनको खावें, तो उन जीवों को मारने और पीड़ा पहुँचने से हम लोग पापी हो जावें।

उत्तर—यह तुह्मारी बड़ी अविद्या की बात है। क्योंकि हरित शाक के खाने में जीव का मरना, उनको पीड़ा पहुँचनी क्योंकर मानते हो? भला जब तुमको पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दीखती। और जो दीखती है, तो हमको भी दिखलाओ। तुम कभी न प्रत्यक्ष देख वा हमको दिखा सकोगे। जब प्रत्यक्ष नहीं, तो अनुमान उपमान और शब्दप्रमाण भी कभी नहीं घट सकता। फिर जो हम ऊपर उत्तर दे आये हैं, वह इस बात का भी उत्तर है। क्योंकि जो अत्यन्त अन्धकार[1], महासुषुप्ति और महानशा में जीव हैं, इनको सुख-दुःख की प्राप्ति मानना तुह्मारे तीर्थङ्करों की भी भूल विदित होती है। जिन्होंने तुमको ऐसी युक्ति और विद्याविरुद्ध उपदेश किया है।

[सान्त कन्दमूल में अनन्त जीव कैसे हो सकते हैं?]

भला जब घर का अन्त है, तो उसमें रहनेवाले अनन्त क्योंकर हो सकते हैं? जब कन्द का अन्त हम देखते हैं, तो उसमें रहनेवाले जीवों का अन्त क्यों नहीं? इससे यह तुह्मारी बात बड़ी भूल की है।

तत्तो वरिससहस्सा पणणउदी चउरसीदी पणवण्णं।
तीसदसएक्कमाऊ कुथुजिणप्पहुदिछक्कस्स ॥५८१॥
वाससदमेक्कमाऊ पासजिणिंदस्स होइ णियमेण।
सिरिवड्ढमाणआउ बाहत्तरिवस्सपरिमाणो ॥५८२॥

इसका अनुवाद अपनी ओर से न देकर बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री का, जो एक जैन हैं, किया अनुवाद देते हैं—'वृषभादिक दश तीर्थङ्करों की आयु क्रमशः चौरासी लाख पूर्व; बहत्तर लाख पूर्व, साठ लाख पूर्व, पच्चास लाख पूर्व, चालीस लाख पूर्व, तीस लाख पूर्व, बीस लाख पूर्व, दसलाख पूर्व, दो लाख पूर्व और एक लाख पूर्व प्रमाण थी ॥५७६॥ ऋषभ पूर्व ८४ लाख। अजित पूर्व ७२ लाख। सम्भव पूर्व ६० लाख। अभिनन्दन पूर्व ५० लाख। सुमति पूर्व ४० लाख। पद्मप्रभ पूर्व ३० लाख। सुपार्श्व पूर्व २० लाख। चन्द्रप्रभ पूर्व १० लाख। पुष्पदन्त पूर्व २ लाख। शीतल पूर्व १ लाख। इसके आगे श्रेयांसप्रभृति छह तीर्थङ्करों की आयु क्रम से चौरासी लाख, बहत्तर लाख, साठ लाख, तीस लाख, दस लाख और एक लाख वर्ष प्रमाण थी। श्रेयांस वर्ष ८४ लाख। वासुपूज्य वर्ष ७२ लाख। विमल वर्ष ६० लाख। अनन्त वर्ष ३० लाख। धर्म वर्ष १० लाख। शान्ति वर्ष १ लाख। इसके आगे कुंथुनाथप्रभृति छह तीर्थङ्करों की आयु क्रम से पंचानवे हजार, चौरासी हजार, पचपन हजार, तीस हजार, दश हजार और एक हजार वर्ष प्रमाण थी। कुंथुनाथ ९५ हजार वर्ष। अरनाथ ८४ हजार वर्ष। मल्लिनाथ ५५ हजार वर्ष। सुव्रत ३० हजार वर्ष। नमिनाथ १० हजार वर्ष। नेमिनाथ १ हजार वर्ष। भगवान् पार्श्वनाथ की आयु नियम से १०० वर्ष और वर्धमान जिनकी आयु बहत्तर वर्ष प्रमाण थी ॥५८२॥ पार्श्वनाथ वर्ष १००। वर्धमान वर्ष ७२।'

---

१. द्र०—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'। यजु० ४०।३। अन्धतमस = महाअन्धकार। अर्थात् आत्मा-इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध का अभाव।

[जैनियों के उष्ण जलपान की समीक्षा]

प्रश्न—देखो, तुम लोग विना उष्ण किये कच्चा पानी पीते हो, वह बड़ा पाप करते हो। जैसे हम उष्ण पानी पीते हैं, वैसे तुम लोग भी पिया करो।

उत्तर—यह भी तुह्मारी बात भ्रमजाल की है। क्योंकि जब तुम पानी को उष्ण करते हो, तब पानी के जीव सब मरते होंगे। और उनका शरीर भी जल में रँधकर वह पानी सौंफ के अर्क के तुल्य होने से जानो तुम उनके शरीरों का 'तेजाब' पीते हो। इसमें तुम बड़े पापी हो। और जो ठण्डा जल पीते हैं, वे नहीं। क्योंकि जब ठण्डा पानी पियेंगे, तब उदर में जाने से किंचित् उष्णता पाकर श्वास के साथ वे जीव बाहर निकल जायेंगे। जलकाय जीवों को सुख-दुःख प्राप्त पूर्वोक्त रीति से नहीं हो सकता। पुनः इसमें पाप किसीको नहीं होगा।

प्रश्न—जैसे जाठराग्नि से, वैसे उष्णता पाके जल से बाहर जीव क्यों न निकल जायेंगे?

एक बात यहाँ बताना आवश्यक है कि कोई-कोई चतुर जैन पण्डित यह कह दिया करते हैं कि यह आयुप्रमाण उनके शासनकाल का द्योतक है, उनकी यह बात उनके अपने ग्रन्थों से विरुद्ध है। इसी तिलोयपण्णत्ति के इसी महाधिकार की ५५४ गाथा में लिखा है—

पण्णासकोडिलक्खा वारसहदपुव्वलक्खवासजुदा।
जादम्हि उवहिउवमा उसहुप्पत्तीए अजियउप्पत्ती।

अर्थात् 'भगवान् ऋषभदेव की उत्पत्ति के पश्चात् पच्चास लाख करोड़ सागरोपम और बारह वर्ष पूर्वों के बीत जाने पर अजितनाथ तीर्थङ्कर का अवतार हुआ ॥५५४॥ सागरोपम ५० लाख करोड़ वर्ष पूर्व १२ लाख।' अब शरीर के सम्बन्ध में लीजिये। इसका वर्णन ५८५ से ५८७ गाथा तक में है—

पचसयधनुपमाणो उसहजिणिदस्स होदि उच्छेहो।
तत्तो पण्णासूणा णियमेण य पुप्फदंतपरेंतं ॥५८५॥
एत्तो जाव अणंतं दसदसकोदंडमेत्तपरिहीणो।
तत्तो णेमिजिणंतं पणपंण चावेहिं परिहीणो ॥५८६॥
णवहत्था पासजिणे सग हत्था वड्ढमाणणामम्मि ॥५८७॥

पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रिकृत अनुवाद—'भगवान् ऋषभनाथ के शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण थी। इसके आगे पुष्पदन्तपर्यन्त शरीर की ऊँचाई नियम से पचास धनुष कम होती गई है। ऋषभ ध० ५००; अजित ध० ४५०; सम्भव ध० ४००; अभिनन्दन ध० ३५०; सुमति, ध० ३००; पद्मप्रभ० ध० २५०; सुपार्श्व ध० २००; चन्द्रप्रभ ध० १५०; पुष्पदन्त ध० १००; इसके आगे अजितनाथ तीर्थङ्करपर्यन्त दश-दश धनुष और फिर नेमिनाथ तक पाँच-पाँच धनुष उत्सेध कम होता गया है। शीतल ध० ९०; श्रेयांस ध० ८०; वासुपूज्य ध० ७०; विमल ध० ६०; अनन्त ध० ५०; धर्म्म ध० ४५; शान्ति ध० ४०; कुंथु ध० ३५; अरनाथ ध० ३०; मल्लि ध० २५; मुनिसुव्रत ध० २०; नमि ध० १५; नेमि ध० १०। भगवान् पार्श्वनाथ के शरीर का उत्सेध नौ हाथ और वर्धमान स्वामी के शरीर का उत्सेध सात हाथ था।'

स्थानकवासी जैन चाँदमल ने ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जैन की रची 'कल्पित कथा समीक्षा' नामक पोथी का खण्डन 'प्रत्युत्तर' नाम की पोथी में दिया है। उसमें उन्होंने लिखा है—"देखो, आपकी दिगम्बरी महापुराण में लिखा है कि ६ लाख मील का हाथी आया था। तो क्या महानुभाव (?) उस समय महापुराण के लेखक और आप दोनों को उस हाथी की लीद उठाने के लिए नियत किया होगा

उत्तर—हाँ निकल तो जाते, परन्तु जब तुम मुख के वायु की उष्णता से जीव का मरना मानते हो, तो जल उष्ण करने से तुह्मारे मतानुसार जीव मर जायेंगे, वा अधिक पीड़ा पाकर निकलेंगे। और उनके शरीर उस जल में रँध जायेंगे। इससे तुम अधिक पापी होगे वा नहीं ?

प्रश्न—हम अपने हाथ से उष्ण जल नहीं करते, और न किसी गृहस्थ को उष्ण जल करने की आज्ञा देते हैं। इसलिये हमको पाप नहीं।

उत्तर—जो तुम उष्ण जल न लेते न पीते, तो गृहस्थ उष्ण क्यों करते ? इसलिये उस पाप के भागी तुम ही हो, प्रत्युत अधिक पापी हो। क्योंकि जो तुम किसी एक गृहस्थ को उष्ण करने को कहते, तो एक ही ठिकाने उष्ण होता। जब वे गृहस्थ इस भ्रम में रहते हैं कि न जाने साधु जी किसके घर को

(पृ० १०३)''। ब्रह्मचारीजी ने जो इसका उत्तर दिया है, उससे इस आक्षेप का समाधान तो नहीं हुआ, किन्तु स्थानकवासियों के ग्रन्थों में कई असम्भव बातों के उद्धरण दे डाले हैं। दोनों ने एक-दूसरे के प्रति जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह भाषासमिति का अच्छा आदर्श प्रस्तुत करती है।

हम यहाँ दि० ब्र० जी के ग्रन्थ 'पटपन्थप्रकाश' से जो 'प्रत्युत्तर' के खण्डन में लिखा गया है, इसका उत्तर उद्‌धृत करते हैं—'विज्ञपाठक सज्जनो ! यह नियम है कि कुएँ में जैसी आवाज लगाई जाती है, उसमें से वैसे ही शब्द सुनाई में आते हैं। अतः मुझे भी चाँदमलजी की कहावत के अनुसार उत्तर लिखना पडा। मैं समझता हूँ कि शायद इसे पढ़कर चाँदमलजी की बोटी-बोटी फड़कने लगे और गुरु चौथमलजी ने सुन लिया तो वह अवश्य ही अपनी शिष्यमण्डली सहित उछलते फिरेंगे अथवा स्थानकवासी समाज दंग हो जाएगी। सड़ी बुद्धिवाले चाँदमलजी ! आपको चाहिए था कि जिस-किसी ग्रन्थ का प्रमाण निकालकर देना या उसमें किसी प्रकार की शङ्का करना तो प्रथम उस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक देखकर खूब समझ लेना चाहिए, तब कोई बात अपनी पुस्तक में लिखनी चाहिएं, किन्तु बुद्धि के पीछे डण्डा लेकर फिरनेवाले आपने यह कहीं भी नहीं किया। सच है, कोलिये ही लगन लिख दिया करें तो फिर पण्डितों को कौन पूछे, अस्तु, विशेष बात बढ़ाने में क्या, आपकी बात का जवाब आपके एक सूत्र द्वारा ही दिया जाता है।

भगवतीसूत्र प्रथम शतक सातवाँ उद्देश्य पृष्ठ १८२ में आपके गौतम स्वामी आपके महावीर स्वामी से पूछते हैं कि—"अहो भगवन् ! गर्भस्थ जीव गर्भ में मरकर नरक में किस तरह प्राप्त होता है ?" इसका उत्तर महावीर स्वामी यों देते हैं—"अहो गौतम ! कोई संगी जीव पंचेन्द्री राजा की राणी की कुक्ष में उत्पन्न होवे अर्थात् राजपुत्र होवे। वहाँ उसको पूर्व परजायें बाँधकर प्राप्त हुए पीछे पूर्व करणी के प्रभाव से वीर्यलब्धि वैक्रियक लब्धि की प्राप्ति होती है। वह गर्भस्थ जीव ऐसी बात सुने कि परचक्री की सेना आई है और अपने को दुःखी करेगी। ऐसी बात सुनकर अवधार वह गर्भस्थ जीव अपने प्रदेश गर्भ से बाहर निकले और वैक्रियक समुद्‌घात से तथाविध पुद्‌गलों को ग्रहण कर हाथी रथ पैदल घोड़े वगैरह सेना को विकुर्वाण करके परचक्री की सेना के साथ संग्राम करे। द्रव्य की तथा राज्य की तथा धन की तथा इन्द्रियों के विषय की अभिलाषा कर आसक्त हुआ धन राज्य वैभव भोग वह काम का पिपासु अतृप्त तन्मय बना हुआ तीन लेश्या अशुद्ध से ध्यानयुक्त कामभोगभावना करता हुआ यदि उस समय काल करे, वह जीव नरकगति में पैदा होता है।" चाँदमलजी ! इस लेख को आप मिथ्या भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें पूछनेवाले तो चार ज्ञान के धारी आपके गुरु गणधरजी और बतलानेवाले केवली ज्ञानी सर्वज्ञ आपके महावीर स्वामी हैं। चक्रवर्त्ती के कटक का प्रमाण तो आप जानते ही होंगे। अतः ज्यादा न सही कम-से-कम चक्रवर्त्ती के समान कटक तो उस गर्भ में रहनेवाले बालक को बनना ही पड़ा

आवेंगे, इसलिये प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखते हैं। इसके पाप के भागी मुख्य तुम ही हो।

दूसरा—अधिक काष्ठ और अग्नि के जलने-जलाने से भी ऊपर लिखे प्रमाणे रसोई खेती और व्यापारादि में अधिक पापी और नरकगामी होते हो। फिर जब तुम उष्ण जल कराने के मुख्यनिमित्त, और तुम उष्ण जल के पीने और ठण्डे के न पीने के उपदेश करने से तुम ही मुख्य पाप के भागी हो। और जो तुह्मारा उपदेश मानकर ऐसी बातें करते हैं, वे भी पापी हैं।

होगा, जिसमें १८ करोड़ घोड़े, ८४ लाख हाथी, ८४ लाख रथ, ८४ करोड़ पैदल प्यादे, ३ करोड़ गायें और भी इनके ऊपर खिदमतगार होंगे। भला जब आपके यहाँ गर्भ में रहनेवाला बालक अपनी विक्रिया से इस प्रकार सेना बना लेता है, तब उस स्वर्ग में रहनेवाले अणिमा, महिमा आदि ऋद्धिधारक इन्द्र ने एक लाख योजनवाला हाथी बना लिया, इस पर आपको क्यों आश्चर्य हुआ? आश्चर्य होना चाहिए उस पर कि जो गर्भ में से बैठा-बैठा बालक अनेक प्रकार की सेना बनाता है और गर्भ से निकलकर चक्रवर्त्ती से लड़ता और उसे जीतता है। अथवा फिर उसी गर्भ में विराजमान होकर वहाँ खोटा ध्यान करके मर जाता और नरक को जाता है। अच्छा चाँदमलजी! अब यह बतलाओ बालकवाली घटना और चक्रवर्त्ती के कटक की भिष्ठा किसने उठाई। मेरी समझ में तो आपसे और आपके गुरु चौथमलजी से चालाक और मोटा ताजा बलवान् कोई दूसरा स्थानकसमाज में नहीं दीखता, इसलिए यह भिष्ठा उठाने का कार्य आपको और आपके गुरु चौथमलजी को ही अपने हाथ से करना पड़ा होगा। हाय! हाय! उस बखत आपको रोटी खाने की भी फुरसत न मिली होगी, सिर पर भिष्ठा की डकोली और हाथ में रोटी खाते फिरे होंगे और जब हाथी, घोड़े की लीद उठाने के लिए आपसे बाकी रह गई होगी तब पिट्टू लुंकाजी को बेगार में भी आना पड़ा होगा और उस भगवती सूत्र के आपके गणधर देव को भी 'बंपुलिस' का दरोगा बनकर आना पड़ा होगा और साथ में मदद देनी पड़ी होगी। धर्मलोपीजी! जरा अपने हाथ की हथेलियों को सूँघकर तो देखो, उस भिष्ठा उठाने की बास अभी तक निकली है, या नहीं? चौथमलजी की खोपड़ी पर से जो बाल उड़ गये हों, मालूम होता है, उस भिष्ठा की टोकरी ढोते-ढोते ही उड़े हैं, भला हुआ विधाता ने खूब सुनी! अब उनको केश लोच करते समय अधिक कष्ट न होगा! मिष्टर पटपन्थीजी! अब तो हो गया आपके "प्रत्युत्तर" के लिखे अनुसार ही इन्द्र के हाथी का समाधान! और सुनिये आपकी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र पृष्ठ ५२वें पर पंक्ति १३वीं में स्त्री की योनि की लम्बाई २४ अँगुल की बताई है, भला जिस स्त्री की योनि आधा गज लम्बी है, न मालूम वह स्त्री कितनी लम्बी-चौड़ी होगी जरा ख्याल तो करो। जब आपके स्थानक मत में एक पहाड़ी के समान कोई स्त्री हो गुजरी है तो स्वर्ग के इन्द्र का हाथी विक्रिया से बना हुआ लाख योजन का हो जाये, इस पर आपको क्यों आश्चर्य हुआ। पटपन्थीजी! आपके ठाणासूत्र पृष्ठ ६१९वें पर पंक्ति १३ में उत्तर कुरुके मनुष्य की ६००० धनुष की अवगाहन बतलाई है। सोचिये और बतलाइए ६००० धनुष की लम्बाईवाला पुरुष जिस सवारी पर चढ़कर चलता होगा, वह कितनी ऊँची लम्बी और चौड़ी होगी? चांदमलजी! कोरे कूपमण्डूक ही न बनिये जरा शास्त्ररूपी समुद्र की भी थाह लिया कीजिए। आपके गुरु स्थानकवासी साधु, अमोलकचन्दजी ने अपने बनाये जैनतत्त्वप्रकाश के खण्ड २ पृष्ठ ३४०वें पर पेट के जोर से चलने-वाले जीवों का वर्णन करते हुए एक आलसिया नाम का जीव बतलाया है और उसके आकार का वर्णन नीचे टिप्पणी में यों लिखा है। "चक्रवर्त्ती तथा वासुदेव के पुण्य खुट जाते हैं तब उनके घोड़े की लीद में १२ योजन (४८ कोस) की कायावाला आलसिया उपजकर मरता है, जिससे उसके तड़फने से पृथिवी

में खड्डा पड़ता है, उसमें सब सेना कुटुम्ब और ग्राम दबकर मर जाते हैं।" पटपन्थी जी ! ध्यान दीजिए, जबकि उस घोड़े की लीद के एक लेंड़ में से ४८ कोस लम्बा चौड़ा (आलसिया) जीव पैदा होता है तो वह घोड़ा कितना कोस लम्बा चौड़ा और ऊँचा होगा ! और सारी लीद के लेंड़ों में से उत्पन्न भये (आलसिया) तड़फ-तड़फकर कितने स्थान का नाश मारते होंगे ? यह तो एक बारकी की गई लीद की हालत है बाकी जो लीद उस घोडे ने जन्मभर रात दिन की होगी, उसमें कितने 'आलसिया' जीव पैदा हुए होंगे ? और वह कहाँ समाये होंगे ? इसका हिसाब लगाकर देखिए तब आपको अपने आप ही इन्द्र के हाथी का निश्चय हो जाएगा। दूसरी बात बाबू जी हाथी के ऊपर आश्चर्य न करना चाहिए, आश्चर्य करना चाहिए, उस ६००० धनुप की कायावाले पुरुष पर। अच्छा चाँदमलजी ! अपने गुरुजी से पूछकर यह तो बतलाओ उस ६००० धनुप की कायावाले मनुष्य के रहने का मकान कितना ऊँचा था ? भोजन भी प्रतिदिन सैकड़ों मन का करता होगा ? इसी प्रकार पेशाब और पाखाना भी ढेर के ढेर करता होगा। पेशाब तो उसका शायद आपके साधुओं के और साध्वियों के पीने में काम आ जाता होगा, परन्तु पाखाना तो उठाना ही पड़ता होगा, बोलो पटपन्थीजी ! पाखाना उठाने के लिए कितने स्थानकवासी गृहस्थ नियत किये थे। मालूम होता है उस पुरुष के भिष्ठा उठाने के लिए ही स्थानकवासी साधुओं की संख्या बढ़ाई जा रही है।...पटपन्थीजी ! आपने देखा होगा आज का विज्ञान कैसे-कैसे अनोखे दृश्य दिखला रहा है। यदि वह चाहे तो इस छोटे से पड़दे पर एक लाख योजनवाले जम्बूद्वीप के समस्त पदार्थों को बनाकर दिखला दे। अंगूठी में सिर्फ बाजरे के समान काँच लगता है और उस काँच में अनेकों प्रकार के चित्र बड़े-बड़े आकारवाले दिखलाई दे जाते हैं। इत्यादिक बातों से इन्द्र के हाथी का स्वयं समाधान हो जाता है' (पृष्ठ ३६-४१)। दि० ब्र० ने एक लाख योजन के हाथी की सिद्धि में जो युक्ति दी है, वह इतनी पोच है कि अबध अपढ़ जैनों के अतिरिक्त किसी को नहीं प्रभावित कर सकती। हम तो चाँदमलजी और सुन्दरलालजी दोनों को सच्चा मान लेते हैं। अर्थात् चाँदमलजी के आक्षेपानुसार यह मान लेते हैं कि दिगम्बरों के अनुसार एक हाथी एक लाख योजन का भी हो सकता है और श्वेताम्बरों के अनुसार घोड़े की लीद के एक लेंड़ से १२ योजन का जीव उत्पन्न हो पृथिवी में बहुत खड्डा कर सकता है, तथा गर्भस्थ बालक युद्ध कर सकता, तथा ६००० धनुप की ऊँचाई का मनुष्य हो सकता है। सुन्दरलालजी ने ऐसी ऊँचाईवाले मनुष्य की सत्ता पर जो आक्षेप किया है, वह लगभग वैसा ही है जैसा ऋषि दयानन्द ने तीर्थङ्करों के शरीर की ऊँचाई पर किया है। सुन्दरलालजी ५०० धनुष की ऊँचाईवाला शरीर (ऋपभदेवजी का शरीर ५०० धनुप ऊँचा था) मानते हैं किन्तु ६००० धनुष का नहीं मानते। इसके मानने में उनके हृदय में यह वेदना उठती है कि कोई मनुष्य तीर्थङ्कर भगवानों से ऊँचा नहीं हो सकता। परन्तु यह उचित नहीं है उस ६००० धनुपवाले मनुष्य के जीव ने अपने पूर्वभव में ऐसा ही अवगाहना-बन्ध बाँधा होगा। आपके यहाँ सृष्टि का कर्त्ता कोई चेतन तो है नहीं जो पूर्वापर सोच-विचार कर, जीव के कर्मों का निर्धारणकर रचना करता है। आपके यहाँ तो अचेतन कर्मपुद्गल आप ही आप जुट जाते हैं, इसमें आपके मत में इतना बड़ा शरीर होना असम्भव नहीं। हमें तो एक बात बहुत खटकी है। तीर्थङ्करों का आयुर्मान न्यून होता गया और शरीरमान भी घटता गया, किन्तु किस नियम से ? अन्तिम तीर्थङ्कर का आयुर्मान तो अत्यन्त न्यून, केवल ७२ वर्ष ! इसीसे कई विचारक पहले २३ तीर्थङ्करों की सत्ता में महान् सन्देह करते हैं। विचारशील जैन भी इस अति-अति-महा-अति सु-सु-अति-महा-अति प्र-प्रदीर्घ आयु तथा देह के मान को अप्रमाणित मानते हैं जैसाकि श्री बच्छराज सिन्धीजी ने अपने 'जैन शास्त्रों की असंगत बातें' नामक पुस्तक में लिखा है—आजकल के प्रायः इतिहासकार चौबीस तीर्थङ्करों में केवल अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर को सच्चा ऐतिहासिक पुरुष और भगवान्

पार्श्वनाथ को सोन्दग्ध रूप में मानते हैं। हम कल्पित नही मानते तो भी पहले भगवान् ऋषभदेव की आयु की संख्या से दसवें भगवान् शीतलनाथ स्वामी की आयु संख्या तक जो पूर्वों में बतायी है और ग्यारहवें भगवान् श्रेयांस प्रभु से बाईसवें भगवान् अरिष्टनेमि तक की आयु की संख्या जो वर्षों में बताई है, पर दृष्टि डालने से हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संख्याएँ अवश्य कल्पित हैं। किसी भी एक व्यक्ति की आयु की संख्या का अङ्क इतनी अधिक सुन्नों (Ciphers) के साथ समाप्त होना असम्भव नही तो असम्भव के लगभग अवश्य है। परन्तु इन संख्याओं में तो केवल भगवान् महावीर प्रभु के सिवाय तेवीसों ही तीर्थङ्करों की आयु के आँकड़ों में कम-से-कम दो सुन्न (Ciphers) और अधिक-से-अधिक ऊपर के सुन्नों की संख्या १७ पहुँच गई है। इसी प्रकार इतनी अधिक सुन्नों (Ciphers) के साथ समाप्त होने-वाली संख्याओं की आयु का लगातार तेवीसों ही भगवानों के लिए होना क्या अस्वाभाविक नहीं है ? आयु के बाबत पूर्वों में दस-दस के अन्तर से संख्या निश्चित करना, भगवान् श्रेयांस प्रभु से वर्षों का अङ्क भी ८४,७२,६०,३०,१० पूर्वों के जैसे ही बताना क्या स्वाभाविक माना जा सकता है ? कदापि नहीं। जिस स्थान पर आयु का पूर्वों में बताना समाप्त किया है, उसके नीचे श्रेयांस प्रभु की आयु वर्षों में बताई है। आप देखेंगे कि दसवें और ग्यारहवें भगवान् के वर्षों के दरमियान अकस्मात् कितना बड़ा अन्तर आ गया है। कहाँ सत्तर संख छप्पन पद्म वर्ष और कहाँ चौरासी लाख वर्ष। इसको हम केवल अस्वाभाविक ही नहीं परन्तु असम्भव भी कह सकते हैं। वैसे तो पूर्वों में बताई हुई इतने अधिक वर्षों की आयु का होना ही असम्भव है मगर पूर्वों की समाप्ति और वर्षों के प्रारम्भ के स्थान में तो ऐसा प्रतीत होता है कि कल्पना करनेवालों ने आगे पीछे तक नहीं सोचा। इतिहासज्ञों के प्रयास के अनुसार भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ की आयु के आँकड़ों को यदि हम इस तालिका से अलग कर दें तो बाकी के बाईसों ही भगवान् की आयु की संख्या को कल्पित के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।'

'अब जरा तालिका में वर्णित शरीर-लम्बाई की संख्या पर गौर कीजिए। इसमें भी यदि भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के शरीर की लम्बाई को अलग कर दें तो बाकी के बाईसों ही भगवान् के शरीर की लम्बाई के आँकड़ों का क्रम कल्पित ही नजर आता है' (१२२-१२३)। श्री वच्छराज जी ने १२०-१२१ पृष्ठों पर चौबीसों तीर्थंकरों के सम्बन्ध में एक तालिका दी है जिसमें प्रत्येक तीर्थंकर की आयु, शरीर की लम्बाई, साधुत्वकाल, साथ में मुक्त होनेवाले साधु और साध्वियों की संख्या दी है। और इन सब आँकड़ों को अस्वाभाविक बताया है। वे लिखते हैं—'इस तालिका में प्रायः सब आँकड़े अस्वाभाविकपन से भरे पड़े हैं। इसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता केवल अनुमान से ही हम निर्णय कर सकते हैं कि यह आँकड़े स्वाभाविक हैं या अस्वाभाविक' (पृष्ठ १२५)। इसके सम्बन्ध में ११८वें पृष्ठ पर उन्होंने इस प्रकार लिखा है—'इन आँकड़ों में असत्य, अस्वाभाविक और असम्भव-पन का कितना भाग है, इसका निर्णय करना तो आपके हृदय और विवेक का काम है, मगर बुद्धि और अकल का यह तकाजा है कि बताई हुई संख्याएँ अक्षर-अक्षर सत्य कदापि नहीं हो सकती।'

अब दिगम्बरों की भी दो अद्भुत गप्पें सुन लीजिए। (१) रामचन्द्रजी को हनुमान् का परिचय देते हुए सुग्रीव कहता है कि—

> एषोपि दक्षिणश्रेण्यां विद्युत्कान्तापुरेशिनः ॥२७५॥
> प्रभञ्जनखगाधीशतनूजोऽमिततेजवाक् ।
> विद्याविद्योऽञ्जनादेव्यामव्याहतपराक्रमः ॥२७६॥

[तुम्हारे ईश्वर ने सूर्य का ताप और वर्षा क्यों न रोकी ?]

अब देखो, कि तुम बड़ी अविद्या में होते हो वा नहीं ? कि छोटे-छोटे जीवों पर दया करनी, और अन्य मत-वालों की निन्दा अनुपकार करना क्या थोड़ा पाप है ? जो तुह्मारे तीर्थङ्करों का मत सच्चा होता, तो सृष्टि में इतनी वर्षा, नदियों का चलना, और इतना जल क्यों उत्पन्न ईश्वर ने किया ? और सूर्य को भी उत्पन्न न करता ? क्योंकि इनमें क्रोड़ान क्रोड़ जीव तुह्मारे मतानुसार मरते ही होंगे, जब वे विद्यमान थे। और तुम जिनको ईश्वर मान हो, उन्होंने दया कर सूर्य का ताप और मेघ को बन्ध क्यों न किया ?

नभश्चरकुमाराणां समुदाये परस्परम् ।
कदाचिदात्मविद्यानामनुभावपरीक्षणे ॥२७७॥
विजयार्द्धगिरेर्मूर्ध्नि क्रमं विन्यस्य दक्षिणम् ।
वामपादेन भास्वन्तमपहाय पुनस्तदा ॥२७८॥
त्रसरेणुप्रमाणे स्वं शरीरमकृताद्भुतम् ।
ततः प्रभृति विद्येशैर्विस्मयाहितमानसैः ॥२७९॥
अणुमानिति हर्षेण निखिलैरभ्यधाय्ययम् ॥२८०॥

पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं—'सो यह भी दक्षिण श्रेणी के विद्युत्कान्त नगर के स्वामी प्रभञ्जन विद्याधर का अमिततेज नाम का पुत्र है। यह तीनों प्रकार की विद्याएँ जानता है, अञ्जनादेवी के उत्पन्न हुआ है और अखण्ड पराक्रम का धारक है। किसी एक समय विद्याधर कुमारों के समूह में परस्पर अपनी-अपनी विद्याओं के माहात्म्य की परीक्षा देने की बात निश्चित हुई। उस समय इसने विजयार्ध पर्वत के शिखर पर दाहिना पैर रखकर बायें पैर से सूर्य के विमान पर ठोकर लगाई। तदनन्तर उसी क्षण त्रसरेणु के प्रमाण अपना छोटा-सा शरीर बना लिया। यह देख, विद्याधरों के चित्त आश्चर्य से भर गये, उसी समय समस्त विद्याधरों ने बड़े हर्ष से इसका "अणुमान्" यह नाम रखा' (६८ पर्व)। कितनी बड़ी गप्प है किन्तु इसमें ये पौराणिकों से हार गये प्रतीत होते हैं। पौराणिक कथानक के अनुसार हनुमान् ने सूर्य को मुख में कर लिया था।

(२) अब एक दूसरी गप्प, वह भी दिगम्बरी है सुनिये—श्रीमान् महावीर स्वामी का चरित-प्रसंग चल रहा है—

"राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः ।
सप्तकोटिर्मणिः सार्धा सिद्धार्थस्य दिनप्रति ॥" —उत्तरपुराण ७४।२५२

पं० पन्नालाल जैनकृत अनुवाद—'कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आँगन में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की बड़ी मोटी धारा बरसने लगी।' स्मरण रखना चाहिए, ये रत्नधारा छह मास निरन्तर बरसती रही। इस प्रकार की अनेक असम्भव, अस्वाभाविक बातों से जैनसाहित्य ओतप्रोत है।

दया आदि—दया आदि की बात-ही-बात है। अन्यथा जैनग्रन्थों में मांसाहार का पर्याप्त प्रसार है - (क) देखिये—उत्तरपुराण के ७४वें पर्व में एक भील की कथा आई है। पढ़िये और विचारिये। विस्तारभय से मूल श्लोक न देकर पं० पन्नालाल जैनकृत अनुवाद ही यहाँ उद्धृत करते हैं—"इसी जम्बूद्वीप के विन्ध्याचल पर्वत पर एक कुटज नामक वन है, उसमें किसी समय खदिरसार नाम का भील रहता था। एक दिन उसने समाधिगुप्त नाम के मुनिराज के दर्शन कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता से नमस्कार

और पूर्वोक्त प्रकार से विना विद्यमान वृत्तियों के दुःख-सुख की प्राप्ति कन्दमूलादि पदार्थों में रहनेवाले जीवों को नहीं होती। सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है। क्योंकि जो तुह्मारे मतानुसार सब मनुष्य हो जावें, चोर डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे, तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाये ? इसलिये दुष्टों को यथावत् दण्ड देने, और श्रेष्ठों के पालन करने में 'दया', और इससे विपरीत करने में दया-क्षमारूप धर्म का नाश है।

[जैन-समाज के सुधारने का काम क्यों नहीं करते ?]

कितनेक जैनी लोग दुकान करते, उन व्यवहारों में झूंठ बोलते, पराया धन मारते, और दीनों को छलने आदि कुकर्म करते हैं। उनके निवारण में विशेष उपदेश क्यों नहीं करते ? और मुखपट्टी बाँधने आदि ढोंग में क्यों रहते हो ?

किया। इसके उत्तर में मुनिराज ने 'आज तुझे धर्म्मलाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। तब उस भील ने पूछा कि हे प्रभो ! धर्म्म क्या है ? और उससे लाभ क्या है। भील के ऐसा पूछने पर मुनिराज कहने लगे कि मधु, मांस आदि का सेवन करना पाप का कारण है, अतः उससे विरक्त होना धर्म्म कहलाता है। उस धर्म की प्राप्ति होना धर्मलाभ कहलाता है। उस धर्म से पुण्य होता है और पुण्य से स्वर्ग में परम-सुख की प्राप्ति होती है। यह सुनकर भील कहने लगा कि मैं ऐसे धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। मुनिराज उसका अभिप्राय समझकर कहने लगे कि, हे भव्य ! क्या तूने कभी पहले कौआ का मांस खाया है ? बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भील, मुनिराज के वचन सुनकर और विचारकर कहने लगा कि मैंने वह तो कभी नहीं खाया है। इसके उत्तर में मुनिराज ने कहा, यदि ऐसा है तो उसे छोड़ देना चाहिए। मुनिराज के वचन सुनकर उसने बहुत ही सन्तुष्ट होकर कहा कि यह व्रत मुझे दिया जाये। तदनन्तर वह भील व्रत लेकर चला गया। किसी एक समय उस भील को असाध्य बीमारी हुई, तब वैद्यों ने बतलाया कि कौआ का मांस खाने से यह बीमारी शान्त हो सकती है। इसके उत्तर में भील ने दृढ़ता से उत्तर दिया कि मेरे यह प्राण भले ही चले जावें, मुझे इन चंचल प्राणों से क्या प्रयोजन है" (३८६ से ३८८)। हमें जानना यह है कि मुनिराज ने कौआ ही का मांस क्यों छुड़ाया ? कौआ का मांस तो वह खाता ही नहीं था। उसका छुड़ाना कैसा ? शेष जन्तुओं ने मुनिराज का क्या विगाड़ा था। इससे प्रतीत होता है कि हिंसा वा जीव दया कथन मात्र है। अनेकान्तवाद का यह चमत्कार है ! हमने इस कथा पर बहुत विचार किया, किन्तु हमारी बुद्धि में यह बात न आई कि मुनिराज ने अन्य सहस्रों पशुओं-पक्षियों पर क्यों दया न दिखाई ?

(ख) तेरहपन्थी भी जैन हैं। मुनि अमृतचन्द ने 'तेरहपन्थ क्या है' नामक पुस्तक में सातवें पृष्ठ पर तेरहपन्थ के प्रामाणिक ग्रन्थ 'अनुकम्पा ढाल' से कई उदाहरण इस विषय में दिये हैं, हम दिग्दर्शन के लिए केवल एक ही उदाहरण देते हैं—"गृहस्थ रे लागी लायां, घरबारे निकलियो न जायो। बलता जीव बिलबिल बोले, साधु जाय किवाड़ न खोले" (ढाल २ पृष्ठ ५)।

अर्थ—"गृहस्थ के घर में आग लग गई हो और घर के लोग बाहर न निकल सकते हों, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर बिलबिला रहे हों, यदि ऐसे समय में साधु उधर जा निकले तो वह उन घरवालों की रक्षा के लिए किवाड़ न खोले।"

इसका हेतु भी दे रखा है—"लाय लगी जो गृहस्थ देखे, तो तुरत बुझावे छै कायाने मारी। यह सावद्य कर्त्तव्यलोक करे छै तिन में तो धर्म्म कहे सांगधारी" (ढाल २ पृष्ठ ६)।

[केशलुञ्चन से क्यों आत्मा को पीड़ा देते हो ?]

जब तुम चेला-चेली करते हो, तब केशलुञ्चन और बहुत दिवस भूखे रहने में पराये वा अपने आत्मा को पीड़ा दे, और पीड़ा को प्राप्त होके दूसरों को दु:ख देते और 'आत्महत्या' अर्थात् आत्मा को दु:ख देनेवाले होकर हिंसक क्यों बनते हो ?

[हाथी घोड़े आदि पर क्यों चढ़ते हो ?]

जब हाथी घोड़े बैल ऊँट पर चढ़ने और मनुष्यों को मजूरी कराने में पाप जैनी लोग क्यों नहीं गिनते ? जब तुह्मारे चेले ऊट-पटाँग बातों को सत्य नहीं कर सकते, तो तुह्मारे तीर्थङ्कर भी सत्य नहीं कर सकते ।

[अत्यन्त मूच्छित जीवों को सुख-दु:ख नहीं होता]

जब तुम कथा बाँचते हो तब मार्ग में श्रोताओं के और तुह्मारे मतानुसार जीव मरते ही होंगे। इसलिये तुम इस पाप के मुख्य कारण क्यों होते हो ? इस थोड़े कथन से बहुत समझ लेना कि उन जल स्थल वायु के स्थावर शरीरवाले अत्यन्त मूच्छित जीवों को दु:ख वा सुख कभी नहीं पहुँच सकता ।

अर्थ—"किसी स्थान पर आग लगी देखकर जो गृहस्थ उसे बुझाता है, वह छै काया के जीवों की हिंसा करता है। ऐसे कार्य में ढोंगधारी साधु धर्म बताते हैं।" इससे बढ़कर क्रूरता, निर्दयता और क्या हो सकती है। कोई किसी जीव को मार रहा हो, उसे यदि कोई साधु या गृहस्थ रोके तो रोकनेवाले को पाप लगता है।

देखिये उसी अनुकम्पा ढाल का प्रमाण—"मत मार कहे उणरा रागी, तीजे करण हिंसा लागी। सूर्यगडांग छे तिणरो साखी, श्रीवीर गया छे भाखी" (ढाल २ पृष्ठ ६)।

अर्थ—'मत मार' कहकर जीव को बचानेवाला, मरते हुए जीव के प्रति राग करता है और दोष का भागी है। 'जीव को मत मार' इतना कहने में भी तीसरे करण की हिंसा लगती है। ऐसा सूर्यगडांगसूत्र में श्रीवीर कह गये हैं (पृष्ठ ८)। इस पर मुनि अमृतजी ने टिप्पणी लिखकर कहा है कि यह बात इनकी झूठी है। भगवान् महावीर तो बार-बार हिंसानिषेध का प्रचार करते हैं। हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो यहाँ इतना दिखाना है कि जैनों की एक शाखा में अहिंसा का कितना तिरस्कार तथा दया पर कितना भीषण कुठार है। दिगम्बर जैनों के एक महामाननीय आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं, उन्होंने 'प्रवचनसार' नामक ग्रन्थ प्राकृत में लिखा। दिगम्बरों की मान्यता है कि इसमें परम्परा से प्राप्त, महावीर स्वामीजी का उपदेश, कुन्दकुन्दस्वामीजी ने अपने शब्दों में निबद्ध किया है। दिगम्बरों में इस ग्रन्थ की बहुत मान्यता है। उसकी २५१वीं गाथा में अजैनों पर अनुकम्पा करने का स्पष्ट निषेध है—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥२५१॥

उसका भावार्थ लीजिये—'यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति से अल्पलम्प होता है, तथापि यदि (१) शुद्धात्मा की ज्ञानदर्शनरूप शुद्धचर्यावाले शुद्ध जैनों के प्रति, तथा (२) शुद्धात्मा की उपलब्धि की अपेक्षा से ही, वह प्रवृत्ति की जाती हो तो शुभोपयोगी के प्रति उसका निषेध नहीं है। परन्तु, यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति से अल्प ही लेप होता है तथापि (१) शुद्धात्मा की

[जैन तीर्थङ्करों का असम्भव शरीर वा आयु परिमाण]

अब जैनियों की और भी थोड़ी-सी असम्भव कथा लिखते हैं। सुनना चाहिये, और यह भी ध्यान में रखना कि—'अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का 'धनुष' होता है। और काल की संख्या जैसी पूर्व लिख आये हैं, वैसी ही समझना।

रत्नसार, भाग १, पृष्ठ १६६-१६७ तक में लिखा है—

१. ऋषभदेव का शरीर ५०० (पाँच सौ) धनुष् लम्बा, और ८४००००० (चौरासी लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

२. अजितनाथ का ४५० (साढ़े चार सौ) धनुष् परिमाण का शरीर, और ७२००००० (बहत्तर लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

३. सम्भवनाथ का ४००(चार सौ)धनुष् परिमाण का शरीर, और ६०००००० (साठ लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

४. अभिनन्दन का ३५० (साढ़े तीन सौ) धनुष् का शरीर, और ५०००००० (पचास लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

५. सुमतिनाथ का ३०० (तीन सौ) धनुष् परिमाण का शरीर, और ४०००००० (चालीस लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

ज्ञानदर्शनरूपचर्यावाले शुद्ध जैनों के अतिरिक्त दूसरे के प्रति, तथा (२) शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य किसी भी अपेक्षा से, वह प्रवृत्ति करने का शुभोपयोगी को निषेध है, क्योंकि इस प्रकार से पर की या निज की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती ॥२५१॥' (पृष्ठ ३०६)। (इस सन्दर्भ में 'शुद्ध जैनों से अतिरिक्त''होती' तक को ध्यान से पढ़िये। स्पष्ट ही जैनों द्वारा अजैनों पर अनुकम्पा करने का निषेध है। यह है अबाध दया !!)

अस्वाभाविक बातें—जैनों के ग्रन्थों में किस प्रकार अस्वाभाविक गप्पों की भरमार है। इस जैसी कथाओं ने विवेकशील जैनों को भी व्याकुल कर दिया है। इसका दिग्दर्शन एक जैन विद्वान् पण्डित बेचरदास जी ने 'जैन साहित्य में विकार' नामक पुस्तक में किया है। मूल पुस्तक गुजराती भाषा में है। श्रीयुत तिलक विजय जी ने इसका अनुवाद करके 'हिन्दी जैन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित किया है। लेखक निष्ठावान् जैन हैं, जैनमत के अनेक संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन किया है, जैन मत के समर्थन में अनेक ग्रंन्थ उन्होंने लिखे हैं और अब भी लिखते रहते हैं। ऐसे निष्ठावान् विद्वान् का लेख अवश्य प्रामाणिक है, अतः हम उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—"जैन कथानुयोग में आनेवाले वृत्तान्तों के मुख्य दो प्रकार हैं। एक चरितविभाग और दूसरा कल्पित विभाग। उनमें जो चरित्र विभाग है, उसके सम्बन्ध में मुझे खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि उसमें चरितता बहुत ही कम नजर आती है, परन्तु पौराणिकता की मात्रा इतने अधिक प्रमाणों में बढ़ गई है—बढ़ा दी गई है कि जिससे उसे अब चरित विभाग का नाम देना भी कठिन प्रतीत होता है। उस विभाग में अतिशयोक्ति तो इतनी की गई है, जिसकी मर्यादा भी कायम न रहने से वह अलङ्काररूप में नहीं घट सकती। भगवतीसूत्र में जहाँ पर किसी की दीक्षा का वर्णन आता है, वहाँ वह दीक्षित होनेवाला राजा हो या रङ्क, ब्राह्मण हो या वैश्य, परन्तु उन सबके लिए एक समान् और एक साथ तीन लाख (रुपये) का खर्च बतलाया है, याने दीक्षा लेनेवाले को दीक्षा लेने से पहले एक लाख तो हजामत करनेवाले नाई को देना चाहिये और एक लाख का रजोहरण लेना चाहिए और एक लाख का पात्र लेना चाहिए। यह उल्लेख जितना मर्यादाविरुद्ध है,

६. पद्मप्रभ का १४० (एक सौ चालीस) धनुष् का शरीर, और ३०००००० (तीस लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

७ पार्श्वनाथ का २०० (दो सौ) धनुष् का शरीर, और २०००००० (बीस लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

८. चन्द्रप्रभ का १५० (डेढ़ सौ) धनुष् परिमाण का शरीर, और १०००००० (दश लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

९. सुविधिनाथ का १०० (सौ) धनुष् का शरीर, और २००००० (दो लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

१०. शीतलनाथ का ९० (नब्बे) धनुष् का शरीर, और १००००० (एक लाख) 'पूर्व' वर्ष का आयु।

११. श्रेयांसनाथ का ८० (अस्सी) धनुष् का शरीर, और ८४००००० (चौरासी लाख) वर्षों का आयु।

उतना ही शास्त्रविरुद्ध है। कदाचित् किसी धनवान् ने दीक्षा लेते समय क्षौर करनेवाले नापित को एक लाख का इनाम दिया हो, यह सम्भव हो सकता है, परन्तु एक लाख का रजोहरण और एक लाख का पात्र किस तरह सम्भावित हो सकता है? यदि कदाचित् यह कहा जाये कि हीरारत्नजडित रजोहरण तथा वैसा ही पात्र लिया जाये तो यह बात संघटित हो सकती है, परन्तु ऐसा करते हुए दीक्षा लेनेवाला दीक्षा लेते ही जिनाज्ञा का लोप करता है। यदि उसे हीरा और रत्न रखने हों तो निर्ग्रन्थ बनने का कोई कारण ही नहीं रहता। हीरा और रत्न रखने से निर्ग्रन्थ की निर्ग्रन्थता पर पानी फिर जाता है। सूत्रों में आये हुए चरितविभाग में ऐसे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सूत्र के मूल-मुद्दे को हानि पहुँचाते हैं। ऐसे वर्णनों से हमारा कथानुयोग कैसा शोभता है, इस पर विचार करके पाठक स्वयं ही न्याय करें। भगवान् वर्धमान के लिए लिखा गया है कि जब उन्होंने दीक्षा ली तब उनके पास इन्द्र का दिया हुआ देवदूष्य था, जिसका मूल्य बाद में लाख सुवर्ण मोहरों जितना माना गया था। यहाँ पर मैं प्रश्न करता हूँ कि निर्ग्रन्थों के नायक और कठिन त्याग के प्रवर्त्तक भगवान् वर्धमान जिनके मुख्य शिष्य सुधर्मा ने उनके नाम से जम्बू को यह सन्देश दिया था कि भगवान् वर्धमान ने फटा-टूटा और उतरा हुआ वस्त्र वही कारण पड़ने पर ही रखने की अनुमति दर्शायी है, ऐसे समर्थ त्यागी ज्ञातपुत्र के जीवन में यह देवदूष्य वाली बात संगत हो सकती है? मान लो कि वे उस वस्त्र को अमूर्च्छाभाव से रखते थे, परन्तु ऊपर कथन की हुई अनुमति के दर्शानेवाला परमयोग पुरुष उस प्रकार के कीमती वस्त्र का स्पर्श भी किस तरह और किस कारण से कर सकता है? वर्त्तमान समय में भगवान् वर्धमान जैसे असहकार के प्रबल प्रवर्त्तक महात्मा गांधी यदि अमुक कारणपूर्वक और प्रजा के हित के बहाने से सरकार के साथ सहकार करें—और दूसरों को असहकार का उपदेश दें, यह बात जितनी संगत वा असंगत मालूम देती है, उतनी ही भगवान् वर्धमान के लाख सुवर्ण मोहरों के वस्त्रवाली बात भी संगत या असंगत मालूम होती है। कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने राजपिण्ड या देवपिण्ड मुनियों के लिए निषेध किया है परन्तु इस जगह तो वे देवपिण्ड के निषेधक भगवान् वर्धमान स्वयं ही लाख स्वर्ण के मूल्य वाले देवदूष्य को ग्रहण करते हैं, यह कैसी संगत और सुशोभित घटना है? इस बात पर पाठक स्वयं ही विचार कर लें निषेधक स्वयं जिस निषेध का अनुसरण न करता हो और निषेधाज्ञा को प्रचारित करना इच्छता हो, उसका वर्ताव 'मनसि अन्यत् वचसि अन्यत्' अर्थात् मन में कुछ और वचन में कुछ और जैसा माना जाता है। इस तरह के मात्र जबान

१२. वासुपूज्य स्वामी का ७० (सत्तर) धनुष् का शरीर, और ७२०००००० (बहत्तर लाख) वर्षों का आयु।

१३. विमलनाथ का ६० (साठ) धनुष् का शरीर, और ६०००००० (साठ लाख) वर्षों का आयु।

१४. अनन्तनाथ का ५० (पचास) धनुष् का शरीर, और ३०००००० (तीस लाख) वर्षों का आयु।

१५. धर्मनाथ का ४५ (पैंतालीस) धनुषों का शरीर, और १०००००० (दश लाख) वर्षों का आयु।

१६. शान्तिनाथ का ४० (चालीस) धनुषों का शरीर, और १००००० (एक लाख) वर्षों का आयु।

१७. कुन्थुनाथ का ३५ (पैंतीस) धनुष् का शरीर, और ९५००० (पचानवे सहस्र) वर्षों का आयु।

१८. अमरनाथ का ३० (तीस) धनुषों का शरीर, और ८४००० (चौरासी सहस्र) वर्षों का आयु।

१९. मल्लीनाथ का २५ (पच्चीस) धनुषों का शरीर, और ५५००० (पचपन सहस्र) वर्षों का आयु।

से कहनेवाले निषेधकों की आज कोई बात तक नहीं पूछता और न ही उनके जीवन की कुछ कीमत है। हमारे ग्रन्थकारों ने ऐसी-ऐसी अनेक बातें लिखकर कितनी एक जगह तो पुराणों को भी मात कर दिया है। ऐसा करके जिनशासन की प्रभावना की है। कैसी सुन्दर प्रभावना और कैसा सुन्दर उसका उपाय !!! कहा जाता है कि भगवान् महावीर जब देशना देते तब देवताओं के द्वारा तीन किले—गढ़ रचे जाते थे, वह भी पाषाण के नहीं बल्कि चाँदी सुवर्ण और रत्नों के होते थे। कैसी विचित्र बात है ? एक निर्ग्रन्थ को सादी और सत्य बात कहने के लिए सूत्रों में जगह-जगह पर वर्णित शिलापट्ट या वृक्ष की छाया पर्याप्त है, परन्तु ऐसी सादी प्रथा को पसन्द न करनेवाले हमारे ग्रन्थकारों ने उसके बदले चांदी सोने और रत्नों के तिगड़े की रचना करने में कैसी कुशलता का परिचय दिया है !!! मुझे तो यह एक बिल्कुल विचित्र बात मालूम देती है कि उपदेशक भी किले में घुसकर उपदेश देते होंगे या उन्हें किसी के डर से किले में बैठकर उपदेश देना पड़ता होगा ? इस प्रकार उपदेश और किलों के बीच किसी तरह का सम्बन्ध न होने पर भी उन्होंने उपदेश के समय जो तीन किले, कितनी एक वापिकायें—बावड़ियाँ एवं कितनेक नाटक भी बना दिये हैं और खुद भगवान् महावीर को भी चतुर्मुख बना दिया है, उनकी शिल्पकला के सामने विश्वकर्मा को भी शर्माना पड़ा होगा। भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे, इस बात को हम सब मानते हैं, इससे हम उनकी सर्वज्ञता का लाभ लेकर अपने माने हुए और आराध्य पुरुषों के नामोल्लेख उनके मुख से बनावटी रीति से करावें, यह कितना अनुचित कार्य है और भगवान् महावीर की आशातना करनेवाला है, इस बात का विचार विचारक स्वयं कर सकते हैं। मैं यह कहूँ कि उस महापुरुष ने अपने पवित्र मुख से मेरे पिता का जीवन चरित्र कथन किया था। आप कहें कि महावीर ने हमारे सगे सम्बन्धियों को भी याद किया था, तो क्या यह सब कुछ असम्भावित और निषेध्य नहीं है ? इस तरह की निर्मूल बातें हमारी मूर्खता का ही परिचय देती हैं। श्रीहेमचन्द्र सूरि ने अपने बनाये हुए वीरचरित्र में भगवान् वर्धमान के मुख से राजा कुमारपाल की (टि॰ वीरचरित्र में आयी हुई भगवान्

२०. मुनिसुव्रत का २० (बीस) धनुषों का शरीर, और ३०००० (तीस सहस्र) वर्षों का आयु।

२१. नमिनाथ का १४ (चौदह) धनुषों का शरीर, और १०००० (दश सहस्र) वर्षों का आयु।

२२. नेमिनाथ का १० (दश) धनुषों का शरीर, और १००० (एक सहस्र) वर्ष का आयु।

२३. पार्श्वनाथ का ९ (नौ) हाथ का शरीर, और १०० (सौ) वर्ष का आयु।

२४. महावीर स्वामी का ७ (सात) हाथ का शरीर, और ७२ (बहत्तर) वर्षों का आयु।

[इतनी लम्बी आयु और शरीर-परिमाण होना असम्भव है]

समीक्षक--ये चौबीस तीर्थङ्कर जैनियों के मत चलानेवाले आचार्य और गुरु हैं। इन्हीं को जैनी लोग परमेश्वर मानते हैं, और ये सब मोक्ष को गये हैं। इसमें बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि इतने बड़े शरीर, और इतना आयु मनुष्यदेह का होना कभी सम्भव है ? इस भूगोल में ऐसे बहुत ही थोड़े

महावीर के मुख से कुमारपाल की प्रशंसावाली बात मात्र हेमचन्द्रसूरिरचित वीरचरित में ही मिलती है अतएव मैं उसे कल्पित मानता हूँ) प्रशंसा कराकर उसे खुश कराने का जो लाहा लिया है, वह ऊपर लिखी हुई प्रशंसा से कुछ कम नहीं है। इस प्रकार के अनेक कल्पित उल्लेखों से भगवान् महावीर के चरित्र की ऐतिहासिकता में कितनी अधिक क्षति आई है ? इसका जवाब इतिहासज्ञ विचारक के सिवा अन्य कौन दे सकता है ? महावीर का माहात्म्य बढ़ाने के लिए उनकी नग्नता के बदले सवस्त्रता कहें तथा सुवर्ण, मणि और हीरा जवाहरात के तिगड़े से ही या देव-देवियों की दौड़धूप से ही उनके माहात्म्य का उत्कर्ष होना समझें तो माहात्म्य को समझने का यह प्रकार सर्वथा अनुचित और विपरीत है, एवं आडम्बरी सामग्री द्वारा एक परमत्यागी योगी की परीक्षा करने के समान (टि० "देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतय: । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्") हास्यास्पद है। इसके उपरान्त ऐसी अन्य भी बहुत-सी बातें हैं, जिनसे हमारा जो चरित्रविभाग ऐतिहासिक गिना जाता है, वह भी पुराण जैसा हो गया है, यह कुछ कम खेद की बात नहीं है। यहाँ पर मैं प्रकृत विषय का मात्र एक ही उदाहरण देकर अब कल्पित कथाओं की ओर आपका ध्यान खींचूँगा। एक जगह इन्द्र की उस ऋद्धि का वर्णन किया गया है, जिस ऋद्धि को लेकर वह राजा दशार्ण के समय भगवान् महावीर को वन्दन करने को आया था। वहाँ पर बतलाया है कि उस इन्द्र के चौंसठ हजार हाथी थे, प्रत्येक हाथी के आठ-आठ दाँत थे, प्रत्येक दाँत पर आठ-आठ वापिकायें थीं, प्रत्येक वापिका में आठ-आठ कमल थे, जितने कमल थे उतने ही प्रमाण में उनकी कर्णिकायें थीं, प्रत्येक कर्णिका पर एक-एक प्रासाद (बिल्डिंग) था, उस प्रत्येक प्रासाद में आठ-आठ इन्द्राणियों के साथ एक-एक इन्द्र बैठा था और उस प्रत्येक इन्द्र के सामने बत्तीस प्रकार का नाटक हो रहा था, जिसमें एक सौ आठ देवकुमार और एक सौ आठ देवकन्यायें पार्ट करती थीं—अभिनय करती थीं" [देखो—वृद्ध-ऋषिमण्डलस्तव, आवश्यक चूर्णि और श्राद्धविधि पृ० ५०-५२]।

इस वर्णन के सामने तो पुराण के वर्णन भी फीके मालूम देते हैं। इसमें हाथी के दाँतों पर पानी की वापिकायें होने का जो उल्लेख किया है, वह तो सर्वथा ही असत् में से सत् करने जैसा, शिला पर कमल जमाने के समान और देश, काल, शास्त्र एवं रूढ़ी विरुद्ध है। उसमें मुख वगैरह की अन्यान्य संख्याएँ भी विचारणीय हैं। परन्तु यह तो कल्पना का विषय होने से कदाचित् अमर्यादित अतिशयोक्ति में समाविष्ट हो सकता है, किन्तु दाँतों पर जलवापिकाओं का होना तो बिल्कुल ठण्डे पहर की गप्प

मनुष्य बस सकते हैं। इन्हीं जैनियों के गपोड़े लेकर जो पुराणियों ने एक लाख, दश सहस्र, और एक सहस्र वर्ष का आयु लिखा, सो भी सम्भव नहीं हो सकता, तो जैनियों का कथन सम्भव कैसे हो सकता है ?

[जैनियों की कुछ अन्य असम्भव और निकृष्ट बातें]

अब और भी सुनो। कल्पभाष्य, पृष्ठ ४—'नागकेत ने ग्राम की बराबर एक शिला अंगुली पर धर ली !!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ ३५—'महावीर ने अंगूठे से पृथिवी को दबाई, उससे शेषनाग कम्प गया !!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ ४६—'महावीर को सर्प ने काटा, रुधिर के बदले दूध निकला, और वह सर्प ८वें स्वर्ग को गया !!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ ४७—'महावीर के पग पर खीर पकाई और पग न जले !!'

कल्पभाष्य, पृष्ठ १६—'छोटे से पात्र में ऊँट बुलाया !!'

रत्नसार, भाग १ प्रथम, पृष्ठ १४—'शरीर के मैल को न उतारे और न खुजलावे।'

विवेकसार, भाग १, पृष्ठ १५—'जैनियों के एक दमसार साधु ने क्रोधित होकर उद्वेगजनक सूत्र पढ़कर एक शहर में आग लगा दी, और महावीर तीर्थङ्कर का अतिप्रिय था।'

विवेकसार, भाग १, पृष्ठ १२७—'राजा की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये।'

मालूम होती है। वर्त्तमान समय में इस प्रकार की अनेक कथाओं द्वारा उपाश्रयों में बैठकर रेशमी, खीनखाब, और ज़री के तिगड़े में पाट पर विराजमान होकर हमारे कुलगुरु श्रोताओं को रंजित कर रहे हैं, यह देखकर मुझे तो चौपाल में बैठकर अफीमची किसानों के सामने गप्पें मारते और हुंकार करते चरणों की स्मृति आ जाती है। आश्चर्य तो यह होता है कि व्यापार विद्या में अतिनिपुण वणिक् समुदाय विना विचार किये धन्यवाणी और तहत्ते वचन की गर्जनायें किस प्रकार करता होगा ? पुण्यविपाक और पापविपाक की कथाओं एवं अन्य कथाओं के अधिक विभाग में मैंने ऐसे-ऐसे अनेक वर्णन देखे हैं, इससे इन कथाओं को इस वर्णन से उतरती कैसे कहा जाये ? जिस साहित्य में चरितविभाग भी पौराणिक स्वरूप की स्थिति भोगता हो, उसके कल्पित कथाविभाग का तो कहना ही क्या है !!! कल्पित कथाओं में अनेक रचनेवालों ने साहित्यशास्त्रों की मर्यादा और कार्यकारण की व्यवस्था का भी पूरा ख्याल नहीं रखा। वे कहते हैं कि जो परिग्रह का परिमाण करता है, वह अतुल धनसम्पत्ति के परिग्रह का भोगी बनेगा। साधुओं को दान देने से दान देनेवाला चक्रवर्ती जैसा सम्राट् होगा। जो यहाँ पर ब्रह्मचर्य-पालन करेगा, वह फिर हजारों देवियों का चिरसंगी बनेगा। इन बातों पर यदि आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि जो हेतुरूप पदार्थ हैं, उन दोनों के बीच कितना अधिक विरोध रहा हुआ है। परिग्रह के अनिच्छुक को अतुल धनसम्पत्ति किस तरह मिल सकती है ? दान देनेवाला चक्रवर्ती सम्राट् किस तरह बने ? और ब्रह्मचर्य का संस्कारी सुधरा हुआ व्यभिचारी कैसे बन सकता है ? इस तरह की असंगतियों के उपरान्त कितनी एक ऐसी कल्पित कथाएँ भी गढ़ी गई हैं कि जिनसे विशेषत: संस्कारों और मनोवृत्ति पर आधारित कर्मबन्ध की व्यवस्था को भी बड़ा भारी धक्का पहुंचा है।...कुंवरजी भाई के 'देवद्रव्य' नामक निबन्ध में आप ऐसी अनेक कथाएँ देख सकते हैं, जिससे उपरोक्त बात भली भाँति ध्यान में आ सकती है [देखो ऋषभदत्त की कथा पृष्ठ ११]। इस कथा के मालिक ने स्वकार्य में व्यग्र होने से देवद्रव्य से लगती विस्मृति की थी, इससे उस बेचारे को भैंसे की योनि में भेज दिया ! मुझे तो यह मालूम है कि

विवेकसार, भाग १, पृष्ठ २२७—'एक कोशा वेश्या ने थाली में सरसों की ढेरी लगा, उसके ऊपर फूलों से ढकी हुई सूई खड़ी कर, उस पर अच्छे प्रकार नाच किया, परन्तु सुई पग में गड़ने न पाई। और सरसों की ढेरी बिखरी नहीं !!!'

तत्त्वविवेक,पृष्ठ २२८—'इसी कोशा वेश्या के साथ एक स्थूलमुनि ने १२ वर्ष तक भोग किया, और पश्चात् दीक्षा लेकर सद्गति को गया। और कोशा वेश्या भी जैनधर्म को पालती हुई सद्गति को गई।'

विवेक०, भाग १, पृष्ठ १८५—'एक सिद्ध की कन्था, जो गले में पहिनी जाती है, वह ५०० अशर्फी एक वैश्य को नित्य देती रही।'

विवेक०, भाग १, पृष्ठ २२८—'बलवान् पुरुष की आज्ञा, देव की आज्ञा, घोर वन में कष्ट से निर्वाह, गुरु के रोकने, माता-पिता कुलाचार्य ज्ञातीय लोग, और धर्मोपदेष्टा इन छः के रोकने से धर्म में न्यूनता होने से धर्म की हानि नहीं होती।'

[पूर्वोक्त असम्भव और निकृष्ट बातों की आलोचना]

समीक्षक—अब देखिये इनकी मिथ्या बातें—एक मनुष्य ग्राम के बराबर पाषाण की शिला को अंगुली पर कभी धर सकता है? ॥१॥

और पृथिवी के ऊपर अंगूठे से दाबने से पृथिवी कभी दब सकती है? और जब शेषनाग ही नहीं, तो कम्पेगा कौन? ॥२॥

'माया तैर्यग्योनस्य' अर्थात् तिर्यंचता का हेतु दम्भ है। यहाँ पर तो कथाकार ने विस्मृति के परिणाम में ऋषभदत्त सेठ को भैंसा बनाया है, परन्तु उसने जो परिधापनि का उधार लेकर जिनपूजा की थी, उसके परिणाम में उसकी इन्द्रों से पूजा न करायी। यह वदतो व्याघात जैसी बात है। अब सागरशेठ की कथा का भी नमूना देखिये पृष्ठ १३। इस कथा में सागरशेठ ने चैत्यद्रव्य से चैत्य के कारीगरों में व्यापार किया था, उस व्यापार से उसने मात्र साढ़े बारह का नफा लिया था, उसके परिणाम में उसे जलचर होना पड़ा, उसे छह महीने तक वज्र की चक्की में पिसना पड़ा, फिर वह तीसरी नरक में गया, मच्छ बना, चौथी नरक में गया, पहली नरक से लेकर सातवीं नरक तक अनेक बार गया। फिर हजार दफा सुअर, हजार दफा बकरा, हजार दफा हरिण, हजार दफा खरगोश, बारहसिंगा, गीदड़, बिलाव, चूहा, न्योल, छपकी, गोय, सर्प, बिच्छु, कृमी, पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, वृक्ष, शङ्ख, जोंक, कीड़ा, मक्खी, भ्रमर, मच्छर, कच्छुआ, रासभ, भैंसा, अष्टापद, खच्चर, घोड़ा, हाथी, व्याघ्र और सिंह वगैरह की योनि में उसने हजार-हजार बार जन्म धारण किये, इतना ही नहीं बल्कि कथाकार ने तो उसके सिर पर इससे भी विशेष दुर्दशा का पहाड़ रख दिया है। मेरी मान्यतानुसार उस सागर शेठ ने चैत्य की जो अवैतनिक सेवा की थी, उसके बदले में कथाकार की दृष्टि से वह अवश्य दिव्यपुरुष होना चाहिए था, परन्तु कथा में इस विषय का इशारा तक भी नहीं किया !!! मैं मानता हूँ कि अन्याय करनेवाला दण्ड का पात्र अवश्य है, परन्तु वह दण्ड अन्याय के प्रमाण में ही उचित होता है, ऊपर बतलाये हुए सागर शेठ का न्याय करनेवाली फौजदारी कोर्ट उसका न्यायाधीश, और उसकी धारासभा मुझे मानुषिक नहीं प्रतीत होती। और भी देखिये श्रेष्ठी कथा पृ० २२। इस कथा में कथाकार ने कथागत शेठ का कुछ विचित्र ही चित्र लिखा है। एक नट ने उसे दुःखी करनेवाले शेठ को दुःखी करने के लिए शेठ के चिने जाते हुए घर में जैनमन्दिर की ईंट का टुकड़ा, वह भी किसी को मालूम न हो, इस रीति

भला शरीर के काटने से दूध निकलना किसी ने नहीं देखा। सिवाय इन्द्रजाल के दूसरी बात नहीं। उसको काटनेवाला सर्प तो स्वर्ग में गया, और महात्मा श्रीकृष्ण आदि तीसरे नरक को गये, यह कितनी मिथ्या बात है ? ॥३॥

जब महावीर के पग पर खीर पकाई, तब उसके पग जल क्यों न गये ? ॥४॥

भला छोटे-से पात्र में कभी ऊँट आ सकता है ? ॥५॥

जो शरीर का मैल नहीं उतारते, और न खुजलाते होंगे, वे दुर्गन्धरूप महानरक भोगते होंगे ॥६॥

जिस साधु ने नगर जलाया, उसकी दया और क्षमा कहाँ गई ? जब महावीर के सङ्ग से भी उसका पवित्र आत्मा न हुआ, तो अब महावीर के मरे पीछे उसके आश्रय से जैन लोग कभी पवित्र न होंगे ॥७॥

राजा की आज्ञा माननी चाहिये। परन्तु जैन लोग बनिये हैं, इसलिए राजा से डरकर यह बात लिख दी होगी ॥८॥

कोशा वेश्या, चाहे उसका शरीर कितना ही हल्का हो, तो भी सरसों की ढेरी पर सुई खड़ी-कर उसके ऊपर नाचना सुई का न छिदना और सरसों का न बिखरना, अतीव झूठ नहीं तो क्या है ? ॥९॥

धर्म किसी को किसी अवस्था में भी न छोड़ना चाहिये, चाहे कुछ भी हो जाय ॥१०॥

से दीवार में चिन दिया। इस काम के परिणाम में इस बात को न जाननेवाला एवं न करनेवाला भी शेठ उस घर में रहने से निर्धन हो गया। इस कथा में तो कथा जोड़नेवाले ने कोई नवीन ही कलम—कानून लगायी है, जिससे अपराधी तो मुक्त हुआ और अपराध न करनेवाला और उस बात को न जाननेवाला सर्वथा निरपराधी दण्ड का शिकार बन गया। धन्य है कथाकार की चतुराई को !!!! इस कथा को घड़ते समय कथाकार ने एक-तरफी धुन में अकृतागम के भयङ्कर दूषण को नहीं समझा। कैसा सुन्दर न्याय है ? इस सम्बन्ध में मैं ज्यों-ज्यों विशेष लिखता हूँ, त्यों-त्यों मुझे अधिक खेद होता है कि श्रीयुत भाई मोतीचन्द सोलिसिटर कापडिया, जो पुराणों का उपहास करते हैं, वही सज्जन पुराणों को भी पीछे हटानेवाली ऐसी निर्मूल कथाओं को आदर्श कथा किस तरह मानते होंगे। मैं यहाँ पर ऐसी कितनी कथाओं का उल्लेख करूँ, जहाँ पर थोड़े से अपवादों को छोड़कर इस प्रकार की बड़ी कथाओं का सागर उछलता हो, वहाँ पर उचितानुचित का पता ही कहाँ लग सकता है ? जिन पाठकों को ऐसी कथाओं को देखने की इच्छा हो, उन्हें पडमचरिय, विजयचन्द्रकेवली चरित्र, श्राद्धविधि, उपदेशसप्तति, द्रव्यसप्तति और श्रीपालरास इत्यादि मूलग्रन्थ या उनके भाषान्तर देख लेने चाहिएँ और उन्हें पढ़े बाद यदि पाठकों को यह मालूम हो कि मैंने जो कहा है वह असत्य है, तो उस विषय में मुझे लिखने की कृपा करें। कथाओं की बात तो दूर रही, किन्तु कितनेक ऐसे ग्रन्थ भी रचे गये हैं और उन्हें उन ग्रन्थकारों ने सीधा श्रीवर्धमान के नाम पर ही चढ़ा दिया है। पडमचरिय के कर्त्ता ने अपने रचे पडमचरिय को भी भगवान् वर्धमान के नाम पर पटक दिया है !!! भगवती सूत्र को संकलित करनेवाले ने अपनी संकलना को श्रीवर्धमान और गौतम के (टि० समवायांग और नन्दीसूत्र में भगवतीसूत्र के विषय का वर्णन दिया है, उसमें श्री वर्धमान और गौतम के प्रश्नोत्तरों के उल्लेख की गंध तक नहीं है) प्रश्नोत्तर में संकलित किया है। वसुदेवहिण्डि के जोड़नेवाले ने अपनी जोड़ को सुधर्मा और वर्धमान के समय की बतलाई है ? वर्धमानदेशना के रचयिता ने अपनी मनःपूत देशना का वर्धमानदेशना नाम रखा है !!

भला कन्था वस्त्र का होता है, वह नित्यप्रति ५०० अशर्फी किस प्रकार दे सकता है ? ॥११॥

अब ऐसी-ऐसी असम्भव कहानी इनकी लिखें, तो जैनियों के थोथे पोथों के सदृश बहुत बढ़ जाए। इसलिए अधिक नहीं लिखते। अर्थात् थोड़ी-सी इन जैनियों की बातें छोड़के, शेष सब मिथ्या जाल भरा है। देखिये—

[जैनियों की भूगोल-खगोल सम्बन्धी मिथ्या बातें]

दो ससि दो रवि पढमे। दुगुणा लवणंमि धायई संडे।
वारस ससि वारस रवि। तप्पमि इं निदिठ ससि रविणो॥
तिगुणा पुब्बिलजया। अणन्तराणंतरं मिखित्तमि।
कालो ए बयाला। बिसत्तरी पुस्कर द्वंमि॥

—प्रक०, भा० ४, संग्रहणीसूत्र ७७-७८

इस तरह की रीति का अनेक ग्रन्थों में अनुसरण किया गया है। और वह आजतक के ग्रन्थों में भी किया जाता है। सोलहवीं शताब्दी में होनेवाले रत्नशेखरसूरि ने, अपने बनाये हुए श्राद्धविधि-प्रकरण में लिखा है कि श्रीवर्धमान ने अभयकुमार के प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे, उनका मैं इस श्राद्धविधि नामक ग्रन्थ में संग्रह करता हूँ! कहाँ तो दो हजार वर्ष पहले के श्रीवर्धमान और अभय कुमार ? और कहाँ यह परसों होनेवाले रत्नशेखरसूरि ? तथापि कदाचित् किसी विद्या के बल से यह सिद्धशिला तक (?) पहुँचे हों और वहाँ पर विराजमान श्रीवर्धमान और अभयकुमार को पूछकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया हो तो यह ऐसे महापुरुषों के लिए संभावित है!!!!! इस तरह के अनेक ग्रन्थ गाथायें और आजकल तो दोहे तक घड़नेवाले वर्तमान समय में श्रीवर्धमान के नाम से ही कमा खाते हैं। तथापि हम श्रीवर्धमान के कितने अधिक भक्त बन गये हैं कि किसी की भी घड़न्त में श्रीवर्धमान का नाम आते ही विवेक को भी एक तरफ रखकर हाँ जी हाँ कहकर अपना ही अहित करते हैं। हमारे चरित विभाग और कल्पित-कथा विभाग की स्थिति इतनी अधिक खराब है कि यदि उसका पृथक्करण नहीं किया गया और कल्पित कथाओं को बुद्ध की जातक कथाओं के समान मानुषिक रीति से सम्भावित साँचे में न ढाला गया तो कुछ समय के बाद उसे कोई सूँघने तक की भी परवाह न करेगा। अब अन्धश्रद्धा का समय बहुत व्यतीत हो चुका है। मैं मानता हूँ कि ग्रहिल भक्ति के आवेश से हम भयंकर अनर्थों को कर डालते हैं और इस कारण हम देव इन्द्र शक्र शतक्रतु पुरन्दर मघवा मेरु और शची वगैरह के मूल और मुख्य अर्थों तक न पहुँचकर उसके पौराणिक रूप अपने साहित्य में मिलाकर साहित्य को विकृत कर रहे हैं। एवं पूर्व के कथाकारों ने भी इसी कारण इस तरह का विकार पैदा कर साहित्य को विकारित करने में कुछ कचास नहीं रखी, उन कथाकारों का एक ही उद्देश्य था कि कथाओं में चाहे जैसे भयंकर भय और बड़ी-बड़ी उधाररूपी लालचें दिखलाकर लोगों को सन्मार्ग पर लाना, केवल इसी धुन में उन्होंने मात्र पुराणों की रीति का अनुसरण करके और साहित्यशास्त्र तथा धर्मशास्त्र एवं काल्पनिक विषय की मर्यादा का लोप होने तक भी पीछे फिरकर न देखा। इससे उनके सदृश्य के बदले वर्त्तमान में ऐसा विचित्र परिणाम उपस्थित हुआ कि नगद धर्म को छोड़कर मनुष्य उधार धर्म्म के पन्थ में पड़कर दिन प्रतिदिन अधःस्थिति प्राप्त करते जा रहे हैं और हमारा यह अधःपात कहाँ जाकर अटकेगा, यह भी मालूम नहीं होता। बस, इस विषय में इससे अधिक कलम चला कर अपने आपको कष्ट देना नहीं चाहता।" (पृष्ठ २२३-२३६)।

इस पर हमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। लेखक ने स्पष्ट बतला दिया है कि जैन-ग्रन्थ जालसाजी हैं और यह कार्य अब तक भी चालू है। जैनों की असम्भव बातों के उदाहरण दे दिये

जो 'जम्बूद्वीप' लाख योजन अर्थात् ४ (चार)[1] लाख कोश का लिखा है, उनमें यह पहिला द्वीप कहाता है। इसमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। और वैसे ही 'लवणसमुद्र' में उससे दुगुणे अर्थात् ४ चन्द्रमा और ४ सूर्य हैं। तथा 'धातकीखण्ड' में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं। और इनको तिगुणा करने से छत्तीस होते हैं। उनके साथ दो जम्बूद्वीप के और चार लवणसमुद्र के मिलकर ब्यालीस चन्द्रमा और ब्यालीस सूर्य कालोदधि समुद्र में हैं।

इसी प्रकार अगले-अगले द्वीप और समुद्रों में पूर्वोक्त ब्यालीस को तिगुणा करें, तो १२६ (एक सौ छब्बीस) होते हैं। उनमें 'धातकीखण्ड' के १२ (बारह), 'लवणसमुद्र' के ४ (चार), और 'जम्बूद्वीप' के जो-जो दो, इसी रीति से निकालकर १४४ (एक सौ चवालीस) चन्द्र और १४४ सूर्य पुष्करद्वीप में हैं। यह भी आधे मनुष्यक्षेत्र की गणना है। परन्तु जहाँ तक मनुष्य नहीं रहते हैं, वहाँ बहुत से सूर्य और बहुत से चन्द्र हैं। और जो पिछले अर्ध पुष्करद्वीप में बहुत चन्द्र और सूर्य हैं, वे स्थिर हैं।

गये हैं। गप्पों के सम्बन्ध में सुयोग्य लेखक का विचार है कि जैनों पर इस विषय में पौराणिक वा पुराणों की छाप है। हमारा विचार इससे विपरीत है। हम सप्रमाण मानते हैं कि ब्रह्मवैवर्त्त आदि अष्टादश-पुराणों की रचना जैनपुराणों को देखकर हुई है। अथवा जैसा कई एक विद्वानों का विचार है कि ये भी वस्तुतः जैनों की रचना है। अस्तु जो भी हो, जैनसाहित्य की वर्त्तमान दशा बहुत अनास्थेय हो चुकी है। इस विकार का परिणाम यह है कि यदि एक सम्प्रदाय किसी ग्रन्थ को प्रामाणिक कहता है तो दूसरा उसकी मान्यता से इनकार कर देता है।

जम्बूद्वीप का प्रमाण इसी संग्रहणीसूत्र की ६९वीं गाथा में लिखा है—'पढमो जोयणलक्खो··· पढमो जम्बूदोवो'। अर्थात् पहला एक लाख योजन का है···और पहला जम्बूद्वीप है।

दो चन्द्र— तिलोयप्पण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) के सत्तमो महाधियारो की ११६वीं गाथा में जम्बूद्वीप में दो चन्द्रों का होना बतलाया है-- चरबिंबा मण्डवाण तस्सि च जबुदीवम्मि। दोणि मियंका ताणं एक्कं चिय होदि चारमही ॥११६॥ अर्थ – चर अर्थात् गमनशील विम्ब मनुष्यक्षेत्र में ही हैं, मनुष्य-क्षेत्र के भीतर भी जम्बूद्वीप में दो चन्द्र हैं, उनकी संचारभूमि एक ही है ॥११६॥ इसीकी २१७वीं गाथा में जम्बूद्वीप में दो सूर्यों की सत्ता कही गई है—जम्बूदीवम्मि दुवे दिवायरा ताण एक्क चारमही। अर्थ— जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं, उनकी चार पृथिवी एक ही है। लवणसमुद्रादि में चन्द्र संख्या इसकी ५५०वीं गाथा में इतनी ही लिखी है। 'चत्तारो लवणजले धादइदीवम्मि बारस मियंका। बादाल कालसलिले बाहत्तरि पुक्खरद्धम्मि ॥५५०॥ अर्थ— लवण समुद्र में चार, धातकी खंडद्वीप में बारह, कालोदसमुद्र में ब्यालीस और पुष्करार्द्ध द्वीप में बहत्तर चन्द्र हैं ॥५५०॥ सूर्यों की सख्या के लिए इसीकी ५७१वीं गाथा पढ़िये—चत्तारि होंति लवणे बारस सूरा य धादईखंडे। बादाला कालोदे बावत्तरि पुक्खरद्धम्मि। अर्थ— लवण समुद्र में चार, धातकी खण्ड में बारह, कालोदसमुद्र में ब्यालीस और पुष्करार्द्ध में बहत्तर सूर्य स्थित हैं ॥५७१॥' अब लीजिये जम्बूद्वीप का परिमाण (प्रमाण)—'जम्बू जोयणलक्खप्पमाणवासो दु दुगुणं-दुगुण्णणं। विक्खंभप्पमाणाणि लवणादिसयंभरमणंतं। (ति० प० ५ महाधियारो ३२ गाथा) अर्थ— जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन प्रमाण का है। इससे आगे लवण समुद्र से स्वयंभूरमण समुद्र-पर्यन्त द्वीपसमुद्रों के क्रमशः दुगणे-दुगणे विस्तार प्रमाण हैं ॥३२॥' इसी ग्रन्थ के सत्तमो महाधियारो की

---

१. एक लाख योजन = ४ लाख कोश अर्थ योजन के सामान्य अर्थ के अनुसार है। ऐसा ही योजन का सामान्य अर्थ आगे भी स्वीकार करके समीक्षा की है। परन्तु जैनियों का योजन दश सहस्र कोश का होता है। उसके अनुसार यहाँ १०००००००००० दश अरब कोश होना चाहिए।

पूर्वोक्त एकसौ चवालीस को तिगुणा करने से ४३२, और उनमें पूर्वोक्त 'जम्बूद्वीप' के दो चन्द्रमा दो सूर्य, चार-चार 'लवण-समुद्र' के, और बारह-बारह 'धातकीखण्ड' के, और ब्यालीस 'कालोदधि' के मिलाने से ४९२ चन्द्र तथा ४९२ सूर्य पुष्कर समुद्र में हैं।

ये सब बातें श्रीजिनभद्रगणीक्षमा श्रमण ने बड़ी 'संघयणी' में तथा 'योतीसकरण्डक पयन्ना' मध्ये, और 'चन्द्रपन्नति' तथा 'सूरपन्नति' प्रमुख सिद्धान्त-ग्रन्थों में इसी प्रकार कही हैं।

[पूर्वोक्त असम्भव सूर्यचन्द्र-संख्या की समीक्षा]

समीक्षक—अब सुनिये, भूगोल-खगोल के जाननेवालो! इस एक भूगोल में एक प्रकार ४९२ (चार सौ बानवे), और दूसरी प्रकार असंख्य चन्द्र और सूर्य जैनी लोग मानते हैं। आप लोगों का बड़ा भाग्य है कि वेदमतानुयायी 'सूर्यसिद्धान्तादि' ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन से ठीक-ठीक भूगोल-खगोल विदित हुए। जो कहीं जैन के महा अन्धेर मत में होते, तो जन्मभर अन्धेर में रहते। जैसेकि जैनी लोग आजकल हैं।

६१२वीं गाथा में 'मानुषोत्तर पर्वत से आगे स्वयंभूरमणपर्यन्त द्वीप-समुद्रों में अचर स्वरूप से स्थित ज्योतिषी देवों के समूह का निरूपण करते हैं।' कह कर आगे एक विस्तृत गद्य पाठ है, उस सबको उद्धृत न करके उसके अनुवाद में से अपेक्षित अंश उद्धृत करते हैं—'पुष्करार्द्ध द्वीप के प्रथम वलय में स्थित चंद्र व सूर्य्य प्रत्येक एक सौ चवालीस हैं ॥१४४-१४४॥ पुष्करवर समुद्र के प्रथम वलय में स्थित चन्द्र व सूर्य प्रत्येक दो सौ अठासी मात्र हैं। इस प्रकार अधस्तन द्वीप अथवा समुद्र के प्रथम वलय में स्थित चन्द्र और सूर्य प्रत्येक स्वयंभूरमण-समुद्र पर्यन्त दुगुणे-दुगुणे होते चले गये हैं (पृष्ठ ७६१-७६२)'। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस विषय में जैनों के दोनों प्रमुख सम्प्रदाय एकमत हैं। स्मरण रखना चाहिए कि जम्बूद्वीप तो पृथिवी का एक भाग है। उसका विस्तार और उसमें दो-दो सूर्यों-चन्द्रों का कथन करना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। ऐसी सहस्रशः प्रत्यक्षविरुद्ध बातों के प्रचारक जैनमत को वैज्ञानिक कहने का साहस किया जाता है!!!

असंख्य चन्द्र—'जैन शास्त्रों की असंगत बातें' ग्रन्थ के २६, २७वें पृष्ठ पर लेखक ने लिखा है—'जैन शास्त्रों से···इस लोक आकाश में असंख्य सूर्य और असंख्य चन्द्र हैं, जिनमें अढाई द्वीप तक, जहाँ तक कि मनुष्यों की आबादी का सम्बन्ध है, १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र बताये हैं।'

सूर्य सिद्धान्तादि—श्री वच्छराज सिंघी लिखते हैं—'सनातनधर्म के ग्रन्थों में इन द्वीपसमुद्रों पर प्रकाश करनेवाला सूर्य एक ही माना गया है मगर जैनशास्त्रों में जहाँ तक मनुष्यों की आबादी का सम्बन्ध है, १३२ सूर्य माने गये हैं। वर्त्तमान दक्षिण और उत्तरध्रुवों की तरफ तीन-तीन महीनों तक एक ही सूर्य लगातार दिखाई देता है, एक क्षण भी ओझल नहीं होता। इससे यह बात साबित होने में कोई त्रुटि नहीं रहती कि हमारी पृथिवी पर प्रकाश करनेवाला सूर्य एक ही है। पाठकवृन्द! एक सूर्य को देखते हुए भी दो सूर्यों का मानना शास्त्रों के अक्षर-अक्षर को किस हद तक प्रमाणित करता है, इसे विचार कर देख लें। श्रीभास्कराचार्यरचित एक प्राचीन ज्योतिष ग्रंथ "सूर्यसिद्धान्त" के बारहवें अध्याय में हमारी इस पृथिवी को स्पष्टतया गेंद की तरह गोल और भ्रमण करती हुई माना है, जैसा कि वर्त्तमान विज्ञान ने मान रखा है। भारतवर्ष के ज्योतिषी इस सूर्यसिद्धान्त के आधार पर पञ्चाङ्ग बनाते हैं। सूर्यसिद्धान्त में भी इस पृथिवी पर प्रकाश पहुँचानेवाला सूर्य एक ही माना है। ऐसी सूरत में दो सूर्य माननेवालों के लिए प्रत्यक्ष और (व्यावहारिक) आगम दोनों प्रमाणों के मुकाबले में अपनी दो सूर्यों की मान्यता को साबित करने की पूरी जिम्मेदारी आ पड़ती है' (जैनशास्त्रों की असंगत बातें, पृ० २१-२२)।

इन अविद्वानों को यह शङ्का हुई कि जम्बूद्वीप में एक सूर्य और एक चन्द्र से काम नहीं चलता। क्योंकि इतनी बड़ी पृथिवियों को तीस घड़ी में चन्द्र सूर्य कैसे आ सकें। क्योंकि पृथिवी को ये लोग सूर्यादि से भी बड़ी मानते हैं, यही इनकी बड़ी भूल है।

दो ससि दो रवि पंती एगंतरिया छसठि संखाया।
मेरुं पयाहिणंता माणुसखित्ते परिअडंति॥

—प्रकरण०, भा० ४, संग्रहणीसूत्र ७९

[1][मनुष्यलोक में चन्द्रमा और सूर्य की पंक्ति की संख्या कहते हैं। दो चन्द्रमा और दो सूर्य की पंक्ति (=श्रेणी) हैं। वे एक-एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश के आँतरे से चलते हैं। जैसे सूर्य की पंक्ति के आँतरे एक पंक्ति चन्द्र की है, इसी प्रकार चन्द्रमा की पंक्ति के आँतरे सूर्य की पंक्ति है। इसी रीति से चार पंक्ति हैं। वे एक-एक चन्द्रपंक्ति में ६६ चन्द्रमा, और एक-एक सूर्यपंक्ति में ६६ सूर्य हैं।

वे चारों पंक्ति 'जम्बूद्वीप' के मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करती हुई मनुष्यक्षेत्र में परिभ्रमण करती हैं, अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीप के मेरु से एक सूर्य दक्षिण दिशा में विहरता, उस समय दूसरा सूर्य उत्तर दिशा में फिरता है। वैसे ही 'लवणसमुद्र' की एक-एक दिशा में दो-दो चलते-फिरते। 'धातकीखण्ड' के ६, 'कालोदधि' के २१, 'पुष्करार्द्ध' के ३६, इस प्रकार सब मिलकर ६६ सूर्य दक्षिण दिशा, और ६६ सूर्य उत्तर दिशा में अपने-अपने क्रम से फिरते हैं।

और जब इन दोनों दिशा के सब सूर्य मिलाये जायें, तो १३२ सूर्य, और ऐसे ही छासठ-छासठ चन्द्रमा की दोनों दिशाओं की पंक्तियाँ मिलाई जायें, तो १३२ चन्द्रमा मनुष्यलोक में चाल चलते हैं।] इसी प्रकार चन्द्रमा के साथ नक्षत्रादि की भी पंक्तियाँ बहुत-सी जाननी।

[१३२ सूर्य और १३२ चन्द्र बताना मूर्खता]

समीक्षक—अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य-और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे? भला जो तपते होंगे, तो वे जीते कैसे हैं? और रात्रि में भी शीत के मारे जैनी लोग जकड़ जाते होंगे? ऐसी असम्भव बात में भूगोल-खगोल के न जाननेवाले फँसते हैं, अन्य नहीं। जब एक सूर्य इस भूगोल के सदृश अन्य अनेक भूगोलों को प्रकाशता है, तब इस छोटे से भूगोल की क्या कथा कहनी?

चन्द्रमा के साथ नक्षत्रादि की बात संग्रहणीसूत्र की नीचे लिखी गाथा के आधार पर है—

"एवं गहाइणो विहु। नवरं धुव पासवत्तिणो तारा। तं चिय पयाहिणंता॥
तच्छेव सया परिभमंति" ॥ सं० ७० ॥

"यदि देखा जाय तो जैनशास्त्रों की खगोल भूगोल सम्बन्धी सभी कल्पनाएँ सर्वथा कल्पित सिद्ध होंगी। जहाँ तक मेरा अनुभव है, वर्त्तमान भारतीय ज्योतिष के वर्णन और आँकड़ों की तुलना में इन सूत्रों की बहुत-सी बातें असत्य प्रमाणित होंगी। सर्वज्ञता का दावा करनेवालों के ग्रन्थों में इस प्रकार की निराधार बातों का उल्लेख होना शोभा की बात नहीं है।" (जैन शास्त्रों की असंगत बातें, पृ० ५७-५८)।

---

१. कोष्ठक के भीतर का यह पाठ 'प्रकरण-रत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ६७' पर पठित गाथा के गुजराती अर्थ का भाषान्तर है—स्वामी वेदानन्द।

[केवली का १४ राज्यलोकों में फिरना]

समत्तचरण सहिया सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं।
सत्तय चउदसभाए पंचय सुयदेसविरईए॥

—प्रकरण०, भा० ४, संग्रहणीसूत्र १३५

सं० अर्थ—सम्यक्चारित्र सहित जो केवली, वे केवल समुद्घात अवस्था से सर्व चौदह राज्यलोक अपने आत्मप्रदेश करके फिरेंगे।

[केवली तीर्थङ्कर सर्वज्ञ सर्वव्यापक नहीं हो सकता]

समीक्षक—जैनी लोग १४ चौदह राज्य मानते हैं। उनमें से चौदहवें की शिखा पर सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर थोड़े दूर पर सिद्धशिला तथा दिव्य आकाश को 'शिवपुर' कहते हैं। उसमें 'केवली' अर्थात् जिनको केवल ज्ञान सर्वज्ञता और पूर्ण पवित्रता प्राप्त हुई है, वे उस लोक में जाते हैं। और अपने आत्मप्रदेश से सर्वज्ञ रहते हैं।

समत्तचरण०—गुजराती अनुवाद का भाषान्तर मात्र है। किसी-किसी संस्करण में यह गाथा नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि जैनों के ग्रन्थों में समय-समय पर पर्याप्त परिवर्तन होता रहा है। इसका हम एक प्रमाण यहाँ उपस्थित करना चाहते हैं। संग्रहणीसूत्र श्वेताम्बर जैनों का एक मान्य ग्रन्थ है, जिसे दिगम्बरों के तिलोयपण्णत्ती नामक ग्रन्थ में स्मरण किया गया है, सत्यार्थप्रकाशकार ने भी उस ग्रन्थ के कुछ उद्धरण देकर समीक्षा लिखी हैं। उस सं० सू० की देवभद्र की रची वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

'आदौ भगवता वर्धमानस्वामिना देवादिस्थित्याद्यर्थोऽभिहितस्ततः सुधर्म्मस्वामिना द्वादशाङ्ग्या सूत्रतया निबद्धस्ततआर्यश्यामादिभिः प्रज्ञापनादिषु उद्धृतस्ततस्तेभ्योपि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन संग्रहण्यामवतारितः। स च यद्यपि न गुर्वी नापि लघ्वी तथाप्यन्योन्यगाथाप्रक्षेपतो यावदधुना किंचिदूनचतुश्शतीमाना पञ्चशतीमाना च जाता, ततोऽल्पमेधसः संक्षिप्तरुचीन्मादृशाननुकम्पयद्भिः पूज्यश्रीचन्द्रसूरिभिस्ततोपि सोऽर्थोऽतिसंक्षिप्यास्यां संग्रहण्यामभिहित इति परम्परया सर्वज्ञमूलमेवैतत्प्रकरणमित्यवश्यमुपादेयमवदातबुद्धीनामिति।' (पन्ना ६,७) [अर्थात् आदि में भगवान् वर्धमान स्वामी ने देवों आदि की स्थिति आदि का विषय कहा। तत्पश्चात् सुधर्म्मा स्वामी ने द्वादश अङ्गों में सूत्र रूप से रचा, उसके पश्चात् आर्यश्याम आदि ने प्रज्ञापना आदियों में उसे उद्धृत किया (उतारा)। उनसे भी जिनभद्रगणीक्षमाश्रमण ने इस संग्रहणी में उतारा। वह (संग्रहणी) यद्यपि न बड़ी है और न ही छोटी, तथापि अन्य-अन्य गाथाओं (प्राकृत भाषा का छन्द) के प्रक्षेप (मिलावट) से आज तक चारसौ से कुछ न्यून वा पाँच सौ के परिमाणवाली हो गई है। तब मुझ जैसे संक्षिप्त में रुचि रखनेवाले मन्द बुद्धिवालों पर कृपा करते हुए पूज्य श्रीचन्द्र सूरि ने उससे भी उस विषय को अत्यन्त संक्षिप्त करके इस संग्रहणी में कहा, इस रीति से यह प्रकरण (वर्त्तमान संग्रहणी) सर्वज्ञमूलक ही (वर्धमानस्वामि प्रोक्त ही) है, अतः विमल बुद्धिवालों को यह अवश्य ग्रहण करनी चाहिये।] आजकल जबकि जैन लोग अपने अनेक ग्रन्थों को मानने से नकार कर रहे हैं, इस संग्रहणी में घटाबढ़ी नहीं हुई होगी, कौन कहने का साहस कर सकता है। प्रकरणरत्नाकर में मुद्रित संग्रहणीसूत्र में और श्रेष्ठिदेवचन्द-लालचन्द-जैन-पुस्तकोद्धार-ग्रन्थमाला

जिसका प्रदेश होता है, वह विभू नहीं। जो विभू नहीं, वह सर्वज्ञ केवलज्ञानी कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिसका आत्मा एकदेशी है, वही जाता-आता; और बद्ध-मुक्त ज्ञानी-अज्ञानी होता है। सर्वव्यापी सर्वज्ञ वैसा कभी नहीं हो सकता।

जो जैनियों के तीर्थङ्कर जीवरूप अल्प-अल्पज्ञ होकर स्थित थे, वे सर्वव्यापक सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकते। किन्तु जो परमात्मा अनाद्यनन्त सर्वव्यापक सर्वज्ञ पवित्र ज्ञानस्वरूप है, उसको जैनी लोग मानते नहीं, कि जिसमें सर्वज्ञादि गुण याथातथ्य घटते हैं।

[जैनियों का असम्भव आयु वा शरीर-परिमाण]

गब्भनर तिपलियाऊ। तिगाउ उक्कोस ते जहन्नेणं।
मुच्छिम दुहावि अन्तमुहु। अंगुल असंख भागतणू॥

- प्र० र० भा० ४ संग्रहणीसूत्र २४१

सं० अर्थ—यहां मनुष्य दो प्रकार के हैं--एक गर्भज, दूसरे जो गर्भ के विना उत्पन्न हुए। उनमें गर्भज मनुष्य का उत्कृष्ट तीन पल्योपम का आयु जानना, और तीन कोश का शरीर।

[३ कोश का शरीर और लाखों वर्ष की आयु असम्भव]

समीक्षक—भला तीन पल्योपम का आयु, और तीन कोश के शरीरवाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समा सकें। और फिर तीन पल्योपम की आयु, जैसाकि पूर्व लिख आये हैं, उतने समय तक जीवें, तो वैसे ही उनके सन्तान भी तीन कोश के शरीरवाले होने चाहिए। इन जैसे मुम्बई से शहर में दो, और कलकत्ता ऐसे शहर में तीन वा चार मनुष्य निवास कर सकते हैं।

जो ऐसा है, तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखे हैं, तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का चाहिए। तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सके।

में प्रकाशित संग्रहणीसूत्र में महदन्तर है। इसी बात को २७१वीं गाथा की व्याख्या में वृत्तिकार ने पुनः कहा है—'इयं पूर्वं भगवता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन बुद्धिमन्थेन निर्मथ्य सुधाम्भोधिं सुधेवोद्धृता भव्योज्जीवनी संक्षिप्तसंग्रहणी। सा च मूलटीकागताभिरन्यान्याभिश्च प्रक्षेपगाथाभिर्वृद्धिं नीयताना-ऽद्यनायावत् किंचिन्न्यूनचतुःशतीमाना पञ्चशतीमाना च गुरुतरा संजाता, ततस्तन्मध्यादुद्धृत्यार्थजातं श्रीहर्षपुरीय गच्छाम्बरशशांकेन भगवता श्रीश्रीचन्द्रनाम्ना मुनीन्द्रेण "एसा" व्यावर्ण्यमानस्वरूपा संग्रहणी निर्मिता। तत्र शास्त्रान्तरेषु प्रज्ञापनादिषु विस्तरेणाभिहिता अर्थाः संक्षिप्य गृह्यन्ते प्रतिपाद्यत्वेनाभिधी-यन्तेऽस्यामिति' (पन्ना ११६ क)। [अर्थात्, जिस प्रकार अमृतसागर को मथकर अमृत निकाला गया था, उसी प्रकार पहले भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने पहले अपने बुद्धिमन्थ के द्वारा भव्य जीवों को उज्जीवित करनेवाली यह संक्षिप्त संग्रहणी निकाली। और वह मूल की टीकागत तथा अन्यान्य प्रक्षेप गाथाओं से बढ़ाई जाकर अब तक कुछ कम चार सौ अथवा पांच सौ के परिमाणवाली होकर बहुत बड़ी हो गई है। उसके पश्चात् उसके बीच में प्रकरणसमूह को निकालकर श्रीहर्षपुरीय गच्छ गगन के श्री श्रीचन्द्र नामक मुनीन्द्र ने यह व्याख्येय संग्रहणी निर्मित की। प्रज्ञापनादिकों में विस्तार से वर्णित विषयों को संक्षेप से इसमें प्रतिपादन किया गया है]। यहाँ यह स्पष्ट हो गया कि यह श्रीचन्द्र जी की रचना है। इससे पूर्व उद्धरण में इसकी रचना का प्रयोजन मन्दबुद्धिवालों पर कृपाभावना बताया गया है, किन्तु २७१वीं गाथा में 'अत्तपढनट्ट'-अपने पढ़ने के लिए कहा गया है।

नगरों की सीमायें—"जीवाभिगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में 'विजया' राजधानी का वर्णन आया है। वहाँ इस 'विजया' राजधानी को १२००० योजन अर्थात् दो करोड़ चालीस लाख कोस लम्बी,

[जैन सिद्धशिला का असम्भव वर्णन]

पणयाल लरकजोयण विरकंभा सिद्धिसिल फलिह विमला ।
तदुवरि गजोयणंते लोगंतो तच्छ सिद्धठिई ॥

—प्र० र० सं० सूत्र २५८

सं० अर्थ—जो सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर १२ योजन सिद्धशिला है, वह बाटला और लम्बेपन और पोलपन में ४५ पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह सब धवला अर्जुन सुवर्णमय स्फटिक के समान निर्मल सिद्धशिला की सिद्धभूमि है, इसको कोई 'ईषत् प्राग्भरा' ऐसा नाम कहते हैं। यह सर्वार्थ सिद्धशिला विमान से १२ योजन अलोक भी है। यह परमार्थ केवली बहुश्रुत जानता है।

यह सिद्धशिला सर्वार्थ मध्यभाग में ८ आठ योजन स्थूल है। वहाँ से ४ दिशा और ४ उपदिशा में घटती-घटती मक्खी के पाँख के सदृश पतली, उत्तानछत्र और आकार करके सिद्धशिला की स्थापना है। उस शिला से ऊपर १ एक योजन के आँतरे लोकान्त है। वहाँ सिद्धों की स्थिति है।[1]

[सिद्धशिला-स्थित जीव एक प्रकार से बद्ध ही हैं]

समीक्षक—अब विचारना चाहिए कि जैनियों के मुक्ति का स्थान सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा के ऊपर ४५ पैंतालीस लाख योजन की शिला, अर्थात् चाहैं जैसी अच्छी और निर्मल हो, तथापि उसमें रहनेवाले मुक्त जीव एक प्रकार के बद्ध हैं। क्योंकि उस शिला से बाहर निकलने में मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे। और जो भीतर रहते होंगे, तो उनको वायु भी न लगता होगा। यह केवल कल्पना-मात्र अविद्वानों को फँसाने के लिए भ्रमजाल है।

[कीड़े मकौड़े आदि के असम्भव शरीर परिमाण]

[2]जोयण सहस्स महियं। एगिंदियदेह मुक्कोसं ॥
विति चउरिंदिस सरीयं। वारस जोयणं तिकोस चउकोसं ॥
जोयण सहसपणिं दिय। उहे वुच्छंत विसेसंतु ॥

—प्रकरण०, भाग ४, संग्रहणीसूत्र २६६-२६७

सं० अर्थ—सामान्यपन से एकेन्द्रिय का शरीर १ सहस्र योजन के शरीरवाला उत्कृष्ट जानना।

इतनी ही चौड़ी तथा ३७६४८ योजन से कुछ अधिक इसकी परिधि बतलाई है। क्या इतने लम्बे-चौड़े नगर भी आबाद हो सकते हैं? और क्या केवल नगर की विशालता ही की कल्पना करना पर्याप्त है? क्या उसमें निवास करनेवाली जनसंख्या और उसके कार्यकलापों पर विचार करके उन सबमें सामंजस्य स्थापित करना अपेक्षित नहीं है? अस्तु, दो करोड़ चालीस लाख कोस लम्बी-चौड़ी राजधानी तो कहाँ देखने को मिलेगी, जम्बूद्वीप पन्नति में हमारे भारत की अयोध्या का जो वर्णन आता है, उसकी सैर करके देख लें। इस अयोध्या का नाम वहाँ पर वनिता भी दिया है। यह वनिता १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी बताई गई है। इन योजनों को शाश्वत माप के २००० कोस के हिसाब से गुणा करें तो भी हमारी अयोध्या २४००० कोस लम्बी और १८००० कोस चौड़ी हो जाती है, जिसमें वर्त्तमान भूगोल जैसे दो पिण्ड समा सकते हैं।" (जै० शा० की अ० बातें, पृष्ठ २४-२५)।

---

१. यह गुजराती व्याख्यान का संक्षेप है—स्वामी वेदानन्द।
२. यह कोष्ठगत पंक्ति स० प्र० में नहीं मिलती, परन्तु इसका अर्थ विद्यमान होने से इसका मूलपाठ आवश्यक है।

और दो इन्द्रियवाले जो शङ्खादि उनका शरीर १२ योजन का जानना। वैसे ही कीड़ी मकोड़ादि तीन इन्द्रियवालों का शरीर ३ कोश का जानना। और चतुरिन्द्रिय भ्रमरादि का शरीर ४ कोश का, और पंचेन्द्रिय का एक सहस्र योजन अर्थात् चार सहस्र कोश के शरीरवाले जानना।

[फिर तो सैंकड़ों मनुष्यों से ही सारा भूगोल भर जाये]

समीक्षक—चार-चार सहस्र कोश के प्रमाणवाले शरीरवाले हों, तो भूगोल में तो बहुत थोड़े मनुष्य अर्थात् सैंकड़ों मनुष्यों से भूगोल ठसा-ठस भर जाय। किसी को चलने की जगह भी न रहै। फिर वे जैनियों से रहने का ठिकाना और मार्ग पूँछे। और जो इन्होंने लिखा है, तो अपने घर में रख लें।

[ऐसे लोगों के लिये गृह-निर्माण-कार्य कैसे होगा?]

परन्तु चार सहस्र कोश के शरीरवाले को निवासार्थ कोई एक के लिए ३२ बत्तीस सहस्र कोश का घर तो चाहिए। ऐसे एक घर के बनाने में जैनियों का सब धन चुक जाय, तो भी घर न बन सके। इतने बड़े आठ सहस्र कोश की छत्त बनाने के लिए लट्ठे कहाँ से लावेंगे? और जो उसमें खम्बा लगावें, तो वह भीतर प्रवेश भी नहीं कर सकता। इसलिए ऐसी बातें मिथ्या हुआ करती हैं।

[असम्भव काल-परिमाण]

ते थूला पल्ले विहु संखिज्जाचे वहुंति सव्वेवि।
ते इक्किक्क असंखे। सुहुमे खम्मे पकप्पेह॥

—प्रकरण०, भाग ४, लघुक्षेत्रसमासप्रकरण, सू० ४॥

सं० अर्थ—पूर्वोक्त एक अंगुल लोम के खण्डों से चार कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुँआ हो। अंगुल प्रमाण लोम का खण्ड सब मिलके बीस लाख सत्तावन सहस्र एक सौ बावन होते हैं। और अधिक से अधिक ३३०७६२१०४' २४६५६२५' ४२१९९६०' ९७५३६००'००००००० तेतीस

चार सहस्र कोश के शरीर—यहाँ उद्धृत 'जोयणसहस्स महियं'० इस गाथा में विभिन्न शरीरों के आकार का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थकार ने उसके गुजराती अर्थ का अनुवादमात्र दिया है। इस लेख पर कुछ जैन पण्डितों ने बहुत उछल-कूद मचाई है। हम यहाँ इस विषय में स्वामी कर्मानन्दजी का, जिनको आगे करके जैनी आर्यसमाज के विरुद्ध लिखवाते रहे हैं, प्रस्तुत किया प्रमाण दे रहे हैं। 'जैनमत प्रकाश' के आठवें भाग के पृष्ठ १५ पर उन्होंने लिखा है—

"योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः।
एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मनि॥१४२॥
त्रिकोशः कथितः कुम्भी शंखो द्वादशयोजनः।
सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैकयोजनः॥१४३॥"

इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—"साधारण नियम यह है कि द्वीन्द्रिय जीवों का शरीर बारह योजन का, तीन इन्द्रिय जीवों का शरीर तीन कोस का और चतुरिन्द्रिय जीवों का शरीर चार कोस का होता है। परन्तु यहाँ विशेषतः कहते हैं कि एकेन्द्रिय जीवों का सबसे बड़ा शरीर कमल का हो सकता है। उसका प्रमाण थोड़ा अधिक एक हजार योजन का है। द्वीन्द्रिय में कुम्भी का शरीर तीन कोस का होता है। त्रीन्द्रिय में बारह योजन का शंख का शरीर होता है। पंचेन्द्रिय में हजार योजन का शरीर

क्रोड़ाक्रोड़ी[1] सात लाख बासठ हजार एक सौ चार कोड़ाक्रोड़ी, चौबीस लाख पैंसठ हजार छः सौ पच्चीस इतने क्रोड़ाक्रोड़ी, तथा बयालीस लाख उन्नीस हजार नौ सौ साठ इतनी क्रोड़ाक्रोड़ी, तथा सत्तानवे लाख त्रेपन हजार और छः सौ क्रोड़ाक्रोड़ी, इतनी बाटला घन योजन पल्योपम में सर्वस्थूल रोमखण्ड की संख्या होवे। यह भी संख्यातकाल होता है। पूर्वोक्त एक लोमखण्ड के असंख्यात खण्ड मन से कल्पे, तब असंख्यात सूक्ष्मरोमाणु होवें।

[जैनियों की गिनती का विचित्र ढंग]

समीक्षक—अब देखिये, इनकी गिनती की रीति। एक अंगुल प्रमाण लोम के कितने खण्ड किये। यह कभी किसी की गिनती में आ सकते हैं? और उसके उपरान्त मन से असंख्य खण्ड कल्पते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त खण्ड हाथ से किये होंगे। जब हाथ से न हो सके, तब मन से किये। भला यह बात कभी सम्भव हो सकती है कि एक अंगुल रोम के असंख्य खण्ड हो सकें?

[जम्बूद्वीप आदि का जैनप्रोक्त असंभव वर्णन]

जम्बूद्वीपपमाणं गुलजोयणलरक वट्टविरकंभो।
लवणाई यासेसा। बलयाभा दुगुण दुगुणाय॥

—प्रकरण०, भाग ४, लघुक्षेत्रसमा०, सू० १२॥

मछली का होता है। भौंरा एक योजन का होता है" (तत्त्वार्थसार अ० २)। पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य भी है। उसका शरीर यदि एक सहस्र योजन अर्थात् चार सहस्र कोस का हो तो ग्रन्थकार का आक्षेप तो दुर्निवाररूप से ही विद्यमान है। हमने दिगम्बरों के ग्रन्थों से भी दिखा दिया है कि वे भी वैसा ही मानते हैं, जैसा कि श्वेताम्बर। अतः यह आक्षेप समानरूप से दोनों पर है।

असंख्यात सूक्ष्म परमाणु—यह इस गाथा के गुजराती व्याख्यान का संक्षेप अर्थ है। दिगम्बर भी इसी बेढंगी गिनती को प्रकारान्तर से मानते हैं। यथा तिलोयप्पण्णत्ती के पढमो महाधियारो ११६ से १३० तक गाथाएं इस जैसा प्रतिपादन करती हैं। मूल गाथा न देकर हम उसका अर्थ यहाँ प्रस्तुत करते हैं—'उत्तम भोग-भूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेंढे के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रों से उस एक योजन विस्तारवाले प्रथम पल्य को (गड्ढे को) पृथिवी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिए॥११६-१२०॥' अन्त में अठारह शून्य, दो, नौ, एक, दो, एक, पाँच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य, दो, आठ, शून्य, तीन, शून्य, तीन, छह, दो, पाँच, चार, तीन, एक और चार ये क्रम से पल्य के अङ्क है॥१२३-१२४॥ सौ-सौ वर्ष में एक-एक रोम खण्ड के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो, उतने काल को व्यवहारपल्योपम कहते हैं। वह व्यवहारपल्य उद्धारपल्य का निमित्त है॥१२५॥ व्यवहारपल्य की रोमराशि में से प्रत्येक रोमखण्ड को, असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों, उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भरकर पुनः एक-एक समय में एक-एक रोमखण्ड को निकालें। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली हो जाय,

---

१. "हस्तलिखित प्रेस कापी में 'क्रोड़' लिखकर मिटाया हुआ है और हाशिये पर उसके स्थान में क्रोड़ाक्रोड़ी किया हुआ है। और ३३० के आगे स्वल्प विराम भी नहीं है। अतः यहाँ क्रोड़ पाठ ही उचित प्रतीत होता है।" (यह टिप्पण वैदिक यन्त्रालय के संस्करण के सम्पादक का है)—भ० द०। यह ३२वें संस्करण में टिप्पणी है। इसके संशोधक पं० भद्रसेन थे। यु० मी०

सं० अर्थ—प्रथम जम्बूद्वीप का लाख योजन का प्रमाण और पोला है, और बाकी लवणादि सात समुद्र, सात द्वीप जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगुणे-दुगुणे हैं। इस एक पृथिवी में जम्बूद्वीपादि सात द्वीप और सात समुद्र हैं, जैसेकि पूर्व लिख आये हैं।

[इस भूगोल में ये जैनियों के जम्बूद्वीपादि कैसे समा सकते हैं ?]

समीक्षक—अब जम्बूद्वीप से दूसरा द्वीप दो लाख योजन, तीसरा चार लाख योजन, चौथा आठ लाख योजन, पाँचवाँ सोलह लाख योजन, छठा बत्तीस लाख योजन, और सातवाँ चौंसठ लाख योजन, और उतने प्रमाण वा उनसे अधिक समुद्र के प्रमाण से इस पन्द्रह सहस्र कोश परिधिवाले[1] भूगोल में क्योंकर समा सकते हैं ? इससे यह बात केवल मिथ्या है।

[कुरुक्षेत्र में ८४ सहस्र नदियाँ बताना मूर्खता]

कुरु नइ चुलसी सहसा। छच्चेवन्तरनईउ पइ विजयं।
दोदो महा नईउ। चउदस सहसाउ पत्तेयं॥

—प्रकरण०, भाग ४, लघुक्षेत्रसमा०, सू० ६३

सं० अर्थ—कुरुक्षेत्र में ८४ चौरासी सहस्र नदी हैं॥

समीक्षक—भला कुरुक्षेत्र बहुत छोटा देश है। उसको न देखकर एक मिथ्या बात लिखने में इनको लज्जा भी न आई।

उतने को उद्धार पल्योपम समझना चाहिए ॥१२६-१२७॥ इस उद्धारपल्य से द्वीप और समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है। उद्धारपल्य की रोमराशि में से प्रत्येक रोमखण्ड के असंख्यात वर्षों के समय प्रमाणखण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक-एक समय में एक-एक रोमखण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा रिक्त हो जाय, उतने काल को अद्धापल्योपम कहते हैं। इस अद्धापल्य से नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की आयु तथा कर्मों की स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए ॥१२८-१२९॥ इन दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्यों का जितना प्रमाण हो, उतना पृथक्-पृथक् एक सागरोपम का प्रमाण होता है। अर्थात् दश क्रोड़ाक्रोड़ी व्यवहार पल्यों का एक व्यवहार सागरोपम, दश क्रोड़ाक्रोड़ी उद्धारपल्यों का एक उद्धार-सागरोपम और दश क्रोड़ाक्रोड़ी अद्धापल्यों का एक अद्धासागरोपम होता है ॥१३०॥' यह अनुवाद पं० बालचन्द जैन सिद्धान्तशास्त्री का किया हुआ है। इस प्रकार की गणना विधि से ऊब-कर सिंघीजी लिखते हैं—'यह देखने में आता है कि सनातन धर्म ग्रन्थों में किसी वस्तु की संख्या यदि १० हजार बताई है तो बड़प्पन बताने के लिये जैनशास्त्रों में उसी को बढ़ाकर ५०-६० हजार बतलाने का प्रयास किया है। इस प्रकार संख्याओं को बढ़ा-बढ़ाकर दिखाने की प्रतिस्पर्धा (Competition) वृत्ति अनेक स्थलों में देखने में आती है' (जैन शास्त्रों की असंगत बातें पृ० ५६)। इस विषय में हम कई उद्धरण पूर्व दे चुके हैं।

कुरु नइ—इस गाथा का पूरा अर्थ और समीक्षा इस प्रकार है–छ अन्तर नदियाँ हैं। प्रति-विजय में गंगा सिन्धु प्रमुख दो-दो यहाँ नदियाँ हैं। सोलह विजय में बत्तीस बड़ी नदियाँ हैं। प्रत्येक नदी का परिवार चौदह हजार नदियाँ जानो। इस चौदह हजार को विजयों की बत्तीस नदियों की दृष्टि से बत्तीस बार गुणा करने पर चार लाख अड़तालीस हजार होते हैं…। (समीक्षा) पाठशाला में पढ़नेवाले

१. आधुनिकों के मतानुसार पृथिवी की परिधि २४६०० मील है।

[तीर्थङ्करों के बैठने के लिए सिंहासन]

जामुत्तराउ ताउ। इगेग सिंहासणा अइपुव्वं।
चउसुवि तासु नियासण, दिसि भवजिण मज्जणं होई ॥

—प्रकरणरत्नाकर, भाग ४, लघुक्षेत्रसमा०, सू० ११६

सं० अर्थ—उस शिला के विशेष दक्षिण और उत्तर दिशा में एक-एक सिंहासन जानना चाहिए। उन शिलाओं के नाम दक्षिण दिशा में अतिपाण्डु कम्बला, उत्तर दिशा में अतिरिक्त कम्बला शिला हैं। उन सिंहासनों पर तीर्थङ्कर बैठते हैं ॥

समीक्षक— देखिये, इनके तीर्थङ्करों के जन्मोत्सवादि करने की शिला को। ऐसी ही मुक्ति की सिद्धशिला है। ऐसी इनकी बहुत-सी बातें गोलमोल हैं, कहाँ तक लिखें ? किन्तु जल छानके पीना, और सूक्ष्मजीवों पर नाममात्र दया करना, रात्रि को भोजन न करना– ये तीन बातें अच्छी हैं। बाकी जितना इनका कथन है, सब असम्भवग्रस्त है।

इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत-सा जान लेंगे। थोड़ा-सा यह दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी असम्भव बातें सब लिखें तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयुभर में पढ़ भी न सके। इसलिये जैसे एक हण्डे में चुड़ने[1] चावलों में से एक चावल की परीक्षा करने से कच्चे वा पक्के हैं, सब चावल विदित हो जाते हैं, ऐसे ही इस थोड़े से लेख से सज्जन लोग बहुत सी बातें समझ लेंगे। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना आवश्यक नहीं। क्योंकि दिग्दर्शनवत् सम्पूर्ण आशय को बुद्धिमान् लोग जान ही लेते हैं।

इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाकबौद्धजैनमतखण्डनमण्डनविषये द्वादशः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१२॥

किसी जैन विद्यार्थी से ही पूछ लीजिये, वह आपको यथार्थ बतला देगा। अब इन बातों से कार्य न चलेगा, कि जैनशास्त्रों में वर्णित भूगोल कोई और है। जैनग्रन्थों के वर्णन का तो इसी भूगोल की ओर संकेत है। डॉ० हीरालाल जैन एम० ए० पी० एच० डी० तक इन बेतुकी बातों का समाधान करने में असमर्थ रहे। वे मन-ही-मन इन वर्णनों से खिन्न हैं।

जैनग्रन्थों की असम्भव बातों के पर्याप्त उदाहरण दिए जा चुके हैं। इनके ग्रन्थों में पुनरुक्ति की भी भरमार है। ग्रन्थ का नाम बदलकर एक से दूसरे में अविकल रख देने में भी संकोच नहीं करते। 'चन्द्रप्राप्ति' और 'सूर्यप्रज्ञप्ति' दोनों सूत्र समान हैं। भगवतीसूत्र को बहुत बड़ा बताने के लिए उसमें ३६००० प्रश्नों का कथन किया गया है। प्रश्नों की संख्या बढ़ाने के लिए एक ही प्रश्न को बार-बार कई स्थानों में रक्खा गया है और सूत्रों की संख्या तथा पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के लिए ठीक वैसे ही, बल्कि बहुत-से वे-के-वे ही प्रश्न जो भगवती में हैं, वही जीवाभिगम में हैं, वही पन्नवणा में हैं और वही जम्बूद्वीपपन्नति आदि में। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे सूत्र में वे-के-वे ही प्रश्न जोड़कर सूत्रों की संख्या बढ़ाने का यत्न किया गया है। सूत्रों को देखकर उनका पुनरावृत्त होना स्पष्ट हो जाता है। Volume बढ़ाकर दिखाने की भावना उस समय और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' और 'सूर्यप्रज्ञप्ति' पर दृष्टि डालते हैं। बारह उपाङ्गों में ज्ञाताधर्मकथाङ्ग का एक छठा उपाङ्ग और दूसरा सातवाँ उपाङ्ग माना गया है, यद्यपि दोनों सूत्र अक्षरशः एक ही हैं। (जै० शा० की अ० बातें, पृष्ठ १५४-१५७)। ❖

1. चढ़ते अर्थात् पकते।

कुपात्रो को दान न देवे सुपात्रो को देवे.

आपके दान की हमे अत्यंत आवश्यकता हे.